(6)

સનાતનધર્મલોક - 7

'आलोक'-ग्रन्थमालाका सप्तम सुमन

संरक्षक-१ श्री पं० मुरारिलालजी मेहता, कलकत्ता।
२ रायसाहब चौधरी श्रीप्रतापसिंहजी रईस, करनाल

सनातनधर्मका विश्वकोष एवं महाभारत

श्रीसनातनधर्मालोक (७)

पुराण-इतिहास और वेदों पर आलोचनाएं
और
उन पर शास्त्रीय एवं युक्तियुक्त विचार

प्रणेता—
पं० दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि
[भूतपूर्व प्रिंसिपल स. ध. संस्कृत कालेज, मुलतान]
प्रिंसिपल संस्कृत महाविद्यालय, रामदल, दरीबाकलां, देहली-६
(सम्पादक 'सिद्धान्त' (काशी) और 'सारस्वत समाज' (देहली)

प्रकाशक—
श्रीनारायणशर्मा 'राजीव' सारस्वत, शास्त्री, प्रभाकर, एम. ए. (द्वि.)
'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमाला कार्यालय
फर्स्ट बी. १९ लाजपतनगर, नई देहली १४

विजयदशमी] सं० २०१९ [मूल्य १०), विदेशों में १२)

प्रकाशक—

श्रीनारायणशर्मा 'राजीव' शास्त्री सारस्वत, प्रभाकर, एम. ए. (द्वि.)
श्रीसनातनधर्मालोक-ग्रन्थमाला कार्यालय,
फर्स्ट बी १६, लाजपतनगर, नई देहली १४

प्रथम संस्करण १९६२ (ई०)
मूल्य दस रुपये, विदेशों में बारह रुपये

मुद्रक—
१ से ८०८ पृष्ठ तक मानस प्रिंटिंग प्रेस में,
शेष—कुमार फाईन आर्ट प्रेस, ११४३
चाह रहट, दिल्ली-६ में छपा।

'श्रीसनातनधर्मालोक' के द्वितीय संरक्षक—

रायसाहिब चौधरी श्री प्रतापसिंह जीं, रईस-ए-आज़म
(शुजाबाद-निवासी)
करनाल ।

卐

समर्पणम् ।
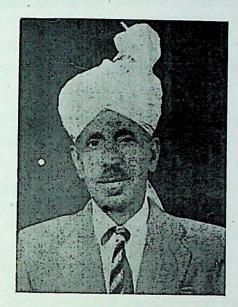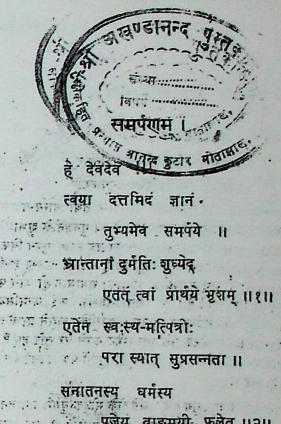
हे देवदेव
त्वया दत्तमिदं ज्ञानं
तुभ्यमेव समर्पये ॥
भ्रान्तानां दुर्मतिः शुध्येद्
एतत् त्वां प्रार्थये भृशम् ॥१॥
एतेन स्वःस्थ-मत्पित्रोः
परा स्यात् सुप्रसन्नता ॥
सनातनस्य धर्मस्य
पूजेय वाङ्मयी फलेत् ॥२॥

विनीत-समर्पकः—
दीनानाथशर्मा सारस्वतः शास्त्री

प्रारम्भिक-शब्द (७)

'अगजाननपद्मार्कं गजाननमहर्निशम् ।
अनेकदन्तं भक्तानामेकदन्तमुपास्महे'

करुणानिधान श्रीपरमेशानके दयादान तथा मान्य-वदान्य महानुभावोंके द्रविण-दानसे, पूज्य पितरों एवं गुरुजनोंके शुभाशीर्वादसे 'श्रीसनातनधर्मालोक'-ग्रन्थमालाका यह सप्तम सुमन विकसित हुआ है। आजकलका युग शङ्कायुग है। उसमें कारण होती है अल्पश्रुतता; सो शङ्काकर्ताओंकी शङ्काका समाधान हो जाने पर वह शङ्का दूर हो जाती है। पर सनातनधर्मके कई जन्मसिद्ध विरोधी भी हैं, जो श्रद्धाहीन होनेसे शङ्काओंके बहाने प्राचीन-साहित्यपर आक्रमण करके उसे मटियामेट करने पर तुले हुए हैं। वे केवल दोष ही दोष ढूंढा करते हैं, गुणों पर उनकी दृष्टि जमती ही नहीं।

औरंगजेबीके क्रूर युग तथा अंग्रेजोंके मोहक युगमें सनातन-धर्मकी सत्ताको स्थिर रखने वाला पुराण-साहित्य ही था, यह बात निष्पक्ष आलोचक वादी-प्रतिवादी हृदयसे स्वीकार किया करते हैं, पर लार्ड मैकालेकी मानसिक सन्तानें अब भी कहीं-कहीं दीख पड़ती हैं, जो अंग्रेजी-युगकी उपज हैं। वे वेष वा रूप-रंगमें भले ही हिन्दुस्थानी हों, पर वे अंग्रेजोंके ही नये संस्करण हैं। उनका काम यही है कि—पुराणोंको कलङ्कित करना। उन के हजारों श्लोकोंमें खोद-खादकर वे बड़ी कठिनतासे दो-चार श्लोकोंको पूर्वापर-प्रकरण छिपा कर आक्षेपार्थ उपस्थित कर दिया करते हैं।

ऐसे व्यक्तियोंकी संस्कृतयोग्यता यदि आंको जावे; तो उन्हें के बराबर अङ्क भी कदाचित् न मिल सकें; पर वे अपने-अ वेदोंका बडा विद्वान् और शास्त्रोंका बड़ा पंडित सूचित कर परन्तु हिन्दी-भाषामें आये हुए कई संस्कृत-शब्दोंको भी अ नहीं लिख सकते।

यदि आज जनता संस्कृतज्ञ होती, तो ऐसे लोगोंको स मुंह दिखलानेकेलिए स्थान भी न मिलता, पर यह लोग सर्वसु रणके संस्कृतज्ञ तथा अनुसन्धानमें अभ्यस्त न होनेसे पौरा स्थलोंके पूर्वापर-प्रकरणको छिपाकर उन्हें उद्वेजनीय ढंगसे उप करते हुए अपना निर्वाह करते चले जा रहे हैं।

इस बार हमने सोचा कि—इस ७ म पुष्पमें आक्षिप्त पु विषय रखे जाएं; और इन लोगोंके द्वारा जो पूर्वापर-प्रकर चोरी करके असत्यव्यवहार-द्वारा जनवञ्चन किया जा रह उसे निष्पक्ष धार्मिक-जनता तथा संस्कृतके विद्वानोंके आगे जावे। सो इस पुष्पमें प्रायः पुराण-इतिहास विषय रखा गय इसमें 'पुराण-चर्चा, इतिहास-चर्चा, वेद-चर्चा और वेदपु तिहासचर्चा' यह चार स्तम्भ रखकर तदनुसार अनेक आक्षे परिहार किया गया है। अष्टम-पुष्प इससे पृथक् प्रकाशित गया है, उसमें वेदचर्चा, सिद्धान्तचर्चा, साम्प्रदायिक-सिद्धा चर्चा-यह तीन स्तम्भ रखकर उनमें अनेक-शङ्काओंका सक्षे किया गया है।

सप्तमपुष्पमें एक-एक पृष्ठमें मुख्य विषयमें अवान्तर भी अनेक होनेसे पाठकोंके लाभार्थ उन-उनके शीर्षक भी हैं, जिससे पाठकोंको उस विषयके जानने वा ढूंढनेमें क

न होगी। कई बातें पूर्वके पृष्ठोंमें छूट गई थीं; हमने आगेके पृष्ठों में टिप्पणीमें उनका निर्देश कर दिया है, एतदर्थ पाठकों वा प्रतिपक्षियोंको ४२५, ५०९, ६१०-११, ६३२-३३-३४, ६६७-६८, ६९३-९४, ८२२ इन पृष्ठोंको भी अवश्य देख लेना चाहिए। जहाँ संशोधन लिखा हुआ है, तदनुसार पहले संशोधन करके फिर पुस्तकको क्रमसे पढ़ना शुरू करना, चाहिए, उसमें मनोयोग देना आवश्यक है।

प्रतिपक्षी लोग तो मकान गिराने वाले मजदूरोंकी भाँति पुराणादि प्राचीन- साहित्यके भवनोंको गिरानेमें लगे हुए हैं; पर हमने उन छिद्रोंको हटाकर उस भवनका नूतनोद्धार करना है। उसीका ही सभी-कुछ क्रमसे रखकर उसे हमने मजबूतीसे फिट करना है। जोकि प्रतिपक्षियोंने पुराणका पूर्वापर काटकर उसमें छिद्र कर दिये थे; उन छिद्रोंको हमने दूर करके नये मसालेसे वहाँ दृढता कर दी है।

इस बार इस पुष्पके प्रकाशनमें प्रेससम्बन्धी बहुतसी बाधाएँ आ जानेसे आशातीत विलम्ब हो गया है; एतदर्थ हमें अनेकों पत्र आये; हम यथाशक्ति उन्हें सान्त्वना देते रहे। इसपर भी जब देरी होती देखी; तब हमने पूर्व प्रेसको छोड़कर शेष सामग्री अन्य प्रेस में दे दी; नहीं तो और भी अधिक विलम्ब हो जाता। 'जितनी देर उतनी खैर' इस लोकोक्तिके अनुसार पाठकोंके लिए कुछ लाभ ही हुआ है। हमारे सामने कई नई आक्षेपक पुस्तकें आईं; हमने इसमें उनकी आलोचना भी साथ कर दी है; फिर मालूम नहीं, कितना समय लग जाता; क्योंकि-नये पुष्पके प्रकाशनमें भी

द्रव्य-साहाय्यकी अपेक्षा होनेसे उसके जुटानेमें काफ़ी समय बीत जाता है।

पाठक इस ग्रन्थमालाका प्रचार करें। जतनी शीघ्र इसमें सहयोग देकर गत पुष्पों के बिकवाने तथा नये पुष्पके विकासमें प्रयत्न किया जावेगा, उतनी शीघ्र इस ग्रन्थमालाकी पूर्ति होगी।

इस ग्रन्थमालाके सभी २० पुष्प हैं। कम से कम १४-१५ पुष्प भी विकसित हो जाएं;तो सनातनधर्मपर होती हुई शङ्काप्रवाहरूप दुर्गन्ध ही मिट जावे। गुणानुरागी विद्वानों तथा सेठोंको इसमें अपनी सहायता देकर इसके प्रकाशनमें सक्रिय सहयोग स्वयं भी देना चाहिए, दूसरे समर्थ लोगोंसे भी सहायता दिलवानी चाहिये। यह सदाकेलिए याद रखें कि-इस ग्रन्थमालाका जो कुछ द्रव्य सहायता-रूपसे तथा पुस्तकोंके विकने से आता है, वह सब इसी के पुष्पोंके प्रकाशित करनेमें लगाया जाता है। उसका एक भी पैसा हम अपने काममें नहीं लगाते। हमारा यही ध्येय है कि-यह ग्रन्थमाला शीघ्रसे शीघ्र प्रकाशित हो जाय।

गत वार जो योजना सोची थी; उससे सप्तम पुष्प बहुत बड़ा हो जाता, इस लिए हमें अष्टम पुष्प भी साथ छपाना पड़ा। सनातनधर्ममें यद्यपि प्राचीन-साहित्य तो पर्याप्त है, पर उसके खण्डनार्थ जो अर्वाचीनों-द्वारा कुत्सित-साहित्यकी सृष्टि हो रही है; उसके मुकाबिलेमें सनातनधर्मी साहित्यकी सृष्टि उतनी नहीं हो रही-यह हमारे यहाँ एक भारी त्रुटि है। श्रीपं० कालूरामजी शास्त्रीने काफी साहित्य लिखा। श्रीपं० भीमसेन जीने साहित्य तो थोड़ा लिखा, परन्तु 'ब्राह्मणसर्वस्व' द्वारा सनातनधर्मकी भारी

सेवा की। इसके बाद उनके लड़के श्रीब्रह्मदेवजी मिश्रने तथा श्रीपं० अखिलानन्दजी कविरत्नने पर्याप्त सनातनधर्मी साहित्यकी सृष्टि की। पर यह लोग देवता बनने के लोभ से स्वर्गमें चल दिये।

इसके बाद स० ध० साहित्यसृष्टिका कार्य पं० श्रीमाधवाचार्य-जी शास्त्रीने सम्भाला है- परन्तु उपदेशोंके लिए देश-विदेशमें घूमते हुए उन्हें भी बहुत अवसर नहीं मिलता। हमने भी सनातन-धर्मी साहित्यकी सृष्टि प्रारम्भ तो कर रखी है; परन्तु अध्यापन हमारा बहुत समय ले जाता है। यदि हमें वृत्तिसे निश्चिन्त कर दिया जाता; स्थान हमें विशाल दिलवा दिया जाता; तो हम अकेले ही प्रतिपक्षियोंके खण्डक साहित्यको खोखला कर देते। पर सनातनधर्मियोंके आलस्य से इतनी देरी हो रही है।

पाठकगण ध्यानसे तथा धैर्यसे प्रतिपक्षियोंके आक्षेप तथा उनका समाधान इस पुष्प में पढ़ें। आक्षेपों को देखते हुए एकदम घबड़ा न जाएँ। यह आक्षेप पूर्वापर छिपाने से अल्पश्रुतोंको बड़े उद्दण्डनीय मालूम होते हैं; और प्रतिपक्षी उन्हें स० ध० के दुर्गपर 'बमबारी' मानते हैं; पर पूर्वापर-प्रकरणके प्रकट करते ही वे बमके गोले न रहकर घास-फूसकी गेन्दें ही रह जाती हैं। यह पुष्प धार्मिक जनता के लिए बहुत उपादेय रहेगा।

इस पुष्पमें जगद्गुरुशंकराचार्य अनन्तश्री स्वा० कृष्णबोधाश्रमजी महाराज पूर्वकी भान्ति सहायक बने हैं। ज० गु० शं० श्रीशारदा-पीठाधीश्वर श्री १००८ श्रीअभिनवसच्चिदानन्दतीर्थ जी महाराज, ज० गु० रामानुजाचार्य अनन्तश्रीअनिरुद्धाचार्यजी महाराज भी यथापूर्व सहायक बने हैं। दण्डिस्वामी श्री १०८

परमानन्दजी सरस्वती एम० ए० महाराज भी इस पुष्पसे सहायक बने हैं। इस ग्रन्थमालाको वे ध्यान से देखकर उसपर सत्परामर्श भी देते रहते हैं।

महामण्डलेश्वर स्वामी १००८ श्री स्वामी गङ्गेश्वरानन्द जी महाराज भी इस पुष्पसे सहायक बने हैं। आगेकेलिए भी उन्होंने अपनी सहायताका आश्वासन दिया है। श्रीमन्निगमागमसार्वभौम श्री १०८ स्वामी विद्यानन्दजी महाराज वैकुण्ठाश्रम डाकोर भी इसमें सहायक बने हैं। ब्रह्मचारी श्रीकृष्णशर्माजी भी इस पुष्पमें सहायक बने हैं, उन्होंने जिस प्रेमका इस ग्रन्थमालामें परिचय दिया है, उससे हमें बहुत प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। सहायता देकर भी फिर भी ग्रन्थका मूल्य देते हैं। आत्मकूरके श्रीपं० पद्मनाभ-राव जी आचार्य भी इस पुष्पमें सहायक बने हैं। दक्षिण अमेरिका के श्री पं० लोकनाथजी आर्थिक संकट होते हुए भी इस बार भी पूर्वकी भान्ति सहायक बनने से नहीं चूके। वे हमारे ग्रन्थ भी मंगाते हैं, अमेरिकामें उन्हें बेचते हैं। किसीको हमारे ग्रन्थ अमूल्य देते हैं, और किसी को आधे मूल्य में। ऐसे सज्जन इस ग्रन्थमाला के प्राण हैं। इसी प्रकार सेठ श्रीझाँगीराम-छबीलदासजी भी इस ग्रन्थमालाके प्राण हैं, प्रत्येक पुष्पमें वे सहायक बनते हैं। इनके प्रेरक श्रीतेजभानजी ग्रोवर तथा पं० बालमुकुन्द जी ज्योतिषी पं० नन्दकिशोर जी शास्त्री हैं; जो स्वय भी यथाशक्ति सहायता करते रहते हैं। इस बार मानसमहारथी श्रीप्रयागदासजी तथा पं० भगवानदास दिनेशकुमारजी भी सहायक बने हैं।

इस बार महामण्डलेश्वर स्वामी श्री १०८ नृसिंहगिरि जी

महाराज सस्थापक श्रीविश्वनाथसंस्कृतमहाविद्यालय तथा उनके उत्तराधिकारी महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वा० महेशानन्दजी महाराज भी इस ग्रन्थमालाके दक्षिण-बाहु वने हैं। उन्होंने अपने साहाय्यद्रव्य तथा नाम-प्रकाशन की आज्ञा तक नहीं दी। हम विना उनके आदेशके नाम-प्रकाशनके अपराधी बने हैं। अन्य अर्थदाताभी वहुतसे वने हैं; उनके नाम बाहरी टाईटल पर दे दिये गये हैं।

इन सबको धन्यवाद देते हुए हम अन्य महोदयों को भी प्रेरित करते हैं कि आप भी इस ग्रन्थमालामें अपनी शुद्ध कमाई का भाग दें, जिससे यह महाग्रन्थ शीघ्र ही पूर्ण हो जाय। इसके वाद इसे विषयानुसार पृथक्-पृथक् ग्रन्थों में प्रकाशित करने का विचार है।

अव एक अन्य वात कहे विना इसमें अपूर्णता रह जायगी, वह यह कि—'आलोक'-ग्रन्थमालाके संरक्षक अभी तक एक ही महोदय कलकत्ताके श्रीमुरारिलाल जी मेहता वने थे। इस वार रायसाहब चौध॰ श्रीप्रतापसिंह जी रईस बबला संरक्षक वने हैं। आप हमारी जन्मभूमि शुजाबाद (मुलतान) के रईस रायबहादुर चौं० श्रीनारायणसिंह जी के सुपुत्र हैं। आप उदार-विचारोंके पूर्ण-धार्मिक हैं। सेठ-साहूकारोंमें कई दोष देखे जाते हैं, पर हर्ष है कि—आप उन दोषोंसे उन्मुक्त एवं ईमानदार व्यक्ति हैं। आपकी वहाँ पर अपार सम्पत्ति थी, वह पश्चिमी पाकिस्तानमें आ जानेके कारण वहीं छूट जाने से आपकी बड़ी हानि हुई है। आप वहाँ भी सनातन-धर्मपाठशाला

के प्रेजिडेण्ट थे। आपने बड़ी प्रसन्नतासे इस ग्रन्थमालाकी संरक्षकता स्वीकृत करके जनदृष्टि में हमारी जन्मभूमिको गौरवान्वित किया है।

इसी प्रकार अन्य महोदय भी संरक्षक बनकर ग्रन्थमालाकी सहायता करेंगे—यह हम आशा करते हैं। संरक्षकका १०००) रु० नियत हैं। संरक्षकका चित्र छपता है, तथा प्रत्येक प्रकाशनमें नाम भी छपता है। संमान्य सहायकका ५००), मान्य सहायकका २५०) तथा साधारण सहायकका १००) नियत है। प्रेरकोंको इधर ध्यान देना चाहिए।

अमूल्य कोई भी न ले।

यह ध्यान रहे कि—हमें इस ग्रन्थमालाको जो भी सहायता वा मूल्य प्राप्त होता है, वह सब आगेके पुष्पोंके प्रकाशनार्थ जमा कर लिया जाता है। उसका एक पैसा भी हम अपने काममें नहीं लगाते; अतः कोई भी महोदय इन ग्रन्थों को बिना मूल्य न ले। यदि कोई महोदय अधिक सहायता न भी कर सकें; तो ग्रन्थका मूल्य अवश्य दें, और इस ग्रन्थमालाके प्रचार तथा बिकवानेमें अवश्य सहायक बनें; इससे अग्रिम पुष्पके प्रकाशनका अवसर मिल जाता है। हम जो मोटे-मोटे पुष्प प्रकाशित कर रहे हैं; उनका एकमात्र कारण यह है कि—यह ग्रन्थमाला जो संस्कृत मूलग्रन्थ 'श्रीसनातनधर्मलोक' का हिन्दी व्याख्या-भाग है—शीघ्र पूर्ण हो जावे, जिससे आगे विषयानुसार ग्रन्थ प्रकाशित कराये जावें। उसका मूल्य देखकर भी नहीं डर जाना चाहिए, कारण यह है कि—हमारे पास स्थान न होनेसे हमें ग्रन्थकी

थोड़ी प्रतियाँ छपवानी पड़ती हैं, उससे घाटा रहनेके कारण हमें १०० पृष्ठके पीछे एक रुपया रखना पड़ता है, फिर जिल्द भी बंधवानी पड़ती है। जब लोगों का पान-तमाखू चाट आदि में ही भारी खर्च हो जाता है, तब इस ग्रन्थमालाको मूल्यसे खरीदना भी इसकी सहायता करना है। यह सभी ग्राहकों-अनुग्राहकोंको याद रख लेना चाहिए।

अधिकारी विद्वानोंसे प्रार्थना है कि—यदि विचारमें कुछ त्रुटि रह गई हो, जिसका रह जाना असम्भव नहीं, तो उसकी सूचना दे दिया करें, जिससे आगे ध्यान रखा जा सके। किसी प्रश्नके उत्तरमें किसी विद्वान्‌को हमसे अच्छी सूझ मालूम पड़े, तो उसे भी वे हमें सूचित कर दिया करें।

निवेदक—

विजयदशमी सं० २०१६

दीनानाथ शर्मा शास्त्री सारस्वत विद्यावागीश
[प्रिंसिपल संस्कृत महाविद्यालय, दरीबाकलाँ]
रामदल, देहली ६

श्रीसनातनधर्मालोक (६) के सम्बन्ध में विद्वानों के भाव

(१) आपने यह ग्रन्थरत्न अत्यन्त परिश्रम से लिखा है। सनातनधर्मावलम्बियोंके लिए तो बहुत ही उपयोगी है। मुझे तो ज्ञानार्जनमें इससे बहुत सहायता मिलती है। यह ग्रन्थमाला आपका प्रगाढ पाण्डित्य, बहुदर्शिता तथा सनातनधर्मानुरागिताका जीता-जागता उदाहरण प्रस्तुत कर रही है (श्री रामेश्वर शास्त्री मुख्याध्यापक स० ध० संस्कृत महाविद्यालय, मारवाड़ मूंडवा)।

(२) सर्वशास्त्रनिष्णात, पण्डिताग्रगण्य, मानास्पद...... 'आलोक' देखकर यही धारणा है कि-आप मनुष्य रूप से ईश्वर का अवतार हैं, जो धर्मकी रक्षा कर रहे हैं। मैं ८५ वर्षके होते हुए करुणावरुणालय प्रभुसे अनेकवार प्रार्थना करता हूँ कि-आपकी आयु सौ वर्ष से अधिक करें, जो भावी सन्तानों को धर्मपथपर चलानेका यत्न करते रहें, स्वस्थ बने रहें (श्रीभुवनेश्वर झा वैद्य, सभापति धर्मसंघ पो० बल्लीपुर (जि० दरभङ्गा)।

(३) 'सिद्धान्त' पत्रमें 'प्राचीन भारतमें गोवध, एक लेख निकला था, उसमें लेखक ने वैसे आक्षेप करने वाले पाश्चात्य एवं पौरस्त्य लेखकोंके प्रमाणोंका संग्रह किया था। उसपर कुछ विद्वानोंके विचार 'सिद्धान्त' के आरम्भिक वर्षोंमें प्रकाशित हुए थे, पर लेखकको उनसे सन्तोष नहीं हुआ। लेखक धर्मभीरु था। उसने सोचा कि—मैंने जो लेख लिखा, उस पर पण्डितोंने ठीक उत्तर नहीं दिया; उससे मुझे कहीं पाप न लगे?. लेखकने उस समस्या को सुलझानेके लिए 'आलोक'-प्रणेता

विद्यावागीशजीको तदर्थ प्रेरणा की। विद्यावागीशजीने उसपर लिखा, और 'आलोक' (६) में उसे दिया। अब उसपर उक्त लेखकके शब्द देखिये। प्र०]

'श्रीमान् विद्यावागीशजी·· ···मैंने 'आलोक' (६) आद्योपान्त पढ़ा। 'सिद्धान्त' बनारसमें प्रकाशित मेरे 'प्राचान भारत में गोवध' लेखमें प्रकाशित केवल एक शङ्काका उत्तर छोड़कर आपने सभी शंकाओंका इतना सुन्दर उत्तर दिया है कि—जिसका उत्तर देनेमें काशीके धुरन्धर विद्वानों···के छक्के छूट गये। कई वेदवाचस्पतियों के पास मैंने रजिस्ट्री पत्र भेजे, पर उत्तर न आया। धन्य है आपकी प्रतिभा एवं पाण्डित्यको। आपका गवेषणापूर्ण अध्ययन,एक-एक बातका कई प्रकार से उत्तर देना शतमुखसे स्तुत्य है। बृहदारण्यकके 'औक्षेण वा आर्षभेण वा' के आगे-पीछे को काण्डकाओंकी संगति बैठाकर बड़ा ही विद्वत्तापूर्ण अर्थ किया है। याज्ञवल्क्य-स्मृतिके 'महोक्षं वा महाजं वा' को मिताक्षरा टीका के 'लोकविद्विष्टम्' आदि पर मुझे महान् भ्रम था, उसका भी निरसन हो गया।

'पञ्चकोटिगवां माँसं' आदिकी बड़ी ही सुन्दर रिसर्च की है। वादी के आक्षेपात्मक अर्थको असम्भव सिद्ध करके आगे-पीछेके श्लोकोंको लिखकर सामञ्जस्य बैठा दिया है। प्रत्येक बात की सिद्धिमें कई-कई वेदमन्त्र भी दिखाये। ऋग्वेदके जिन मन्त्रों पर मुझे शंका थी, सायणभाष्यके तथा निरुक्तके प्रमाणसे बड़ी सुन्दर विवेचना दी। शूलगव प्रकरण, गोघ्नपर विचार, कलौ पञ्च विवर्जयेत्' आदि पर बड़ा ही सुन्दर विचार चलाया गया है।

२५—२६ वर्ष पूर्व ब्रह्मवैवर्तपुराणको राधा को लेकर 'अभ्युदय' सम्पादक पं० श्रीकृष्णकान्त मालवीयने लगभग दो वर्ष तक हो-हल्ला मचा रखा था। उसका कई शास्त्री तथा

शास्त्रार्थ-महारथी सन्तोषपूर्ण शङ्का-समाधान न कर सके, मेरे सामनेकी बात है। परन्तु उसपर आपकी विशद विवेचना सराहनीय है। 'उत्तम्भयन्, शब्द का बड़ा ही विद्वत्तापूर्ण अर्थ किया गया है।

अगस्त्यके समुद्रपान पर भी बहुत अच्छा लिखा है। स० प्र० रूपी स्वा० द० के लिङ्ग से कई आर्यसमाजी बच्चे निकलने का बड़ा सुन्दर हास्य किया गया है। छुवाछूतके ऊपर कई तर्कोंका उत्तर तथा 'ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी' का बड़ा ही गवेषणापूर्ण उत्तर दिया गया है। शेक्सपीयर नाटकका प्रमाण बड़ा काम देता है। वर्णव्यवस्थामें धर्मदेवजी सिद्धान्तालङ्कार तथा श्री स्वा० भगवदाचार्य आदिके तर्कोंका मुंहतोड़ उत्तर दिया गया है।···

(इन्दुशेखरसिंह राठौर अध्यापक, परसदा सीतापुर)।

(४) एक आर्यसमाजी विद्वान् की सम्मति—

'आपके द्वारा लिखित 'सनातनधर्मालोक' को आजकल मैं देख रहा हूँ। यद्यपि आपके और हमारे विचारोंमें 'पदे-पदे मतभेद है, तथापि यह स्वीकार करनेमें कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं है, कि—आपके निबन्ध पर्याप्त गवेषणात्मक एवं नई उद्भावनाओंसे युक्त हैं। विशेषतः 'प्राचीन भारत में गोवध' विषयक आपके समाधान मुझे बहुत पसन्द आये।···इसके आगे का ७ वां भाग कब तक प्रकाशित हो रहा है? भवदीय—भवानीलाल भारतीय एम० ए० सिद्धान्तवाचस्पति (सदस्य सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा दिल्ली) रातानाड़ा, जोधपुर)।

(५) पूज्यपाद पण्डित जी··· 'सनातनधर्मालोक' का छठा पुष्प देखा। उससे बहुत सीखने को मिला।······(श्री-हनुमान प्रसाद पोद्दार, 'कल्याण' सम्पादक)

(६) पूज्य शास्त्री जी, आपका लिखा 'श्रीसनातनधर्मा-

लोक' पहला से छठा सुमन तक हमें प्राप्त हुआ है। ७ वाँ सुमनका प्रतीक्षा कर रहा हूं। 'श्रीसनातनधर्मालोक' पढकर हमारे दिल में यह बात आता है कि–सनातनधर्म का कोई एक महान शक्ति आपके रूप में प्रकट हो कर धर्म का रक्षा कर रहा है······ (चन्द्रमोहन सिंह मेरेसोर्ख, उचगायना सूरिनाम (दक्षिण अमेरिका)।

(7)······Your writings are very commencing and satisfactory. It is the very beat among all the Pandits who have contributed their writings in defence of Sanatan-Dharma. I pray to God to give you long life and under-standing that you may always educate your people to-words Sanatan-Dharm (श्री H. P. तिवारी Plamyra village, East comje Berbice, British Guiana,,

(८) 'आलोक' का छठा सुमन देखकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। मैं आपके इन ग्रन्थों को पढ़कर अत्यन्त आनन्द–विभोर हो जाता हूँ। इनसे पूर्व ऐसा परिश्रम नहीं देखा गया। धार्मिक विषयों पर यह पहला महान् परिश्रम है ।······(श्रीदामोदर शास्त्रा संस्कृताध्यापक रामजस हाईस्कूल, देहली)।

(९) आपका लेखकों में प्रथम स्थान है, यह सभी धार्मिक विद्वानों का कथन है । आपके सभी लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, वैज्ञानिक एवं तर्क-पूर्ण होते हैं, जिससे सभी प्रकार के लोगों को संतुष्टि प्राप्त होतो है। आपका परिश्रम प्रशंसनीय और अनु-करणीय है ।······

आपके द्वारा रचित 'श्रीसनातनधर्मालोक' के सभी ग्रन्थों का अवलोकन किया। इसमें आपने हिन्दुधर्म समन्वित सुन्दर-सुन्दर आवश्यक विषयोंको देकर हिन्दु जाति का महान् लाभ किया है। आपके सनातनधर्मालोकका मननपूर्वक अध्ययन

श्रीसनातनधर्मालोकः (७)

पुराण-सम्बन्धी आक्षेपोंका परिहार।

१. मङ्गलाचरणम्।

'ॐ निषुसीद गणपते! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे,महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च' ।
(ऋ.सं. १०।११२।९

'ॐ तत्कराटाय विद्महे हस्तिमुखाय धीमहि।
तन्नो दन्ती प्रचोदयात्' (कृष्ण य० मैत्रायणीसं० २।९।१।६)

'ॐ शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।
शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः' (अथर्व शौ. सं १९।९।१०)

'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः। (अथर्ववेद सं०११।७।२४)

'तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्च अनुव्यचलन्।'
(अथर्व० १५।६।११)

'इतिहासस्य च वैसपुराणस्य च गाथानाञ्च नाराशंसीनाञ्च–प्रियं धाम भवति य एवं वेद।' (अथर्व० १५।६।१२)

'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदा-ऽस्तस्य विनिर्गताः।' (मत्स्य पुराण ५३। ३)

श्रीसनातनधर्माकाऽऽलोकोयं संप्रकाशते।
तमांस्यनेन दूरे स्युर्धर्ममार्गः स्फुटो भवेत् ॥ १ ॥
पूर्वं पञ्चाप (मुल्तान) वास्तव्य इदानीं देहलीं श्रितः।
इमं ग्रन्थं विनिर्माति श्रीदीनानाथनामकः ॥ २ ॥
सारस्वतस्य तस्याऽयं प्रयत्नः शास्त्रिणो महान्।
साफल्यमेतु पूर्त्तिञ्च भगवत्कृपया ध्रुवम् ॥ ३ ॥

२. पौराणिक-चरित्र-पर्यालोचन ।

'यानि अनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि'
(तै. उ. १।११।२)

'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' (भ. गी. १६।२४)
'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति' (महा. आदि. १।१६४)
'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदः' (न्यायदर्शन ४।१।६२)

आजकल आर्यसमाजी वा सुधारक लोग पुराणोंको कई प्रकारसे कलङ्कित करनेमें लगे हुए हैं । इसमें उन्होंने कई लाभ सोच रखे हैं । पहला तो यह है कि—आजकल ऐसी पुस्तकोंके प्रकाशनसे दोष-दर्शन-प्रिय अर्वाचीन जनतामें उनकी शीघ्र बिक्री हो जानेसे उनकी उदरदरीकी पूर्तिका साधन-धन उन्हें प्राप्त हो जाता है । दूसरा—इससे संस्कृतका परिनिष्ठित ज्ञान न रखने वाले अविद्वान् आक्षेपकोंका नाम क्रान्तिप्रिय जनतामें यत्र-तत्र प्रसिद्ध हो जाता है । तीसरा—इस विषयके लिखनेसे पर-प्रत्यय-नेय-बुद्धि तथा स्वयं पुस्तक देखने तथा समाधान सोचने-में आलसी जनता पर शीघ्र प्रभाव भी पड़ जाता है, जिससे वह आक्षेप्ताके सम्प्रदायकी भक्त बन जाती है । चौथा—उप-देशकताकेलिए बुलावे आते हैं, भेंट—किराया आदि भी मिल जाता है, अपने परिवार-पोषणार्थ धनसंग्रह हो जाता है । पांचवां लाभ—उनके मतमें सनातनधर्मका खण्डन हो जाता है, खण्डन ही उनका जीवन होता है । वे खण्डन बन्द कर दें, तो उनके समाज मृतप्राय हो जाते हैं ।

यह लोग जिन कुचरित्रोंको अवलम्बन करके पुराणोंको कलङ्कित करनेकी चेष्टा किया करते हैं, उनसे वे स्वयं मुक्त

नहीं होते, परन्तु लोक-दृष्टिमें अपने-आपको दूधका धुला सिद्ध करनेकेलिए अपने पूर्वजोंको कलङ्कित करनेमें कमर कसा करते हैं । यह लोग पौराणिक सुचरित्रोंकी सर्वथा उपेक्षा करके पुराणोंमें आपाततः दीख रहे कुचरित्रोंको जनताके सामने बड़े संरम्भसे रखकर पुराणोंको खराब सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं । वस्तुतः दोषमात्र देखने वाले इन लोगोंकी हार्दिक अभिलाषा यह रहती है कि—हमें भी ऐसे आचरणोंके करनेमें खुली-छूट मिल जाए ।

जब इन्हें कहा जाता है कि—अरे भाई ! वेदादि-शास्त्रोंमें आक्षिप्त कर्मोंके निषेध होनेपर भी जिस-जिसने जैसा-जैसा किया, वह पुराण—इतिहासमें लिख दिया गया; इतने मात्रसे वह हमारेलिए कर्तव्य-सिद्ध नहीं हो जाता । विधि अथवा आज्ञा अन्य-बात होती है, किसी व्यक्तिने जो किया, उसे पुरा-णादिमें लिख दिया गया, यह अन्य बात होती है । इस कारण मनुजीने भी लिखा है—'न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन' (४ । ११) अर्थात्—लोकचरित्र का अवलम्बन नहीं कर लेना चाहिये । पुराणोंने जिनके जैसे-जैसे चरित्र थे, वैसे ही प्रकाशित कर दिये । इससे पुराण क्यों खराब हो गये ? पुराणोंमें स्वार्थी-अधर्मी दुर्योधन का चरित्र भी है, उससे विरुद्ध परोपकारी, पूर्ण-धर्मात्मा युधिष्ठिरका चरित्र भी है । उनमें पितृभक्त श्रीरामका भी वर्णन है, पिताको जेलखानेमें डालनेवाले कंसका भी । कुम्भकर्ण-के समान मांसभक्षियोंका भी वर्णन उनमें है, वाताम्बुपर्णाशन (वायु-जल-पत्ते खानेवाले) मुनियोंका भी । ध्रुव-जैसे भक्त-बालकोंकी कथा भी है, असमञ्जस-जैसे बच्चोंको नदीमें डाल आने वाले बालकोंकी कथा भी उनमें है । सावित्रीके समान पतिव्रताओंका भी पुराणोंमें उपाख्यान है, शूर्पणखाके समान

कुलटा-विधवाओंका भी।

जहां नल-युधिष्ठिर आदिकी पौराणिक-इतिहासने धार्मिकता तथा वीरताकी पराकाष्ठा दिखलाई है, वहीं उनके दौर्बल्यसे प्रयुक्त जुआ खेलनेका व्यसन भी बताया गया है। जहां पौराणिक-इतिहास में ब्राह्मणको ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है, उसीमें चारों वेदोंके ज्ञाता, कुकर्मी-ब्राह्मण रावणका भी, सुचरित्र-क्षत्रिय रामद्वारा वध भी तो बतलाया गया है। यदि ऐसा है, तो इसमें पुराणोंका क्या अपराध हुआ? जिस व्यक्तिके चरित्रमें जैसे गुण-दोष थे; वैसे ही पुराणोंमें बता दिये गये; क्योंकि-शास्त्रोंमें लिखा है 'शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि'। 'शत्रोरपि गुणा ग्राह्या गुरोस्त्याज्यास्तु दुर्गुणाः (शुक्रनीति ३।६५) शत्रुके गुणोंको भी ले लो, गुरुके दोषोंको भी छोड़ दो। इससे तो पुराणोंका सत्यमें पक्षपात सिद्ध हुआ तथा निष्पक्षता भी; तब तुम इससे पुराणोंको ही कैसे निन्दित करते हो?

जब प्रतिपक्षियोंका इस उत्तरसे पराजय तथा मुंह फीका हो जाता है; तब वे अपने प्रश्नकी शैलीको कुछ बदल देते हैं; और कहते हैं—नहीं नहीं। हमारे पुराने पूर्वजोंमें कुछ भी दोष नहीं थे; पुराणोंने ही उनमें कलङ्क लगाये हैं'। इसपर हम उन्हें पूछते हैं कि—उस-उस व्यक्तिका इतिहास आपने कहांसे सुना है? यदि पुराणसे; तो मानना पड़ेगा कि— जिसका जैसा चरित्र था, पुराणने उसे वैसे लिख दिया, नहीं तो पुराण-इतिहाससे अतिरिक्त आपके पास क्या प्रमाण है कि—जिससे आप उस व्यक्तिकी सत्ता ही सिद्ध कर सकें। यदि अन्य कोई प्रमाण नहीं; तब अन्तमें आपको स्वयं मानना पड़ेगा कि-पुराणोंने उनमें दोष नहीं लगाये, किन्तु उनका जैसा चरित्र था, पुराणोंने उसे वैसे ही लिख दिया; नहीं तो पुराणोंको उनपर दोष लगाने

में क्या लाभ था? जीवन-चरित्रमें जो दोष हों, चाहे गुण हों उनको वैसा लिख देना—यह उनका सत्यप्रेम सिद्ध करता है जैसे, गांधीजीके जीवनचरित्रमें उनके कई दोष दिखलाये गये हैं उससे वह आत्म-कथा ही क्या खराब हो जायगी? नहीं; बल्कि इससे जनताने गांधीजीको सत्यवादी माना और उनका इससे सम्मान हुआ। हां, काव्य-नाटकमें जिनका उद्देश्य जनतापर उस चरित्रके अनुसरणका प्रोत्साहन देना है—उनमें केवल नायकके गुण ही दिखलाये जाते हैं, दोष नहीं। परन्तु पुराण तो प्रत्येकका जीवन-चरित्र दिखलाते हैं; उनमें उनके चाहे दोष हों चाहे गुण; वे दिखला दिये जाते हैं। इसमें तो पुराणों की सत्यता सिद्ध हो जाती है। यह तो स्वा.द.के जीवनचरित्रोंमें किया जाता है कि उनमें दोष छिपा दिये जाते हैं, और गुण बहुत बढ़ा-चढ़ा कर अर्थवादरूपमें दिखाये जाते हैं। स्वामीके पूर्वचरित्रोंमें जो कुछ उनके दोष दिखलाये भी गये थे, अर्वाचीन चरित्रकारोंने उनमें वे दोष छिपा दिये हैं, इसीका नाम हुआ करता है असत्यता!

शेष रहे ऋषि-मुनियोंके दोष, अथवा पुराणकथित कर्म; प्रतिपक्षियोंके अनुसार पापकर्म; उसमें प्रतिपक्षियोंकी संकुचित तथा अल्पश्रुत बुद्धिका ही यह अपराध है कि उसमें यह स्थूल भी पुराणका विषय प्रवेश नहीं कर सकता, इसमें पुराणका दोष नहीं।

प्रतिपक्षी यह याद रखें कि कई इस प्रकारके कर्म होते हैं, जो एक देशके लिए, एक कालकेलिए, एक पात्रकेलिए, एक योनिकेलिए, एक जातिकेलिए, एक आश्रमकेलिए, एक आयुकेलिए, एक अवस्थामें, एक कुलमें, एक शाखामें, और अशक्तिविशेषमें दोष या पाप होते हैं; वे ही कर्म दूसरे देशकेलिए, दूसरे कालकेलिए, दूसरे पात्रकेलिए, दूसरी योनिकेलिए, दूसरी जातिकेलिए, दूसरे आश्रमकेलिए, दूसरी आयुकेलिए, दूसरी अवस्थामें, दूसरे कुलमें,

दूसरी शाखामें और शक्तिविशेषमें दोष नहीं होते; इसीलिए महाभारत शान्तिपर्वमें कहा है—'स एव धर्मः, सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठितः। आदानमनृतं हिंसा धर्मो ह्यावस्थिकः स्मृतः। (३६।११) इसमें विशेष देश-काल आदिमें धर्मको भी अधर्म और अधर्म को भी धर्म कहा गया है।

इसमें हिंसा-विषयमें यह जानना चाहिये कि–शास्त्रीय हिंसा अहिंसा हुआ करती है, शास्त्रसे अननुशिष्ट हिंसा हिंसा हुआ करती है। इस विषयमें वेदान्तदर्शन (३।१।२५) सूत्रका शाङ्करभाष्य देखना चाहिये। वह यह है–'यत्पुनरुक्तं पशुहिंसादियोगाद् अशुद्धमाध्वरिकं कर्म, तस्य अनिष्टमपि फलमवकल्पते–इति······तत् परिह्रियते। न। शास्त्रहेतुत्वाद् धर्माधर्मविज्ञानस्य। अयं धर्मः, अयम् अधर्मः–इति शास्त्रमेव विज्ञाने कारणम्। अतीन्द्रियत्वात् तयोरनियतदेश-कालनिमित्तत्वाच्च! यस्मिन् देशे, काले, निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते, स एव देश-कालनिमित्तान्तरेषु अधर्मो भवति। तेन शास्त्राद् ऋते धर्माधर्मविज्ञानं न कस्यचिदिति। (जिस देश, काल, निमित्तमें जो धर्म होता है, वही अन्य देश, काल, निमित्तमें अधर्म बन जाता है. अतः यह धर्म है या अधर्म है, इसे मानुषी बुद्धि नहीं बता सकती; किन्तु शास्त्र ही यह बात बताएगा) शास्त्राच्च हिंसानुग्रहाद्यात्मको ज्योतिष्टोमो धर्म इत्यवधारितः। स कथमशुद्ध इति शक्यते वक्तुम्? ननु 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इतिशास्त्रमेव भूतविषयां हिंसाम् अधर्म इत्यवगमयति? बाढम्; उत्सर्गस्तु सः। अपवादः–'अग्नीषोमीयं पशुमालभेतेति। उत्सर्गापवादयोश्च व्यवस्थितविषयत्वम्। तस्माद् विशुद्धं कर्म वैदिकम्। शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वाद् अनिन्द्यत्वाच्च'।

इस सूत्रका श्रीवल्लभाचार्यगोस्वामीके अतिरिक्त श्री-

रामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य आदि समस्त भाष्यकारोंने यही अर्थ किया है। इसी विषयमें आचार्य शङ्करने अन्यत्र भी स्पष्टता की है— 'उपस्थितविपाकत्वं च कर्मणो देश-काल-निमित्तोपनिपाताद् भवति। यानि च एकस्य कर्मणो विपाचकानि देश-कालनिमित्तानि, तानि एव अन्यस्यापि न नियन्तुं शक्यन्ते। यतो विरुद्धफलान्यपि कर्माणि भवन्ति। शास्त्रमपि अस्य कर्मण इदं फलं भवति–इत्येतावति पर्यवसितम्, न देशकालनिमित्तविशेषमपि सकीर्तयति। साधन-वीर्य-विशेषात्तु अतोन्द्रिया कस्यचित् शक्तिराविर्भवति, तत्प्रतिबद्धा च परस्य तिष्ठति' (वेदान्तशाङ्कर ३।४।५१) इसमें भी यही सिद्ध किया गया है कि देश-काल-निमित्त-विशेषमें धर्म-अधर्म परिवर्तित हो जाया करते हैं। किसीमें साधन-विशेष तथा वीर्य-विशेषसे ऐसी अतीन्द्रिय शक्ति प्रकट हो जाया करती है कि उसे उस अधर्म आदि से कुछ भी हानि नहीं होती; और दूसरेकी हो जाती है। जब ऐसा है; तब सभी को एक लाठी से नही हांका जा सकता, यह पुराणके पर्यालोचकोंको याद रखना चाहिये। यह यहां हिंसा-अहिंसा विषय में कहा गया है; असत्य विषयमें आगे कहा जाएगा।

अब देशविशेषमें एक ही कर्मका तारतम्य देखिये—विलायतमें यह रीति है कि उसमें पुरुष परस्त्रियों का हाथ पकड़कर नाचा करते हैं। जो स्त्री जिस भी अन्य पुरुषको नाचनेकेलिए पसन्द करे, यदि वह पुरुष निषेध कर दे; तो वह बड़ा असभ्य माना जाता है। नाचनेकी भूमि इतनी चिकनी रखी जाती है कि–नाचनेके समय पावोंके फिसलनेकी आशङ्का रहती है। तब फिसलती स्त्रीको पुरुष और फिसलते हुए पुरुषको स्त्री अपनेपर ले लेती है, या वे एक-दूसरेके ऊपर गिर जाते हैं। अब कहिये कि भारतमें ऐसा करना क्या सभ्यता है वा असभ्यता ? अब यह

एक ही कर्म भिन्न-भिन्न देशमें सभ्यता तथा असभ्यता बना। मान लीजिये कि अंग्रेजोंकी कृपासे जैसे अंग्रेजी भाषा भारतीयोंकी कुलभाषा होगई; कोट, बूट, हैट, पैंट, कालर, टाई, करजन-फैशन आदि उनकी वेशभूषा भी हमारी सभ्यताकी सामग्री बन गई। अब हमारी स्त्रियोंका पर्दा-घूँघट भी चला गया। अपनी स्त्रियोंका अन्य पुरुषोंके साथ किसी पिकटिंग-आन्दोलनमें भेजना भी अब लज्जाजनक नहीं माना जाता। अब तो उससे भी बढ़कर क्लबोंमें अन्य स्त्रियोंके साथ करमर्दनकी भी सभ्यता हो गई है। हमारे कुलीन घरोंकी लड़कियां अब सभामें नाचने भी लग गई हैं। इस प्रकार क्रमशः अन्य स्त्रियोंका हाथ पकड़कर पुरुषोंका उनके साथ नाचना भी सभ्यता होजावे; तब वर्तमान आलोचकोंकी दृष्टिमें यह दोषरूप भी भावी सन्तानोंकी दृष्टिमें गुण हो जावेगा। जब वही भावी सन्तानें आपसे लिखे हुए अन्यकी स्त्रीके साथ नाचनेमें घृणा-सूचक इतिहास पढ़ेंगी; तब आपकी नासमझी और अपनी सभ्यता मानेंगी।

यूरोपमें किसी सभ्यके आनेपर अपने हैटके उतारनेसे अभिवादन माना जाता है, पर हमारे देशमें किसीकी मृत्यु होनेपर उसके सम्बन्धीके आगे शोकप्रकाशनार्थ अपनी टोपी उतारी जाती है। हमारी सभ्यता में खड़े होकर पेशाब करते हुए ब्राह्मणोंको 'अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति' (नत्रसूत्रके महाभाष्यमें) 'अब्राह्मण' कहा जाता था, पर यूरोपमें खड़े होकर पेशाब और 'द्वित्रैश्च कागलैः परचाद् गुदं संशोधयेद् बुधः। न करेण स्पृशेन्नीरं यदीच्छेच्छुभमात्मनः' 'नग्नः टीतटवे स्नायाद्' (ट्वडे स्मृति) आदि विधियां की जातीं हैं, हमारे देशी लोग इन विधियोंके करनेमें गौरव समझते हैं।

उत्तर प्रदेश वा पूर्वमें दूसरेकी रसोईमें घुसना महान् अप-

राध है, पर पंजाबमें ऐसा करनेमें कोई अपराध नहीं। भारत गलेको तर करनेकेलिए दूधका प्रयोग किया जाता है; पर यूरो में इस अवसर पर ब्राण्डी (मद्य) का उपयोग किया जाता है यहाँ तो मद्यके उपयोगसे मस्ती वा बेहोशी होती है, वहां इस चेतनता होती है। दक्षिण-देशमें मामा वा बुआकी लड़की विवाह करना ठीक माना जाता है, पर हमारे देशमें ठीक न माना जाता। दक्षिण, (मलावार) प्रदेशमें कई निम्न जाति वालोंमें अपनी नवविवाहित पत्नीको प्रथम रात्रिमें ब्राह्मण दिया जाता है, इससे स्त्री पतिव्रता मानी जाती हैं, पर हमा देशमें नहीं।

इससे सिद्ध होता है कि भिन्न-भिन्न देशमें एकही कर्म एक स्था पर दोष होता है, और दूसरे स्थान पर गुण। एक स्थान प सभ्यता, और दूसरे स्थान पर असभ्यता। एक स्थान पर पाप त दूसरे स्थान पर पुण्य माना जाता है। इसीलिए श्रीमद्भागवत भी कहा गया है—'क्वचिद् गुणोऽपि दोषः स्याद् दोषोऽपि विधि गुणः। गुणदोषार्थनियमः (गुणदोषका नियामक शास्त्र ही तद्भिदामेव बाधते' (११।२१।१६)। इसमें उदाहरणोंकी क नहीं है। इसलिए बोधायन-धर्मसूत्रमें भी कहा है—'तत्र-तत्र दे प्रामाण्यमेव स्यात्' (१।२।६)। तब कहिये कि-क्या को गुण-दोषका एक ही पूर्ण लक्षण बना सकता है? यदि बना भी सही; तब उसका अपवादशास्त्र अवश्य बनाना पड़ेगा अतः लौकिक कुत्सित तथा अकुत्सित कर्मोंकी एक व्यवस्था न हो सकती। सभी लोग अपने अनुकूल कर्मोंको सुकर्म मानते हैं इस कारण लौकिक कर्मोंको देश, काल, समाज आदि भेद सुकर्म-कुकर्म कहा जा सकता है। एक विशेष देशमें सुकर्म मा जाता हुआ वा किया जाता हुआ कर्म दूसरे देश वा समाज

सदा सुकर्म नहीं रहता। बहुत क्या कहा जाय; उसी देश तथा समाज़में वही कर्म भिन्न कालमें कुकर्म हो जाया करता है। अतः यह प्रसिद्ध है कि—'देशभेदात् कालभेदात् पुंभेदाद् अन्यथाऽन्यथा। विपर्यस्यति शास्त्रार्थो धर्मभेदास्ततोऽभवन्' देश, काल वा पुरुष-के भेदसे शास्त्रका अर्थ भी परिवर्तित हो जाता है; इसलिए धर्म-का भेद हो जाता है।

अब कालकी परीक्षा कीजिये। एक कालमें जो बात गुण वा दोष समझी जाती है, वही अन्य कालमें दोष वा गुण बन जाती है। इस पर यह समझिये सृष्टिके आरम्भसे आजसे कुछ वर्ष पूर्व तक चाण्डाल आदि अन्त्यजोंके स्पर्शमें दोष माना जाता था; परन्तु आजकल स्पर्श तो छोड़िये, आज भंगीकी लड़कीसे विवाह कर लेने पर 'हिन्दी-मिलाप' 'वीर-अर्जुन' आदि सुधारक पत्रोंमें 'आदर्श-विवाह' शीर्षक छप जाता है। सन् १९२८ में इस प्रकार का संकल्प हमने 'सूर्योदय'में दिया था; इससे हमारे मित्र आर्य-समाजी श्रीधुरेन्द्रजी शास्त्री (स्वामी श्रीध्रुवानन्द सरस्वती) हमें उलाहना दे गये थे; पर अब तो वे भी वैसे विवाहोंको सम्भवतः अच्छा समझते हैं। प्राचीन कालमें सवर्णविवाह ठीक माना जाता था। तब असवर्णविवाह, ब्राह्मणका अन्य जातिवालोंके साथ निकृष्ट माना जाता हुआ भी, स्वीकृत किया जाता था, परन्तु ब्राह्मणका शूद्रा के साथ तथा अधम-वर्णका उच्च वर्णवाली कन्याके साथ प्रतिलोम विवाह तो अत्यन्त निन्दित माना जाता था। पर आज तो उच्च वर्णवालेका 'भङ्गी' की लड़कीके साथ विवाह आदर्श-विवाह माना जाता है। श्रीगाँधीजी जैसे वैश्यका अपने लड़के देवीदासका ब्राह्मण (श्री राजाजी) की लड़कीके साथ प्रतिलोम विवाह, श्री जवाहरलाल-ब्राह्मण द्वारा अपनी बहिनका वैश्यके साथ, तथा अपनी लड़कीका पारसीसे प्रतिलोम

विवाह भी नेता बनाने वाला माना जाता है।

किसी समय मुसलमान और ईसाईयोंको नहीं छुआ जाता था। इस विषयमें स्वा. द. जीके १८७५ ई० में प्रकाशित 'सत्यार्थ-प्रकाश' को साक्षी देखिये—'मुसलमान वा अंग्रेजसे छूनेमें दोष मानते हैं। ...... मुसलमान और अंग्रेज जो भले आदमी हैं; उनसे तो छूत गिनना, और वेश्यादिकोमें छूत न मानना, यह केवल युक्तिशून्य बात है'। (यह स्वा. श्रद्धानन्दप्रणीत 'आदिम सत्यार्थप्रकाश' में देखें)। अब द्वितीय स. प्र. में भी देखें—'भला जो महाभ्रष्ट म्लेच्छकुलोत्पन्न वेश्या आदिके समागमसे आचारभ्रष्ट धर्म-हीन नहीं होते; किन्तु देश-देशान्तर [विलायत, अरब आदि] म्लेच्छकुलोत्पन्न पुरुषोंके साथ समागममें छूत और दोष मानते हैं, यह केवल मूर्खता-की बात नहीं तो क्या है?' (दशम पृष्ठ १६५), परन्तु वे ही ईसाई-मुसलमान आदि अब छुए जाते हैं।

इनका स्पर्श जारी होनेपर भी उनके साथ खाने-पीनेका व्यवहार नहीं था, पर आजकल उनके साथ खाना-पीना पिपीलिका-गति न्यायसे जारी है, विशेषकर राजकीय-अधिकारियोंमें तथा वर्तमान लीडरोंमें तो है ही। आज मुसलमानोंसे बनाई हुई डबलरोटी, बिस्कुट, सोडा आदि का उपयोग सभ्यतामें माना जाता है। ऐसा होनेपर भी ईसाई-मुसलमानकी लड़कियोंके साथ विवाह अनुचित माना जाता था, पर आज श्यामकुमारी नेहरू-सदृश ब्राह्मणियोंका जमीलखां मुसलमानसे, अरुणा जैसी ब्राह्मणियोंका 'आसफ़अलीसे तथा डा० अम्बेदकर अन्त्यजसे एवं श्री-इन्द्र जैसे क्षत्रियोंसे ब्राह्मणियोंका विवाह गौरवास्पद माना जाता है। स्त्रियोंका पहले पर्देमें रहना अच्छा माना जाता था, और बेपर्दगी बेशर्मी मानी जाती थी; पर अब बेपर्दगी सभ्यता मानी जाती है; और पर्देको घृणाकी दृष्टि से देखा जाता है।

अब विचारिये–जब एक ही वस्तु अथवा एक ही व्यवहार एक समयमे दोष हुआ; और दूसरे समयमें गुण होगया; जैसेकि–श्रीमद्भागवतमें —'क्वचिद् गुणोपि दोषः स्याद्-दोषोपि विधिना गुणः। गुणदोषार्थनियमस्तद्-भिदामेव बाधते। (११।२१।१६) तब पुराण-इतिहासमें हमारे पूर्वजोंपर दोष ही लगाये हैं–यह प्रतिपक्षी कैसे कह सकते हैं ? तब शायद वही व्यवहार ग्राह्य माना गया हो। महाभारत-द्वारा पता लगता है कि–पूर्व समयमें काम भाव न होनेसे विवाहविधि नहीं हुआ करती थी। स्त्रियाँ गौओंकी भान्ति और पुरुष बैलोंकी भान्ति नग्न रहा करते थे। पुरुष जिस-किसी स्त्रीको अपनी पत्नी बना सकते थे; तब यह धर्म माना जाता था; कालक्रमसे जब कामभाव बढ़ गया, और अव्यवस्था होने लगी; तब विवाहविधिकी व्यवस्था नियमित की गई। तब स्वच्छन्द-विहार अधर्म माना जाने लगा। —'अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने ! कामाचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुहासिनि !' (आदि. १२२। ४) तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात् सुभगे ! पतीन्। नाऽधर्मोऽभूद् वरारोहे ! स हि धर्मस्तदाऽभवत्' (५) उसके बाद उस पूर्व-व्यवहार का ऋषियों-द्वारा निषेध कर दिया गया। वहां यह नियम किया गया–'व्युच्चरन्त्याः पति नार्या अद्य प्रभृति पातकम्। भ्रूणहत्यासमं घोरं भविष्यत्यसुखावहम्' (१२२। १८) पतिव्रतामेतदेव भविता पातकं भुवि' (१९)। तब प्रतिपक्षी उस समयको आजके दृष्टिकोणसे कैसे तोल सकते हैं ?।

इस प्रकार पहले अन्त्यजोंका देवमन्दिरोंमें प्रवेश किस दृष्टिसे देखा जाता था, और अब किस दृष्टिसे देखा जाता है इत्यादि बातोंपर जब दृष्टि डाली जावे; और यह सब घटनाएं यदि इतिहासमें आ पड़ें; तब यदि भावी सन्तानें देवमन्दिरोंमें अछूतोंका

घुसाना भले ही अच्छा मानें, पर जिस कालमें वैसा करना निषिद्ध था; तब उसे गुण कैसे माना जा सकता था ? वही इतिहासकी घटनाएं सदा एक कालसे नहीं तोली जा सकतीं; क्योंकि भिन्न-कालमें कई भेद हो जाया करते हैं।

आजकल कई स्त्री-पुरुष विवाह हो जानेपर भी 'तलाक' दे देना धर्म मानते हैं। कई व्यक्ति आजकल विवाह ठीक न मान कर जिस किसी भी स्त्रीको मन-लगने तक अपनी पत्नी बनाये रखना चाहते हैं। इसी प्रकार स्त्रियाँ पुरुषको। कई मित्र अपनी स्त्रियोंको एक दूसरेको रतिकेलिए देते हैं; आपके मतमें यह अधर्म भी उनके मतमें ठीक है–इस प्रकार भिन्न-भिन्न कालमें दृष्टिकोणकी विभिन्नताका अनुमान कर लेना चाहिये। इसलिए मीमांसादर्शन (१। १। १ सूत्र) के शाबरभाष्यमें भी लिखा है–'धर्मं प्रति हि विप्रतिपन्ना बहुविदः। केचिद् अन्यं धर्ममाहुः केचिद् अन्यम्। सोऽयमविचार्य प्रवर्तमानः कञ्चिदेव उपाददानः विहन्येत, अनर्थं च ऋच्छेत्। तस्माद् धर्मो जिज्ञासितव्यः'। इसी कारण महाभारत-शान्तिपर्वमें भी कहा है 'अधर्मरूपो धर्मो हि कश्चिदस्ति नराधिप ! धर्मश्चाऽधर्मरूपोस्ति तच्च ज्ञेयं विपश्चिता' (३३। ३२) (कोई धर्म भी अधर्म बनजाता है, और अधर्म भी धर्म बन जाता है।

अब पात्र लीजिये।–एक पुरुष ऐसा होता है कि–उसे संखिया भी वाजीकरणका काम देता है, दूसरा ऐसा होता है कि संखिया उसे यमद्वारमें भेजनेका साधन होता है। एक है बीमार व्यक्ति, घी उसे तपेदिक्क कर देता है। एक है स्वस्थ, घी उसे बलवान् बनाता है। अब देखिये–एक ही घी तथा विष-धतूरा आदि अधिकारिभेदसे एककेलिए दोष हो जाता है, और एककेलिए गुण। एक पूर्ण-स्वस्थ पुरुष बहुत अपथ्य सेवन करने पर भी हानि

प्राप्त नहीं होता; एक साधारण स्वास्थ्य वाला व्यक्ति थोड़ा ही अपथ्यका सेवन करनेपर रोगी हो जाता है। एक सबल पुरुष एक ही दिन कई बार मैथुन करने पर भी क्षीण नहीं होता; दूसरा दुर्बल व्यक्ति एक बार मैथुन करने पर उठने लायक भी नहीं रहता; कई इस प्रकारके पुरुष होते हैं कि साँप वा बिच्छू उन्हें काटे, फिर भी उनपर उसके विषका प्रभाव नहीं पड़ता जैसे--नल कर्कोटक नागके काटनेसे भी विषकी पीड़ा-को प्राप्त नहीं हुआ, केवल कुछ काला हो गया (महाभारत वनपर्व ६६। १६)। धतूरा एवं आक खानेपर भी कइयोंका कुछ नहीं बिगड़ता। मद्यपान करनेपर भी कइयोंपर उसका प्रभाव नहीं पड़ता। कई स्वयं विष खा लें, या कोई उन्हें विष खिला दे, फिर भी उनपर उसका दुष्प्रभाव नहीं पड़ता, जैसे-महादेव जी। परन्तु थोड़ी सामर्थ्य वाला उनका अनुकरण करता हुआ अपने आपको साँप वा बिच्छूसे कटवा ले, धतूरा, वा विष खा ले; क्या वह मरने वा बेहोश होने वा पीड़ासे अपने-आपको बचा सकेगा?

तब कहिये कि--क्या एक ही वस्तु सब स्थान समान हुई? यदि नहीं, तो सिद्ध हुआ कि--अलौकिक-सामर्थ्य वाले हमारे पूर्वजोंकेलिए कोई प्रतीत हो रहा कुकर्म भी अपना फल देनेमें समर्थ न हुआ, और हम साधारणोंको वह समूल नष्ट कर सकता है। इस कारण 'आपस्तम्बधर्मसूत्र' में कहा है—

'दृष्टो धर्म-व्यतिक्रमः साहसं च पूर्वेषाम्' (२। १३। ७) (पूर्व लोगोंका धर्मका उल्लंघन तथा साहस भी देखा गया है) 'तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते' (८) (उनकी विशेष तेज-स्विताके कारण उनको उससे पाप वा हानि नहीं होती)। 'तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरः' (आ. ध. सू. २। १३। ९)

(उसे देखकर अनुकरण करने वाला आजका व्यक्ति दुःख उठाता है)। यह एक प्राचीन-धर्मसूत्रकी बात उपेक्षणीय नहीं। यही बात श्रीमद्भागवतपुराणमें भी कही है—

'धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्। तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा' (१०। ३३। ३०) (सामर्थ्यवान् तेजस्वी पूर्व लोगोंका धर्मोल्लंघन तथा साहस भी देखा गया है; पर उन्हें उससे कुछ भी दोष नहीं होता। अग्नि सभी कुछ खा लेती है; इससे वह दूषित नहीं हो जाती, किन्तु दूषित वस्तुका दोष निकाल देती है) 'नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः। विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्' (३१) (पर असमर्थ पुरुष वैसा मनसे भी न करे; वह मूढतासे यदि वैसा करेगा; तो हानि उठा बैठेगा। रुद्र हलाहल विष पान करते हुए भी नहीं मरे, वही विष उनकेलिए अमृत बन बैठा)।

वेदान्तदर्शन (१।३।३३ सूत्र) के भाष्यमें भी कहा है--'ऋषी-णामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं नास्मदीयेन सामर्थ्येन उपमातुं युक्तम्। तस्मात् समूलमितिहासपुराणम्' (पुराने ऋषियोंकी सामर्थ्यको अपनी सामर्थ्यसे नहीं तोलना चाहिये)

यदि आप हरे रंगकी ऐनक पहरें; तो आपको सब हरा-हरा दीखेगा; परन्तु धर्मके विषयमें यह बात नहीं हो सकती। बल्कि यह कहा जा सकता है कि--प्रतिपक्षी--जैसे संकुचितबुद्धि वाले लोग धर्म-अधर्मका लक्षण ही नहीं बना सकते। तभी तो महा-भारत (वनपर्व) में कहा है—'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' (३१३। ११७) (धर्मका तत्त्व रहस्यपूर्ण होता है)। बोधायन-धर्मसूत्रमें भी कहा है--'बहुद्वारस्य धर्मस्य सूक्ष्मा दुरनुगा गतिः' (१।१।१३) (धर्मके बहुत द्वार हैं; अतः धर्मकी सूक्ष्म और दुर्ज्ञेय गति है)। महाभारतमें कहा है--'बहुधा दृश्यते धर्मः सूक्ष्म

एव द्विजोत्तम ! ननु तत्त्वेन भगवन् ! धर्मं वेत्सीति मे मतिः' (वनपर्व २०६ ।४२) (धर्म सूक्ष्म होता है, उसे आप वास्तविकतासे नहीं जानते)। धर्मका एक-एक सामान्य लक्षण बनानेपर भी आपका वह लक्षण सर्वत्र चरितार्थ नहीं हो सकता, उसका अपवादस्थल मानना ही पड़ेगा।

कुछ विचारिये—सत्य बोलना धर्म है, और असत्य बोलना पाप; इस सिद्धान्तको ही ले लीजिये। एक गाय कहीं दौड़ती जा रही है। कुछ समय बाद हमें एक वधिक (कसाई) मिलता है, वह हमसे पूछता है कि—क्या आपने इधरसे गायको जाता देखा है ? यदि हम उसमें सच बोलते हैं कि—हां-हां, इधरसे गाय जा रही है; तब इससे गोवध होता है। वहां सत्य भी अधर्म होता है, और असत्यभाषण भी धर्म; क्योंकि—'न तत्त्ववचनं सत्यं नाऽतत्त्ववचनं मृषा। यद् भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा'। (सच बोलनेका नाम सत्य नहीं होता; भूठ बोलनेका नाम असत्य नहीं होता। जिसमें प्राणियोंका अत्यन्त हित हो; वह असत्य भी सत्य है)। इसलिए कहा गया है—'सत्यं भूतहितं प्रोक्तं न यथार्थाभिभाषणम्' (सत्य प्राणिहितका नाम होता है, सच बोलनेका नाम सत्य नहीं)। महाभारत-शान्तिपर्वमें भी कहा है—'सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्। यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम'। 'सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम्। ····· भवेत्सत्यं न वक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत्। यत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं वाप्यनृतं भवेत्। सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्मवित्' (१०६। ४-५) 'अकूजनेन चेन्मोक्षो नावकूजेत् कथंचन। अवश्यं कूजितव्ये वा शङ्केरन् वाऽप्यकूजनात्। श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम्। (१०६। १५) 'सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यज्ञानं तु दुष्करम्। यद् भूतहितम-

त्यन्तमेतत् सत्यं ब्रवीम्यहम्' (शान्ति २८७। १९)

यदि भगवान् श्रीकृष्ण निरपराध भी द्रोणाचार्यको मरवानेके लिए युधिष्ठिर-द्वारा असत्य न बुलवाते; तब पापी दुर्योधनके राज्यकी स्थिरता होजानेसे पापका साम्राज्य बढ़ता। उस समय असत्यभाषण भी सत्यधर्म होगया—'स भवाँस्त्रातु नो द्रोणात् सत्याज्ज्यायोऽनृतं वचः। अनृतं जीवितस्यार्थे वदन् न स्पृश्यतेऽनृतैः' (महा. द्रोण. १९० ।४७)। जब प्रतर्दन राजा वीतहव्य नामक एक क्षत्रियको मारने आया; तब वह भयवश ऋषियोंके आश्रममें आ छिपा। प्रतर्दन भी उसे ढूंढ़ता हुआ आश्रममें आगया। पूछनेपर भृगु मुनिने कहा—यहाँ कोई क्षत्रिय नहीं है, सभी ब्राह्मण हैं 'नेहास्ति क्षत्रियः कश्चित् सर्वे हीमे द्विजातयः' (महा. अनु. ३० । ५३) यह सुन प्रतर्दन लौट गया। यहां मुनियोंने असत्य कहा था; शास्त्रकारोंने उसे भी ठीक माना है। मनुजीने कहा है—'शूद्रविट्-क्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ (सत्योक्तौ) भवेद् वधः। तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद् विशिष्यते' (८। १०४)। पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें भी कहा है—'उक्त्वानृतं भवेद् यत्र प्राणिनां प्राणरक्षणम्। अनृतं तत्र सत्यं स्यात् सत्यमप्यनृतं भवेत्' (१८ । ३९२)। महाभारतमें असत्यकी युक्तताके विषयमें कहा है—'प्राणात्यये विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत्। अर्थस्य रक्षणार्थाय परेषां धर्मकारणात्' (शान्ति० १०९। १९) 'न नर्म-युक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन् ! न विवाहकाले। प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि' (आदिपर्व ८२। १६) यह सत्य-असत्यपर विचार हुआ।

इस प्रकार उदारता गुण है, परन्तु वही उदारता शिखा काटनेमें, यज्ञोपवीत न पहिननेमें, ईसाई-मुसलमानोंके साथ खानेमें दोष है। चोरी अधर्म है, परन्तु दूसरेको मारनेकेलिए

अपने पास विष रखे हुए पुरुषके घरसे उस विषकी चोरी कर लेना भी धर्म है। स्वतन्त्रता जीवन है, पर वह यदि विद्यार्थियों-को दे दी जाय; तो हानि होगी। दान पुण्य-जनक है; पर वही अत्याचारी, ठग, जुआरी, चोर, डाकू तथा अपने धर्मके खण्डन करने वालेको दिया जाए; तो हानि करने वाला होता है। अक्रोध धर्म है; यदि आततायीमें अक्रोध किया जाय; तब उसका आततायित्व बढ़ जावेगा। अतः धर्मकेलिए क्रोध करनेपर भी अधर्म नहीं होता। लोभ दोष है, पर मुमुक्षुमें मुक्तिका लोभ गुण हो जाता है। काम दोष है, पर स्वर्ग-प्राप्तिकी कामना धर्म है। श्रुति भी 'स्वर्गकामो यजेत' कह कर उसका अनुमोदन कर-ती है, ऋतुकालमें अपनी स्त्रीसे काम भी गुण है। क्रोध दोष है, परन्तु दुष्टोंके निग्रहमें वह गुण होता है, तभी तो भगवान्‌का अवतार होता है।

क्षमा धर्म है, यदि वही अपनी स्त्रीके व्यभिचार देखनेपर भी रखी जाय तब आगे सर्वनाश होगा, अतः वह इस अवसरपर अ-धर्म होगी। वही क्षमा चोर, डाकू, घातक, निरन्तर हानिप्रदको की जावे; तो पापरूप होगी। इस प्रकार अवस्थाभेदसे, पात्रभेद-से धृति आदि सभी साधारण धर्म किसीकेलिए अधर्म होजायेंगे और किसीकेलिए धर्म, यह स्वयं घटा लेना चाहिये। जैसे यति दमके अवलम्बनसे अपना लक्ष्य सिद्ध कर सकता है, परन्तु राजा शत्रुकी जयचिन्ताको छोड़ कर दमयुक्त होकर विफलताके अति-रिक्त राज्यसे च्युत भी हो सकता है। इसप्रकार स्पष्ट है कि—लक्ष्यकी उच्चता-नीचतासे ही गुण-दोष हुआ करता है। लक्ष्य-की नीचतासे उत्तमसे भी उत्तम धर्म बकवृत्ति वा विडालवृत्तिमें परिणत होकर दोष हो जाता है। ऊपरी-दृष्टिसे दीख रहा अधर्म भी लक्ष्यकी उच्चतासे धर्म हो जाता है।

एक पतिव्रता वृन्दाका—जिसके सतीत्वके प्रभावसे उसका पति मर नहीं सकता था, यदि उसका सतीत्वभङ्ग न किया जाता; तब उसके दुष्ट पतिकी कृपासे सभी पतिव्रताओंका सती-त्व-भङ्ग हो जाता। उसमें एकका सतीत्वभङ्गरूप अधर्म भी लक्ष्यकी उच्चतासे धर्म हो गया। इसलिए महाभारतमें कहा है—"निकृत्या (छलेन) निकृतिप्रज्ञा हन्तव्या इति निश्चयः। नहि नैकृतिकं हत्वा निकृत्या पापमुच्यते' (वनपर्व ५२। २२) (छलीको छलसे मारना पाप नहीं)।

वृन्दाकी कथासे यह सिद्ध है कि—जहां व्यष्टिकी हानि करने पर भी समष्टिका लाभ हो; वहां व्यष्टिकी हानि कर देना पाप नहीं। कोई पुरुष निरपराध पुरुषोंको तलवारसे काटता हुआ चला आ रहा है, उस एकको फांसी देना-मार देना धर्म है। यदि उसे न मारा जावे; अथवा वह हमारे काबूमें न आवे; तब उस-के निकटके सहायक वा प्रिय सम्बन्धीको प्रत्यक्ष वा परोक्षरूप से वा परम्परारूपसे प्रवल दण्डसे दण्डित न किया जावे; जिससे वह निर्बल हो जाए, तब वह पुरुष सैंकड़ों पुरुषोंको मार डालेगा। उसको दण्ड देनेसे सैंकड़ों पुरुषोंकी रक्षा होगी। उसमें एकको हानि पहुँचानेका अभिप्राय नहीं रहता; किन्तु दूसरे सैंकड़ों पुरुषोंकी रक्षामें तात्पर्य होता है। इसी प्रकार वृन्दाकी कथामें भी आक्षेप्ताओं को याद रखना चाहिये। इसी नीतिसे श्रीवामनने बलि-राजाको बांधा था; मोहिनीरूपमें विष्णुने दैत्योंसे अमृत छीना था।

कहनेका यह निष्कर्ष है कि—धर्म-अधर्मकी, मीमांसा कठिन वा सूक्ष्म हुआ करती है। उसको साधारण वा अपठित लोग अथवा पठित भी एक संप्रदायविशेषके पक्षपाती, निन्दाधर्मी, दोषैकदृष्टि पुरुष नहीं जान सकते। वे शास्त्रीय सामान्य-कर्मोंको

धर्म मानते हैं। 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि, 'गां मा हिँसीः, (यजुः वा० सं० १३। ४३) 'न सत्याद् अधिको धर्मः' 'अहिंसा परमो धर्मः' इत्यादि सामान्यधर्मोंको वे धर्म जानते हैं; पर यही विधियां कभी दुःख करने वाली भी हो जाती हैं। 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' इस वचनको पूरा करते हुए पृथ्वीराजसे युद्धमें फिर-फिर छोड़ा हुआ शहाबुद्दीन महमूदगोरी पृथ्वीराजके नाशका कारण बनकर सारे भारतको ही दास्य-शृङ्खलामें बांधने वाला बना। यही दशा हुई घरमें आये हुए अलाउद्दीन बादशाहको छोड़ देने वाले राना भीमसिंहकी। वह स्वयं उसीसे पकड़ लिया गया। जसवन्तसिंह राजाने औरंगजेब सदृश सांप को दूध पिलाते हुए उसका फल प्राप्त कर लिया; स्वयं ही वह उस सांपसे काटा गया। परन्तु शिवाजी आदिने तो 'अहिंसा परमो धर्मः' इस मर्यादाको अतिक्रान्त करके 'आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः' (नैषधचरित ५। १०३) यह आचरण करके कि-कुटिल लोगोंमें सरलता नीतिविरुद्ध होती है, ठीक ही व्यवहार किया। इस कारण शास्त्रीय सामान्यकर्म भी सदा ही धर्म नहीं रहते, किन्तु देश-कालकी अनुकूलतासे ही उनकी व्यवस्था हुआ करती है।

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' (वैशेषिकदर्शन १। १। २) इस धर्म-लक्षणको तुलासे सब कृत्य-अकृत्य विधियोंकी परीक्षा करके तभी 'यह धर्म है, यह अधर्म' यह निर्णय देना ठीक होता है। आपातदृष्टि (सरस-रीनिगाह) से 'अधर्म' देखकर 'यह अधर्म है' अथवा आपात-दृष्टिसे धर्म देखकर 'यह धर्म है' यह कहना कभी ठीक नहीं हो जाता। इससे उल्टा अपनी ही अनभिज्ञता अथवा अबहुश्रुतताका बोध होता है। परन्तु शास्त्रीय विधायक-निषेधक वाक्य उत्सर्ग (सामान्यशास्त्र)

अपवाद (विशेषशास्त्र) न्यायसे गौरव-लाघवका तारतम्य, तथ समष्टि-व्यष्टिका हित-अहित निर्णीत करकेही उनकी व्यवस्था लगानी चाहिये। जिस कार्यमें वैयक्तिकतामें एकको हानिरूप अधर्म भी हो, परन्तु उसके द्वारा समष्टिका लाभरूप धर्म हो; वह कार्य निर्दोष हुआ करता है। इसी कारण ही धर्मकी गति 'सूक्ष्म' मानी गई है। महाभारतमें कहा है-

'श्रुतिप्रमाणो धर्मोऽयमिति वृद्धानुशासनम्'। सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य बहुशाखा ह्यनन्तिका।' (२०९। २) प्राणान्तिके विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत्। अनृतेन भवेत् सत्यं सत्येनैवाऽनृतं भवेत्। (३) यद् भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा। विपर्ययकृतोऽधर्मः पश्य धर्मस्य सूक्ष्मताम्' (२०९। ४ वनपर्व)। (धर्मकी गति सूक्ष्म होती है, उसकी अनन्त शाखाएं होती हैं। कभी असत्यसे भी सत्य हो जाता है, और सत्यसे भी असत्य। जिससे अधिक प्राणियोंका हित है, वह सत्य है, इससे विपरीत असत्य है। यह धर्मकी सूक्ष्मता है)। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है-'स्वे-स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः। विपर्ययस्तु दोषः स्याद् उभयोरेष निश्चयः' (११। २१। २) 'देशकालादिभावानां वस्तूनां मम सत्तम! गुण-दोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम्' (७)। श्रीदेवीभागवतमें भी कहा है-'सत्यं न सत्यं खलु यत्र हिंसा, दयान्वितं चानृतमेव सत्यम्। हितं नराणां भवतीह येन, तदेव सत्यं न तथाऽन्यथैव (३ ११। ३५)।

इस प्रकारकी व्यवस्था करनेमें असमर्थ, आपातज्ञानधारी, पर-प्रत्ययनेयबुद्धि वाली जनतामें धूर्त प्रतिपक्षी पुराणग्रन्थ-विरुद्ध अपना दुष्प्रभाव डालनेकी चेष्टा किया करते हैं। सनातनधर्मी उसमें उत्तर देते हैं; पर उत्तरके सूक्ष्म होनेसे साधारण जनताके हृदयपर उतना प्रभाव नहीं पड़ता। उसमें कारण

यह है कि–'ताजमहल' के गिरानेके लिए ४-८ आने लेने वाला मज़दूर भी काफ़ी हो जाता है; परन्तु उसके निर्माणार्थ बड़े-बड़े शिल्पियोंकी आवश्यकता पड़ती है, परन्तु उन शिल्पियोंसे बनाया हुआ उसका नक़शा भी साधारण जनताके मस्तिष्कमें नहीं घुस सकता। इसलिए धर्म-अधर्मके विषयमें महाभारत (वनपर्व) में कहा है–'धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्म तत्। अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम !'(वनपर्व १३१। ११)' विरोधिषु महीपाल ! निश्चित्य गुरु-लाघवम्। न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत् (१२)। गुरु-लाघवमादाय धर्माऽधर्मविनिश्चये। यतो भूयाँस्ततो राजन्! कुरुष्व धर्मनिश्चयम्। (१३) (एक धर्म जो दूसरे धर्मको बाधित करे, वह धर्म न होकर कुमार्ग होता है। धर्मोंमें देखो कि–गौरव लाघव किसमें है? जिसमें गौरव हो; उस धर्मको करे।

कुछ और भी विवेचना इसमें देखनी चाहिये–दूसरेकी कन्याके साथ मैथुन कर लेना पाप माना जाता है, और अपनी बहिनके साथ विवाह कर लेना भी पाप है; परन्तु आप पुरोहित-आचार्य आदि द्वारा वेदमन्त्रोंसे विवाहविधि पूर्ण हो जानेपर उस दूसरेकी लड़कीको मैथुनके लिए–एकान्तमें ले जाते हैं; जो विवाहसे पूर्व आपकी बहिनके समान थी। कन्या वहीकी वही रही; उसमें बाहरी दृष्टिसे तिलमात्र भी अन्तर नहीं आया। पहले आपका उससे मैथुन पाप था; पर अब वही मैथुन वैध होगया। यदि प्रतिपक्षी इसी एक ही नियम को रखें कि–दूसरेकी कन्याके साथ मैथुन पाप है; तब वे आमरण ब्रह्मचारी ही रहें। अपने पिताको भी वे पापी मानें जिसने दूसरे की कन्यामें प्रतिपक्षियोंको पैदा किया। परन्तु जब प्रतिपक्षी वेदमन्त्रोंमें इतनी शक्ति मानते हैं कि–किसीकी कन्याको वे अपनी पत्नी

बना सकते हैं, तब वेदमन्त्रोंके बनाने वाले परमात्मा, उसके अवतारों और उनके प्रकटकर्ता या स्वामी देवताओंमें भी शक्ति है कि— वे किसी भी स्त्रीको अपनी पत्नी बना सकते हैं। बल्कि परमात्मा तो उनमें निवास ही करता है। सोम, गन्धर्व, अग्नि आदि देवता भी कन्याओंमें रहा करते हैं; तब उन्हें पत्नी बना लेने वाले देवताओंमें पाप नहीं माना जासकता।

अब योनि लीजिये--एक योनिकेलिए जो पाप होता है, वह अन्य योनिके लिए नहीं होता। बैल अपनी बहिन गायको गर्भवती कर दे, पाप नहीं माना जाता; आप उस गायको भी पापी न मानकर उसकी निन्दा न करके उसे पूजनीय ही मानते हैं। यह नहीं कहते कि यह गाय अपने पिता वा भाईसे गर्भवती हुई है, यह व्यभिचारिणी है, हम इसकी पूजा क्यों करें? यदि ऐसा है; तब सिद्ध हुआ कि भिन्न-भिन्न योनिमें समान नियम लागू नहीं होते; तब वह मानुषी नियम आप देव-योनियोंमें कैसे लागू करते हैं; उनके पापित्व वा व्यभिचारित्वका फतवा कैसे देते हैं?

मनुष्ययोनिको ही ले लीजिये। शतपथ-ब्राह्मण (१४। ४। २। ५) तथा मनुस्मृति (१। ३२) के अनुसार परमात्माने अपने दो भाग स्त्री-पुरुष बनाये। यह दोनों मैथुनसे उत्पन्न नहीं हुए। इस प्रकार दयानन्दियोंके मतमें भी स. प्र. अष्टम समुल्लास (पृ. १३९) के अनुसार परमात्माने प्रत्येक जातिके दो युवा-जोड़े बना दिये। अब कहिये कि–एककी सन्तान होनेसे वे दोनों आपसमें भाई-बहिन हुए या नहीं? एक ही माताके गर्भसे एक समयमें पुत्र-पुत्री इकट्ठे हो जाया करते हैं, वे आपसमें बहन-भाई होते हैं वा स्त्री-पुरुष?' तब कहिये कि–आदिम स्त्री-पुरुषोंने भाई-बहन होते हुए भी मैथुनसे संसारको कैसे बढ़ाया?' क्या वे व्यभिचारी थे? तब तो उनसे उत्पन्न

सारा संसार भी व्यभिचारज हुआ ! फिर आप भी अपनी बहिन से मैथुन वैध क्यों नहीं मान लेते ? । आप इसमें कहेंगे कि आदिम स्त्री-पुरुष मैथुनोत्पन्न नहीं थे, जैसे कि स. प्र. ८ समु. १३८ पृ. में स्वीकृत किया गया है । हम भाई-बहिन दोनों, माता-पिताके मैथुनसे उत्पन्न हैं; अतः मैथुन-योनि तथा अमैथुन-योनिकी मर्यादाएं समान नहीं हुआ करतीं ।" यदि ऐसा है तो अमैथुनयोनि-देवयोनि तथा अमैथुनिक आदिम मनुष्ययोनि के लिए समान मर्यादा न होनेसे पुराणोंमें उन्हीं अमैथुनिकों-का वर्णन होनेसे प्रतिपक्षी उनपर अंगुलि कैसे उठा सकते हैं? । देवताओं तथा अमैथुन योनिकोंका मैथुन वास्तविक नहीं हुआ करता; किन्तु मनोबलद्वारा मानसिक ही; तब मानसिक मैथुनमें भला धर्महानिकी चिल्लाहट कैसे की जाती है ? इस-लिए वायुदेवने अञ्जनाको कहा था—'न त्वां हिंसामि (तव धर्मभङ्गं न करोमि) सुश्रोणि ! मा भूत् ते मनसो भयम् । मनसास्मि गतो यत् त्वां परिष्वज्य यशस्विनि ! वीर्यवान् बुद्धि-सम्पन्नस्तव पुत्रो भविष्यति' (वा मी. ४ । ६६ । १७-१८) । इस प्रकार मानना पड़ेगा कि देवयोनि तथा अमैथुनिक मनुष्य-योनिके लिए जिनका पुराणोंमें वृत्त बताया गया है—व्यवस्था अन्य होगी और मैथुनिक मनुष्ययोनिकेलिए अन्य ।

मनुष्योंमें भी सब वर्णोंकी व्यवस्था भिन्न-भिन्न हुआ करती है । ब्राह्मणका यज्ञ कराना, पढ़ाना और प्रतिग्रह (दान लेना) कर्म हैं, ब्राह्मणोंसे भिन्नोंका यह कर्म नहीं । द्विजोंका वेद पढ़ना धर्म है, और शूद्र आदियोंका अधर्म है । इस प्रकार पशुयोनिमें भी आपसमें भिन्न-भिन्न धर्म हुआ करते हैं—'मूत्र-पुरीषं गवां पवित्रतया परिगृह्यते, तदेव जात्यन्तरे परिवर्ज्यते' (वेदान्त. शाङ्कर. २ । ३ । ४८) (गायका गोबर-मूत्र पवित्र

माना जाता है; अन्य जातियोंका छोड़ा जाता है ।) इस सिद्ध है कि—जो एकके लिए धर्म अथवा ग्राह्य हुआ करता है वह दूसरेकेलिए अधर्म वा अग्राह्य हुआ करता है ।

अब जातिको लीजिये । —हिन्दुजातिमें चाचा, मामा, बुआ लड़कीके साथ विवाह अधर्म माना जाता है, परन्तु मुसलमान जातिमें वह धर्म है । दक्षिणमें तो हिन्दुजातिमें भी मामा व बुआकी लड़कीके साथ विवाह अधर्म नहीं माना जाता । हमारे जातिमें शिखा-जनेऊ आदिका न रखना अधर्म माना जाता है मुसलमान एक-दूसरेके जूठे पात्रोंमें खाते हैं, जल भी पीते हैं परन्तु हिन्दु उसे घृणित मानते हैं । एक ही बात एक स्थान धर्म और दूसरे स्थान अधर्म हुई । अब कहिये कि—आप एक ही विशे लक्षण अधर्म का और एक ही धर्मका क्या कभी सारे संसा के लिए बना सकते हैं ?'

अथवा भिन्न जाति छोड़िये, समान जाति ही लीजिये समान जातिके धर्म-अधर्म क्या समान होते हैं ? कभी भी नहीं आप हिन्दुजातिको ही देखें । इसमें आर्यसमाज-सम्प्रदा अशक्त-पुरुषकी स्त्रीका (स. प्र. ४ पृ० ७३), दीर्घरोगी पुरुष स्त्रीका (स. प्र. पृ. ७४) पांच-छः वर्षसे अधिक परदेशमें रह वाले पुरुषकी स्त्रीका (स. प्र. पृ. ७३) दूसरे पुरुष द्वार मैथुन करवाकर दो सन्तानें अपनेको और दो सन्तानें दूसरे दिलवाना धर्म मानता है, पर सनातनधर्म इस शास्त्रसे अस मर्थित कल्पित-विधानको धर्म नहीं मानता । जब वे आर्य समाजी इस व्यभिचारको नियोगनामक धर्म कहते हैं; तब पुराणोंमें भी समझें कि—वहां भी व्यभिचार नहीं है, किन्तु उ नियोग-नामक धर्म समझें । कलियुगमें उसका निषेध होने आर्यसमाजियोंके मतमें उसके धर्म होने पर भी आजक

उसमें इष्टापत्ति न होनेसे आजकल वह आचरणके योग्य नहीं। तव आक्षेप्ता आर्यसमाजियों के अनुसार भी पुराणोंमें व्यभिचारदोष खण्डित हो गया। यह व्यभिचार है, या व्यभिचार नहीं; धर्म है या अधर्म है—इसमें शास्त्रीय परिभाषा ही प्रमाण होती है। द्विजोंमें विधवाके साथ विवाह, चाण्डालीके साथ विवाह, शिखा काट देना, यज्ञोपवीतका न पहनना सनातनधर्म-आर्यसमाज दोनोंके मतमें अधर्म है, लेकिन सुधारक इन बातोंको धर्म मानते हैं।

एक ही सनातनधर्ममें कोई भस्मधारण धर्म मानता है, दूसरा चंदन धारण करना। वह-वह अपनेसे विपरीत दूसरेके कार्यको अधर्म मानता है। एक ही आर्यसमाजमें किसी समय मांसपार्टी और घासपार्टी यह दोनों पार्टियां एक-दूसरेकी प्रतिद्वन्द्विनी थीं; और अपनी-अपनी भक्ष्य वस्तुको अदुष्ट मानती थीं। अब सभीका इतिहास, महाभारतके समान; लिखा जावे तव भावी सन्तानें इनमें किसीके शुभ माने हुए कार्यको भी अधर्म मानेंगी, और किसीके अधर्म माने हुए कार्यको भी धर्म मानेंगी। जातपातको सभी प्राचीन लोग धर्म मानते हैं; पर जातपात-तोड़क-मण्डल तथा उसके समर्थक उसे अधर्म मानते हैं। यह हाल है एक हिन्दुजातिका। इस प्रकार मुसलमान आदि जातियोंमें भी जानना चाहिये। फलतः पुराणमें भी इस प्रकार दृष्टिको रखनेसे आज पुराणोंकी कोई वात किसीको अभद्र दीखती है, दूसरेको भद्र।

अब सूक्ष्म-जातियोंमें विचार कीजिये। देवता,—मनुष्य, ऋषि यह भिन्न-भिन्न जाति हुआ करती हैं। (देखिये 'आलोक'का तृतीय पुष्प 'वेदकी ऋषिकाएं' में)। मनुष्योंमें भी कोई योगी, वा मुनि होता है; कोई उससे भिन्न साधारण। क्या आप इन

साधारण-असाधारण दोनोंके समानधर्म कह सकते हैं? योगियों द्वारा ऋषि, मुनि आदि तपस्वियों द्वारा कोई पाप हो भी गया हो; वह पाप उनको जला नहीं सकता; बल्कि वे ही अपनी तपस्यासे उस पाप वा उसके फलको जला दिया करते हैं। देखिये इसपर मनुस्मृति—'यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः। तत् सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः' (११।२४१) 'वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा। नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि' (११। २४५) "यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात्। तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित्' (११। २४६)। भगवद्गीतामें भी कहा है—'अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं (पापं) संतरिष्यसि' (४। ३६) यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन! ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' (४। ३७) जव मुनि आदि इस प्रकार हो गये हुए पापको भी जला डालते है; उनको फिर भी पापी कहते हुए प्रतिपक्षी क्या स्वयं पापी बनना नहीं चाहते? अब कहिये कि—क्या आप साधारण-पुरुषों तथा ऋषि-मुनि-योगियोंकी समानता कदापि कर सकते हैं? यदि नहीं; तव जब उनके साधारण लोगों वाले सीमित अधिकार नहीं हुआ करते; उनमें देवताओंका कहना ही क्या है? तव फिर उनपर प्रत्यालोचना करने वाले अनधिकार-चर्चा के कारण शोचनीय हैं।

आप किसी पुरुषको मार दें; या अग्निदेव किसी पुरुषको जला दे, विद्युत् (इन्द्रदेव) किसीके प्राण हर ले, जलदेव वरुण किसीको डुबा दे; वायुदेव बहुत शीतल होकर किसीको डबलनिमोनिया द्वारा मार दें; तब क्या आपको और इन देवोंको समान फल मिलेगा?। मनुष्य तो वैसा करनेसे पापी माना जावेगा; पर इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि देवता पापी नहीं माने जावेंगे।

आप किसी पर-स्त्री के गुप्ताङ्गको हाथसे छू लें, सूर्य भी अपने करों (हाथों, किरणों) से उसे छुए; आप तो उसमें पापी माने जावेंगे, सूर्य-देव नहीं। आप किसी परस्त्रीसे मैथुन कर लें, आप व्यभिचारी माने जावेंगे, परन्तु आपकी वा स्त्रियोंकी गुप्तेन्द्रिय में ठहरा हुआ, और उसे प्रवृत्त कर रहा हुआ, अथवा उसमें व्यापक परमात्मा कभी भी व्यभिचारी नहीं माना जावेगा। आप किसीका उपकार कर दें; आपको पुण्य होगा, परन्तु वरुणदेव किसीके खेतको जलसे बढ़ाकर उसका उपकार कर दे; अग्निदेव किसीके भोजनको पकाकर उसकी तृप्तिमें सहायक होकर उसका उपकार कर दे; वायुदेव किसीका स्वास्थ्य वा पोषण करके उसका उपकार कर दे; इससे वरुण, अग्नि, वायु, आदि देवोंको पुण्य नहीं हो जाता। इससे सिद्ध है कि–देवता, ऋषि-मुनि आपकी दृष्टिसे अधर्म करते हुए पापी नहीं, पुण्य करते हुए भी पुण्यफलभागी नहीं; क्योंकि–'वे भोगयोनि होनेसे शास्त्रोक्त विधि-निषेधसे परे होते हैं। इसलिए कहा है—'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः ?'

अथवा प्रत्यालोचना करने वाले यही विचारें कि–'वे गला फाड़-फाड़कर पुराणोंमें 'व्यभिचार-व्यभिचार' जो चिल्लाया करते हैं; उसमें यह विचारणीय है कि–यह व्यभिचार है और यह व्यभिचार नहीं; इसमें आपके पास प्रमाण क्या है ? आप दूसरेकी कन्या–अपनी स्त्रीसे होते हुए अपने मैथुनको व्यभिचार नहीं मानते; पर अपनी कन्या वा दूसरेकी स्त्रीसे दूसरे द्वारा हुए मैथुनको व्यभिचार मानते हैं; यह क्यों ? यदि आप यहां शास्त्र-की दुहाई दें कि शास्त्र अन्यकी लड़की परन्तु अब विवाहसे हुई अपनी स्त्रीसे मैथुनकी आज्ञा देता हैं; अतः विधि होनेसे वह धर्म है। परस्त्रीसे शास्त्र मैथुनका निषेध करता है; अतः

निषेधवश वह अधर्म है। तब संन्यासी यदि किसी लड़कीसे विवा[illegible] कर ले; और अपनी स्त्री बनी हुई उससे मैथुन करे; तो [illegible] आप इसे धर्म मानेंगे ! शास्त्र ऋतुकालगामीको ब्रह्मचारी कहत[illegible] है; तब ऋतुकालसे भिन्न स्वस्त्रीगमन करने वाले आप अप[illegible] को व्यभिचारी मानेंगे ? । स्पष्ट है कि–एतदादिक व्यवस्था[illegible] अवहुश्रुतकी समझमें नहीं आ सकतीं; तब देवता, योगि[illegible] ऋषि, मुनियोंके लिए इन विषयोंमें शास्त्रीय विधि-निषेध न हो[illegible] से वह कर्म न धर्म माना जा सकता है, न अधर्म । अर्थात् उ[illegible] व्यभिचार-अव्यभिचार कुछ भी नहीं कहा जा सकता। साध[illegible] रण पुरुषोंके लिए उस विषयमें शास्त्रीय निषेध होनेसे उन[illegible] लिए वह कर्म अधर्म वा व्यभिचार होता है; पर साधारण विधि[illegible] निषेधोंसे ऊँचे उठे हुए ऋषि, मुनि, तथा स्त्रियोंमें सूक्ष्मरूप[illegible] व्यापक देवता दोषबन्धनकी सीमामें नहीं आ सकते; तब वै[illegible] वर्णन करने वाले पुराण भी दूषित नहीं किये जा सकते–य[illegible] सूक्ष्मदृष्टिसे विचारणीय है।

कहनेका यह निष्कर्ष है कि–जो पुराणोंको दूषित करनेवा[illegible] हैं, उन्होंने दोषारोपण एक काला चश्मा अपनी आंखोंपर च[illegible] रखा है। तब उन्हें पुराणमें दोष-कालिमाके विना अन्य क[illegible] दीखे ? हाँ, आप हमारी कही कसौटी को अपने पास रखें; त[illegible] आप पुराणकी अपने मतके अनुसार कुत्सितसे कुत्सित कथाएं देखें; स्वयं ही उसकी परीक्षा हो जावेगी। आपको इस दे[illegible] काल, पात्रमें जो दोष प्रतीत होगा, वही उस देश, उस का[illegible] उस स्थान, उस योनि, उस जातिमें, और उस अधिकारीमें दो[illegible] नहीं प्रतीत होगा। इसलिए महाभारत (शान्तिपर्व) में स[illegible] कहा है–'भवत्यधर्मो धर्मो हि धर्माधर्मौ उभावपि। कारणाद् दे[illegible] कालस्य देशकालः स तादृशः। (७८।३२) मैत्राः क्रूराणि कुर्वन्त[illegible]

जयन्ति स्वर्गमुत्तमम् । धर्म्याः पापानि कुर्वाणा गच्छन्ति परमां गतिम्' (३३) इसका श्री सातवलेकर-कृत अर्थ यह है—'देश-कालके व्यतिक्रम होनेसे उस देश-कालके अनुसार ही धर्माधर्मका व्यतिक्रम अर्थात् धर्म अधर्म और अधर्म धर्म हुआ करता है। देखिये-उत्तङ्ग, पराशर आदि महर्षि लोगोंने क्रूर कर्म करके भी उत्तम स्वर्गलोकको जय किया है, और धर्मात्मा क्षत्रिय-लोग पापकर्म करके परमगतिको प्राप्त हुए हैं।'

महाभारतमें अन्यत्र भी कहा है—'धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्म तत् । अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ! (वनपर्व १३१।११) विरोधिषु महीपाल ! निश्चित्य गुरुलाघवम् । न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत् । (१२) गुरुलाघव-मादाय धर्माधर्मविनिश्चये । यतो भूयाँस्ततो राजन् ! कुरुष्व धर्मनिश्चयम्' (१३) 'कर्षणार्थो हि यो धर्मो मित्राणामात्मन-स्तथा । व्यसनं नाम तद् राजन् ! न धर्मः स कुधर्म तत् (वनपर्व ३३ । २१) (जो धर्म, धर्मको बाधन करे वह धर्म धर्म न होकर कुधर्म बन जाता है । जो विरोध न करने वाला धर्म हो, वह धर्म होता है। विरोधी धर्मोंमें भी गुरुता—लघुताका निश्चय करो, जिसमें गुरुता हो, उसे ही धर्म निश्चत करो; जो अपने आपको तथा मित्रोंको कर्षित (पीडित) करे, वह एक व्यसन है, धर्म नहीं है, कुधर्म है)।

प्रतिपक्षियोंको जानना चाहिये कि—जब मुसलमान लोग हिन्दुओंसे लड़ते थे; तो वे उनके आगे गौओंको रखकर उन्हें हराते थे। हिन्दु लोग 'कहीं गाय न मारी जाए' इस कारण खुलकर नहीं लड़ते थे। अब देखिये—उनकी दृष्टिसे तब गौओंका उनके द्वारा मारा जाना अधर्म था; सर आप-जैसे भारतहितैषी कहते हैं कि—उस समय गौओंकी पर्वाह न करना अधर्म नहीं

था। यदि तब गौओंके मरने का भय न रखा जाता, तब हिन्दु मुसलमानोंको अवश्य हरा देते । इससे मुसलमानी राज्य न पनप सकनेसे आज जोकि हज़ारों गौएँ प्रतिदिन कट रही हैं, न कटतीं।' अब देखिये—एक ही गोवध कर्म एककी दृष्टिमें अकर्म, और दूसरेकी दृष्टिमें कर्म हो गया। जब ऐसा है; तब साधारण लोग तो कर्म-अकर्म की व्यवस्था भला कैसे कर सकते हैं ? तभी तो कहा जाता है—'किं कर्म किमकर्मेति कवयोप्यत्र मोहिताः' (गी. ४ । १६) 'कर्मणो गहना गतिः (४ । १७)।

अथवा यदि पुराण-कथामें किसी प्रकार दोष सिद्ध हो भी जावे; तो आपको उस कथाका उपक्रम-उपसंहार देखना चाहिये कि—पुराण हमें उक्त आचरणकी आज्ञा भी देता है क्या ?' यदि वह हमें उसकी आज्ञा नहीं देता, तो समझ लेना चाहिये कि—पुराण उस पुरुषका केवल चरित्र कह रहा है; अनुसरण करनेके लिए उसने हमें आदेश नहीं दिया।

शेष यह विचारणीय रह जाता है कि—ऐसा चरित्र जिस पुरुषका चित्रित किया गया है, वह साधारण पुरुष है, वा अलौ-किकशक्तिशाली ? यदि वह साधारण पुरुष है; तब उसके उस दोषका कुपरिणाम भी उस कथामें दिखलाया गया है, या नहीं—यह उसमें देखना चाहिये । हमारा यह विश्वास है कि—उस दोषका कुपरिणाम भी उस कथामें अवश्य दिखलाया गया होगा। हां, यदि वह कोई अलौकिक-शक्तिशाली मुनि आदि है; तब उसकी अन्य अलौकिक शक्तियोंका परिचय पाकर आपको अनुमान करना चाहिये कि—उसने अपनी लोकोत्तर-शक्तिसे उस दोषके खराब परिणामको जला दिया होगा; अतः वह उसकेलिए दोषी नहीं रहता। जैसे कि—सूर्य देवता अलौ-किकशक्तिशाली होनेसे कफ, मूत्र, पुरीष वीर्य आदिके रसको

खींचकर भी उसकी अपवित्र वाष्पको उड़ाकर, उसे शुद्ध (फिल्टर) करके उस जलको हम-आपपर बरसाता है; इससे स्पष्ट हो जाता कि मूत्र, पुरीष आदि उसे अशुद्ध नहीं कर सकते, उल्टा वही उनकी अशुद्धिको उठाकर उन्हें शुद्ध कर देता है। इस प्रकार पुराणके आक्षिप्त स्थलमें भी समझ लेना चाहिये। पर जहां उस लोकोत्तर शक्तिवाले देव वा मुनिकी उसके कुपरिणाम के हटानेकी सामर्थ्य होनेपर भी उसका कुपरिणाम दिखलाया गया हो; वहां यह रहस्य होता है कि–सर्वसाधारण लोग 'यद् यदाचरति श्रेष्ठः' इस न्यायके अनुसार उस आचरणके अनुसरण में न लग जाएँ। वह देव वा मुनि आदि तो अपनी सामर्थ्यसे उस दुराचरणके कुफलको जलानेकी सामर्थ्य वाला हो सकता है, पर हम लोकोत्तर शक्तिशाली न होनेसे उस कुकृत्यके अनुसरणपर गढ़े में जा पड़ेंगे।

इस प्रकारके लौकिक-दृष्टिमें दोष मालूम होने वाले चरित्रों के लिए श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट रूपसे कहा है–'धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्। तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा (१०।३३।३०) (लोकोत्तरशक्तिशाली समर्थ देव-मुनि आदि कभी-कभी धर्म (लोकनियत कर्म) का उल्लंघन और साहस करते देखे जाते हैं, परंतु उन कामोंसे उन तेजस्वी महापुरुषों को कोई दोष नहीं लगता। देखो-अग्नि, वा सूर्य सब कुछ (मल-मूत्र आदि भी) खा जाते हैं, परन्तु वह उन पदार्थोंके दोषसे लिप्त नहीं होते। 'नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः। विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्' (३१) (जिन लोगोंमें लोकोत्तर शक्ति नहीं; उन्हें मनसे वैसी बातका अनुसरण भी कभी नहीं सोचना चाहिये, शरीरसे करना तो दूर रहा। यदि मूर्खतावंश कोई साधारण व्यक्ति वैसा काम कर बैठे, तो उसका

नाश हो जाता है। अलौकिकसामर्थ्यवान् भगवान् शङ्करने हल
हल विष पी लिया था; उनका उससे कुछ भी नहीं बिगड़ा, प
लौकिक सीमित सामर्थ्य वाला साधारण पुरुष उसे पिये; तो व
जलकर भस्म हो जायगा) 'ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरि
क्वचित्। तेषां यत् स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत् (३२
इसलिए इस प्रकारके अलौकिक सामर्थ्यवान् जो ईश्वर है
उनका वचन (आदेश, कि-यह करो) तो सत्य (आचरणीय-
होता है; पर उनके निज आचरणका तो कहीं-कहीं ही अनुसरण
किया जाता है, सर्वत्र नहीं। इसलिए बुद्धिमान्को चाहिये कि
उनका जो आचरण अपनी मर्यादाके अनुकूल (युक्त) हो; उ
को वह अपने जीवन में उतारे)।

'कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते। विपर्ययेण वाऽनर्थो
निरहङ्कारिणां प्रभो!' (३३) (वे सामर्थ्यवान् पुरुष कर्मके सा
अहम्भाव नहीं रखतेः शुभ (लोक-व्यवहारोपयोगी) कर्म करने
उनका कोई सांसारिक स्वार्थ नहीं होता, और अशुभ (लोक
व्यवहार-अनुपयोगी) कर्म करनेमें उन्हें कुछ अनर्थ नहीं होता
वे स्वार्थ तथा अनर्थसे ऊपर उठे होते हैं।) 'किमुताखिल
सत्त्वानां तिर्यङ् मर्त्यदिवौकसाम्। ईशितुश्चेशितव्यानां कुशला
कुशलान्वयः' (३४) (जब उन महापुरुषोंको इस लोकमर्या
दानुसार कुकृत्यसे हानि नहीं पहुँचती; तब जो पशु, पक्षी, मनुष्य
देवता आदि समस्त चराचर जीवोंके एक मात्र प्रभु सर्वेश्व
भगवान् (शिव, विष्णुरूपधारी) हैं; उनके साथ मानवी
शुभ-अशुभका सम्बन्ध कैसे जोड़ा जा सकता है?') यत्पाद
पङ्कजपरागनिषेवतृप्ता योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः। स्वै
चरन्ति मुनयोपि न नह्यमानाः, तस्येच्छयात्तवपुषः कुत ए
बन्धः?' (१०।३३।३५) (जिनके चरणकमलोंके रज

सेवन करके तृप्त हो गये हुए, और जिनके साथ योग प्राप्तकरके अपने सारे कर्म बन्धनोंको काट डालने वाले, मुनि लोग भी जब बन्धनोंमें न आकर स्वतन्त्र होकर विचरा करते हैं, तब भक्तोंकी इच्छासे अपना चिन्मय विग्रह प्रकट करने वाले भगवान् भला कर्मोंके बन्धनमें कैसे फंस सकते हैं ?)।

यह उत्तर भगवान् श्रीकृष्णसदृश अलौकिक-शक्तिशालियों के चरित्रकी आलोचनाकी धृष्टता करने वालोंकेलिए पर्याप्त है। अग्निमें विष्ठाका योग हो जानेपर भी अग्निके स्वरूपमें कोई विकार नहीं पड़ता; वह उल्टा उसकी दूषित भाफको उड़ाकर उसीको शुद्ध कर डालती है। हमारी तो उस भाफसे भी हानि कदाचित् हो जाए; पर उसको उससे कुछ हानि नहीं पड़ती। सूर्य विष्ठाके रसको खींचता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता। प्रत्युत उसे फ़िल्टर करके आप पर बरसाता है, और आप उसे प्रेमसे अपने ऊपर ले लेते हैं। गङ्गानदी अपनेमें गन्दी नालोका जल पड़ने पर भी उसके कीटाणुओंसे लिप्त न होकर उन्हींको नष्ट कर देती है। कमलका पत्ता जलमें रहता हुआ भी उससे अछूता रहता है। वायुदेव विष्ठाके गन्धको धारण करता हुआ भी उससे दूषित नहीं होता ;और उससे रोगी नहीं होता ! हम उस वायुसे बीमार हो सकते हैं। भगवान् रुद्र हालाहल विष पीनेपर भी अमर रहे। क्या साधारण व्यक्ति वैसा कर सकते हैं ? श्रीकृष्णने दावाग्निका पान किया था, और दुर्दान्त कालिय नागके फणोंपर चढ़कर नृत्य किया था। और गोवर्धन पहाड़ को एक छोटी अंगुलिसे उठा लिया था। ऐसेके अलौकिक चरित्रपर प्रतिपक्षी आलोचनाका क्या अधिकार रखते हैं ? जो कर्म साधारणकेलिए पापफल देनेवाला है, वह अलौकिक-शक्तिशालीको दुष्फल नहीं दे सकता। 'सभी सहायक सबल के'

वे कर्म-बीजको अपनी शक्तिसे भून देते हैं। तब वह जला हुआ कर्मबीज अङ्कुरित नहीं हो सकता।

इसी कारण बृहदारण्यक उपनिषद्में लिखा है-'स न साधुना कर्मणा भूयान्; नो एव असाधुना कनीयान्।' (६।४।२२) इस प्रकार कौशीतकी-ब्राह्मण (३।८) में भी। उसमें यह भी कहा है-'तस्य मे तत्र लोम च न मीयते' अर्थात् त्रिशिरा आदि-के मारनेसे मेरा बाल भी बांका न हुआ। इसका अर्थ स्वा. शङ्कराचार्यने भी कहा है-'ईदृशान्यपि क्रूराणि कर्माणि कृतवतो मम ब्रह्मभूतस्य लोमापि न हिंस्यते, (वेदान्त० १।१।३०) यह इन्द्रकी उक्ति है।

आपस्तम्बधर्मसूत्रमें भी कहा है-'श्रुतिर्हि बलीयसी आनुमानिकाद् आचारात्' (१।४।८) इसमें आचारकी अपेक्षा श्रुतिकी आज्ञाको बलवान् बताया है। श्रुतिविरुद्ध आचारमें लोगोंकी प्रवृत्ति क्यों होती है-इसके उत्तरमें सूत्रकारने कहा है-'दृश्यते चापि प्रवृत्तिकारणम्' (६) 'प्रीतिर्हि उपलभ्यते' (१०) अर्थात्-रागसे प्रवृत्ति हुआ करती है। तब क्या राग दोषजनक है-इसपर सूत्रकार कहता है-'यत्र प्रीत्युपलब्धितः प्रवृत्तिः, न तत्र शास्त्रमस्ति' (११) इससे रागप्रवृत्त प्रवृत्तिको अशास्त्रीय बताया गया है। वैसी प्रवृत्ति करनेमें दोष बताया है-'तदनुवर्तमानो नरकाय राध्यति' (१२)। 'धर्मातिक्रमे पुनर्नरकः। (१।१३।४)। इतिहासमें सभीके आचरणमात्रको देखकर ही उसका अनुकरण नहीं कर लेना चाहिये, यह बताते हैं, 'दृष्टो धर्म-व्यतिक्रमः साहसं च पूर्वेषाम्' (आप. ध. सू. २।१३।७) (पूर्वके देव-मुनियोंका कभी-कभी धर्मका उल्लंघन देखा गया है) तब क्या उन्हें पाप नहीं लगता; इसपर सूत्रकार कहते हैं-

'तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते' (८) (उनमें विशेष तेज होता है, अतः उन्हें पाप नहीं होता।) तब तो दूसरोंको भी धर्मोल्लंघनसे पाप नहीं होना चाहिये, इसपर सूत्रकार कहते हैं—'तद् अन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदति अवरः' (९) (आजकलका अशक्तिमान् व्यक्ति उसका आचरण करे; तो वह हानि उठाता है।) इस प्रकार पुराणके अधिकांश चरित्रोंका उत्तर तो इसीसे होगया।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि—जाति, आश्रम, देश, काल, आयु, अवस्था, शक्ति, कुल, शाखा—भेद आदिसे ही अधिकारि-भेद हो जाता है। अधिकारि-भेदसे ही व्यवस्था-भेद हो जाया करता है। इसपर हम पहिले प्रकाश डाल चुके हैं। फिर भी कई उदाहरणोंका संग्रह म. म. श्रीअन्नदाचरण तर्कचूड़ामणिजीके लेखसे करते हैं :—**जातिमें**—ब्राह्मणोंकेलिए जो विधि-निषेध हैं, वहाँ अब्राह्मण अधिकारी नहीं। जैसे—ब्राह्मणके लिए वेदाध्ययन विहित है, पर शूद्रकेलिए नहीं। ब्राह्मणकेलिए मद्यपान निषिद्ध है, पर शूद्रका नहीं। इस प्रकार देवजातिके भोगयोनि होनेसे उनके लिए अभ्यनुज्ञात कर्म मनुष्ययोनिकेलिए विहित नहीं हो सकते। **आश्रममें**—ब्रह्मचारियोंकेलिए प्रतिदिन भिक्षा मांगना विहित है, और फूलमाला पहनना निषिद्ध है। गृहस्थीको आपत्ति छोड़कर भिक्षामें अधिकार नहीं, पर पुष्पमाला पहननेमें दोष नहीं। **देशमें**—दाक्षिणात्योंका मातुलकन्यासे विवाह विहित है, अन्यदेशवालोंका नहीं। **कालमें**—दूसरे युगोंमें क्षेत्रज आदि पुत्रोंकी व्यवस्था थी, कलियुग में नहीं। अन्य युगोत्पन्नोंका उसमें अधिकार था, कलियुगवालोंका नहीं। **आयुमें**—पांच वर्षसे अधिकको जिससे पाप होता है, उससे न्यूनवालेको वैसा नहीं। तब उसका उस प्रायश्चित्तमें भी अधिकार नहीं। ५ वें

वर्षसे पूर्व ब्राह्मण बालकको उपनयनमें अधिकार नहीं, पाँ[illegible] वर्षसे तो है।

अवस्थामें—साधारण पापके प्रायश्चित्तमें विद्वान्-ब्राह्मणों[illegible] सिर मुण्डानेमें अधिकार नहीं, अविद्वानोंका तो है। शक्तिमें-[illegible] स्वस्थ युवकको एकादशीव्रतके उपवासमें अनुकल्प नहीं[illegible] पीडित युवकको तो उसमें अनुकल्प है। **कुलमें**।—भृगुवंशीयों[illegible] चूड़ाकरणमें शिखाके साथ ही मुण्डन है, अङ्गिरावंश वालों[illegible] तो पञ्चशिखकेशोंका मुण्डन है। गोत्रभेदसे कुलभेद होजा[illegible] है। **शाखामें**—सामवेदीयका वृद्धिश्राद्धमें मातृपक्ष नहीं, अन्यवे[illegible] वालोंका तो वह है। यजुर्वेदकी एक काण्वशाखा तथा दूस[illegible] तैत्तिरीयशाखा है। उसमें काण्ववाले श्राद्धमें 'नमो वः पित[illegible] रसाय' इत्यादिमन्त्रोंके प्रयोगमें जैसे अधिकारी हैं; तैत्तिरी[illegible] वैसे नहीं। शाक्त-वैष्णव आदि सम्प्रदायभेद भी इसी शाख[illegible] भेदमें अन्तर्भूत होजाता है। शाक्त जैसे आचरण करते [illegible] वैष्णव वैसे नहीं।

वेदवचनोंमें परस्पर विरोध नहीं है। पुराण-स्मृति आदि[illegible] भी पारस्परिक विरोध नहीं। मुनियोंके मतमें विषमता न[illegible] है। परन्तु **अधिकारिभेदसे ही उपदेशमें भेद दिखलाया है**। धर्म[illegible] आचरणमें पहले शास्त्रकी विधिको देखो। उसमें आपाततः मत[illegible] भेद मालूम हो; तो महाजनोंसे स्वीकृत किया हुआ मत ही लेन[illegible] चाहिये। उसमें भी विरोध मालूम हो; तो अपने बाप-दाद[illegible] आदियोंसे अनुसृत महाजनोंका मत ही लेना चाहिये। वह य[illegible] मालूम न हो; वा उसमें भी विषमता मालूम हो, तो अप[illegible] आत्माको प्रिय लगने वाला मत लेना चाहिये। उसमें भी संश[illegible] हो; तो अपने श्रीगुरुजीका वा अपने श्रद्धास्पद किसी धार्मिक[illegible] उपदेश अवलम्बित करना चाहिये। शास्त्रोंसे विरुद्ध महाजनों[illegible]

मत भी नहीं लेना चाहिये। गौतमसंहितामें कहा गया है—

'दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः, साहसं च महताम्। न तु दृष्टोऽर्थो वरो दौर्बल्यात्'। (बड़ोंका भी धर्म-व्यतिक्रम तथा साहस देखा गया है। वह आचरण प्रमाण नहीं होता। क्योंकि शास्त्र और आचरणके मध्यमें शास्त्र ही बलवान् होता है। इस कारण **शास्त्रविरुद्ध महाजनोंका भी आचरण मत लो**। इस प्रकार शास्त्र-सिद्ध भी परन्तु महाजनोंसे न लिया हुआ आचरण भी मत लो। इस प्रकार महाजनोंसे लिया हुआ भी परन्तु अपने पिता-पितामह द्वारा न लिया हुआ आचरण भी मत लो, जैसे पशु-बलि आदि' (धर्मशास्त्रवचनविवेचन में)।

इस प्रकार पुराणोंकी निष्कलङ्कता सिद्ध हुई। इस प्रकारके दृष्टिकोणसे पौराणिक-चरित्रोंके पर्यालोचन करनेपर उनमें न तो किसी चरित्र वा वचनको प्रक्षिप्त सिद्ध करनेकी आवश्यकता होगी; और न ही किसी क्लिष्ट-कल्पनाकी आवश्यकता पड़ेगी। न ही किसी प्रतिकूल वचनको छिपानेकी आवश्यकता पड़ेगी, और न ही किसी वचनको अप्रमाण सिद्ध करनेकेलिए मस्तिष्कका पसीना बहानेकी आवश्यकता पड़ेगी; न ही परस्पर विरुद्ध वचनोंकी एक-वाक्यता सिद्ध करनेकेलिए उनके आकर्षण-विकर्षण वा चूर्ण-विचूर्ण करनेकी आवश्यकता पड़ेगी; न ही प्रतिपक्षियोंकी भान्ति असत्य-व्यवहार करनेकी आवश्यकता होगी। पौराणिक ऋषि-मुनि आदियोंके चरित्रके परीक्षणकी कसौटी भी हमने बता दी है।

शेष हैं उनमें देव-चरित्र। उनमें भी वैसा ही अलौकिक सामर्थ्य है। वे हमसे भिन्न-योनि हैं, तथा भोगयोनि हैं; हमारी भांति कर्मयोनि नहीं, अतः हमारी योनिकेलिए नियत पाप उनकेलिये पाप नहीं। जैसे हमारेलिए पापकर्म भोगयोनि पशु-

योनिकेलिए पाप नहीं; वैसे ही भोगयोनि देवता आदि योनियोंकेलिए भी वह पाप नहीं। इसलिए महाभारतमें श्रीवेदव्यासने कुन्तीको कहा था कि—'अपराधश्च ते नास्ति कन्याभावं गता ह्यसि। देवाश्चैश्वर्यवन्तो वै शरीराण्याविशन्ति वै' (आश्रमवासिकपर्व ३०।२१) सन्ति देवनिकायाश्च संकल्पाज्जनयन्ति च। वाचा, दृष्ट्या तथा स्पर्शात् संघर्षेणेति पञ्चधा' (२२) मनुष्यधर्मो दैवेन धर्मेण हि न दुष्यति। इति कुन्ति! विजानीहि व्येतु ते मानसो ज्वरः' (२३) (जब कुन्तीका सूर्यद्वारा कर्ण लड़का कुमारपनमें उत्पन्न हुआ था; उस विषयमें श्रीव्यासजीने कहा कि. ऐ कुन्ति! देवधर्मसे मानुषी धर्मको कोई दोष नहीं लगता; अतः अपना मानसिक ज्वर दूर करो। देवता लोग संकल्प, वाणी, दृष्टि, स्पर्श तथा संघर्षसे सन्तान पैदा कर सकते हैं, उससे कुछ दोष नहीं लगता?'

देवता तथा ऋषि-मुनियोंके अलौकिकशक्तिशाली होनेसे प्रशस्तपादभाष्यके शब्दोंमें 'तत्र अयोनिजम् अनपेक्ष्य शुक्र-शोणितं देव-ऋषीणां शरीरं धर्मसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते' (द्रव्यग्रन्थ पृथिवीनिरूपण) अयोनिज एवं अवतार रूप होनेसे मनुष्य-सृष्टिसे विलक्षणताके कारण अल्पशक्तिमान् मनुष्योंकी उनके साथ समता वा कर्मव्यवस्थाकी समता समझना भारी भूल है। ऋषियोंके मनुष्योंसे विलक्षण धर्मवाले तथा भिन्न योनिवाले होनेसे ही 'देवान्, मनुष्यान्, असुरान् उत ऋषीन्' (अथर्व (८।९।२४) 'देवेभ्यः, ऋषिभ्यः, पितृभ्यो, मनुष्येभ्यः' (शतपथ. १।७।२।१), देवाः, मनुष्याः, असुराः, पितरः, ऋषयः' (अथर्व १०।१०।२६) '[मनुष्यजातिः] पशूनुद्दिश्य श्रेयसी, देवान् ऋषींश्च अधिकृत्य न' (योगदर्शन ४।३३) इत्यादि वेदशास्त्रोंके वचनोंमें उन्हें मनुष्ययोनिसे पृथक्-पृथक् बताया गया है; तब इनके

परस्पर-भिन्न धर्म हों यह स्वाभाविक है।

आपकी लघुशङ्का (पेशाब) च्यूंटीकेलिए समुद्र है, और वृष्टि उसकेलिए महाप्रलय है। आपकी टट्टी च्यूंटीकेलिए पहाड़ है; तथा पहाड़का गिरना च्यूंटीकेलिए ब्रह्माण्डका पतन है। आपकी फूंक उसकेलिए तूफान है; वैसे ही आप देवताओंकी प्रतियोगितामें च्यूंटीके करोड़वें हिस्सेसे भी कम हैं। आप सूर्य देवताको ही देख लीजिये, आप उसके सामने च्यूंटीके खरब हिस्सेके समान भी न होंगे, इस प्रकार जब देवताओं और आप के परिमाणमें तथा योग्यतामें एवं पदवीमें इतना भेद है, तो उनके और आपके कर्मोंकी समता कैसे हो सकती है?

आप लोग कुन्तीका सूर्यदेवसे कुमारावस्थामें, धर्मराज वायु, इन्द्र आदि देवताओंसे विवाहित अवस्थामें नियोग मानते हैं। नियोगका विवेचन हम अष्टम पुष्पमें कुछ करेंगे। आप लोग नियोगको उत्तम मानते हैं, परन्तु आप लोग जानें कि—पुराण-इतिहासानुसार धर्मराज (यमराज) सूर्यके पुत्र हैं। इस लिए महाभारत (वनपर्व) में कहा है—'पितुर्ममांशो देवस्य सर्वलोक-प्रतापिनः। कर्णश्च सुमहावीर्यः' (४१।२२) यह धर्मराज (यमराज) की उक्ति है। सूर्यने जिस कुन्तीसे कर्ण पुत्रको पैदा किया, वही कुन्ती सूर्यके पुत्र यमराजकी माता के समान होगई, फिर धर्म (यम) राजने अपनी मातृभूत-कुन्ती में युधिष्ठिरको कैसे पैदा किया? यदि आप इस नियोगको ठीक मानते हैं; तो स्पष्ट होगा कि—धर्मराजका अपने पितृकी स्त्री होनेसे कुन्तीमें गमन मनुष्ययोनि-दृष्टिसे अयुक्त भी देवयोनिके लिए दोष नहीं। 'इमं मन्त्रं गृहाण त्वमाह्वानाय दिवौकसाम्। यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि। तेन तेन वशे भद्रे! स्थातव्यं ते भविष्यति' (महा. वन. ३०५।१६-१७) इससे स्पष्ट है कि—दुर्वासा मुनिने देवताओंके आह्वानकेलिए कुन्तीको विशे... मन्त्र दिये थे; अतः वे मनुष्य नहीं थे—यह सिद्ध होगया।

तब दो देवताओंका कुन्तीके साथ नियोग होनेपर उस... अन्यका अधिकार मानुषी-दृष्टिकोणसे अयुक्त होने पर भी इन्द्र-वायु आदिके साथ उसका फिर नियोग हुआ—जो प्रति... पक्षियोंके मतमें ठीक है। इससे स्पष्ट है कि—देवयोनिकी कर्म... व्यवस्था भिन्न है, और मनुष्ययोनिकी भिन्न। इसलिए महा... भारतके टीकाकार श्रीनीलकण्ठने महाभारत आदिपर्व २... ११३ श्लोककी व्याख्या के अवसर पर कहा है—'सर्वे सर्वात्मक... देवा विरजोऽवयवा यतः। सर्वे एव समाः सर्वेऽनन्ता इति ... वेदगीः। न तेषां व्यभिचारोस्ति, न चेत् सूर्य-यमौ कथम्। पिता... पुत्रौ सतीं कुन्तीमुपेयातां सुरोत्तमौ। द्रौपदीं देवजां पार्था देव... यदि भुञ्जते। न तेषामत्र दोषोस्ति देवा एव हि ते स्वयम्। श्रूयते नहि वै देवान् पापं गच्छति सर्वथा। तस्माद् यज्ञैर्देवभा... प्रार्थयेत निरेनसम्'॥ ('सब देवता दोषोंसे अलिप्त एवं अनन्... होते हैं, यह वेदवाणी है। उनकेलिए कोई व्यभिचार नहीं। नहीं... तो पिता-पुत्र सूर्य और यम (धर्मराज) ने सती कुन्तीमें गमन... कैसे किया?' द्रौपदी भी देवोत्पन्न थी और पाण्डव भी। यदि... वे द्रौपदीसे मिलतेहैं; तो इसमें कोई दोष नहीं। वे स्वयं देवता... ही तो हैं; देवताओंको कोई भी पाप लिप्त नहीं करता, यह श्रुति है। तब यज्ञोंसे देवभाव माँगे, जिसमें कोई दोष-भाव नहीं लगता। वेदान्त-दर्शनमें कहा है—'नहि वै देवान् पापं गच्छति' (बृह. १।५।३) शाङ्करभाष्य २।४।१६) (शतपथ. १४।४।३।२६)

'सोमः प्रथमो विविदे' (ऋ. १०।८५।४०-४१) इस... मन्त्रसे विवाहसे पूर्व कन्यामें सोम, गन्धर्व और अग्निदेवताका... भोग बताया गया है (स्वा. द. जीका इस मन्त्रका नियोगपरक...

अर्थ तो शास्त्रानुसार अशुद्ध है—यह चम पुष्पमें बताया जायगा) परन्तु विवाहसे पूर्व किन्हीं तीन मनुष्योंका कन्यासे सम्बन्ध अत्यन्त दूषित माना गया है; परन्तु देवयोनिके लिए वह सम्बन्ध दुष्ट नहीं माना गया है। इसी प्रकार पुराणसे कहे गये हुए देवताओंके कई चरित्र मानुषो दृष्टिकोणसे पाप होनेपर भी देवयोनिके लिए पाप नहीं-यह ठीक सिद्ध होगया।

और भी देखिये—जिन वेदमन्त्रोंके भिन्न-भिन्न देवता उपासनीय हैं, उन्हीं वेदमन्त्रोंसे आप लोग किसीकी लड़कीको पत्नी बनाकर मैथुन करते हुए यदि पापयुक्त नहीं माने जाते; तब जो स्वयं उन वेदमन्त्रोंके अधिष्ठाता देवता वा देवदेव वा उनके अवतार हैं; उनकेलिए अन्य स्त्री परकीया कैसे हो सकती है? आपकी स्त्री विष्णुदेव (परमात्मा) को अपना परम स्वामी मानती है; 'वेवेष्टीति विष्णुः' वह विष्णु उसके गुप्त अंगोंमें भी व्यापक है, मैथुन-समयमें भी व्यापक है। गर्भाधान-संस्कारमें स्वा. द. जीकी संस्कारविधिमें भी यह मन्त्र लिखा है-'विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते' (ऋ. १० । १८४ । १) 'गर्भं ते अश्विनौ देवौ आधत्तां पुष्करस्रजौ' (२) इत्यादि मन्त्रोंमें देवविशेषों द्वारा आपकी स्त्रीमें गर्भ बताया गया है। वही स्त्री आपको भी अपना स्वामी मानती है। अब बताइये कि—उसके एक परमपतिके पहलेसे ही विद्यमान होनेसे उसके साथ आपका मैथुन क्या आपको पापयुक्त करने वाला न होगा? अथवा आपके स्वामित्वमें उन विष्णु आदिदेवोंका उस स्त्रीमें स्वामित्व पाप-जनक नहीं होगा? यदि नहीं, तो क्यों? अपनी संस्कारविधिके विवाह-संस्कार (पृ० १५५)में 'बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु' (अथर्व. १४। १ । ५४) मन्त्रका

अर्थ बताते हुए स्वा. द. जीने लिखा है- 'ब्रह्म (सबसे बड़ा परमात्मा) (इमां नारीम्) इस मेरी स्त्रीको (प्रजया) प्रजासे बढ़ाया करते हैं, वैसे तुम भी बढ़ाया करो'; तब आपकी स्त्रीमें सन्तान पैदा करता हुआ परमात्मा क्या पापी माना जावेगा? जो इसका उत्तर होगा; वही लगभग पुराणोंमें भी हो जावेगा। आप परमात्माको अपना पिता मानते हैं; वही परमात्मा आपकी अपनी मातामें तथा स्त्रीमें भी विद्यमान है। आप जब वीर्यद्वारा अपनी मातामें निषिक्त हुए, तब भी वह आप लोगोंके माता पिताकी गुप्तेन्द्रियोंमें था। तब वह देव-देव पापी होता है वा नहीं? यदि नहीं, उसका वा देवोंका स्थूल भोग नहीं होता; अतः वहां पाप नहीं; तब पुराणोंमें भी उसके अवतार वैसे अवसरमें दोषी नहीं हो जाते।

शेष हैं ऋषि, योगी, मुनि, तपस्वी; वे तो 'यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्' (११। २३८) इस मनुजी से कही हुई तपस्याकी शक्तिसे सभी पापोंसे छूट जाते हैं (मनु. ११। २४१-२४५)। इस विषयमें भगवद्गीताके निम्न पद्य भी मननीय हैं-'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते' (१८। १७) (जिसका भाव अहम्भावसे रहित है और बुद्धि भी; वह बन्धनमें नहीं आता)। त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोपि नैव किञ्चित् करोति सः' (४। २०) (जिसकी फलमें आसक्ति नहीं, और नित्यका तृप्त है, वह कर रहा भी नहीं कर रहा होता।)— 'निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः। शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्विषम्' (४। २१) (जिसने मन एवं आत्मा पर काबू पाया हुआ है और जिसे कोई इच्छा नहीं; वह

शरीरसे कर्म करता हुआ भी पापको प्राप्त नहीं करता)। 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' (५।१०) (अपने कर्मोंको जो परमात्मा के अर्पण करदे, निस्सङ्ग होकर कार्य कर रहा हुआ वह पुरुष लिप्त नहीं होता।') इस प्रकार पुराणका कोई चरित्र उन अलौकिक-सामर्थ्यशालियोंकेलिए दोषजनक नहीं होता।

अन्य यह भी अवश्य याद रखना चाहिये कि-पुराणोंमें वैसा उल्लेख मात्रसे वह बात अनुसरणीय नहीं होजाती, किन्तु विधि ही अनुसरणीय होती है। पुराण-इतिहासका विषय लोक-व्यवहारकी व्यवस्थापना भी नहीं। उनका विषय तो मुख्यतया लोकचरित्र बताना है, लोकव्यवहारकी व्यवस्थापना मुख्य-विषय नहीं! लोकव्यवहारकी व्यवस्था तो मुख्यतया धर्मशास्त्र-के अधीन हुआ करती है। न्यायदर्शन (४।१।६२ सूत्रभाष्य) में लिखा हैं—'अन्यो मन्त्र-ब्राह्मण (वेद)स्य विषयः, अन्यश्च इतिहास-पुराण-धर्मशास्त्राणामिति। यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य (वेदस्य), लोकवृत्तम् इतिहासपुराणस्य। लोक-व्यवहार-व्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः। तत्र एकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यते इति यथा-विषयम् (स्व-स्वविषयानुसारम्) एतानि प्रमाणानि इन्द्रियादि-वद्-" इति।

यहां कितना स्पष्ट कहा है कि-लोक-व्यवहारकी व्यवस्था बताना धर्मशास्त्रका विषय हुआ करता हैं। तभी तो व्यास-स्मृतिमें 'श्रुति-स्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते। तत्र श्रौतं प्रमाणं तु, द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा' (१।४) यह कहा है कि-वेद, स्मृति और पुराणोंमें कहीं विरोध दीखे; तो उसमें वेद माननीय है, और स्मृति एवं पुराणका विरोध दीखे; तो वहां स्मृतिको मानो। इस प्रकार मनुस्मृतिमें भी कहा है-'वेदः, स्मृतिः,

सदाचारः, स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्ष धर्मस्य लक्षणम्' (२।१२) यहां पहले पदपर वेद और दूस स्मृति; तथा तीसरे पदपर सदाचार (पुराण-इतिहास) रखा गया है। 'सताम् आचारः-सदाचारः'। सो यदि सत्पुरुषों आचार भी वेद एवं स्मृतिसे विरुद्ध है; तो वह आचरणीय न हो जाता। क्या पतिव्रता द्रौपदीका पञ्चपतित्व आजकल पतिव्रता स्त्रियोंसे अनुसरणीय होगा?

कइयोंका प्रश्न उठता है कि-विरुद्ध आचरण करने व सत्पुरुष कैसे हो सकते हैं जो कि उनके आचरणको भी सत चार कहा जाता है; और वह पूजनीय कैसे हो सकते है इसमें यह उत्तर है कि-एक सत्पुरुषमें बहुत उत्तम गुणों होनेपर एक-दो दोष होनेपर भी वह लोकमें सत्पुरुष ही म जाता है। देखिये-गुरु पूज्य होते हैं। उनका उपदेश होता कि-'यानि अस्माकँ सुचरितानि तानि त्वया उपास्यानि, इतराणि' (तैत्ति. उ. शिक्षावल्ली ११। २) (हमारे सुच लेने, कुचरित्र नहीं)। इससे प्रतीत हो रहा है कि- कुत्सित चरित्र भी सम्भव हैं; तभी तो वे अपने अच्छे चरि अनुसरण करनेकेलिए कहते हैं, कुचरित्रोंकेलिए निषेध हैं। जैसे कि स्वा. द. जीने अपनी संस्कारविधिके वेदार प्रकरण (१०९ पृ०) में इसका अर्थ किया है—'हे शिष्य! तेरे माता, पिता आचार्य आदि हम लोगों के अच्छे धर्म उत्तम कर्म हैं, उन्हींका आचरण तू कर; और जो हमारे कर्म हों, उनका आचरण कभी मत कर।'

तब यदि कुत्सित चरित्रवाले भी माता पिता वा आ पूज्य माने जाते हैं, परन्तु उनके निषिद्ध आचरणोंका अनु ठीक नहीं माना जाता; वैसे ही आपकी दृष्टिसे कई कु

आचरण रखने वाले भी देवता या ऋषि, मुनि सभीसे पूज्य होते ही हैं। केवल उनके कुत्सित-चरित्रोंका अनुकरण आपको नहीं करना चाहिये—यही इसमें याद रखना चाहिये। गाय अपने पिता वा पुत्रसे संभोग करनेसे हमारे अनुसार दुश्चरित्र होती हुई भी पूजनीय होती ही है।

प्रतिपक्षी स्वयं मानते हैं कि—गांधीजी महात्मा थे। उनके जीवनचरित्रोंमें वे देखेंगे कि—जब उनके पिता मर रहे थे; तब वे अपनी स्त्रीके साथ एकान्त-सेवन कर रहे थे। हिंदुजातिके धार्मिक चिह्न चोटीको उन्होंने जंगली होनेके नाते कटा दिया था। यज्ञोपवीत पहनना वे उचित नहीं समझते थे, पढ़िये उनकी आत्मकथा। मरणासन्न गायके बछड़ेको उन्होंने विषके इन्जेक्शनसे मरवा दिया था। वैश्य होते हुए भी उन्होंने अपने श्रीदेवदासका विवाह ब्राह्मण-कुमारीसे कराया था। ब्राह्मणोंसे भी बढ़कर भंगियोंके पदको सम्मानित कराया था। स्वयं वे टट्टी उठाते थे। गांधीजीके भक्त काका कालेलकरसे प्रकाशित 'प्रसाददीक्षा' नामक पुस्तकमें महाराष्ट्र-कुमारीको गांधीजीने एक पत्र लिखा था कि—'मेरे दर्शनार्थ आई हुई एक लावण्यवती नवयुवतिको देखकर मैं इन्द्रियका नियमन नहीं कर सका। फलस्वरूप मेरा शुक्रपात होगया' (मधुरवाणी ४। ३ अङ्क ३ य पृष्ठ, शक: १८६० पौषमास) इससे पूर्व बम्बईके 'विविधवृत्त' नामक साप्ताहिक महाराष्ट्र-भाषाके पत्रमें भी प्रकाशित हुआ था। 'शिवा बावनी' का गुजराती भाषामें अनुवाद प्रकाशित हुआ, प्रकाशक-रतिलाल हरभुवनदास पटेल मु. सत्ताकुज पो. जुहू, प्रथमावृत्ति सं. १९९६, शक: १८६२। उसके टाइटलके ३य पृष्ठमें पत्र नं. ८५ ता. १८-५-१९३६में प्रेमबाईको इसी विषयका पत्र लिखा था। यह हमारे शब्द नहीं। इत्यादि दोषोंके होनेपर

भी आप लोग वा अन्य लोग उन्हें महात्मा मानते हैं। इन दोषों-से न आप उनपर हंसी करते हैं, न उन्हें निन्दनीय मानते हैं। बल्कि यह बातें लिख देनेसे आप उन्हें 'सत्यका अवतार' मानते हैं। इस प्रकारका दृष्टिकोण यदि पौराणिक ऋषिमुनियों वा उनके इतिहासोंमें भी रहे; तब प्रतिपक्षियोंकी सभी लघुशङ्काएं सूख जाएँ, उड़कर कहीं विलीन हो जाएं; उनका गन्धमात्र भी कहीं न रहे।

इस प्रकार स्वा. द. जो भांग, हुक्का, तम्बाकू, नसवार आदि बहुतसे दोषोंके व्यसनी थे, कामवर्धक धातुओंका सेवन करते थे। रमाबाई नामक विधवा-स्त्रीसे समागमकी तिथि उनके पत्र स्वयं बताते हैं। हम तो वैसा नहीं मानते। वेदार्थमें छलद्वारा परिवर्तन करते थे, जिनके स्वीकार करनेमें बहुतसे आर्यसमाजी आज भी सकुचाते हैं। एतदादिक दोषराशिमें भी आप उन्हें ऋषिपदसे नहीं गिराते, यद्यपि कइयोंके मतमें वे मुनिपदके योग्य भी नहीं माने जा सकते, उनको आप पूज्य मानते हैं। इस प्रकार जब साधारण पुरुषोंको भी आपका महात्मा, स्वामी आदि कहनेमें अभिनिवेश है; तब अलौकिक सामर्थ्य-शाली पुराने ऋषि-मुनि आपकी संकुचित बुद्धिके अनुसार दोष-युक्त होते हुए भी क्यों ऋषि, मुनि, योगी न कहे जाएँ, और क्यों नहीं पूज्य माने जावें?

इसके अतिरिक्त प्रतिपक्षियोंकी इस विषयमें अपनी संकु-चितबुद्धि तथा व्याकरण आदि शास्त्रोंके ज्ञानका अभाव, तथा पारिभाषिक और परोक्ष-वृत्तिक शास्त्रोय शब्दोंका रहस्य न जानना भी यहां अपराधी हैं। जिस कथामें १. मैथुन, २. रमण ३. सङ्ग, ४. समागम, ५. लिङ्ग, ६. वीर्याधान, ७ भग, ८. योनि, ९. भोग, १० संभोग, ११. रति, १२. सम्बभूव, १३.

विहार आदि पद आजावें; वहां आपात-दर्शियोंको खराब अर्थ मालूम होने लग जाता है। इनका सदा ही कुत्सित अर्थ करना अपने हृदयकी अपवित्रताका परिचय देना है। प्रतिपक्षी इनके कुत्सित ही अर्थको देखते हैं; वास्तविक अर्थको नहीं। अब वे इन शब्दों पर ही विचार करें।—

१. मैथुन—मिथुनस्य भावः, दो की एक स्थानपर स्थिति वा सङ्गति भी मैथुन हुआ करता है। इसलिए अमरकोषमें लिखा है—'मैथुनं सङ्गतौ रते' (३। ३। १२२)। व्याडिने भी कहा है—'सम्बन्धे सुरते युग्मे राशौ मिथुनमिष्यते'। 'द्वन्द्वाद् वैरमैथुनिकयोः' (४। ३। १२५) इस पाणिनिसूत्रमें 'मैथुनिका' का विवाहरूप सम्बन्ध इष्ट है-स्त्री-पुरुषोंका इन्द्रिय-संयोग नहीं। 'मिथुन' केवल पति-पत्नीके जोड़ेको नहीं कहते, किन्तु भाई-बहिनके जोड़ेको भी कहते हैं; देखो निरुक्त—'अविशेषेण मिथुनाः पुत्राः दायादाः' (३। ४। १) महाभारतमें भी देखिये—'मिथुनं त्वामुपस्थितम्' (१। १६६। ३६) यहां द्रुपदके लड़के-लड़कीके जोड़ेको मिथुन कहा गया है, तब उनके भावको भी 'मैथुन' कहने से क्या प्रतिपक्षी भाई-बहिनका स्वसम्मत 'मैथुन' मान लेंगे?'

२ रमण—यदि इसका अर्थ मैथुन ही हो, तब स्वा. द. जीसे बनाये हुए 'आर्याभिविनय' (पृ० ४६) में 'सोम! रारन्धि नो हृदि' (ऋ. १। ६१। १३) इस मन्त्रके अर्थके अवसरपर परमात्मासे प्रार्थना की गई है—'जैसे मनुष्य अपने घरमें रमण करता है, वैसे ही आप हमारे हृदयमें यथावत् रमण कीजिये'। इसकी प्रार्थना करनेवाली आर्यसमाजिन स्त्रियाँ भी हो सकती है; तब क्या आप उन स्त्रियोंसे मैथुन अर्थ लेंगे?

इस प्रकार 'अथैषां देवानामात्मा परमेश्वर एव रथः—रमणा-

धिकरणम्' (ऋभा. भू. वेदविषयविचार पृ० ६५) यहां प्रतिपक्षी क्या परमात्माको देवोंके मैथुनका अधिक[illegible] मानेंगे?। इसलिए मनुष्यको योग्य है कि—'सत्यधर्म और अ[illegible] पुरुषोंके आचरणों और भीतर-बाहरकी पवित्रतामें सदा र[illegible] करें'। (सं. वि. गृहाश्रम. पृ. २३६) यहां भी प्रतिपक्षी रमण 'मैथुन' अर्थ करेंगे? हे मुग्धो! 'रमु' धातु 'क्रीडा'में होतो मैथुनमें नहीं। नहीं तो 'यत्र नार्यस्तु पूज्यते रमन्ते तत्र देवत[illegible] (मनु. ३। ५६) तो क्या यहां नारी-सम्मानके स्थानमें दे[illegible] मैथुन किया करते हैं—अर्थ किया जावेगा?। नहीं! तभी प्रथम सत्यार्थ. में स्वामीने लिखा है—'जिस कुलमें नारी [illegible] रमण नाम आनन्दसे क्रीड़ा करती हैं' (४ थं समु. पृ. ११२)। '[illegible] शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी। सह रंस्ये त्वया वी[illegible] वनेषु मधुगन्धिषु' (वाल्मी. २। २७। १३) यह श्री सीता कह रही हैं। तब क्या ब्रह्मचारिणी सीताका 'रमण' मैथुना[illegible] माना जावेगा?' 'आत्मारामा विहितरतयो' इस वेणीसंहा[illegible] पद्यमें आत्मासे रमण क्या मैथुन समझा जावेगा?'

सङ्ग—'तथैव अस्माभिरपि... विद्वत्सङ्ग विद्योन्नतिः ... सदैव कार्या' (यजुः १। २१ स्वा.द.के संस्कृतभाष्यमें) सङ्ग[illegible] अर्थ क्या यहाँ 'विद्वानों से मैथुन' किया जावे?' 'सदा [illegible] करते रहे हो जो सत्पुरुषोंका सङ्ग' यहां भी क्या 'मैथुन' [illegible] किया जाएगा?'

४ समागम — दयानन्द-लेखावली (पञ्जाब प्रिंटिंग क[illegible] लाहौर) (आषाढ़ शुक्ल १५ बुध सं. १६३६) में लिखे पत्रमें स[illegible] द. जीने रमाबाईको पत्र लिखा था— 'आपका प्रेमास्पद आनन्द[illegible] पत्र मिला। .... यदि आप इस समयके बीचमें आवेंगी

तो मेरा समागम होगा'। संस्कृतपत्र यह है—'ग्रहमप्यत्र पञ्चविंशतिदिनानि (?) स्थातुमिच्छामि, एतदन्तराले समये आगमिष्यति [भवती] चेत्; तर्हि मत्समागमो भविष्यति' रमां प्रति स्वा. द. पत्रम् (महर्षिदयानन्दका जीवन-चरित्र ग्रात्माराम ग्रमृतसरि-रचित पृ०३१८); तब क्या यहाँ प्रतिपक्षी सन्यासीका रमाबाईके साथ समागम-मैथुन मानेंगे, जैसे कि—स्वा.द.ने स.प्र. ११ वें समुल्लासमें 'रजस्वलाके साथ समागम करनेसे चाण्डालीसे समागम करनेसे' (पृ० १७७) 'स्त्रीसे ग्रश्वके लिंगका ग्रहण कराके उससे समागम कराना' (स. प्र. १२ समु. पृ० २५६) इत्यादि-स्थलोंमें समागमका ग्रर्थ मैथुन किया है; यदि ऐसा हो तो ग्रापको स्वामीके रमाका वास्तविक स्वामी बनाने की बधाई हो !!! पर हम ऐसा नहीं मानते।

५ लिङ्ग—ग्रार्यसमाजके लिङ्ग 'सत्यार्थप्रकाश'के ३य समु. में ग्रार्यसमाजके पिता स्वा. द. जीने वैशेषिकदर्शनके सूत्रोंको उद्धृत करके उनके ग्रर्थ इस प्रकार किये हैं— 'निष्क्रमणं प्रवेशनमिति ग्राकाशस्य लिङ्गम्' (२ । १ । २०) जिसमें प्रवेश ग्रौर निकलना होता है, वह ग्राकाशका लिङ्ग है'। 'ग्रपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि' (वै० २ । २ ६)· जिसमें ग्रपर, पर, एकवार; विलम्ब, शीघ्र इत्यादि प्रयोग होते हैं, उसको काल कहते हैं।' क्या इस स्थानमें 'लिंग' शब्द देखकर प्रतिपक्षी मूत्रेन्द्रियका ग्रर्थ करेंगे ?' इस प्रकार 'शय्यादेशे कामलिङ्गेन' (ग्रापस्तम्बध. २ । ४ । १) यहां भी क्या वही लिङ्ग मानेंगे ? 'गति-शब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च' (१ । ३ । १५) यहां वेदान्तसूत्रमें भी क्या वे वही लिङ्ग मानेंगे ? 'परमात्माकी रचना-विशेष लिङ्ग देखके परमात्माका प्रत्यक्ष होता है' (स. प्र. १२ समु. २६६ पृष्ठ) यहां भी क्या परमात्माका वही लिङ्ग

देखेंगे, जिसे शिवलिङ्ग में देखते हैं?' 'प्रथम-लिङ्ग-ग्रहणं च' में उसी लिङ्गका प्रथम ग्रहण मानेंगे; जिसे वे दारुवनकी कथामें मानते हैं ? यदि यहां ऐसा नहः तो वहाँ भी ऐसा नहीं।

६ वीर्याधान—'वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि" (यजु. १६ । ६) क्या यहां भी ग्रार्यसमाजिन कुमारियां वा स्त्रियां परमात्मा द्वारा वही वीर्याधान करावेंगी, जिसकी प्रतिपक्षी पुराणोंमें ग्राशङ्का करते हैं ? यदि यहां नहीं; तब कुब्जामें वीर्याधान भी इसी वेदमन्त्रवाला ही मानना पड़ेगा।

७ भग—'प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवामहे' (ग्रथर्व. ३ । १६ । २) यहां भी 'इम ते उपस्थं मधुना सꣳसृजामि, प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम्। तेन पुꣳसोऽभिभवासि सर्वान्' (मन्त्र ब्रा. १ । १ २) इस विवाहसंस्कारविधि १४४ पृष्ठमें स्वा. द. द्वारा उद्धृत वा स्मृत उग्रभग (उपस्थ) का प्रातःकाल ग्राह्वान करेंगे, जिसे वे पुराणोंमें मानते हैं ? ग्रौर स्त्रीके उपस्थको गुप्तेन्द्रिय तथा उसका मधुयुक्त करना मानेंगे ? यदि यहां वह ग्रर्थ नहीं; तब पुराणोंमें भी वह ग्रर्थ नहीं।

८ योनि—'तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः' (यजुः ३१ । १६) 'सतश्च योनिमसतश्च विवः' (यजुः १३ ३) 'यो योनिं योनिमधितिष्ठति एकः' (श्वेताश्व. ४ । ११) 'यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः' (श्वे.५ । ५) यहां भी प्रतिपक्षी क्या परमात्माकी वही योनि मानते हैं; जिसे पुराणोंमें ? । यदि नहीं; तो पुराणोंमें भी वह नहीं।

९ भोग—संस्कारविधिके १७ पृष्ठमें स्वा०द०जी ग्रपनी ग्रनुयायिनी मण्डलीको 'मोहन-भोग'के उपयोगका ग्रादेश देते हैं; तब क्या स्वामीजीकी मण्डली उसी मोहन-भोगको लेती है; जिसे पुराणोंमें मोहन (श्रीकृष्ण) के भोगमें लेती है ? यदि

नहीं; तब पुराणोंमें भी वैसा नहीं। 'दुःखविनाश करने वाले छेरी आदि पशुसे, वाणीकेलिए मेढ़ासे, परम ऐश्वर्यकेलिए बैलसे भोग करे' (यजुः ३१ । ६०)। क्या स्वामीके सम्प्रदायकी स्त्रियां मेढ़े, बैल आदि से, तथा पुरुष छेरीसे वही भोग मानते हैं, जिसे पुराणोंमें? यदि ऐसा नहीं; तो पुराणोंमें भी ऐसा नहीं। 'यत्र देशेऽथवा स्थाने भोगान् भुक्त्वा स्ववीर्यतः। तस्मिन् विभवहीनो यो वसेत् स पुरुषाधमः' (पञ्चतन्त्र-मित्रभेद ४४) यहां भी वीर्य और भोगका वही अर्थ करते हैं?

१० सम्भोग—सम्भोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित्। आगमः कारणं यत्र न सम्भोग इति स्थितिः' (मनु० ८ । २००) क्या यहाँ पर तथा 'पृथिव्याः पर्जन्येन वाय्वादित्याभ्यां च सम्भो :' (निरु० ७ । ५ । ८) क्या यहां भी वही सम्भोग है, जो प्रतिपक्षियोंको बहुत पसन्द है? 'स्नेह-प्रणयसम्भोगैः समा हि मम मातरः' (वाल्मी० २ । २६ । ३२) क्या यहां भी प्रतिपक्षी माताका सम्भोग मैथुन मानें गे? नहीं-नहीं। इससे स्पष्ट है कि सम्भोगका पालन अर्थ भी हुआ करता है।

११ रति— 'आत्मारामा विहित-रतयो निर्विकल्पे समाधौ' (१ । २३) वेणीसंहारके इस पद्यमें योगियोंसे ध्यानयोग्य श्रीकृष्णभगवान्‌का वर्णन है। क्या यहां भी 'रति' का अर्थ वहो लेंगे, जो पुराणोंमें लेते हैं? यदि यहां ऐसा नहीं; तो वहां भी ऐसा नहीं।

१२ सम्बभूव—'वाजस्य नु प्रसवे सम्वभूविम' (अथर्व० ३ । २० । ८) क्या यहां भी 'हम मैथुन करते हैं' यह अर्थ लिया जायगा?' यदि नहीं; तब पुराणोंमें भी नहीं।

१३ विहार—विजह्राते मुदा युक्तौ वासुदेवधनञ्जयौ' (महा० आश्वमेधिक० १५ । २) 'इन्द्रप्रस्थे महात्मानौ रेमतुः कृष्णपाण्डवौ' (१५ । ५) यत्र धर्मसुतो राजा यत्र भीमो महाबलः। माद्रवतीपुत्रौ रतिस्तत्र परा मम (श्री कृष्णस्य)' (१५ । १८) 'रमे चाहं (कृष्णः) त्वया (अर्जुनेन) सार्द्धमरण्येध्वनि पाण्डव' (१५ । १७) क्या एतदादिक श्लोकोंमें विहार, रमण, रति शब्दका मैथुन अर्थ किया जावेगा? यदि नहीं, तो पुराणोंमें भी वैसा नहीं।

यदि अन्य स्थलोंमें प्रतिपक्षी ऐसा अर्थ नहीं करते, और पुराणोंमें ऐसा करते हैं, तो स्पष्ट है कि—वे पुराणोंके द्वेषी हैं, और उन्हें कलङ्कित करना चाहते हैं। अपने ही स्वामी से लिखित 'समागम' आदि शब्दोंमें 'मैथुन' अर्थ नहीं मानते; और पुराणोंमें मान लेते हैं—यह प्रतिपक्षियोंका सर्वथा अन्याय है, और मूर्ख-जनोंमें गलत-प्रभाव डालना है। इस प्रकार प्रतिपक्षी स्वयं तो कई ब्रह्मपुत्री-गमन आदि कथाओंको आलङ्कारिक मानते हैं, वैसे व्याख्यात भी करते हैं; परन्तु यदि सनातनधर्मी वहां प्राचीनोंकी साक्षीसे आलङ्कारिकता दिखलाते हैं, तब अपने पास उत्तर न होनेसे 'ऐसा नहीं, ऐसा नहीं, इस प्रकार इतिहास नहीं रहेगा, वेदके सिवाय अन्यत्र यौगिकता नहीं होती' इत्यादि कोलाहल करने लग जाते हैं।

आलङ्कारिक वर्णनका एक प्रकार देखिये—कर्षणलाल तिवारीका महाचञ्चल शुक्र दयानन्द अर्वाचीन विचारों वाली जनताका स्वामी है। उसका लिङ्ग 'सत्यार्थप्रकाश' जब आर्यसमाजी-जनताकी बुद्धिके भीतर प्रवेश करता है, और उस बुद्धिका मथन शुरू करता है, तब आनन्दमें मस्त हुई उस जनताका आर्यसमाजी दृढ-विचाररूप पुत्र उत्पन्न हो जाता है'। तो क्या आप यहां अश्लीलतामें तात्पर्य समझेंगे? यदि इस आपाततः प्रतीत होती हुई अश्लीलताका पर्यवसान (तात्पर्य) अश्लीलतामें

नहीं; इस प्रकार आप पुराणोंमें भी क्यों नहीं विचारते ? हमारा हाथ भी 'कर' होता है, सूर्यकी किरणें भी 'कर' होती हैं, हाथी-की सूंड भी 'कर' होती है, राजाका टैक्स भी 'कर' होता है। हमारा 'मुख' भी कहा जाता है, सूर्य-चन्द्र आदिका भी 'मुख' कहा जाता है। एक दम्पतियोंका 'सम्भोग' माना जाता है, और एक 'पृथिव्या: पर्जन्येन वा वाय्वादित्याभ्यां च सम्भोग: अग्निना च इतरस्य लोकस्य' (निरु० ७। ५। ८) पृथिवीका बादल, वायु, सूर्य आदिसे भी 'सम्भोग' कहा जाता है। हमारे भी 'अश्व' कहे जाते हैं, सूर्यके भी 'अश्व' कहे जाते हैं। क्या हमारे तथा देवता आदिके अङ्ग तुल्य वा तुल्य-व्यवहार वाले कहे जा सकते हैं ?। नहीं। हमारे सम्भोगकी भान्ति देवताओंका सम्भोग नहीं होता। उनमें आलङ्कारिकता अथवा उपचार (गौणी वृत्ति) से वे-वे शब्द कहे जाते हैं, जैसे कि निरुक्तका अभी-अभी उद्धरण दिया गया है, पर वह सम्भोग उनका हमारी तरह नहीं होता। इस प्रकार विचार करनेपर कोई भी दु:शङ्का प्रतिपक्षियोंमें नहीं रह सकती।

अत: प्रतिपक्षिगण ! आपको उचित है कि आप दोषदर्शन-रूप काला चश्मा उतार कर पुराणोंका निष्पक्ष अध्ययन करें। अथवा—यदि आपकी आंखोंमें दृष्टि कमज़ोर है, तो अपनी योग्य-ताका सुफेद विज्ञानरूप चश्मा पहरें, जिससे अन्यके स्थान पर अन्य न पढ़ा जावे। ऐसा करने पर जिन्हें आप अब कुचरित्र मानते हैं; तब लोकोत्तर शक्तिवाले महापुरुषोंकेलिए आपको वे भी दोषरूप नहीं मालूम होंगे। जब कि आप अपने महा-पुरुष गांधीजीको उनसे की हुई बछड़ेकी हत्या कराने आदि दोषोंसे उनको दोषी न मानकर उनके सम्मानमें क्षति नहीं करते; जब कि आप अपने महानेता स्वा०द०जीको सनातन-

धर्मियोंके प्रति गालियाँ देनेसे, तमाखु आदि व्यसनोंसे भी कुत्सित नहीं मानते; उनके दोषों-दुर्बलताओंको मानते हुए भी आप उनको 'परमहंसपरिव्राजकाचार्य' माननेमें कुण्ठित नहीं होते; तब वस्तुत: ही अलौकिक शक्तिशाली ऋषि-मुनियोंके चरित्रोंमें आप दोषारोपण कैसे कर सकते हैं ?

उठिये, अपनी अभद्र निद्रा हटाइये; सावधान होकर स्नान-अनुलेपन करके पुराणोंका अध्ययन कीजिये। आक्षिप्त स्थलों-का पूर्वापर देखिये; तब आपको सभी प्रश्नोंके उत्तर स्वयं प्राप्त होंगे। जिन पुराणोंको आप कलङ्कित करते हैं; उन्हींसे समय-समय पर अपने सिद्धान्तोंको आप मूर्ख-जनताके आगे प्रकरणसे छूटे हुए श्लोक सुनाकर सिद्ध कर रहे होते हैं। तब यदि पुराण दुष्ट वा असत्य हैं, तब आपके सिद्धान्त भी दुष्ट एवम् असत्य क्यों न हुए ?'

यदि आपने अपनी इस दोषमात्र देखनेकी सरणिको न छोड़ा; तो ध्यान रखिये कि—वही काला चश्मा धारण करते हुए आपको फिर अपने मार्गदर्शक स्वा०द०जीका वेदभाष्य तथा उनका जीवनचरित्र तथा उनकी पुस्तकें भी असत्य तथा त्रुटिपूर्ण दिखाई देंगी; आप सावधान हो जाइये। अपने ही पुराने साहित्यका तिरस्कार तथा उत्पाटन न कीजिये। 'सर्वा-रम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता:' (गीता १८। ४८) 'दृष्टो धर्म-व्यतिक्रम: साहसं च महताम्, न तु दृष्टोऽर्थो वरो दौर्ब-ल्यात्' (गौतमधर्मसू. १। २) 'दृष्टो धर्मव्यतिक्रम: साहसं च पूर्वेषाम्' (आपस्तम्बधर्म. २। १३।७) 'तेषां तेजोविशेषेण प्रत्य-वायो न विद्यते' (२। १३। ८) 'धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्। तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा' (श्री-मद्भा० १०। ३३। ३०) इत्यादि वचनोंको याद करते हुए

'यानि अनवद्यानि कर्माणि तानि त्वया उपास्यानि, नो इतराणि' (तैत्तिरी० शिक्षा० ११ । २) इस उपनिषद्के पाठको आप अपने दृष्टिकोणमें रखें ।

इस प्रकार विचार रखने पर आपको पुराण-समुद्रके मथन करने पर चन्द्रमा, लक्ष्मी, रत्न, और अमृत मिलेंगे । उल्टा दृष्टिकोण रखनेपर प्रतिपक्षियोंको पुराणसागरसे हालाहल विष, मद्य, क्षार, सुरा, और सिप्पी आदि मिलेंगे । फिर आपको अपने पूर्वजोंका इतिहास भी कहींसे नहीं मिलेगा । याद रखिये—महापुरुषोंके अपनी दृष्टिमें स्खलनोंका भी प्रकारान्तरसे समाधान ही उचित होता है, न कि प्रत्यालोचना, क्योंकि-लोकोत्तर महापुरुषों तथा अवतारोंके चरित्रको लौकिक तुला (तराजू) से तोलना बुद्धिमत्ता न होकर अपनी अल्पश्रुतता अथवा अल्पज्ञता बल्कि अनभिज्ञताका परिचय देना होता है । उनका प्रत्यालोचनासे अपमान करना अपना अपमान करना होता है । अतः सावधान होजाइये । यह हमने पुराणसम्बन्धी आक्षेपोंका सामान्यरूपसे समाधान दिया है. अग्रिम निबन्धोंमें विशेषरूपसे समाधान किया जाएगा, 'आलोक' के पाठकगण क्रमसे तथा धैर्यसे देखते चलें ।

टि—पृ. २१ पं. २१ में 'तथा ऽन्यथैव' पढ़िये । पृ. ३० पं. १८ निश्चित'

३. 'पुराणपरिचय' का परिचय

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः ।
अभाललोचनः शम्भुर्भगवान् बादरायणः' ।

वैदिक आश्रम ऋषीकेशके श्रीदेवादन्द-संन्यासी द्वारा प्रणी 'पुराणपरिचय'का परिचय हम उपस्थित करते हैं । उ महाशय आर्यसमाजी हैं तथा स्वा०द०जीके पूर्ण भक्त हैं । छो छोटे ट्रैक्ट प्रकाशित करके भोले-भाले लोगोंको सनातनधर्म हटवानेकी चेष्टा करते रहते हैं । 'प्राक्कथन' में प्रणेताने आप स्वामीजीका पुराणोंके प्रति भाव बताया है कि 'इनमें अश्ली कथाएं होनेसे उन्होंने इन्हें धर्मग्रन्थ नहीं माना ।' पुराणों संन्यासीजी 'वाममार्गियों की रचना' मानते हैं । वस्तुतः यह उनकी अल्पश्रुतताका फल है ।

इसमें कोई संशय नहीं कि पुराणार्णव मथन करनेपर अ रत्वकारक अमृत भी मिल सकता है और मारक हालाहल भी मादक मद्य उससे निकल सकता है, जनमनोमोददाता सुधा भी । मोती उससे मिलते हैं, शुक्तियाँ भी । लक्ष्मी उससे मिलत है और शङ्ख भी । परन्तु भिन्न-भिन्न फल अपनी अपनी-प्रकृति अनुसार मिलता है । 'श्रीमद्भागवत' में कहा है—"एवं सुरासुर गणाः समदेशकालहेत्वर्थकर्ममतयोऽपि फले विकल्पाः । तत्रामृ सुरगणाः फलमञ्जसाऽऽपुर्यत्पादकपङ्कजरजःश्रयणान्न दैत्या (८ । ९ । २८) । समुद्रमन्थनमें अमृत देवताओंको मिला । दैत्यो को नहीं, दैत्योंको तो मद्य मिला । पुराणोंकी निर्दोषिता विषयमें हमारे कुछ लेख गत-पुष्पोंमें प्रकाशित हो चुके हैं, कु अग्रिम-पुष्पोंमें दिये जाएंगे, कुछ अब दे रहे हैं । पुराणोंमें ऋषि मुनि तथा देवताओंका चरित्र है, अन्य जनोंका भी उनमें वर्ण

आता है। तो जिसका जैसा चरित्र था, वह पुराणोंमें लिख दिया गया था। तब इसमें पुराणोंका क्या दोष ?

इतिहासमें जिसका जैसा चरित्र हो, वैसा लिख देना उसकी सत्यता बताता है, असभ्यता नहीं। आपके ही स्वामीजीके चरित्र-ग्रन्थोंमें स्वामीजीके सिद्धान्तानुसार कई दोष भी दिखलाई देते हैं, तो क्या प्रतिपक्षी स्वामीजीके चरित्र-ग्रन्थोंको त्याज्य मान लेंगे ? दिङ्मात्र उद्धरण देखिये— 'कई वार भङ्ग-के प्रभावसे स्वामीजी अचेत हो जाया करते थे' (श्रीमद्दयानन्द-प्रकाश, ४१ पृष्ठ), 'उन दिनों स्वामीजी भालपर विभूति रमाया करते थे। गलेमें रुद्राक्षकी एक माला होती थी', (पृ० ५३), 'स्वामीजीके हाथसे रुद्राक्षकी मालाएँ वितरण कराई गईं'। 'राजकीय हाथियों और घोड़ोंके गलेमें रुद्राक्षकी मालाएँ पड़ गईं' (पृ० ७४-७५)। 'स्वामीजी हुलास लिया करते थे, इस-लिए हुलासकी एक डिबिया और चवाने का कुछ तम्बाकू उनके पास पड़ा था' (पृ० १९२), 'उन दिनों स्वामीजी हुक्का पिया करते थे' (पृ० २७४) इत्यादि। ये सब स्वामीजीकी मूषक द्वारा 'बोध-प्राप्ति' के बादकी बातें हैं। तब क्या प्रतिपक्षी स्वामीजीके चरित्र बतानेवाले एतदादिक ग्रन्थोंको त्याज्य मान लेंगे ? महाशय ! आप एतद्विषयक भ्रमको हटा लीजिये। इतिहासमें जैसे का तैसा वर्णन कर देना उसकी सत्यता होती है, असभ्यता नहीं।

पुराणोंमें जिनके जैसे चरित्र थे, उनको वैसे ही लिख दिया गया है ! इसमें पुराणोंकी सत्यता ही है। पुराणोंमें स्वार्थ-प्रवीण, अधार्मिक, छद्मधन दुर्योधनका भी चरित्र है, उससे विरुद्ध परोपकारपरायण, पूर्ण-धार्मिक गविष्ठिर-युधिष्ठिरका भी वर्णन है। उन्हीं पुराणोंमें परमात्माके भक्त दैत्य प्रह्लादका भी

चरित्र है, नास्तिक हिरण्यकशिपु वेन आदिकोंका भी चरित्र है। पितृभक्त गोब्राह्मण-प्रतिपालक रामचन्द्रका भी उनमें वर्णन है और पिताको कारागारमें डालनेवाले, गोब्राह्मणघातक कंसका भी। इन्हीं पुराणोंमें कुम्भकर्ण जैसे खूब मद्य-मांस सेवन करने-वाले पुरुषोंका भी चरित्र बतलाया गया है, वहीं वाताम्बुपर्णा-शन मुनियोंका भी वर्णन है। ध्रुवसदृश बालक-भक्तोंका भी वर्णन है, पहली अवस्थामें कुकर्मी 'असमञ्जस' आदिका भी चरित्र है। उन्हीं पुराणोंमें एकपत्नीवालोंका वर्णन भी है, अनेक पत्नीवालोंका भी।

जिन पुराणोंमें नल, युधिष्ठिर आदिकों की धार्मिकता तथा वीरता दिखलाई गई है, वहीं उनके दौर्बल्यके फलस्वरूप द्यूतक्रीड़ा आदि व्यसन भी दिखाये गये हैं। जहां ब्राह्मणको ही सर्वश्रेष्ठ दिखाया गया है, वहीं अवीतवेद, कुकर्मा ब्राह्मण रावणका क्षत्रिय राम द्वारा वध भी तो दिखाया गया है। यदि नल, युधिष्ठिर आदिका कोई भक्त उनके दोष द्यूतक्रीड़ा आदिको प्रक्षिप्त मानकर उन्हें उसमें से निकाल दे, तो भावी सन्तानें द्यूतकी हानिके ज्ञानसे वञ्चित हो जायं।

हां, यदि पुराणोंमें 'युधिष्ठिर'का द्यूत खेलनेका इतिहास दिखलाकर उपक्रम तथा उपसंहारमें भी जुआ खेलनेका उपदेश दिया जाता, तब तो पुराणोंकी अग्राह्यता हो सकती थी, पर आप वैसा कहीं दिखा नहीं सकते। 'न्यायदर्शन' के (४।१।६२ सूत्र के) भाष्यमें कहा है–"लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य, लोकव्यव-हारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः"। तब जब लोकव्यवहार की व्यवस्था करना धर्मशास्त्रके अधीन बताया गया है। जब "श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते। तत्र श्रौतं प्रमाणं तु द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा" (१।४) इस 'व्यासस्मृति' के वचना-

नुसार पुराणका कोई आचरण श्रुति-स्मृतिसे विरुद्ध होनेपर अनुसृत कर लेना नहीं कहा गया, तब पुराणोंपर आक्रमण क्यों ? जैसा जिसका इतिहास था, वैसा उसमें लिख दिया गया, तब पुराणका इसमें क्या दोष ?

आप जो कई देवता आदिकोंका पुराणोंसे कामी हो जाना सिद्ध करते हैं, वह तो वेद भी कहता है। देखिये-"कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः। ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महान् तस्मै ते काम ! नम इत् कृणोमि" (अथर्ववेद सं. ६।२।१६)। तब तो पुराणने वेदके इस सूत्रका उदाहरण-प्रत्युदाहरणादि-द्वारा भाष्य कर दिया। तो इससे पुराण वेद-विरुद्ध क्यों हुए ? वास्तवमें पुराण वेदकी व्याख्या हैं। जैसे व्याख्यामें मूल विषयके उदाहरण एवं प्रत्युदाहरण दिये जाते हैं, वैसे ही पुराणोंमें वैदिक सिद्धान्तोंके कई उदाहरण तथा कई प्रत्युदाहरण दिखाये गये हैं। उनके उत्सर्ग भी दिखाये गये हैं। क्वाचित्क अपवाद भी। तब इससे पुराण अग्राह्य कैसे हो जायंगे ? हां, आप उस अग्राह्य चरित्रका अवलम्बन मत करें। स्वा.द. जीके जीवनचरित्रमें उनकी आरम्भमें मूर्तिपूजा भी दिखाई गई है, क्या आप उस इतिहासमें लिखे होनेसे उसे आरम्भमें अनुसरणीय मान लेंगे ?

वास्तवमें देवता तथा अवतार विधि-निषेधकोटिसे बहिर्भूत होते हैं। आप लोग उनमें जो दोष लगाते हैं, वे उनमें नहीं लग सकते। आप उनपर दोष मानुष दृष्टिकोणसे लगाते हैं, पर वे मनुष्यसे भिन्न योनि हैं। मनुष्य कर्मयोनि है और देवता भोगि-योनि। वे तो यहां के कर्मफलका वहाँ भोग करने गये हैं। वे चाहे हमारी दृष्टिमें अच्छे कर्म करें, चाहे बुरे, फिर उन्हें "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" (गीता ९।२०) यहीं (मनुष्य-

लोकमें) जन्म लेना है। जिस प्रकार पशु भोगयोनि होनेसे चाहे पाप करे या पुण्य, उसे कर्मका फल परलोकमें नहीं मिलता किन्तु वह अपनी अवधि बीत जानेपर स्वयमेव मनुष्यलोकमें आ जाया करता है, वैसे देवताओंके विषयमें भी समझना चाहिए।

'आपस्तम्बधर्मसूत्र' ने आपके देवताओं पर लगाये दोषका उत्तर दे दिया है। उसे देखिये, फिर आपको एतद्विषयक शङ्काएं न सतायेंगी। वह यह है—"दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च पूर्वेषाम्" (२।१३।७) अर्थात् प्राचीनजनों द्वारा धर्म (लोक-वेदानुसारी नियमों) का अतिक्रमण भी देखा गया है। फिर कहते हैं —"तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते" (२।१३।८) अर्थात् उनमें इस तरहका तेज हुआ करता है, जिससे उनका धर्मव्यतिक्रमण प्रत्यवायजनक नहीं होता। हो गया न आपका समाधान ? फिर तो आप कहेंगे कि हमें भी ऐसी आज्ञा मिल जाय। तब उस पर सूत्रकार कहते हैं—"तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरः" (२।१३।९) अर्थात् आप ऐसा करते हुए हानि उठा बैठेंगे। इसीकी स्पष्टता 'श्रीमद्भागवतपुराण' कारने भी की है। सुनिये-"धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्। तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो तथा ।। नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः। विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ।। ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्। तेषां यत् स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्" (१०।३३।३०-३१-३२) इसका आशय भी पूर्व जैसा है।

इस प्रकार प्रतिपक्षीके सब आक्षेपोंका समाधान हो गया। तब उसके आक्षेपोंका पृथक् उत्तर देना व्यर्थ है। तथापि उसे मन में न रहे कि हमारे आक्षेपोंका पृथक् उत्तर नहीं दिया गया, अ

कुछ लिखते हैं। लिखनेसे पूर्व पाठकोंको यह सूचना देना आवश्यक है कि प्राय: हमने सभी आर्यसमाजियोंको प्रकृति देखी है कि वे आक्षिप्त-स्थलको तो लिख दिया करते हैं, पर उसका पूर्वापर-प्रकरण छिपा लेते हैं। उस आक्षेपका उत्तर उसी पूर्वापर प्रकरणमें विद्यमान होता है। पर इन लोगोंको इससे क्या ? इन्हें तो इससे भोले-भाले लोगोंको ठगकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना है। इस प्रकृतिसे श्रीदेवानन्दजी भी नहीं बच सके। कहीं उन्होंने पति-पत्नीकी प्राइवेट बातचीत भी दे दी है। कहीं वे दैत्यपक्षके हो गये हैं अर्थात् दैत्यपक्षको विना ननु-नच किये उन्होंने मान लिया है, वास्तविकता ढूंढ़नेका थोड़ासा भी प्रयास नहीं किया। यह सब कुछ पाठक उनके लेखमें देखेंगे।—

(१) पहला प्रसङ्ग उन्होंने श्रीकृष्ण और राधाका दिया है। "हे कृष्ण ! वृजाकान्त गच्छ मत्पुरतो हरे ! कथं दुनोषि मां लोल ! रतिचौरातिलम्पट ! शीघ्रं पद्मावतीं गच्छ रत्नमालां मनोरमाम्। अथवा वनमालां वा रूपेणाप्रतिमां व्रज" (६०), "हे नदीकान्त देवेश !" इत्यादि। ये पद्य संन्यासीजीने 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' 'कृष्णजन्मखण्ड' के ३ रे अध्यायसे दिये हैं। अर्थ भी उनका दिया है, पर उन्होंनें यह नहीं वताया कि इसमें आक्षेप-योग्य बात क्या है ! अथवा वेदविरोध क्या है ? संन्यासी होनेसे, सम्भव है, उन्हें स्त्री-सम्बन्धी प्रकृतिका ज्ञान न हो, इसका विस्तीर्ण उत्तर हम 'आलोक' के छठे पुष्पमें दे चुके हैं, वे उसको मंगा लें। उसके ५८२ से ५९३ पृष्ठतक देखें।

(२) आगे आप 'श्रीकृष्ण और कुब्जा' का द्वितीय प्रसङ्ग उपस्थित करते हैं—"साक्षाज्जारश्च गोपीनां दुष्ट: परमलम्पट:। आगत्य मथुरां कुब्जां जघान मैथुनेन च ॥" (ब्रह्मवै ४। ११५। ६१-६२)। इसका अर्थ आप नमक-मिर्च लगाकर करते

हैं—"कृष्णजी गोपियोंके साक्षात् यार, दुष्ट, लबार तथा लम्पट थे। उन्होंने मथुरामें आकर कुब्जाको मैथुनसे ही मार डाला।" पर इसमें आक्षेपयोग्य बात ही क्या है ? यह हम नहीं समझ सके। ये वाक्य वहां पर बाणासुर दैत्यके हैं। वह श्रीकृष्णका विरोधी था। विरोधी क्या-क्या कुवाच्य नहीं कह सकता ? आपके श्रीस्वामीजी पुराणोंके विरोधी थे। उन्होंने पुराणोंके प्रणेताकेलिए, देखिये, कैसे कुवाच्य शब्द लिखे हैं—'इन भागवतादि पुराणोंके बनानेवाले क्यों नहीं गर्भमें ही नष्ट हो गये, वा जन्मते समय मर क्यों न गये ? वाह रे वाह भागवतके बनानेवाले लाल-बुझक्कड़ ! क्या कहना तुमको। ऐसी-ऐसी मिथ्या बातें लिखनेसे तनिक भी लज्जा और शरम न आयी, निपट अन्धा ही बन गया' (स०प्र०, पृ० २११)। अस्तु।

उक्त वाक्य उसी बाणासुर दैत्यका है। तब क्या आप भी दैत्यपक्षीय है कि उसके कथन पर विश्वास कर लिया। इस विषयमें अधिक विवेचना छठे पुष्प (६०७ से ६०८ पृष्ठ तक) में देखें।

(३) अब आप तीसरा प्रसङ्ग उपस्थित करते है—"गोपाल: कामिनीजारश्चोरजारशिखामणि:" (गोपालसहस्रनाम) अर्थात् कृष्णजी स्त्रियोंके यार, चोर और जारों के सरदार हैं"। आप छिद्रदर्शनप्रिय तो हैं, पर जरा विचार नहीं करते। यह बतायें कि 'ब्रह्मवैवर्त' या 'गोपालसहस्रनाम' में जो कृष्णका वर्णन किया गया हैं, वह उसे भगवान् मानकर है या मनुष्य मानकर ? 'मनुष्य मानकर' यह आप त्रिकालमें भी सिद्ध नहीं कर सकते। हमारे प्राचीन लोग मनुष्योपासक नहीं थे, भगवान्के उपासक थे। तब हारकर अन्तमें आपको श्रीकृष्ण-भगवान्को परमात्मा मानना पड़ेगा। तब परमात्मा भला लौकिक बन्धनमें कैसे आ

सकता है ? आप वेद तो मानते ही हैं न, यह भी जानते ही है कि आप लोगोंके सिद्धान्तानुसार "इन्द्र मित्रं" इस मन्त्रके कहे प्रकारसे वेदमे परमात्माको इन्द्ररूपमें वर्णन किया गया है। उसी इन्द्रकेलिए वेदमें "जारमिन्द्रम्" (ऋ० १०। ४२। २) इस प्रकार 'जार' शब्द आया है। तब परमात्मा श्रीकृष्णको भी यदि यहां 'जार' कहा गया है, तो कोई वेदविरोध नहीं। इस विषयमें अधिक विचार 'छठे पुष्प' (पृष्ठ ५२६ से ५३३ पृष्ठ तक) में देखें !

(४) 'ब्रह्मवैवर्त' के आपके आक्षेप समाप्त हो गये। अब आप 'भविष्यपुराण' लेते हैं। आपने उसके प्रतिसर्गपर्व से (४। १७। ७०-७५)पद्य उद्धृतकर अनसूया तथा ब्रह्मा, विष्णु, महादेवका उससे अनुचित व्यवहार बताया हैं—इस पर भी सुनिये।

आपसे लिखित अत्रि एवं अनसूया तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी कथासे सूचित होता है कि कभी अत्रि ऋषि अनसूयाके साथ भारी तपस्या कर रहे थे। उस समय त्रिदेव उन दोनोंकी परीक्षा लेने गये। वे अपने वाहनों पर चढ़े थे। अत्रिके पास जाकर उसे वर मांगनेको कहा। परन्तु निष्काम अत्रिने कुछ न मांगा। ये पद्य आपने छोड़ दिये हैं—"कदाचिद् भगवान् अत्रि-गंङ्गाकूलेऽनसूयया। सार्धं तपो महत् कुर्वन् ब्रह्मध्यानपरोऽभ-वत् ॥ तदा ब्रह्मा हरिः शम्भुः स्वस्ववाहनमास्थिताः। वरं ब्रूहीति वचनं तमाहुस्ते सनातनाः ॥ इति श्रुत्वा वचस्तेषां स्वयम्भूतनयो मुनिः। नैव किञ्चिद् वचः प्राह संस्थितः परमा-त्मनि ॥" (भवि०प्रति० ४। १७। ६७-६९) ये पद्य पाठकोंने देख लिये। अत्रिकी परीक्षा समाप्त हो गई। अब उन तीन देवोंने अनसूयाकी परीक्षा लेनी चाही, जैसे कि अग्रिम पद्य हैं—

"तस्य भावं समालोच्य त्रयो देवाः सनातनाः। अनसूयां तस्य पत्नीं समागम्य वचोऽब्रुवन् ॥" (७०) यह पद्य श्रीदेवानन्दजीने लिखा है—'उसके भावको देखकर सनातनधर्मके तीनों देवता उसकी पत्नी अनसूयाको यह बात कहने लगे'। "उसके भावको देखकर" शब्दसे ही सिद्ध हो गया कि वे परीक्षाकेलिए गये थे। अत्रिका भाव तो उन्होंने देख लिया कि ये पूरे निष्काम हैं। अब उनकी स्त्रीकी पातिव्रत-परीक्षा भी करनी थी। उसके पास गये। परीक्षाके लिए स्वाभाविक होता है कि ऐसे व्यवहार किये जायं, जिनसे पता लग जाय कि यह अपने व्रतसे चलित होता है या नहीं ?

मान लीजिये कि किसी स्वामिभक्त कहे जानेवाले भृत्यकी परीक्षा लेनी है, तो उसे तरह-तरहके प्रलोभन दिखलाने पड़ते हैं कि 'देख, अमुक राजा तुम्हें अपना वज़ीर बनानेकेलिए तैयार है; यदि तू अपने वर्तमान स्वामीको विष दे दे, या उसका भेद बता दे।' जैसे रघुवंशमें नन्दिनी गायने दिलीपकी परीक्षा की 'भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः (२। २६)। इसी प्रकार किसी पुरुषके संयमकी परीक्षा करनी हो, तो उसके पास किसी ऐसी स्त्रीको भेजा जाता है, जो काम-चेष्टा करके उसके चित्तको लुभाये। इसी तरह किसी स्त्रीकी, जो पतिव्रता कही जाती हो, परीक्षाकेलिए पुरुषको जाकर ऐसा व्यवहार करना पड़ता हैं, जिससे वह अपने व्रतसे च्युत हो जाय। उस समय जो भृत्य स्वामिभक्तिसे च्युत न होगा, जो पुरुष उस स्त्रीको डांटकर भगा देगा, जो स्त्री उस पुरुषको तर्ज्जितकर उसकी बात सुनी-अनसुनी कर देगी, वही भृत्य स्वामिभक्त, वही पुरुष संयमी और वही स्त्री पतिव्रता सिद्ध हो जायगी, यह इनकी परीक्षाका परिणाम होगा।

यही बात यहां पर भी है, अत्रि मुनिकी परीक्षा की गई। उन्हें वर मांगनेका लोभ दिया गया। त्रिदेव उसे सब कुछ दे डालना चाहते हैं, परन्तु निष्काम कर्मयोगका पुजारी न आँखें खोलता है, और न कुछ मुखसे बोलता ही है, प्रत्युत "मा फलेषु कदाचन" इस परीक्षाको पूरी कर देता है। वह पूर्ण निष्काम सिद्ध हो गया। वरका लोभ देने पर भी अडिग बना रहा। अब उसकी स्त्रीके संयमकी परीक्षाके लिए वे देव गये। उसीके लिए आगे लिखा है, जिन श्लोकोंको संन्यासीजीने बड़े प्रेमसे उद्धृत किया है–'लिङ्गहस्तः स्वयं रुद्रो विष्णुस्तद्रसवर्द्धनः। ब्रह्मा कामब्रह्म-लोपः स्थितस्तस्या वशं गतः ॥ रतिं देहि मदाघूर्णे नो चेत् प्राणांस्त्यजाम्यहम् ॥" (७१)पातिव्रतकी परीक्षाके लिए अनुचित छेड़-छाड़ एवं व्यभिचारियों–जैसे वाक्य कहना अनिवार्य है; नहीं तो परीक्षा कैसी ? सब कहने सुनने पर भी यदि कोई स्त्री अपने संयमधर्मसे नष्ट न हो, तो वह 'पतिव्रता' कहला सकती है। तभी उसका तप भी पूर्ण कहा जा सकता है।

व्यभिचारियों–जैसा अभिनय किये बिना पातिव्रतकी परीक्षा ली ही नहीं जा सकती। श्रीसंन्यासीजीको ही किसी पतिव्रता आर्यसमाजिन स्त्रीकी परीक्षाकेलिए नियुक्त किया जाय, उन को भी वैसा व्यवहार करना अनिवार्य होगा। अस्तु। अनसूया पर उनकी इन कृत्रिम बातोंका कोई प्रभाव न पड़ा। उसे क्रोध तो हुआ, पर देवताओंके सामर्थ्यका खयाल करके उस क्रोधको पचा गई। वह पद्य यह है, जिसे संन्यासीजीने नहीं लिखा— "पतिव्रताऽनसूया च श्रुत्वा तेषां वचोऽशुभम्। नैव किञ्चिद् वचः प्राह कोपभीता सुरान् प्रति ॥" (७२)। अब परीक्षकोंको आगे बढ़ना था; अन्तिम परीक्षा करनी शेष थी। उसीके लिए लिखा है–"मोहितास्तत्र ते देवा गृहीत्वा तां बलात् तदा। मैथुनाय

समुद्योगं चक्रुर्मायाविमोहिताः ॥" (७३) अर्थात् वे मैथुन करने का उद्योग दिखाने लगे। तब अनसूयाको क्रोध हुआ और शाप दिया कि "तदा क्रुद्धा सती वै सा तान् शशाप मुनिप्रिया। मम पुत्रा भविष्यन्ति यूयं कामविमोहिताः ॥" (७४) अर्थात् तुम मेरे पुत्र बनोगे। "महादेवस्य वै लिङ्गं ब्रह्मणोऽस्य महाशिरः। चरणौ वासुदेवस्य पूजनीया नरैः सदा ॥" अर्थात् तुम लोगोंके लिङ्ग, शिर तथा चरण पूजे जायंगे। अन्तिम पाद–"भविष्यन्ति सुर-श्रेष्ठा! उपहासोऽयमुत्तमः" का 'और देवताओं द्वारा तुम्हारा उपहास होगा' यह श्रीदेवानन्दकृत अर्थ तो अशुद्ध ही है।

यद्यपि यहां पर पातिव्रतपरीक्षामें अनसूया पास हो गयी, तथापि यदि क्रोधका आवेश बाहर तो बाहर रहा, मनमें भी न रखती, तब तो योगिजनोंसे भी, क्षमाशीलोंसे भी पूजनीय हो जाती, जैसे कि 'श्रीमद्भगवद्गीता' में कहा है— 'शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥" (५। २३)। अब वह (अनसूया) मध्यम रही, उत्तम न बन सकी। उत्तम दर्जा है भी कठिन। उसे अतिमानुष कहा जा सकता है ('साक्षाद् भर्गो नराकृतिः')। तथापि इस पातिव्रतके बलसे उन्हें अपने पुत्र बनने पर भी विवश कर लिया! वैसे भी वह उनसे उन–जैसा पुत्र मांगती। उस समय उसे गिड़-गिड़ाना पड़ता, परन्तु अब तो बिना गिड़गिड़ाये उसे अपना मनो-रथ प्राप्त हो गया। इस कथासे यह भी सिद्ध हो गया कि पति-व्रताका महान् देव भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते। तब यह कथा पातिव्रत-धर्मकी अनतिक्रमणीय-शक्तिका अर्थवाद सिद्ध हुई। अर्थवादमें शब्दार्थमें तात्पर्य नहीं लेना पड़ता, किन्तु स्वाभीप्सित अर्थमें ही। तब पातिव्रत्यके अर्थवादात्मक इस आख्यानमें कुछ भी आक्षेप्य न रहा। पर इन लोगोंको इससे क्या काम ? इन्हें तो

किसी प्रकार पुराणोंको दोषी ही ठहराना है ?

(५) अब आप 'पञ्चम प्रसंग' भी 'भविष्यपुराण'से उद्धृत करते हैं कि "या तु ज्ञानमयी नारी वृणेद् यं पुरुषं शुभम् । कोपि पुत्रः पिता भ्राता स च तस्याः पतिर्भवेत् ।। स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा विष्णुदेवः स्वमातरम् । भगिनीं भगवान् शम्भुर्गृहीत्वा श्रेष्ठतामगात् । इति श्रुत्वा वेदमयं वाक्यं चादितिसम्भवः । विवस्वान् भ्रातृजां संज्ञां गृहीत्वा श्रेष्ठवानभूत्' (प्रतिसर्ग० ४ । १८ । २६-२७-२८) । आप इनका अर्थ इस प्रकार करते हैं—'जो ज्ञानवाली स्त्री हो, वह चाहे किसी पुरुषको वर ले, चाहे उसका वह पुत्र लगता हो, चाहे पिता या भाई लगता हो, वही उसका पति बन जाता है । ब्रह्माने अपनी पुत्रीको, विष्णुने अपनी मांको तथा महादेवने अपनी बहनको पत्नीरूपसे ग्रहण करके श्रेष्ठताको प्राप्त किया । इस वेदानुकूल वाणीको सुनकर सूर्यने भी भतीजीसे विवाह करके श्रेष्ठता पाई' ।

हमें आर्यसमाजियोंके लिखे ट्रैक्टों, निबन्धों या लेखोंका उत्तर देते हुए अथवा उनसे समाचारपत्रादि में शास्त्रार्थ करते हुए पर्याप्त समय (३७ वर्ष) बीत चुका है । हमें उससे अनुभव हो गया है कि ये लोग या तो आक्षेप्य-स्थलका पता ही नहीं लिखते अथवा गलत लिख दिया करते हैं । पता लिखते भी हैं, तो प्रायः उसका पूर्वोत्तर प्रकरण छिपा लिया करते हैं । केवल उस पूर्वोत्तर प्रकरणको प्रकट कर दिया जाय, तो उनका वह आक्षेप समाप्त हो जाता है । इसलिए जब हम उनका कोई लिखा हुआ आक्षेप देखते हैं, तब घबराते नहीं, किन्तु निश्चय कर लेते हैं कि इन्होंने पूर्वोत्तर-प्रकरण अवश्य छिपाया होगा । जब उसका पूर्वोत्तर-प्रकरण देखते हैं, तब वही बात आंखोंके सामने आ जाती है । यहां पर भी वही घटना है ।

यहां संन्यासीजीने बताया है कि 'ब्रह्माने अपनी पुत्रीको, विष्णुने अपनी मांको तथा महादेवने अपनी बहनको पत्नी बनाया ।' अब संन्यासीजीसे यह पूछना है कि महाशयजी ! ब्रह्माने जिस पुत्रीको अपनी बनाया था, वह पुत्री ब्रह्माकी किस स्त्रीके गर्भसे पैदा हुई थी ? उसका नाम तो बताइये । विष्णुने अपनी मांको पत्नी बनाया, तो विष्णुके पिताजीका क्या नाम था, जिनकी पत्नीको उनके लड़के विष्णुने अपनी पत्नी बना लिया ? महादेवकी उस बहनका नाम तथा उसके पिताका नाम क्या था, जिसे उन्होंने पत्नी बनाया ? ऐसा पूछने पर उत्तरके समय प्रतिपक्षीके मुखमें मुहर लग जायगी । कहेंगे कि 'यह बात हमने थोड़े ही कही है, यह तो हमने पुराणकी बातका अनुवाद दिया है' । परन्तु पूर्वापर-प्रकरणके दर्शनके समय न मालूम-इनकी आंखोंके सामने अन्धेरा कैसे छा जाता है ? अब वही पूर्वापर प्रकरण हम दिखलाते हैं । वे पद्य ये हैं—

'चतुर्धा प्रकृतिर्देवी गुण-भिन्ना गुणैकिका । एकासा प्रकृतिर्माता गुणसाम्यात् सनातनी ।। सत्त्वभूता च भगिनी रजोभूता च गेहिनी । तमोभूता च सा कन्या तस्यै देव्यै नमो नमः ।। बहवः पुरुषा ये वै निर्गुणाश्चैकरूपिणः ।...ज्ञानवन्तश्च लोके प्रकृतिसम्भवाः ।।" (प्रतिसर्ग० ४ । १८ । २३-२५) । ये पद्य पहले थे, जिन्हें संन्यासी-महाशयने छिपाया है । इससे आगेके पद्य उन्होंने लिखे हैं । अब इन सबका आशय सुनिये, प्रकृति दो प्रकारकी है—एक 'गुणभिन्ना' दूसरी 'गुणैकिका' । 'गुणैकिका' प्रकृति वह होती है, जिसमें सब गुणोंका साम्य हो । उस प्रकृतिको पारिभाषिक रूपसे 'माता' कहा जाता है । 'गुणभिन्ना' प्रकृतिके तीन भेद हैं—पहली सात्त्विक-प्रकृतिको पारिभाषिक रूपसे 'भगिनी' कहा जाता है, दूसरी रासज-प्रकृतिको 'गेहिनी' और

तीसरी तामस प्रकृति को 'कन्या'।

इस चार प्रकारकी प्रकृतिसे चार प्रकारकी सृष्टि हुई। उनमें गुणोंकिका प्रकृतिसे निर्गुण तथा एकरूप जीव हुए। इसे वृक्षोंमें घटा लीजिये। सात्त्विक-प्रकृतिसे चेतन देवता आदि, राजस गुणभिन्न प्रकृतिसे अज्ञानी मनुष्य आदि और तामस प्रकृतिसे पापज पशु आदि हुए।

ज्ञानमयी देवी अर्थात् प्रकृति ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन देवोंमें जिसे भी वरण करना चाहे, चाहे वह उसका पुत्र, पिता या भाई हो, उसका वह पति हो जाता है। आशय यह है कि 'माता' प्रकृति जिसे ग्रहण करेगी, वह उसका पुत्र ही तो होगा। माता प्रकृति 'गुणसाम्यवाली' होती है; यह पूर्व ही बतालाया जा चुका है। इसे लिया विष्णुने, अर्थात् विष्णु गुणसाम्यवाली प्रकृतिके स्वामी हैं। यहां पुत्रका माताके साथ कल्पित-रूपसे विवाह कहा है। पुत्र इसीलिए तो कहा गया है कि वह उस मातृप्रकृतिसे उत्पन्न होता है। पत्नी इसलिए कहा जाता है कि इन देवोंने उस प्रकृतिको वरण भी किया। कन्या नामवाली प्रकृति जिसे अपनायेगी, वह उसका पिता ही तो होगा। उसे लिया ब्रह्माने। तमोभूता प्रकृतिको 'कन्या' कहा जाता है, यह पूर्व ही कहा जा चुका है। तामस-प्रकृतिको ब्रह्माने लिया अर्थात् वह उस प्रकृतिका स्वामी हैं; यह आशय निकला।

भगिनी प्रकृति जिसे ग्रहण करेगी, वह उसका भ्राता ही तो होगा। उस भगिनी-प्रकृतिको लिया शम्भुने। भगिनी प्रकृति की परिभाषा है 'सत्त्वभूता' प्रकृति। शिवने सात्त्विकी प्रकृति ली—यह भाव निकला। इन तीनों प्रकृतियोंको तीन देवोंने अपनी 'गेहिनी' बना लिया। गेहिनीकी परिभाषा है 'रजोभूत'-

प्रकृति। अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महादेवने अपनी-अपनी तमोभूत, गुणसाम्यभूत, सत्त्वभूत प्रकृतिको रजोगुणसे संयुक्त करके उसे सृष्टिरचनाके योग्य बनाया। जैसे घट जलादिरहित पृथिवीसे नहीं बनाया जा सकता; वैसे ही सत्त्व, तम इन एक-एक गुणवाली प्रकृतियोंके साथ जबतक रजोगुणको संयुक्त न किया जाय, तब तक सगुण सृष्टि नहीं बनाई जा सकती। इसीलिए 'साङ्ख्यकारिका' में कहा है—'चलं च रजः' (१३) 'रजोजुषे जन्मनि' (कादम्बरी) सत्त्वके लघु होनेसे, तमके गुरु होनेसे इनके साथ चलत्व मिलने पर ही स्पन्दन होता है, फिर सृष्टि होनी है। यही यहां पर रहस्य बतलाया गया है।

जिस तरह ब्रह्मा, विष्णु महादेवकी प्रकृतिको संज्ञा सुता, माता, भगिनी है, इसी तरह सूर्यकी प्रकृतिकी 'भ्रातृजा' यह संज्ञा है। पर इतिहास-रूपमें उसका वर्णन इस प्रकार किया कि सूर्यने 'भ्रातृजा-संज्ञा' ले ली। जैसे एक ही पुरुष सम्बन्धभेदसे किसीका पिता, भ्राता, पुत्र इत्यादि होता है, एक ही स्त्री सम्बन्धभेदसे किसीकी माता, भगिनी, पुत्री कही जाती है, वैसे एक ही देव उपाधिभेदसे ब्रह्मा आदि होता है। एक ही प्रकृति सत्त्वप्रधाना, रजःप्रधाना, तमःप्रधाना—इस उपाधिभेदसे तीन प्रकारकी हो जाती है। जैसे दयानन्द-शताब्दीके अवसरपर आर्यप्रतिनिधिसभा पञ्जाबसे प्रकाशित हुए 'वेदामृत' पुस्तकके ४०७ पृष्ठमें श्रीपाददामोदर सातवलेकरने वेदमें कहीं जीव-प्रकृति को भगिनी-भ्राता दिखलाया है, कहीं पति-पत्नी और कहीं माता-पुत्र दिखलाया है। जिस प्रकार वहाँ दोष नहीं, वैसे यहाँ पर भी जानना चाहिए।

फलतः यहां कोई आक्षेपार्ह बात नहीं। परन्तु प्रतिपक्षियोंको तो पुराणोंके छिद्र ही देखने हैं। वेदमयी वाणी भी उन्हें 'छिद्र'

प्रतीत होती है, इसका कारण है 'छिद्रोपासना'। संन्यासीजीको 'छिद्रोपासना' उचित नहीं। जब वे उस उपासनाको छोड़ेंगे, तब उन्हें 'छिद्र' दिखलाई न पड़ेंगे। इसीलिए प्रसिद्ध है—"न चात्रातीव कर्त्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः। दोषो ह्यविद्यमानोपि तच्चित्तानां प्रकाशते"॥ भविष्यपुराणके उक्त पद्योंमें उक्त वाक्यको 'वेदमय वाक्य' कहा है। वेदमयका यह आशय है कि जैसे वेदके शब्द परोक्षवृत्ति तथा अतिपरोक्षवृत्ति हुआ करते है, वैसे ही यहां भी सुता, भगिनी, माता, गेहिनी आदि शब्द भी अतिपरोक्षवृत्तिक है, साधारण अर्थके प्रतिपादक नहीं।

(६) छठा प्रसङ्ग प्रतिपक्षी द्वारा शारदा और ब्रह्माका उपस्थापित किया जाता है—'ब्रह्माके मुखसे शारदा नाम पुत्री पैदा हुई। ब्रह्माजी उसे देख कामातुर हो गये, कहने लगे—मुझ कामाकुलकी रक्षा कर। यह सुनकर वह माताके रूपमें बोली—यह तुम्हारा पांचवां मुख तुम्हारे कन्धे पर योग्य नहीं है।' यह कथा संन्यासी-महाशयने भविष्यपुराणके प्रतिसर्गपर्व ३। २३। २-३-४ सङ्केतसे दी है; परन्तु हमें वहां नहीं मिली। परन्तु इस प्रकारका वर्णन पुराणोंमें बहुत स्थलों में आया है, उसका समाधान भी। वेदमें भी उसका आनुकूल्य दिखाई पड़ता है, जैसे कि 'प्रजापतिः स्वां दुहितरमधिष्कन्' (ऋ० १०। ६१। ७), 'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' (अथर्व० ९। १०। १२)। जो अर्थ यहां आप करेंगे, वैसे ही यहां भी करें। यदि उक्त मन्त्रोंमें आलङ्कारिकता अथवा अन्य अर्थ हैं, तो यहां भी वैसे जानिये।

यहां पर 'मत्स्यपुराण' का दिया उत्तर भी सुन लीजिये—'दिव्येयमादिसृष्टिस्तु रजोगुणसमुद्भवा। अतीन्द्रियेन्द्रिया तद्वदतीन्द्रियशरीरिका।(४।३) दिव्यतेजोमयीभूय दिव्या ज्ञानसमुद्भवा। न मर्त्यैरभितः शक्या वक्तुं वै मांस (चर्म) चक्षुभिः' (४।४)। यथा भुजङ्गाः सर्पाणामाकाशं विश्वपक्षिणाम्। विदन्ति मार्गं दिव्यानां दिव्या एव न मानवाः॥' (५)। "कार्याऽकार्ये न देवानां शुभाऽशुभफलप्रदे। यस्मात् तस्मान्न राजेन्द्र! तद्विचारो नृणां शुभः" (९-१०)। उत्तरका यह अभिप्राय है कि आरम्भ में रजोगुणके योगसे हुई सृष्टि दिव्य होती है। उस सृष्टिके सन्तानोंके शरीरेन्द्रिय मनुष्यके शरीरेन्द्रियोंकी भांति स्थूल नहीं होते। इसी 'मत्स्यपुराण'के पञ्चमाध्यायका दूसरा पद्य यह है—"सङ्कल्पाद् दर्शनात् स्पर्शात् पूर्वेषां सृष्टिरुच्यते। दक्षात् प्राचेतसादूर्ध्वं सृष्टिर्मैथुनसम्भवा॥" अर्थात् दक्षसे पूर्वकी सृष्टि दर्शन, स्पर्शन, सङ्कल्प आदिसे हो जाया करती थी। उसके बाद ही मैथुनी सृष्टि आरम्भ हुई। इस प्रकार ब्रह्मा-सावित्रीसे उत्पन्न सृष्टिके भी दिव्य तेजवाली होनेसे उनकी व्यवस्था चर्मचक्षुवाले नहीं कर सकते। इसीलिए संन्यासीजीके दिये 'भविष्यपुराण'के प्रमाणमें भी ब्रह्माके मुखसे शारदाकी उत्पत्ति कही गई है, ब्रह्मा वा उनकी स्त्रीके मैथुनसे नहीं। यदि कहीं ब्रह्मा वा शारदाका मैथुन भी कहा हो, तो भी वह सृष्टिके आदि में मनुष्य-सदृश नहीं हो सकता। आठ प्रकारके मैथुनोंमें स्मरणात्मक मैथुन भी स्वीकृत किया गया हैं। इस प्रकार ब्रह्माका भी मैथुन मानस वा दर्शनमात्र हो सकता है। जैसे कोई आर्यसमाजी स्वप्नमें अपनी पुत्रीके साथ मैथुन करे, तब उसका यदि शुक्रस्राव भी हो जाय, तो क्या वह अपने-आपको पुत्रिकागमनसे पापवाला समझेगा? यदि नहीं, तब सृष्टिके आदिमें बनाई पुत्रीके साथभी ब्रह्माका सङ्कल्पमात्र भोग कैसे दुष्ट हो सकता है? किन्हींके मतमें सूर्य-उषाकी कथा ऐतिहासिकतारूपमें अति-परोक्षवृत्तिसे दिखलाई गई है। देखिये इस पर श्रीकुमारिल भट्ट तथा स्वामी दया. जीकी सम्मति। तब यहां लेशमात्र भी दोष सिद्ध न हुआ।

(७) सप्तम प्रसङ्ग 'शिवपुराण'से पार्वतीके विवाहमें ब्रह्मा का अनुचित व्यवहार दिखलाया गया है। वे पद्य ये हैं—'प्रदक्षिणां प्रकुर्वत्या वह्नेः सत्याः पदद्वयम्। आविर्बभूव वसनात् तद् अद्राक्षमहं मुने॥ (रुद्र० सती० १९। १७) मदनाविष्टचेताश्च भूत्वाङ्गानि व्यलोकयम्। १८। यथा यथाहं रम्याणि व्यैक्षमङ्गानि कौतुकात्। सत्या, बभूव संहृष्टः कामार्तो हि तथा तथा॥ १९॥" अर्थात् प्रदक्षिणा करते हुए सतीके दोनों पैर कपड़ेसे बाहर नङ्गे हो गये। वह मैं (ब्रह्मा)ने देख लिये। मैं कामसे व्याकुल होकर उसके और अङ्गोंको भी देखने लगा। "स्मराविष्टमनाः वक्त्रं द्रष्टुकामोऽभवं मुने। २०। न शम्भोर्लज्जया वक्त्रं प्रत्यक्षं च विलोकितम्। न च सा लज्जयाविष्टा करोति प्रकटं मुखम्। २१।' अर्थात् मैं (ब्रह्मा) उसके मुखको देखनेकी इच्छा करने लगा। पार्वती लज्जासे मुख नङ्गा न करती थी। तब मैंने गीली लकड़ियां यज्ञकुण्डमें डाल दीं, जिससे धुंआ, होनेसे महादेवने अपने नेत्र दोनों हाथोंसे ढँक लिये। फिर मैंने सतीके मुखका कपड़ा हटा कर देख लिया। 'ततो वस्त्रं समुत्क्षिप्य सतीवक्त्रमुखं मुने! अवैक्षं किल कामार्तः प्रहृष्टेनान्तरात्मना।२६। मुहुर्मुहुरहं तात! पश्यन्नासं सतीमुखम्। अथेन्द्रियविकारं च प्राप्तवानस्मि सोऽवशः" (१९। २७)। उससे मुझे इन्द्रियमें विकार हो गया और रेतःपात हो गया"। यही शिवपुराण धर्मसं० ६। ७४, ज्ञान संहिता १८। ६८ तथा पार्वती खण्ड ४९ अध्यायमें है। इसका उत्तर पुराणविषयकाक्षेप-परिहार में आगे (१२ वें प्रश्न में) देखिये।

(८) आठवें प्रसङ्गमें प्रतिपक्षीने 'इन्द्र-रम्भाका इतिहास' आक्षिप्त किया है। जब आप जानते हैं कि रम्भा अप्सरा है और इन्द्र उसका पति है, तब यदि इन्द्र उस पर मोहित हो

गया और उससे सङ्गत हुआ, तो इसमें क्या दोष है? यद्यपि रम्भा अब अन्य जन्म में थी, तथापि इन्द्र पूर्वजन्मके सम्बन्धसे उसमें आकृष्ट हो गया। परन्तु जन्मान्तर होनेसे वह सङ्गम रम्भाको उचित प्रतीत न हुआ। तब उसने योगविद्यासे उस शरीरको छोड़ दिया, जैसे कि प्रतिपक्षीसे दिये हुए पद्यमें ही कहा है—"सा च सम्भोगमात्रेण देहं तत्याज योगतः।" (ब्रह्मवै- ४। १४। ५१)। शेष है इन्द्रका दोष, तो देवता भी कामी हुआ करते हैं, यह वेद स्वीकार करता है, जैसा कि पहले मन्त्र उद्धृत कर चुके हैं। देवता भोगयोनि हुआ करते हैं, जैसे कि 'अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्' (गीता ९। २०) हम हैं कर्मयोनि। वे चाहे शुभ कर्म करें चाहे अशुभ, उसका उन्हें शुभाशुभ फल प्राप्त नहीं करना है, जैसे कि 'मत्स्यपुराण'में कहा है—"कार्याऽकार्ये न देवानां शुभाशुभफलदे। यस्मात्, तस्मान्न राजेन्द्र! तद्विचारो नृणां शुभैः॥" जलदेव वरुण किसीकी कृषि बढ़ायें, किसीकी नष्ट करें, इन्द्रदेव वृष्टिके द्वारा किसीको लाभ प्राप्त करायें या हानि, विष्णु सृष्टिको पालें, रुद्र प्रलय करें। इससे इन देवोंको पाप-पुण्य नहीं होता। उन्हें अपने पूर्वजन्मके पुण्यकी क्षीणतासे 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता ९। २१) फिर मृत्युलोक प्राप्त करना है, परन्तु हम कर्मयोनिवालोंको भोगयोनिवालोंके धर्मशास्त्रविरुद्ध आचरणोंका अनुसरण नहीं करना है। देवताओं की निष्पापतामें 'महाभारत'के व्याख्याता श्रीनीलकण्ठने १। २। ११३ पद्यकी व्याख्याके अवसरमें कहा है—'सर्वे सर्वात्मका देवा विरजोऽवयवा यतः। सर्वे एव समाः सर्वेऽनन्ता इति हि वेदगीः। न तेषां व्यभिचारोस्ति न चेत् सूर्ययमौ कथम्। पितापुत्रौ सतीं कुन्तीमुपेयातां सुरोत्तमौ। श्रूयते न हि वै देवान् पापं गच्छति सर्वथा। तस्माद् यज्ञैर्देवभावं प्रार्थयेत निरेनसम्॥"

(६) अन्तमें प्रतिपक्षीने 'गर्भघातक इन्द्र देवता' यह शीर्षक लिखकर उस समयका इतिहास अङ्कित किया है, जब कि इन्द्रने दितिके गर्भके ४६ भाग किये। यह भी कथा अर्थवाद है। इस-लिए वहां लिखा है—"तद्विज्ञाय महेन्द्रोऽपि लब्धच्छिद्रो महोद्यमी।" (उमासंहिता ५ अ० ३३। १२) यहां पर 'लब्ध-छिद्र' शब्द पर ध्यान देना चाहिए। अन्य इतिहासोंमें बताया गया है कि वह (दिति) सायङ्काल के समय सोयी थी। तो इस कथासे सूचित हुआ कि सायङ्काल में सोना हानिप्रद तथा अनु-चित है, जैसा कि दितिने क्षति उठायी।

इधर यह भी जानना चाहिए कि दिति मायाविनी थी, वह देवताओंकी वृद्धि नहीं चाहती थी, किन्तु उनका नाश चाहती थी। उसने इन्द्रके मरवानेके लिए ही अपने पति कश्यप-द्वारा गर्भ लिया था। तब 'मायाभिरिन्द्र! मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः' (ऋ० १। ११। ७), 'त्वं मायाभिः······मायिनम् अर्दयः' (ऋ० १०। १४७। २) 'मायिनं मायया अवधीः' (साम० ऐन्द्र० ४। ७। ४) इस वेदानुमोदित नीतिके कारण इन्द्रने मायासे उस स्त्रीको न मारकर उस गर्भको ही हानि पहुँचायी। वैदिक राजनीति इन्द्रके लिए स्पष्ट कहती है—'इन्द्र! जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियम्। मायया शाशदानाम्' (अथर्व० ८। ४। २४)। तो फिर वेद जब इन्द्रकेलिए मायाविनी यातुधान (दैत्य) स्त्रीके मारनेकी भी अभ्यनुज्ञा देता है, जब वेद शत्रुका सर्वात्मा से नाश चाहता है—'यो अस्मभ्यमरातीयाद् यश्च नो द्वेषते जनः। निन्दाद् यो अस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं भस्मसा कुरु' (शुल्कयजुः वा० सं ११। ८०) 'योस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः' (अ० ३। २७। १-६) इस प्रकार जब वेद शत्रुका शत्रु है, तब यहां वेदविरुद्धता कैसे हो सकती है? इधर

यद्यपि उसने गर्भका विदारण किया, फिर भी उसे गर्भघातक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गर्भका घात हुआ ही नहीं, बल्कि वहां एक ही जीवित गर्भके ४६ जीवित भेद हुए, जो मरुतोंके नामसे इन्द्रके सहायक हुए। तब यह कथा भी वेदप्रतिकूल सिद्ध न हुई। इस पर 'पुराणपरिचय'के सब आक्षेप समाहित हो गये।

हमने यहां संक्षेपसे बताया है। यदि इस प्रकारके लोग छिद्रान्वेषी न बनकर पौराणिक कथाओंके तात्पर्य जाननेमें ही लग जांय, तो उससे लोगोंका तथा अपना बहुत-सा लाभ कर सकते हैं। पुराण किसीको देवचरितके अनुसरणकेलिए नहीं कहते, फिर पुराणोंपर आपलोगोंके आक्षेप क्यों? कुछ अन्य लोगोंके पुराण-विषयक आक्षेपों पर भी अग्रिम निबन्धमें विचार किया जाता है।

---

४. पुराणादि-विषयक आक्षेपोंके परिहार

(उपक्रम)

नमोऽस्तु ते व्यास! विशाल-बुद्धे! फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र!
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥१॥
पुराणपूर्ण-चन्द्रेण श्रुति-ज्योत्स्ना प्रकाशिता।
हृतं चाज्ञानजं ध्वान्तं शङ्कौष्ण्यं चाप्यपाकृतम् ॥२॥

कई दयानन्दी-समाजके व्यक्ति अपनी समझके अनुसार पुराणोंके दोष निकालते रहते हैं। वे पुराणोंका पारायण भी केवल दोषान्वेषणार्थ ही करते हैं। पुराणोंके गुणोंको वा प्रकाश को न तो वे देखते हैं और न देखना चाहते हैं, और न उसे सकते हैं। वे 'तिमिरे हि कौशिकानां रूपं प्रतिपद्यते दृष्टिः, अतिरमणीये वपुषि व्रणमेव मक्षिका-निकरः, क्रमेलकः कण्टकजालं

मेव' इन पद्योंका अनुसरण करते हैं। कौशिक, मक्षिका, क्रमेलक आदिसे इनमें कुछ विचित्रता भी है। यहां उन्हें शुद्धचिह्न भी व्रण, प्रकाश भी अन्धकार, कोमल भी वस्तु उन्हें कण्टक मालूम होती है। यह उस मौलवीकी भांति हैं, जिसने 'मत पढ़ो निमाज़' यह वाक्य तो नमाज़ियोंके आगे रख दिया, पर 'जब हो नापाक' यह अगला वाक्य छिपा दिया। इनके आक्षेपोंका भी यही हाल है। यह भी समाजियोंके आगे पूर्वापरप्रकरणरहित पाठ रखकर उसपर आक्षेप कर देते हैं। इससे समाजी बड़े हर्षित होते हैं, और वे समझते हैं कि—इनका उत्तर कभी बन ही नहीं सकता। परन्तु यदि आक्षेप्य स्थलका पूर्वापर देख लिया जाय, तो उसका समाधान भी वहीं लिखा मिल जाता है। पर प्रतिपक्षियोंने यह बात थोड़े विचारनी है! इससे अपने समाजमें उन्हें यश भी प्राप्त हो जाता है, और अच्छा निर्वाह भी।

यह व्यक्ति क्षुद्र-पुस्तिकाएं निकालकर मकान गिराने वाले मज़दूरका काम करते हैं। मकान गिरानेमें भला क्या देरी लगती है? अपनी संस्थाका नाम 'वैदिक-साहित्य प्रकाशन संघ' रखकर भी वैदिक-साहित्य तो प्रकाशित नहीं करते; परन्तु पुराणोंका घोर खण्डन किया करते हैं। लोग भी वैदिक बातोंके दर्शनके लोभ से इनके षड्यन्त्रोंमें फंस जाते हैं। यह लोग वैदिकसाहित्य के मर्मज्ञ तो क्या, साधारण संस्कृतके भी परिनिष्ठित विद्वान् नहीं होते। प्रायः ग्रन्थोंके हिन्दी अनुवादोंको पढ़कर उन्हें यत्र-तत्र परिवर्तित करके अपने काम चलाया करते हैं। इनमें गाली-गलौज़ तथा कठोरशब्द कहनेकी प्रकृति ज़बर्दस्त है; उनके सम्प्रदायवाले चाहते भी यही हैं; और इससे प्रसन्न होते हैं।

यह सनातनधर्मियोंको 'पौराणिक' और अपने आपको 'वैदिक' कहते हैं यह इनकी भूल है। सनातनधर्मियोंका तो यह

मत है—'श्रुतिस्मृति-पुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते। तत्र श्रौतं प्रमाणं तु द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा' (व्यासस्मृति १।४) इससे सनातनधर्मी वेद, स्मृति तथा पुराण तीनोंको मानते हैं—यह प्रत्यक्ष है। तब उन्हें दयानन्दियोंका 'पौराणिक' कहना केवल द्वेषवश है। सनातनधर्मी तो यह कहते हैं कि—वेद, स्मृति तथा पुराणोंमें जहाँ विरोध दीखे, उनमें वेदको प्रथम-प्रमाण मानो। जहां स्मृति और पुराणोंमें विरोध मिले, वहां स्मृतिको प्रथम-प्रमाण मानो। अविरोधमें उन्हें तीनों प्रमाण हैं; तब उन्हें पौराणिक कहना गलत है।

न्यायदर्शनमें कहा है कि—वेद, धर्मशास्त्र तथा पुराण इनका मुख्य विषय भिन्न-भिन्न होता है। अपने-अपने विषयमें यह सभी प्रमाण हैं। केवल एकसे काम नहीं चलता। वेदका मुख्य विषय है यज्ञ, और पुराण-इतिहासका है लोक-वृत्त-प्रतिपादन, परन्तु लोक-व्यवहारकी व्यवस्था बताना यह धर्मशास्त्र (स्मृति) का विषय है। देखिये न्यायदर्शनके शब्द—

'विषय-व्यवस्थानाच्च यथाविषयं प्रामाण्यम्। अन्यो मन्त्र-ब्राह्मण (वेद) स्य विषयः, अन्यश्च इतिहास-पुराण-धर्मशास्त्राणाम्। यज्ञो मन्त्र-ब्राह्मणस्य (वेदस्य); **लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य, लोकव्यवहार-व्यवस्थापनं** च धर्मशास्त्रस्य विषयः। तत्रैकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यते—इति यथाविषयम् एतानि [मन्त्रब्राह्मणात्मकवेद-पुराणेतिहास-धर्मशास्त्राणि] प्रमाणानि इन्द्रियादिवद् इति' (४।१।६२) यहां श्रीवात्स्यायनमुनिने बताया है कि वेदोंका विषय यज्ञ है। यज्ञमें देवपूजा तथा देवसम्बन्धी सङ्गतिकरण, तथा देव-विषयक दान आदि आजानेसे बहुत व्यापक विषय आजाता है। अतः सबका सामान्यतया मूल इसमें देखना पड़ता है। पुराणोंका लोकका चरित्र बताना मुख्य विषय

है, लोकव्यवहारकी व्यवस्था करना तो मुख्यतया धर्मशास्त्रका विषय है। सो पुराणमें वर्णित जिस-किसीका भी आचरण धर्मशास्त्र वा वेदसे विरुद्ध हो; तो वह अनुकरणीय वा अनुसरणीय नहीं होता, केवल उससे कई सावधानताओंकी शिक्षा प्राप्त की जा सकती है। कितना स्पष्ट यह सनातनधर्मका प्रतिबिम्ब है; जिसे न समझकर प्रतिपक्षी रात-दिन पुराणोंके कोसनेमें ही लगे रहते हैं!

वहीं न्यायदर्शनकारने धर्मशास्त्रोंकी मुख्यता बताते हुए इन वेद, स्मृति एवं इतिहासपुराणादि सभीके प्रवक्ता भी समान बताये हैं। देखिये— 'अप्रामाण्ये च धर्मशास्त्रस्य प्राणभृतां व्यवहारलोपाद् लोकोच्छेदप्रसङ्गः'। 'द्रष्टृ-प्रवक्तृ-सामान्याच्च अप्रामाण्यानुपपत्तिः' 'य एव मन्त्र-ब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च, ते खलु इतिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य च [द्रष्टारः प्रवक्तारश्च]; ......तस्माद् यथाविषयमेतानि प्रमाणानि।' (४।१।६२) इस वचनको आर्यसमाजके अनुसन्धानविशारद श्रीभगवद्दत्तजी भी मानते हैं। इस प्रकारका जब सनातनधर्मियोंका मत है, तब उन्हें 'पौराणिक' कहना अपना अज्ञान प्रकाशित करना है। अथवा उन्हें 'पौराणिक' कहनेमें प्रतिपक्षियोंका यह भाव हो कि —'हम दयानन्दी तो अर्वाचीन हैं, संवत् १९३२ में स्वा. दयानन्दके लिङ्ग 'सत्यार्थप्रकाश'से उत्पन्न हुए हैं; और सनातनधर्मी हमसे पुराने हैं' तो अन्य बात है। स्वा.द.जी भी सनातनधर्मियोंको 'पोप' कहा करते थे। 'पोप' यह जिस (रोमन) भाषाका शब्द है, उसमें उसका अर्थ 'पिता' है; देखो स.प्र. (११स.पृ.१७५)। तो उन्होंने इससे यह सूचित किया कि—सनातनधर्मी हमारे पिता हैं; हम सनातनधर्मियोंसे उत्पन्न होकर उनसे विद्रोही बन गये। अस्तु। जो हो। श्रीवात्स्यायन पुराण-इतिहासको भी ब्राह्मणभागसे

समर्थित होनेसे प्रमाण मानते हैं देखिये—'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेन इतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते— ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यवदन्-इतिहास-पुराणं पञ्चमो वेदानां वेद इति, तस्माद् अप्रमाणमेतद्-अप्रामाण्यमिति' (४।१।६२) यहां पर इतिहास-पुराणको पञ्चमवेद कहकर कितनी प्रतिष्ठा की गई है। इससे पुराण-इतिहासको अप्रमाण बतानेवालेको ही अप्रमाण सिद्ध किया गया है।

यह लोग पुराणके कई हज़ार-श्लोकोंमें बड़ी कठिनतासे दो-चार श्लोकोंको निकालकर उनको पूर्वापरविरहित करके उन्हें अनुसन्धानसे हीन जनताके सामने रख देते हैं, इसलिए यह लोग उन श्लोकोंके स्थलनिर्देश भी प्रायः नहीं करते, जिससे इनका शीघ्रतासे 'पर्दाफ़ाश' न हो जाय। इससे साधारण-जनता भ्रांत हो जाती है। तब उन साधारण-जनोंके भ्रमके निराकरणार्थ हम उन आक्षेपोंके पते भी ढूंढ़कर तथा कुछ प्रतिपक्षियोंसे पूछकर जनताके सामने उनका समाधान तथा यथासम्भव उनकी वेदानुकूलता भी दिखलाएंगे। कुछ आक्षेपोंका समाधान हम 'आलोक'के गत छः पुष्पोंमें कर चुके हैं, पाठक उन पुष्पोंको मंगा लें। इनमें कुछ थोड़ेसे आक्षेप पुराने आर्यसमाजी श्री-तुलसीरामस्वामी—श्री लेखराम आदिके भी समाहित करके हम शेष आजकलके आर्यसमाजियोंके आक्षेपोंका समाधान देंगे। जो आक्षेप बच जाएंगे, उनका यथापूर्व अग्रिम-पुष्पोंमें समाधान किया जायगा। 'आलोक' पाठक इनका धैर्य एवं विचारसे मनन करें, और इस ग्रन्थमालाके शीघ्र प्रकाशन तथा प्रचारणमें सहयोग भी दें, जिससे प्रतिपक्षियोंका दुष्प्रचार रुके।

(फलित-ग्रन्थ पर आक्षेप)

(१) आक्षेप– 'फलित-ज्योतिष तो बहुधा गणितशास्त्र तथा पदार्थविद्याका विरोधी होनेसे त्याज्य ही है जैसे कि–जातकाभरणमें (चन्द्रनिर्याण)में 'पञ्चाशीतिर्भवेदायुर्वैशाखस्याद्यपक्षके। सार्पेऽष्टम्यां भृगोर्वारे निधनं पूर्वयामके' (६) यहां पर तुलाराशि-वाले पुरुषकी मृत्यु वैशाखके आद्य अर्थात् कृष्णपक्ष की अष्टमी आश्लेषानक्षत्रमें दिखलाई है। यह योग अशुद्ध है। वैशाखादिमासों-की पूर्णिमामें विशाखा आदि एकके अन्तरमें नक्षत्र हुआ करते हैं। वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन, चैत्रकी पूर्णिमामें क्रमसे विशाखा ज्येष्ठा, उत्तराषाढा, पूर्वा भाद्रपदा. अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा:, पुष्य, मघा, उत्तराफाल्गुनी, चित्रा यह नक्षत्र हुआ करते हैं। इसी आशयपर पाणिनिमुनिका सूत्र भी है— 'सास्मिन् पौर्ण-मासी' (४।२।२१)। कभी अन्तर होता भी है, तो एक-दो दिनका। इसी कारण वैशाख आदि नाम रखे गये हैं। अब इन फलितवालोंसे पूछना चाहिये कि–जब चैत्रकी पूर्णिमाको चित्रा हो; तो वैशाख कृष्णा ८ को अभिजित् वा श्रवण नक्षत्र होना चाहिये। अथवा–विशाखाकी पूर्णिमामें विशाखा होनेसे उसके २३ दिन पूर्व कृष्णपक्षमें उत्तराषाढा या श्रवण होना चाहिये; पर जातकाभरणके प्रणेताने वैशाखके आद्य (कृष्ण) पक्षकी अष्टमी-में सार्प (आश्लेषा) नक्षत्र लिखा है, जब इस प्रकारका अन्धेर नवीन कल्पित फलित-ग्रन्थोंमें उपस्थित है; तो भला इनके रचनेवालों-को पदार्थविद्या और गणित-ज्योतिष कहां आता था? और इनके मानने वाले पौराणिक दिन-दहाड़े अन्धकारमें क्यों नहीं जा रहे हैं?'(श्रीतुलसीराम स्वामी, 'भास्करप्रकाश' द्वितीयसमुल्लासमें)।

परिहार—इस खण्डन लिखनेमें आक्षेप्ताने अपनी एक ही

आंख लगाई मालूम होती है। उनने यहाँ आद्यपक्षसे कृष्णपक्ष लिया है; यह अज्ञान है। आद्य-पक्ष शुक्ल पक्ष ही हुआ करता है–यह स्वामीने नहीं जाना। वे पञ्चाङ्गका ही प्रमाण देखें —शुक्ल पक्षमें १ तिथिसे १५ तक अङ्क होते हैं, और कृष्णपक्षमें १ तिथि से ३० तक। इससे ही स्पष्ट हो रहा है कि–आद्यपक्ष १ से १५ तिथि तकके शुक्लपक्षमें रूढ़ है, और अपरपक्ष १ से ३० तिथि तकके कृष्णपक्षमें रूढ है। इसलिए नवसंवत्सरके आरम्भमें पहला पक्ष चैत्रका शुक्लपक्ष ही होता है। अमरकोषमें भी स्पष्ट लिखा है–'पक्षौ पूर्वाऽपरौ शुक्ल-कृष्णौ, मासस्तु तावुभौ' (१।७।१२) यहां शुक्लको पूर्व तथा कृष्णको अपरपक्ष बताया है।

इसी कारण लाट्यायन-श्रौतसूत्रमें 'उदगयन-पूर्वपक्ष-पुण्याह-सन्निपाते यज्ञकाल:' (८।१।१) इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए अग्निस्वामीने लिखा है–'पूर्वपक्ष:–मासस्य द्वौ पक्षौ, पूर्वश्च उत्तरश्च। पूर्वपक्षो ज्योत्स्न (शुक्ल) इत्यर्थः। इसी प्रकार 'उदगयन-पूर्वपक्ष-पुण्याहेषु दैवानि' (६।८।२३) इस 'मीमांसा-दर्शन'के सूत्रमें देवसम्बन्धी कार्योंकेलिए पूर्वपक्ष-शुक्लपक्ष स्वी-कृत किया गया है, क्योंकि–कृष्ण-पक्ष पितरोंका होता है, 'अपरपक्षे पित्र्याणि' (६।८।२५)। तब आक्षेप्ता स्वामीका पक्ष खण्डित हो गया। वैशाखकी पूर्णिमामें वे भी विशाखा नक्षत्र मानते ही हैं। उसीके ८ दिन पूर्व अष्टमीमें जातकाभरणसे कहा हुआ आश्लेषा नक्षत्र ठीक ही आ बैठा। विशाखाकी संख्या १६ है, आश्लेषाकी ९ है। तब अष्टमी-आश्लेषासे पूर्णिमा तक गिननेसे विशाखा ठीक आकर बैठता है। इस भांति प्रतिपक्षीके कहे दोष हट जानेसे फलित-ज्यौतिष सम्बन्धी आक्षेप हट गया।

(२) आक्षेप—(क) 'जातकाभरण'के 'भाद्रे मासेसिते पक्षे चतुर्थ्यां शनिवासरे। भरणीनामनक्षत्रे गृणन्ति मरणं नृणाम्'

इस पद्यमें भाद्रशुक्ला चतुर्थीमें भरणीनक्षत्र नहीं हो सकता। (ख) 'आश्विनस्य सिते पक्षे द्वितीयायां गुरौ दिने। कृत्तिकानाम-नक्षत्रे' जातकाभरणके इस पद्यमें भी आश्विन शुक्ला द्वितीयामें पूर्वगणनानुसार कृत्तिका नक्षत्र कभी नहीं आ सकता। (ग) चन्द्र-निर्णयके अनुसार सभी राशि वाले 'जातकाभरण'से कहे हुए दिनमें ही मरें, पर ऐसा नहीं हुआ करता' (श्रीछुट्टनलाल-स्वामी 'वेद-प्रकाश' (१०। ३ अङ्क पृ० ५८ में)

परिहार—अपने भ्राताकी पूर्व-भूल निकलने पर श्रीछुट्टन-लालजी 'जातकाभरण' की अन्य भूलें निकालते हैं। उनने उक्त पद्योंको या तो जान-बूझकर अशुद्ध लिखा है, वा कहीं छापेकी भूलसे उन्हें पाठ ही अशुद्ध मिला है। इससे ग्रन्थकारका दोष नहीं। (क) प्रथम श्लोकमें तो 'भाद्रे मास्यसिते पक्षे' यह पाठ है। इसपर सं० १९५१ में लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर प्रेसमें मुद्रित जात-काभरण देखें, वर्तमान संस्करणोंमें भी यही शुद्ध पाठ मिलता है। जहाँ 'भाद्रे मासेसिते पक्षे' यह पाठ हो, तो वहां इकट्ठा सन्धिवाला पाठ होनेसे, वहां 'मासे असिते' यह सन्धिच्छेद है। 'एङः पदान्तादति' (पा. ६। १। १०९)से पूर्वरूप हुआ है। पूर्वरूपमें 'ऽ' यह चिह्न अपाणिनीय है। आजकल यह स्पष्टता केलिए लिखा जाता है। सो वहां 'असितपक्ष'का अर्थ 'कृष्णपक्ष' होनेसे उसके सायंकालमें उक्त नक्षत्र सम्भव है। कई दक्षिणादि-देशोंमें हमारे भाद्रमासका नाम आश्विन भी होता है, इसके अतिरिक्त नक्षत्रमें दो-तीन दिनका अन्तर भी हो जाया करता है, इन सब बातोंको सोच लेना चाहिये।

(ख) दूसरे पद्यमें 'आश्विनस्यासिते पक्षे' यहां 'असिते पक्षे' ही पाठ मिलता है, जिसका अर्थ कृष्णपक्ष है। सो आश्विन कृष्णपक्षकी द्वितीयामें कृत्तिका नक्षत्र सम्भव है, एक-दो दिन-

का भेद तो हो ही जाता है। (ग) 'सब समान राशिवाले उस दिन मरें' इस आक्षेपपर जानना चाहिये कि—यह सामान्य-शास्त्र है, इसके अपवाद भी होते है; क्योंकि—एक ग्रहको दूसरा प्रबल ग्रह बाधित कर देता है। ग्रहोंका बलाबल विचार कर मारकेश-दशाका विवेचन करके तभी पूरा मृत्युदिन निर्णीत हो सकता है। व्याकरणकी भांति इसमें भी बाध्य-बाधकता हुआ करती है। सामान्यरूपसे तो यह ठीक ही बताया गया है।

(प्रियव्रत राजाके राज्यकी वर्षसंख्यापर आक्षेप)

(३) आक्षेप—'जगतीपतिः [प्रियव्रतः] जगतीमर्बुदानि एकादश परिवत्सराणां बुभुजे' (५। १। २९) भागवतपुराणके इस स्थलमें राजा प्रियव्रतका ११ अर्बुद (अरब) वर्ष राज्य बताया गया है। यह गपोड़ा है। जब कि सृष्टि भी एक कल्प ४ अरब ३२ करोड़ साल तक रहती है, उसके बाद प्रलय हो जाता है; तब उससे भी अधिक ११ अर्ब वर्ष तक प्रियव्रतका राज्य कैसे? इस प्रकार स्थालीपुलाक-न्यायसे सम्पूर्ण ही भागवत तथा अन्य पुराण विशेषकरके संख्याके विषयमें असत्य हैं।' (श्रीतुलसीराम स्वामी, 'वेदप्रकाश' पत्रमें)।

परिहार—(क) यहां भी प्रतिपक्षीकी अल्पश्रुतबुद्धिका अप-राध है, पुराणका नहीं। इसमें दो-तीन उत्तर हैं, प्रतिपक्षीको जो पसन्द आवे, उसे ही ग्रहण करे। उनमें पहला यह है कि-कल्प होता हैं ब्रह्माका एक दिन। उतनी ही ब्रह्माकी एक रात्रि हुआ करती है। उसमें मानुषसृष्टि तथा भूमण्डलका प्रलय हुआ करता है। परन्तु ब्रह्माकी रात्रिमें ब्रह्माका प्रलय नहीं हुआ कर-ता। ब्रह्माका प्रलय तो वैसे ३६००० अहोरात्रके पश्चात् अर्थात् ४,३२,००,००,००० × ३६००० = इनके गुणित वर्षोंके बाद होता है, इसपर 'आलोक'का पञ्चम पुष्प देखिये। तभी ब्रह्माजीके

१०० वर्षकी ग्रायु पूर्ण होती है। फलतः ब्रह्माकी रात्रिमें ब्रह्मा-का तथा दैवी सृष्टिका प्रलय नहीं होता, किन्तु मानुषी-सृष्टिका कुछ विलोप होता है। ऋषि-सृष्टि फिर भी बच जाती है। ब्रह्मा देव हैं; ग्रतः उनके प्रलयमें देवसृष्टिका कुछ प्रलय होता है, वह भी पूरा नहीं, क्योंकि—उस समय विष्णु तथा रुद्रकी सृष्टि रह जाती है। रुद्रके प्रलयके बाद महाप्रलय होता है।

जब ऐसा है, ग्रौर प्रियव्रत ग्रादि ब्रह्मा-देवताके वंशान्तर्गत थे; तब ३१ नील, १० खर्ब वर्षोंकी ग्रायु वाले ब्रह्माका (देखिये इस पर 'ग्रालोक'का पञ्चम पुष्प) वंश, कल्पके प्रलयमें कैसे नष्ट हो सकता है? तब कल्पसे ग्रधिक ११ ग्रर्बुद वर्षका राज्य उसका रह जावे, इसमें ग्रसम्भव कुछ भी नहीं। देखिये—प्रिय-व्रतका भ्राता उत्तानपाद था, यह श्रीमद्भागवत (४।१।६) में स्पष्ट है। उसी उत्तानपादका लड़का ध्रुव, जिसका चरित्र श्रीमद्भा: ८-१२ ग्रध्यायोंमें वर्णित है, वही ध्रुव ग्राकाशमण्डल-में ग्रब तक भी विराजमान है। भूमण्डलके कल्प-प्रलयमें भी वह रहेगा ही। जैसे ग्राजकल राकेटोंके द्वारा चन्द्र-भौम ग्रादि ग्रहोंके मण्डलमें पहुँचनेकी चेष्टामें वैज्ञानिक ग्राधिभौतिक यन्त्र-मयी तपस्या कर रहे हैं, वैसे ही हमारे पूर्वज ग्राध्यात्मिक तपो-बलसे ऊपरके लोकोंमें पहुँच जाया करते थे। वहां पर तपोबलसे पहुँचने वालों ग्रौर वहां पर रह जाने वालोंकी ग्रायु बहुत बड़ी रहती थी, उनकी तपोबलकी चमक फिर तारे रूपमें रहती थी। यही बात ग्रथर्ववेद-गोपथ-ब्राह्मणमें सूचित की गई है। इसी प्रकार यहांसे ध्रुव गये, वह ध्रुवलोक बन गया। सप्तर्षि यहांसे गये, तो सप्तर्षिलोक बन गया। उनका राज्य ग्रब तक भी वि-द्यमान है। इस प्रकार प्रियव्रतके राज्यके विषयमेंभी जान लेना चाहिये। इन देववंशियोंके ११ ग्रर्बुद वर्षके राज्यमें कोई ग्राश्च-

र्य नहीं। इससे ग्रधिक भी वर्ष लिखे रहते; तो यह सम्भव होता।

(ख) ग्रब दूसरा समाधान सुनिये। ग्राजकल जैसे ग्रार्यसमा-जियोंका पुराणोंको कलङ्कित करनेका महान् संरम्भ रहता है, वैसे श्रीतुलसीराम-स्वामी भी इसी दयानन्दी सम्प्रदायके सदस्य होनेसे ग्रपनी एक ग्रांखसे पुराणोंके दोष ढूंढनेमें लगे रहते थे। पर वे 'ग्रपनी भूल भी कोई इस विषयमें हो सकती है'—इस पर विचार नहीं करते थे। 'ग्रर्बुद'का उनने 'एक ग्रर्ब' ग्रर्थात् 'सौ करोड़' वर्ष ग्रर्थ समझ लिया। यह उनकी ग्रपनी भारी भूल है। 'ग्रर्बुद'का ग्रर्थ 'ग्रर्ब' नहीं, किन्तु 'दस करोड़' ग्रर्थ है। जैसे कि—लीलावती' में कहा है—

'एक-दश-शत-सहस्राऽयुत-लक्ष-प्रयुत-कोटयः क्रमशः। ग्रर्बुद-मब्जं खर्व-निखर्व-महापद्मशङ्कवस्तस्मात्' ।१। जलधिश्चान्त्यं मध्यं परार्धमिति दशगुणोत्तराः संज्ञाः। संख्यायाः स्थानानां व्यवहारार्थं कृताः पूर्वैः' (२) ग्रर्थात् एकसे दूसरा दसगुना होता है। इस क्रमसे संस्कृतमें १८ स्थान माने गये हैं। इनमें एकसे इकाई, दशसे दहाई (दश), शत-सौ, सहस्र-हजार, लक्ष-लाख, कोटि-करोड़, ग्रर्बुद-दश करोड़। ग्रब्ज-ग्रर्ब। खर्व-१०-ग्रर्ब। निखर्व-खर्व। महापद्म-दस खर्व। शङ्कु-नील। जलधि-दस नील। ग्रन्त्य-पद्म। मध्य-दस पद्म। परार्ध-शंख। यह संख्या मानी जाती है।

श्रीतुलसीरामस्वामीने 'ग्रर्बुद'का ग्रपभ्रंश 'ग्ररब' समझ लिया, इसीसे श्रीमद्भागवतपर ग्राक्षेप कर दिया। वस्तुतः 'ग्रर्ब' शब्द 'ग्रब्ज'का ग्रपभ्रंश है, 'ग्रर्बुद'का नहीं। लोकमें खर्व १०० ग्रर्बका नाम माना जाता है, पर संस्कृतमें यह दस ग्रर्बका नाम है; ग्रतः लौकिक ग्रपभ्रंशोंपर हम केवल ग्राधारित नहीं होना चाहिये—जैसे कि—लोग 'त्रिविष्टप'से 'तिब्बत' तथा 'भूत'से 'भूटान' ग्रर्थ ले लेते हैं—यह भारी भूल है। ग्रस्तु! पूर्वोक्त

गणना अन्यत्र भी प्रसिद्ध हैं। देखिये-'एकं दश शतं चैव सहस्र-मयुतं तथा। लक्षं च नियुत चैव कोटिरर्बुद एव च। वृन्दं (अब्ज) खर्वो निखर्वश्च शङ्ख. पद्मश्च सागरः। अन्त्यं मध्यं परार्धं च दशवृद्धचा यथाक्रमम्'। 'आर्यभटीय' में भी कहा है—'एकं दश च शतं च, सहस्रमयुतनियुते तथा प्रयुतम्। कोटचर्बुदं च वृन्दं स्थानात् स्थानं दशगुणं स्यात्। (२।२) इन स्थलोंमें कोटि (करोड़)के साथ ठहरा हुआ अर्बुद-दश करोड़का वाचक है; क्योंकि—यहांकी संख्या एक दूसरेसे दशगुणा कही गई है।

वाज० यजुर्वेदसंहितामें भी कहा है—'एका च दश च, दश च शतं च, शत च सहस्रं च, सहस्रं चाऽयुतं (१०,०००) च, अयुतं च नियुतं (लक्षं) च, नियुतं च प्रयुतं (दश लाख) च, अर्बुदं (दस करोड़) च, न्यर्बुदं (अरब) च, समुद्रश्च मध्यं च, अन्तश्च परार्धश्च' (१७।२) यहां श्रीमहीधराचार्यने लिखा है-'अत्र एकादिपरार्धपर्यन्तैः शब्दैरुत्तरोत्तरं दश-दशगुणिता संख्या उच्यते। एका-एकत्वसंख्याविशिष्टा। सा दशगुणिता दशसंख्या-मापद्यते। सा दश-गुणिता शतं भवति। शतं दशगुणितं सहस्रं भवति। सहस्रं दशगुणमयुतं भवति। अयुतं दशगुणितं नियुतं (लक्षं) भवति। नियुतं दशगुणितं प्रयुतं (लक्षदशकं) भवति। प्रयुतग्रहणं कोटेरुपलक्षकम्, प्रयुतं दशगुणितं कोटिः। कोटिर्दश-गुणः अर्बुदम् (दश करोड़)। अर्बुदं दशगुणं न्यर्बुदम् (अर्ब)···· एवमेकादि अष्टादशसंख्यासंज्ञा सम्मिता।'

इस प्रकार ब्रह्मवंशी राजा प्रियव्रतका राज्य ११ अर्बुद वर्ष रहा। अर्बुद दश करोड़ सिद्ध हो चुका। १० करोड़ के ११ से गुणा-नेपर १,१०,००,००,००० संख्या हुई; पर कल्पकी संख्या तो ४,-३२,००,००,००० वर्ष होती है। तब आक्षेप्ताका आक्षेप तो कट गया, क्योंकि ११अर्ब, १० करोड़ वर्षोंमें तो कल्प समाप्त न होनेसे

प्रलय होगा ही नहीं। तब श्रीमद्भागवतकी सत्यता सिद्ध हो श्रीहर्षचरित्रके द्वितीयोच्छ्वासमें 'स्वर्गार्बुदैरिव' पाठ है; उस प्राचीनटीकामें लिखाहै—'अर्बुदं-दशकोटयः' कोटिर्लक्षशतम्' कहकर वहाँ लिखा है-'इह तु बहुसंख्योपलक्षणार्थौ अर्बुदको शब्दौ' अर्थात् अर्बुद, कोटि शब्द यहां सचमुच वह पूरी संख्या बताकर 'बड़ी संख्या'को बताते हैं।

(ग) इस टीकाके अनुसार यह भी जानना चाहिये कि-किसीका अत्यन्त बहुत्व बतलानेकेलिए भी इन बड़ी संख्या का प्रयोग कर दिया जाता है। वहां आवश्यक नहीं कि-पूरीकी पूरी ही गिनी जावे। निरुक्तकार श्रीयास्कने लिखा है 'अर्बुदो मेघो भवति। अरणमम्बु, तद्दोम्बुदः। अम्बुमद् भाति वा, अम्बुमद् भवतीति वा। स यथा महान् बहुर्भवति वर्ष तदिव अर्बुदम्' (३। १०। १) अर्थात्–जैसे बादल वर्षता हुआ बहुत बड़ा होता है, वैसे ही अर्बुद एक बड़ी संख्या है। सो उसका बहुत्वमें तात्पर्य है। जैसे हजारसंख्यावाचक होता हुआ 'सहस्र' (३। २) शब्द 'निघण्टु'के अनुसार बहुवाचक होता वैसे 'अर्बुद'का भी अतिशयोक्ति-वश बहुत्व-अर्थमें पर्यवसान जाता है। इसी प्रकार कहीं 'पद्मों'की संख्या आजावे, जैसे कि 'मानस'में सैनिक बन्दरोंकी संख्या; वहां भी बाहुल्यमें पर्यवसान समझ लेना चाहिये। इसके अनुसार 'षष्टिवर्षसहस्र' वर्ष आयुमें रामायणमें प्रसिद्ध राजादशरथकी 'सहस्र' संख्या पर्यवसान भी बाहुल्यमें समझा जा सकता है। कई लोग तो 'सहस्र' शब्दका अर्थ न करके वहां राजा दशरथको ६० वर्ष मान लेते हैं। अथवा 'मीमांसादर्शन' (६।७।४०) के अनु 'वर्ष'का अर्थ 'दिन' मानकर ६०,००० दिनसे राजा दशरथ १६७ वर्षकी आयु मानते हैं। इस प्रकार ऐसे स्थलोंमें' गपोड़ा

मानकर वस्तुस्थितिको समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। यह एकदेशीमत भी विचारणीय है।

पुराणपर तम्बाकूका आक्षेप

(४) आक्षेप—'तौजुक जहांगीरी' पुस्तकमें मुगलसम्राट् जहांगीरने लिखा है—मेरे पिता (अकबर)के राज्यके समय अमेरिकासे एक पादरी आलू, तम्बाकू तथा गोभी लाया था, परन्तु ब्रह्माण्डपुराणमें तम्बाकूके खण्डनमें लिखा है—'तमालं भक्षितं येन स गच्छेन्नरकार्णवे'। पद्मपुराणमें लिखा है—'धूम्रपानरतं विप्रं दानं कुर्वन्ति ये नराः। दातारो नरकं यान्ति ब्राह्मणो ग्रामसूकरः'। इसलिए सिद्ध हुआ कि—ब्रह्माण्डपुराण और पद्मपुराण १६१३ से १६६२ संवत्के मध्यवर्ती अकबर बादशाहके समकालीन हैं, व्यासकृत नहीं हैं। श्री व्यासको तो सं० १६५१ में ४६६४ वर्ष हुए। (श्री लेखराम आर्यमुसाफिर)

उत्तर—पुराणके उक्त वचनमें 'तमाल' से 'तम्बाकू'का ग्रहण निष्प्रमाण है। यदि पुराणमें उसीका वर्णन है, तो उसके साथ आलू और गोभीका वर्णन क्यों नहीं आया?' इससे 'तमाल'से तम्बाकू नहीं लिया जा सकता। और फिर तम्बाकू खाया नहीं जाता, किन्तु धूमद्वारा पीया जाता है, या चबाकर थूका जाता है, पर पुराणमें वैसा शब्द नहीं कहा गया। 'योगरत्नाकर' के १४ वें पृष्ठमें 'धूमाख्यो धूमवृक्षश्च बृहत्पत्रश्च धूसरः। तमाखुर्गुच्छफलको धूमयन्त्रप्रकाशकः' ये नाम तमाखुके आये हैं। इनमें 'तमाल' शब्द नहीं आया। 'तमाखुपत्रं राजेन्द्र! भज माऽज्ञानदायकम्। तमाखुपत्रं राजेन्द्र! भज मा-ज्ञानदायकम्' इस यमकमें भी 'तमाखु' शब्द ही आया है; 'तमाल' नहीं। 'तमाल' तो 'कालस्कन्दस्तमालः स्यात् तापिच्छः' (२।४।६८) 'अमरकोष'के इस वचनके तथा विश्वकोष वा मेदिनीकोषके अनुसार

तापिच्छ' वाचक आया है, जिसके पत्तेको स्त्रियां कर्णभूषणरूपसे पहरती थीं। कई लोग उसका 'आबनूस' अर्थ मानते हैं।

(ख) अथवा—'वादितोषन्याय'से 'तमाल'से 'तमाखु' भी माना जावे, तथापि मुगलसम्राटोंसे पहले भी उसकी सत्ता मिल सकती है। आयुर्वेद वेदका उपवेद माना जाता है। उसके ग्रन्थ 'चरकसंहिता'के चिकित्सास्थान (२२ अ.) में लिखा है—'वैरेचनं मुखेनैव कासवान् धूममापिबेत्' यहां भी धूमपानका वर्णन है। अन्यत्र भी 'धूमं तस्यानु च क्षीरं सुखोष्णं सगुडं पिबेत्' 'कृत्वा वर्ति पिबेद् धूम्रम्' ऐसा वर्णन है। इससे 'चरकसंहिता'को मुसलमानी समयका नहीं माना जा सकता। अथवा 'धूमवर्ति' से 'सिगरेट' मानकर अंग्रेजी-समयका नहीं माना जा सकता।

(ग) वस्तुतः पौराणिक 'धूमपान' शब्द सामान्यशब्द है, तमाखुवाचक नहीं। आजकल 'यवन' का अर्थ लोग 'मुसलमान' मानते हैं, और मुसलमान श्रीमुहम्मदके अनुयायी हैं। श्रीमुहम्मदको उत्पन्न हुए कुछ अधिक १३०० वर्ष बीते हैं। यह उनकी १४ वीं सदी है, उनका वर्ष हमारे ११॥ मासका होता है; परन्तु महाभारत-युद्धको हुए-हुए आज ५०६२ वर्ष बीते हैं, यह आक्षेप्ता लेखराम स्वयं मानते हैं; परन्तु महाभारतयुद्धमें 'यवन' भी थे—यह महाभारतमें ही स्पष्ट है। तब क्या श्रीलेखराम महाभारत-युद्धको मुसलमानी-जमाने का मान लेंगे? ऐसा नहीं! वहां 'यवन' एक प्राचीन जाति है। उसका अब लोप हो गया है। परन्तु आजकलके मुसलमानोंका नाम भी लोगोंने 'यवन' रख डाला है। जैसे कि—चाण्डालों—अन्त्यजोंका नाम गान्धिजीने 'हरिजन' यह रख दिया। पहले यह वैष्णवोंका नाम था। इस प्रकार जैसे विशेष मुसलमान 'यवन' शब्दसे १४०० वर्षोंसे चले हैं, वैसे ही आयुर्वेदादिके अनुसार आलू, गोभी, तमाखु आदि

पहले से भी भारतमें थे, परन्तु अकबरके समयमें विशेष प्रकार के अंग्रेजी तमाखु-गोभी आदि लाये गये होंगे। उस समय आजकल की भान्ति अटलांटिक महासागरको लांघकर जहाजोंका गमनागमन प्रतिदिन नहीं हो सकता था। ऐसे कठिन मार्गोंमें वह तमाखुके पौधेको कैसे ला सका; जिसका पौधा भारतवर्षमें भी जम गया। वास्तवमें वह यदि लाया भी होगा; तो सूखा ही तम्बाकू लाया होगा।

(घ) अथवा वादितोषन्यायसे मान भी लिया जावे कि—अमेरिकीय पादरीसे लानेके पूर्व भारतमें तम्बाकूकी खेती नहीं हुआ करती थी; और पुराणोंमें उसी तम्बाकूका खण्डन है, पर इससे पुराण अर्वाचीन कैसे हो जायेंगे? पुराण केवल भारतकी सीमाके अन्तर्गत वस्तुओंका ही वर्णन नहीं करते; वे तो सातों द्वीपोंका तथा सातों समुद्रोंका भी वर्णन करते हैं। बल्कि वे तो १४ भुवनोंका भी वर्णन करते हैं। वे तो स्वर्गलोकादिके कल्पवृक्षोंका तथा पाताल देशका, जिसका राजा बलिदैत्यको बताया गया था; भी वर्णन करते हैं; तब फिर पातालदेशके एक ऊपरी स्तरको जिसे आजकल 'अमेरिका' कहा जाता है—उसके तमाखुका वर्णन यदि पुराणने कर दिया; तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात?' इससे पुराण अर्वाचीन कैसे हो जाएँगे। ?

(ङ) पुराणोंके सम्पादक श्रीव्यास योगी थे, उन्हींका 'योग दर्शन' का व्यासभाष्य भी प्रतिपक्षी देख लें। योगीको समस्त-ब्रह्माण्डका ज्ञान हुआ करता है। योगदर्शनमें एक सूत्र है—'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' (३। २६) 'इसका अर्थ आर्यसमाजी विद्वान् श्रीराजारामजी शास्त्रीने इस प्रकार लिखा है—'सूर्यके प्रकाशमें साक्षात्कार करनेसे योगीको सारे भुवनों (मण्डलों) का यथावत् ज्ञान होता है'। यदि ऐसा है, तो योगिराज श्रीव्यासने योग-

शक्तिसे अमेरिका—स्थित पुरुषोंके तम्बाखू पीनेका व्यसन जान लिया हो; और भविष्यत् में स्वा.द. जैसे आर्यसमाजके नेता भी इस व्यसनमें फंस जाएंगे—यह जानकर उसकी हानि बतानेके लिए तमाखुका खण्डन कर दिया हो; इसमें हानि क्या हुई; तथा अर्वाचीनता क्या हुई? यदि स्वा.द. पुराणोंको श्रद्धासे पढ़ते, और पुराणोंकी कही तम्बाकूकी हानि वा निषेधका अनुसरण करते; तब उन्हें यह व्यसन न लगता।

यदि आर्यसमाजी भी पुराणकृत तमाखुका खण्डन देखकर पुराणकी प्राचीनता-अर्वाचीनताके पचड़ेकी उपेक्षा करके उनके उपदेशका प्रचार भी करते, तो देशका करोड़ों रुपया बचता; विविध हानियां न होतीं, परन्तु पुराणोंकी अर्वाचीनताके साधनकी प्रसन्नतामें तम्बाकू-प्रेमियोंको इस दुर्व्यसनकी उन्नतिमें प्रेरणा मिली, क्योंकि—वेद वा स्मृति आदिमें इसका निषेध स्पष्टरूपसे नहीं मिलता, जिससे हुक्केके व्यसनी बने हुए आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वा.द. जीको भी, एक उनकी समझसे पौराणिक-पण्डित वा स्वामीने जब उनकी शोचनीयता दिखाई; तो स्वा.द.ने उसका उत्तर दिया; इसे 'श्रीमद्दयानन्दप्रकाश' में इस प्रकार लिखा है-'एक दिन एक पण्डितने उन (स्वा. द.)से पूछा—हुक्का पीना वेदमें कहां लिखा है? स्वामीने कहा—वेदमें कहीं इसके पीनेका निषेध भी तो नहीं है (पृ. २७४)। महाराजने कहा—मैं धूम्रपान कफकी निवृत्तिकेलिए (?) करता हूँ। धर्मशास्त्रमें कहीं इसका निषेध भी तो नहीं' (पृ० ३१८)। यदि स्वामीकी पुराणपर श्रद्धा होती; तो उस पण्डित वा स्वामीके कहने पर स्वामीका मुख फीका हो जाता; क्योंकि उनके साम्प्रदायिक-शिष्य श्री लेखराम के लेखानुसार इसका उल्लेख पुराणमें है।

इसके अतिरिक्त स्वा.द.के शिष्य श्रीलेखरामको अपने

सम्प्रदायके ग्रन्थ स. प्र.के ११ वें समुल्लासके आरम्भमें स्थित यह स्वा. द.का वचन याद रखना चाहिये था कि—'महाराज-युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञ और महाभारत युद्धपर्यन्त यहाँके राज्याधीन सब राज्य थे। सुनो ! चीनका भगदत्त, अमेरिकाका बभ्रु-वाहन, यूरोपदेशका विडालाक्ष अर्थात् मार्जारके सदृश आंख-वाले, यवन-जिसको यूनान कह आये और ईरानका राजा आदि सब राजा राजसूय यज्ञ और महाभारत युद्धमें आज्ञानुसार आये थे'। (पृ. १७२)

जब इस प्रकार राजसूय-यज्ञमें अमेरिकाका राजा बभ्रु-वाहन, जो अर्जुन-पाण्डवका लड़का था—सम्मिलित हुआ; तब उसने श्रीवेदव्यासका दर्शन करके अपने देशके व्यवहार बताये हों; या अर्जुनकी अमेरिकन स्त्रीने ही अर्जुनको वह व्यवहार बताया हो, यह सम्भव है। अथवा वह लड़का स्वयं तमाखु खाता-पीता हो, श्रीव्यासजीने उसके इस व्यसनको जानकर पुराणमें उस व्यसनकी निन्दा की हो; तो क्या अर्जुन वा उसका अमेरिकन लड़का भी अकबरके ज़मानेके हो जाएंगे ? आप लोग भी अर्जुनका अमेरिकाकी राजकन्या उलूपी वा चित्राङ्गदाके साथ विवाह माना करते हैं; तब अर्जुनकी बरातमें स्वयं श्री-व्यास भी गये हों, और उन्होंने वहां लोगोंका तमाखुका व्यसन देखा हो, अथवा अमेरिकासे लौटे हुए अन्य बरातियोंने वा स्वयं अर्जुनने पुराणोंके सम्पादक श्रीव्यासजीको वहांके लोगोंकी तमाखुकी लत बताई हो, और उस समय श्रीव्यासजीने उसकी हानि पुराणमें उपनिबद्ध कर ली हो, तब उसमें पुराण अवैया-सिक कैसे हो सकता है ? इधर व्यासजी तो अमर भी माने जाते हैं।

आर्यसमाजकी परोपकारिणी सभाके मन्त्री पं. मोहनलाल

विष्णुलालपण्ड्या चन्दवरदाई-प्रणीत 'पृथ्वीराजरासो'को सं. ११२०से ११४८ तक बना हुआ मानते हैं। वह पुस्तक सं. १६१३ से १६६२ तक विद्यमान अकबर बादशाहसे भी पूर्व बना; इस प्रकार वह 'तौजुक-जहांगीरी' से तो बहुत पहलेका हुआ। उसी 'पृथिवी-राजरासो' के आदि-पर्वमें पद्धरी छन्दमें १८ पुराणोंका वर्णन एवं नाम मिलता है, उनकी श्लोक-संख्या भी बताई है। उन्हें व्यासकृत भी बताया है। इस प्रकार श्रीलेखरामसे लिखित संवत्से पहलेकी बनी हुई पुस्तकोंमें भी पुराणोंको व्यासकृत बतानेसे पुराणोंकी प्राचीनता और व्यासकृतता सिद्ध हो गई। इस प्रकार श्रीलेखराम द्वारा पुराणपर किये आक्षेपका परिहार सम्यक्तया हो गया। अब कुछ श्रीशिवपूजनसिंह कुशवाहाके आक्षेपोंपर विचार होगा।

छान्दोग्यके शाङ्करभाष्यपर आक्षेप।

(५) आक्षेप—'न काञ्चन परिहरेत्, तद् व्रतम्'(२।१३) छान्दोग्यके इस वाक्यका भाष्य करते हुए आद्य शङ्कराचार्य लिखते हैं—'न कांचन—कांचिदपि स्त्रियं स्वात्मतल्पप्राप्तां न परि-हरेत् सङ्गमार्थिनीम्' (समागम चाहने वाली अपनी जो शय्यापर आवे; तो ऐसी किसी भी स्त्रीको न छोड़े' क्या यही वैदिक सभ्यता है ? यह भाष्य कितना अश्लील, व्यभिचारी बनाने वाला है। क्या उन्होंने यह भाष्य भंगकी तरङ्गमें लिखा था ?' [वेदवाणी] (१२। ७-८), तथा 'साहित्य-प्रचारक' बड़ौदा (९।९)में

परिहार—'छाज तो बोले-बोले चलनी भी बोलती है, जिसमें नौ सौ छेद हैं'। प्रतिपक्षीके स्वामी कहते हैं कि—'पाप तो नियोग [मैथुन] के रोकनेमें है, क्योंकि ईश्वरके सृष्टिक्रमानुकूल स्त्री-पुरुषका स्वाभाविक व्यवहार रुक नहीं सकता, सिवाय वैराग्य-

वान् पूर्ण विद्वान् योगियोंके'। 'गर्भवती स्त्रीसे एक वर्ष समागम न करने के समय पुरुषसे, वा दीर्घरोगी पुरुषकी स्त्रीसे न रहा जाय; तो किसीसे नियोग [मैथुन] करके पुत्रोत्पत्ति कर दें'। जो अप्रिय बोलनेवाली हो, तो सद्यः उस स्त्रीको छोड़के दूसरीसे नियोग [मैथुन] करके सन्तानोत्पत्ति कर लेवें' (स. प्र. ४ र्थ समु.) यह स्वा.द.के वाक्य 'कांचन स्त्रियं न परिहरेत् समागमा-र्थिनीम्' इस स्वा.शं.के भाष्यके उदाहरण हैं न ? यह तो प्रतिपक्षीकी वैदिक सभ्यता ही है न ? तब जो दीर्घरोगी पुरुषकी स्त्री प्रतिपक्षीकी शय्यापर चढ़ आवे, तो वह उसे व्यभिचार-बुद्धिसे छोड़कर स्वामीके उस कथनको व्यभिचार-प्रवर्तक एवं 'भङ्गकी तरङ्ग'में लिखा कह देगा ? यह वैदिकता होगी, वा अवैदिकता ? नियोगमें कोई वैवाहिक-मन्त्र तो बोले ही नहीं जाते; तो वह स्त्री जब किसी पुरुषकी शय्यापर चढ़ेगी; वा पुरुष जिस-किसी स्त्रीकी शय्यापर चढ़ेगा, तो यह व्यभिचार होगा या नहीं ? दोनों स्थान समान उत्तर होगा।

प्रतिपक्षी स्वा.शं. पर क्यों दोष देता है, वह तो छान्दोग्य-उपनिषद्के मूल-वचनको ही मानना बन्द करे ? भाष्यकार पर क्या दोष देता है ? टीकाकार तो मूलका सम्भवी अर्थ लिख दिया करता है, मूलका उसपर उत्तरदायित्व नहीं होता। उप-निषद् के मूलमें इस वचनसे पूर्व स्पष्ट लिखा हैं—'स्त्रिया सह शेते, स उद्गीथः, प्रति स्त्रीं सह शेते, स प्रतिहारः' (२।१३।१) तो जो मूलवचन था, उसका आचार्यने सम्भवी अर्थ कर दिया; इसमें आचार्यका क्या दोष ? इस प्रकारका अर्थ अन्य ग्रन्थोंमें भी मिलता है देखिये—

(क) कौटलीय–अर्थशास्त्रमें–'तत् (राज्यं) स्वयमुपस्थितं नावमन्येत। स्वयमारूढा हि स्त्री त्यज्यमाना अभिशपतीति लोक-

प्रवादः' (५।६।३५) देखिये–यह वहीकी वही बात है न ? (ख) अन्य देखिये-पद्मपुराण उत्तर खण्ड–'सिद्धिर्निधेः साधुक[illegible] वराङ्गनाः। मन्त्रस्तथा सिद्धिरसश्च धर्मतो नेमे निषेध्याः सुवि[illegible] समागताः' (१२७। ९६। वही बात है। यही आनन्दरामाय[illegible] राज्यकाण्ड (१५।३०) में लिखा है। (ग) ब्रह्मवैवर्त-श्रीकृष्ण[illegible] जन्मखण्डमें –'उपेतां कामिनीं त्यक्त्वा कालसूत्रं व्रजेन्नरः। रहस्यु[illegible]पस्थितां कामात् पुंश्चलीं चेज्जितेन्द्रियः। परित्यजेद् धर्मभया[illegible] अधर्मान्नरकं व्रजेत्' (२४।२७-२८)। अन्यत्र देखिये–'गृहं[illegible] तपस्वी कामी वा त्यजेत् स्त्रियमुपस्थिताम्। व्रजेत् परत्र नरकम्[illegible] पूज्यश्च भवेदिह' (३३।६)। अन्यत्र देखिये–'कामातुरो यौवन[illegible]स्थां भार्यां स्वयमुपस्थिताम्। न त्यजेद् धर्मभीतश्च श्रुतं माध्यन्दि[illegible] पुरा। इह त्यक्त्वा विपद्ग्रस्तः परत्र नरकं व्रजेत्' (६२।४५)। (घ) इसी प्रकार वादिमान्य देवीभागवतमें लिखा है–'उपस्थितां स्वयं कन्यां (स्त्रियं) न गृह्णातीह यः पुमान्। तं विहाय महालक्ष्मी रुष्टा याति न संशयः' (९।१४।१२)। यही वचन ब्रह्मवैवर्त प्रकृतिखण्ड (१२।१३)में भी है। (ङ) अब महाभारतमें देखिये 'ऋतुं यो याचमानाया न ददाति पुमान् ऋतुम्। भ्रूणहेत्युच्यते ब्रह्मन्! सचेह ब्रह्मवादिभिः। अभिकामां स्त्रियं यस्तु गम्यां रह[illegible] याचितः। नोपैति यो हि धर्मेण भ्रूणहेत्युच्यते बुधैः' (आदिपर्व ८३।३३-३४)। यहीका यही पद्य मत्स्यपुराण (३२।३२-३३) में भी देख लीजिये। इसी प्रकार वाराह पुराण (२८।१२) में तथा अन्यत्र बहुत मिलता है। छान्दोग्यके अन्य भाष्यकारोंने भी ऐसा ही अर्थ किया है; तब श्रीशङ्कराचार्यपर दोष देते हुए प्रतिपक्षीकी अबहुश्रुतता सिद्ध है।

वस्तुतः स्वा. शङ्कराचार्यका यह वचन अन्य स्त्रियोंकेलिए

न होकर अपनी बहुतसी स्त्रियोंमें किसी भी स्त्रीके—चाहे उसका क्रम हो वा न हो—कामातुर होकर समागमार्थिनी होनेपर पर्वादिक वा असमय-कुसमयका विचार, तथा उसका ऋतुकाल हो वा न हो—विचार न करनेमें होनेसे आपत्कालीन है। श्री-याज्ञवल्क्यने अपनी स्मृतिमें लिखा है—'स्त्रियो रक्ष्या यतः स्मृताः' (१।८१) अर्थात् स्त्रियोंकी सब प्रकारसे रक्षा करनी चाहिये। इसपर मिताक्षरामें लिखा है—'अनृतावपि स्त्रीकामनायां सत्यां स्त्रियमभिरक्षयेदेव'। शि. पु. उमासं. (२५।२३) में कहा है 'न कामभोगात् परमान्नालङ्कारार्थसञ्चयात्। तथा हितं न मन्यन्ते यथा रतिपरिग्रहात्' अर्थात् स्त्री रति-परिग्रहसे प्रसन्न होती है, अन्य बातोंसे नहीं। इसमें कुसमयका उदाहरण विश्रवामुनि तथा कैकसीका है। वह सन्ध्याकालमें आई थी। वैसा न होनेसे स्मृतियोंके अनुसार भ्रूणहत्याका दोष माना गया है। सो यह वचन पर-स्त्रीकेलिए न होकर अपनी बहुतसी स्त्रियोंमें किसी भी एक आतुरा स्त्रीके लिए चरितार्थ है, यही श्रीशङ्कराचार्यके भाष्यका तात्पर्य है। वेदमें बहुस्त्रीविवाह स्पष्ट है।

इसीलिए तो उक्त उपनिषद्के वचनसे पूर्व यह लिखा है—'स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः। प्रति स्त्रीं सह शेते, स प्रतिहारः' (२।१३।१) कृष्णयजुर्वेद (तै. सं.) में लिखा है—'काममा-विजनितोः सम्भवाम' (२।५।१।५) यह स्त्रियोंका वर है। इसके अनुसार प्रसवसे पूर्व तक स्वयं आई हुई स्त्रीको पुरुष शास्त्रानुसार निषेध नहीं कर सकता। इसीके आधारसे याज्ञवल्क्यस्मृतिमें भी लिखा है— 'यथाकामी भवेद् वापि स्त्रीणां वर-मनुस्मरन्' (१।८१) इसकी मिताक्षरामें लिखा है—'स्त्रीणां वरमिन्द्रदत्तमनुस्मरन्—'भवतीनां कामविहन्ता पातकी स्यात्'। जब ऐसा है, तब प्रतिपक्षीका आचार्यशङ्करके भाष्यपर आक्षेप करना

उसके अबहुश्रुतत्वको सूचित कर रहा है। 'काञ्चन' का अर्थ यही है कि—चाहे अपनी कोई स्त्री ऋतु-स्नाता हो वा अनृतुमती; उसका परिहरण न करे, यह व्रत है। अथवा क्रम किसी अन्य स्त्रीका हो, जैसे कि साहित्यदर्पणमें—'स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वर-सुता वारोऽङ्गराजस्वसुः; द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया, देवी-प्रसाद्याद्य च' (३।३५) तथापि जो अपनी स्त्रियोंमें 'जायेव पत्ये उशती सुवासाः' (ऋ. सं. १०।७१।४) इस मन्त्रके अनुसार ऋतुस्नाता एवं उशती (कामुकी) हो, उसीको अवसर देना चाहिये, यह तात्पर्य है। भङ्गकी तरङ्ग तो प्रतिपक्षी अपने स्वा.द.की देखें। वे स्वयं कहते हैं—'दौर्भाग्यवश वहां मुझे एक बड़ा दोष लग गया, अर्थात् भांग पीनेका स्वभाव हो गया। सो कई बार उसके प्रभावसे मैं सर्वथा बेसुध हो जाया करता था'। यह स्वयं स्वा.द.के छपवाये जीवन-चरित्रमें प्रत्यक्ष है। तब 'मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त' वाली बात न हो। अन्य स्थानोंमें भी यह स्पष्ट है। जैसे—(दयानन्द-प्रकाश पृ० ४१)। इत्यादि।

बृहदारण्यक उपनिषद्के शाङ्करभाष्यपर आक्षेप।

(६) आक्षेप—बृहदारण्यकोपनिषद्में 'मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तम् अश्नीयाताम् ईश्वरौ जनयितवा औक्षेण वाऽऽर्षभेण वा' (६।४।१८) का भाष्य करते हुए श्रीशङ्कराचार्य लिखते हैं—'मांसमिश्रौदनं मांसौदनं। तन्मांसनियमार्थमाह— 'औक्षेण मांसेन, उक्षा—सेचनसमर्थः पुङ्गवः, तदीयं मांसम्। वृषभस्ततो-ऽप्यधिकवयास्तदीयमार्षभं मांसम्'। क्या यही वैदिक-संस्कृति है? यवन-ईसाइयोंके सिद्धान्तसे फिर क्या अन्तर है? स्वा.शं. ने क्या यह भंगकी तरङ्गमें लिखा था?' इस 'आलोक'के छठे पुष्पमें पं. दीनानाथशास्त्रीने ठीक आर्यसमाजी-विद्वानों जैसा अर्थ करके श्रीशङ्करके भाष्यपर हड़ताल फेर दिया है। (श्रीकुश-

वाहा, 'वेदवाणी (वैशाख-ज्येष्ठ सं. २०१७) में।

परिहार—इसका अर्थ प्रतिपक्षीको पहले अपने ऋषिकी सं. १६३२की संस्कारविधि (पृ० १२) म गर्भाधान-सस्कारमें देख-लेना चाहिये था। वह यह है—'जो चाहे कि—मेरा पुत्र पंडित ·· सब वेद-वेदाङ्ग विद्याका पढ़ने और पढ़ाने वाला हो, वह मांस-युक्त-भातको पकाके पूर्वोक्त घृतयुक्त खावे; तो वैसे पुत्र होनेका सम्भव है'। सो शायद स्वामीजीकी माताने उक्त प्रयोग [मांसयुक्त भातका] किया हो, उसके प्रभावसे स्वामोजीने आठ वर्षकी अवस्थामें ही स्वामीजीके अपने कथनानुसार यजुर्वेद पढ़ लिया और कण्ठस्थ कर लिया। तो क्या प्रतिपक्षीके अनुसार स्वा.द. ने यह भगकी तरङ्गमें लिख दिया था? "इसमें यह न समझा जाए कि—प्रथम [सं. वि. का यह] विषय युक्त न था, और युक्त छूट गया था; उनका संशोधन किया है" संस्कार-विधिके २ य संस्करणकी इस भूमिकाके वचनसे यह विषय अयुक्त भी नहीं।

'दशप्रश्नी' में आर्यसमाज लाहौरके ८५ वर्ष तक प्रधान रहनेवाले कट्टर आर्यसमाजी रा. ब. मूलराज एम. ए.ने नवम प्रश्नके उत्तरमे लिखा था—'पहले स.प्र.में (पृ. ३०१-३०२) स्वामी जीने यह शिक्षा दी थी कि—मांस तथा अन्य खाद्य पदार्थोंका यज्ञमें होमनेके पश्चात् सेवन किया जावे' पहली सं. वि. (पृ.४२) में उन्होंने बच्चोंको तीतरका शोरवा पिलानेका विधान किया था। ···सन् १८९१के आरम्भमें मुन्शी समर्थदान, भूतपूर्व मैनेजर वैदिक यन्त्रालय, अमृतसरमें मुझे मिलने आये। उन्होंने उस अवसर पर मुझे बताया कि—स्वामीजीने स. प्र.के २रे संस्करणमें १० वें समुल्लासमें मांस खानेकी इजाजत दी हुई थी, परन्तु क्योंकि उन दिनों वे [समर्थदान] मांसभोजनके विरोधी थे, उन्होंने श्रीस्वामी जीकी अनुमतिके विरुद्ध, अपनी इच्छानुसार उन [मांसभोजन-की] पंक्तियोंको छपने नहीं दिया। जब उसी वर्ष सितम्बरमें [मूलराज] परोपकारिणी सभाकी बैठकमें शामिल होनेको अजमेर गया; तो उन्होंने मुझे वह मूल हस्तलिखित ग्रन्थ निकलवा दिखलाया, जिसके हाशिएपर श्रीस्वामीजीने मांसविषयक पंक्तियों अपने हाथसे लिखा हुआ था। यह ग्रन्थ इस समय तक वैदिक यन्त्रालय अजमेरमें सुरक्षित रखा हुआ है, और अबतक कि[तने] ही और व्यक्ति भी उसे देख चुके हैं।"।

प्रथम स. प्र. में 'जो वन्ध्या गाय होती है, उसको भी गोमेध में मारना लिखा है (पृ. ३८२)। प्रथम स. प्र. में ३-४ वर्ष बाद जाकर केवल श्राद्धकी प्रक्षिप्तता बताई गई थी; मांस[की] नहीं। सो पहले अपने घरको देखकर प्रतिपक्षीको फिर दूसरे[को] उपालम्भ देना चाहिये था। स्वा. शङ्करके वाक्यमें 'उक्षा त[था] ऋषभका मांस' यह शब्द लिखा है। उन्होंने उसका हिन्दी अ[र्थ] तो लिखा नहीं; तब उन्हें यही प्रतिपक्षीका अर्थ इष्ट था—[यह] कैसे कहा जा सकता है? जबकि—फलोंके गूदेको भी 'मां[स'] कहते हैं; और आप लोग भी यह मानते हैं; तब श्रीशङ्कराचार्य[के] भाष्यमें भी वही अर्थ नहीं—इसका प्रतिपक्षके पास क्या प्रमा[ण] है? देखिये—'मांसं मांसेन रोहतु' (अथर्व. ४। १२। ४) इ[स] वेदमन्त्रमें एक ओषधिके मांसको हमारा मांस पैदा करने वाल[ा] कहा है। सो ओषधिका 'मांस' गूदा ही तो होगा। यह हुई वेद[की] बात। अब उपवेदकी सुनिये—'चूतफलेऽपरिपक्वे केसर-मां[स-] अस्थिमज्जानो न पृथग् दृश्यन्ते' (सुश्रुत, शारीर ३ अ.) य[हां] भी फलके 'मांस'का अर्थ गूदा ही है। 'मांसं मारुतपित्तचि[त्] (सुश्रुत. सूत्र. ४६। १२) यहां मातुलुङ्गके गूदेको 'मांस'शब्द[-] से कहा है। इस प्रकार अन्य भी बहुत प्रमाण हैं।

सो उपनिषद्रूप वेदके शाङ्करभाष्यमें भी वही मांस 'गूदा'

इष्ट है। वहां जो लिखा है—'उक्षा सेचनसमर्थः पुङ्गवः, तदीय मांसम्, वृषभस्ततोपि अधिकवयाः, तदोय मांसम्' सो बांसा वा ऋषभकन्द ओषधियोंका नाम भी बैलके नामसे आता है। वीर्य-वर्धक होनेसे उसकी चढ़ती दशामें उसे 'उक्षा' कहा जाता है, और उससे अधिक वयमें अर्थात् परिपक्व दशामें 'ऋषभ' कहा जाता है। गर्भाधानकी उन्हीं ओषधियोंके तीसरे परिणामका नाम 'मांस' शाङ्कर-भाष्यमें भी इष्ट है; तब प्रतिपक्षीका उसपर आक्षेप करना केवल स्वा.द.की 'भङ्गकी तरङ्ग' की नाक रखने-लिए है, इस विषयमें अधिक स्पष्टता 'आलोक'के षष्ठ-सुमनमें देखें।

(ख) जोकि मेरे लिए प्रतिपक्षीने लिखा है—'आपने ठीक आर्यसमाजी-विद्वानों जैसा अर्थ करके श्रीशङ्करके भाष्यपर हड़ताल (?) फेर दिया ?' यह आक्षेप भी अज्ञानसे है।'अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति' (शा.पर्व २६२। ४७) यह महाभारत-का वचन है, इसमें गाय-बैलका 'अघ्न्या' कहा है, और उनके मारने का निषेध किया है, तो क्या यह सनातनधर्मके पञ्चमवेद महाभारतका वचन किसी आर्य-समाजीका बनाया है ? वा उस समय क्या आर्यसमाजी मत था ? आर्यसमाजकी तो 'मांस-पार्टी' अब तक प्रसिद्ध है। स्वा. शङ्करके भाष्यमें 'मांस' शब्द देखकर ही उसका यदि 'मांस' अर्थ कर दिया जावे; तब प्रति-पक्षी वेदमें भी अतिथिकेलिए कहे गये 'मांस' का अर्थ 'मांस' करे। देखिये—'स य एवं विद्वान् [अतिथये] मांसमुपसिच्य आहरति' (अथर्व. ९। ६। ४३) इसी प्रकार 'यन्मांसं निपृणामि ते' (१८। ४। ४२) 'ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासते' (ऋ. १। १६२। १२), तो क्या अब प्रतिपक्षी वेदको भी यवन-ईसाइयोंकी संस्कृतिके सिद्धान्तोंका कोष मानेगा; उनमें कोई अन्तर नहीं

मानेगा ? और उसमें 'भंगके तरङ्ग'का प्रयोग मानेगा ? यदि प्रतिपक्षी वैदिक तथा लौकिकसाहित्यमें 'मांस'का 'गूदा' अर्थ करता है; तो शाङ्करभाष्यमें भी वही अर्थ होगा। कई ओषधियां 'बल'के नाम वाली भी होती हैं। देखिये—

'यानि भद्राणि बीजानि ऋषभा जनयन्ति, तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व' (अ. ३। २३। ३) इस मन्त्रमें 'ऋषभ'का सेवन दिखलाया है, उसीसे पुत्रकी प्राप्ति कही है। अमरकोषम भी 'शृङ्गी-तु ऋषभो वृषः' (२। ४। ११६) यह बैलके नामसे ओषधिका नाम कहा है। उसी ऋषभकन्दके मांस (तीसरे परिणाम) का शाङ्करभाष्यमें भी वर्णन है; क्योंकि—वह बैलके नाम वाला होता है। उसकी पहली दशामें उसे 'उक्षा' कहा जाता है, और बढ़ी दशामें 'ऋषभ'। जैसे छोटी दाखको 'किशमिश' कहते हैं; और बड़ीको मुनक्का। जैसे छोटी-इलायची और बड़ी-इलायची भिन्न-भिन्न गुणवाली होती हैं. वैसे यहां भी छोटी-बड़ी दो ओष-धियाँ कही गई हैं। इसोकी स्पष्टता शाङ्करभाष्यमें है। तब उस-पर आक्षेप करना केवल स्वा.द.की भंगकी तरंगकी रक्षार्थ है, यह प्रतिपक्षी स्वयं सिद्ध कर रहा है।

शाङ्करसम्प्रदाय पर प्रच्छन्न-बौद्धताका आक्षेप।

(७) आक्षेप—'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च। मयैव कथितं देवि ! कलौ ब्राह्मणरूपिणा' (उत्तर, २-६। ६-७। पद्मपुराणके इस 'सांख्यसूत्र'की वृत्तिमें श्रीविज्ञानभिक्षुद्वारा उद्धृत वचनमें श्रीशङ्कराचार्य तथा उनके मतको 'प्रच्छन्न-बौद्ध' कहा है [श्रीदेवराजशास्त्री 'भारतीय दर्शनशास्त्रका इतिहास' (पृ. ३८३)में, डा० भगवानदास 'शास्त्रवाद बनाम बुद्धिवाद' (पृ. ३२ में), श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य 'हिन्दु भारतका उत्कर्ष' (पृ २९४)में, श्रीविश्वनाथशास्त्री वेदव्याकरणतीर्थ

'भगवान् बुद्धावतार' (पृ. ३६) में, श्रीरुद्रदेवशास्त्री 'चैतन्य-मीमांसा'में शङ्करको छिपा हुआ बौद्ध मानते हैं। (श्री कुश-वाहा)

परि०—भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमें कई पूर्वपक्षात्मक पद्य भी होते हैं; उनसे सिद्धान्त नहीं हो जाता। वहांपर विरोधियोंके वचन-का अनुवाद होता है। कहीं स्वशास्त्रकी प्रशंसार्थ अन्यके निन्दा-र्थवाद-सम्बन्धी एकदेशी वचन भी होते हैं, वे भी सर्वतन्त्रसिद्धान्त नहीं माने जाते। इस प्रकार 'मायावादमसच्छास्त्र' यह पद्य भी एकदेशी वचन है। वैष्णव-पुराणोंमें शांकर-सम्प्रदायवालोंकी निन्दा होना स्वाभाविक होता है, और शैवपुराणमें वैष्णव सम्प्रदायवालोंकी। इन अर्थवादोंका अपनेसे भिन्न-सम्प्रदायमें निष्ठा न रखकर अपने ही सम्प्रदायमें निष्ठा रखना—इस बातमें तात्पर्य रहता है। 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः'में गाय-घोड़से भिन्न पशुओंको अपशु कहा है। सो यह अर्थवाद गाय-घोड़की प्रशंसामें तात्पर्य रखता है; उनसे भिन्न गधा आदि पशुओंको पशु-कोटिसे निकालनेमें तथा 'उसे कुम्हार भी न रखें'—इस अर्थमें तात्पर्य नहीं रखता। इस प्रकार शास्त्रोंमें किसीकी निन्दा अपने विधेयकी स्तुत्यर्थ होती है। 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु विधेयं स्तोतुम्' यह शास्त्रीय न्याय हुआ करता है। जब तक प्रतिपक्षी इन बातोंका ज्ञान नहीं रखता, तब तक उसे शास्त्रोंका तात्पर्य नहीं मिल सकता।

पद्म-पुराणके उसी स्थलमें कणादके वैशेषिक-दर्शन, गौतमके न्यायदर्शन, कपिलके सांख्यदर्शन तथा जैमिनिके मीमांसा-दर्शनको भी तामस बताया गया है। क्या प्रतिपक्षी भी इस बात-का मानता है? यदि वह इन वचनोंको प्रक्षिप्त मानता है; तो इस प्रक्षिप्त पद्यको देने का उसका क्या अधिकार है? वस्तुतः

यहां भगवद्भक्तिरहित साहित्यका निन्दार्थवाद है।

जोकि आचार्यशङ्करको मायावादके कारण असत्-शास्त्र-का प्रवर्तक और प्रच्छन्नबौद्ध कहा है, सो यह भी भगवद्भक्ति-रहितताका अर्थवाद है, यह पहले कह चुके हैं। पद्मपुराणमें उसी स्थलमें कहा है—'तामसानि च शास्त्राणि समाचक्ष्व ममा-ऽनघ! संप्रोक्तानि च यैर्विप्रैर्भगवद्भक्तिवर्जितैः' (उत्तर-२३६।१) बात यह है कि—इस मतमें जीव-ब्रह्मके अभेदवश उपास्य-उपा-सकता न होनेसे भगवद्भक्तिको अवकाश नहीं रहता। सो यह तुरीयाश्रमकेलिए परमार्थ होता हुआ भी आदिम-कोटिमें भक्ति-उपासना छुड़वा देनेसे चित्तशुद्धि नहीं होने देता—यही कारण इसके निन्दार्थवादका है।

अन्य बात यह है कि—यह अनधिकारियोंके पास पहुँचनेसे कई चोरी-जारी आदि हानियां भी पहुँचवा सकता है। जैसे कि एक व्यभिचारिणी स्त्रीने अपनी सखीको कहा था—'ब्रह्मैव सत्यमपरं न ततोऽस्ति किञ्चित्, तस्मान्न मे सखि! परापरभेद-बुद्धिः। जारे तथा निजवरे सदृशोनुरागो, व्यर्थं किमर्थमसतीं कदर्थयन्ति।' इस कारण अर्थवादसे इसकी निन्दा की गई है।

अर्थवाद सर्वथा सत्य हो; यह बात कभी नहीं हो सकती। सो शङ्कराचार्यकी प्रच्छन्न-बौद्धता तो अनुभवसे भी विरुद्ध है। मायाके कारण वे सब वस्तुओंको असत् (शून्य) मानते हैं, बौद्ध भी सब वस्तुओंको क्षण-क्षणविपरिणामी होनेसे असत् (शून्य) मानते हैं; इतने मात्रके कुछ थोड़से साम्यसे उन्हें प्रच्छन्न-बौद्ध कहना सम्भव है, पर इसमें सत्यांश कुछ भी नहीं। बौद्धोंके सर्वशून्यतावाद और शङ्करके शून्यवादमें आकाश-पातालका अन्तर है। शङ्कर ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य किसीकी पारमार्थिक सत्ता नहीं मानते, अर्थात् ब्रह्मकी ही पारमार्थिकी सत्ता मानते

हैं; शेष वस्तुमात्रको मायिक, ब्रह्मका विवर्तमात्र मानते हैं, अतः आस्तिक हैं। सभीको ब्रह्म मानते हैं, व्यवहारपक्षमे उनकी सत्ता भी कुछ मानते हैं। पर बौद्ध लोग तो ब्रह्मकी भी पारमार्थिक सत्ता नहीं मानते। उनका शून्यवाद निरालम्बन है, अतः दोनोंको एक कहना नहीं हो सकता। सो द्वैतवादपक्षमें उनका निन्दार्थवादसे यह कथन है, वस्तुतः नहीं। अर्थवादमें सभी शब्दोंका अर्थ गृहीत न होकर केवल निन्दा तथा उनके प्रतिद्वन्द्वी पक्षकी प्रशंसा इष्ट होती है।

आचार्यशङ्करके उपजीव्य वेदान्तसूत्र, भगवद्गीता, उपनिषदादि हैं; तो क्या यह बौद्धोंकी पुस्तकें हैं? यदि शङ्कर बौद्ध थे; तो उन्होंने शास्त्रार्थ करके बौद्धोंको पराजित कर भारतवर्षसे क्यों निकलवाया?

फलतः उक्त पौराणिक आक्षेप-वचन द्वैतवादपक्षका है। उन्होंने भांप लिया था कि—अद्वैतवाद पारमार्थिक होनेसे व्यावहारिक सर्वथा नहीं; क्योंकि—इससे उपास्य-उपासकके अभेद हो जानेके कारण सन्ध्या, उपासना, भगवद्भक्ति न हो सकेगी। तब उन्होंने भक्तिवादके प्रचारार्थ द्वैतवादपर बल दिया और अद्वैतवादके उद्धारक शाङ्करमतसे लोगोंको हटवानेके लिए निन्दार्थवादसे उसे 'प्रच्छन्न-बौद्ध' कहा। वस्तुतः प्रच्छन्न-बौद्ध वे हैं; जो अपनी संकुचित बुद्धिमें न समा सकनेवाली बातको 'गप्प' कहकर माननेसे नकार कर दिया करते हैं, अपनी बुद्धिमें आ सकनेवाली बातको मान लेते हैं, ऊपर-ऊपरसे वेद-वेद चिल्लाया करते हैं। 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' परमात्माको सृष्टिनियमविरुद्ध कर्म करनेमें असमर्थ बताते हैं, उसको प्रकृतिसे विरहित होनेपर लङ्गड़ा बता देते हैं। परमात्माकी सर्वशक्तिमत्ता भी इन्हींकी इच्छापर अवलम्बित होती है, अतः 'प्रच्छन्न-

बौद्ध' वही हैं, और अपनी बलाय दूसरे पर डाला चाहते हैं। कुछ इस विषय पर आगे भी कहा जावेगा। स्वा. दयानन्दजीके कापड़ी-अकापड़ी होने पर श्रीकुशवाहाने लिखा है, हमने भी उसका प्रत्युत्तर लिख रखा है, पर यहां स्थान नहीं, अतः अपनेसे सम्पाद्यमान 'सिद्धान्त' पत्रमें उसे प्रकाशित कर दिया है।

शिवलिङ्ग-पूजापर आक्षेप

(८) आक्षेप—पौराणिकोंके मन्दिरोंमें जो शिवकी पूजा होती है, वह उनके लिङ्ग (उपस्थेन्द्रिय) और पार्वतीके भग (योनि) की होती है। इसकी पुष्टि पौराणिकोंके मान्य ग्रन्थोंसे होती है। (क) यथा—'शम्भोः पपात भुवि लिङ्गमिदं प्रसिद्धं' (देवीभाग. ५।१६।१६) नीलकण्ठकी टीका—'भृगोः शापाल्लिगं पतितमिदं पुराणेषु प्रसिद्धम्। स्वलिंग-पालनेपि यो न समर्थः'। इसी पुराणने शिवको देहधारी भी बताया है, तब यह कथा आलंकारिक भी नहीं हो सकती—'रागी विष्णुः शिवो रागी ब्रह्मापि राग-संयुतः' 'रागवान् किमकृत्यं वै न करोति नराधिप' (अ. १३)। (ख) 'यस्मात् पाप! त्वयाऽस्माकं आश्रमोयं विडम्बितः। तस्मात् लिग पतत्वाशु तवैव वसुधातले। (पद्मपुराण नागर.खं. १-२०)। (ग) शिवलिंगकी स्थापना क्यों-इस पर दारुवनकी कथा (शिव. कोटिरुद्र सं. ४।१२।४५)। (घ) कूर्म पुराण ३८ अ. 'ताडितोऽस्माभिरत्यर्थं लिंगं तु विनिपातितम्' (५४)। इसी प्रकार धर्मसहिता (१०।२०७) में भी यह कथा आई है। यही कथा स्कन्द पुराण महेश्वरखण्ड ६ अ. में, लिंग पु. पूर्व. ३७।३३-५० में, वायुपुराणके ५५ अध्यायमें है। [ङ] लिंगपर अन्य कथा नारद पञ्चरात्र. ३।१ से शब्दकल्पद्रुमकोषमें उद्धृत है; इसमें सतीशम्भुके रमणकी कथा कह कर अन्तमें कहा है—'यत्र लिंगं तत्र योनिर्यत्र योनिस्ततः शिवः।

उभयोश्चैव तेजोभिः शिवलिंगं व्यजायत'। (१। १३-१४) यहां पर लिग तथा योनि स्पष्ट मूत्रेन्द्रियके अर्थ में हैं। [च] महाभारत अनुशा. १४। २२६ में,—'न शुश्रुम यदन्यस्य लिंगमभ्यर्चितं सुरैः' 'लिंगांका च भगांका च तस्मान्माहेश्वरी प्रजा [२२९] पुंलिगं सर्वमीशानं स्त्रीलिगं विद्धि चाप्युमाम्। द्वाभ्यां तनुभ्यां व्याप्तं हि चराचरमिदं जगत्' [२३१] इत्यादि। इससे निश्चय हो गया कि—लिंगके चारों ओरकी जलहरी पार्वतीके भगका चित्र है। [छ] 'लिंगं विहाय मे मूर्ति पूजयिष्यन्ति ये नराः। वंशच्छेदो भवेत् तेषां, (२७) ···सर्वाण्यंगानि संत्यज्य तस्माल्लिगं प्रपूज्यते। २९।' (ज) अन्य प्रमाण भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, ख. ४ अ. १७। ७५ अनसूयाके शापसे. महादेवके लिंगको, ब्रह्माके शिरको, विष्णुके चरणोंको लोग पूजेंगे' इसमें शिर और पैरोंके सहयोगसे लिंग भी शरीरके अंग मूत्रेन्द्रियका ही नाम है। वेदके अनुसार शिवजीका कार्य सर्वथा अनुचित था; क्योंकि 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः' [ऋ. १०। ५। ६] इसपर निरुक्तमें 'तासामेकामभिगच्छन् अंहस्वान् भवति—स्तेयं तल्पारोहणं, ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां, पातकेऽनृतोद्यम्' (६। २८)। शिवजीने व्यभिचार किया, उनका कर्म वेद-विरुद्ध हुआ।

इसपर पं. दीनानाथ शास्त्रीका 'आलोक'के ६ठे सुमन (पृ.-६५३-५४) में यह कहना कि—'अथवा शिवलिङ्गको शिवका लिङ्ग तथा जलहरीको पार्वतीका भग भी आपलोगोंके अनुसार मान लिया जावे, और उनके पूजनीय होनेमें शङ्का की जावे; तो उसपर यह जानें कि—गौरी-शंकर परमात्मा होनेसे जगत्‌के जननी-जनक हैं। जननी-जनकको पूजनीय कौन नहीं मानता' इसपर उत्तर यह है कि—सत्य बात सभीको माननी पड़ती है, लिंग-भगको

मूत्रेन्द्रिय आपको अन्तमें मानना ही पड़ा। तब ज्योतिर्लि मानने वाले श्रीकालूरामशास्त्री श्रीमाधवाचार्य शास्त्रीके लेखों पर हड़ताल (?) फिर गया।

आप शिवको पिता, पार्वतीको माता मानते हैं, तो आप पु हुए। शिवलिंग पर आप लोग गंगाजल चढ़ाकर पाप करते हैं क्योंकि—गंगा शिवजीकी जटासे निकलनेसे उनकी पुत्री हुई क्या पिताकी मूत्रेन्द्रियपर पुत्रीको चढ़ाना सनातनधर्म है? पुराणोंमें गौरीशंकर कभी परमात्मा नहीं हो सकते? क्या व्यभिचार करना ही परमात्माका काम है?।

मूर्तिपूजा अवैदिक है, वेदोंमें कहीं भी मूर्तिपूजाकी चर्चा नहीं है। पुराणोंमें मूर्तिपूजाकी निन्दा है। देखो भागवत—'यस्यात्म बुद्धिः······भौम इज्यधीः। यस्तीर्थबुद्धिः सलिलेषु कर्हिचित् जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः' (१०। २४। १३) कहीं-कहीं 'सलिलेन' पाठ भी है। 'जो पृथ्वीके विकार मिट्टी आदिमें पूज्य बुद्धि है, वह ऐसा है, जैसे कि गौओंके बीचमें गधा'। भविष्य पुराण मध्यमपर्व ७ अ. में 'वासुदेवाग्रतश्चापि रुद्र-माहात्म्य वर्णनम्। रुद्राग्रे वासुदेवस्य कीर्तनं पुण्यवर्धनम्। यः करो विमूढात्मा गार्दभीं योनिमाविशेत्'। शिलालिंगका पुजारी शूद्र (शिव. विद्ये. १। १८। ४९) सर्वत्र शिवालयोंमें पत्थरके लिं की पूजा होती है, क्या उनकी पूजा करने वाले पुराणके अनु सार शूद्र हैं? । शिवलिंगार्चनरतः शिवविप्रस्तु निन्दितः (भविष्य. मध्यम. २। १। ५। ८८) शिवलिंगके पूजनमें ल हुआ शिवका पुजारी ब्राह्मण निन्दाके योग्य है।

वेदोंमें कल्याणकारी परमात्माको शिवशंकर नामसे क गया है, पौराणिक शंकर, नरमुण्डमालाधारी, भस्मभूषित, रोही, सर्पकण्ठ, नृत्यप्रिय नटवर, नन्दावेश्यागामी, अनसूया

विध्वंसक, हस्तेलिंगधृक्की चर्चा चारों वेदोंमें कहीं नहीं है (श्रीकुशवाहा 'शिवलिंगपूजा-पर्यालोचन'में)

परिहार—इनमें बहुतसे आक्षेपोंका परिहार आगेके उत्तरोंमें आ ही जाएगा। शेष बातोंका उत्तर यहां संक्षेपसे दिया जाता है। पूर्वोत्तर पाठ छोड़कर अपना पक्ष सिद्ध करना यह प्रतिपक्षियोंकी अपने स्वामीसे लेकर अबतक प्रकृति चली आई है। 'आलोक'के ६ठे सुमनसे प्रतिपक्षीने जो हमारा उद्धरण दिया है, उस में पूर्व एवं उत्तर पाठको उसने अपनी सम्प्रदायपरम्पराकी प्रकृतिसे छिपा लिया। पूर्व पाठमें हमने सिद्ध किया था कि—शिवलिङ्ग ब्रह्माण्ड-की प्रतीक है, उसपर तो वह चुप्पो साध गया। उसके वाद हमने वादितोषन्यायसे प्रतिपक्षीके ही अनुसार लिंग और भग अंग मानकर भी उसका प्रत्युत्तर दिया था, उस पाठको छिपा कर भी प्रतिपक्षी उस पर भी चुप्पी साध गया।

जो कि उसने लिखा है कि 'जो बात सत्य होती है, उसे सभीको मानना पड़ता है, अन्तमें आपको लिंग और भगको मूत्रेन्द्रिय मानना पड़ा' यह है प्रतिपक्षीका दार्शनिक ज्ञान !! महाशय ! इसका नाम 'अभ्युपगमवाद' होता है। इसका लक्षण न्यायदर्शनमें यह है—'अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षण-मभ्युपगमसिद्धान्तः' (१।१।३१) इसका तात्पर्य यह हैं कि जब कोई हठी प्रतिपक्षी हमारी बात न मानें, अपने ही दुराग्रहपर डटा रहकर अपने पक्षको न छोड़े, तब इसमें वादीके उस मतको भी थोड़ीदेरके लिए मानकर उसका भी अन्तमें खण्डन कर दिया जाता है, इसका नाम अभ्युपगमवाद होता है; यह अपना सिद्धान्त नहीं बन जाता, तब इसमें हमारा पं. कालूरामजी तथा पं. माधवाचार्यजी आदिसे कुछ भी विरोध नहीं पड़ता, जोकि प्रतिपक्षीने उनके लेखपर हमारे द्वारा हड़ताल (?) फेरना लिखा है।

उसपर दिये हुए हमारे प्रत्युत्तरको छिपाकर वह 'अप्रतिभा' निग्रहस्थानमें आकर पराजित हो गया।

स्वयं वादी तथा उसका आचार्य जब कि अपने जननी-जनक को पूजनीय मानता है (देखो स. प्र. ११ पञ्चायतनदेवपूजा), और जननी-जनकत्व वस्तुतः जिन अंगोंमें है, उनकी प्रतिपक्षी पूजा क्यों नहीं मानता ? वह छुआछूत भी नहीं मानता; तब तो उसे अपने माता-पिताके लिंग-योनिकी पूजा करनी वा माननी ही पड़ेगी; तब जगत्के जननी-जनकके पवित्र अंगोंकी पूजा तो उसे स्वीकृत करनी ही पड़ेगी। अथवा प्रतिपक्षी लिंग-योनिकी पूजाका बाहरसे न मानना भी दिखलाये; तथापि वह तो उसे अब भी करता ही है, वही क्या, किन्तु सभी उसके सम्प्रदायवाले भी करते हैं; तब वह फिर शिवलिंग-पूजापर उपहास कैसे करता है ? देखिये—प्रतिपक्षी करशनलाल तिवारी वा अम्बाशंकरके लिग तथा उनकी पत्नीके भगकी पूजा (सम्मान) स्वयं करते हैं, तभी तो उनके लिंग तथा भगके मिश्रित बिन्दु (स्वा.द.) का वे पूजन (सम्मान) करते हैं, वे और उनकी स्त्री उन दो लिंगोंके बिन्दुओंके समुदायको अपना स्वामी भी मानते हैं। पूजाका प्रकार भी सबका एकसा नहीं हो सकता। कोई उसमें घण्टा-घड़ियाल बजा देता है, कोई केवल हाथ जोड़ देता है, कोई 'नमस्ते' कह देता है, कोई माथेपर हाथ लगा दिया करता है, कोई हैट उतार देता है। प्रकारभेद होनेपर भी लक्ष्य उसमें पूजा ही होती है। तभी प्रतिपक्षी उन लिंग-बिन्दुओंकी परिणत मूर्तिको चित्रांकित करके सम्मानित-उन्नत स्थानपर उसे रखते हैं उसपर श्रद्धावनत होते हैं; इस प्रकार जब प्रतिपक्षी साधारण मनुष्य स्त्री-पुरुषोंके अपवित्र लिंग-योनिके ही अन्य रूपकी पूजा करके उन गुप्त अंगोंकी ही पूजा कर रहे होते हैं; इस प्रकार

सम्पूर्ण जगत् भी जब लिंग-योनिके ही विवर्त्त रूपकी पूजामें लगा हुआ है, क्योंकि -तदुत्पन्न मनुष्योंका सम्मान करता है, तब वह जगत्के माता-पिताके पवित्र लिंग-भगकी पूजासे विमुख क्यों होता है, वा उसपर उपहास क्यों करता है ? एक समय उनके मूलगुरु स्वामी भी इस भग-लिंगकी पूजा करके उसका फल यश आदि प्राप्त कर चुके हैं, और उनके पिता भी; जिनके लिंगकी ही दूसरो मूर्तिको आप अभी तक भी नहीं छोड़ रहे; तब प्रतिपक्षोको चाहिये, वह भी उन भग-लिंगोंको पूजकर यश प्राप्त करे।

जब प्रतिपक्षी पुराणसे शिवलिंगकी पूजा बताता है, और पुराण शिव-पार्वतीको परमेश्वर होनेसे जगत्के माता-पिता बताते हैं, जैसे कि शिवपुराणमें ही कहा है—'त्वं पिता जगतां तात ! सती माताऽखिलस्य च' (रुद्र० सती० १९। ३) सा देवी जगतां माता स शिवो जगतः पिता। पित्रोः शुश्रूषके नित्यं कृ-पाधिक्यं प्रवर्तते' (विद्ये. १६।९३) पितृ-मातृस्वरूपेण शिवलिंगं प्रपूजयेत्' (९५) तब प्रतिपक्षी उनका माता-पिता होना कैसे निषिद्ध करता है? क्या यह 'अर्धजरतीय' न्याय नहीं। क्या वह व्यभिचारी भी माता-पिताका माता-पितृत्व नष्ट कर सकता है ? 'त्वं हि नः पिता वसो ! त्वं माता' (ऋ. ८। ९८। ११) यहां वेद में भी परमात्मा को माता-पिता बताया है। माता 'भगाङ्का' मूर्ति हुई, और पिता 'लिंगांका'। जब माता-पिता दोनों पूज्य हैं; वह उनकी माता-पितृता एवं पूज्यता उनके सारे शरीरमें व्याप्त है; तब माता-पिता रूप परमात्माकी पूजा भग-लिंगकी ही पूजा हुई, क्योंकि यही दोनों ही तो माता-पितृत्वके भेदक हैं; तब उस पर उपहास कैसा ? केवल विचार-दृष्टि अपेक्षित है।

प्रतिपक्षी व्यभिचारीको परमात्मा और परमात्माको व्यभि-

चारी नहीं मानता। व्यभिचार वह किसे कहता है ? यदि अन्य स्त्रीके अंगमें गुप्त-व्यवहारको व्यभिचार मानता है, उसके पिताने भी अन्य स्त्री ली और उससे व्यवहार किया, यह व्यभिचार नहीं ? यदि वह कहे कि वह तो वेदमन्त्रों अपनी बना ली गई; इसपर वह जाने कि—वह वेदमन्त्रों कर्त्ता परमात्मा भी उसे पहलेसे ही अपना बना चुका होता है; स्वा.द.जीने विवाह-संस्कारमें अपनी सं.वि. (पृ० १५५)में 'इ न्नी ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु' इस मन्त्रके अर्थ लिखा है—'जैसे ....(ब्रह्म) सबसे बड़ा परमात्मा...आदि (इ नारीं) **इस मेरी स्त्रीको प्रजासे बढ़ाया करते हैं'** यहाँ परमात्मा जब स्वा.द.के अनुसार आप लोगोंकी स्त्रीको प्रजासे बढ़ा करता है, गर्भाधान-संस्कारमें 'विष्णुर्योनिं कल्पयतु...धाता दधातु ते' (पृ० ४०) इसमन्त्रसे विष्णु (परमात्मा) भी आ लोगोंकी स्त्रीकी योनि ठीक करता है; और उसमें गर्भ धार करता है, बल्कि वह परमात्मा सभी स्त्रियोंकी योनिमें मैथुनादिके समय भी व्यापक रहता है, इसलिए "स नः पि जनिता" (अ० २। १। ३) वह परमात्मा भी सभीका जनयि माना जाता है, तब क्या वह व्यभिचारी है ? यदि ऐसा है; त उसे परमात्मा मत मानिये, उसे अपनी स्त्रियोंके अंगोंसे बाह निकाल डालिये। वह तो ऐसा व्यभिचारी है कि मानुषी ही क्या पशु-पक्षी स्त्रियोंके प्रजननांगोंमें भी रम रहा है, तब उस व्यभि चारीको परमात्मा न मानकर उसकी जगद्व्यापकता हटा दो! वही तो महादेव है। यदि उससे छूट नहीं सकते; तब उसप कलंक मत लगाओ। आकाशपर थूका हुआ आपके मुंहपर ही पड़ेगा। शिव भी तो पुराणमें परमात्मा ही बताये गये हैं।

शिवकी जटासे निकलनेपर गंगाको प्रतिपक्षी यदि उसकी पुत्री मानता है; तो प्रतिपक्षीकी स्त्रीकी जटासे जुएँ निकलती हैं; वह भी उसकी पुत्रियाँ हुईं; तब वे क्या कभी उनका विवाह भी कराते हैं? अथवा उन अपनी पुत्रियोंको सिरसे निकाल कर फेंक वा मार दिया करते हैं? यदि प्रतिपक्षी कहे कि-अमैथुनयोनित्व-में पुत्री-व्यवहार नहीं होता; तब फिर वह यहां पर कैसे कहता है? सृष्टिकी आदिमें एक ही परमात्मासे उत्पन्न जोड़े स्त्री-पुरुषोंका वे विवाह मानते हैं। एकसे उत्पन्न होनेसे वे आपसमें भाई-बहन हुए। उनके विवाह तथा सन्तान उत्पन्न करनेको भी प्रतिपक्षी क्या व्यभिचार मानता है? यदि हां; तब उसने अपने पूर्वजोंको भी व्यभिचारी बना दिया; और स्वयंको भी व्यभि-चारियोंकी सन्तान बना दिया।

यदि प्रतिपक्षी यह बातें अमैथुनोत्पत्ति वालोंमें लागू नहीं मानता, तब स्वयम्भू-महादेवपर वैसे दोष लगाती हुई उसकी अपनी बुद्धि ही व्यभिचारिणी होकर खण्डित होगई। उसे चाहिये कि-इन बातोंमें-जिनमें उसकी बुद्धि जबाब दे जाती है, व्यर्थके दोष लगाकर अपनी क्षुद्र-पुस्तिकाओंके कलेवर काले न करे।

गंगाको उसने महादेवकी पुत्री बनाया; तो क्या जटा भी कोई मानुषी-स्त्री-अंग योनि थी; और उससे कोई उत्पत्ति हुई? वह तो विष्णुके चरणोंका धोवन था; जिसे महादेवने अपनी जटामें धारण किया था कि-वह भगीरथके मांगनेपर नीचे डाली हुई पातालमें न चली जावे। फिर भगीरथको देनेके लिए उन्होंने उसके तीन छींटे विभक्त करके मर्त्यगंगा इस लोक में भेज दी। तो सिरकी जटाओंमें जलको भर देना, फिर उससे निकलनेवाली जलकी बूंदें क्या पुत्र-पुत्री हो जाएंगी? यहहै

प्रतिपक्षोकी विलक्षण बुद्धि !!!

लिंग-योनिके विषयमें यह जानना चाहिये कि-जहां कोई उत्पत्ति बताई जाती है, वहां लिंग-योनि होती ही है। वृक्षोंमें भी उत्पत्ति होती है, खेती भी पैदा होती है- इन सबमें भी लिंग-योनि होती है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड भो पैदा होता है, उसमें भी लिंग-योनि उत्पादककी माननी ही पड़ेगी। प्रतिपक्षी परमेश्वर तथा प्रकृतिको ब्रह्माण्डका कर्ता मानते हैं। यह भी वे मानते हैं कि-परमात्मा सृष्टिनियमविरुद्ध कार्य कभी नहीं कर सकता। जैसे कि स० प्र०में स्वामीने भी लिखा है—'जो-जो सृष्टिक्रमके अनुकूल, वह-वह सत्य और उससे विरुद्ध असत्य है' (३ समु० पृ० ३१) तब उन्हें भी 'लिंगांका च भगांका च तस्मान्माहेश्वरी प्रजा' (महा० अनु० १४। २२९)के अनुसार-शिवपरमात्माको लिंग-स्वरूप तथा पार्वतीरूप प्रकृतिको भगस्वरूप 'भगवन्तं महादेवं शिवलिंगं प्रपूजयेत्' (१६। १०५) लिंगमर्थं हि पुरुषं शिवं गमयतीत्यदः' (१०७) लीनार्थगमकं चिन्हं लिंगमित्यभिधीयते (१६। १०६) भं वृद्धिं गच्छतीत्यर्थाद् भगः प्रकृतिरुच्यते' (शिव. विद्येश्वर सं० १६। १०१) मानना ही पड़ेगा। जब इनके विना उनके मतमें सृष्टि कभी हो नहीं सकती, तब क्या इन लिंग-योनि को, प्रतिपक्षी मनुष्यके भग-लिंगकी भ्रान्ति मान लेगा? कुछ विलक्षणता उसमें उसे माननी ही पड़ेगी। यदि उसमें मानुषता न मानकर आलंकारिकता वा दिव्यता मानें, तो इस भग-लिंगमें भी उसे आलंकारिकता वा दिव्यता मानकर अपना समाधान कर लेना चाहिये। सब जगह मनुष्य-सदृशता हो—यह बात नहीं। मनुष्यके तो लिंग-योनिमें लज्जा तथा अस्पृश्यता आदि होती है, अन्यत्र नहीं।

सो जगत्के आदिमूल माता-पिता परमेश्वर महादेव एवं

पार्वतीके जो लिंग-योनि कहे जाते हैं; वे कोई मानुषी अंग नहीं होते, जिनमें लज्जा वा उपहासका अवसर हो। वे दिव्य एवं ब्रह्माण्डके प्रतीक ही होते हैं। नहीं तो उस लिंगकी जो-जो बातें लिखी है कि—उससे अग्नि लग गई, उसका आदि-अन्त नहीं पाया गया, वह ज्वालामालासहस्राढ्य है, यह बातें प्रतिपक्षी क्या अपने लिंगोंमें सिद्ध कर सकता है? वस्तुतः यह सब अलौकिक बातें हैं, यह बातें ब्रह्माण्डमें जो पहले आगके गोलेके रूपमें था, फिर धीरे-धीरे जल आदि द्वारा ठंडा हुआ—इन विज्ञान-सम्मत बातोंके अनुकूल तो हो जाती हैं। प्रतिपक्षीकी संकुचित एव अश्लीलता तक पहुँचने वाली बुद्धि इन बातोंकी गहराई तक नहीं पहुँच सकती। अतः उसे उचित है कि उन लोकोत्तर बातोंमें अडंगा लगाकर अपने अज्ञानको प्रकाशित न करे।

यह मूत्रेन्द्रिय वाला लिंग नहीं, किन्तु ज्योतिर्मय अलौकिक लिंग है। इसे शिवलिंग कहा जाता है, 'शिवशिश्न' नहीं, वा शिवेन्द्रिय नहीं। इसकी इस आकृतिसे जो प्रतिपक्षीको सन्देह होता है, यह तो उसकी प्रणवाकृति 'ॐ' है। यदि प्रतिपक्षी इस ॐको आकृतिपर सूक्ष्म ध्यान दे; तो उसे इस 'ॐ'में भी वही प्राकृतिक भग-लिंगकी आकृति दीखेगी, आरम्भमें भग-जैसी दक्षिणपार्श्वमें लिंग-जैसी। जैसा जिसका विचार हो, वैसा उसे दीखता है। इस प्रकार तो पानके वा पीपलके पत्तेको भी इनमें एक आकृति, तथा खीरेको दूसरी आकृति, सन्ध्याके अर्घा तथा यज्ञपात्रोंमें प्रोक्षणी, पुरोडाशपात्री तथा शृतावदान आदिको भी इन्हीं अंगोंका अवतार मानकर उसे उनपर उपहास करना पड़ेगा।

प्रतिपक्षीने अपनी इस क्षुद्रपुस्तिकामें लिंगविषयक कई कथाएं जहां-तहांसे ढूंढ कर दी हैं, पर महानन्दाकी कथा नहीं दी।

डा. श्रीरामने वह कथा तो 'शिवलिंगपूजारहस्य' (पृ. ६१)में [illegible] पर वहांके लिंगकी बात छोड़ दी, केवल इसलिए कि—[illegible] प्रतिपक्षियोंके प्रयास पर पानी फिर जाता है। महादेवने [illegible] लिंग महानन्दाको बनाकर रख देनेकेलिए कहा था; तब [illegible] अपनी इन्द्रिय काटकर रख देनेके लिए दे दी थी? यदि ऐसा [illegible] तो प्रतिपक्षोके अनुसार वे 'नन्दावेश्यागामी' (पृ. ४) और व्यभि[illegible]चारी (पृ. २२) कैसे हो सके? सो जो लिंग महादेवने मह[illegible]नन्दाको बनाकर रख देनेकेलिए दिया था; और वह पीछे [illegible] भी उठा; वही लिंग एक मूर्तिविशेष जो विशाल भी हो जाता है और संक्षिप्त भी हो जाता है—वही पुराणको इष्ट है; मूत्रेन्द्रि[illegible] नहीं। उस लिंगकी यह आकृति ॐकाररूपिणी है—यह पुरा[illegible] स्वयं बताता है। देखिये—

'अथाविरभवत्तत्र सनादं शब्दलक्षणम्। ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ब्रह्मणः प्रतिपादकम्' (शिव. वाय. सं. २।३५।१) तत्राऽकार[illegible] श्रितो भागे ज्वलल्लिंगस्य दक्षिणे। उकारश्चोत्तरे तद्वद् मकार[illegible]स्तस्य मध्यतः (४) अर्धमात्रात्मको नादः श्रूयते लिंगमूर्धनि। विभक्तेऽपि तदा तस्मिन् प्रणवे परमाक्षरे' (५) लिंगभागेष्वधो[illegible]भागं बीजाख्यं कारणत्रये' (१०)। लिंगेऽपि मुद्रितं सर्वं यथा वेदैरुदाहृतम्' (५४) तद् दृष्ट्वा मुद्रितं लिंगे प्रसादाल्लिंगिन[illegible]स्तदा। प्रशान्तमनसौ देवौ प्रबुद्धौ सम्बभूवतुः' (५५) 'एवं निवा[illegible]रितौ अद्य लिंगाविर्भावलीलया। (७४) एतस्मिन्नन्तरे चित्र[illegible]मिन्द्रजालवदैश्वरम्। लिंगं क्वापि तिरोभूतं न ताभ्यामुपलभ्यते (८१) ततः प्रभृति शक्राद्याः सर्वं एव सुरासुराः। ऋषयश्च नरा नागा नार्यश्चापि विधानतः। लिंग-प्रतिष्ठां कुर्वन्ति लिंगे तं पूजयन्ति च' (८५) इससे स्पष्ट हो रहा है कि—यह लिंग महादेव-की प्रणवात्मक एक मूर्ति है, जिसका राक्षसेन्द्र रावणद्वारा भी

पूजन आदिकाव्य रामायणमें प्रत्यक्ष है—'यत्र-यत्र स याति स्म रावणो राक्षसेश्वरः । जाम्बूनदमयं लिंगं [तेन] तत्र-तत्र स्म नीयते। वालुकावेदिमध्ये तु तल्लिंगं स्थाप्य रावणः। अर्चयामास गन्धाढ्यैः पुष्पैश्चागुरुगन्धिभिः' (७ । ३१ । ४२-४३) तब क्या रावण महादेवकी उपस्थेन्द्रियको ले जा कर पूजता था ? सचमुच प्रतिपक्षीकी बुद्धि ऐसे अश्लील विचारोंमें लगी शोचनीय है।

शिव. रुद्रसंहिताके सृष्टिखण्डमें भी यह स्पष्ट है—'एतस्मिन्नन्तरे लिंगमभवच्चावयोः पुरः। ज्वालामालासहस्राढ्यं कालानलशतोपमम्' (७ । ४८) तदा समभवत् तत्र नादो वै शब्द-लक्षणः। ओम् ओमिति सुरश्रेष्ठात् सुव्यक्तः प्लुतलक्षणः (८ । ३) लिंगस्य दक्षिणे भागे तथापश्यत् सनातनम् । आद्यं वर्णमकाराख्यमुकारं चोत्तरे ततः (५) मकारं मध्यतश्चैव नादमन्तेऽस्य चोमिति' (६) इससे लिंग शिवकी ओंकारात्मक मूर्ति सिद्ध हुआ।

प्रतिपक्षी जिसे योनि कहता है, उसे पुराण वेदी अथवा पीठिका, वा पिण्डिका, वा वेदिका, वा आधार-वेदी बताता है । जैसे कि—'स्नापयित्वा समभ्यर्च्य लिंगं वेदिकया सह' (३६ । १२) प्राप्य शनकैस्तोयं पीठिकोपरि शाययेत् । प्राक्शिरस्कमधः-सूत्र पिण्डिकां चास्य पश्चिमे' (१३)। जिस लिंगको प्रतिपक्षी इन्द्रिय मानता है, उसे पुराण स्तम्भात्मक भी बताता है जैसे—'महानलस्तम्भविभीषणाकृतिः' (विद्येश्व.सं. ७ । ११) अतीन्द्रियमिदं स्तम्भमग्निरूपं' (१४) स्तम्भान्तो वीक्षितो धात्रा' (२५) विधिं प्रहर्तुं शठमग्निलिंगतः' (२६) । तब प्रतिपक्षीको मूत्रेन्द्रियके सपने क्यों आते हैं, एक सच्चरित्रसे ऐसी आशा नहीं हो सकती। प्रमाण इतने हैं कि—प्रतिपक्षी देखते-देखते थक जायगा।

इस मीमांसासे प्रतिपक्षीके सभी तर्क-अनुमानादि खण्डित हो गये। जब वह यह शंका पुराणपर करता है, तो पुराणने

जो शिवलिंगका स्वरूप बताया है, उसे उसको मानना पड़ेगा, नहीं तो उसका तर्क 'अभित्तिचित्र' हो जावेगा। तभी तो उसी वेदीपर पञ्चमुखी महादेवकी मूर्ति भी होती है; अन्यथा लौकिक योनिपर मुखका क्या काम ? लोकमें स्त्रीलिंगके जिस स्थान पर पुरुषका अङ्ग होता है, उस स्थानपर शिवलिंग नहीं; अतः वादी के अनुमान प्रत्यक्षमें भी अशुद्ध हैं।

शेष आक्षेपोंपर जानना चाहिये कि—'लिंगांका च भगांका च तस्मान्माहेश्वरी प्रजा' (महा०) यहांपर 'भगांका'का अर्थ है प्रकृति (स्त्री) स्वरूपा। 'भं वृद्धिं गच्छतीत्यर्थाद् भगः प्रकृतिरुच्यते' (विद्ये. सं. १६ । १०१) । तथा 'लिंगांका' का अर्थ है पुरुषस्वरूपा—'लिंगमर्थं हि पुरुषं शिवं गमयतीत्यदः'—(विद्ये. १६ । १०७) । इसके प्रमाण पहले भी लिखे जा चुके हैं। यहां प्रतिपक्षी अपना दिया प्रमाण भी देख ले—'पुंलिंगं सर्वमीशानं (पुरुषं) स्त्रीलिंगं विद्धि चाप्युमाम् (प्रकृतिम्)। द्वाभ्यां तनुभ्यां व्याप्तं हि चराचरमिदं जगत्' (महा० [अनुशा० १४ । २३१) । नहीं तो क्या महेश्वरका भग अंक भी था जोकि भगांकको भी माहेश्वरी प्रजा बताया ?

इसी प्रकार 'यत्र लिंगं तत्र योनिर्यत्र योनिस्ततः शिवः । उभयोश्चैव तेजोभिः शिवलिंगं व्यजायत' (पञ्चरात्र) में भी यही बात है। यहां दूसरे पादमें 'लिंग'के स्थानापन्न 'शिवः' है; अतः 'लिंग' शिवकी मूर्ति है—यह स्फुट है। सती-शम्भुका रमण प्रकृति-पुरुषका रमण है, जिससे ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हुई, कोई लौकिक मैथुन नहीं। देखिये अभी दिया हुआ महाभारत (अनुशासन. १४ । २३१) का प्रमाण। सती (पार्वती) को प्रकृति बताया गया है—'इयं या प्रकृतिर्देवी ह्युमाख्या परमेश्वरी' (शिव, रु. सं. सृष्टि. ६ । ४५) 'एतस्याः प्रकृतेरंशा मत्प्रियायाः

सुरोत्तम ! (४६) । 'भर्गः पुरुषरूपो हि भर्गा प्रकृतिरुच्यते' (विद्ये० सं० १६ । ६५) 'पुरुषात् प्रकृतौ युक्तं प्रथमं जन्म कथ्यते; (६७) ।—यदि मूत्रेन्द्रिय मानी जावे; तो 'जहां लिंग होगा, वहां योनि अवश्य होगी' इस प्रतिपक्षीके किये हुए अर्थके अनुसार क्या प्रतिपक्षीकी मूत्रेन्द्रियके साथ योनि भी साथ लगी हुई है ?

'जो वासुदेवकी मूर्तिके आगे शिवकी स्तुति करता है, वह गधेकी योनि पाता है' यह कथन ठीक है, अनन्या भक्ति चाहिये। जो कभी इधर, कभी उधर भटकेगा, अन्यके क्षेत्रमें अन्यके गीत गावेगा; उसकी यही गति होगी। 'शिलालिंगं तु शूद्राणां महाशुद्धिकरं स्मृतम्' इससे लिंगपूजक शूद्र नहीं हो सकते। शिलालिंगको शूद्रकी महाशुद्धि करनेवाला कहा है; यह नहीं कि—शिलालिंग अन्यवर्णकेलिए निषिद्ध हो। लिंग कई प्रकारके होते हैं, वे सामान्यतया सभी वर्णोंका कल्याण करनेवाले होते हैं. कई विशेष वर्णोंका विशेष कल्याण करने वाले होते हैं; अन्योंकेलिए वे निषिद्ध नहीं होते। स्वा०द०जीने संस्कृत न जाननेवाले शूद्रोंकेलिए वेदप्रकाशार्थ स०प्र० तथा ऋभाभू० (हिन्दी) बनाये हैं, और संस्कृतनिबद्ध वेदभाष्यादि विशेषतया द्विजोंकेलिए बनाये हैं। इससे संस्कृतज्ञाता द्विजोंके लिए स०प्र० आदि निषिद्ध नहीं हो जाते; किन्तु वे संस्कृतानभिज्ञोंके लिए विशेष रूपसे उपकारक हो जाते हैं। इस प्रकार प्रकृतमें भी समझ लें। 'स्वीयाऽभावेऽन्यदीयं तु पूजायां न निषिध्यते' (१८।५०) अपना न होने वा मिलनेपर, अथवा सुविधा न होनेपर फिर अन्यका लिंग ले लेनेमें निषेध नहीं। 'शिला' यहां सामान्य पत्थरका नाम इष्ट भी नहीं, किन्तु 'सिल' वाचक है। जो विशेष-विशेष वर्णोंके लिंग बताये गये हैं, वे काम्य हैं, विशेष कामना देनेवाले हैं, सामान्यतामें कोई हो, कोई निषेध नहीं है। 'अधिकारोस्ति

सर्वेषां शिवलिंगार्चने द्विजाः ! द्विजानां वैदिकेनापि मार्गेणाराधनं वरम्' (शिव० विद्ये० २१। ४१) 'अन्येषामपि जन्तूनां (शूद्रादीनां) वैदिकेन न सम्मतम्'(२१। ४२) इससे द्विज वेदमन्त्रोंसे पूजा करें, और शूद्र वेदभिन्न मन्त्रोंसे, केवल यही पूजनमें भेद है। शेष है वेदमें शिवका वर्णन, वह उसमें ठसाठस भरा हुआ है। हां ! प्रतिपक्षीसे प्रोक्त सभी बातें वेदमें मिलें, यह सम्भव नहीं हो सकता, वेद बीजरूप हैं। उसमें सभी शाखाएं-प्रशाखाएं अव्यक्तरूपसे होती हैं। वेदके सूत्र-यज्ञोपवीतके निर्माणप्रकारादिका सभी वर्णन वेदमें नहीं मिलता; इससे क्या यज्ञोपवीत वेद-विरुद्ध हो जायगा ?। स्वा०द० जीने परमात्माके सच्चिदानन्द, शनैश्चर, मंगल आदि नाम लिखे हैं, उनके माने हुए आर्यसमाज, गुरुकुल आदि भी हैं, यदि यह वेदमें स्पष्ट न आवें, तो क्या वादी उन्हें वेदविरुद्ध मान लेगा ? 'अनसूया-धर्मविध्वंसक, नन्दा-वेश्यागामी' आदि वादीके आक्षेप तो सर्वथा गलत हैं। शेष आक्षेपोंके परिहार आगे आजावेंगे; अतः प्रतिपक्षी उन्हें आगे देखे।

अब 'वैदिकसाहित्यप्रकाशनसंघ, 'कासगंज' के सर्वेसर्वा डा० श्रीराम आर्यके 'संसारके पौराणिक विद्वानोंसे ३१ प्रश्न' इस क्षुद्र-पुस्तिका (ट्रैक्ट) के प्रश्नोंका और कुछ उनके 'शिवलिंग-पूजारहस्य'में लिखे आक्षेपोंका प्रत्युत्तर दिया जावेगा। 'आलोक' पाठक ध्यानसे क्रमसे देखते चलें—

क्या पौराणिक धूर्त हैं ?

(१) प्रश्न—देवीभागवत (५। १६। १२)में पुराण बनाने वालोंको 'धूर्त' क्यों बताया गया है ? यदि व्यासजी अकेलेने पुराण बनाये थे; तो पुराणोंमें तीनों देव ब्रह्मा, विष्णु, महादेवकी निन्दा क्यों की गई है ? ।१।

उत्तर—आक्षिप्त श्लोक यह है—'प्राप्ते कलौ अहह ! दुष्टतरे च काले, न त्वां भजन्ति मनुजा ननु वञ्चितास्ते। धूर्तैः पुराणचतुरैर्हरिशंकराणां सेवापराश्च विहितास्तव निर्मितानाम्'। यह देवताओं द्वारा शक्तिको कहा गया है कि—जो तुम्हारा सेवन नहीं करते, वे ठगे गये हैं। धूर्त पुराने चतुर लोगोंने जनताको तुम से बनाये हुए हरिशंकर आदिका सेवाकर्ता वना दिया है।

प्रश्नकर्ता पुराणोंको लोकदृष्टिसे गिराना चाहते हुए उनपर भांति-भांतिके आक्षेप किया करते हैं; परन्तु या तो वे शास्त्रोंकी शैली नहीं जानते, या जानते हुए भी जनताको ठगते हैं। किसी अपनी इष्ट वस्तुमें प्रवृत्ति और उससे भिन्नसे निवृत्ति करानेकेलिए अर्थवादका आश्रय लिया जाता है। यह सब स्थान हुआ करता है, विशेषकर वेदके ब्राह्मणभागमें तथा तदनुसारी पुराणोंमें। ब्राह्मणभागको प्रतिपक्षी भी 'पुराण' कहा करते हैं। तब पुराणमें तो अर्थवादका होना स्वाभाविक हो जाता है।

अर्थवाद तीन प्रकारके होते हैं—१ गुणवाद, २ अनुवाद तथा ३ भूतार्थवाद। गुणवादमें अपनी चाही हुई वस्तुकी अत्यन्त प्रशंसा और उसके जोड़की दूसरी वस्तुकी अत्यन्त निन्दा हुआ करती है। पर वह निन्दा उसकेलिए वस्तुतः इष्ट न होकर केवल अपनी वस्तुकी प्रशंसामें पर्यवसित हो जाती है। अनुवादमें पुनः-पुनः अपनी उस वस्तुको विविध-शैलियोंसे प्रशंसित किया जाता है। भूतार्थवादमें किसी कल्पित वा परम्पराप्राप्त आख्यान के द्वारा अपनी उस वस्तुकी प्रशंसा और उससे भिन्न की निन्दा कर दी जाती है।

लोकानुसार अर्थवादके दो मोटे भेद होते हैं, १ रोचक और २ भयानक। इसीको निन्दार्थवाद और प्रशंसार्थवाद कहा जाता है। अर्थवादमें हर एक शब्दका अर्थ न लेकर उसका केवल

तात्पर्य लिया जाता है। जो तो विद्वान् तथा सारग्राही होते हैं; वे उसका केवल तात्पर्य देखते हैं, पर अविद्वान् एवं आपाततोदर्शी (सरसरी निगाह रखने वाले) लोग उन शब्दोंके अर्थोंकी उलझनमें पड़े रहते हैं। कहीं यदि अर्थवादसे निन्दा की जाती है, तो वे वहां सचमुच ही निन्दा समझ लेते हैं, वहां जो उसके प्रतिद्वन्द्वी (मुकाविलेकी वस्तु) में प्रवृत्ति करानेका तात्पर्य होता है, उसे वे समझ नहीं पाते।

मीमांसादर्शन—शावरभाष्यमें कहा है—'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु विधेयं स्तोतुम्' (१।४।२६) अर्थात्—शास्त्रोंमें निन्दा अपनेसे निन्दित किये हुएकी निन्दाकेलिए नहीं होती, किन्तु अपनी वस्तुको वढ़ाने-चढ़ानेकेलिए हुआ करती है, जिससे जनता उधर लगकर लाभ उठाए। 'प्रशंसा' (१।४।२६) इस मीमांसा-सूत्रके भाष्यमें अर्थवादके एक-दो उदाहरण भी दिये गये हैं, वे भी देखने योग्य हैं। 'अपशवो वा अन्ये गो-अश्वेभ्यः, पशवो गो-अश्वाः'। 'अयज्ञो वा एष योऽसामा, असत्रं वा एतद् यद् अच्छन्दोमम्' इति श्रूयते। तत्र विध्यर्थवादसन्देहे अर्थवत्त्वाद् विधय इति प्राप्ते अभिधीयते—यदि विधयो भवेयुः, गो-अश्वा एव पशवः स्युः, सामवानेव यज्ञः, छन्दोमवद् एव सत्रम् [स्यात्], विध्यन्तरं च नावकल्पेत। अतः स्तुत्यर्थं संवादः। गोऽश्वान् प्रशंसितुमन्येषां पशूनां निन्दा। छन्दोमवन्ति प्रशंसितुम् अच्छन्दोमकानि निन्द्यन्ते। यथा—यद् अघृतम् अभोजनं तत्। यद् मलिनम् अवासस्तद्' इति।

(कहा जाता है—गाय-घोड़ेके सिवाय अन्य अपशु हैं। क्या इसका शब्दार्थमात्र लिया जावेगा? यदि ऐसा है, तो अन्य पशुओंकी उत्पत्ति ही व्यर्थ हो जावेगी। तब क्या उन्हें मार ही डालना चाहिये? नहीं। प्रशंसकका अपने लिए गाय-घोड़ा रखन

तथा दूसरे सहवर्गियोंको भी उसमें प्रवृत्त करना इष्ट होता है। बाकी पशु दूसरोंकेलिए चरितार्थ हो जाते हैं। वैसे प्रकृत आक्षेप पर भी जान लेना चाहिये,। 'जो घीसे रहित है, वह भोजन ही नहीं, जो मैला है वह कपड़ा ही नहीं' यह अर्थवादमें प्रोक्त घी वाला भोजन अपने लोगोंकेलिए और रूखा भोजन वा मैला वस्त्र गरीबोंके लिए चरितार्थ हो जाता है।) जैसे यह अर्थवाद है, वैसे पुराणोंमें भी यदि एक-दूसरेको निन्दा-प्रशसा आती है; वहां स्वसहवर्गियोंकेलिए प्रशसित-वस्तुमें प्रवृत्ति इष्ट होती है। शेष वस्तु अन्य लोगोंके लिए चरितार्थ हो जाया करती है। यही मीमांसादर्शनमें र्जतिल और गवीधुकसे हवनकी निन्दा और अजाक्षीरकी प्रशंसाका तात्पर्य बताया गया है। वहां र्जतिल आदिका हवन अन्य शाखा वालोंकेलिए चरितार्थ माना गया है।

इसी प्रकार श्रीदेवीभागवतमें शक्तिको वड़ा बनाना स्वाभाविक है; उसमें अर्थवादसे अन्य देवताओंको छोटा बनाकर निन्दित करना पड़ता है कि—देवी सब देवोंकी शक्तिका समुच्चय है; शक्तिने ही सब देवताओंको देवता बनाया है, शक्तिसे रहित देवता देवता ही नहीं, उससे रहित शिव भी शव हो जाएं और हरि-अरि। अतः उस शक्तिकी सेवासे ही कलियुगमें सिद्धि होगी। इसी लक्ष्यसे 'कलौ चण्डी-विनायकौ, संघे शक्तिः कलौ युगे' आदि उक्तियां प्रसिद्ध हैं।

सो यहां 'धूर्तैः पुराणचतुरैः' कहना भी स्पष्ट अर्थवाद है। नहीं तो 'देवीभागवत' भी पुराण है, फिर वह भी उक्तपद्यके वक्ताद्वारा 'धूर्त-प्रणीत' हो जायगा, यह विरोध पड़ेगा। तो वह पुराण स्वयं अपनी निन्दा कैसे करेगा ?। सो 'विरोधे गुणवादः स्यात्' अर्थवादकी इस शास्त्रीय परिभाषासे देवीके गुणोंका वर्णन करना ही यहां इष्ट है। अतः यहां 'पुराण-चतुरैः' का अर्थ 'पुराण बनाने वाले' नहीं है, अन्यथा 'पुराणरचकैः' होता, अतः यहां 'पुराने चतुर लोग'। अर्थ है, 'पुराणैः-प्राचीनैः श्चतुरैरिति पुराणचतुरैः'। तब प्रतिपक्षीका अभिप्राय गलत सिद्ध होगया।

श्रीवेदव्यास परम्परासे आये हुए पुराणोंके सम्पादक हैं, अतः उनकी सम्पादकतामें इससे कोई विरोध नहीं पड़ता। निन्दा दूसरेकी इसलिए की जाती है कि—जो जिसका इष्ट-देव है, वह उसीकी उपासना करे। जो अन्यकी उपासनामें भी लगेगा, वह 'इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः' इस न्यायका उदाहरण बनेगा। देवता अंग हैं, परमात्मा अंगी है। अंगोंके बिना अंगीकी उपासना हो ही नहीं सकती।

अब अंगोंके बड़प्पनमें मतभेद हो सकता है। कभी यह कहा जाता है कि—मुख बड़ा है, मुख न हो तो भोजन कौन खावे, पुष्टि कैसे हो ? कभी वही पुरुष सोचता है कि—आंख न हो तो भोजनका गुणावगुण कौन देखे। कभी सोचा जाता है कि—कान न हो तो लोक-व्यवहार कैसे चले ? कभी कहा जाता है कि-गुप्त अंग न हों, और वे खाये हुए का मल न निकालें, तो हम मर जावें। कभी कहा जा सकता है—पांव न हो, तो गेहूँ कौन लावे, कौन उसे पिसवावे, मुख तो बैठा-बैठा खाया ही करता है। कभी यह भी कहा जा सकता है—हाथ न हो तो उसे उठावे कौन, पांव थोड़े ही उसे उठावेगा। इस प्रकार एक इष्ट अंगकी स्तुतिमें दूसरे अंगकी निन्दा भी कर दी जाती है, एक दूसरेको छोटा भी बना दिया जाता है; पर वहां दूसरेकी निन्दामें तात्पर्य न होकर प्रकृत अंगकी प्रशंसामें तात्पर्य होता है। वैसे यहां भी समझा जा सकता है। अपने-अपने स्थानमें सब बड़े हैं—यह तात्पर्य समझ आ जाता है, पर तब; जब कि—हमारी बुद्धि

निष्पक्ष हो। यदि दोष-दृष्टि ही लक्ष्य हो, और साम्प्रदायिक आवेशमें एवं अपनी प्रतिभाका परिचय देने का दृष्टिकोण हो; तब तो 'येन केन प्रकारेण कुर्यात् सर्वस्य खण्डनम्' यह प्रवृत्ति बढ़ जाती है; तब पुरुष गुण न देखकर दोषमात्रग्राही बन जाता है।

इस प्रकार शूलों (दर्दों)का कोई अवसर आवे, तब कभी हम पेट दर्दको अन्य दर्दोंसे बड़ा बनाते हैं, अन्योंको छोटा। कभी हम दान्तके दर्दको सबसे बड़ा बनाते हैं, अन्यको छोटा। उसे कहते हैं, वह दर्द कुछ भी नहीं। तो क्या यहां परस्पर विरोध हो जाता है? नहीं-नहीं। यह अर्थवाद होता है, उसमें तात्पर्य समझना पड़ता है। यही अर्थवाद पुराणोंमें एक देवता-को अत्यन्त स्तुति तथा दूसरेकी निन्दाके विषयमें भी चरितार्थ होते हैं। सो जो-जो जिसका इष्टदेव हो, उस देवकी स्तुति उस-में उसकी प्रवृत्त्यर्थ तथा अन्यकी उसीमें निन्दा उसकी निवृत्त्यर्थ होती है, क्योंकि-एकमें निष्ठा न रखनेसे सब ओर प्रवृत्ति करता हुआ पुरुष किसीका भी, कहींका भी नहीं रहता।

अब देखिये-कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड तीन काण्ड होते हैं, और आवश्यक हैं। पर कहीं एकको स्तुति और दूसरेकी निन्दा हुआ करती है। कर्मकाण्डको सभी अच्छा समझते हैं; पर ज्ञानकाण्डमें उसकी निन्दा आ जाती है। देखिये-'नीहा-रेण प्रावृता जल्प्या च असुतृपः; उक्थशासश्चरन्ति' (ऋ. सं.१०। ८२। ७) अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्य-मानाः। जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथा-न्धाः' (मुण्डको. १।२।८) 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः ... ... एतच्छ्रेयोऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं पुनरेवापि यन्ति' (१।२।७) 'इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते

प्रमूढाः' (१।२।१०) यहां कर्मकाण्डियोंकी तथा यज्ञ-याग करने वालोंकी निन्दा की गई है। 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्.... यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' (ऋ. १।१६४।३९) यहां ज्ञान के मुकाबिले ऋग्वेदपाठककी भी निन्दा की गई है। 'नाहं यज्ञैर्न तपसा न दानेन नचेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा' (गीता ११।५३) 'न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः। एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वद-न्येन कुरुप्रवीर!' (११।४८) यहां भक्तिके मुकाबिलेमें वेद-दानयज्ञादिकी भी निन्दा की गई है; तब क्या वेद एवं यज्ञ, दान, तपस्या आदि सब व्यर्थ हैं? ज्ञानकाण्डमें, कर्मकाण्डके शिखा-सूत्रका भी त्याग करना पड़ता है, तो क्या शिखा-सूत्र बुरे थे, जो इनको हटवाया गया? फिर मुसलमान क्या बुरा करते हैं, जो इन्हें नहीं रखवाते? यदि बुरे हैं, तो आर्यसमाजी इन्हें क्यों रखते-रखाते हैं; स्त्रियों तथा शूद्रोंको भी पहराते हैं, तब क्या यह बुरे वा अच्छे हैं?

वस्तुतः यह सब अपनी प्रकृत-वस्तुकी प्रशंसार्थ अर्थवाद हुआ करते हैं। इस प्रकार शुष्कज्ञानकी भी निन्दा आई है, अतः इन अवसरों पर शास्त्रके रहस्य जानने वाले तथा उनमें अन्तः-प्रविष्ट होनेवाले ही तात्पर्यको प्राप्त करते हैं। पर जो ऊपर-ऊपर तैरते रहते हैं, उनको रत्न कहां मिलते हैं? वे तो 'खट्टे अंगूर' की तरह निन्दा ही करते रहते हैं।

यह अर्थवाद कहां नहीं होते? आक्षेप्ताके स्वामीने स.प्र.में लिखा है-'जो उन्नति करना चाहो, तो आर्यसमाजके साथ मिलकर उसके उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिये। नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा।......जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त-

देशकी उन्नतिका कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता' (स. प्र. ११ पृ. २४५) यहां स्वामीने सभीको घटिया वताकर अपनेसे भिन्न अन्य सभीकी निन्दा कर डाली है। और आर्यसमाजको सबसे बड़ा बताया है। यह अर्थवाद नहीं तो क्या है ? नहीं तो अन्य सभी कभीके नष्ट होगये होते।

अब प्रकरण पर आइये। देवीके पुराणमें देवीको, शक्तिको ही अन्य देवोंसे बड़ा दिखलाना, शक्तिरहित देवोंके उपासकोंको धूर्त कहना-यह इसी अर्थवादका उदाहरण होता है, जिसका तात्पर्य यह होता है कि-भक्तको अपने इष्टदेवमें नितान्त संलग्न होना चाहिये, इसलिए उसे ही बढ़ाना पड़ता है, दूसरेको छोटा दिखलाना पड़ता है। यदि भक्त एकनिष्ठता न करे, तो 'न इधर-के रहे, न उधरके रहे' इस न्यायका वह पात्र बन जाता है। इस लिए अपने उपास्य-देवको ही बड़ा बताया जाता है। श्रीव्यास-जी जानते थे कि-अस्थिरचित्त जीव भिन्न-भिन्न रूपोंमें भटककर कहींके भी नहीं रह जाएंगे; इसलिए भक्तके उपास्य रूपमें निष्ठा-स्थापनार्थ उससे भिन्न रूपोंमें हीनता दिखलाई।

कोई भी कार्य क्यों न हो, चाहे सांसारिक हो वा पारमा-र्थिक; वह उसी समय पूर्ण-उन्नत हो सकता है, जब कि कार्य-कर्ताका मन प्रतिक्षण उसमें रमा रहे। विद्यार्थियोंको ही देख लीजिये। छात्र वे सफलताको प्राप्त होते हैं, जो एकनिष्ठ होकर अपने ग्रन्थोंमें लगें, परन्तु जो दूसरी विद्याओंमें वा दूसरी श्रेणी-की पुस्तकोंमें लग्न हो जाते हैं, वे पग-पगपर ठोकरें खाकर अपनी उस परीक्षामें असफल होजाया करते हैं। इसलिए अर्थ-वाद द्वारा अच्छे भी भिन्न विषयोंकी निन्दा करनी पड़ती है। इससे वे वस्तुतः ही निन्दित-नहीं हो जावें; किन्तु इस समय उन-से ध्यान हटाना इष्ट होता है।

भगवान् श्रीकृष्ण इसी लिए तो कहते हैं कि-भक्ति अव्य-चारिणी हो, अनन्यमानसता हो (१३। १०, ८। १४, ९। ९ १३, ८। २२, ११। ५४ इत्यादि); एकका भक्त फिर दूसरे भक्ति करने लगे, तब वह भक्ति व्यभिचारिणी हो जाती है, उस का फल भी नहीं मिलता, और फिर अपने उपास्यकी भक्ति फल भी नहीं मिलता। दो नौकाओंपर चढ़ने वालोंकी-सी दशा हो जाती है। शिवपुराण (सृष्टिखण्ड) में भी कहा है, 'विज्ञा-नस्य च सन्मूलं भक्तिरव्यभिचारिणी' (रुद्रसं १२। ७३) 'भक्ते-र्मूलं तु सत्कर्म स्वेष्टदेवादिपूजनम्' (१२। ७४)

एक देवको अन्यसे बढ़ाना-यह केवल पुराणोंका ही नहीं वेदोंका भी यही प्रकार है, यह 'वैदिकसाहित्यप्रकाशनसंघ' में देखे। सामवेदमें पवमानपर्वमें सोमको ही सबसे बड़ा बताया गया है-'सोमः पवते जनिता मतीनां, जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः। जनिता अग्नेर्जनिता सूर्यस्य, जनिता इन्द्रस्य, जनिता उत विष्णोः' (५। ६। ५) यहाँ सोमको सब देवताओंका उत्पादक कहा है। अथर्ववेदमें ब्रह्मचारीको ही सबका उत्पादक कहा है-'ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्म, अपो, लोकं, प्रजापतिं, परमे-ष्ठिनं, विराजम्' (११। ५। ७)। यजुर्वेदके १६ वें अध्यायमें रुद्रकी ही अतिशयित स्तुति है; ऋग्वेद सं. (१०। १२५) और अथर्ववेद (४। ३०) में आदिशक्ति वाक्की ही अतिशयित स्तुति है। ऋ.सं.में 'न ते विष्णो ! जायमानो न जातो देव ! महिम्नः परमन्तमाप' (ऋ. ७। ९९। २) यहां विष्णुदेवताकी ही अत्यन्त स्तुति है, और अथर्ववेदसं. (४। १६) में वरुणको सर्वशक्तिमान् बताया है। 'न त्वावान् अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते' (साम. उत्तरा. १। ४। १। २) यहां इन्द्र-

देवको ही सबसे बड़ा बताया गया है, एकको बड़ा बतानेसे दूसरा अपने आप छोटा बनाकर निन्दित कर दिया जाता है। वेदमें दूसरे देवकी निन्दा जरा अप्रकट है, क्योंकि वे उच्च अधिकारियोंके लिए हैं। पुराण-इतिहासमें स्पष्ट है, क्योंकि वे मध्यम अधिकारियोंके लिए हैं। शेष लौकिक-काव्यनाटकादि साहित्य साधारण अधिकारियोंके लिए हैं; उसमें रस-द्वारा वही बात व्यक्त की जाती है। 'कालो ह सर्वस्येश्वरः' (अथर्व. १६।५३।८) यहां कालको ही सबसे बड़ा सबका ईश्वर बताया गया है। 'न वा ओजीयो रुद्र ! त्वदस्ति' (ऋ. २।३३। १०) यहां रुद्रको ही सब देवोंसे बलवान् बताया गया है। कहीं मन्यु देवताको बड़ा बताया गया है। (ऋ. १०।८३।२)। कहीं प्राणकी ही बड़ी महिमा है—'प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्' (अ. ११।४(६)।१५)। तब क्या यह माना जावेगा कि—वेदके भिन्न-भिन्न प्रकरणोंके बनाने वाले भिन्न-भिन्न हैं? जो यहां उत्तर होगा; वही पुराणोंमें भी।

इस विषयमें वेदके बहुत उदाहरण दिये जा सकते हैं, जो 'आलोक'के किसी अन्य पुष्पमें दिये जाएंगे। जैसे वैद्यके पास विविध ओषधियां होती हैं, वह अपने सूचीपत्रमें सभीको एक-दूसरेसे बढ़ा-चढ़ाकर दिखलाता है, पर वह भी विशेष रोगीके-लिए एक ही विशेष दवाई बताता है, उसकी प्रकृतिसे विरुद्ध दवाई की निन्दा बताकर, अथवा दूसरे वैद्यकी अथवा उसकी दवाईकी निन्दा बताकर उससे उसे हटाता है। वही एकको घी का सेवन आयुर्जनक बताता है, और दूसरे अधिकारीको विषका। वैसे ही प्रकृतमें भी समझ लेना चाहिये।

सो देवीके प्रशंसार्थवादमें भी हरिशङ्करकी उपासना प्रवृत्त कराने वालोंको निन्दार्थवादसे धूर्त बनानेमें भी शब्दार्थ न देख-

कर उसका देवीकी उपासनाकी प्रशंसामें अथवा शक्तिके ही सब देवोंमें श्रेष्ठ होनेमें तात्पर्यार्थ हुआ करता है। शक्तिके बिना अन्य देव निर्वीर्य हैं, यही यहां तात्पर्य इष्ट है। वाक्रूपा शक्तिने अपनी महिमा वेदमें भी अपने मुखसे स्वयं बताई है। देखिये—'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। अहं मित्रावरुणोभा बिभर्मि अहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा' (ऋ.१०।१२५। १) 'अहं सोममाहनसं बिभर्मि, अहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्'। (२) 'अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ। अहं जनाय समदं कृणोमि, अहं द्यावा पृथिवी आविवेश' (६)। सो देवीभागवतमें इन्हीं वेदमन्त्रोंका भाष्य है, और अन्य पुराणोंमें वेदके अन्य देवताओंके प्रशंसक मन्त्रोंका।

एक देवसे भिन्न देवकी निन्दा अपने इष्टदेवमें निष्ठास्थापनार्थ होती है, इससे पुराणोंकी व्यासकर्तृकतासे भिन्न-भिन्न-कर्तृकता नहीं हो जाती। जैसे वेदोंकी भिन्न-भिन्न संहिताओंमें एक जैसे मन्त्रोंमें कुछ-कुछ पाठभेद मिलता है, उनके ब्राह्मण अपने पाठको ठीक तथा दूसरे पाठको मानुष बताते हैं, वहां भी एकनिष्ठतामें तात्पर्य होता है। श्रीवेदव्यासजी पुराणोंके सम्पादकरूप कर्ता हैं। पुराण तो वेदके साथ अनादि चले आए हैं। यहां तो शक्तिसे ही देव हैं, नहीं तो देव भी कुछ नहीं। सो 'शक्तिसे शक्तियुक्त देवताओंके पूजक धूर्त नहीं' यह तात्पर्य इष्ट है। केनोपनिषद्में यही बात यक्षके उपाख्यान द्वारा तथा हैमवती उमा (दुर्गादेवी) के द्वारा (३।२५) बताई गई है। इससे इस प्रकारके सभी पुराणसम्बन्धी प्रश्नोंके उत्तर दे दिये गये; अतः उनके पृथक् उत्तर देनेकी आवश्यकता नहीं। तथापि हम वादितोषार्थ पृथक् भी उत्तर देंगे। यहां पर्याप्त विस्तार होगया है, आगे उतना स्थान नहीं है; अतः हम आगे यथासम्भव संक्षेप

से काम लेंगे । १ ।

शिवके नामोंपर आक्षेप ।

(१०) प्रश्न—'पुराणोंमें शिवजीके उपनाम महालिंग, चारु-लिंग, लिंगाध्यक्ष, कामुकी, कामुकवरः, शिखण्डी वा धूर्त क्यों दिये गये हैं ? इन नामोंसे शिवजीकी, प्रशंसा होती है, या निन्दा ? । २ ।

उत्तर—जब यह नाम शिवपुराणमें हैं; और शिव-सहस्रनाम स्तोत्रमें हैं; तब स्तोत्र करनेवाला क्या उसमें उसकी निन्दा करेगा ? कैसा यह हास्यास्पद प्रश्न है ? यदि उसमें स्तूयमानकी निन्दा की जावे; वह स्तोत्र ही क्या हुआ ? यदि प्रतिपक्षी यह समझ जाता; तो यह प्रश्न ही वह उपस्थित न करता । यदि वह यह नहीं समझ सकता; तो इस में उसकी अल्पश्रुत-बुद्धिका दोष है, स्तोत्रका नहीं । प्रतिपक्षीका भाव यदि शुद्ध हो; और बलात् पुराणोंको किसी भी प्रकार कलंकित करनेका उसका उद्देश्य न हो; तो उसे यह समझ आ सकती है, अन्यथा नहीं । शिवके सभी नाम यौगिक हैं, उसमें उनका बहुत होना ही प्रमाण है, अतः सभी उनके गुणनाम हैं । तब 'यथा नाम तथा गुणः'के अनुसार वे ठीक हैं, ज्ञानचक्षु चाहिये, जो खेद है—प्रतिपक्षीमें मालूम नहीं होती ।

'लिंग' यह महादेवकी अण्डाकार प्रणवात्मक मूर्ति है, जो ब्रह्माण्डकी प्रतीक होती है । 'लीनार्थगमकं चिह्नं लिंगमित्यभि-धीयते' (शिव विद्ये. सं. १६ । १०६) लीन अर्थको बतलाने वाला चिह्न 'लिंग' कहलाता है । सो यह ब्रह्माण्ड है, अपनेमें प्रलयमें लीन हुए जिसको उस महान् देवने सृष्टिके आरम्भमें प्रकट किया था, उसे 'तदण्डमभवद् हैमं सहस्रांशुसमप्रभम्' (मनु- १ । ९) सूर्य वा सुवर्णके समान चमकदार होनेसे 'ज्योति-

लिंग' कहा जाता है । यही शिवपुराणका लिंग है, जिसे [illegible] प्रिय भी प्रतिपक्षीके आचार्यने स. प्र. के ११ वें समुल्लासमें [illegible] २१०) "एक तेजोमय लिंग उत्पन्न हुआ' लिखा है, पर 'गुरु तो [illegible] चेला चीनी हो गये'के उदाहरणस्वरूप आप चेले लोगोंकी [illegible] उसे स्वामीने 'उपस्थेन्द्रिय' नहीं लिखा; उसी 'लिंग'से स्वा[illegible] 'जटाजूटमूर्तिका निकलना' कहा है । इसी ब्रह्माण्डरूप लि[illegible] लिंगका ब्रह्मा-विष्णु भी पार नहीं पासके थे, अन्तमें वह शि[illegible] ही लीन हो जाता है । शिवपुराणमें शिवका महत्त्व प्रतिपा[illegible] होनेसे ऐसा बताया गया है । इसी शिवलिंगका पूजन स्वा[illegible] किया था; इस पूजनके फलस्वरूप उन्होंने आपसे 'ऋषि-महर्षि[illegible] पदवी भी प्राप्त की । स्वा. दयानन्दजीने स.प्र. १२वें समु[illegible] लिखा है—'परमात्माकी रचना-विशेष लिंग देखके परमात्मा[illegible] प्रत्यक्ष होता है' (पृ. २६६) यहां स्वामीने ईश्वरकी रचनावि[illegible] को ईश्वरका लिंग कहा है, और उसे देखनेसे ईश्वरका प्रत्य[illegible] होना माना है । सो वह शिव-परमात्माकी रचना ब्रह्माण्ड[illegible] शिवका लिंग है, मनोहर रचनावाले होनेसे शिव 'चारुलिं[illegible] (महा. अनु. १७ । ७७) हैं । अब यहां निन्दा क्या हुई ? ।

'लिंग' विशेष-वेषका नाम भी होता है, अतः ब्रह्मचारी संन्यासी आदिको भी 'लिंगी' कहते हैं । जैसे कि—'अलिंगी लिं[illegible] वेषेण यो वृत्तिमुपजीवति' (मनु. ४।२००)'स वर्णिलिंगी (किरा[illegible] १।१) यहां 'ब्रह्मचारिवेषधारी' यह अर्थ है । तो क्या प्रतिपक्षी ब्रह्मचारी वा संन्यासियों को 'लिंगी' कहनेसे उनकी निन्दा मानेगा ? सो यहां यह भी अर्थ है कि—विशेष ब्रह्मचारी वा वान-प्रस्थ वा संन्यासीका वेष धारण करनेवाले रुद्र' । इसीका संकेत रुद्र-सूक्तमें आया है—'नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च' (यजु: वा. सं. १६ ।२९) कपर्दीका अर्थ है जटाजूट-धारी रुद्र, जैसे कि-

अमरकोषमें लिखा है–'कपर्दोऽस्य जटाजूटः' (१।१।३५); यह शिवके वानप्रस्थवेषका संकेत है, 'व्युप्तकेश'का अर्थ है–जिसके बाल मुण्डे हुए हैं–यह संन्यासिवेष है। इसलिए इसपर श्रीमहीधराचार्यने भाष्यमें लिखा है—'यत्यादिरूपेण मुण्डितत्वम्'। यही महाभारतमें है–'मुण्डिनेऽथ कपर्दिने' (अनु. १४।२१)। वेदका उक्त सूक्त 'शतरुद्रिय' कहा जाता है (महा. अनु. १४। २८४) 'यजुषां शतरुद्रियम्'(अनु. १४।३२३)। श्रीपाददामोदर-सातवलेकरने इसका यह अर्थ लिखा है–'रमणीय-वेषधारी होने से वह 'चारुलिंग' (१७।७७) है, इसी प्रकार शिव. कोटिरुद्र. (३५ अ.) में। महादेवका वह ब्रह्माण्डरूप लिंग बहुत बड़ा था; अतः उसका नाम 'महालिंग' (१७।७७) है, इसमें निन्दा-की क्या बात हुई ?।

'लिंगाध्यक्ष'का भी यही अर्थ है कि–'अपनी रचनाविशेषका अधिष्ठाता'। इसमें स्वा.द.का वचन पहले दिया जा चुका है। अथवा-लिंगदेह (सूक्ष्म-शरीर) में वह अधिष्ठित है। श्रीसातवलेकरने अपने महाभारतके भाष्यमें इसका अर्थ लिखा है–'प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका प्रवृत्ति-निवृत्तिका नियामक'। प्रतिपक्षी बतावे–इसमें शिवकी क्या निन्दा हैं ? प्रतिपक्षी क्या 'लिंग' का अर्थ केवल 'मूत्रेन्द्रिय' समझे हुए है ? वेदमें मूत्रेन्द्रिय-वाचक 'पसः, शेपः, शिश्नम्, मेहनं, सपः,मेढ्रम्, इन्द्रियम्, वैतसम्, उपस्थः; यह आये हैं, परन्तु 'लिंग' नहीं आया। अमरकोषमें भी मूत्रेन्द्रिय के साक्षात् पर्यायवाचकोंमें 'लिंग' नहीं आया। दर्शनोंमें भी इस अर्थमें नहीं आया। जहां आया है, वहां 'चिन्ह' अर्थमें। इस प्रकार 'पुराण' में भी समझ लें। वहां तो यह लिखा है 'एतस्मिन्नन्तरे लिंगमभवच्चावयोः पुरः। विवादशमनार्थं हि प्रबोधार्थं च भास्वरम्। ज्वालामालासहस्राढ्यं कालानलशतोप-

मम्। क्षयवृद्धिविनिर्मुक्तमादिमध्यान्तवर्जितम्'। (लिंग पु. १। १७।३३-३४) यहां कोई मूत्रेन्द्रियकी बात ही नहीं। यह ज्योतिर्लिंग' महादेवकी एक मूर्ति है–'प्रधानं लिंगमाख्यातं लिंगी च परमेश्वरः' (१७। ५) यहां प्रकृतिको शिवका लिङ्ग बताया गया है।

'शिखण्डी' (अनु. १७।३२) का अर्थ है 'मोरपंखधारी', जिसे महादेव किरातवेषमें धारण करते थे। इसका अर्थ श्री-सातवलेकरने लिखा है—'मयूर शिखाकी भांति जटा बान्धनेसे 'शिखण्डी'। अब यहां निन्दा कहां रही ? शिवपुराण तथा लिंगपुराणमें 'शिखण्डी, कवची, शूली' यह इकट्ठे नाम आये हैं, इससे शिखण्ड (मोरपंख) धारी, कवचधारी आदि अर्थ हैं। यहां प्रतिपक्षीके इष्ट अर्थका गन्ध भी नहीं। शिखण्ड 'चूड़ा (चोटी) को धारण करनेवाले' भी अर्थ है। प्रतिपक्षीने अपनी भूलसे 'शिखण्डी'का अर्थ कदाचित् 'नपुंसक' समझ रखा है। उसके देशकी भाषामें यह अर्थ भले ही हो, पर किसी शास्त्र वा कोष वा पुराण तथा संस्कृतभाषामें इसका ऐसा अर्थ कहीं भी नहीं मिलेगा ?

'धूर्त' यह जो पुराणमें शिवका नाम आया है, स्तोत्रमें होने से यह निन्दावाचक तो कभी हो नहीं सकता; उसका यह भाव है—'धूर्त' धत्तूरेको कहते हैं, उसका पुष्प महादेवपर चढ़ता है। सो 'गङ्गायां घोषः' की भान्ति आधार-आधेयके अभेदसे शिवका नाम 'धूर्त' है। अथवा–'धूर्वणं धूर्तम्' धुर्वी हिंसायाम् (भ्वा.प. से.) तद् अस्मिन्नस्ति, अस्य वा इति धूर्तः'। दैत्योंकी हिंसा करनेसे शिवका नाम 'धूर्त'भी सम्भव है। इसमें निन्दाकी क्या बात हुई ? सभी नाम गुणवाचक होनेसे यौगिक हैं।

'धूर्त'का अर्थ शायद प्रतिपक्षीको 'मक्कार' इष्ट हो, तो

धत्तूरेके नाम 'उन्मत्त, कितव और धूर्त' यह आये हैं; तो क्या धत्तूरा भी 'मक्कार' होता है ? अथवा-शंकर दैत्योंको धूर्ततासे मायासे, मारते-मरवाते थे, जैसे कि-वैदिक-राजनीतिमें प्रसिद्ध है-'मायाभिरिन्द्र ! मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः' (ऋ. १।११।७) 'त्वं मायाभिरप मायिनोऽधमः' (ऋ. १।४१।५) माया 'धूर्तता' को कहते हैं, और धूर्त मायावीको कहते हैं, सो यह धूर्तोंमें धूर्तताका आचरण उक्त वैदिक-राजनीतिके अनुकूल है। उक्त मन्त्रोंका लाहौरके एक व्याख्यानमें आर्यसमाजके रिसर्च-स्कालर श्रीभगवद्दत्तजीने भी यही अर्थ किया था। स्वा.द जीने भी स. प्र. (६ समु. पृ. ९४) में 'वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्' (५) इस मनुके पद्यका अर्थ लिखते हुए शत्रुके साथ समयपर छल करना भी लिखा है। देखिये—'चीतेके समान छिपकर शत्रुओंको पकड़े, और बलवान् शत्रुओंसे सस्साके समान भाग जाय, और पश्चात् उनको छलसे पकड़े' (पृ. ९४) इस वैदिक-राजनीतिको अवलम्बन करनेसे भी शिवका नाम 'धूर्त' हो सकता है। इससे शिवकी निन्दा समझना स्वा. द. सम्मत वैदिक-राजनीतिसे अपनी अनभिज्ञता बताना है। इसीसे नीतिके बड़े पण्डित चाणक्यको 'कौटिल्यः' कहा जाता था। 'मुद्राराक्षस' नाटकमें चाणक्य अपनेलिए भी कहता था—'जागर्ति कौटिल्यः'। इसी नीतिज्ञतासे राजा नन्दके योग्यमन्त्री सुबुद्धिशर्माको 'राक्षस' कहा जाता था। इससे उन नामोंसे उनकी निन्दा इष्ट नहीं होती। इसी प्रकार प्रतिपक्षी प्रकृतमें भी समझ लें।

शेष 'कामुकी, 'कामुकवरः' नाम महाभारत वा शिवपुराण-में तो हमें नहीं मिले, यदि कहीं हों, तो स्तोत्रमें स्तुति इष्ट होने-से उनका आशय यह है कि-प्रकृतिरूप पार्वतीके ('इयं या प्रकृति-र्देवी ह्युमाख्या परमेश्वरी' (शिव. रुद्रसं. सं. ख. ९।४५) ब्रह्म-

रूप शिव (यह तो शिव-पुराणमें पद-पदपर है) कामी थे, क्योंकि सृष्टि तभी तो होगी। 'धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि भरतर्षभ !' (गी. ७।११) 'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः' (१०।२८) वादिमान्य-भगवद्गीताने भी इस 'काम'को भगवान्का स्वरूप बताया है। तब शिव 'कामुकी' (कामुकिन्-पुंलिंग) थे, इसमें भी शंकरकी कोई निन्दा नहीं। अपनी स्त्रीसे अतिरिक्त किसी परकीया स्त्रीपर कामी नहीं होते थे; अतः वे 'कामुकवरः' भी कहे गये। अथवा वे ब्रह्म होनेके कारण सृष्ट्युत्पादक कामना रखनेसे 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इस श्रुतिके अनुसार 'कामुकी वा कामुकवरः' थे। इसी आशयसे शिवसहस्रनामोंमें कहीं 'कामी' नाम भी आया है। अब इसमें निन्दाकी क्या बात है ? इसमें हमारी यह वकालत नहीं है, किन्तु स्तोत्रवाचकनामों में निन्दाशब्द कभी इष्ट नहीं हो सकते; अतः पुराणका उन नामोंमें यही भाव है-यह हमने प्रमाणोपपत्ति-सहित दिखला दिया है।२।

शिव और आडि !

(११) प्रश्न—मत्स्य पुराण (१५५ अ.) शिवजी द्वारा दैत्य-पुत्र आडिसे संभोग करके उसे मारनेकी कथा दी है। शिवजीने दैत्य लड़केसे अप्राकृतिक-व्यभिचार करके ही उसे मारने की विधि क्यों स्वीकार की ? कोई अन्य तरीका गला घोटकर मारने आदिका क्यों नहीं अपनाया ?।३।

उत्तर—आडिने ब्रह्माकी तपस्या करके निर्मृत्यु मांगी। पर ब्रह्माजीने कहा कि-मृत्यु तो अनिवार्य होती है, निर्मृत्यु कैसे मांगते हो ? कुछ इसमें तारतम्य करो। तब आडिने कहा 'रूपस्य परिवर्तो मे यदा स्यात् पद्मसम्भव ! तदा मृत्युर्भवेदन्यथा त्वमरो ह्यहम्' (१५५।१८-१९) (यदि मैं रूप बदल

तो मेरी मृत्यु हो, नहीं तो मैं अमर रहूँ)। तब ब्रह्माजीने वही वर दे दिया–'यदा द्वितीयो रूपस्य विवर्तस्ते भविष्यति। तदा ते भविता मृत्युरन्यथा न भविष्यति' (२०)। वह महादेवको मारने गया, द्वार पर वीरक था। उससे जानेमें बाधा समझ शीघ्रतार्थ वह सांप बनकर बिल द्वारा भीतर गया। फिर 'भुजंगरूपं सन्त्यज्य बभूवाथ महासुरः। उमारूपी छलयितुं गिरिशं मूढचेतनः' (२४) वह स्त्रीरूपमें पार्वती बन कर शिवके पास गया। महादेवने उसमें पार्वतीके कई पद्म आदि चिन्ह न देखकर दैत्यकी माया समझ ली। तब उन्होंने 'इन्द्र ! जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियम्। मायया शाशदानाम्' (अथर्व. ८।४।२४) इस वैदिक-राजनीतिवश 'मेढ्रे वज्रास्त्रमादाय दानवं तमशातयत्' (३७) हरेण सूदितं दृष्ट्वा स्त्रीरूपं दानवेश्वरम्' (३८) अपने मेढ्र पर वज्र चढ़ाकर उस अस्त्रसे स्त्रीरूपधारी मायावी दैत्यको मार डाला। महाभारतमें वाल्मीकिका एक श्लोक शत्रुओंके लिए कहा है–'अपि चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि। पीडाकरममित्राणां यत् स्यात् कर्तव्यमेव तत्' (द्रोणपर्व. १४३। ६७-६८) सो शत्रुओंका पीड़ा-जनक कोई भी कार्य हो, राजनीतिमें उसे कर्तव्य माना गया है।

यहां तो सामने स्त्री थी; अतः अप्राकृतिक-व्यभिचारकी जिसे प्रतिपक्षीने लिखा है–कोई बात ही नहीं। संयोग तो यहां कोई दिखलाया ही नहीं गया; तब व्यभिचारकी गन्ध प्रतिपक्षीको कैसे आगई ?। यदि वह दैत्य अपने पुरुषरूपसे आता; तब अपने पूर्व वरके मुताबिक कभी मारा ही न जा सकता। पर वह तो कामरूप (अपनी इच्छानुसार सब प्रकारके रूप बना सकने वाला) होनेसे स्त्री बनकर आया। फिर भी उससे मैथुन नहीं दिखलाया गया; किन्तु शिवने उसे अपने अङ्गपर लगाये

वज्रसे मार डाला। गला घोटकर मारनेका अभ्यास तो आक्षेप्ता डाक्टरजी को ही होगा। यहां क्या स्त्रीका गला घोंटना ठीक होता ?। पूर्व कहे वेदमन्त्रानुसार उसे वज्रसे मार दिया गया। मन्त्रमें यद्यपि ऐसा आर्डर इन्द्रको दिया गया है; तथापि 'इन्द्रो वै सर्वे देवाः' (शत.१३।२।७।४) के अनुसार रुद्रदेवता भी गृहीत हो गये, तभी तो इन्द्रका वज्र यहां पर दिखलाया गया है। शिवजीको यहां प्रतिपक्षी ही बलात् कलंकित कर रहा है, पुराणने तो नहीं किया। प्रतिपक्षीके कहे अनुसार यदि शिवजी उसका गला घोंट देते; तब तो प्रतिपक्षी उन्हें कलंकित न करता ॥३॥

सतीविवाहमें ब्रह्मा आचार्य।

(१२) प्रश्न–सती व पारवती (?)के विवाहमें ब्रह्मा पुरोहित बने, उन्हें देखकर ब्रह्माका शुक्रपात होना उसे छिपा लेना क्या ब्रह्माजीको चरित्रहीन व प्रमेहका रोगी सिद्ध नहीं करता ?।४।

उत्तर—इस प्रश्नको प्रतिपक्षी बड़े प्रेमसे उद्धृत किया करते हैं। वास्तवमें यह कथा आवरण-प्रथा (पर्दा) का अर्थवाद है। अर्थवादमें शब्दार्थ ग्राह्य नहीं होता, किन्तु उसके तात्पर्यको देखना पड़ता है। इस कथाका तात्पर्य यह है कि–स्त्रीके सब अंग ढंके रहें। उसका पैरका अंगूठा भी यदि वस्त्रसे अनावृत रहेगा, जैसा कि—'शिवपुराणमें कहा है–'ब्रह्मणः स्खलनं जातं शिवाऽङ्गुष्ठप्रदर्शनात् (ज्ञानसं. १८। ६८) (शिवायाः–पार्वत्या अङ्गुष्ठ-प्रदर्शनात्); तो अन्यकी कुदृष्टि उसपर हो सकती है।

इस इतिहाससे आवरणप्रथाकी प्राचीनता भी सिद्ध हो रही है, परन्तु पैर भी अन्य पुरुषके सामने खुला रहनेपर किस प्रकारकी हानि होती है, यह यहां पर सूचित किया गया है। शेष है वृद्ध ब्रह्माका कामी हो जाना, एवं शुक्रपात; यह भी अर्थवाद

है कि-स्त्रीके विषयमें किसीका भी विश्वास नहीं करना चाहिये; चाहे वह विवाह कराने वाला आचार्य ब्रह्मा, विद्वान् या देवता भी क्यों न हो ? 'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्। बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति' (मनु. २। २१५) यहां यह बताया गया है कि-चाहे अपनी पैदा करने वाली माता हो, चाहे अपने साथ इकट्ठी पैदा हुई बहन हो, चाहे अपनेसे पैदा की हुई लड़की भी हो, उनके साथ अकेलेमें मत बैठो, क्योंकि इन्द्रियां इतनी बलवान् होती हैं कि-वे विद्वान्को चाहे वह चारों वेदों का सभी शास्त्रोंको जानकर पारङ्गत भी हो चुका हो; तथापि उसको खींच ले जा सकती हैं; सो पुराणोंमें भी इसी मनुप्रोक्त-वचन का अर्थवाद दिखलाया गया है। इस वचनमें 'अविद्वान्' ही केवल इन्द्रियोंके काबू नहीं हो जाता, किन्तु 'विद्वान्' भी हो जाता है-यह दिखलाया गया है, तब प्रकृत इतिहास भी यही प्रकट करता है; तब इसमें बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये-यही यहां तात्पर्य है।

कामका अन्त ब्रह्मा आदि देवता भी नहीं पा सकते-इस विषयमें केवल स्मृति-वचन ही नहीं, किन्तु ऐसा बताने वाला वेद-वचन भी मिलता है। देखिये-'कामः प्रथमो जज्ञे, नैनं देवा आपुः, पितरो न मर्त्याः। ततः त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महान् तस्मै ते काम ! नम इत् कृणोमि' (अथर्व. ९। २। १९) यहां यह बताया गया है कि-ऐ काम ! तुम्हारा अन्त न तो देवता पा सकते हैं, न पितर न मनुष्य। तू सब जगत् को बे-काबू कर दिया करता है, अतः सबसे महान् है, मैं तुझे नमस्कार करता हूं। इसी ढंगका एक मन्त्र विवाह-पद्धतियोंमें आया है-'कामोऽदात्, कामायादात्, कामो दाता, कामः प्रतिग्रहीता, कामैतत् ते' (यजु. ७। ४८)। स्वा.द.ने भी अपनी

संस्कारविधिमें मन्त्र-ब्राह्मणका एक मन्त्र दिया है, जिसका तात्पर्य यह है कि-ऐ स्त्री; तू पुरुषोंको भी बे-काबू कर दिया करती है-'इमं ते उपस्थं मधुना सꣳसृजामि, प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम्। तेन पुꣳसोऽभिभवासि सर्वान् अवशान् वशिनी असि राज्ञी' (पृ० १३५) सो उक्त पौराणिक-आख्यान उक्त वेदमन्त्रों की व्याख्या एवं उदाहरण हैं, जिनकेलिए गीताको भी कहना पड़ा-'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्' (३। ३७) 'आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा। कामरूपेण कौन्तेय ! दुष्पूरेणानलेन च' (३। ३९) तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ! पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्' (४१) 'जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम्' (४३)। सो 'दिव्येयमादिसृष्टिस्तु रजोगुणसमुद्भवा' (४। ३) मत्स्यपुराणके इस तथा पूर्वोक्त वेदके वचनानुसार देवता भी इसके अपवाद नहीं। पर 'अतीन्द्रियेन्द्रिया तद्वद् अतीन्द्रियशरीरिका। दिव्यतेजोमयी भूप ! दिव्यज्ञानसमुद्भवा। न मर्त्यैरभितः शक्या वक्तुं वै मांस (चर्म) चक्षुभिः' (मत्स्यपु० ४। २-३) यथा भुजङ्गाः सर्पाणामाकाशं विश्वपक्षिणाम्। विदन्ति मार्गं दिव्यानां दिव्या एव न मानवाः (५) कार्याऽकार्ये न देवानां शुभाशुभफलप्रदे। यस्मात्, तस्मान्न राजेन्द्र ! तद्विचारो नृणां शुभः' (४। ९-१०) अतः मानुषी-दृष्टिकोणसे देवताओंकी आलोचनाका दृष्टिकोण खण्डित हो जाता है। तः देवोंके आचरणका अनुसरण भी मनुष्योंकेलिए शास्त्रीय नहीं होजाता; किन्तु परकीय-स्त्रीसे पुरुषको, और परपुरुषसे स्त्रीको सदा पृथक् रहना चाहिये, यह तात्पर्य यहां निकलता है।

यहां यह याद रखना चाहिये कि-वेदका ब्राह्मण-भाग 'पुराण' नामसे भी कहा जाता है। उसमें अनुकूल-प्रतिकूल

सिद्धान्तोंके अर्थवाद होते हैं। वेदानुसारी शिवपुराण-आदिमें भी अर्थवाद हैं। सो उक्त आक्षिप्त-आख्यानमें भी अर्थवाद है। इसमें यह बताया जाता है कि--ब्रह्माका विवाह पुष्य-नक्षत्रमें हुआ था; उसका परिणाम 'कामी हो जाना' कहा है। जैसे कि--'विवाह-वृन्दावन'में कहा है--'प्राचेतसः प्राह शुभं भगर्क्षं, सीता तदूढा न सुखं सिषेवे। पुष्यस्तु पुष्यत्यतिकाममेव, प्रजापतेराप स शापमस्मात्'। सीताका विवाह पूर्वाफाल्गुनी-नक्षत्रमें हुआ था; तत्फलस्वरूप उसने सुख नहीं पाया। ब्रह्माजीका विवाह पुष्य-नक्षत्रमें हुआ, जिसका परिणाम वहुत कामी हो जाना था। सो इस अवसरपर वह चरितार्थ हो गया। इससे इन नक्षत्रोंमें विवाह शुभफलप्रद नहीं होता; यही उक्त अर्थवादका यहां तात्पर्य है।

अन्य यह भी इसमें तात्पर्य है कि--जो जगदम्बापर कुवासना करेगा; चाहे वह कोई भी वड़ेसे बड़ा क्यों न हो, वह शुक्रपातमूलक क्लीबताको प्राप्त हो जाता है। इसका संकेत 'शिवपुराण (रुद्र-संहिता सती-खण्ड)में देखिये--'यः पश्यति सकामस्त्वां (सतीं')पाणिग्राहमृते (पतिं विना) तथा। स सद्यः क्लीबतां याति दुर्बलत्वं गमिष्यति' (६।४६) अतः इसमें प्रमेहका प्रश्न ही नहीं। जैसे कि 'शिवपुराण' युद्ध-खण्ड (२२।४१)में जलन्धर दैत्य महादेवका रूप धरकर पार्वतीके पास कुवासनाके उद्देश्यसे गया। युवा होने पर भी उसका यही हाल हुआ, वृद्धका तो क्या कहना--'तावत् स वीर्यं मुमुचे जडाङ्गश्चाभवत्तदा'। अतः यहां प्रमेहकी बात नहीं। यह जगदम्बाको कुवासनासे देखनेका परिणाम बताया गया है।

इसी प्रकार संस्कृतके 'हनुमन्नाटक'में सीताके पास रामरूप धरकर कुवासनाके उद्देश्यसे जानेपर रावणकी भी यही दशा

हुई। सो जगदम्बाके विषयमें कुवासनाका जो विचारमात्र भी करेगा; चाहे वह राक्षसेन्द्र हो, अथवा दैत्यराज, चाहे वह बड़ा देवता हो, चाहे युवा हो, वा वृद्ध हो, उसकी यह दुर्दशा होगी ही; तब वृद्ध ब्रह्माकी भी यही दुर्गति हुई। सो इस तथा पूर्वोक्त कामकी दुर्निवारताके अर्थवादमें यह तात्पर्य है। ब्रह्मा भोगयोनि होनेसे विधिनिषेधसे बहिर्भूत हैं; अतः उन्हें दुष्फल तो प्राप्त नहीं होता; पर मनुष्य कर्मयोनि होनेसे ऐसा करने पर कहींका भी नहीं रहता; उसका सर्वथा पतन हो जाता है--यही यहां सूचित किया गया है।

यह कामकी दुर्निवारताका अर्थवादरूप 'नैनं देवा आपुः' इस पूर्वोक्त वैदिक-सूत्रका उदाहरणरूप उपाख्यान है।

पतिव्रताका पातिव्रत्य-भङ्ग (?)

(१३) प्रश्न--सती तुलसी वा वृन्दासे छल करके कालामुंह करना, पातालमें जाकर दैत्यनारियोंसे व्यभिचार करना, तथा देवताओंका भी वहां जाकर उनसे व्यभिचारको प्रोत्साहित करना, क्या इससे विष्णुका चरित्र भ्रष्ट होना सिद्ध नहीं है? ऐसे दुर्बल-चरित्र-व्यक्तिको क्यों ईश्वर मानकर पूजना चाहिये?

उत्तर--इसका विस्तीर्ण उत्तर 'श्रीसनातनधर्मालोक' षष्ठ पुष्प (पृ. ४९१-५००)में देखना चाहिये। संक्षेप यह है कि--यदि अपनी इन्द्रिय-तृप्तिकेलिए काम-पूर्वक स्वार्थवासनाके वशीभूत होकर कोई शास्त्रनिषिद्ध कर्म (परस्त्रीगमन आदि) करता है, उसका तो पाप हुआ करता है, पर जिसे अपनी कोई अभिलाषा नहीं, जिसने अपने चित्तको वश किया हुआ है, जिसका कोई अपना स्वार्थ नहीं, जिसने लोकहितको अपनी दृष्टिमें रखा है, वह अगत्या (कोई चारा न होनेसे) यदि केवल शारीरिक निषिद्ध कार्य करनेको बाध्य होता है; वह पापलिप्त नहीं होता।

जैसे कि प्रतिपक्षीकी मान्य श्रीमद्भगवद्गीतामें लिखा है— 'निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः। शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्विषम्' (४।२१) अर्थात् जो किसी प्रकारकी स्वार्थ-मयी कोई इच्छा नहीं रखता; जिसने राग-वासना आदिका परित्याग कर दिया है, जिसका मन रागद्वेषसे रहित है, जिसकी किसी वस्तुमें ममता नहीं, वह पुरुष शरीरमात्रसे कर्म करता हुआ पाप-भागी नहीं बनता।

इस प्रकारका पुरुष कर्ममें प्रवृत्त हुआ भी कुछ नहीं करता— 'त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभि-प्रवृत्तोपि नैव किञ्चित्करोति सः' (४।२०) जो कर्मोंके फलमें आसक्ति सर्वथा छोड़ देता है, और जो नित्यका तृप्त है, वह विशेष कर्म कर रहा हुआ भी नहीं कर रहा होता। उसकी पूज्यतामें कोई क्षति नहीं पड़ती। यह बहुत उच्च तथा सूक्ष्म परन्तु खतरनाक कर्म है, इसको प्रत्येक पुरुष सफलता—पूर्वक पूर्ण नहीं कर सकता। नियोगमें यह भी एक दृष्टिकोण होता है, पर जो इसको न अपनाकर केवल विषय—भोगके दृष्टिकोणसे उसका अवलम्बन करता है, जैसे कि स्वा. द. ने अपने नियोगमें वैषयिक दृष्टिकोण रखा है—यह अवश्य ही स्त्री-पुरुषको भ्रष्ट-चरित्रकर देता है। यहां पर ऐसा नहीं है।

अपनी पतिव्रता-स्त्रीके पातिव्रत्यके वलसे वृन्दा वा तुलसी का पति किसीसे मारा नहीं जा सकता था। इसीसे उत्साहित होकर जलन्धर अन्य स्त्रियोंका सतीत्व हर लिया करता था। इससे उनके पति कमज़ोर हो जाते थे। यहां तक कि वह पार्वती के पास भी इसी उद्देश्यसे गया था, यद्यपि वह उसमें सफल नहीं होसका, जिसकी पार्वतीने विष्णुको शिकायत की थी। देखो शिवपुराण (रुद्रसं० युद्धख० २२। ३७-४०-४१-४६)। उस

समय पार्वतीने कहा था—'तेनैव दर्शितः पन्था बुध्यस्व त्वं तथैव हि। तत्स्त्री-पातिव्रतं धर्मं भ्रष्टं कुरु ममाज्ञया। नान्यथा स महादैत्यो भवेद् वध्यो रमेश्वर!' (रु० सं० यु० ख० २२। ५०-५१)

यह हानि देखकर समष्टिके हितका ध्यान रखकर भगवान् विष्णुने जिस बलसे वह अवध्य था, उस बलको शिथिल कर दिया। समष्टिके हितके आगे व्यष्टिका हित नगण्य माना जाता है। इसी नीतिसे भगवान् श्रीकृष्णने अन्यायी लोगोंके समष्टि-भूत दुर्योधनको कमजोर करनेके लिए उसके वल भीष्म, द्रोण, कर्ण आदियोंको मरवा दिया; चाहे यह लोग उतने दोषी नहीं थे, परन्तु अन्यायीके दक्षिण-वाहु थे। चोरके सहायक बने हुए सज्जनको भी दण्ड देना पड़ता है। उस दुर्योधनके सहायक भी 'गेहूँमें घुन'की भांति पिसवाये गये। यही बात पुराणके आक्षिप्त स्थलमें भी समझनी चाहिये। इसमें नित्यतृप्त, प्राप्तकाम विष्णुका अपना कोई स्वार्थ वा वासना नहीं थी। अतः उसमें उनकी चरित्र-भ्रष्टताको कोई अवकाश नहीं।

पूज्यता श्रीविष्णुकी इसलिए रही कि—अन्य सतियोंके सतीत्वरक्षणार्थ और तन्मूलक जनकल्याणार्थ 'देवकार्यार्थमीश्वर' (रुद्र सं० युद्ध० ४०। २१) एक विषम गढ़ेकी पर्वाह न करके उसमें अपने आपको गिरानेकेलिए उद्यत हो गये, जिसकेलिए अपनी भावी शापादिहानिवश अन्य कोई उद्यत नहीं होता था। तब कृतज्ञ जनताका विष्णुकी पूजा करना कर्तव्यमें आ जाता है। इस अर्थवादका यह तात्पर्य भी निकलता है कि—जो स्त्री पतिव्रतधर्मका भङ्ग करेगी; वह अपने पतिकी मृत्युका कारण बनेगी। इस विषयमें तथा शेष विषयमें 'आलोक'का छठा पुष्प

देखने एवं मनन करने योग्य है।

शेष जो दैत्यनारियोंकेलिए लिखा है; वह भी प्रतिपक्षीकी भूल है। वे अप्सरा थीं, अमृतकरणोत्पन्न होनेसे अमृतके अधिकारी देवताओंकी स्त्रियाँ थीं। उनको दैत्य लोग हर ले गये थे। उनको वापिस लाना तथा उन्हें प्रसन्न करना यह देवताओंके लिए अनुचित नहीं है। अप्सराओंका देवोंसे सम्बन्ध होता है, दैत्योंसे नहीं। जैसे कि वेदमें—'ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सरोभ्योकरं नमः' (अथर्व. २।२।५)। गन्धर्व देवविशेष होते हैं। इस विषयमें अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। शेष ६ ठे पुष्पमें देखिये।५।

भागवतमें मूर्तिपूजाका खण्डन (?)

(१४) प्रश्न—भागवत-पुराण (१०।८४।१३)में मूर्ति आदि प्रकृतिजन्य पदार्थोंके पूजकोंको 'गधा' बताया है; तब ऐसा गलत कार्य करके किसीको भी गधा क्यों बनना चाहिये ? ।६।

उ०—क्या प्रतिपक्षी पुराणके उक्त पद्यको ठीक मानते हैं? उक्त पद्य है—'यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके, स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः। यस्तीर्थबुद्धिः सलिले, न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः' उक्त पद्यका अन्वय यह है—'यस्य त्रिधातुके कुणपे आत्मबुद्धिः, अभिज्ञेषु जनेषु कर्हिचिद् आत्मबुद्धिः न। कलत्रादिषु स्वधीः, अभिज्ञेषु जनेषु कर्हिचित् स्वधीः न। यस्य भौमे इज्यधीः, अभिज्ञेषु जनेषु कर्हिचिद् इज्यधीः न। यः सलिले तीर्थबुद्धिः, अभिज्ञेषु जनेषु तीर्थबुद्धिः कर्हिचिद् न; स गोखर एव'। यह न जानकर दयानन्दी श्रीशिवपूजनसिंह-कुशवाहाने 'सलिले, न कर्हिचित्' इस वास्तविक पाठको 'सलिलेषु कर्हिचित्' इस रूपमें (शिवलिंगपूजापर्यालोचन पृष्ठ २३ में) बदलकर 'कर्हिचित्' को व्यर्थ कर डाला है। टिप्पणीमें वह वास्तविक पाठ दिखलाया तो है, पर 'सलिले न कर्हिचित्' इस अलग 'न' को

'सलिलेन' इस रूपसे इकट्ठा कर डाला है। यह दयानन्दियोंकी अपने गलत-पक्षको सिद्ध करनेकी दुष्प्रकृति है, जिससे अर्थका अनर्थ हो जाता है।

उक्त पद्यका तो यह तात्पर्य है कि—जो शरीरमें तो आत्मबुद्धि वाला है, अर्थात् उसे आत्मा जैसा (अपना) मानकर उसका सम्मान करता है, पर विद्वानोंमें उसकी आत्मीयता-बुद्धि नहीं है। स्त्रीमें तो अपनीयताकी जिसकी बुद्धि है कि—यह अपनी है, पर विद्वानोंमें कभी भी अपने-पनकी बुद्धि नहीं कि—यह विद्वान् भी हमारे अपने हैं। पार्थिव-वस्तुओंमें तो जिसकी सम्मानकी बुद्धि है, परन्तु विद्वानोंमें कभी पूज्यताकी बुद्धि नहीं। जो जलमें तो तीर्थ-बुद्धि करता है, परन्तु विद्वानोंमें कभी तीर्थबुद्धि नहीं करता कि—यह भी जङ्गमतीर्थ हैं, वह पुरुष गोखर है अर्थात् निन्दित है।

यहां 'गोखर' शब्द निन्दावाचक है; गधा-वाचक नहीं। यदि आर्यजीके अनुसार सचमुच ही 'गधा' अर्थ माना जावे, तो मूर्तिपूजक पिताके पुत्र स्वा.द.जी 'गधेके पुत्र' और ४५ वर्ष तक मूर्तिपूजामें आस्था रखने वाले, सदा देवमन्दिरोंमें डेरा लगाने वाले स्वा.द.जी प्रतिपक्षीसे किये अर्थके अनुसार 'गधा' हो जाएंगे। उनके शिष्य वे स्वयं भी 'गधेके शिष्य' हो जाएंगे। अथवा शरीर तथा स्त्री आदिको 'अपना' मानने वाले वे स्वयं गधा हो जायेंगे। क्या वे अपनी स्त्रीको अपनी नहीं मानते ? अपने शरीरको अपना नहीं मानते ? तब क्या प्रतिपक्षीको अपने साम्प्रदायिक-आचार्यके पिताको गधा, तथा आचार्यको गधेका बच्चा एवं अपने आपको अपने किये अर्थके अनुसार गधा बनाना पसन्द है ?।

सनातनधर्मियोंपर तो दोष नहीं आ सकता। वे शरीर, स्त्री,

पार्थिवमूर्ति, जल श्रादिका भी श्रात्मीयता श्रादि रूपसे सम्मान करते हैं, श्रौर विद्वानोंका भी, तब वे गोखर कैसे होंगे ? जैसे 'श्रन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ्ँरताः' (यजु. ४० । १२) इस वेदमन्त्रमें केवल श्रविद्या (कर्म) के उपासकोंको श्रन्धेरेमें रहने वाला श्रौर केवल विद्या (ज्ञान) के उपासकोंको पहलोंसे भी श्रधिक श्रन्धेरेमें रहने वाला माना है, इससे सिद्ध हुश्रा कि-जो श्रविद्या (कर्म) श्रौर विद्या (ज्ञान) दोनोंका श्रवलम्बन करते हैं, वे श्रन्धेरेमें नहीं, जैसे कि- 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेद उभयँ् सह । श्रविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' (यजु. ४० । १४) इस मन्त्रमें स्पष्ट कर दिया है, वैसे यहां पर भी पार्थिवमूर्तियों तथा विद्वानों दोनों में पूज्यबुद्धि वाले गोखर नहीं हैं-यह बात स्पष्ट हो रही है। इसलिए श्रीमद्भागवतकी चक्रवर्ती-टीकामें इस श्लोककी व्याख्यामें यह स्पष्ट कर दिया है कि-'श्रत्र यस्यात्मबुद्धिः कुणपे एव, नतु श्रभिज्ञेषु' इत्युक्त्या उभयत्र श्रात्मबुद्धयो न गोखरा इति श्रायातम्'। श्रर्थात् जो दोनों बातें करें, मूर्तिपूजा श्रादि भी करें श्रौर विद्वत्पूजा भी करें, वे गोखर नहीं । जो एक बात करे, वह गोखर है। इस प्रकार डा०जी भी यदि इस पद्यके अनुसार दोनोंमें सम्मानित बुद्धि नहीं रखते; तो वे भी गोखर हो जाएंगे । श्रतः उन्हें भी इस स्वमान्य पद्यके श्रनुसार उचित है कि-मूर्तिपूजा भी करें श्रौर विद्वत्पूजा भी करें, तो वे भी गोखर नहीं होंगे ।

वस्तुतः श्रीमद्भागवतका उक्त वचन विद्वान्की प्रशंसाका श्रर्थवाद है, मूर्तिपूजाका निषेधक नहीं । यह एक न्याय प्रसिद्ध है-"नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु विधेयं स्तोतुम्-" इसे हम पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं । सो सनातनधर्मी जलको भी

तीर्थ मानते हैं, साधु विद्वान्को भी । देवमूर्तिको भी पूज्य समझ हैं, विद्वान्को भी । इससे वे गोखर नहीं होंगे । सो यहां दोनों समुच्चयमें मूर्तिपूजाकी निन्दा नहीं है । तब विद्वान्की पूजा प्रशंसक इस प्रकरणमें मूर्तिपूजाका निषेध नहीं है, किन्तु वि त्पूजाका श्रर्थवाद है । तब 'नहि निन्दा निन्दितुं प्रयुज्यते, तर्हि ? निन्दितात् इतरत् प्रशंसितुम् । तत्र न निन्दितस्य प्रति गम्यते, किन्तु इतरस्य विधिः' (मीमांसादर्शन शाबर. २।४।२ इस न्यायसे उक्त पद्य विद्वान्की पूजाका प्रशंसार्थवाद है, मू पूजाका निन्दक नहीं ।

श्रीमद्भागवतपुराणसे मूर्तिपूजाका निषेधक पद्य ढूं प्रतिपक्षीके लिए हास्यास्पद बात है, जब कि-श्रीमद्भागवत स्थान-स्थानपर मूर्तिपूजा बताई गई है। देखिये-(८ । १६ । २ ११ । २७ । ६, ११ । २७ । ४८, ११ । २७ । ५०-५२, ७ । १ ३३, ७ । १४ । ४० इत्यादि) । तब वह पुराण मूर्तिपूजाका नि धक कैसे हो ? यह प्रतिपक्षीका बड़ा दुस्साहस है, जो उसने पुराणका पाठ ही बदल दिया । उसका यहांका ता हमने बता दिया है । सो प्रतिपक्षीके परिश्रमपर पानी फि गया। वेद भी मूर्तिपूजाको मानता है । देखिये-'संवत्सर प्रतिमां यां त्वां रात्रि ! उपास्महे' (श्रथर्व. ३ । १० । ३) वेदमें प्रतिमाकी उपासना तथा उसका फल सूचित किया हैं । इसकी स्पष्टता 'श्रालोक'के ४ र्थ पुष्पमें देखें । ६ ।

मूर्तिपूजापर श्राक्षेप ।

(१५) पूर्वपक्ष-(क) 'प्रतिमा श्रल्पबुद्धिनाम्' (?)'(चाण ४ । १६) श्रर्थात् मूर्तिपूजा कम-श्रकलों (मूर्खों) के लि होती है । (ख) 'शिलालिंगं तु शूद्राणां' (शिव पु. विन्ध्ये. १८) पत्थरका लिंग शूद्रों (मूर्खों)केलिए है, द्विजातियों

बुद्धिमानोंको ये पत्थरके शिवलिंग नहीं पूजने चाहियें—यह पुराणका स्पष्ट आदेश है। (ग) 'मृच्छिलाधातुदार्वादिमूर्तौ ईश्वर-बुद्धयः। क्लिश्यन्ति तपसा मूढाः परां शान्तिं न यान्ति ते' (महाभारत) 'मूर्ख लोग मिट्टी, पत्थर, धातु अथवा लकड़ीकी मूर्तियोंको ईश्वर समझते हैं, इनको कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती है।' (घ) 'नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः' (भाग. १०। ८। ११) (जलमय स्थान तीर्थ नहीं कहलाते और मिट्टी-पत्थरकी प्रतिमाएं देवता नहीं होती हैं) इन प्रमाणोंसे मूर्तिपूजा—चाहे वह देवताओंके रूपमें हो, पीपलके पेड़की हो, या गङ्गा आदि जलधाराकी ही हो, अत्यन्त बुरी चीज़ है'। (शिव-लिङ्गपूजा-रहस्य पृ. ४४-४५)। (ङ) 'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये-ऽसम्भूतिमुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याᳫं रताः' (यजु. ४०। ९) (जो लोग ईश्वरके स्थानपर जड़ प्रकृति या उस से बनी मूर्तियोंकी पूजा करते हैं, वे लोग घोर अन्धकारको प्राप्त होते हैं' (शास्त्रार्थ-चैलेन्ज' पृ. २१)।

उत्तरपक्ष—(क) श्रीमध्वाचार्य-स्वामीने ब्रह्मसूत्र (१। १। ३१)के भाष्यमें—'प्रतिमा स्वप्रबुद्धानां' यह पाठ दिया है, तब 'समझदारोंकेलिए' होनेसे प्रतिपक्षीका अभिप्राय कट गया। प्रतिपक्षिप्रोक्त ही पाठ माना जावे; तो इसका यह अर्थ होगा कि—'मूर्तिपूजा थोड़ी बुद्धि वालोंकेलिए' है; तो इसमें क्या हुआ?' निराकार किसी भी वस्तुका ज्ञान, बिना मूर्तिके आरम्भिक-कोटि-में कोई भी नहीं कर सकता। देखिये— अक्षर एक निराकार वस्तु है, ज्ञान भी निराकार ही है, उसको आरम्भिक-कोटि वाला कोई भी नहीं जान सकता। उसकेलिए उस अक्षर तथा ज्ञानकी भी मूर्ति बनाई जाती है। वही निराकार अक्षरकी मूर्ति 'शिवलिङ्गपूजारहस्य' वन गया। अब तो प्रतिपक्षीने निराकार

अक्षरकी प्रतिमा बनाकर स्वयं स्वल्पबुद्धिताका कार्य किया। आर्यसमाजने निराकारके ज्ञानको अक्षर-प्रतिमारूपमें बनाकर, वैदिकयन्त्रालयमें छपवाकर आर्यसमाजियोंको निर्बुद्धि वना दिया, या अल्पबुद्धि?'

यदि यहां 'प्रतिमा निर्बुद्धीनाम्' पाठ होता; तव तो कदा-चित् 'प्रतिमोपासना'का खण्डन माना जा सकता; पर अव तो 'अल्पबुद्धीनाम्' पाठ होनेसे मूर्तिपूजा 'आरम्भिक सीढ़ी' सिद्ध हो गई। सभी प्रारम्भमें विद्वान् नहीं होते, 'वाल-पोथी' सभीको पढ़नी पड़ती है। इस प्रकार जिसको जिस विषयका पूरा ज्ञान नहीं है, वह बड़ा होनेपर भी बालक (अल्पबुद्धि) ही है। पर-मात्मा निर्विकल्पकज्ञानग्राह्य होनेसे वह योगियोंका विषय तो कुछ हो सकता है, पर सर्वसाधारणका नहीं; तव योगीसे निम्न-कोटिवालोंकेलिए सविकल्पकरूपसे परमात्माको समझानेकेलिए आरम्भिक-कोटिमें 'मूर्तिपूजा' रखी गई है। मूर्तिपूजा तो क्या, उपासनामात्र ही पहली सीढ़ी है। उन्नत-सीढ़ी (ज्ञानकोटि) में तो उपासनामात्रको छोड़ देना पड़ता है। तभी-तो अन्तिम पर-महंसावस्थामें कर्म एवं उपासनाके मूल यज्ञोपवीत-सूत्रको भी छोड़ना पड़ता है। सो कर्मकाण्ड-उपासनाकाण्डतककी अवस्था 'अल्पबुद्धिता' होती है। यह स्वाभाविक है, इसमें निन्दाकी वात नहीं होती। ज्ञानकाण्ड वा परमहंसावस्थामें तो सनातनधर्म भी जैसे शिखा-सूत्रको छुड़ाता है, वैसे उपासनामात्र वा मूर्तिपूजाको भी हटवाता है। इससे मूर्तिपूजाका खण्डन नहीं सिद्ध होता, किन्तु उसका आरम्भिक-सीढ़ी होना सिद्ध होता है। ७५ वर्षमें जाकर कर्म-उपासनाकी अवधितक आरम्भिक सीढ़ी पूर्ण हो जाती है, वेदोंमें उसे कहते भी 'अविद्या' (यजु. ४०। १२) ही हैं, और उसे १४वें मन्त्रमें कर्तव्य बताया है। फिर उच्चकोटि ज्ञानकाण्ड

(विद्या) अन्तिम सीढ़ी शुरू होती है।

पुरुष जब अक्षरात्मक मूर्तिकी उपासनासे अत्यन्त उच्चकोटि का पूर्णविद्वान् हो जाता है, तब उसे अपने पढ़ने वा दूसरेको पढ़ानेकेलिए न तो किसी भी पुस्तककी आवश्यकता रह जाती है, न कुछ लिखनेकी, तब समझ लेना पड़ता है कि-अब इसे निराकार-अक्षरकी प्राप्ति होगई है; तब वही उस अक्षरात्मक-पुस्तकरूप मूर्तिको अन्य अल्प-विद्वान्को दे देता है कि-इसे अब तुम लो। मुझे अब इसकी आवश्यकता नहीं रही। सो यह बड़ी विद्वत्ता भी उसी अक्षरात्मक-मूर्तिकी उपासनासे ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार मूर्तिपूजाके विषयमें भी जान लेना चाहिये।

यह व्यवहार-कोटि अल्पबुद्धिता होती है, और परिपक्व-बुद्धि परमार्थकोटि होती है। तभी तो परमकोटि-परमहंस अवस्थामें कर्म-उपासनाको तथा इन्हींके अन्तर्गत मूर्तिपूजाको भी छोड़ देना पड़ता है। केवल उसीको नहीं; बल्कि उपासना-मात्रको छोड़ देना पड़ता है, जिसे स्वा.शंकराचार्यका 'परा-पूजा' स्तोत्र बतलाता है। फलतः साकार अक्षरकी उपासनाकी तरह मूर्तिपूजा भी आरम्भिक-सीढ़ी है। विद्वान् भी जैसे साकार-अक्षर-मूर्तिकी उपासना नहीं छोड़ते, ज्ञानकी अक्षरात्मक मूर्ति—वेद-पोथियोंकी उपासना करते ही रहते हैं, वैसे मूर्तिपूजा व्यावहारिक विद्वत्तावस्थामें भी छोड़ी नहीं जाती है।

फलतः व्यवहारकोटि—चाहे उसमें कितना ही व्यावहारिक विद्वान् क्यों न हो; वह अल्पबुद्धिताकी कोटि होती है। सो मूर्ति-पूजा व्यवहार-कोटि है। उसी व्यवहार-कोटि तक हमारे शिखा-सूत्र रहते हैं। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार कर्म-उपासना-काण्डात्मक वेद भी 'अपरा विद्या' (१।१।४) रहते हैं। परा-कोटि वा परमहंसकोटि, वा परमार्थकोटिमें आनेपर उस कर्मकाण्ड-उपा-

सना-काण्डरूप मूर्तिपूजाकी आवश्यकता भी नहीं रहती, उसके अधिकारपट्ट शिखा-सूत्रकी भी उस समय आवश्यकता नहीं रहती। यह 'प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनाम्' का तात्पर्य है।

वस्तुतः 'प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां' यह पुराणका ही वाक्य है, वही 'चाणक्यनीति' में संगृहीत है। 'चाणक्य-नीति' संग्रह-पुस्तक है, मूल नहीं। चाणक्यका मूल पुस्तक तो 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' है। 'चाणक्यनीति' में वह नृसिंह-पुराणसे संगृहीत है। वह पद्य यह है—'अग्नौ क्रियावतां देवो, हृदि देवो मनीषिणाम्। प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां योगिनां हृदये हरिः' (६२।५)। इसमें बताया गया है कि—कर्मकाण्डियोंका देव तो अग्निमें रहता है। अर्थात्—वे अग्निमूर्तिके द्वारा देवकी पूजा करते हैं। विद्वान् वा योगी अपने हृदयरूप मूर्तिमें देवको प्रतिष्ठापित करते हैं। थोड़े ज्ञान वाले प्रतिमा (पत्थर आदिकी मूर्ति) में देवकी पूजा करते हैं।

इससे मूर्तिपूजाका निषेध सिद्ध न हुआ। अग्नि भी तो [illegible] है, उसमें वा उसके द्वारा भी भगवान्की पूजा करनी मूर्तिपूजा ही तो है; जिसे आर्यसमाजी भी करते हैं। इससे मूर्तिपूजाकी कर्तव्यता सिद्ध हुई। तभी नरसिंहपुराणोंमें उक्त पद्यके आगे उपसंहारमें कहा गया है—'अतोऽग्नौ, हृदये, सूर्ये, स्थण्डिले प्रतिमासु च। एतेषु च हरेः सम्यगर्चनं मुनिभिः स्मृतम्। तं सर्वमयत्वाच्च स्थण्डिले प्रतिमासु च' (६३। ६-७)। अर्थात् भगवान् सर्वमय है, अतः अपने अधिकारानुसार, चाहे अग्नि हो वा हृदय। सूर्य हो वा मिट्टीकी मूर्ति हो, वा पत्थर आदिकी प्रतिमा हो, उसमें भगवान्को पूजो। इसी प्रकारके पद्य अन्य भी मिलते हैं, पर प्रतिपक्षी पुस्तकोंके पूर्वापर छिपाकर जनवञ्चन करता है, जिससे साधारण-जनता भ्रममें पड़ जाती है। [illegible]

जनताको प्रतिपक्षी के दिये प्रमाणोंपर विश्वास न करके उनका पूर्वापर देखकर ही तब तथ्य तक पहुँचना चाहिये।

(ख) 'शिलालिंगं तु शूद्राणां'का उत्तर यद्यपि पूर्वं (पृ०१२०-१२१) दिया जा चुका है; तथापि उसका पूर्वापर दिखलाकर यहां उसकी पूर्ति की जाती है। यह पूरा पद्य इस प्रकार है—'रसलिंगं ब्राह्मणानां सर्वाभीष्टप्रदं भवेत्। बाणलिंगं क्षत्रियाणां महाराज्यप्रदं शुभम्। स्वर्णलिंगं तु वैश्यानां महाधनपतित्वदम्। शिलालिंगं तु शूद्राणां महाशुद्धिकरं शुभम्' (शिव. विद्येश्वरी. १। १८। ४८-४९) यहां यह नहीं बताया गया है कि—ब्राह्मण केवल रसलिंग ही पूजे, क्षत्रिय बाणलिंग ही पूजे, वैश्य स्वर्णलिंग ही पूजे और शूद्र शिलालिंग ही पूजे। यह पूर्वापरको छिपाकर जनवञ्चना करनी देवीभागवतके कहे कलि-लक्षणानुसार प्रतिपक्षीको बहुत प्रिय है। तभी तो उसने ६ पादों में ५ पादों को जनताके सामने नहीं आने दिया, और निर्मूल फतवा भी दे दिया कि—'पत्थरका लिंग शूद्रोंकेलिए है, द्विजातियोंको ये पत्थरके शिवलिंग नहीं पूजने चाहियें—यह पुराणका स्पष्ट आदेश है' ('शिवलिंगपूजा क्यों' पृ० ७३) पर पुराणका ऐसा आदेश नहीं; यह हम दिखला ही चुके हैं। यदि वह अपनी बात ठीक मानता है, तो प्रतिपक्षी भी द्विज है, वह भी रसलिंग, बाणलिंग वा स्वर्णलिंग की पूजा शुरू करे, उसका उद्धार हो जायगा।

यहां तो यह लिखा है कि—'रसलिंगके पूजनेसे ब्राह्मणके सारे मनोरथ पूरे होते हैं। बाणलिंगके पूजनेसे क्षत्रियोंको राज्य मिलता है। स्वर्णलिङ्ग पूजनेसे वैश्यको धन मिलता है और शिलालिङ्ग पूजनेसे शूद्रकी शुद्धता होती है। यही यहां अर्थ है। यह यहां नहीं लिखा कि वे—वे वर्ण इन्हींको ही पूजें; शूद्रोंके अतिरिक्त शिलालिङ्गको कोई न पूजे, ऐसा यहां किसी भी

शब्दका अर्थ नहीं है।

जैसे कि—'विशेषतश्च शूद्राणां पावनानि मनीषिभिः। अष्टादशपुराणानि' (भविष्य पु० ब्राह्म० १)में पुराणोंको शूद्रोंका पवित्रकर्ता कहा है। यह नहीं कि—वे केवल शूद्रोंकेलिए हों; किन्तु वे सामान्यतया सभीके शोधक हैं, पर शूद्रको विशेषरूपसे पवित्र करते हैं—यह तात्पर्य है। इसमें प्रमाण उक्त वचनमें स्थित 'विशेषतः' शब्द है; नहीं तो उस शब्दका कहना व्यर्थ था; तब डा० श्रीरामका 'शिवलिङ्गपूजा क्यों' (पृ. ६८)में 'पुराण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंकेलिए न होकर केवल शूद्रोंके ठगने-खानेकेलिए बनाये गये हैं' यह लिखना गलत है, जनवञ्चनार्थ है। स्वा. द. जीने 'सत्यार्थ-प्रकाश' संस्कृतानभिज्ञ मूर्खों, प्रतिपक्षीके अनुसार शूद्रोंकेलिए हिन्दीमें बनाया था, तब क्या उसे संस्कृताभिज्ञ विद्वान् द्विज न पढ़ें? यदि ऐसा है; तो 'अवतार रहस्य'के अन्तमें जो कि—प्रतिपक्षीने 'प्रत्येक व्यक्तिको 'सत्यार्थ-प्रकाश' पढ़नेकी प्रेरणा की है; क्या वे शूद्र हैं; और वह शूद्रोंकेलिए है? यदि ऐसा है, तो बधाई हो। नहीं तो यहां भी ऐसा समझें कि—पुराण सब द्विजोंकेलिए भी हैं; पर सुगम होनेसे शूद्रोंकेलिए तो विशेषरूपसे लाभप्रद हैं। इस प्रकार यहां शिलालिङ्गकी पूजा द्विजोंकेलिए भी है; पर शूद्रोंकी वह विशेषरूपसे शोधक है।

एक उदाहरण अन्य भी देखें।—स्वा. द. जीने सत्यार्थ प्रकाश २ य समु. में लिखा है—'८ वें वर्षके आरम्भमें द्विज अपने सन्तानोंका उपनयन करके आचार्यकुलमें भेज दें, और शूद्रादि उपनयन किये बिना विद्याभ्यासकेलिए गुरुकुलमें भेज दें' (पृ. १८)। इसमें स्वामीने द्विजोंको आचार्यकुलमें तथा शूद्रोंको गुरुकुलमें जानेकेलिए कहा है। आर्यसमाजने अभी तक 'आचार्य-

कुल' तो खोले नहीं; गुरुकुल ही खोले हैं। तो प्रतिपक्षीके अनुसार गुरुकुल केवल शूद्रोंकेलिए मानें, तो गुरुकुलोंमें पढ़नेवाले छात्र वा पढ़ कर उनसे निकले हुए सभी स्नातक शूद्र हैं; क्या प्रतिपक्षी ऐसा मानता है? उसका जो उत्तर वह देगा, वही यहां भी समझ लेना चाहिए। प्रतिपक्षीको हम सत्परामर्श देते हैं कि वह अपनी लेखनीको संस्कृतानभिज्ञ ईसाई-मुसलमानोंके खण्डन तक ही सीमित रखे, पुराणोंके छत्तेमें हाथ न डाले। नहीं तो उसे बड़ी तकलीफें उठाकर पदे-पदे ठोकरें खानी पड़ेंगी। प्रतिपक्षी संस्कृतानभिज्ञों तथा ग्रन्थोंके पूर्वापरको कभी न देखने वालोंको कुछ देर तकके लिए भले ही ठग ले; पर संस्कृत विद्वानोंके मुकाबलेमें आनेपर उसकी अनभिज्ञता तथा जनवञ्चनाका 'पर्दाफाश' होता रहेगा, जिसका पतलियां देनेके अतिरिक्त उसके पास कोई प्रत्युत्तर न हो सकेगा; जैसा कि उसने अपने 'अवतार-रहस्य' में किया है। फलतः 'शिलालिंगं तु शूद्राणां' का उत्तर पूर्व जैसा ही है।

और भी देखिये-जैसे मनुस्मृतिमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंको ब्रह्मवर्चस, बल, धनकी कामनामें ५, ६, ८ वर्षमें उपनीत करना कहा है (२।३७); पर विशेष कामनामें ही। इससे यह कोई नहीं कहता कि-वैश्यका यहां आठवें वर्षमें उपनयन कहा है, फिर ब्राह्मण ८वें वर्षमें उपनयन करता हुआ वैश्य हो गया। न सभी उसको निष्कामतामें ८वें वर्षमें उपनयन होता देख कर ब्राह्मण ही कहते हैं; इस प्रकार यहां पर भी समझ लेना चाहिये कि-सभी द्विज निष्कामतामें पत्थरके लिङ्गकी पूजा सामान्यतया कर सकते हैं, पर यदि उनके विशेष मनोरथ हों, तो वे रसलिङ्ग आदिकी पूजा करें। तब सर्वत्र शिवालयोंमें पत्थरके लिंगोंकी पूजा होती है, उनकी पूजा करते। वाले पुराणोंके अनुसार शूद्र

हैं' यह 'शिवलिंग-पूजा-पर्यालोचन' (पृ० २४)में श्रीकुशवाहा[illegible]का, तथा 'शिवलिंगपूजारहस्य' (पृ० ४४) और 'शिवलिंगपू[illegible] क्यों?' (पृ. ७२)में डा० श्रीरामजीका 'पत्थरका लिंग शूद्र पू[illegible] हैं' यह लिखना जनताके वञ्चनार्थ है; तभी तो यह लोग इस प्र[illegible] पूर्वापरको जनताके सामने चोरी कर लेते हैं; यह विज्ञ पुरुषों[illegible] जान रखना चाहिये। यहां उन-उन वर्णोंकी उन-उन लिं[illegible] अधिकारसीमा नहीं बताई गई है; किन्तु विशेष कामनामें वि[illegible] लिंग पूजनेकेलिए कहा गया है। कामनाका उद्देश्य न हो, [illegible] पूजाकेलिए कोई भी लिंगमूर्ति हो, चाहे पत्थरकी, चाहे अ[illegible] उसका किसीको निषेध नहीं है; प्रत्येक वर्ण उसे पूज सकता [illegible]

(ग) 'मृच्छिलाधातुदार्वादिमूर्तौ' पद्यमें प्रतिपक्षीने म[illegible] भारतके स्थलका निर्देश पूछनेपर भी नहीं दिया। पूर्वापर-प्र[illegible]रण-रहित वचनका कुछ भी तात्पर्य नहीं होता। इससे स्पष्ट [illegible] कि-प्रतिपक्षी पुस्तकमें स्वयं देखकर प्रमाण नहीं देता, दू[illegible] ट्रैक्टोंसे उद्धृत करके दे देता है। यह वहां ज्ञानकाण्डका अर्थव[illegible] है। ज्ञानकाण्ड में यज्ञ आदि कर्मकाण्डका भी खण्डन मिल जा[illegible] है-'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः' (मुण्डक १।२।७)। [illegible] वचनमें मूर्तिपूजाको एक तपस्या बताया गया है। 'शमो द[illegible]स्तपः शौचं' (१८।४२) इस गीताके पद्यमें तथा मनुस्मृति ([illegible] २३८) में तपस्या ब्रह्मकर्म तथा उत्तमकर्म माना गया है, [illegible] तपस्यारूप मूर्तिपूजा भी उत्तम-कर्म सिद्ध हुआ। प्रतिपक्षीके [illegible]सार 'अत्यन्त बुरी चीज' तो दूर, बल्कि 'बुरी चीज' भी सिद्ध [illegible] हुई। तपस्यामें क्लेश तो होता ही है। वह गतपापनाशक हो[illegible] शुभफल देती है। उसमें 'परा शान्ति' न सही, क्योंकि-वेदो[illegible] उपासना भी मुण्डकके अनुसार 'अपरा विद्या' मानी गई है, [illegible] उससे शान्ति-प्राप्ति तो सिद्ध हुई ही। सो यह मूर्तिपूजा[illegible]

खण्डक वचन नहीं है, किन्तु मण्डक ही है, हाँ, इसके प्रतिद्वन्द्वी ज्ञान आदिको इसकी अपेक्षा बढ़ाया गया है। सो परा कोटिमें उसका बढ़ाना स्वाभाविक ही है। इस पद्यमें 'कभी' वाचक कोई पद नहीं; तब अर्थ करते हुए प्रतिपक्षीका उसमें 'कभी' शब्द डालना उसका अपने दुर्बलपक्षके संरक्षणार्थ शास्त्र-वचनोंमें 'प्रक्षेप' करनेकी प्रकृतिवाला होना है। इन लोगोंकी ऐसी असत्यप्रिय-मनोवृत्तिपर बड़ा खेद होता है। 'कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती है' यहां 'हो सकती है' अर्थ भी प्रतिपक्षीका स्वयं गढ़ा हुआ है। मूल-पद्यके किसी भी पदका यह अर्थ नहीं। इससे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि—प्रतिपक्षी अपना गलत पक्ष सिद्ध करनेकेलिए 'भगवती वाक्'से बलात्कार करनेसे (भी) नहीं चूकता। 'वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः। तां तु यः स्तेनयेद् वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः' (४।२५६) इस मनुके पद्यका अर्थ श्रीकुल्लूकभट्टने यह किया है—'यस्तां वाचं स्तेनयेत्-स्वार्थव्यभिचारिणीं वाचयति; स नरः सर्वार्थस्तेयकृद् भवति'। सत्यार्थप्रकाशमें स्वा. द. जीने यह अर्थ किया है—'वाणी ही (उन व्यवहारों)का मूल और वाणीसे ही सब व्यवहार सिद्ध होते हैं, उस वाणीको जो चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है—वह सब चोरी आदि पापोंका करनेवाला (होता है)' (४र्थ स. पृ. ८६) अब प्रतिपक्षी यह सब बातें अपने ऊपर घटा ले।

फलतः महाभारतके उक्त वचनसे मूर्तिपूजाका खण्डन महाभारतकारको इष्ट नहीं। तभी तो महाभारतमें मूर्तिपूजा स्पष्ट लिखी हुई है। देखिये—'शरण्यं शरणं गत्वा भगवन्तं पिनाकिनम्। मन्मयं स्थण्डिलं कृत्वा माल्येनापूजयद् भवम्' (वनपर्व ३९।६५) यहां अर्जुनके द्वारा शिवजीकी पार्थिव-मूर्तिकी पुष्पमाला द्वारा पूजा बताई गई है। इसी प्रकार 'अर्चितानि च सर्वाणि

देवतायतनानि च' (वनपर्व. ७७।८) 'देवतायतनानां च पूजाः सुविहितास्तथा' (आश्वमेधिक ७०।१६) इत्यादि बहुत स्थानोंपर देवमूर्तियोंकी पूजा बताई गई है। तब प्रतिपक्षीका देवीभागवतके अनुसार राक्षसत्वसूचक यह असत्यव्यवहार है कि—वह सनातनधर्मके उन ग्रन्थोंमें स्थित सिद्धान्तोंको तो छिपा दिया करता है। परन्तु अर्थवाद-वचनोंको जिनका तात्पर्य अन्य किसीकी प्रशंसामें होता है, उपस्थित कर दिया करता है; जिसका उदाहरण यह पद्य है। इसी प्रकार प्रतिपक्षीका अग्रिम प्रमाण भी देखें।

(घ) 'न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः' प्रतिपक्षीने इस पूर्वार्धको तो दे दिया है, पर इसका जो उत्तरार्ध था; उसने उसे छिपा दिया क्योंकि—इससे उसके करे-कराये परिश्रमपर पानी फिर जाता है। वह उत्तरार्ध यह है—'ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः' (श्रीमद्भा. १०।८४।११) यहां स्पष्ट साधु-पूजाका अर्थवाद है। इसका तात्पर्य यह है कि—केवल जलमय तीर्थ पवित्रकारक नहीं होते, किन्तु साधु भी पावन तीर्थ होते हैं। केवल मट्टी-पत्थर आदिकी प्रतिमायें ही पावन देवता नहीं होती हैं, बल्कि साधु भी पावन-देवता होते हैं। उत्तरार्धमें कहा है कि—जलमय तीर्थ तथा पार्थिव-मूर्तिरूप देव तो देरीसे पवित्र करते हैं; परन्तु जङ्गम-तीर्थ और जङ्गम-देव साधु दर्शनमात्रसे ही पवित्र कर देते हैं।

फलतः यह स्पष्ट साधु-पूजाका अर्थवाद सिद्ध हुआ। यदि जलविशेष तीर्थ न होते, और मट्टी-पत्थर आदिकी प्रतिमा यदि देवता न होते, तो 'वे देरीसे पवित्र करते हैं' यह उनकेलिए क्यों कहा जाता? जो पदार्थ पवित्र करने वाला नहीं, वह त्रिकालमें भी पवित्र नहीं कर सकता। उसे 'वह देरसे पवित्र

करता है' ऐसा नहीं कहा जाता। इससे जलविशेषोंका तीर्थत्व तथा पार्थिव-मूर्तियोंका देवत्व तो न कटा, किन्तु सिद्ध ही हुआ। हां, साधुकी अपेक्षा वे देरीसे पवित्र करती हैं, यह साधुपूजाका अर्थवाद तो सिद्ध हुआ। मूर्तिपूजा भी पवित्र करने वाली (चाहे देरीसे सही) तो सिद्ध हो ही गई। इससे प्रतिपक्षीका पक्ष कट गया। तभी तो उसने इस पद्यका यह उत्तरार्ध छिपा कर देवी-भागवतके अनुसार राक्षसताकी अवतारसूचक असत्यवादिताको अपना लिया।

पूर्वार्धमें भी 'न तीर्थानि, न देवाः' में नञ् निषेधार्थक नहीं है, किन्तु 'अपशवो वा अन्ये गो-अश्वेभ्यः' 'अन्मलिनम् अब्रास-स्तद्, यद् अघृतम् अभोजनं तद्' आदिके नञ्की भांति प्रतिद्वन्द्वी-साधुकी अपेक्षा 'अप्रशस्त' अर्थमें है। जैसे भगवद्गी.में 'नाहं वेदै-र्न तपसा ... शक्य एवंविधो द्रष्टुं' (११।५३) 'न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैः ... एवंरूपः शक्य अहं नृलोके' (११।४८) यहां 'नञ्' शब्द है कि-वेद, यज्ञ, अध्ययन, दान, उग्र तप आदिसे मुझ-परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती; तब क्या प्रतिपक्षी इस नञ्को देखकर वेदको भी अत्यन्त बुरी चीज मान लेगा ?' यदि नहीं, किन्तु यहां 'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः' (११।५४), इस भक्तिका अर्थवाद मानेगा, और समझेगा कि—यहां वेदकी अपेक्षा भी भक्तिकी परमात्मदर्शनमें शीघ्रकारिता बताई गई है; वैसे श्री-मद्भागवतके आक्षिप्त पद्यमें भी समझ लेना चाहिये। जैसे यहां वेदों वा तपस्या आदिके साथ ही भक्तिके होनेसे शीघ्र ईश्वर-दर्शन अभिप्रेत है, वैसे ही श्रीमद्भा.के उक्त पद्यमें भी साधुदर्शन तथा मूर्ति-तीर्थ आदिके दर्शन-स्पर्शनसे भी पवित्रता इष्ट है। परन्तु तात्पर्य समझनेकी सूक्ष्म-बुद्धि चाहिये। तब 'मूर्तिपूजा अत्यन्त बुरी चीज है' यह 'प्रतिपक्षीका नारा' नितरां निर्मूल है; किसी

भी पद्यके पदका अर्थ वा तात्पर्य ऐसा नहीं है।

यदि प्रतिपक्षीको यह इष्ट हो कि—श्रीमद्भागवत मूर्तिपूजा, जल, वृक्ष आदिकी पूजाका विरोधी है; तो वह 'मुंह धो रखे'। वह श्रीमद्भागवतकी 'खुली घोषणा' देखे—'निर्वर्तितात्मनियमो देव-मर्चेत् समाहितः। अर्चायां (मूर्तौ) स्थण्डिले सूर्ये, जले, वह्नौ गुरावपि' (८।१६।२८) यहां मूर्ति, जल (तीर्थगङ्गादि), अग्नि आदिमें भी भगवान्की पूजा कही गई है। 'तीर्थानां स्रोतसां गंगा' (११।१६।२०) श्रीमद्भागवतके पद्यमें गंगा-तीर्थको भगवान्का रूप कहा है, तब गंगा-जल आदिकी भी पूजा बुरी बात न हुई। तभी तो वेदने भी 'इमं मे गंगे! यमुने!' (ऋ. १०।७५।५) मन्त्रमें गङ्गा-यमुना आदियोंकी स्तुति-प्रार्थना की है। 'ता आपः' (यजु०: ३२।१) में जलको भी वेदमें भगवान्का स्वरूप कहा है। 'मदर्चां (मुझ भगवान्की मूर्तिको) सम्प्र-तिष्ठाप्य मन्दिरं कारयेद् दृढम्' (११।२७।५०-५२) इसमें तो मूर्तिपूजाकी स्पष्टता है ही। प्रमाणपद्य तो इतने हैं कि—प्रतिपक्षी देखते-देखते थक जाएगा। पर वह क्या-क्या असत्य-व्यवहार करता है, यही 'आलोक'-पाठकोंको हमने दिखलाना था।

जैसे 'पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि अन्नमापः सुभाषितम्। मूढैः पाषाणखण्डेषु रत्नसंज्ञा विधीयते' (चाणक्य १४।१) यहां सुभा-षित आदिको अर्थवादसे 'रत्न' कहा है, हीरा, मणि आदिके रत्नत्वका इससे निषेध नहीं। जैसे—'त एव हि त्रयो वेदाः' (मनु: २।२३०) में माता-पिता-गुरुको अर्थवादसे तीन वेद, तीन आश्रम कहा गया है; इससे ऋक्, यजुः, साम का वेदत्व निषिद्ध नहीं हो जाता; वैसे ही प्रतिपक्षीसे दिये हुए पद्यमें भी अर्थवादसे साधुको पावन कहा गया है; इससे तीर्थ तथा देवमूर्तिकी पाव-

नताका निषेध इष्ट नहीं हो जाता।

शेष प्रतिपक्षीका आक्षेप है पीपलकी पूजापर; उसपर वह अपनी मान्य गीताके पद्यको याद रखे—'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां' (१०।२६) यहां भगवान्‌ने पीपलको अपनी विभूति माना है। सो हिन्दुधर्ममें विभूतिपूजा वैदिककालसे ही चली आ रही है। अथर्ववेदसंहितामें 'अश्वत्थो देवसदनः' (५।४।१) पीपलको 'देवमन्दिर' कहा है। इसी मूलको लेकर श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने पीपलको अपनी विभूति कहा है—'वनस्पतीनामश्वत्थः' (११।१६।२१)। तब देवमन्दिर-पीपलकी तथा गङ्गादि-तीर्थकी पूजा भी बुरी न हुई, किन्तु वैदिक सिद्ध हुई।

यदि प्रतिपक्षीके अनुसार श्रीमद्भागवतको मूर्तिपूजा इष्ट न होती, तो वह देवप्रतिमा, गङ्गानदी, तथा पीपलके वृक्षका पूजन कैसे लिखता, जिसे श्रीमद्भागवतसे ही निषिद्ध करनेकी प्रतिपक्षीने दुश्चेष्टा की है; इससे सिद्ध है कि-प्रतिपक्षी पुराणोंका घोर शत्रु है; तब पुराण अपने शत्रुका पक्ष सिद्ध करनेमें उसे क्या सहायता दें? तब पुराणोंके मित्र वेद भी अपने मित्रके शत्रु प्रतिपक्षीकी सहायता नहीं कर सकते। तब देवीभागवतकी उक्तिके अनुसार असत्यप्रिय-प्रतिपक्षी की उक्त थोथी पोथी तथा असत्यप्रिय-बुद्धि ही 'अत्यन्त बुरी' सिद्ध हुई। योग्य पुरुषोंको उसके असत्यप्रतिपादक-ट्रैक्टोंसे घृणा करनी चाहिये।

(ङ) अब जोकि प्रतिपक्षी-'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते' इस वेदमन्त्रद्वारा मूर्तिपूजाखण्डनका दुस्साहस करता है, उसपर भी विचार किया जाता है।

प्रतिपक्षीने इस मन्त्रका यह जो अर्थ किया है कि-'मूर्तिकी उपासना करने वाले घोर अन्धकारमें पडते हैं' तो प्रश्न है कि-

उसने यह अर्थ मन्त्रस्थित 'असम्भूति' का किया है, या 'सम्भूति'का? इन दो पदोंमें जिस एकका यह अर्थ किया गया है, उससे विरुद्ध दूसरा प्रतिपक्षीको मान्य होगा। प्रतीत होता है कि-उसने यह 'सम्भूति'का अर्थ किया है; तब 'असम्भूति' की उपासना प्रतिपक्षीको इष्ट हुई, परन्तु वेदने उसका भी खण्डन किया है। वेदका यह भाव है कि-केवल असम्भूतिकी उपासना करने वाले भी अन्धेरेमें हैं; और केवल 'सम्भूति' की उपासना करने वाले उससे भी अधिक अन्धेरेमें हैं। वेदका यह भाव है कि-'असम्भूति तथा सम्भूति' दोनोंकी मिलकर उपासना करनेसे लाभ होता है। देखिये इससे अग्रिम मन्त्र-'सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेद उभयं सह। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते' (४०।११) इस मन्त्रमें 'असम्भूति' का पर्यायवाचक 'विनाश' रखा है। अब इसका यह भाव हुआ कि-'असम्भूति' और 'सम्भूति' दोनोंकी उपासना करो। असम्भूतिकी उपासनासे मृत्युको पार करोगे, और सम्भूतिकी उपासनासे अमृतत्व (मुक्ति) मिलेगा। इससे वेदने असम्भूति और सम्भूति दोनोंकी समुच्चित-उपासना मानी है; उसका खण्डन नहीं किया। इससे वेदने प्रतिपक्षीका ही घोर खण्डन कर दिया।

प्रतिपक्षीके खयाले-शरीफमें यह बात आजाए; अतः हम इसके साथ वाले मन्त्रको लेते हैं-'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः' (य. ४०/१२) यहां केवल अविद्या (कर्म) के उपासकको अन्धेरा प्राप्त होना, तथा केवल विद्या (ज्ञान) के उपासकको घोर अन्धेरा प्राप्त होना कहा है। यहां अकेले कर्म तथा अकेले ज्ञानका हानिप्रद होना सूचित किया है। इससे वेदको न कर्मका खण्डन इष्ट है, न ज्ञानका; किन्तु दोनोंकी समुच्चित उपासना इष्ट है। देखिये

यह मन्त्र—'विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेद उभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' (४०। १४) यहां पर कहा है कि-अविद्या (कर्म) तथा विद्या (ज्ञान) दोनोंकी उपासना करो। अविद्या (कर्म) जिसमें मूर्तिपूजा आदि उपासना भी शामिल है-से तुम मृत्युको पार करोगे; और विद्या (ज्ञान) से मुक्ति मिलेगी। यहां जिस प्रकार अविद्या-विद्या दोनोंकी अकेली उपासनाका निषेध है; दोनोंकी इकट्ठी उपासना तो वेदको इष्ट ही है; वैसे ही पूर्वोक्त सम्भूति—असम्भूति वाले मन्त्रमें भी दोनोंकी समुच्चित-उपासना वेदको इष्ट सिद्ध हुई। तो यदि प्रतिपक्षी उक्त मन्त्रमें मूर्तिपूजाका खण्डन समझता है; तो यह उसका अज्ञान है। क्योंकि ४०। ११ मन्त्रमें 'सम्भूत्याऽमृतमश्नुते' कहकर वेदने सम्भूति (प्रतिपक्षीके अनुसार 'मूर्तिपूजा') से मुक्ति होना बताया है। अथवा यदि प्रतिपक्षी असम्भूतिसे मूर्तिपूजा लेता है, तो वेदने 'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा' यहां असम्भूति [प्रतिपक्षीके अनुसार मूर्तिपूजा] से मृत्युलोकसे तरना कहा है। अब कहां गया इससे प्रतिपक्षीका मूर्तिपूजाका खण्डन? आशा है-अब प्रतिपक्षी फिर कभी इस मन्त्रको मूर्तिपूजाके खण्डनमें देनेकी भूल न करेगा; यह हमें विश्वास है। यहां उसने 'ईश्वरके स्थानमें' यह किन पदोंका अर्थ किया है? क्या वह वेदमन्त्रमें भी प्रक्षेप करता है?

प्रतिपक्षी बेचारा संस्कृत ही कितनी जानता है, वह तो जो स्वा. द.ने लिख डाला, उसको स्वतः-प्रमाण मान बैठता है। जब कि ४०। ११ में सम्भूति-असम्भूति दोनोंकी समुच्चित उपासना वेद बता रहा है; तब क्या वह उसको छिपाकर केवल ४०। ९ मन्त्रको उपस्थित करके 'मत पढ़ो नमाज, जब हो नापाक' इसमें उत्तर-वाक्यको छिपाने तथा केवल 'पूर्व' वाक्यको

उपस्थित करने वाले मौलिवोंकी भान्ति नहीं बना?।

हमारे यहां तो द्वैतवाद-अद्वैतवाद आदि सभी वाद अधि[कारि]भेदसे चलते हैं। जब द्वैतवादवश मूर्तिको ईश्वरसे भिन्न [माना] जाता है; तब मूर्तिमें वा मूर्तिके सामने ईश्वरकी उपासना [की] जाती है, जैसा कि स्वा. द.जीने भी स. प्र. के १४वें समुल्लास [में] लिखा है— 'जिनको तुम बुतपरस्त समझते हो, वे भी उन [बुतोंको] ईश्वर नहीं समझते; किन्तु उनके सामने परमेश्वरकी भक्ति कर[ते हैं]' (पृ. ३४५) अब इसमें प्रतिपक्षी फड़फड़ा नहीं सकता। 'पुरुष एवेदं सर्वं' (यजुः ४०। २)के अनुसार इस संसारको परमात्माका विकास मानकर अद्वैतवादानुसार जर्रे-जर्रेको परमात्मा माना जाता है; तब प्रतिष्ठापित मूर्तिको परमात्मा [मान]कर पूजा जाता है, 'प्रस्तरमावाहयामि, हे प्रस्तर! आ[ओ]' यह कभी पूजामें कहा नहीं जाता; किन्तु 'विष्णुमावाहयामि' आदि ही कहा जाता है। जब पारमार्थिक अद्वैतवाद माना [जाता] है; तब 'सोऽहम्' भाव होजानेसे वहां अभेदवश किसीकी [पृथक्] सत्ता ही नहीं की जाती। अतः हमारे किसी भी पक्षमें दोष [नहीं] आता।

शेष हैं आप लोग-जीव, परमात्मा, प्रकृति तीनोंको [अनादि] और भिन्न माननेवाले; सो आप लोग जब प्रकृतिके बने [हुए] हैं; तब प्रकृतिकी उपासना से विमुख कैसे हो सकते हैं?। [ऐसा] करके क्या आप 'जलमें रहकर मगरसे वैर' न्यायको चरि[तार्थ] नहीं कर रहे हैं? जिस बुद्धिसे आप ध्यान करते हैं, वह [जड़;] जिस मनसे उपासना करते हैं, वह जड़। जिस प्रकाशको [देखते] है, वह जड़। जिस पृथ्वीपर बैठकर ध्यान करते हैं, जिस [दीवार] आदिके सामने बैठकर ध्यान करते हैं वह जड़। जड़ ही जड़ है। अतः प्रकृतिकी उपासना आपसे कभी छूट सक[ती]

नहीं। हां, आप निराकार हो जाइये; तब प्रकृतिकी उपासनाके निषेधकी बात कहिये; जब तक आप प्रकृति-माताके पुतले हैं; तब तक आप प्रकृतिमाताकी तथा प्रकृतिकी बनी वस्तुओंकी पूजासे कभी भी नहीं छूट सकते। आपने किसी नेताकी पुष्प-मालासे पूजा करनी है; तो वह आप पुष्पमाला उसके गलेमें ही तो डालोगे; भले ही आपकी पूजाका लक्ष्य उसका गला न हो, किन्तु उसका आत्मा हो। यही बात मूर्तिपूजामें भी तो होती है। जब परमात्मा सर्व-व्यापक है; तो उस पूज्यमान मूर्तिमें भी 'यस्य पृथिवी शरीरं' (शत. १४।६।७।७) वह शरीररूपसे है ही; तब उस शरीरसे उस शरीरीकी पूजा क्या नहीं करते हो?। 'भ्रान्तिनिवारण'में स्वा. द. ने लिखा है-'क्या परमेश्वरके व्यापक होनेसे [वह] पृथिवीस्थान नहीं हो सकता?। 'पृथिवी स्थानं यस्य स परमेश्वरोऽग्निर्भौतिकश्च-इत्यर्थद्वयं गृह्यताम्।··· पृथिवी-स्थान शब्दके होनेसे अग्निशब्दका ग्रहण परमेश्वर अर्थमें भी यथावत् होता है-जैसे 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् ···यस्य पृथिवी शरीरं, स त आत्मा अन्तर्यामी अमृतः' (शत. १४।६।७।७) इसमें पृथिवीस्थान शब्दसे परमेश्वरको ग्रहण किया है' (शताब्दी-संस्करण २य भाग, पृ. ८६०-८६१) जब ऐसा है; तो मूर्तिपूजाका खण्डन करना अपनी वेदादिशास्त्रोंसे अनभिज्ञता प्रकट करना है। क्योंकि वह परमात्मा उस समय पृथिवी-स्थानक-मूर्तिस्थानक है। तब 'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्' (वेदा. ४।१।५) 'ईदृशं चात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं यत् प्रतीकेषु तद्दृष्टयध्यारोपणं प्रतिमादिष्विव विष्ण्वादीनाम्' इस शाङ्कर-भाष्यानुसार मूर्तिपूजामें कुछ भी अनुपपत्ति नहीं रहती।

(१६) प्रश्न—महाभागवतपुराणमें स्वयं शङ्करजीका राधा तथा पार्वतीजीका कृष्णावतार धारण करना बताया है; तब उन्हें

विष्णु या ईश्वरका अवतार कैसे माना जा सकता है? ।७।

उ०—यह १८ पुराणोंसे भिन्न ग्रन्थका प्रश्न किया गया है; क्या पुराणकी सामग्री प्रतिपक्षीकी चुक गई? शङ्कर राधा क्यों बने, पार्वती कृष्ण क्यों, यह वहां बताया गया है—'शिव उवाच—'यदि मे त्वं प्रसन्नासि तदा पुंस्त्वमवाप्नुहि। कुत्रचित् पृथिवी-पृष्ठे यास्येऽहं स्त्रीस्वरूपताम्' (महाभागवत ४६। १६) अर्थात् पार्वती! तुम पुरुष बनो और मैं स्त्री बनूंगा। देव्युवाच-'भविष्येऽहं त्वत्प्रियार्थं निश्चितं धरणीतले ।१८। पुंरूपेण महादेव! वसुदेवगृहे प्रभो! कृष्णोऽहं, मत्प्रियार्थं स्त्री भव त्वं हि त्रिलोचन' (१६)। शिव उवाच—पुंरूपेण जगद्धात्रि! प्राप्तायां कृष्णतां त्वयि। वृषभानोः सुता राधास्वरूपाहं स्वयं शिवे।' (२०)। इस उपपुराणमें देवीका महत्त्व तथा अन्य देवताओंसे अभेद-वाद बताया गया है।

इसलिए वहां ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदिने देवीको कहा है कि—'सृजत्यलं (ब्रह्मा) सैव जगन्महेश्वरी, संपाति (विष्णुः) सर्वासु विपत्सु सा मया। अन्ते तथा संहरते (रुद्रः) च विश्वं, निमित्तमात्रं तु वयं त्रयस्त्विति' (६३। २४) 'एवं वदन्तो बहुधा सुरोत्तमाः' (२५) इसमें देवीको ही ब्रह्मा, विष्णु, शिवात्मक कहा है। तब उस देवीसे धारण किया हुआ कृष्णावतार प्रतिपक्षीसे प्रमाणित की हुई ही पुस्तकके प्रमाणसे देवीके विष्ण्वात्मक भी होनेसे विष्णुका अवतार सिद्ध हो ही गया। पर प्रतिपक्षी असत्यवादी होनेसे इन वचनोंको छिपाकर जनवञ्चना करके देवीभागवतोक्त उक्त वचनको स्वयं पानी दे रहा होता है।

उपपुराणके ही उक्त वचनोंसे सिद्ध हुआ कि शङ्कर, विष्णु, पार्वती, राधा आदिमें कोई पारमार्थिक भेद नहीं, औपाधिक-भेद तथा कल्पभेदमें महत्ता बतानेकेलिए कभी एक देवको लिया

जाता है, कभी दूसरेको । 'निरुक्त'में कहा है—'आत्मैव एषां रथो भवति, आत्मा अश्वः, आत्मा आयुधम् । आत्मा इषवः, आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य' (७ । ४ । १५) यहांपर देवताके रथ, अश्व, आयुध, बाण आदिको भी देवताका आत्मा ही बताया गया है । इधर हरि-हरका भी अभेद माना जाता है । यह 'युवयोरन्तरं नैव तव रुद्रस्य किञ्चन' (शिव. रुद्र. सृष्टि. १० । ८-९) इत्यादि बहुतसे पद्योंमें स्पष्ट है ।

इसके अतिरिक्त 'कल्पभेदकथा चैव श्रुता' (शिव. कोटिरुद्र. २३ । ४) इत्यादि पद्यों द्वारा कल्पभेदकी कथाएँ भी पुराणोंमें कही जाती हैं; तब कल्पभेद मानकर उपपुराणोंमें उस बातकी सङ्गति समझ लेनी चाहिये । कल्पभेदमें कभी कोई एक देवता बड़ा होता है, कभी कोई दूसरा । इस विषयमें हमने अन्यत्र स्पष्टता की है । शिव-पार्वती ईश्वर हैं, तब राधा-कृष्ण शिव-पार्वतीके अवतार होनेपर भी उनकी ईश्वरावतारतामें क्षति नहीं आती । महादेवकी महत्तामें श्रीकृष्णको भी महेश्वरका अंश और देवीकी महत्तामें श्रीकृष्णको देवीका अंश बताया जाता है; इसमें श्रीकृष्णके महत्त्वमें कोई क्षति नहीं पड़ती । उसी 'महाभागवत'में 'नन्दाद्या गोपवृन्दास्तु ज्ञात्वा ब्रह्मेति चेष्टितः' (५३ । ४०) यहां पर श्रीकृष्णको ब्रह्म कहा गया है । जब ऐसा है; तब प्रतिपक्षीका यह भय कि—पार्वतीके अवतार श्रीकृष्ण ईश्वर कैसे रह सकेंगे—निराधार सिद्ध हो गया । उसी उपपुराणसे श्रीकृष्ण ब्रह्म सिद्ध हो ही गये ।७।

नृसिंहरूप-संहार ।

(१७) प्रश्न—जब ब्रह्मा, विष्णु, वा महादेव तीनों ईश्वर हैं, तो शंकरने विष्णुके अवतार वाराहको मारकर दान्त तोड़ना, कूर्मकी खोपड़ी उखाड़ना, नृसिंह अवतारका सर काटकर विष्णु

की दुर्गति क्यों की है ? फिर ऐसे कमजोर अवतार कैसे सकते हैं ? ।८।

उत्तर—परमात्मा एक है, ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों तेज हैं, देवरूप हैं, यह पुराणोंमें स्पष्ट है—'त्रिधा भि विष्णो ! ब्रह्म-विष्णु-भवाख्यया' (शिव. रुद्र सं. सृ. ५७) । नारद-पुराणमें भी इन देवोंका परस्पर अभेद क 'हरिशङ्करयोर्मध्ये ब्रह्मणश्चापि यो नरः । भेदं करोति सो नरकं भृशदारुणम् । हरं हरिं विधातारं यः पश्यत्येक स याति परमानन्दं शास्त्राणामेष निश्चयः' (६ । 'योऽसावनादि-सर्वज्ञो जगतामादिकृद् विभुः । नित्यं स्तत्र लिङ्गरूपी जनार्दनः' (५०)

अतः तीनों ईश्वर हैं, यह ठीक है । इनके भी अवता हैं । शेष हैं विष्णु के वाराह, कूर्म, नृसिंहादिका वध । इसपर यह याद रखना चाहिये कि—कई पूर्णावता जाते हैं, कई अंशावतार और कई आवेशावतार । अव कलाएँ तथा कार्यकाल नियत हुआ करता है । षोडशकला को पूर्णावतार माना जाता है । बारह कलाका उससे न्यू का अवतार होता है । आठ कलाका उससे कम मनुष्य ६ कला तक माना जाता है । उससे ऊपरके ८ क भगवान्‌की विभूतियां मानी जाती हैं । यह जीव-कोटि है उससे ऊपर अवतार-कोटि होती है ।

इस प्रकार कलाओंकी न्यूनाधिकतावश शक्तिमें न्यू हुआ करती है । जैसे—अग्निका स्फुलिङ्ग और बड़ी इसी भान्ति उनका कार्यकाल नियत हुआ करता है, उ काल तक उनकी उतनी कलाकी शक्ति सुरक्षित रहती है बाद वह शक्ति नहीं रहती, वह मूलरूपमें खिंचकर

है। इसमें एक-दो उदाहरण देख लेने चाहियें। श्रीपरशुराम अवतार थे। अकेले उन्होंने कई अक्षौहिणी सेनाओं वाले उद्धत-क्षत्रियोंको २१ वार यात्रा करके मार डाला। उस समय कोई उनका बाल बांका न कर सका। पर जव उनका कार्यकाल समाप्त होनेको आया; तब विष्णुके ही दूसरे अवतार श्रीराम-चन्द्रमें उनकी शक्ति खिच गई। जैसे कि—'ततः परशुरामस्य देहान्निर्गत्य वैष्णवम्। पश्यतां सर्वदेवानां तेजो राममुपागमत्' (रामायणकी रामाभिरामोटीकामें उद्धृत पद्म तथा नृसिंह-पुराणका वचन)। 'निर्वीर्यो जामदग्न्योऽसौ' (वाल्मी. १। ७६। ११) 'तेजोभिर्गतवीर्यत्वाज्जामदग्न्यो जडीकृतः' (१२), और परशुराम श्रीरामचन्द्रसे अभिभूत होगये। ऐसा होने पर भी वे जीवकोटिसे ऊंची कोटिके रहते हैं, अतः वे जीवसे पूज्य भी होते हैं। जैसे कि—पिताका लड़का जब युवा तथा बड़ी शक्ति वाला, पिताकी योग्यतासे बढ़ जाता है, तब पिताकी शक्ति पितासे हटकर पुत्रमें चली जाती है। पिता शिथिल हो जाता है। तब भी पिता पिता ही माना जाता है, और वह पूज्य ही रहता है।

अब श्रीकृष्णावतारको ही ले लीजिये। महाभारत-युद्धमें उन्हें कई बड़े-बड़े अस्त्र-शस्त्र प्रतिपक्षियों द्वारा मारे गये, पर उनका बाल बांका भी न हुआ, पर जब उनका कार्यकाल समाप्त होनेको आया; तब वे एक व्याधके बाणसे विद्ध होगये। अर्जुन-के गाण्डीव-धनुषमें कितनी अपार शक्ति थी; पर जब उसका भी कार्यकाल समाप्त हो गया, तो वे भीलोंसे यदुवंशी-स्त्रियोंको न बचा सके। वे उन्हें हर ले गये। धनुष वही था, पर उसकी शक्ति खिचगई, अतः उससे भील भगाये नहीं जासके।

इसी प्रकार प्रकृत विषयमें भी समझ लेना चाहिये। शिवके

पुराणमें शिवका महत्त्व प्रतिपादित हो—यह स्वाभाविक है। उन्हें महान् देव बताया गया है। महान् देवमें शक्ति भी तो महती होनी चाहिये। इसका भी एक उदाहरण देख लेना चाहिये। ब्राह्म-कल्प ब्रह्माका एक दिन होता है। ब्रह्माकी अपने मानके अनुसार १०० वर्षकी आयु होती है, परन्तु सौ ब्रह्माओंकी आयु-के परिमाणमें विष्णुका एक दिन माना गया है। फिर २४ विष्णुओंकी आयुमें रुद्रकी एक 'त्रुटि' (थोड़े समयकी मात्रा) मानी गई है। अब देखिये—यहां रुद्रकी ब्रह्मा, विष्णुकी अपेक्षा कितनी शक्ति बताई गई है। देखिये इसपर 'बृहत्पराशरस्मृति' (१२। १८८-१९१)। तब शिवके पुराणमें शिवका महान् होना वर्णित हो, तो यह स्वाभाविक है। तब शिवका वाराहका दान्त-लेना, नृसिंहकी कृत्तिसे उसका सिंहासन वनाना (लिंग. पू. ९६, शिव. शतरु. ११-१२) यह सब नृसिंह आदिके कार्यकालकी समाप्तिका द्योतक है। इसमें आक्षेपकी कोई बात नहीं।

जिस पुराणसे यह बात दी गई है, वहीं यह कहा गया है—'यथा जले जलं क्षिप्तं, क्षीरे क्षीरं, घृतं घृते। एक एव तथा विष्णुः शिवलीनो न चान्यथा। एष (शिव) एव नृसिंहात्मा सदर्पश्च महा-बलः' (लिङ्ग १। ९६) १११-११२, शिव. शतरुद्र. २२। ३१-३२) 'त्वदादि (नृसिंहादि) स्तम्बपर्यन्तं रुद्रशक्तिविजृम्भितम्' (लिंग. ९६। ५३)। इसमें यह कहा गया है कि—विष्णु शिवसे भिन्न नहीं; उसीका तेज-विशेष है। सो 'यत् तेजस्तु नृसिंहाख्यं संहर्तुं (आकृष्टुं) परमेश्वरः' (९६। ३) 'ज्वलितः स नृसिंहाग्निः शमयैनं दुरासदम्' (१२) सो उसी नृसिंह वा वाराह वा कूर्म नामक अपने तेजको शिवने अपनेमें खींच लिया—यह यहां तात्पर्य है। 'सर्वलोकहितायैनं तत्त्वं (तेजः) संहर्तुं (आकृष्टुं) महंसि' (लिंग १। ९५। ५८) पृथग्भूत अपने तेजका अपनेमें अभिन्न

(लीन) करनेका ही यहां आशय है। यही वहां कहा है—'सूक्ष्मं सूक्ष्मेण संहृत्य, स्थूलं स्थूलेन तेजसा' (६६ । १४) । 'तद् वक्त्र-शेषमात्रान्तं कृत्वा सर्वस्य विग्रहम्' (६६ । ६८) अर्थात् नृसिंहके सारे शरीरको मुखरूपमें केन्द्रित कर दिया ! यहां पर 'अभिमानका परिणाम शुभ नहीं होता है' इत्यादि अर्थवाद भी लोक-शिक्षार्थ हो जाते हैं।

पूर्व रीतिसे तीनोंका अभेद होने पर भी औपाधिक-भेदमें भेद वाला लौकिक व्यवहार भी दिखलाया जाता है, वह लोक-लीलामात्र होता है। जैसे गणेशजन्मके नाटकमें गणेशका शिव-द्वारा शिर काटना लोगोंको प्रत्यक्ष दीख रहा होता है; पर वास्तवमें वह नाटकमात्र होता है, सिर नहीं कट रहा होता; इस प्रकार चलचित्रमें भी वैसा दीख रहा होता है। यहां अंशके अंशीमें मिल जाने वा भेदको दूर कर अभेद दिखलानेमें, तेज का तेजमें मिलनेका तात्पर्य होता है। ऊपरके 'जले जलं, घृते घृतम्' आदि पद्य यही स्पष्ट कर रहे हैं। जिस पुस्तक पर आक्षेप किया जावे, उसकी वस्तुस्थिति भी वहीं की माननी पड़ती है। यदि प्रतिपक्षी ऐसा नहीं करते, तो यह वे अपने पक्षकी दुर्बलता स्वयं प्रकाशित कर रहे हैं ॥८॥

शिववीर्य वा शिवलोक।

(१८) प्र०—केदारकल्पमें शिववीर्य पीनेसे शिवलोककी प्राप्ति तथा सुन्दरी कन्याएं मिलनेकी बात लिखी है। कुरानमें भी बिहिश्तमें हूरों तथा लौंडों का मिलना कहा है। तब पुराणने कुरानकी नकल की, वा कुरानने पुराणकी ? । ६ ।

(उ०) यह १८पुराणोंसे भिन्नका प्रश्न किया गया है। प्रश्न करनेका ढंग प्रतिपक्षीका बहुत कुत्सित हुआ करता है। यहांका 'शिववीर्य' शब्द पारिभाषिक है। देखिये वहां के शब्द—'तृतीयं

तत्परं स्थानं केदारमिति विश्रुतम् । मच्छरीराद् विनि[illegible] शुक्राख्यं पानमुत्तमम्' (केदारकल्प ५ । १२) यहां केदार[illegible] जलको 'शुक्र' बताया है। इस पुस्तकमें 'शिव' परमात्मा [illegible] गये हैं; प्राकृत मनुष्य नहीं। तब उनका शुक्र भी प्राकृत न है उनके अन्य अङ्गोंकी भान्ति दिव्य ही होता है। वेदद्वारा [illegible] समाजिन कुमारियां परमात्मासे 'वीर्यमसि वीर्यं मयि [illegible]' (यजुः १६ । ६) अपने में वीर्याधानकी प्रार्थना करती हैं; तब [illegible] प्रतिपक्षी उसमें उनकी लौकिक, प्राकृत वीर्याधानकी प्रा[illegible] मानेगा ? यदि ऐसा है; तो वह धन्य है ! यदि नहीं; तो यहां ऐसा नहीं। 'तेजोसि शुक्रममृतं' (यजुः २२ । १) आदि वेद[illegible] में शुक्र तेज को कहते हैं। सो जल भगवान्का शुक्र है। [illegible] कारण निघण्टु (१ । १२) में 'रेतः, शुक्रं, तेजः' यह नाम भी तात्पर्यसे जलके आये हैं। सो केदारकल्पमें भी केदारतीर्थका [illegible] पोषक जलका पीना इष्ट है, पर प्रतिपक्षी ग्रन्थोंके पूर्वापर [illegible] अपनी स्वाभाविक-प्रकृतिके अनुसार जनवञ्चन न करे; तो [illegible] क्या करे ? असत्य-वादसे ही तो उसकी क्षुद्रपुस्तिकाएं [illegible] अनुसन्धान-हीन आर्यसमाजी जनतामें चल रही हैं, और अ[illegible] जनोंका वञ्चन कर रही हैं, जनताको सावधान हो [illegible] चाहिये।

शेष है शिवलोकमें अप्सराओं-सुन्दर कन्याओंका वर्णन; [illegible] पर यह जानना चाहिये कि—शिवलोक एक स्वर्ग विशेष [illegible] स्वर्गलोकमें अप्सराओंका वर्णन शास्त्रोंमें आता है। देखिये [illegible] दर्शनमें—'स्वर्गः अप्सरसः' (२ । १ । ५३) यहां स्वर्ग तथा अ[illegible] राओंकी सत्ता आप्तवचनसे मानी है। वादिप्रतिवादि[illegible] महाभाष्यमें यज्ञके प्रयोजनमें स्वर्गप्राप्ति होनेपर कहा है—'[illegible] लोके अप्सरस एनं जाया भूत्वा उपशेरते' (६ । १ । ८४)।

वेदज्ञाता महाभाष्यकारने मुसलमानोंकी नकल करके स्वर्गलोकमें अप्सराओंका मिलना लिखा ?'

अब योग-दर्शनमें स्वा.द.जीसे बहुत मान्य व्यासभाष्य देखिये-'षड् देवनिकाया उत्तमानुकूलाभिः अप्सरोभिः कृतपरिवाराः' (विभूति. ६) 'इह रम्यताम्, कमनीयोऽयं भोगः, कमनीया इयं कन्या, उत्तमा अनुकूला अप्सरसः' (योग. ३। ५१)। अब वेदमें देखिये-'स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् (देवानाम्)' (अथर्व. ४। ३४। २) यहां स्वर्गलोकमें देवताओं की बहुतसी स्त्रियां (स्त्रीणां समूहः स्त्रैणम्) बताई गई हैं। शायद इन वेद-दर्शन-वेदांग आदिमें यह भी प्रतिपक्षीके अनुसार मुसलमानों की नकल हो! वेदके भाग उपनिषद्में यमराज नचिकेताको कहते हैं-'सर्वान् कामान् [इह स्वर्गलोके] छन्दतः प्रार्थयस्व··· इमा रामाः (सुन्दर्यः)' (१। १। २५)। वादिमान्य-भगवद्गीता में भी देखिये—'ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम्, अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् (९। २०) यहां भी यही भाव है। 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं···कामकामाः' (२१) यहां भी स्वर्गके भोग स्पष्ट हैं। क्या इन सभीने मुसलमानोंकी नकल की है ?।

केदारकल्पमें शिवलोकोंमें भोग दिखाये तो गये हैं; पर वहीं साधकके लिए उन्हें पसन्द न करना बताया है। देखिये-'हृदये नैव रोचते। अवश्यं तत्र गन्तव्यं यत्र देवो महेश्वरः' (१९। ४२,-२१। ८५। १२९, २२। ४९-६५, २३। ५९, ४२। २१ आदि) इत्यादि बहुत स्थलोंमें साधकोंकी उन भोगोंमें अरुचि बतलाकर शिवदर्शनमें रुचि बतलाई है। तब स्पष्ट है कि-पुराणोंने वेदशास्त्रानुसार लिखा है, कुरानानुसार नहीं। प्रतिपक्षीको इस कुशैली से प्रश्न करनेपर लज्जा करनी उचित है उसको इतना भी पता नहीं कि-'कुरान' शब्द 'पुराण' से बिगड़ कर

बना है, और वेदमें 'पुराण' का वर्णन है; तब पुराण कुरानकी नकल कैसे कर सकते हैं ?। ९।

राक्षसोंके लक्षण।

(१९) प्र.-कलियुगी पौराणिक-विद्वानोंको देवीभा. (६। ११)में राक्षसोंका अवतार बताकर निन्दा क्यों की है ? पुराणकी उक्त व्यवस्थाको गलत कैसे माना जा सकता है। ।१०।

(ङ) राक्षस-योनि देवयोनिका एक भेद है। देखो सुश्रुत-संहिता (उत्तरतन्त्र ६०। ७) तथा अमरकोष (१। १। ११)। वह मनुष्ययोनिसे उत्तम होती है। अतः श्रीसीताने एक राक्षसको 'नमस्ते राक्षसोत्तम !' (वाल्मी. ३। ४। ३) नमस्कार भी की है। विभीषण भी राक्षस था। उसके गुण-कर्म उत्तम थे; पर राक्षसोंमें कुछ दोष भी होते हैं। उनमें रावणने राक्षसोंको बहुत कलङ्कित कराया है।

प्रतिपक्षीके इष्ट 'पूर्वं ये राक्षसा राजन्! ते कलौ ब्राह्मणाः स्मृताः' (६। ११। ४२-४७) इस पद्यमें 'पौराणिक-विद्वान्' यह शब्द प्रतिपक्षीने स्वयं प्रक्षिप्त किया है; अतः पुराणको वह इष्ट नहीं। हां, पुराणको पुराणके विरोधी ब्राह्मण-ब्रुव अलबत्ता इष्ट हो सकते हैं। पुराण भला अपने अनुकूल विद्वानोंसे क्यों चिढ़ें ? सो पुराण-विरोधियोंको पुराणमें दोषी-राक्षसोंका अवतार सूचित किया गया है। सभी तो यहां राक्षसोंके-अवतार पुराणको इष्ट नहीं हो सकते; क्योंकि-अनुभवसे विरोध पड़ता है। सो 'विरोधे गुणवादः स्यात्' इस न्यायसे वहां कलियुगका अर्थवाद है।

यदि पुराणको सभी ब्राह्मण पूर्वके राक्षस इष्ट होते, तो वह उनके लक्षण न देता। लक्षण देनेसे इष्ट है कि-जिनमें पुराणसे कहे हुए निम्न लक्षण घटें, वे ही ब्राह्मणब्रुव पुराणको

राक्षसोंके अंशावतार इष्ट हैं। प्रतिपक्षी पुराणकी उक्त बातको गलत भी नहीं बताता। वे पुराण-प्रोक्त राक्षसोंके लक्षण इस प्रकार हैं, जो कि-पुराण-विरोधियोंमें ठीक घटते हुए दीखते हैं। देखिये।—

'पाखण्डनिरताः प्रायो भवन्ति जनवञ्चकाः। असत्यवादिनः सर्वे वेदधर्मविवर्जिताः (४३) दाम्भिका लोकचतुरा मानिनो वेदवर्जिताः। शूद्रसेवापराः केचिन्नानाधर्मप्रवर्तकाः (४४) वेदनिन्दापराः क्रूरा धर्मभ्रष्टाऽतिवादुकाः। यथा यथा कलिर्वृद्धि याति राजंस्तथा तथा [४५] धर्मस्य सत्यमूलस्य क्षयः सर्वात्मना भवेत्। तथैव क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च धर्मवर्जिताः' [४६] शूद्रधर्मरता विप्राः प्रतिग्रहपरायणाः' [४७]

अब इनके लक्षण कलियुगके आजकलके पुराण-विरोधी ब्राह्मण-ब्रुवोंमें घटते दीखनेसे पुराणकी दूरदर्शिताका पता लगता है। जो अपने-आपको वैदिक तथा वैदिकसाहित्य-प्रकाशक कहकर जनताको वेदोंके सब्जबाग दिखाकर उस साहित्यमें केवल ब्राह्मणोंको, सनातनधर्मियोंको तथा पुराणोंको असभ्य गालियां निकालकर, उनके गुणोंको तथा उनका पूर्वापर-प्रकरण छिपाकर बलात् दोषोंको निकालकर, उनसे घृणा कराकर, वेदके नामसे आये हुए द्रव्यको अपने वा अपनोंकी पेटशालाका चन्दा बना दिये करते हैं। विधवाओंके हितैषी अपने-आपको दिखलाकर उन्हें अपनी इच्छापूर्तिका साधन बनाकर, उन्हें किसीको सौंपकर उनसे प्राप्त रुपये अपनी गाँठमें बाँध लिया करते हैं। जो पुराणोंके पूर्वापरको छिपाकर उनके विच्छिन्न पद्योंको उनकी निन्दाके उद्देश्यसे अनभिज्ञ जनोंके सामने रख दिया करते हैं; पुराणोंके सहस्रों गुणों तथा सहस्रों श्लोकोंको छिपाकर केवल दोष ही ढूंढनेकेलिए पुराणोंके कई पारायण करते रहते हैं, जिससे

पुराण कलङ्कित हो जाएं। जो ग्रन्थोंके प्रमाणोंके शब्दोंको तोड़-मोड़कर अर्थोंमें ब्लैकमार्कीट करते रहतेहैं। संस्कृतका विशेष ज्ञान न होनेपर भी, वैदिक व्याकरण-प्रक्रियाके ज्ञानसे अनभिज्ञ होने पर भी, जो भड़कीले प्रश्नोंको निरक्षरोंके सामने रखकर उन्हें ठगनेकेलिए अपने-आपको वेदके बड़े पण्डित बताते हैं, 'अयं घटो घोषमुपैति नूनम्'के उदाहरणभूत ऐसे ही ब्राह्मणब्रुवोंको पुराणने 'पाखण्डनिरत, जनवञ्चक तथा असत्यवादी कहा है। जनवञ्चकताके कुछ उदाहरण हम इस प्रत्युत्तरके अन्तमें देंगे।

वेदका तो दूर, वेदांग-व्याकरणादिका भी जिनको पूर्णज्ञान नहीं होता; और अपनेको वैदिकधर्मी बताते हैं, वेदादिशास्त्रोंके शब्दोंके जो सम्भवी अर्थ होते हैं, जिनके लिए भाषा बनती है, उनमें अपनी इच्छानुसार तोड़-मरोड़ करके जो अर्थ बदल दिया करते हैं, अपने पक्षकी सिद्धिमें जो प्रायः वेदमन्त्रोंको उदाहृत न करके ग्रन्थान्तरोंके वचन अधिकांश उद्धृत करते रहते हैं; वे ही 'वेदधर्मविवर्जित, दाम्भिक एवं असत्यवादी' होते हैं। इसके कुछ उदाहरण देखिये—

'उदीर्ष्व नारि! अभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि' इस मन्त्रमें 'शेषे' तिङ्-क्रिया है। इसमें ज्ञापक उक्त पदमें निघात (सर्वानुदात्त) स्वर है, पर जो इससे नियोगकी सिद्धि करना चाहते हुए इसका 'बाकी पुरुषोंमेंसे' यह सुप्‌का अर्थ करते हैं; मन्त्रके बीचमें अविद्यमान भी पदोंको बीचमें डाल दिया करते हैं (देखो स.प्र. ४ पृ. ७१)। मनुके नामसे संन्यासियोंको दण्ड देनेका एक पद्य भी स्वयं बना दिया करते हैं (स.प्र. ६ समु.) ऐसे ब्राह्मणब्रुवोंको उक्त अवतार बताया गया है। 'वेदधर्म

विवर्जित' होनेका आदर्श यह है कि–स्वा.द. कामज-नियोगको द्विजोंकेलिए लिख गये हैं, और क्षतयोनि विधवा-विवाहको अद्विजों–शूद्रोंकेलिए। प्रतिपक्षियोंने अपने स्वामीसे प्रोक्त कामज–नियोग को कदाचित् वेद-विरुद्ध समझकर वर्जित कर दिया है, और विधवाविवाहको कदाचित् वेदानुकूल जान कर अपना लिया है। यदि नियोग वेद-विरुद्ध है, तब उसे लिखने वाले प्रतिपक्षीके स्वामी 'वेद-धर्मविवर्जित' हुए। यदि विधवाविवाह वेद-विरुद्ध वा शूद्र-कर्म है; तो उसके प्रचारक प्रतिपक्षी 'वेदधर्मविवर्जित' तथा 'शूद्र' हुए। इन गुरु–चेलोंमें कौन 'वेदधर्मविवर्जित' है, एक या दोनों, यह प्रतिपक्षी ही बता सकता है। वेद ११३१ संहिताओं तथा उतने ही ब्राह्मण-भागका नाम है, इसमें वादिप्रतिवादिमान्य पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि आदि सभी प्राचीन आचार्य सहमत हैं, (इस पर 'आलोक' के ४, ६, ८ पुष्प देखिये) पर प्रतिपक्षी यह नहीं मानते; अतः उनका 'वेदधर्मविवर्जितत्व' स्पष्ट है। वेदसे उपवेद भी गृहीत हो जाता है। उपवेदमें 'आयुर्वेद' को छोड़कर पाश्चात्य 'डाक्टर' बननेसे भी 'वेदधर्मविवर्जितत्व' स्पष्ट है।

शूद्रों वा अछूतोंकी शास्त्रानुमोदित तथा प्रतिपक्षीके आचार्य-से भी अनुमोदित (देखो स.प्र. ११ समु. वाममार्गखण्डनप्र.) अव्यवहार्यता एवं अस्पृश्यता हटाकर उनकी लड़कियोंको हथियाने तथा उनके घरमें खाना खा कर अपने घरका भोजन बचा लेना–यह होती है 'शूद्र-सेवा' और 'धर्मभ्रष्टता'। गर्भ गिरानेकी डाक्टरी दवाइयां देकर भ्रूणहत्याका सहायक बनना, अपने ट्रैक्टोंमें श्रीकृष्ण तथा श्रीशिवको वा उनके भक्तोंको असभ्य गालियां देकर उनके चित्तको दुखाना यह होती है 'क्रूरता'। 'खूब अनर्गल, निर्मूल लैकचर झाड़ना' यह 'अतिवादुकता'

होती है। जमाने-साजी होनेसे 'लोकचतुर' त्व स्पष्ट है। नये-नये धर्म (मत) चलाना, दयानन्दानुकूल नया धर्म खड़ा कर देना, वेदके पीछे न लगकर वेदोंको अपने पीछे चलाना यह होता है– 'नाना-धर्मप्रवर्तन'। जिनमें यह पुराण-प्रोक्त लक्षण मिल रहे हों; वे ब्राह्मणब्रुव पुराणानुसार दुष्कर्मा-राक्षसोंके अवतार हैं, यह पुराणका अभिप्राय है। जैसे कि–'शूद्रधर्मरता विप्राः' जो ब्राह्मणब्रुव शूद्रोंके धर्ममें लगे हैं, जैसे कि–फ्लैक्स आदि बूटोंको जो द्विज बेच वा बिकवा रहे होते हैं; वा उन आफिसोंके क्लर्क बने हुए हैं; 'शर्मा बूट फैक्टरियां' खोलकर बैठे हुए हैं; वे राक्षसांश हैं। प्रतिग्रह-परायणता तो इन अर्वाचीन-सम्प्रदायोंमें दीखती है। वेदके प्रचारका नाम लेकर बड़ी-बड़ी अपीलें करते हैं, बड़े-बड़े दान लेते हैं। उनसे अपनी साम्प्रदायिक-बिल्डिंग्स को मन्दिर नामसे प्रसिद्ध करते हैं, और दानियोंके ही मतका चतुरतासे खण्डन करते हैं, यह होते हैं— 'राक्षसावतार'।

अब राक्षसोंका एक यह जो लक्षण बताया था कि–असत्य-वादका अवलम्बन करना और जनवञ्चक बनना, इसके भी कुछ उदाहरण पाठकगण देख लें। (क) प्रतिपक्षीसे निर्मित 'खण्डन-मण्डन ग्रन्थमालाके सं. १५ के 'अवतार-रहस्य' (पृ. १३-१४) में 'श्रीसनातनधर्मालोक' (६) के ५६२-५६३-५६४ से एक उद्धरण दिया है, उसमें कितनी असत्यता करके 'जनवञ्चन' किया गया है, यह पाठक देखें–

'यह मान भी लिया जावे कि–श्रीकृष्ण गोपियोंके कामको बढ़ा रहे थे; सो बढ़ाना भी, समाप्त करनेकेलिए होता है' इसके आगे 'पतनान्तः समुच्छ्रयः' गुड़का दृष्टान्त' आदि ६ पंक्तियां लिखी गई थीं:, जो प्रतिपक्षीका मुंह बन्द करने वाली थीं, उन्हें प्रतिपक्षीने छिपा लिया। पृ. ५६३ में 'भस्मक-रोग' का वृत्त ४

पंक्तियोंमें था, उसे प्रतिपक्षीने छिपा लिया।

'क्रियायें करके बैठ गया' के आगे जो लिखा गया था कि—'वह यह क्रियाएं अपनेलिए नहीं कर रहा था, किन्तु एक दयनीय दशा-वाली, कृपापात्र उस स्त्रीके हितकेलिए ही'। इसे प्रतिपक्षी निगल गया। 'आलोक' (६) में ५६३-५६४ पृष्ठमें लिखा हुआ था कि—उस पुरुषने उससे 'क्रियानिवृ ति' अर्थात् मैथुन एवं शुक्रपात नहीं होने दिया, शेष सब उत्तेजित करने वाली क्रियाएं कर डालीं' इस पाठको वदलकर प्रतिपक्षीने उलटा लिख दिया कि—'उस पुरुष-ने उससे क्रियानिवृत्ति की'—अर्थ अब देखिये—कितना पलट गया। यह होती है—असत्यवादिता और जनवञ्चना। इसको स्पष्ट करने वाला 'आलोक'का एक वाक्य था—'पर उस गजबके संयमी ने उससे अन्तिम कार्य-नहीं ही किया' पर प्रतिपक्षी इसे विना ही हिङ्ग्वष्टकका प्रयोग किये हजम कर गया। यही तो होती है असत्य-वादिता और जनवञ्चना' जो उद्धरणसे विरुद्ध लिखता है कि—'क्रियानिवृ ति की'।

'तव क्या वादी आडम्बरकी कामक्रियायें करते हुए उस पुरुषको व्यभिचारी मान लेंगे?' इसके आगे यह वाक्य था कि—'यदि वादीको उसकी उन क्रियाओंके करनेका रहस्य मालूम न होगा; तो उसको वह सचमुच व्यभिचारी कह भी देगा। परन्तु जव वादीको उसकी यथार्थताका रहस्य ज्ञात होजायगा; तव वह उसको 'गजबका संयमी' समझेगा, और उसके इस कठिन अवसरमें भी संयमकी अन्तिम-कोटि भंग न करनेसे बहुत विस्म-यान्वित होगा'।

इन छिपाये हुए सभी वाक्योंको यदि प्रतिपक्षी उद्धृत करता; तो प्रत्युत्तर देते समय उसकी लेखनी टूट जाती; पर पकड़ ढीली करनेकेलिए प्रतिपक्षीने वहुत वाक्योंको तो छिपा दिया; और एक

विशेष वाक्यको बदल भी दिया, जिससे अर्थका अनर्थ हो गया। होता है—'असत्यवाद' एवं 'जनवञ्चन'। ऐसा प्रतिपक्षीने स्थलोंमें किया है, हम उन स्थलोंका निर्देश यत्र-तत्र कुछ करें स्वा.द.जीने स. प्र. की भूमिकामें लिखा है—

'वाक्यार्थबोधमें चार कारण होते हैं-आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य। जब इन चारों बातोंपर ध्यान देकर पुरुष ग्रन्थको देखता है, तब उसको ग्रन्थका अभिप्राय यथायोग्य विदित होता है। 'आकांक्षा' किसी विषयपर वक्ता की और वाक्यस्थपदोंकी आकांक्षा परस्पर होती है। योग्यता वह कहाती है, जिससे जो हो सके, जैसे जलसे सींचना। 'आसत्ति' जिस पदके साथ जिसका सम्बन्ध हो, उसीके समीप उस पदका बोलना वा लिखना 'तात्पर्य'—जिसके लिए वक्ताने शब्दोच्चारण वा लेख किया हो, उसके साथ उस वचन वा लेखको युक्त करना। बहुतसे हठी—दुराग्रही मनुष्य होते हैं कि—जो वक्ताके अभिप्रायसे विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेष कर मत वाले लोग, क्योंकि—मतके आग्रहसे उनकी बुद्धि अन्धकारमें फंसके नष्ट हो जाती है'।

वही बात प्रतिपक्षीने उक्त हमारे उद्धरणमें तथा अन्यत्र भी की है। यहां पर केवल एक संयमीका दृष्टान्त देकर सिद्ध किया गया था कि—बाहरी साधारण व्यवहारोंको देखकर इन वातोंका पता नहीं लग सकता, जब तक यथार्थ अन्तर्दृष्टि उसकी न हो। दृष्टान्तमें सर्वदेश न लेकर उसका विवक्षित एकदेश ही लिया जाता है, जैसा कि कहा गया है—'नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरत्यन्तसाम्येन भवितव्यमिति नियमोस्ति' (वेदा. शाङ्कर १।१।२१) 'नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः क्वचित् कंचिद् विवक्षितांशं मुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद् दर्शयितुं शक्यते। सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिक-भावोच्छेद एव स्यात्' (वेदा. शाङ्कर

३ । २ । २०) पर मूषक-प्रशिष्य प्रतिपक्षी जहां-तहां कुतर कर अर्थका अनर्थ कर दिया करते हैं, जगह-जगह 'गोपियोंके गुप्ताङ्गोंके कीड़े मारा करते थे' यह लेखकके तात्पर्यसे विरुद्ध लिख मारना प्रतिपक्षीके असत्यवाद एवं जनवञ्चनका परिचायक है। यह लक्षण देवीभागवतानुसार प्रतिपक्षीमें घटनेसे उसीकी मान्यतानुसार ही उसे उक्त प्रमाणपत्र अनायास प्राप्त हो गया है। कुछ अन्य उदाहरण भी देखिये—

(ख) 'अवतार-रहस्य'में 'रेमे तया चात्मरत आत्मारामोप्यखण्डितः । कामार्दिताः शशांकश्च' आदि सभी जो प्रमाण प्रतिपक्षीने दिये हैं; यही अपने 'पुराणोंके कृष्ण'में भी उसने दिये थे; उनका समाधान 'आलोक'के छठे पुष्पमें कर दिया गया था; पर उस प्रत्युत्तर को दबाकर प्रतिपक्षीने उन्हें पुनः दे दिया है; यह एक 'असत्यवाद और 'जनवञ्चन' है। (ग) इस असत्य-प्रिय प्रतिपक्षीकी एक लीला अन्य देखिये- 'अवतार-रहस्य' (पृ. २०) में 'कामार्दिता.' का अर्थ किया है—'देवपत्नियां भी कामार्दित हो गईं; विषयभोगकी इच्छासे उनके शरीर कामरस (रजः-पात) से गीले होगये'। यहां 'अर्दिताः' का प्रतिपक्षीने 'गीला' अर्थ कर दिया। इसपर 'आलोक' (६ पृ. ५५५) में लिखा गया था—'वादी संस्कृतका भी भारी विद्वान् मालूम पड़ता है' कि 'अर्दिताः' का वादीने 'आर्द्र' अर्थ कर डाला', इससे प्रतिपक्षीने अपने-आपको सचमुच 'संस्कृतका विद्वान्' समझ लिया, और फिर भी वही अर्थ कर डाला, क्या यहां 'आर्द्रिताः' शब्द था ? प्रतिपक्षीके दिमागमें कामक्रीड़ा घुसी मालूम होती है, तभी 'रजः-पातसे उनके शरीर गीले हो गये' ऐसा असभ्य एवं असम्भव अर्थ कर डाला, जो किसी भी शब्दका नहीं है। ऐसे असभ्य-व्यवहारोंसे जनवञ्चन करना—यह देवीभागवतोक्त लक्षण उसमें ठीक घट गया; अतः

वह देवीभागवतोक्त स्वयम् उपस्थापित वचनका स्वयं ही उदाहरण बन गया।

(घ) विष्णु-पुराण'का पृ. १९ में प्रतिपक्षीने फिर वही पुराना प्रमाण दे डाला, जिसका समाधान छठे पुष्पमें किया जा चुका था; प्रतिपक्षी विष्णु-पुराणका प्रमाण दे रहा होता है, फिर भागवतमें पहुँच जाता है। यह उसके पक्षकी निर्बलता है। कई वार कहा जा चुका है कि—जिस पुस्तकका प्रमाण दिया जावे; सारी व्यवस्था उसीकी माननी पड़ती है; नहीं तो 'अर्धजरतीय' न्याय उपस्थित हो जाता है। विष्णु-पुराण हो, वा श्रीमद्भागवत पुराण, वे सभी श्री कृष्णको परमात्मा बताते हैं, और गोपियोंको भक्त। श्रीमद्भागवतमें स्वयं गोपियां यह कह रही हैं—'संत्यज्य सर्वविषयान् तव पादमूलम्। भक्ता ... भजस्व मा त्यजास्मान्, देवो यथादि-पुरुषो भजते मुमुक्षून्' (१० । २९ । ३१) सो यहां मुमुक्षुओं-जैसा भजन कहा है, व्यभिचारियों वाला नहीं। यहां प्रतिपक्षी 'मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त' वाली कहावत चरितार्थ कर रहा है। तब जो प्रतिपक्षीको यहां व्यभिचारके स्वप्नदोष हुआ करते हैं, इससे स्पष्ट है कि—उसका पेशा ही कदाचित् यही हो; हमें तो उससे ऐसी आशा नहीं हो सकती। देखिये विष्णुपुराण कितना स्पष्ट कहता है—'तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका । तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीण-पुण्यचया तथा । चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् । निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका' । यह विष्णुपुराणका युग्मकपद्य काव्यप्रकाशमें (४ र्थ उल्लास)में उद्धृत किया गया है। इसमें बताया गया है कि—श्रीकृष्ण जगत्के उत्पादक परब्रह्मस्वरूप थे। एक गोपीको जब श्रीकृष्णकी रासमें न जाने दिया गया; तब उसको अत्यन्त दुःख हुआ; जिससे उसके गत-जन्मके सभी पाप फल देकर कट गये। वह

भगवान्का जो हृदयसे चिन्तन कर रही थी; उससे उसे अत्यन्त आह्लाद प्राप्त हो रहा था। इससे उसके गत-जन्मके पुण्य, फल देकर कट गये। वह जगत्कारण-भगवान्का ध्यान करती हुई प्राणवायुके निरुद्ध हो जानेसे मुक्तिको प्राप्त हो गई।

इस प्रकार जो पुराण **श्रीकृष्णको भगवान् तथा गोपियोंको भक्त स्पष्ट शब्दोंमें कह रहा है;** उन्हींको व्यभिचारी बता कर प्रतिपक्षी असत्य कह कर जनवञ्चन करके देवीभागवतके वचन-का पूरा उदाहरण बन रहा है।

(ङ) 'पुराणोंके कृष्ण' (पृ. १४)में प्रतिपक्षीने स्वयं लिखा है–'**जहां रमण योगी अथवा भक्त वा ईश्वरके सम्बन्धके अर्थमें** आता है; **वहां भक्त वा योगीका ईश्वरके ध्यानमें मग्न होनेके अर्थमें** आता हैं'। 'आलोक' के छठे पुष्पमें विष्णुपुराण और श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णका भगवान् होना तथा गोपियोंका भक्त होना सप्रमाण बताया गया है; तब वहां अपने वचनसे भी विरुद्ध 'रमण'का अर्थ भोग-व्यभिचार करना यह प्रतिपक्षीकी श्रीदेवी-भागवतोक्त उक्त वचनकी दृढता सिद्ध कर रहा है कि ऐसे लोगों के लक्षण यही होते हैं कि–यह असत्यवादी और जनवञ्चक होते हैं।

(च) 'जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम्' यह दृष्टान्त है। वही दृष्टान्त सिद्ध कर रहा है कि–श्रीकृष्ण-विषयमें यह बात नहीं है। 'परमात्मा कैसा प्यारा लगता है; इस विषयमें 'कामी नार पियार जिमि' इस प्रकारके उदाहरण परमात्माको 'कामी नारी' नहीं बना देते। इस विषयमें ऋसं. के ही दृष्टान्त देख लीजिये– जैसे जार व्यभिचारिणीके पास जाता है, वैसे ही सोम' (९। ९६।२३), १०।४०।६, ९।३८।४) तब क्या इन उपमाओंसे सोम और अश्वी वैदिक देवोंको प्रतिपक्षी व्यभिचारी मान लेगा?

सो 'रेमे तया चात्मरत आत्मारामोप्यखण्डितः' यहां 'आत्म-रतः, आत्मारामः, अखण्डितः' यह शब्द 'रेमे'का प्रतिपक्षी-मनचाहा अर्थ नहीं करने देते। जो कि–गोपीने कहा था कि–'न पारयेयं चलितुं नय मां यत्र ते मनः' (३८) ('अवतार-रहस्य' पृ. १८) इसका प्रतिपक्षीने यह जो भाव निकाला है कि–'जब वह गोपी एकान्तरमणसे बहुत थक गई; तो श्रीकृष्णसे बोली कि–थकावटके कारण मुझसे चला नहीं जाता है, तुम मुझे ले चलो' इससे प्रतिपक्षी इस रोगका मरीज़ मालूम होता है। तो वहां तो यह बात कहीं लिखी भी नहीं गई है। वहां तो कहा है–'यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने। च मेने तदात्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम्। हित्वा गोपीः का-याना मामसौ भजते प्रियः, (३०। ३६-३७) अर्थात् जिस गोपी (जो वस्तुतः राधा थी) को श्रीकृष्ण अन्य गोपियोंको छोड़कर वनमें ले गये। उसने अपने-आपको सबसे श्रेष्ठ समझा, तब उसने सोचा कि–मैं श्रीकृष्णको जैसा चाहूँगी, वैसा नाच नचाऊंगी। **उसे अभिमान आगया था;** यही बात पुराण आगे कहता है-'ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत्' (यहां तकका पाठ प्रतिपक्षी-ने अपने ग़लत पक्षको सिद्ध करनेकेलिए चोरीसे छिपा दिया) 'न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः (३८)। यहां 'मुझे उठा ले चलो'–यह बात गोपीने थक जानेके कारण नहीं कही; दृप्ता (अभिमानिनी) होनेसे कही थी कि–कृष्ण मेरे वशमें है। अतः श्रीकृष्णने अन्तर्हित होकर उसका अभिमान भी तोड़ दिया। यहां प्रतिपक्षीकी इष्ट बात नहीं।

यह है प्रतिपक्षीका असत्यवाद और जनवञ्चन; वह बहुत इष्ट है–इसे हम आगे भी यत्र-तत्र दिखलावेंगे। अतः वह अपने मान्य देवीभागवतके वचनका 'उष्ट्रलगुड' न्याय

से स्वयं ही पात्र सिद्ध हुआ।

(छ) 'अवतार-रहस्य' (पृ. ५०) में उसने 'आलोक' के छठे पुष्पके ६५४ पृष्ठ का जो माता-पिताके पूजनके विषयमें उद्धरण दिया है, वह हमारा उद्धरण नहीं है, इसी असत्यवादी-ने स्वयं घड़ लिया है, यह 'आलोकके ६५४ पृष्ठ पर पूरा देखकर पाठक स्वयं जान सकते हैं। यही सारा 'असत्यवाद'स्व-रूप ही प्रतिपक्षीका 'अवताररहस्य' है। ऐसे झूठे लोगोंका वि-चार करकेही 'देवीभागवत पुराणने' उन पुराण-प्रतिपक्षी ब्राह्म-णब्रुवोंकी निन्दाके विचारसे उन्हें राक्षसोंका अवतार माना है। प्रतिपक्षीकी 'अवताररहस्य' उसकी अन्य क्षुद्र-पुस्तिकाओंकी भान्ति साराका सारा इसी असत्यवाद और जनवञ्चनाका उदाह-रण स्वयं है। यह हम प्रतिज्ञा कर चुके हैं, कुछ उसके अन्य उदा-हरण भी देकर जिससे वह स्वयं अपने वचनसे दैत्य सिद्ध होता है, (जो पाठकोंसे अवश्य-द्रष्टव्य हैं) फिर हम आगे चलेंगे।

(ज) 'अवताररहस्य'के ३६ पृष्ठमें तथा ४७ पृष्ठमें वह 'कृष्णो भूत्वाऽन्यनार्यश्च दूषिताः कुलधर्मतः। श्रुतिमार्गं परि-त्यज्य स्वविवाहाः कृतास्तथा' (शिवपु. रुद्रसं. कुमारखं. ६। २४) इस पद्यको उद्धृत करता है, और दोनों ही पृष्ठोंमें प्रति-पक्षी इसे पुराणकारकी श्रीकृष्णके विषयमें सम्मति कहता है; और अर्थ भी गलत करता है—'कुल और धर्मसे दूषित-पतित अन्य (नीच) स्त्रियोंसे कृष्णने व्यभिचार किया। वेदमार्गको त्यागकर उसने अपनी शादियां कीं'।

यहां अर्थ था कि 'श्रीकृष्ण-रूपमें विष्णुने अन्य स्त्रियोंको उनके अपने कुलधर्मसे हटा लिया' यह वचन तो श्रीकृष्णकी स्तुति-पक्षमें भी घट सकता है कि उन्हें भगवान् (अपने)की ओर

लगा दिया। निन्दा-पक्षमें भी इसका अन्वय यह था कि—कृष्णो भूत्वा, तेन अन्यनार्यः कुलधर्मतः दूषिताः' पर उसने अन्वय किया कि—'कुलधर्मतः दूषिता अन्यनार्यः कृष्णो भूत्वा' और ऊपर कहा हुआ अर्थ कर दिया। चलो यही अन्वय सही; पर 'अन्य स्त्रियोंसे कृष्णने व्यभिचार किया' यह 'व्यभिचार किया' यह कौन-सी क्रियाका अर्थ प्रतिपक्षीने कर दिया? देखिये कितनी जनवञ्चना है यह !!!

और फिर यह वहां पर विष्णुके विरोधी तारक—दैत्यका वाक्य था। देखिये शिवपुराणका उक्त स्थल—'दैत्यो बभाषे' (१३) तार-को देववरान् बभाषे' (१५)। तब दैत्यके वाक्यको वह पुराणकार-का वाक्य कैसे कहता है? अब पाठक देखें कि—प्रतिपक्षीने दैत्यके वाक्यको यहां ठीक मान लिया, क्यों? इसलिए कि—वह देवी-भाग-वतके पूर्ववचनानुसार दैत्यका साथी होनेमें गौरव अनुभव करता है, हम तो ऐसा कहते भी नहीं; पर वह स्वयं यह सिद्ध कर रहा है। दैत्य जब देव-विरोधी था, तो विरोधी क्या—क्या कुवाच्य नहीं कहता। देखिये पुराणके विरोधी स्वा.द.जीके कुछ वाक्य—'वाह रे वाह! भागवतके बनानेवाले लाल-बुझक्कर! क्या कहना, तुमको ऐसी-ऐसी मिथ्या बातें लिखनेमें लज्जा और शरम न आई; निपट अन्धा ही बन गया। ...... भला इन महाभूठ बातोंको वे अन्धे-पोप और बाहर-भीतरकी फूटी आंखोंवाले उनके चेले सुनते और मानते हैं। वे मनुष्य हैं वा अन्य कोई !!! इन भागवतादि-पुराणोंके बनाने वाले क्यों नहीं गर्भ ही में नष्ट हो गये? वा जन्मते-समय मर क्यों न गये?' (स. प्र. ११ पृ. २११) यह हैं पुराणविरोधी-अल्पश्रुतके शब्द !

नायकके वा उसके मित्रके विरोधीके वाक्य कभी ग्रन्थकारके नहीं हुआ करते; अतः वे उत्तर-पक्ष न मानकर पूर्वपक्ष ही माने जाते

हैं। स्वा. दयानन्दजीने नियोगके विषयमें पूर्वपक्ष किया है— '(प्रश्न) यह नियोगकी बात व्यभिचारके समान दीखती है'। (प्रश्न) है तो ठीक, परन्तु यह [नियोग] वेश्याके सदृश कर्म दीखता है'। (प्र.) हमको नियोगकी बातमें पाप मालूम पड़ता है; (स. प्र. ४ थं समु. पृ. ७०)

इस पूर्वपक्षसे 'नियोग' 'वेश्याकर्म तथा पाप-कर्म वा व्यभिचार' सिद्ध होता है; तब क्या प्रतिपक्षी इसे 'सत्यार्थप्रकाश'कार-अपने आचार्यका वाक्य मान लेगा? यदि ऐसा हो; तो उसे वधाई हो; जो कि उसने 'नियोगव्यवस्था (पृ. २३) ट्रैक्टमें वैदिक माने हुए अपने आचार्यके नियोगको 'वेश्याकर्म' सिद्ध कर दिया। यदि नियोगपर प्रतिपक्षी सनातनधर्मकी व्यवस्था देखना चाहे, तो उसे 'आलोक'का अष्टम पुष्प मंगाना चाहिये। मूल्य६)।

पाठकोंने देख लिया कि—उक्त आक्षेप श्रीकृष्णपर दैत्यका था; इसमें पुराणकारकी सम्मति सर्वथा नहीं थी; पर प्रतिपक्षीने यह बात छिपाकर अपनेको दैत्यपक्षीय सिद्ध करके देवीभागवतके उक्त वचनकी सार्थकता 'उष्ट्र-लगुड' न्यायसे स्वयं कर डाली। पुराणने तो तारकको 'पापपूरुष' (रुद्र.सं. कुमार. ९।६) 'पापी' कहा; तब 'पापी'की बात मानकर प्रतिपक्षीने अपने-आपको क्या बनाया, यह वही स्वयं अपने मुखसे कहे।

प्रतिपक्षीने दैत्यके वाक्यको अपना वाक्य बनाया; फिर भी अर्थ तो दैत्यसे भी बढ़कर महा···का कर डाला। ऐसी जनवञ्चना क्यों?। पुराणकारने बताया है कि—इस झूठी विष्णु-निन्दासे दैत्यका-पुण्य क्षीण हो गया। देखिये—'इत्येवमुक्त्वा तु विधूय पुण्यं निजं स (दैत्यः) तन्निन्दन-कर्मणा वै' (९।३६) 'निन्दा-हतबलः' (३८) इससे स्पष्ट हो गया कि—पुराणकार दैत्यसे की हुई उक्त निन्दाको ठीक नहीं मानता, नहीं तो इससे दैत्यकी

क्षीण-पुण्यता और उसे पापी न बताता।

'रामो भूत्वा हता नारी वाली विध्वंसितो हि सः। पुन वैश्रवणो विप्रो हतो नीतिहंता श्रुतेः' (२१) यह भी दैत्यका वाक्य है कि—विष्णुने रामरूपमें वेद-विरुद्ध ताटका नारीको मारा वाली तथा रावणको मारा'। तब क्या प्रतिपक्षी दैत्यके वाक्यको ठीक मानता है? यदि ऐसा है; तो ताटका-राक्षसी तथा रावण-राक्षसके मारनेका विरोधी प्रतिपक्षी रामवंशी हुआ; वा *रावणवंशी, यह वही बतावे? 'वेदवाणी' पत्रिका (१३।८) में आर्य-समाजी विद्वान् श्रीरामगोपालशास्त्रीने 'हिंसा-अहिंसाका वैदिकस्वरूप' लेखमें ताड़का आदि राक्षस-व्यक्तियोंके हननको 'न हि ते स्त्रीवधे घृणा कार्या नराधिप! गो-ब्राह्मण-हितार्थाय शरेणोरसि विव्याध (वाल्मी. २५ सर्ग)। 'मायाविनं तु राजानं माययैव निकृन्ततु' (महाभारत शल्य. ५८।६) आदि प्रमाणोंसे (यजुः ६।७) वैदिक माना है, अब आप दोनों आर्यसमाजियोंमें कौन वैदिक हुआ और कौन अवैदिक'? यदि प्रतिपक्षी दैत्यके इस वाक्यको गलत समझता है, तब कृष्णाक्षेप-सम्बन्धी दैत्यके वाक्यको भी गलत समझे?। इससे स्पष्ट है कि—उक्त दैत्यवाक्य पूर्वपक्ष है, उत्तरपक्ष नहीं, और वह पुराणकारका सम्मत वाक्य नहीं। तब उसे पुराणकारका वाक्य कहता हुआ प्रतिपक्षी असत्यवादी तथा जनवञ्चक बनकर देवी-भागवतानुसार क्या बना, यह वही बतावे?।

(झ) 'पुराणोंके कृष्ण' (पृ. १८) में प्रतिपक्षीने 'राधा-कृष्णका ब्रह्मवैवर्त-पुराणके बीचके बहुतसे पद्य गवन करके व्यभिचार सिद्ध किया था, जब 'आलोक'के छठे पुष्पमें प्रतिपक्षीकी इस

*यह प्रतिपक्षीके वाक्यका अनुवाद है।

जनवञ्चनाको दिखलाया गया, और सिद्ध किया गया कि–ब्रह्माने तो राधाका विवाह श्रीकृष्णसे कराया था; तब पत्नीसे व्यभिचार कैसा ?' इसपर लज्जित होकर प्रतिपक्षीने 'अवताररहस्य' (पृ. २६) में 'एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्माऽऽजगाम पुरतो हरेः। तस्या हस्तं च श्रीकृष्णं ग्राहयामास स विधिः (ब्रह्मा)' सो हस्तग्रहणका अर्थ विवाह ही है–'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं'। वहीं विवाह-विधिके पूरे मन्त्र भी दिखलाये गये हैं। विवाहका वर्णन संक्षिप्त भले ही हो; पर वह क्षणभरमें कैसे हो सकता है ? १४ श्लोक तो वहां पर भी हैं। तब प्रतिपक्षी राधाकृष्णकी रतिको जो कि व्यभिचार दिखलाता है, यह असत्यवाद और जनवञ्चनाका कैसा खुला उदाहरण है ? विवाहके बाद जो कि स्वा.द. सत्या. प्र. में ही पुरुषको एकान्त-सेवनके लिए आदेश देते हैं; वह क्या व्यभिचार है ? फिर जो कि वह बहाना बनाता है, कि यही एक प्रमाण है कि–राधाकी कृष्णसे शादी कराई गई है जब ऐसा है, तो ब्रह्मवैवर्तमें दम्पती राधा-कृष्णकी रतिको व्यभिचार बतलाता हुआ वह असत्यवादी होनेसे-देवीभागवतके उक्त वचनका उदाहरण बना या नहीं, यह वह स्वयं अपने मुखसे कहे। 'सारे पौराणिक साहित्यमें हमको राधा, कृष्णके विवाहका अन्य प्रमाण नहीं मिलता है' (अवताररहस्य पृ. ३३) तब अन्य स्थलोंमें भी वह यही जान ले। सब स्थान सभी एक जैसी बात लिखी हो, यह आवश्यक नहीं। वहां वह गांधर्वविवाह मान ले; जो क्षत्र-धर्म है; तब क्या दुष्यन्त शकुन्तलाके इस विवाहको वह व्यभिचार मानता है ?, तब क्या व्यभिचारोत्पन्न भरतसे ही 'भारत-वर्ष' बना ? कैसी है यह जनवञ्चना !!! वाह ! देवीभागवत ! तुमने तो अपने उक्त प्रमाण उपस्थित करनेवालेको पहलेसे ही अपने कलिके उक्त लक्षणोंमें अन्तर्भूत कर रखा था। बड़ी

दूरदृष्टि है !

(ञ) 'अवताररहस्य' (पृ. १०२ में) 'भृगुका विष्णुको शाप दिखाया गया है। भृगुजी दैत्यपति थे 'पराजिता दैत्याः काव्यस्य शरणं गताः' (४।१०।४०) प्रतिपक्षीने उनकी हिमायत की है; अतएव वह दैत्य-पतिका कौन हुआ यह वह ही बताये। भृगु-पत्नी अपनी मायासे इन्द्रादिको सुलाकर खा जाना चाहती थी–'मघवँस्त्वाँ भक्षयामि सविष्णुं वै' (देवीभागवत. ४।१०।१४); पद्म पुराणमें भी 'ज्ञात्वा विष्णुस्ततस्तस्याः क्रूरं देव्याश्चिकीर्षितम्' (१।१३।२४३) भृगुकी पत्नीकी क्रूर चेष्टा मानी है। तब 'इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम्' (ऋः ७।१०४।२४) इस वेदवचनकी पूर्तिके अधिकारी–इन्द्रसे आदिष्ट विष्णुने उसे मारा। इससे दुःखित दैत्यपति भृगुने विष्णुको गालियां निकालीं, इस 'समान-शील-व्यसनेषु सख्यम्' के कारण प्रतिपक्षीको बड़ा आनन्द आया। पर विष्णुका यह कार्य वेदानुकूल था। तब यदि उसने विष्णुको शाप दिया; और क्षमाशील विष्णु उसे सह गये; लोक-कल्याणार्थ शापको स्वीकृत कर लिया, तब इसमें विष्णुका क्या दोष ? कुत्ते हाथीको भूंका करते हैं, हाथीकी क्षमासे हाथीपर कोई दोष नहीं आता। फिर भी बलात् विष्णुको दोषी बताना यह–प्रतिपक्षीकी कैसी असत्यवादिता और जनवञ्चना है ! हो गया यह भी देवीभाग-वतके कलिधर्मोंका प्रतिपक्षि-प्रिय आचरण। जिस प्रतिपक्षीको भृगुके शापसे सहानुभूति है, वही शाप बताने वाला पुराण विष्णुका धर्मनाशमें लोक-कल्याणकेलिए अवतार लेना कहता है–देखो पद्म-पुराणमें—'ततस्तेनाभिशापेन नष्टे धर्मे पुनः पुनः। लोकस्य च हितार्थाय जायते मानुषेष्विह' (१।१३।२४६)।

(ट) 'अवतार-रहस्य'के पृ. १०३ में प्रतिपक्षीने 'विष्णुको

वृन्दाका शाप' बताते हुए स्वप्रकृतिवश पुनः 'दैत्यपक्ष'की हिमायत की है, जो उसके पूर्वलक्षणानुरूप है; इस विषयमें हम इसी पुष्पमें अन्यत्र तथा 'आलोक' के ६ ठे पुष्पमें विस्तीर्ण-रूपमें लिख चुके हैं। जिस कारण विष्णुको पार्वतीके आदेशसे यह काण्ड अपनाना पड़ा; उसे प्रतिपक्षीने छिपा दिया। जलन्धर दैत्य अन्य सतियोंका सतीत्व भ्रष्ट करके उनके पतियोंको मार दिया करता था। यही हाल वह शिवजीका भी करना चाहता था कि–पार्वती का सतीत्व-भ्रष्ट करके शिवजीको कमजोर करके युद्धमें मार दिया जावे। इस आन्तरिक अभिप्रायसे वह शिव-युद्धमें अपने स्थान शुम्भ-निशुम्भको रखकर शिवजीका पूरा रूप बनाकर पार्वती-के सतीत्व-भ्रंशकेलिए पार्वतीके पास गया 'युद्धे शुम्भ-निशुम्भाख्यौ स्थापयित्वा महाबलौ। दशदोर्दण्डपञ्चास्यस्त्रिनेत्रश्च जटाधरः' (रुद्र सं. ११। ३८) महावृषभमारूढः सर्वथा रुद्र-संनिभः। आसुर्या मायया व्यास ! स बभूव जलन्धरः (३९)।

अब पाठक देखें कि–दैत्यकी इस दुष्ट कार्यवाहीसे तो प्रतिपक्षीने उस दैत्यकी निन्दा नहीं की; जिससे विष्णु-देवताको 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' इस नीतिका पार्वतीके आदेशसे– 'तेनैव दर्शितः पन्था बुध्यस्व त्वं तथैव हि। तत्स्त्रीपातिव्रतं धर्मं भ्रष्टं कुरु ममाज्ञया (५०) नान्यथा स महादैत्यो भवेत् वध्यो रमेश्वर!' (५१) आश्रय लेना पड़ा; इस दैत्यके कुकृत्यको तो प्रतिपक्षी कदाचित् देवीभागवतके अनुसार समान-लक्षणवश छिपा गया; पर विष्णुदेवताका पूर्व-प्रकृतिके कारण द्रोही होनेसे उनकी आलोचना करने बैठ गया। विष्णुदेवका उक्त कार्य न निष्कारण था; न स्वार्थमूलक था; उसीकी नीतिका था, यह हम यत्र-तत्र दिखला चुके हैं। महाभारतमें कहा है–'यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः, तस्मिँस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः। मायाचारो

मायया बाधितव्यः, साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः' (शा... १०९।३०, उद्योग पर्व ३७।७) वृन्दा भी अपने पतिको उन... व्रताओंके पातिव्रत्य-भ्रंशसे नहीं रोकती थी–इन्हीं अपने... से उसको भी वही दण्ड विष्णुकी अनिच्छामें भी मिल... इससे विष्णुको बहुत दुःख हुआ; उसकी भस्ममें लोटते... पर प्रतिपक्षीने जो दैत्यके कुकृत्यको छिपाकर असत्यवादका अव... करके जन-वञ्चन किया; सो वह देवीभागवतके उक्त लक्ष... उदाहरण अवश्य बन गया। (ठ) अब प्रतिपक्षीकी दैत्यप... हिमायतका एक अन्य रोचक उदाहरण भी पाठक-गण देखें... 'अवताररहस्य' (पृ. ९०-९१-९२-९३)में प्रतिपक्षीने यह सार... है कि–"विष्णु वा शङ्करने अपने भक्त परम आस्तिक, वेदानु... दैत्योंको पतित बनानेकेलिए बुद्धावतारका भयानक षड्यन्त्र... था। शिवके अवतारोंने विष्णुके षड्यन्त्रसे आस्तिक वेदानु... भारतीय लोगों [दैत्यों] को नास्तिक वा पापी बना दिया... (पद्मपुराण)। विष्णुने भी राक्षसोंको वेदमार्ग पर चलते... देखकर अवतार लेकर ऐसे उपदेश उन्हें दिये, जिससे वेदमा... वे भ्रष्ट हो गये। (भागवत) दैत्य वैदिक-धर्मी लोग थे। वे संस्... पढ़ने वाले धर्मपरायण थे। विष्णुने बुद्धावतार लेकर स... नास्तिक और विधर्मी बना दिया, और वेद-धर्मका विनाश... दिया। [भविष्य-पुराण] यह है हिन्दुओंके देवताओंके... कारनामे। क्या अवतार द्वारा यही धर्मकी रक्षाका ढंढोरा पी... जाता है? –उन्होंने वैदिक-धर्मका ही विध्वंस कर दिया?"

पाठकोंने प्रतिपक्षीके दैत्योंसे तथा शूद्रोंसे सहानुभूति र... वाले हार्दिक विचार सुन लिये। दैत्योंसे उसका भारी प्रे... मालूम होता है; कदाचित् वह उनकी पदवी प्राप्त करना चाह...

है। दैत्य जो कुछ करें, वह प्रतिपक्षीको अच्छा लगता है। वस्तु-स्थिति यह है कि–दैत्य लोग तथा शूद्र-वर्गने देखा कि–ब्राह्मणादि-जनतामें वेद-धर्मका खूब प्रचार हुआ-हुआ है, अधिकारी लोग वैदिक-यज्ञ करके देवताओंको खूब तृप्त कर रहे हैं और उनसे वे सुख-भोग प्राप्त करते हैं, तब दैत्य तथा शूद्रोंने जनताको सुख-भोग देने वाले देवताओंको निस्तेज करनेकेलिए एक भयानक षड्यन्त्र रचा। वे ब्राह्मणोंमें घुस गए। और देवताओंके यज्ञ करने लगे; और उन्होंने अनर्गल हिंसाका प्रचार भी कर दिया। शूद्रस्पृष्ट अन्नको देवता लोग नहीं खाया करते, यह शूद्र लोग जानते थे। उन्हें इस विषयमें बलि-दैत्यका इशारा मिल चुका था कि–देवता तुम्हारे यज्ञका अन्न खाएंगे नहीं, अतः स्वयं निस्तेज होकर विनष्ट हो जाएंगे। उन्होंने अपना प्रभाव वा धाक जनता पर जमाकर धीरे-धीरे संस्कृतके स्थान पर प्राकृत-भाषा भी जारी कर दी। प्रतिपक्षीने अपनी बात भविष्य-पुराणसे विशेषकर सिद्ध की है; पर उसने देवीभागवतोक्त उक्त लक्षणोंके अनुसार जनवञ्चन करके भविष्य-पुराणके अभिप्रायको छिपा दिया है, जैसे कि उसकी अपनी स्वाभाविक प्रकृति चली आई है। हम भविष्य-पुराणके पूर्वोक्त भाव बताने वाले प्राकरणिक पद्य उद्धृत करते हैं।

इन्द्रने विष्णुको रिपोर्ट की कि–'शूद्रसंस्कृतमन्नं च खादितुं न द्विजोऽर्हति। तथा च शूद्रजनितैर्यज्ञैस्तृप्तिं न चाप्नुयाम्। मम शत्रुर्बलिर्दैत्यः कलिपक्षमुपागतः। निस्तेजाश्च यथाहं (इन्द्रः) स्यां तथा वै कर्तुमुद्यतः' (भविष्य प्रतिसर्ग २०। ७४-७७) इन्द्रने कहा कि–मिश्रदेशके म्लेच्छ जो शूद्र थे, उन्होंने चोटी-जनेऊ बनावटी रखकर ब्राह्मणोंमें प्रवेश कर लिया है, और अपने आपको ब्राह्मण-वर्ण प्रसिद्ध कर दिया। और इन्द्रका यज्ञ करने लगे हैं'

'मिश्रदेशोद्भवा म्लेच्छा काश्यपेनैव शासिताः। संस्कृताः शूद्रवर्णेन ब्रह्मवर्णमुपागताः। शिखासूत्रं समाधाय पठित्वा वेदमुत्तमम्। यज्ञैश्च पूजयामासुर्देवदेवं शचीपतिम्' (२०। ७२-७३)। पर यह बात यज्ञके देवता इन्द्र तथा विष्णु आदिको इष्ट नहीं थी, क्योंकि–यह अनधिकार-चेष्टा थी। यह दैत्यमत था, देवमत नहीं। यह पूर्वलिखित पुराणके श्लोकानुसार बलिदैत्यके इशारे से देवताओंको अतृप्त एवं निस्तेज करनेका प्रकार था। इन्द्रने कहा कि–मेरी शूद्रोंके यज्ञोंसे तृप्ति नहीं होती (पूर्वश्लोकमें उद्धृत); क्योंकि वे वेद-यज्ञादिके अधिकारी नहीं होते। जब शूद्रका अन्न खाना द्विजोंको भी निषिद्ध है; तब द्विजोंके अधिपति देवता उसे कैसे खाएँगे? जैसे कि मनुस्मृतिमें भी कहा है–'शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्' (३। १७) 'दैवपित्र्यातिथेयानि तत्-(शूद्रा) प्रधानानि यस्य तु। नाश्नन्ति पितृ-देवास्तत्' (३। १८)

दूषित प्राकृत-भाषा भी देवताओंको नष्ट करने तथा दैत्योंके बढ़ानेकेलिए देव-वाणी-संस्कृतका विनाश करके बलिदैत्यने चलवाई, जैसे कि–'मिश्रदेशोद्भवे म्लेच्छे सांस्कृती (देववाणी) तेन संस्कृता (तस्यां शोधनं कृतम्)। भाषा देवविनाशाय दैत्यानां वर्धनाय च। आर्येषु प्राकृती भाषा दूषिता तेन वै कृता' (२०। ७७-७८-७९)।

जब यह विष्णु-भगवान्‌ने सुना; तब उन्होंने बुद्धावतार धारण किया। एक वर्गमें दूसरा विरोधी वर्ग घुस जाए; और वह पहले वर्गके अनुसार कार्य करके अपना प्रभाव बढ़ाकर फिर उसमें धीरे-धीरे अपनी इच्छानुसार अपनी बात चलाता आये; और बहुतसे पूर्व वर्गियोंको भी अपने रंग-ढंगका बना दे; तो उस अर्वाचीन वर्गका छांटना भी बड़ा कठिन हो जाता है। पूरा पता नहीं लग पाता कि–कौन वास्तविक वैदिकधर्मी है, और कौन

नकली। उस समय नीतिकी श्रावश्यकता पड़ती है। वह यह कि—जिस बलसे वे बढ़े-चढ़े हुए हैं, पहले उसी बलको हो खोखला किया जावे। श्रीबुद्धदेवने सोचा कि- यह लोग वेद वा वैदिकधर्मी नामसे अपने आपको प्रसिद्ध करने वाले अधिकांश वस्तुतः दैत्य वा शूद्र हैं; इनकी वेदमें श्रद्धा तो नहीं है, पर बाहरी आडम्बर-रूप इन्होंने अपने-आपको वैदिकधर्मी प्रसिद्ध कर रखा है; इनमे वेद-श्रद्धालु वास्तविक वर्ग भी है ही; अब इनको किस प्रकार छांटा जावे? तब यहां बुद्धावतार बनकर अपना प्रभाव बढ़ाकर वेदकी ही खूब निन्दा करनी शुरू कर दी, परमात्माका भी खण्डन करना शुरू कर दिया। यह वेदरक्षाकी एक नीति थी। इस नीतिका यह लाभ होता है कि-'दूधका दूध, पानीका पानी' छँट जाता है। वेदके असली प्रेमी तथा नकली प्रेमीका पूरा पता लग जाता है। जो जिसके पूरे भक्त हैं; वे निन्दा की जानेपर भी उस वस्तुको नहीं छोड़ते। जिस प्रकार वर्णिरूपधारी महादेवने महादेवके प्रेमवाली पार्वतीके आगे महादेवकी भरपेट निन्दा की; पर वह सच्चे प्रेमवाली थी; अतः उसने उस निन्दाको अनसुना कर दिया; बल्कि कहा कि—'न केवलं यो महतोऽपभाषते, शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्' (कुमारसम्भव)। इस अवसरपर नकली प्रेमी उस वस्तुकी निन्दा सुनकर और निन्दकको प्रभावशाली जानकर उसीके मतमें, उसीके सम्प्रदाय वा जमातमें चले जाते हैं; इससे पूर्वके वास्तविक वर्गकी शुद्धि हो जाती है।

इसी बातको पुराणने आगे बताया है कि—'वेदनिन्दां पुरस्कृत्य बौद्धशास्त्रमचीकरन्। तेभ्यो (शूद्रेभ्यो) वेदान् समादाय मुनिभ्यः प्रददुः सुराः' (भविष्य. ३।४।२०।८०-८१) इस वेदनिन्दासे प्रभावित होकर उन शूद्र तथा दैत्योंने वेद छोड़

दिये; और बुद्धके सम्प्रदायमें जा मिले। तब शुद्धता हो जाने वे वेद ब्राह्मणमुनियोंको दे दिये गये। '[शूद्रेभ्यो] वेदान् आ र्तुमिच्छन्तो [देवाः] ब्रह्मयोनौ बभूविरे। ...वेदान् शूद्रे आहृत्य विशालां प्रययुः पुरीम्। समाधितो मुनीन् सर्वान् स स्थाप्य (तेभ्यो वेदान्) ददुः स्वयम्। (प्रतिसर्ग. चतुर्थ खण्ड २ २२-२९)। तब जाकर बलिदैत्यकी नीति फेल हो गई; शूद्रो यज्ञोंसे अतृप्त अत एव निस्तेज हो गये हुए देवता अब वैदि ब्राह्मणोंके यज्ञोंसे तृप्त एवं तेजस्वी हो गये।

यही बात श्रीमद्भागवतपुराणमें भी दैत्योंके रूपमें चित्रि की गई है—'ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्। बुद्धो नाम्नाऽजनसुतः कीकटेषु भविष्यति' (१।३।२४)। बु यहाँ अवतार बताये गये हैं। सभी अवतारोंका प्रादुर्भाव धर्म रक्षा तथा अधर्मके नाशके लिए हुआ और होता है। सारे संसा का केन्द्र, नाभिस्थानीय भारतवर्ष है; इसलिए अवतार यहीं होत है; ऋषि-मुनिभी यहीं प्रादुर्भूत होते हैं—वेद भी यहीं प्रकट हो हैं। इस भारतवर्षके ठीक होनेसे 'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशा दग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः' (२ २०) इस मनुजीके संकेतके अनुसार पृथिवीके सभी देशों इसी ब्रह्मावर्त आदि द्वारा शिक्षा एवं शुद्धि होती है। अतएव एत विषयके प्रतिपक्षियोंके आक्षेप भी वस्तुस्थितिकी अनभिज्ञताव हुआ करते हैं। अस्तु।

सो सभी अवतार धर्मकी रक्षा भी कई प्रकारके तरीको करते हैं। श्रीपरशुराम-अवतारने धर्ममर्यादाको तोड़ने वाले और वैदिक-ब्राह्मणोंका अपमान करने वाले दुष्ट क्षत्रियोंको मारकर- 'दुष्टं क्षत्रं भुवो भारमब्रह्मण्यमनीनशत्' (श्रीमद्भा.९।१५।१४) धर्मरक्षा की। इस प्रकार बुद्धावतारने अपनी नीतिसे धर्मकी रक्षा

की। बात यह है कि-पुराणानुसार देवासुर-संग्राम बार-बार होते रहते थे, जिसका यजुर्वेद (ऋ. ४। २८। ३, ३१। २१, ५। २९। ६) तथा शतपथ-ब्राह्मण आदिमें भी वर्णन आता है। और अन्ततः दैत्य हर जाते थे; अन्तिम-विजय देवताओंकी हुआ करती थी। तब दैत्योंने देवताओंमें वेदबलको उनके विजयका कारण समझकर उन्हें हरानेकेलिए वेद तथा वेद-धर्मके नाशार्थ ब्राह्मणोंका रूप धारण कर लिया। धूर्त दैत्य इस रूप-निर्माणमें बहुत कुशल होते हैं, जैसे कि-वेदमें इसका संकेत मिलता है—'ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति (यजुः २। ३०)। इसके अनुसार दैत्य भारतमें आकर ब्राह्मण बनकर वेद तथा वेदके यज्ञादिकर्म तथा धर्मका इस प्रकार धूर्तताओंसे अर्थ करने लगे, जिससे सर्वसाधारणकी वेदमें अश्रद्धा हो जाय, और वे वेदोंसे घृणा करके उन्हें छोड़ दें, वेदका उच्छेद ही हो जाय।

देवताओंसे दैत्यदलकी यह धूर्तता छिपी नहीं रही; उन्होंने यह रिपोर्ट विष्णु-भगवान्को दी। तब सर्वसम्मति यह हुई कि—जो दैत्य वस्तुतः वेदधर्मविनाशार्थ ब्राह्मण बनकर परन्तु बाहरी आडम्बर से अपने आपको वैदिकधर्मका प्रचारक कहते हैं; उन्हें फिर प्रसिद्ध दैत्य बनाकर ब्राह्मणवर्गसे पृथक् छांट दिया जावे। तब विष्णु—भगवान्ने बुद्ध बनकर अपना प्रबल प्रभाव जनतापर जमा कर वेद एवं ईश्वर का खण्डन करना शुरू कर दिया; इससे वे ब्राह्मणब्रुव, परन्तु वस्तुतः दैत्य उस सम्प्रदायमें मिलकर बौद्ध बन गये। यहां बुद्धावतारने 'विषसे विष दूर करना तथा कांटेसे कांटा निकालने' की नीतिको अपनाया। तत्फलस्वरूप जो वेदके वास्तविक शत्रु, केवल बाहरीरूपसे अपने आपको वैदिकधर्मी बताने वाले तथा वेदके दैत्यधर्मी अर्थ करने

वाले दैत्य एवं राक्षस थे—ब्राह्मणोंसे अलग हो गये। वे बुद्धका अतिशयित प्रभाव देखकर उसी अर्वाचीन सम्प्रदायमें जाकर इकट्ठे हो गये। उनके निकल जानेसे सनातन-धर्म शुद्ध हो गया। यह थी नीति बुद्धावतारकी सनातनधर्मके संरक्षणकी।

जब उस अर्वाचीन बौद्ध-सम्प्रदायका बल पृथक् होकर बढ़ गया; तब उससे धर्मविप्लव होता हुआ देखकर ब्रह्मा-इन्द्र आदि शिवजीके पास गये; और उन्हें कहने लगे—'विज्ञातमेव भगवन्! विद्यते यद् हिताय नः। वञ्चयन्...सुगतान् बुद्धवपुर्वारी जनार्दनः' (शङ्करदिग्विजय १। ३०) अर्थात् हमारे हितकेलिए ही विष्णु-भगवान्ने बुद्ध बनकर नीतिसे बौद्धोंको वञ्चित कर वेदधर्मियों-से अलग कर दिया, वेदोंके अपनी इच्छानुसारी गलत अर्थ करने वाले उनके अलग हो जानेसे वेद भी शुद्ध हो गये—यह ठीक है, पर अब बुद्धका ही सम्प्रदाय वेदधर्मका नाश कर रहा है; उस वेद-धर्मको उससे बचाइये। इस प्रकारसे प्रार्थित होकर श्रीशिवने शङ्कराचार्यस्वामीका अवतार धारण करके फिर वेद-मतका स्थापन किया; और वेदविरुद्ध बौद्धोंको हराकर भारतसे ही उन्हें बाहर चीन-जापानआदिमें भेज दिया। (शङ्करदिग्वि-जय १। ४०-४१ इत्यादि)

इस प्रकार ब्राह्मणादिरूपमें रह रहे हुए दैत्योंको अलग कर देना ही बुद्धका उद्देश्य था, बुद्धधर्मावलम्बन नहीं। अलग हुआ शत्रु वैसी हानि नहीं कर सकता; जैसेकि—अन्दर घुसा हुआ। 'घरका भेदी लङ्का दाहे' यह प्रसिद्ध कहावत है। तब उनके अलग होने पर जो हानि हो रही थी, उसे महादेवने श्रीशङ्कराचार्यका अवतार लेकर दूर किया। जैसे एक ओषधिसे किसी रोगकी निवृत्ति तो हो जाय; परन्तु दूसरा उपद्रव शुरु हो जाय; तब वैद्य उसे दूसरी ओषधिसे शान्त करता है। जैसे कि—एक सांप

निद्रित-पुरुषकी छातीपर बैठकर सांस पीता हुआ उसके सांसको विषाक्त कर देता है, ऐसा सुना जाता है। लोक-दृष्टिसे वह मरा हुआ मालूम होता है। तब वैद्य उसे गढ़ा निकालकर उसमें डाल देते हैं, उसके पास आकके पत्ते डाल देते हैं। गढ़ेको बन्दकर देते हैं। एक-दो दिन तक सूर्यके अदर्शनसे वह पुरुष होशमें आजाता है। उसे भूख लगती है। वह साथ पड़े हुए आकके पत्ते खाता है। उससे सांपका विष तो दूर हो जाता है; और आकके पत्तेका विष उसे चढ़ जाता है। तब वैद्य उसे निकाल कर अन्य ओषधिसे आकका विष उसका हटा देते हैं। यही नीति विष्णु एवं शिवने बुद्ध एवं शङ्कराचार्यके अवतारमें की। वह बुद्धकी नीति धर्मकी रक्षाके उद्देश्यसे थी, धर्मनाशार्थ नहीं। पर समझनेकेलिए देवताओंका मस्तिष्क चाहिये, दैत्यों वाला वा दैत्यपक्षकी हिमायत वाला नहीं। वे दैत्य भगवान्के वास्तविक भक्त नहीं थे, किन्तु मायावी, धूर्त, ऊपरसे ही अपनी वेदमें श्रद्धा दिखलानेवाले, षड्यन्त्रकर्ता, असत्यवादी एवं जन-वञ्चक तथा उपास्यदेवके भी वञ्चक थे; तब भगवान्ने 'यद्ध त्यं मायिनं मृगं तव त्यन्मायया अवधीः' (सामवेद ऐन्द्रपर्व ४। ७। ४) 'मायाभिरिन्द्र! मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः' (ऋ. १। ११। ७) 'त्वं मायाभिरनवद्य! मायिनं···वृत्रमर्दयः' (ऋ. १०। १४७। २) 'आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः' (नैषध. ५। १०३) 'व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं, भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः' (किराता० १। ३०), विषस्य विषमौषधम्, 'मायया निर्जिता देवैरसुरा इति नः श्रुतम्' (महाभारत शल्यपर्व ५८। ५) इस वैदिक एवं शास्त्रसमर्थित नीतिसे उनको पराजित किया। यदि प्रतिपक्षी अपने आपको वैदिकधर्मी मानता है; तब उसे वैदिक-नीतिसे विरुद्ध होकर दैत्योंका पक्षपाती नहीं बनना चाहिये; नहीं तो

वह 'दैत्य वैदिकधर्मी लोग थे' (अवतार-रहस्य पृ. ६...) अपनी मोटे हैडिङ्गकी उक्तिका उदाहरण कहीं स्वयं... जावे। पर वह पुराणोंके पूर्वापर छिपाकर देवीभागवतके... सार असत्यवाद एवं जनवञ्चनके लक्षणोंको धारण करके... नहीं, क्या बनना चाहता है?

(ङ) जो कि—श्रीलेखरामजी आर्यसमाजीने 'पुराण... ने बनाये' में यह आक्षेप किया है कि—'पुराणमें बौद्धा-(बौद्ध... वतारका वर्णन है, और बुद्ध जैनियोंके गुरुओंसे मेल खाता... अनेक इतिहासज्ञोंने सिद्ध किया है कि विक्रमसंवत् ६१४ ... बुद्ध हुआ, जिसे पैदा हुए आज (सं. १९५१ में) २५६५ ... गये। पुराणोंमें बुद्धावतारके भविष्यत् कालमें भी नहीं, ... भूतकालमें वर्णन होनेसे सिद्ध हुआ कि-पुराण बुद्धाव... पीछे बनाये गये। श्रीव्यास युधिष्ठिरके समय हुए, जिसे (सं १९५१) ४९९४ वर्ष हुए। तब व्याससे २४२९ साल... बुद्धावतार सिद्ध हुआ। इससे व्यास पुराणोंके कर्ता सिद्ध... हुए'। प्रसङ्ग आजानेसे हम श्रीलेखरामजीके इस आक्षेप... भी विचार करते हैं—

इस पर यह याद रखना चाहिये कि—बुद्ध एक नहीं; किन्तु अनेक बुद्ध हुए। भगवान् श्रीरामने भी एक बुद्धवा... लेकर उसका खण्डन किया था (वाल्मी. २। १०९। ३४)। क्या श्रीराम प्रतिपक्षीसे इष्ट बुद्धसे पीछे हुए? और वाल्मी... रामायण भी उसके अनुसार पीछेकी बनी है? यदि ऐसा हो... 'वाल्मीकीय और महाभारतादिमें [आदिसे यहां पुराण इ... सकते हैं], जैनियोंका नाममात्र भी नहीं लिखा' (स.प्र. पृ. २५५) यह प्रतिपक्षीके स्वामीकी बात गलत हो जाती... इससे स्पष्ट है कि—रामायण आदिमें वर्णित बुद्ध अन्य है।...

पक्षीसे इष्ट बुद्ध नहीं। प्रतिपक्षीको इष्ट है—गौतम बुद्ध। वह पुराणादिको इष्ट नहीं। जैसे नास्तिकमतका प्रवर्तक बृहस्पति माना जाता है, लेकिन वह देवगुरु नहीं; किन्तु दूसरा ही है; वैसे बुद्धावतार भी गौतम-बुद्धसे अन्य है। वह तो शौद्धोदनि (शुद्धोदनका वा अजनका लड़का) माना जाता है, गौतम-बुद्ध नहीं। अथवा जो कोई वेदादि-शास्त्रोंको न मानकर अपनी बुद्धि-गम्य बातको मानता है, वह बुद्ध शब्दसे अण प्रत्यय करने पर पूर्व अच्को वृद्धि करने पर 'बौद्ध' अथवा 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इस प्रकारकी परिभाषावश संज्ञापूर्वक होनेसे वृद्धि न करनेपर 'बुद्ध' कहा जाता है। इस प्रकार 'बुद्ध' यह सामान्य शब्द सिद्ध हुआ।

जैसे 'यवन' यह प्राचीन जाति-विशेषका नाम है—'यदास्तु यादवा जातास्तुर्वशोर्यवनाः स्मृताः' (महाभारत आदि. ८५। ३४) ययातिके पौत्र तुर्वशुके पुत्र भी 'यवन' कहे जाते थे। लेकिन आजकल लोग मुसलमानोंकेलिए 'यवन' शब्दका प्रयोग करते हैं। प्राचीन यवन-जातिके अब न दीखनेसे, मुसलमान जातिको ही यवन समझ लेनेसे कोई लेखरामजी जैसा पीछेकी उपज आर्यसमाजी 'यवयवन' (४। १ ४९) इत्यादि पाणिनिके सूत्रमें, इस प्रकार रामायण-महाभारत आदिमें 'यवन' शब्दका प्रयोग देखकर पाणिनि, वाल्मीकि, व्यास आदिको आजकलके यवनों (मुसलमानों) से पीछेका पैदा हुआ मान ले; उसकी बुद्धिका जितना मूल्य होगा, उतना ही मूल्य है श्री लेखरामजीकी बुद्धि-का। जैसे १४ वीं शताब्दीसे उत्पन्न भी मुसलमानोंका नाम आजकल 'यवन' इस प्राचीन-जातिके नामसे रख देते हैं; वैसे ही प्राचीनकालमें उत्पन्न वेद-शास्त्रोंको न मानने वाले किसी बुद्धका नाम देखकर आजकलकी उपज व्यक्ति वैसे ही पुरुषका नाम भी

बुद्ध रख देते हैं। अतः पुराणादिवर्णित बुद्ध-शब्दसे यदि वही आजकलका बुद्ध लिया जायगा; तब यवनोंका निर्देश करने वाले मनु, वाल्मीकि, पाणिनि आदि भी १४ वीं सदीपूर्व उत्पन्न मानने पड़ेंगे। दोनों स्थल उत्तर समान होगा।

किसी प्रकार मान भी लिया जावे कि—पुराणोंमें वर्तमानके बुद्धका ही वर्णन है; तब क्या इससे पुराण भी आधुनिक ही मान लिये जायंगे? उन्हीं पुराणोंमें जैसे बुद्धका वर्णन है, वैसे ही कलियुगके अन्तमें होने वाले कल्कि-अवतारका वर्णन भी पुराणों में है। तब क्या प्रतिपक्षी पुराणोंको कलियुगके अन्तमें बना हुआ मान लेंगे?! वस्तुतः जैसे कल्कि-अवतारका वर्णन श्री व्यासने श्रीमद्भागवतमें भविष्यद्दृष्टिसे किया है; वैसे ही बुद्धका भी। जैसे श्रीव्यासजीने श्रीमद्भाग.में 'अथासौ युगसन्ध्यायां दस्यु-प्रायेषु राजसु। जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः' (१। ३। २५) यहां कल्कि अवतारकेलिए 'जनिता' यह भविष्यत्कालके निर्देशक लुट्-लकारका प्रयोग किया है; वैसे बुद्धअवतारके-लिए भी 'ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्। बुद्धोनाम्नाऽजनसुतः कीकटेषु भविष्यति' (१। ३। २४) यहांभविष्यत्का सूचक लृट् लकार ही क्रियामें प्रयुक्त किया है। इससे प्रतिपक्षीकी शङ्का कट गई। भविष्यत्का ज्ञान योगियोंको होता ही है। जैसे कि—योगदर्शनमें कहा है—'परिणामत्रयसंयमाद् अतीतानागतज्ञानम्' (३। १६)। इसलिए ही महाभारतमें 'प्रोवाचातीन्द्रियज्ञानो विधिना सम्प्रचोदितः' (आदिपर्व) में श्री व्यासको अतीन्द्रिय-ज्ञानवाला बताया गया है। बुद्धके पुराण-वर्णित कीकट देशका नाम 'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु' (३। ५३। १४) ऋग्वेदके इस मन्त्रमें भी आया है। निरुक्तकारने भी 'कीकटा नाम देशोऽनार्य-निवासः' (६। ३२।

१) कहकर कीकटदेशको अनार्योंका देश बताया है; तब क्या प्रतिपक्षी वेदको भी बुद्धके बाद बना हुआ मान लेंगे ?'

जो कि श्रीलेखरामजीने लिखा था कि–'बौद्धावतारके प्रतिपादक श्लोकोंमें भूतकाल है; भविष्यत्काल नहीं' यह भी प्रत्यक्षका उसने अपलाप करके जनवञ्चन किया है। अभी हम पीछे श्रीमद्भागवतका पद्य दिखला चुके हैं; जिसमें 'बुद्धो नाम्नाऽजनसुतः कीकटेषु भविष्यति' यह भविष्यत्काल प्रत्यक्ष है। 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणान्तरेण'। इस प्रकार पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें भी 'मायामोहोऽयमखिलांस्तान् दैत्यान् मोहयिष्यति' (१३। ३४३) यहां भी भविष्यत्-काल स्पष्ट ही हैं।

किसी पुराणमें बुद्धकेलिए भूतकालकी क्रिया हो भी; तो वहां यह जानना चाहिये कि–'छन्दसि लुङ् लङ् लिटः' (३। ४। ५) इस पाणिनिसूत्रानुसार भूतकालकी क्रिया भविष्यत् अर्थमें भी होती है; जैसे कि–'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ. १०। १९१। ३) यहां लङ्लकार भविष्यद् अर्थमें है; नहीं तो वेदमें आदिमत्ता दोष आजाएगा, यदि भूतकालकी क्रियाका अर्थ भूत-कालका माना जावे। इस प्रकार वेदानुगामी पुराणोंमें भी 'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' (नदीसंज्ञासूत्रमें) इस महाभाष्योक्त परिभाषासे छान्दसतावश कालव्यत्यय समझना चाहिये।

इसका अन्य अच्छा उदाहरण भी देख लें। सभी जानते हैं कि कल्कि-अवतार अभी नहीं हुआ; और वह कलियुगके अन्तमें होगा। पर कल्कि-अवतारको बतानेवाला पुराण भविष्यत्की क्रिया न देकर उसमें भूतकालकी क्रिया देता है। देखिये—'ततः कल्किर्म्लेच्छगणान् करवालेन कालितान्। बाणैः सन्ताडितान्न्यान् अनयद् यमसद्मनि' (कल्किपुराण तृतीयांश १। १)

यहां भविष्यकालीन कल्कि-अवतारके लिए भूतकालीन लकार है। यह क्यों ?' उसका कारण यह है कि–भविष्य इतिहासको भी सुव्यवस्थित एवं सुसम्बद्ध करके जन सामने रखनेकेलिए उसका भूतकालरूपसे निर्देश रहता है। जैसेकि वाल्मीकिरामायण श्रीरामावतार बनाई गई थी, ऐसा रामायणके बीजोंको देखकर हिन्दु मानती है; पर उसमें सुव्यवस्थितताकेलिए भूतकालकी देनी पड़ती है।

अथवा–अभ्युपगमसिद्धान्तवश या वादितोषन्यायवश मान भी लिया जावे कि—बुद्धावतारके बाद ही पुराण गये; तब भी उनके व्यासकर्तृत्वमें क्या क्षति आती है? पक्षियोंके पास क्या प्रमाण है कि–श्रीव्यासका देहान्त हुआ ? बल्कि इस प्रकारके बहुतसे प्रमाण मिल जावेंगे, सिद्ध होगा कि–युधिष्ठिरसे बहुत वर्ष पूर्व और उससे वर्ष पीछे भी व्यास विद्यमान थे। पारसियोंकी 'जिन्दा पुस्तकमें भी व्यासजीका हिन्दसे पारस-देशमें आना वर्णित जो वसिष्ठ आदि-सृष्टिकी आदिमें हुए; वे त्रेता-युगमें भी थे युधिष्ठिरके समयमें भी थे। राजा वेन तथा उसका लड़का पौराणिक-इतिहासोंमें वर्णित हैं; वैसे 'वैन्यः पृथी' (अथर्व १४०। ५, ८। १३। ११) (८। १०+२। ११) इस नाम में तथा स्वा.द.के स. प्र. के ११ वें समुल्लासके आरम्भिक-वक्तव्य सृष्टिकी आदिमें बनी हुई मनुस्मृतिमें भी वर्णित हैं; तब क्या मनुजीको वेनसे पीछेका मान लिया जावेगा ? पर दाशरथि-रामके समयमें दिखाई देते हुए भी भीष्मके समय दीखते हैं। वास्तवमें श्रीव्यासजी तो 'अश्वत्थामा बलि हनुमांश्च विभीषणः। कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरं

(मार्कण्डेयश्च तथाष्टमः)' इस पौराणिक-पद्यके अनुसार तथा 'पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्' (२। १२) इस श्वेताश्वतरोपनिषद्की साक्षीसे अमर माने जाते हैं। बुद्धावतारसे पीछे श्रीशङ्कराचार्यके समयमें भी व्यासजीका उनसे सम्मेलन माना जाता है। इस प्रकार पुराणोंके व्यासकर्तृत्वमें कोई भी बाधा नहीं बचती। प्रतिपक्षियोंका यह विचार रहता है कि–किसी प्रकार पुराणोंको हम कलङ्कित करें। जिन इन पुराणोंने अत्याचारी मुस्लिम-कालमें हिन्दुजातिकी रक्षा की, उन्हींको कई हिन्दुजातिकुलकलङ्क झूठ-मूठ कलङ्कित करें; यह उनकी कृतघ्नताकी परा काष्ठा है। वे देवीभागवतके 'क्रूर, वेद-निन्दापर, असत्यवादी, जनवञ्चक आदि कलिलक्षणोंके साक्षात् उदाहरणभूत हैं।

(ढ) 'अवतार-रहस्य' (पृ. ५४)में प्रतिपक्षी, श्रीकृष्णका मांस खाना महाभारत (अश्वमेधपर्व ९ अ.) के दो पद्योंसे सिद्ध करता है। पर वे श्लोक महाभारतके उक्त स्थलमें हैं ही-नहीं। वहां तो यह पथ्यावक्त्र (अनुष्टुप्) छन्द ही नहीं, किन्तु प्राचीन उपजाति छन्द है। पता नहीं, प्रतिपक्षीको गलत बातें, वा ग्रन्थोंके पते ही न लिखना वा गलत पते लिखनेमें क्यों इतना आनन्द आता है? क्या देवीभागवतोक्त कलि-लक्षण उसे बहुत पसन्द हैं?'

(ण) जब गोपियां ब्रह्मवैवर्तानुसार वेदकी श्रुतियाँ हैं, यह 'आलोक' के छठे पुष्पमें (पृ. ५७६) में सप्रमाण दिखलाया जा चुका है, इस प्रकार पद्मपुराण (पातालखण्ड) आदिमें 'अतः परं श्रुतिगणास्तासां काश्चिदिमाः शृणु' (७४। ११२) 'ता आत्म-मुदितास्तेन व्रजबाला इहागताः। एताः श्रुतिगणाः ख्याता एताश्च मुनयस्तथा' (७४। १०३) भी प्रसिद्ध है, तब यह भगवान्का अपनी श्रुतियोंसे रमण था–पर यह प्रतिपक्षी पुराणका गोपी-रमण सम्बन्धी पद्य, जो वस्तुतः आलङ्कारिक हैं–तो दे देता है–पर 'गोपियां श्रुतियां थीं' जब यह पुराणकी बात आ जाती है; तब या तो उसे छिपा देता है, या मानता नहीं, यह कितना असत्यवाद एवं जनवञ्चन है? 'फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम्' (भाग १०। ३१। ७) यहां पर 'कुचोंमें पैर रखना' कहा है, यहां शृङ्गार इष्ट नहीं, और 'कुच' का अर्थ 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गाका गङ्गातटकी भान्ति यहां 'छाती' अर्थ है, जैसे कि ब्रह्मवैवर्तकी इसमें साक्षी है–'वक्षःस्थले च शिरसि देहि ते चरणाम्बुजम्' (४। १५। ८२) यहां चरणा-म्बुजको वक्षःस्थलमें रखनेको कहा है; अर्थात्, हे भगवन्! जिस चरणकमलको तुमने कालिय-नाग पर रखा था; उसे हमारे वक्षःस्थल पर रखकर हृच्छय-हृदयमें निवास करने वाले हमारे सन्तापको दूर करो। 'कृन्धि'का अर्थ 'काटना' है। पर यह प्रति-पक्षी पूर्वापर छिपाकर ऐसे-वैसे अर्थ कर दिया करता है, तब तो वह 'मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः' (ऋ. ६। ५५। ५) पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' (अथर्व. ९। १०। १२) इत्यादि मन्त्रोंका भी अश्लील अर्थ कर डालेगा। पर यह देवी-भागवतके कलिलक्षणोंका अनुसरण स्वप्रकृतिवश क्यों छोड़े?

(त) 'अवतार-रहस्य' (पृ. ६४-६५ आदि)में 'कृष्णका शंकरसे वर मांगना' दिखलाया है। महाभारतके इस प्रक-रणमें प्रतिपक्षीने श्रीकृष्णके १० हजार पुत्र मांगना दरशाया है, प्रतिपक्षी श्रीकृष्णका एक ही पुत्र बताता है, यहां उससे विरुद्धता करके जनवञ्चन अपना-कर देवीभागवतके उक्त लक्षणोंको पूरा कर रहा है। पूर्व जन्ममें यह वर नहीं मांगा गया, किन्तु इसी जन्ममें; तब ६३ पृ. में 'पुरा'का अर्थ 'पहला जन्म' अर्थ करना

जनवञ्चन है। इस प्रकरणका प्रतिपक्षी द्वारा देवीभागवतके प्रमाणसे सम्बन्ध जोड़ना-वही जनवञ्चनार्थ ही है। इस तपस्या तथा सन्ध्यादि करनेमें लोकशिक्षण इष्ट होनेसे श्रीकृष्णके अवतारत्वमें कोई क्षति नहीं आती; इस पर 'आलोक'के छठे पुष्प (पृ.५१८-५१९) में प्रकाश डाला जा चुका है। इसे छिपाकर वादीने जनवञ्चन किया है।

(थ) देवि ! भार्यासहस्राणां भवेयं प्राणवल्लभः। अक्षीण-काम्यता तासु' (अवतार. पृ. ७०)में अपनी भार्याओं (विवाहित स्त्रियों)में 'अक्षीण-काम्यता' के वर को 'व्यभिचारका वर' कहना विवाहित-प्रतिपक्षीका अपने आपको 'व्यभिचारी' बनाना है।

(द) 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन !' इस प्रमाणसे श्रीकृष्णको जीव सिद्ध करना (अवतार-रहस्य पृ. ८५) प्रतिपक्षीका जनवञ्चनार्थ ही है, जब कि संपूर्ण गीता श्रीकृष्णको भगवान्‌का अवतार मानती है। इसीलिए श्रीकृष्णने उससे अग्रिम पद्य 'जन्म कर्म च मे दिव्यं' (४।५) यह कहकर जीव-अर्जुनसे अपनी दिव्यता (अवतारता) बता कर अर्जुनको जीव और अपनेको परमात्मा बता दिया था, परन्तु प्रतिपक्षीने उसे छिपा दिया है, कारण वही कि-जनवञ्चन करके देवीभागवतके लक्षणोंका अनुसरण।

(ध) 'अवतार-रहस्य' (पृ. ४२)में गरुड़-पुराणका 'दैत्याः सर्वे विप्रकुलेषु भूत्वा कलौ युगे भारते षट्सहस्र्यास्‌। निष्कास्य कांश्चिन्नव-निर्मितानां निवेशनं तत्र कुर्वंति नित्यं' यह श्लोक देकर प्रतिपक्षीने सिद्ध किया है कि-दैत्य लोगोंने ब्राह्मण बनकर महाभारतमें पुराने श्लोक निकालकर नये श्लोक डाल दिये। महाभारतमें प्रारम्भमें केवल ६००० श्लोक ही थे" ...

यहां पर पाठ था 'कृते युगे'। देखो गरुड़-पुराण (ब्रह्म काण्ड १।६९) इस पर आर्यसमाजी श्रीराजेन्द्रजीकी बनाई '... विमर्श' पुस्तिका(पृ९) भी देखो; परन्तु प्रतिपक्षीने उसे बदल 'कलौ युगे' कर दिया है; पुराना पाठ हटा कर नया कर देना ... पक्षीने दैत्योंका काम बताया है। अब दैत्य कौन हुआ, यह प्रतिपक्षी बताये। यहां 'भारते' था; परन्तु प्रतिपक्षीने 'महाभारते' कर दिया है। भारत और महाभारत पृथक्-पृथक् माने गये देखिए-'आश्वलायनगृह्यसूत्र' (३।४।४)। महाभारतमें एक लाख श्लोक हैं, श्रीव्यासने उन्हें तीन वर्षोंमें पूरा किया था। केवल युद्धका वर्णन ही ६००० श्लोकोंमें पूरा नहीं होता क्या प्रतिपक्षी इस पद्यको मानता है ? इसमें तो लिखा है कि 'निवेशनं तत्र कुर्वन्ति नित्यम्' वे दैत्य नित्य श्लोक डालते रहते हैं क्या यह बात प्रतिपक्षी मानता है ? ऐसे दैत्य तो अब निकल आये, जिन्होंने 'कृते युगे' हटाकर 'कलौ युगे' कर दिया। सो उनकी बात नहीं मानी जा सकती। महाभारतमें ६००० श्लोक थे-इसका प्रतिपक्षीके पास कोई प्रमाण नहीं। क्या अपना मतलब निकालनेकेलिए वह पुराणके श्लोकको स्वतः-प्रमाण मानने लगा? ... कृतयुगके 'भारत' के लिए है, द्वापरके महाभारतकेलिए नहीं।

(न) कुब्जा आदिके विषयमें छठे पुष्पमें पर्याप्त लिखा गया है। प्रतिपक्षीके ही लिखे हुए प्रमाण (पृ. ३५ श्लोक ६१) में 'दम्पती' कहा है। दम्पती पति-पत्नीको कहते हैं। तब दोनोंका शृङ्गार अवैध नहीं ठहरता। राधा-द्वारा क्रोधमें श्रीकृष्णको 'त्वया कुब्जा च सम्भुक्ता' (१२४) आदि कही हुई बातोंका मूल्य कुछ भी नहीं। क्रोधमें पुरुष क्या-क्या गालियां नहीं देता ? प्रतिपक्षीके स्वामीने ही क्रोधके मारे भिन्न पक्ष वालों को जितनी

गालियां सुनाई हैं; जिससे स.प्र.की तोंद भर गई; और प्रतिपक्षीकी क्षुद्रपुस्तिकाओंकी भी। आगे श्रीकृष्णने राधाको 'नानारूपधरोऽहं च व्यक्तिभेदेन सुन्दरि ! (ब्रह्म. ४ । १२४ । ९१) 'ज्ञात्याहं जगतां स्वामी किं रुक्मिण्यादियोषिताम्। कार्यकारणरूपोहं व्यक्तो राधे ! पृथक्-पृथक्' (८२) एकात्माहं च विश्वेषां ज्ञात्या ज्योतिर्मयः स्वयम्। सर्वप्राणिषु व्यक्त्या चाप्याब्रह्मादि तृणादिषु' (८३) इत्यादि पद्योंसे राधाके उपालम्भोंका प्रत्युत्तर देकर 'प्रणेमुः परमेश्वरम्' (१०२) अपने आपको गीताकी भांति परमेश्वर बताया हैं। ब्रह्मवैवर्तमें राधाको प्रकृति और श्रीकृष्णको परमेश्वर बताकर राधा-कृष्णका रमण प्रकृति-पुरुषका रमण सूचित किया गया है, शेष रङ्गत, लौकिक-पुट लानेकेलिए अर्थवाद मात्र है, वास्तविक नहीं है। इस विषयमें 'आलोक'के ६ठे पुष्प (पृ.५३८-५३९) में अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया गया है।

(प) इससे प्रतिपक्षीके सभी आक्षेपोंका उत्तर होकर उसके आक्षेपोंका मूल ही नष्ट हो गया है। पर प्रतिपक्षी इन हमसे निर्दिष्ट किये श्लोकोंको छिपाकर अपनी असत्यवादिता और जनवञ्चना पदे-पदे सिद्ध कर रहा है। जैसे कि—'क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः' यह पद्यांश तो श्रीमद्भागवतका उसने (अवतार-रहस्य पृ. ३८ में) दे दिया, पर इसका दूसरा पाद जो यह था कि—'कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः' (१० । ४७ । ५९) इसमें श्रीकृष्णको परमात्मा कहकर उसमें गोपियोंका प्रेम बताया गया है; इससे प्रतिपक्षीके आक्षेपका मूल तो काट दिया गया। इस पाठको छिपाकर प्रतिपक्षीने वही असत्यवादिता और जनवञ्चना की है; अतः यहां 'व्यभिचारदुष्टाः' का अर्थ वही है कि—'आचार-विचारके ज्ञानसे हीन'। सो यह आचार-विचारका ज्ञान न होने से उनका अतिक्रमण 'व्यभिचारदोष' माना जाता है। जैसेकि—'तस्मात्

स्वधर्मं भूतानां राजा न 'व्यभिचारयेत्' (कौटलीय-अर्थशास्त्र, विनयाधिकारिक, त्रयीस्थापनामें)। सो वही यहां विवक्षित है कि—कहां ये आचार-विचारके ज्ञानसे हीन, जंगली गवालिनें, कहां उनका श्रीकृष्ण-परमात्मामें अनन्यभाव (भक्ति)। इससे यहां श्रीकृष्णमें भाव (भक्ति) रखना इष्ट है; प्रतिपक्षीका बहुत प्रिय व्यभिचार यहां इष्ट नहीं। 'विरजा' राधाकी गोलोकमें सपत्नी थी, इस विषयमें 'आलोक' के ६ ठे पुष्पमें सप्रमाण विवेचन किया जा चुका है। पराई स्त्री नहीं थी। ब्रह्मवैवर्तमें यह स्पष्ट है; वहां श्रीकृष्णकी बहुत स्त्रियां दिखाई गई हैं, सभीका विवाह दिखलानेकी क्या आवश्यकता थी? विरजा भी उन्हींमें एक थी। किसी प्रेस-विशेषकी भाषाटीका न बताकर प्रतिपक्षीको मूलवचन दिखलाने चाहियें।" यदि राधा विरजा को 'परस्त्री' कह रही है; तो वह 'सपत्नी' होने से ही। सपत्नी दूसरी-स्त्री होनेसे परस्त्री ही तो हुई। उसमें प्रतिपक्षी खण्डित है; क्योंकि—क्रोधमें कही हुई उक्तिका कुछ भी मूल्य नहीं होता, स्वयं प्रतिपक्षीके दिये वाक्यमें राधा कह रही है—'तेरे पास बहुत स्त्रियां हैं' इससे सपत्नीत्व स्पष्ट है।

(फ) 'सुरतनाथ' (भाग. ३१ । २) में भी प्रतिपक्षीका आक्षेप गलत है; क्यों कि—'सुरत' शब्द 'सु' पूर्वक 'रम्' धातुका 'क्त' प्रत्ययमें प्रयोग है। प्रतिपक्षीके इन्हीं अपने दिये हुए प्रमाणोंमें जब श्रीकृष्णको ईश्वर और गोपियोंको भक्त बताया गया है; तब 'सुरतनाथ'में 'रम्' धातुके होनेसे उसका अर्थ 'ध्यानानन्दके स्वामी' ही है। जैसे कि—'पुराणोंके श्रीकृष्ण' (पृ. १४) में प्रतिपक्षीने ही स्वयं स्वीकार किया है—'जहां 'रमण' शब्द योगी अथवा भक्त व ईश्वरके सम्बन्धके अर्थमें आता है; वहां भक्त या योगी का ईश्वरके ध्यानमें तन्मय (मग्न) होनेके अर्थमें आता है; पर जिस-

की हियेकी भी [आँखें] फूट चुकी हों, ऐसे १११ [१०] नम्बरी पाखण्डोकी समझमें कैसे आवे ?' यह डा. श्रीरामके अपने शब्द हैं; वह श्रीकृष्णको परमात्मा वा गोपियोंको भक्त माने वा न माने, यह उसकी अपनी निरङ्कुश इच्छा भले ही हो, पर पुराणमें तो श्रीकृष्णको परमात्मा और गोपियोंको भक्त बताया गया है; यह उसके उद्धृत किये हुए पद्योंमें भी स्पष्ट है। तब 'रमण' के पर्यायवाचक 'रम्' धातुके बने 'सुरत'का पुराणमें वह अन्य अर्थ नहीं कर सकता। यदि करता है; तब वह 'यावज्जीवमहं मौनी, ब्रह्मचारी तु मे पिता। माता तु मम वन्ध्यासीद् अपुत्रश्च पितामहः' इस व्याघातको चरितार्थ करता है। तब 'उष्ट्रलगुड' न्यायसे प्रतिपक्षीके अपने ही लेखसे प्रतिपक्षीका खण्डन हो गया। इस अपनी बातको अब छिपा लेना—यह असत्यवाद और जनवञ्चनाका अन्य उदाहरण है।

कादम्बरी (कथामुख)में शूद्रक राजाकेलिए कहा है—'राजपुत्रैः सह रममाणः प्रथमे वयसि सुखमतिचिरमुवास' कि अपनी स्त्रियोंके साथ प्रसन्न न रहकर राजपुत्रोंसे रमण करते हुए उस राजा-शूद्रकने यौवन सुखपूर्वक बिताया; तो क्या प्रतिपक्षी राजपुत्रोंसे अपना अभ्यस्त परम-प्रिय रमण स्वा.द.के (यजुः ६। १४) भाष्य वाला (अवताररहस्य पृ. १३९) मानेगा ?'

(ब) जो कि प्रतिपक्षीने (अव. र. पृ. ६१ में) 'कृष्णके परस्त्रीगमनमें पुराणकी साक्षी दिखाते हुए पद्मपुराणका पार्वती-प्रश्न तथा श्रीमद्भागवतका परीक्षितका प्रश्न (पृ. ७३) दिया है; इसपर यह जानना चाहिये कि— पूर्वपक्ष कभी ग्रन्थका उत्तरपक्ष (सिद्धान्त) नहीं हो जाता। सो यह जो पूर्वपक्ष दिखाया गया है—स्पष्ट है कि यह पुराण वा पुराणकारका सिद्धान्त नहीं; तभी तो आगेके पद्योंमें इस पूर्वपक्षको तहस-नहस कर दिया गया है, इसे 'आलोक'के छठे पुष्प

(पृ. ६८३-८७) में सम्यक् स्पष्ट कर दिया गया है; पर प्रति-ने उत्तरपक्षको छिपाकर पूर्वपक्षी बननेमें तथा चोरी करके ...नी असत्यवाद अपनानेमें गौरवदृष्टि दिखलाकर देवीभागवतके कलिलक्षणोंमें अपना अभिनिवेश दिखलाया है। पूर्वपक्ष आपा-दृष्टिधारी, प्रतिपक्षी-जैसे व्यक्तियोंका विचार करके दिया जा-है; वह ग्रन्थकार-सम्मत नहीं होता; किन्तु एकदेशी होता है और उत्तरपक्ष ग्रन्थकारके हृदयका प्रतिविम्ब होता है; तब प्रतिप-ग्रन्थकार-सम्मत उत्तरपक्ष न मानकर जो कि पूर्वपक्षके मा-में आग्रही है; तब उसे अपने आचार्यके ग्रन्थ स. प्र. में नियो-अपने आचार्यसे दिये हुए उत्तरपक्षको न मानकर पूर्वपक्ष मानते ह-नियोगको वेश्याकर्म, पापकर्म और व्यभिचार मानते हुए अब नियो-खण्डनकी भी नई पुस्तिका प्रकाशित कर देनी चाहिये। यदि व-ऐसा नहीं करता; तो पुराणके पूर्वपक्षको ही माननेका आग्रही ब-नकर वह असत्यवाद एवं जन-वञ्चन करके देवीभागवतके पूर्वो-सूत्रोंका उदाहरण बनता जा रहा हैं। हितदृष्टिद्वारा समझ-पर भी वह उन लक्षणोंको छोड़ना नहीं चाहता। इसमें उ-बेचारेका दोष नहीं; जन्मसिद्ध वैसी प्रकृति ही उसे वैसा बनने-बाध्य कर रही है। इसकी पुस्तकोंमें असभ्यता एवं गालियों-अतिरिक्त कुछ भी सार न देखकर जब कोई विद्वान् 'भद्रं कृतं मौनं कोकिलैर्जलदागमे। वक्तारो दर्दुरा यत्र तत्र मौनं शोभते' इस न्यायसे चुप हो जाता है; तब यह समझता है कि हमारी बातका कोई उत्तर नहीं दे सकता है; तब इससे व-अपनी विजयका डङ्का पीटने लगता है। ठीक ही कहा है-'गच्छ सूकर! भद्रं ते ब्रूहि सिंहो मया जितः। पण्डिता एव जानन्ति सिंह-सूकरयोर्बलम्'।

(भ) पृ. ७२ में वह लिखता है—'कृष्णजी डरकर द्वारका ...

थे'। पर जो इसमें मथुराके बचानेकी राजनीति थी; वह यह नहीं समझ सकता। गत महायुद्धमें हिटलरकी लड़ाईमें अंग्रेज अपना पीछे हट आना लिखते थे-इससे राजनीतिसे कोरे लोग अंग्रेजों पर हंसते थे, पर इसी नीतिसे जब उन लोगोंने अंग्रेजोंकी अन्तिम विजय तथा हिटलरकी पराजय देखी; तब उनकी आंखें खुलीं। पर प्रतिपक्षी यह कैसे समझे? । उसके पञ्चमवेद स.प्र. के राजनीतिप्रकरणमें (६ समु.) भी यह नीति अनुमोदित की गई है, पर यह दोषदृष्टिमें प्रसन्न होनेवाला उसे कैसे समझे? यह सब उसकी जनवञ्चनाको स्पष्ट कर रहा है।

(म) जो कि उसने देवीभागवतके बहुतसे विष्णु आदिके निन्दक प्रमाण संग्रह कर दिये हैं; इसपर वह यह नहीं समझता कि-'नहि निन्दा निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु विधेयं स्तोतुम्' इस शास्त्रीयशैलीवश सभी निन्दनात्मक वचनोंके अर्थवाद होनेसे अपने अर्थमें तात्पर्य न होकर देवीकी प्रशंसामें पर्यवसान हो जाता हैं; पर यह शास्त्रीयशैलीसे अनभिज्ञ वादी साधारण व्यक्तियोंको भ्रान्त करनेकेलिए उन अर्थवाद वचनोंका प्रयोग करता है। यह सभी प्रतिपक्षीके वचन असत्यवाद एवं जनवञ्चनके अभूतपूर्व उदाहरण हैं।

इस प्रकार प्रतिपक्षीका 'अवतार-रहस्य' सम्पूर्ण इन्हीं असत्यवादोंसे तथा गन्दी असभ्य-गालियोंसे जो भठियारियोंको भी मात करती हैं-भरा हुआ है; उसका दिग्दर्शन हमने 'स्थाली-पुलाक' न्यायसे कर दिया है। अन्य अधिक स्थान न होनेसे इन जैसी अन्य छोटी-मोटी बातों पर हमने उपेक्षा कर दी है। इससे देवीभागवतोक्त उक्त लक्षण पुराण-विरोधी प्रतिपक्षियोंमें पूरे-पूरे संघटित हो जानेसे उक्त पुराणको ऐसे ही ब्राह्मण-ध्रुव लोग राक्षस इष्ट हैं, सभी नहीं; यह सिद्ध हो गया। तभी तो पुराणने

उनके लक्षण भी स्पष्ट कर दिये। इन लक्षणोंसे रहित ब्राह्मण उसे राक्षस इष्ट नहीं, यह तत्त्व समझ रखना चाहिये। १०।

दारुवनमें महादेव।

(२०) प्रश्न-दारुवनमें मुनियोंकी अनुपस्थितिमें शिवजी स्वयं नंग-धडङ्ग तथा विष्णुको सुन्दर औरत बनाकर साथमें ले गये। ऋषियोंकी औरतें नंगी हो, कामातुर हो शिवजीसे जा लिपटीं, और ऋषियोंके युवक लड़के कामार्त होकर स्त्रीरूप-धारी विष्णुसे जा भिड़े। इस व्यभिचारको देखकर ऋषियोंने शाप देकर शिवको लिंगहीन कर दिया। क्या शिव-विष्णुका यह चरित्र धर्मानुकूल था? पर-नारियोंके भ्रष्टकर्ता ऐसे देवताओंकी पूजाका विधान क्यों किया गया है? भक्त लोग इससे क्या सीखेंगे?। ११।

उत्तर-यह कथा शिवपुराण धर्मसंहितामें स्पष्ट है। वहां लिखा है-'द्रष्टुं स्त्रीणां च दौःशील्यं साध्वीनां च तथा धृतिम्। कौतूहलाद् ययौ गौरी देवदारुवनं शनैः' (१०। १०६)। कोटि-रुद्रसंहितामें लिखा है-'विरूपं च समास्थाय परीक्षार्थं समागतः' (१२। ६) इससे सिद्ध होता है कि-शिव वहांकी स्त्रियोंकी दुःशीलता वा अधीरता अथवा सुशीलता और धीरता आदिकी परीक्षार्थ पार्वती आदिके साथ दिगम्बररूपमें गये। परीक्षाकेलिए कई अरुचिकर वा विरुद्ध बातें भी करनी पड़ती हैं, जैसे कि-बुद्ध-जातकमें बोधिसत्त्वका गुरु अपने छात्रोंकी परीक्षार्थ अपनी निर्धनता दिखलाकर उन्हें एकान्तमें लोगोंसे धन छीननेकेलिए प्रेरित करता था। पर वह परीक्षा थी, न कि वास्तविकता। शिवके मनमें उस गुरुकी भान्ति कुछ भी विकार नहीं था। यदि उनके मनमें कुछ भी विकार होता, तो वे पार्वती वा विष्णु आदिको साथ लेकर न जाते। छोटे बच्चोंमें विकार नहीं होता, वे नङ्ग-

घड़ङ्ग होकर स्त्रियोंमें भी घूमा करते हैं। आज भी जैन-साधु नङ्गे होकर स्त्री-समाजमें जाते हैं, स्त्रियां उनकी परिक्रमा कर रही होती हैं। कुम्भोंमें नङ्गे साधुओंकी सवारी आगे होती है। पुरुषोंमें जब विकार उत्पन्न होता जाता है, तब वे अपने अङ्गों-को कपड़ोंसे छिपाने लग जाते हैं। लज्जा भी विकार—समयमें उत्पन्न होती है। यदि महादेवमें भी नग्नावस्थामें उन स्त्रियों-को देखकर कुछ विकार होता, तब तो वे कथंचित् दोषी ठह-राये जा सकते; पर उनमें कुछ भी विकार न हुआ 'विकारहेता-वपि विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः' (कुमार-सम्भव १।६९) इस उक्तिसे वे धीर सिद्ध हुए। प्रतिपक्षी भी पुराणके वचनसे यह सिद्ध नहीं कर सका कि—उनने मुनिपत्नियोंके साथ क्या कुकृत्य किया? कई स्त्रियां उनके दिगम्बर होनेसे विच-लित हो गईं हों; तब इससे उन स्त्रियोंकी अधीरता तो व्यक्त हो सकती है, श्रीमहादेवकी नहीं। नङ्गा व्यक्ति सुन्दर न लग-कर बीभत्स लगता है। स्त्रियाँ नङ्गेकी ओर दृष्टि डालती नहीं, वहांसे दृष्टि हटा लेती हैं। तब उससे विचलित होने वाली प्रति-पक्षियोंकी बुद्धि तो पतित मानी जा सकती है; उसमें शान्त रहनेवाले शिव वा विष्णु पर दोष देनेमें प्रतिपक्षीकी अपनी बुद्धिका ही अपराध है। वस्तुतत्त्वसे अनभिज्ञ, क्रोधान्ध मुनियों-के ताड़नेमें भी शिव शान्त रहे। शिवने तो प्रतिपक्षीके इष्ट लिङ्गका प्रयोग किया ही नहीं; तब मुनियोंको कामी अपने लड़कों वा स्त्रियोंके अंग काटने चाहियें थे; पर वैसा न करके उन्होंने विरुद्ध आचरण किया; और प्रतिपक्षीने भी शिवद्रोही होनेसे ना-समझीसे उस काण्डका समर्थन कर दिया। वह बताये कि—शिवने यहां क्या दुश्चेष्टा की? वे तो संयमी बने रहे। क्या प्रतिपक्षी उनका कुछ भी असंयम किसीभी शब्दसे सिद्ध कर

सकता है? तब शिवपर व्यर्थका दोष लगाता हुआ वह दोषी है; किसी कविने ठीक ही कहा है—'न चात्रातीव दोषदृष्टिपरं मनः। दोषो ह्यविद्यमानोपि तच्चित्तानां प्रकाशते' कूर्मपुराणमें 'प्रवृत्तिविन्यस्तचेतसामपि शूलभृत्। व्याख्या... सदा दोषं ययौ दारुवनं हरः' (३७।४) ययौ निवृत्ति-विज्ञा... स्थापनार्थं च शङ्करः' (५) शिवका प्रवृत्तिमार्ग वालों... दोष तथा निवृत्ति-मार्ग वालोंकी निर्विकारता दिखा... केलिए दारुवनमें जाना कहा है। 'आलिलिङ्गुः... चाऽन्याः; करं धृत्वा तथापराः। परस्परं तु संघर्षात् संमग्नाः स्त्रियस्तदा' (१२।१३) इसमें स्त्रियोंकी बहुत भीड़ जानेसे उनका परस्पर संघर्ष और उसी अनिवार्यतासे ए... दूसरेका हाथ पकड़ स्वाभाविक आलिङ्गन हुआ, यह बता... गया है। यहांपर परस्पर-आलिङ्गनसे उनका दूषित होना... बताया भी नहीं गया। ऋषियोंको क्रोध शिवके नंगे हों... हुआ, जिससे स्त्रियां घरका पर्दा छोड़कर बाहर आनेसे दू... मानी गईं—'विरुद्धं तं च ते दृष्ट्वा दुःखिताः क्रोधमूर्च्छिताः (... इसका यदि 'विरुद्ध कामको देखकर वे दुःखी हुए' यह प्रति... सम्मत अर्थ होता, तो यहां 'तच्च' इस प्रकार नपुंसकलिंग हो... 'तं च' यह पुंलिंग न होता। नग्नतासे शिवकी यहां विरु... बताई गई है। इस कारण वहां लिखा है—'यदा च नोक्त... किञ्चित् सोऽवधूतो दिगम्बरः' (१६) 'त्वया विरुद्धं क्रियते... मार्ग-विलोपि यत्' (१७) यहां भी उनका नंगा होना ही... विरुद्ध बताया जा रहा है, क्योंकि शिव तो अचल एवं स्थिर ... उन्होंने स्त्रियोंसे कुछ भी धर्मविरुद्ध व्यवहार नहीं किया।

'वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च। तासु तेष्वप्य... सक्तः साक्षाद् भर्गो नराकृतिः' इससे भर्ग (महादेव)की कान्...

में अनासक्ति बताई गई है। अरुन्धती इस काण्डमें विचलित नहीं हुई। शिव-द्वारा की जाती हुई दोनों प्रकारकी स्त्रियोंकी परीक्षा समाप्त हो गई। जब तक प्रतिपक्षी इस काण्डमें स्त्रियों-को देखकर शिवकी वा उनके साथी विष्णुकी विकारवत्ता तथा गन्दा मानसिक भाव न सिद्ध कर दे; तब तक उनपर विचलित होती हुई एवं उनपर दोष लगाती हुई प्रतिपक्षीकी बुद्धि ही स्वयं दुष्टा सिद्ध हो गई। इससे तो यह अर्थवाद निकलता है कि—मुनि-पत्नियों तथा मुनि-कुमारोंपर भी चरित्रके विषयमें पूर्ण-विश्वास न कर लो।

अन्तमें पुराणमें कहा गया—'सकामानां मुनीनां तु चापल्यं स्त्रीजनस्य च। पतिव्रतानां धैर्यं तु गृहस्थाश्रमिणां तथा। हास्यं नक्तव्रतानां तु दर्शयित्वा महीतले। सदारः सगणः पश्चात् तत्रै-वान्तर्दधे हरः' (शिव. धर्म. १०। २१३-२१५) यहां बताया गया है कि—जो मुनि कामी थे, उनकी स्त्रियां भी पूर्ण-पतिव्रता नहीं थीं, जो शिवको सुरूप वा दिगम्बर देखकर चञ्चल हो गईं, पर शिव तो नग्न होते हुए भी, विकारयुक्त स्त्रियोंको देखकर भी इन्द्रिय-विकारको प्राप्त न होकर संयमी बने रहे। यदि वे स्त्रियोंको भ्रष्ट करने जाते; तो शिवके साथ उनके गण भी तो थे ही, तो जिन मुनियोंने उन्हें पीटा था, वे अपने गणोंद्वारा उनको भी सीधा करा सकते थे; अपने गणोंके द्वारा उनकी स्त्रियों को भी भ्रष्ट करा सकते थे; पर वे तो केवल परीक्षार्थ गये थे, उनका स्त्रियोंको भ्रष्ट करनेका कुछ विचार था भी नहीं। ऐसा तो सदा प्रतिपक्षीका अपना ही विचार रहा करता है।

जो स्त्रियां विचलित हो गईं, वे पूर्ण पतिव्रता नहीं थीं। जिन्होंने वस्तुस्थिति न समझकर शिवपर हँसी की; वे नक्त-व्रतों (राक्षसों) जैसे थे। जिन स्त्रियोंने धैर्य नहीं खोया, वे पूर्ण पति-

व्रता थीं। यही महादेवजीने दिखलाना था। दिखलाकर वे अन्त-र्हित हो गये। तब उनपर हँसी करते हुए प्रतिपक्षी इनमें किस कोटि में आगये, यह उन्होंने स्वयं ही समझ लिया होगया। मुनियोंने अपराधिनी भी अपनी कामिनियों वा लड़कोंको शाप नहीं दिया, और निरपराध शिवको शाप दे दिया, उससे उनकी नासमझी भी प्रकट हो गई; वस्तुस्थिति समझनेपर उन्हीं मुनियोंने अपनी करनीपर खिन्न होकर उन्हीं शिवकी स्तुति तथा पूजा की। इस उपसंहारसे महादेवका स्तुतियोग्यत्व तथा धीरत्व सिद्ध होता है, निन्द्यत्व नहीं। निन्द्यत्व उन असमीक्ष्यकारी-मुनियों-का तथा शिवद्रोही विपक्षीका सिद्ध होता है।

इससे भक्त लोग 'विकारहेतुमें भी धैर्य तथा कामदमन एवं स्त्रियोंको दृढ पातिव्रत्य एवं आवरण-प्रथाका पाठ पढ़ाना, यह आचरण सीख सकते हैं। दिगम्बरता प्रकृतिके अनुकूल है, हां, दिगम्बर रहनेवाला महान् एवं अधिकारी होना चाहिये; तभी तो मुनिलोगोंको अन्ततः उन्हीं दिगम्बरके चरणोंमें आकर गिरना पड़ा। यदि प्रतिपक्षीके अनुसार यहां शिवमें विकार होता तो विकारीकी हड्डी-पसली तकका पता न चलता। लिंग वहां ज्यो-तिर्लिंग था, साधारण इन्द्रिय नहीं। तभी तो वह जल उठा। उसने बहुत हानि की। प्रतिपक्षी की इन्द्रिय कटनेपर भी क्या वैसा कुछ कर सकती है?' अतः स्पष्ट है कि—शिव मनुष्य न होकर महान् देव थे। देव (दिव्य) होनेसे उनके सभी अंग दिव्य थे। पूजामें प्रयुज्यमान लिंग यदि शिवका उपस्थ होता; तो कहीं 'शिव-शिश्न, शिवेन्द्रिय वा शिवोपस्थ' कहा जाता। अथवा कहा भी जावे; तब भी महान् देव शिवके अंग दिव्य होनेसे वहां प्राकृतता न होनेसे लज्जाकी कोई बात नहीं। जगत्को 'ब्रह्मा-ण्ड' कहा जाता है। 'अण्ड' का अर्थ होता है—'अण्डकोष'। ब्रह्मा-

अण्ड। तब क्या वादी इस भुवनको ब्रह्माका मानुषी 'अण्डकोष' समझ लेगा?' वस्तुतः प्रतिपक्षी इन्हीं लौकिक-अशुद्ध वस्तुओंके ध्यानमें मग्न होकर रहने वाला है, अतः देवताओंके दिव्य-अंगों में भी प्राकृतताकी भावना करनेवाला होनेसे अवश्य ही शोचनीय है। यदि 'शिवलिंग' में उसे 'लिंग' शब्द उद्वेजक मालूम होता है, तो वह 'भगिनी' 'भगवती' 'भगवान्' आदि शब्दोंमें 'भग' शब्दको भी उद्वेजक समझ लेगा। 'ब्रह्माण्ड' शब्दमें 'अण्ड' शब्दको भी। तब क्या उसका यह उद्वेग ठीक है? यदि नहीं; तब 'शिवलिंग' तथा 'भग' में भी उसे दिव्यता समझकर उद्वेग नहीं करना चाहिये; जब ऐसा है तब वैसा सोचने वाली प्रतिपक्षीकी बुद्धि ही विकारिणी है। शिव परनारियोंके भ्रंशक नहीं थे। विकार-हेतु सामने होनेपर भी उसमें अविकारी रहने वाला अवश्य ही पूज्य है।११।

इन्द्र आदि देवता।

(२१) प्रश्न—देवीभाग. (४।१३)में बृहस्पति, इन्द्र, चन्द्र, ब्रह्मा आदि सभी देवताओं वा मुनियोंको मिथ्यावादी, कामी, क्रोधी, लोभी, रागी, पापकर्मी तथा परनारीलम्पट एवं छलदक्ष घोषित किया है। यही लक्षण राक्षसोंके होते हैं। तब पौराणिक देवताओं और राक्षसोंमें किन बातोंमें समानता तथा किन गुणोंमें विरोध है? ।१२।

उ०—प्रतिपक्षी आक्षेप तो कर दिया करता है, पर वह शास्त्रीय वा व्यावहारिक शैलीसे अनभिज्ञ मालूम होता है। यह एक प्रकार है कि—किसीको किसीसे बढ़ाना हो, तब अपने इष्टदेवके अतिरिक्त शेष सबकी निन्दा कर दी जाती है। इसलिए प्रसिद्ध है—'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु विधेयं स्तोतुम्'। उक्त पुराण देवीका स्तावक है; तब देवीके अतिरिक्त

अन्य देवोंकी उसमें निन्दा हो, यह स्वाभाविक है।

श्रीबाणभट्टसे जब उनके बन्धुओंने श्रीहर्षराजाका चरित सुनानेकेलिए कहा; तब उसने भी पहले यही तरीका शुरू किया। 'द्विजानां राजा गुरुदारग्रहणमकार्षीत्। पुरूरवा ब्राह्मणधनतृष्णया दयितेन आयुषा व्ययुज्यत' इत्यादि प्रघट्टकसे अन्य राजाओं की निन्दा करनी शुरू की। इसमें अन्य राजाओंकी निन्दा तात्पर्यविषय न होकर अपने राजाकी स्तुति तात्पर्य-विषय हो जाती है। इस प्रकार पुराणोंमें भी समझ लेना चाहिये।

यह पुराण देवीका है, इसमें देवीको बड़ा बनाना था; तब शेष देवताओंका छोटा बनाना अनिवार्य ही है। देवगुरु बृहस्पति ने शुक्राचार्यका वेष बनाकर मायावी-दैत्योंसे माया की थी। यह बात 'व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं, भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः (किरातार्जु. १।३०) 'आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः' (नैषध. ५।१०३) 'मायाभिः...मायिनं वृत्रमर्दयः' (ऋ. १। १४७।२) इस वैदिक तथा लौकिक राजनीतिके अनुकूल थी। प्रतिपक्षी भी इस नीतिसे सहमत होगा ही। आर्यसमाजके अनुसन्धाता श्रीभगवद्दत्तजीने लाहौरमें अपने एक मुद्रित निबन्ध में इस वैदिक-राजनीतिका समर्थन किया था; तब यहां राजा जनमेजयका यह पूर्वपक्ष ही था कि—'किं कृतं गुरुणा पश्चात् भृगुरूपेण वर्तता। छलेनैव हि दैत्यानां पौरोहित्येन धीमता' (देवी. ४।१३।१) गुरुः...कथं स छलकृन्मतिः' (२) कः सत्य-वक्ता संसारे भविष्यति (४) शब्द-प्रमाणमुच्छेदं शिष्टाचारगतं न किम्? छलकर्मप्रवृत्ते वाऽविगीतत्वं गुरोः कथम् (६) यह पूर्वप्रक्ष होनेसे सिद्धान्त नहीं; नहीं तो प्रतिपक्षी स्वा० द० लिखित नियोगके पूर्वपक्षानुसार नियोगको 'पाप वा व्यभिचार' मानना पड़ेगा। पर वहां पूर्वपक्ष होनेसे प्रति

इसे सिद्धान्त नहीं मानता। यहां यदि पूर्वपक्षको सिद्धान्त मानता है, तो वह जनवञ्चक सिद्ध हुआ। सो यह और कुछ नहीं; देवीको बड़ा करनेका अर्थवाद है।

उसमें जो राजाने कहा है—'देवाः सत्त्वसमुद्भूता राजसा मानवाः स्मृताः। तिर्यञ्चस्तामसाः प्रोक्ताः' (७) सो सत्त्वगुण आदिके साथ अन्य रजोगुण-तमोगुण भी न्यूनाधिकतासे रहा करते हैं। केवल एक गुण क्रियाशील नहीं होता है। भगवद्गीतामें कहा है—'रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत! रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा' (१४। १०) 'न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः' (१८। ४०)। इसके अतिरिक्त देवता भोगयोनि होते हैं, वे स्वर्गमें सुखभोग भोगने जाते हैं। सो जनमेजयकी की हुई देवनिन्दा जहां पूर्वपक्ष है; वहां देवीको बड़ा करवानेका अर्थवाद भी है। जनमेजयके पूर्वपक्षके उत्तरमें व्यासजीने कहा था—'देहवान् कः परित्यक्तुमीशो भवति तान् पुनः' (२१) अर्थात् कौन प्राणी गुणोंको छोड़ सकता है। 'किं विष्णुः किं शिवो रागी ब्रह्मापि रागसंयुतः' (१४) इसमें बताया गया कि—देहधारण करनेवाला कोई भी हो; रागको नहीं छोड़ सकता। तब क्या सभी देहधारी प्रतिपक्षीके मतानुसार राक्षस हो जाएंगे? मुनि भी राक्षस हो जाएंगे? प्रतिपक्षीका ऋषि तथा स्वयं प्रतिपक्षी भी देहवान् होनेसे रागी होनेके कारण क्या अपनेको राक्षस माननेको तैयार है? यदि नहीं; और यहां वैसा मानता है; तो प्रतिपक्षी जनवञ्चक हुआ।

सो देवता भी रागवान् हैं, यह कहकर व्यासजी अन्तिम निष्कर्ष देवीका बड़े होनेमें ही बताते हैं—'तस्मात् सर्वप्रयत्नेन हित्वा संसार-सारताम् (३५) आराधयेन्महेशानीं सच्चिदानन्दरूपिणीम्'। तन्मायागुणतश्छन्नं जगदेतच्चराचरम्' (३६) हित्वा सर्वं ततः सर्वैः संसेव्या भुवनेश्वरी' (४२) सो प्रतिपक्षी यदि अन्य देवताओंको उक्त वचनसे रागी समझता है, तो फिर देवीभागवतके इस वचनके अनुसार देवीकी उपासना शुरू कर दे, हम उसे कब मनाही करते हैं? वह स्वा० द० की संस्कारविधि (पृ० २१३) में लिखे देवीके 'ओं भद्रकाल्यै नमः' इस मन्त्रका जाप शुरू कर दे। यदि वह देवीको भी उक्त वचनानुसार उपास्य स्वीकृत नहीं करता, तब स्पष्ट है कि—वह केवल खण्डनरसिक है; किसी भी बातको नहीं मानता; अतः वैतण्डिक है, जनवञ्चक है।

भी देवताओंको कामसे छूटा हुआ, नहीं मानता। देखिये—'कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः। ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महान्, तस्मै ते काम! नम इत्कृणोमि' (अथर्व. ९। २। १९)। 'स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम्' (देवानाम्) (अथर्व. ४। ३४। २) यहां देवताओंकी बहुत सी स्त्रियां बताई गई हैं। 'उशन्ति घा ते अमृतासः' (ऋ. १०।१०।३) अमृतासः—देवाः, त्यजसं—त्यागयोग्यं स्त्रीजातम् उशन्ति-कामयन्ते' यह कामयुक्ता देवता यमी यम को, देवताओंका कामित्व बता रही है। तब यहां वेदविरुद्धता तो न हुई। 'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्' (गीता. ३। ३७) यहां काम-क्रोधकी रजोगुण वालोंमें सत्ता मानी गई है। 'दिव्येयमादिसृष्टिस्तु रजोगुणसमुद्भवा' (४। ३७) मत्स्य-पुराणके इस पद्यमें देवसृष्टिको रजोगुणयुक्त कहा है: 'गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये। तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः' (मनु. १२।४७) सो उनमें काम-क्रोध असंभव नहीं। देववर्णक वेदोंके कुछ संकेत देखिये—'जारमिन्द्रम्' (ऋ. १०। ४२। २) यहां इन्द्रको जार कहा गया है। इसोका

संकेत 'उशन्ति घा ते अमृतास एतद् एकस्य चित् त्यजसं' (ऋ. १०।१०।३) इत्यादि पूर्वोक्त-मन्त्रमें दिया गया है। इसकी स्पष्टता शाठ्यायनि-ब्राह्मण ऋग्वेद (१।५१।१३ मन्त्रके भाष्यमें उद्धृत)में देखनी चाहिये। ब्रह्माकी कथाका संकेत 'प्रजापतिः स्वां दुहितरमधिष्कन्' (ऋ. १०।६१।७)में देखना चाहिये! चन्द्रमाका कामित्व—'तेन जायाम् अन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन(चन्द्रेण)नीताम्' (अथर्व. ५।१७।५)में देख लीजिये। जो वेदमें अर्थ होगा, वही पुराणमें भी। यह हमने स्थालीपुलाक-न्याय से लिखा है। विस्तार अन्यत्र देखिये। जो तात्पर्य इन कथाओंका वेदोंमें है, वही पुराणोंमें समझ लेना चाहिये, क्योंकि पुराणोंमें देव-चरित्र एतदादिक मन्त्रोंकी व्याख्या हैं। वे (देवता) भोग-योनि तथा हमारी अपेक्षा योनिकी उच्चता होनेसे बड़े हैं, अतः पूजनीय हैं। पिता, माता, गुरु, आदिमें कोई दोष भी हो, तथापि वे हमसे पूजनीय एवं बड़े ही माने जाते हैं। स्वा. द. देहवान् होनेसे क्या दोषोंसे रहित थे? यदि दोषवान् थे; तब क्या आप लोग उनकी पूज्यता नहीं मानते? 'यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वया उपास्यानि, नो इतराणि (तैत्ति. उ. १।११।२) यह गुरुओंका आदेश होता है। हमें उनके सुचरित्रों (लोकोपयुक्त-चरित्रों)का अवलम्बन करना चाहिये, कुचरित्रों (लोक-विरुद्ध चरित्रों) का नहीं। उनमें विशेष-तेज होनेसे उन कर्मोंसे उनकी हानि नहीं होती; पर हमारी हो जाती है। इसलिए आपस्तम्ब-धर्मसूत्रमें कहा है—'दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च पूर्वेषाम्। तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते। तद् अन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदति अवरः' (२।१३।७-८-९)। वे भोगयोनि हैं, और हम कर्मयोनि। दोनों की फलाफल-व्यवस्था कभी समान नहीं हो सकती। उक्त बातें केवल राक्षसोंमें नहीं, जैसा

कि प्रतिपक्षीने लिखा है—मनुष्योंमें भी होती हैं। अपवाद-रूप अथवा भोगयोनि होनेसे देवताओंमें भी हो सकती हैं। १२।

शिवलिंगपूजापर आक्षेप।

(२२) प्रश्न—शिवलिंग शिवकी मूत्रेन्द्रिय एवं जलहरी पार्वती (?) के गुप्ताङ्गकी प्रतिमूर्ति है। (देखो—भविष्य. प्रतिसर्ग ४।१७ में अनसूयासे व्यभिचार-चेष्टा, शिवको लिंगपूजाका शाप, शिव. कोटि. १२ अ. दारुवनमें शिवलिंग कटनेसे लिंगपूजा का प्रारम्भ, महा० अनुशा० १४ अ०, १६१ अ०, शिव० विन्ध्ये. सं० १६। १०४-१०५-१०८, शब्दकल्पद्रुम ४ र्थ काण्ड 'शिव' सतीके रमणसे रजवीर्यका पतन, उससे शिवलिङ्गोंकी पैदायश पद्म० उत्तरखं० अ० २५५ भृगुका शाप-शिवका स्वरूप योनि-लिंगका होना। तब प्रश्न है कि—शिवजीके सर, धड़ या पैरोंको छोड़कर उनकी मूत्रेन्द्रियको शिवलिंग एवं जलहरीको पार्वती के गुप्तांगकी नकल बनाकर पूजनेका विधान क्यों जारी किया गया है? क्या शिवजी केवल लिंगके ही आकारके थे, जो उन्हें इस रूपमें पूजा जाता है?। १३।

उत्तर—शिवका लिंग क्या था, इसकेलिए प्रतिपक्षीके तर्कों वा अनुमानोंका वह मूल्य नहीं हो सकता, जो कि शिवपुराणके अपने साक्षात् कथनका। 'मीमांसादर्शन'में 'श्रुति-लिंग-समाख्या (३।३।१४) सूत्रमें लिंग (ज्ञापक) की अपेक्षा श्रुतिको ही अधिक प्रमाण माना जाता है। तद्विषयक श्रुतिके न मिलनेसे ही लिंगकी बात प्रमाण मानी जाती है, तब हम इस विषयमें प्रतिपक्षीके लिंगोंका आदर कैसे करें, जब कि तद्विषयक तात्पर्यके मूलश्रुतिरूप शिवपुराणके वचनसे शिवलिंगका अर्थ हो जाता है। अब शिवपुराणको शिवलिंगसे क्या इष्ट है—

देखना चाहिये ।

शिवतत्त्वज्ञ उपमन्युसे श्रीकृष्णजीने प्रश्न किया–'किमिदं लिंगमाख्यातं कथं लिंगी महेश्वरः। कथं च लिंगभावोस्य कस्मादस्मिन् शिवोर्च्यते' (शिवमहा० वायवीयसं० उत्तर ३४ । ६) अर्थात् शिवलिंग क्या है, उसमें शिवकी पूजा क्यों होती है ?। इसके उत्तरमें कहा गया है–'अव्यक्तं लिंगमाख्यातं त्रिगुणप्रभवाप्ययम् । अनाद्यनन्तं विश्वस्य यदुपादानकारणम्' (३४ । ७) तदेव मूलप्रकृतिर्माया च गगनात्मिका । तत एव समुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम्' (८) यहां शिवलिंगको जगत्का कारण, गुणोंकी उत्पत्ति और लयका स्थान, अव्यक्त, आदि–अन्तरहित और संसारका उपादान-कारण मूलप्रकृति, माया, चराचरका उत्पादक माना गया है ।

'भूतानि चेन्द्रियैर्जाता लीयन्तेऽत्र शिवाज्ञया । अत एव शिवो लिंगी लिंगमाज्ञापयेत् ततः' (१०) उसी लिंगमें भूत एवं इन्द्रियोंकी उत्पत्ति और फिर उसीमें लीनता मानी गई है । 'यतो हि तदनाज्ञातं कार्याय प्रभवेत् स्वतः । ततो जातस्य विश्वस्य तत्रैव विलयो यतः' (११) अनेन लिंगता तस्य भवेन्नान्येन केनचित् । लिङ्गं च शिवयोर्देहः ताभ्यां यस्मादधिष्ठितम्' (१२) अतस्तत्र शिवः साम्बो नित्यमेव समर्च्यते । लिंगवेदी महादेवी लिंगं साक्षान्महेश्वरः (१३) इससे स्पष्ट है कि–लिंग महादेवकी ही साक्षात् मूर्ति है । उसका अन्त ब्रह्मा-विष्णु भी न पा सके (३४ । ४३)।

जब ब्रह्मा-विष्णु 'मैं बड़ा, मैं बड़ा' कह रहे थे, उस समय शिवलिंग प्रकट हुआ–'मध्ये समाविरभवद् लिंगमैश्वरमद्भुतम् । ज्वालामालासहस्राढ्यम् अप्रमेयमनौपमम्' (३४ । ३३) क्षयवृद्धिविनिर्मुक्तमादिमध्यान्तवर्जितम् (३४) सो आदि-मध्य-अन्तवर्जित ज्वालामालासहस्राढ्य इस लिंगको जिसका संकेत मनु-

स्मृतिके 'तदण्डमभवद् हैमं सहस्रांशुसम-प्रभम्' (मनु. १ । ९) में मिलता है; क्या साधारण पुरुषकी मूत्रेन्द्रिय कहा जा सकता है ? उसकी प्रतिपक्षीको लिंग-योनि आकृति जो दीखती है, वह वास्तवमें प्रणव-रूपा उसकी मूर्ति है (ॐ) । इसी ॐ आकृतिमें उसे भग-लिंगकी आकृति दीखती है, ॐ की आदि वा वामपार्श्वमें प्रतिपक्षीको भगकी आकृति तथा दक्षिण पार्श्वमें लिंगकी आकृति मालूम पड़ सकती है । 'ॐ' ही सृष्टिका भी उत्पादक है । तब ॐकी पूजा करने वाले आप लोग भी क्या भग-लिंगकी पूजा करते हैं ? अथवा शिवकी ॐकारात्मक मूर्तिके पूजक आप लोग भी शिवलिंग-पूजक सिद्ध हो गये । प्रतिपक्षी प्रश्न करेगा, कि–शिव-लिंगकी मूर्ति ॐकी मूर्ति है–इसमें शिवपुराणका क्या प्रमाण है, वह उसे कान खड़े करके सुने–'अथाविरभवत् तत्र (शिवलिंगे) सनादं शब्दलक्षणम् । ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म ब्रह्मणः प्रतिपादकम्' (३५ । १) इसी प्रकार ३-४-५ पद्योंमें इसकी स्पष्टता की है । तब शिवपुराणमें शिवलिंगका अर्थ इसीके अनुकूल मानना पड़ेगा । अपने तर्कोंसे नहीं । नहीं तो 'अर्धजरतीय' न्याय उपस्थित हो जायगा । 'विभक्तेपि तदा तस्मिन् प्रणवे प्रणवाक्षरे (५) लिङ्गेपि मुद्रितं सर्वं यथा वेदैरुदाहृतम्' (५४) यहां लिंग में "ॐ" मुद्रित है, यह बताया गया है । 'ॐकारं चैव यल्लिङ्गं' (कोटिरुद्र-संहिता १८ । २२) 'तदेव लिङ्गं प्रथमं प्रणवं (ॐकाररूपम्) सार्वकामिकम् । सूक्ष्मप्रणवरूपं हि' (विद्येश्वर सं. ८ । २७) ।

अब प्रतिपक्षीने स्पष्ट देख लिया होगा कि–जिस शिवपुराणसे वह शिवलिंगको मूत्रेन्द्रिय सिद्ध करना चाहता था, उसी पुराणने उसके सारे परिश्रमपर पानी फेर रखा है । जैसे निरक्षरको अक्षर काले चींटे दीखते हैं, इस प्रकार पुराणरहस्यान-

भिन्न तथा लिंग-योनिमें मग्न रहनेवाले प्रतिपक्षियोंको भी इसमें केवल लौकिक मूत्रेन्द्रिय ही दीखती है। मन्दिरमें जो शिवलिंग-की मूर्ति होती है, वह भी अण्डाकार तो होती है, मूत्रेन्द्रियके आकारकी नहीं होती। परन्तु पता नहीं—प्रतिपक्षीको मूत्रेन्द्रिय कैसे मालूम पड़ती है? इस प्रेमका कारण वही जानता होगा। 'वत्स! वत्स! विधे! विष्णो! मायया मम मोहितौ (३५। ७१) एवं निवारितावद्य लिंगाविर्भावलीलया। (७४) तो क्या ब्रह्मा-विष्णुका झगड़ा शिवजीकी तथा-कथित मूत्रेन्द्रिय देखकर ही शान्त हो गया? यदि ऐसा होता; तो वे भी आपसमें झगड़ना छोड़कर इस उपहाससे शिवपर ही डण्डे बरसाने शुरू न कर देते?। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया; बल्कि 'ततः प्रभृति शक्राद्याः सर्वं एव सुरासुराः। ऋषयश्च नरा नागा नार्यश्चापि विधानतः। लिंग-प्रतिष्ठां कुर्वन्ति लिंगे तं पूजयन्ति च' (३५। ८५) 'सर्वो लिंगमयो लोकः सर्वं लिंगे प्रतिष्ठितम्। तस्मात् प्रतिष्ठिते लिंगे भवेत् सर्वं प्रतिष्ठितम्' (३४।२) इससे सिद्ध होता है कि—लिंग शिवजीकी ही एक विशाल एवं संक्षिप्त प्रतिमूर्ति थी। अनाद्यनन्तमिदं स्तम्भमणुमात्रं भविष्यति' (विद्ये. सं. ६। १६) भोगावहमिदं लिंगं भुक्तिमुक्त्येकसाधनम्' (२०) तब क्या लौकिक मूत्रेन्द्रिय मुक्तिका साधन बन सकती है? जिस पुस्तकपर आक्षेप किया जाता है, व्यवस्था भी उसीकी माननी पड़ती है। मूत्रेन्द्रियका यहां कोई प्रसङ्ग नहीं। उस लिंगको स्तम्भरूप बताया गया है। यदि वह गुप्त अंगोंका चित्र होता; तो स्त्री गुप्त-अंगमें पुरुषका गुप्त अंग जहां रखा जाना चाहिये, वहां उसी प्रकार होता; वैसा न होने से स्पष्ट है कि—यह गुप्तांगोंका चित्र नहीं।

लिंगकी ही पूजा क्यों होती है, यह प्रतिपक्षीका प्रश्न है

यदि वह दीर्घैकदृष्टि न बने, तो वह इसका उत्तर शिवपुराणसे प्राप्त कर सकता है। देखे वह विद्येश्वर-संहितामें—'शिवेन ब्रह्मरूपित्वान्निष्कलः परिकीर्तितः। रूपित्वात् सकलस्तद्वत् तस्मात् सकल-निष्कलः' (५। ११) निष्कलत्वान्निराकारं लिंगं तस्य समागतम्। सकलत्वात् तथा बेरं साकारं तस्य संगतम् (१२) सकलाकलरूपत्वाद् ब्रह्मशब्दाभिधः परः। अतो लिंगे च बेरे च नित्यमभ्यर्च्यते जनैः' (१३) अब्रह्मत्वात् तदन्येषां निष्कलत्वं नहि क्वचित्। तस्मात् ते निष्कले लिंगे नाराध्यन्ते सुरेश्वराः।' (१३) अब्रह्मत्वाच्च जीवत्वात् तथान्ये देवतागणाः' (१४) प्रतिपक्षीने अब कारण समझ लिया होगा। यहां पूजामें लिंगकी मूत्रेन्द्रियकी हेतुताका गन्ध भी नहीं। स्तम्भरूपसे लिंगका वर्णन किया गया है। सभी स्थान समान ही अर्थ समझना पड़ेगा।

वह संक्षिप्त लिंग वैश्यनाथावतारमें महादेवने महानन्दा-वेश्याको संभाल कर रख देनेकेलिए दिया था। उसीको महादेव सर्वत्र अपने साथ रखते थे। तो क्या वह कटी हुई उपस्थेन्द्रिय थी शिवने महानन्दाको रखनेकेलिए दी थी, जिसे उसने अलग बनाकर स्तम्भपर रख दिया? उसीके महादेवकी मायाद्वारा जलनेसे महादेवने जलनेकी तैयारी कर ली थी। देखिये वह पद्य 'लिङ्गं रत्नमयं तस्या हस्ते दत्त्वेदमब्रवीत्' (शिव. शतरुद्रसं. २६। २७) इदं रत्नमयं लिङ्गं शैवं मत्प्राणवल्लभम्। रक्षणीयं त्वया कान्ते! गोपनीयं प्रयत्नतः' (२५) स्तम्भेन सह निर्दग्धं तल्लिंग शकलीकृतम्' (३५) दृष्ट्वा ह्यात्मसमं लिंगं दग्धं वैश्यपतिस्तदा। ज्ञात्वा तद्भावमन्तः-स्थं मरणाय मतिं दधे' (३६) तब क्या वे अपनी मूत्रेन्द्रिय काटकर ले गये थे? कुछ तो प्रतिपक्षीको अपना दिमाग भी रखना चाहिये।

प्रतिपक्षीने अपने 'शिवलिंगपूजारहस्य' ६१ पृष्ठमें इस कथाका निर्देश करते हुए भी यह बात छिपा दी, उसका निर्देश तक भी नहीं किया। इस प्रकार श्रीकुशवाहाने अपने 'शिवलिंगपूजा-पर्यालोचन'में महानन्दाकी कथा ही नहीं दी, इसलिए कि–इससे उनके लिंगके मूत्रेन्द्रिय अर्थ सिद्ध करनेके भारी प्रयासपर पानी फिरता है। वह लिंग जिसे उस वेश्याने एक स्तम्भपर रख दिया दिया था; यदि वह शिवकी मूत्रेन्द्रिय ही थी; तो प्रतिपक्षीके अनुसार शिवने वेश्यासे व्यभिचार किस वस्तुसे किया? अत: स्पष्ट है कि–लिंग शिवका अंग न होकर वह शिवकी एक बिशेष मूर्ति थी। 'सर्वाण्यंगानि सन्त्यज्य तस्माल्लिगं प्रपूज्यते' इस प्रतिपक्षियोंसे उद्धृत वचनसे मालूम होता है कि–शिवलिग अंग नहीं।

(ख) जो कि प्रतिपक्षी अनसूयाकी कथ से अपनी बात सिद्ध करते हैं कि–'लिंगहस्तः स्वयं रुद्रो विष्णुस्तद्रसदर्धनः। ब्रह्मा कामब्रह्मलोपः स्थितस्तस्या वशं गत:' (भविष्य. प्रति ४। १७। ७१) यहां भी वैश्यनाथावतारकी भांति ज्योतिर्मय–लिंगकी बात थी। यह कहना कि–'शिर और पैरोंके सहयोगसे लिंगभी शरीरके अंग मूत्रेन्द्रियका ही नाम है' (शिवलिंग-पूजापर्यालोचन. पृ. २१) अज्ञान ही है। यदि शिव अनसूयाको अनुरक्त करनेकेलिए मूत्रेन्द्रिय हाथमें लिये हुए थे, तो उन्हें यह शाप कैसे दिया गया कि–तुम्हारी मूत्रेन्द्रियकी पूजा होगी; यह वर था या शाप? मैथुनकेलिए ब्रह्मा, विष्णु, महेशका जो उद्योग था, वह प्रतिपक्षीके अनुसार तीनोंका मूत्रेन्द्रियसे ही होगा; तो शेष देवताओंकी मूत्रेन्द्रियको अनसूयाने शाप क्यों न दिया? क्या ब्रह्मा-शिर-अँगसे मैथुन करना चाहते थे? विष्णु चरण-अँगसे अनसूयासे मैथुन करना चाहते थे कि–पूजार्थ उस अँगको शाप दिया गया?

यह है प्रतिपक्षियोंकी सङ्कुचित बुद्धिका नमूना, जिसमें उपस्थित-विषय नहीं समा सका। अत: यहां अँगोंकी संगति न होनेसे महादेवके हाथका लिंग उन्हींकी पूर्व-वर्णित, सदा हाथमें रहने वाली मूर्तिका संक्षिप्त-रूप था, जिससे वे तेजस्वी थे–यह सिद्ध हो गया। (ग) दारुवनमें भी वही था, उसीके गिरनेका शाप मिला। शिवमायामोहित मुनि यह समझे थे कि–यह कोई जादू है, जिससे हमारी स्त्रियां महादेवमें आकृष्ट हो रही हैं। अत: उसके गिरनेका शाप दिया। प्रतिपक्षीका 'शिवलिंगका कटना' यह 'कटना' शब्द दारुवनकी कथामें नहीं। 'ततस्त्वदीयं तल्लिगं पततां पृथिवीतले' (कोटिरुद्रसं० १२। १७) इत्युक्ते तु तदा तैश्च लिंगं च पतितं क्षणात्' (१८) यहां मूर्तिविशेष-लिंगका पृथिवी पर गिर जाना तो कहा है, कटना नहीं। वह ज्योतिर्लिंग होनेसे पृथिवीपर उसके गिरने से आग लगगई, जैसे कि–बादलकी बिजलीके पृथिवीपर गिरनेसे आग लग जाती है।

मूत्रेन्द्रियका यहां कोई प्रसङ्ग वा संघटन ही नहीं। नहीं तो, यदि ऋषियोंने शिवकी अपराधी-मूत्रेन्द्रियको शाप देकर गिरा दिया, फिर शिवजीका पता लग जाने पर उसी अपराधी-मूत्रेन्द्रियकी भला ऋषियोंने पूजा कैसे की? उसी लिंगको 'शान्तो भव महेशान!' (कोटिरुद्र. १२। ४१) कैसे कहा? क्या महादेव लिंग ही था? इससे स्पष्ट है कि–वह महादेवकी दूसरी मूर्ति थी। ज्वालामालासहस्राढ्य होनेसे वह ज्योतिर्लिंग था। तभी तो इधर-उधर आक्रमण करके उसने आग लगा दी (१२। १९)। यदि वह कटी हुई मूत्रेन्द्रिय होती; तो उसे फेंक दिया जाता। पार्वतीको योनिरूपा होनेकी आवश्यकता नहीं थी। सो जब वहां पार्वती योनिरूपा तथा महादेव लिंगरूप हैं; तब कोई भ्रमकी बात नहीं।

श्रीकुशवाहाका 'शिवलिंग-पूजा-पर्यालोचन' (पृ. २१)में 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः' यह मन्त्र देकर शङ्करका कर्म वेद-विरुद्ध बताना व्यर्थ है। यह निषेध कर्मयोनि-मनुष्ययोनिके लिए है, भोग योनि पशु एवं देवयोनि तथा लोकोत्तर व्यक्ति इसकी सीमामें नहीं आते। 'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः'। कर्मयोनि तथा भोगयोनिकी मर्यादाएँ समान नहीं होतीं। शिवजीने मुनिपत्नियोंसे कुछ भी अश्लील आचरण नहीं किया। वे स्वयं यदि अधीर हो गईं; तो इसमें शिवका क्या दोष? अनसूयासे भी व्यभिचार नहीं किया गया। त्रिदेव पति-पत्नीकी परीक्षार्थ गये थे। पतिकी परीक्षा कर चुके। कई लोभ दिखानेपर भी वे नहीं ललचाये। अब पत्नीकी परीक्षा करनी थी। स्त्रीकी सबसे बड़ी परीक्षा होती है —उसके पातिव्रत्यकी परीक्षा। पातिव्रत्यपरीक्षार्थ कामचेष्टा अनिवार्य होती है। परीक्षामें वह पास तो हो गई, पर अधूरी। यदि वह क्रोध भी न करती; तो फर्स्ट-डिवोज़नमें रहती। इस विषयमें पूर्व लिखा जा चुका है।'

अस्तु। शिवलिंग शिवजीकी ज्योतिर्मय ब्रह्माण्डकी रचना है। स्वा.द. ने स. प्र.में लिखा है—'परमात्माकी रचनाविशेष लिङ्ग देखके परमात्माका प्रत्यक्ष होता है' (१२ समु० पृ० २६६) सो शिवलिङ्ग शिवपरमात्माकी रचना ब्रह्माण्ड है, उसकी पूजासे ब्रह्माण्डमय (लिङ्गरूप) महादेवकी पूजा होती है। स्वा०द०जीने स०प्र०३ समु० पृ० ३४ में लिखा है—'जिसमें प्रवेश और निकलना होता है, वह आकाशका लिङ्ग है;' तब आकाशरूप शिवके प्रवेशन-निष्क्रमण वाले लिंगको क्या 'प्रतिपक्षी मूत्रेन्द्रिय मानेगा? 'प्रथमलिंगग्रहणं च' (अष्टा० वा० १।४।३) में भी वह पहले मूत्रेन्द्रिय-ग्रहणको ही वेदांग-सम्मत समझेगा? यदि यहां पारिभाषिक लिंग है, तो शिवपुराणमें भी पारिभाषिक लिंग है,

जिसकी परिभाषा हम शिवपुराण, लिंगपुराण आदिसे [illegible] चुके हैं।

'दुर्गासप्तशती'के प्राधानिक-रहस्यमें देवीकेलिए लिखा है 'नागं लिङ्गं च योनिं च बिभ्रती नृप! मूर्धनि' (५) वह [illegible] पर लिंग तथा योनिको धारण किये हुए थी। तब क्या प्रति[पक्षी] 'देवी माथेमें दोनों मूत्रेन्द्रियोंको धारण किये हुए थी' यह अर्थ मानेगा?। 'तस्मै देवता उभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव' (निरु० [illegible] ९।१) में शाकपूणिको स्त्री-पुरुष दोनोंकी मूत्रेन्द्रिय धा[रण] करनेवाली देवता दिखाई दी—यह असम्भव अर्थ समझेगा! वेदमें आदिशक्ति स्वयं कहती है—'मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः स[मुद्रे]' (ऋ० १०।१२५।७) उस आदिशक्तिकी मूत्रेन्द्रियको [illegible] प्रतिपक्षी इतनी बड़ी मानेगा? इसीका ही तो अनुवाद पुरा[णों में] है। 'तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः' (यजुः वा० सं० ३१।[१९]; कृ० य० तै० आ० ३।१३।२) क्या यहां प्रतिपक्षी परमात्मा की मूत्रेन्द्रियका धीरों द्वारा देखना मानता है?

'प्रकृतिस्त्वं पुमान् रुद्रस्त्वयि वीर्यं समाहितम्।' (लिंग। ९६।४०) 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत!' (१४।३) सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद् योनिः, अहं बीजप्रदः पिता' (४) यहां प्रकृतिको योनि बताया गया है। भगवान्‌को वीर्याधानकर्ता एवं योनिमें गर्भाधानकर्ता बताया गया है। [illegible] उस वीर्याधानकर्ताका लिंग भी तो होगा। तब भगवान्‌के लिं[ग], योनि, वीर्यका वर्णन देखकर क्या प्रतिपक्षी प्राकृत लिंग, प्राकृत योनि, और प्राकृत वीर्य, प्राकृत उत्पत्ति आदि समझेगा? [यदि] नहीं, तब शब्दकल्पद्रुम-कोषमें उद्धृत शिव-सतीका रमण [तथा] उनके बीजका पतन तथा उनसे शिवलिंगोंकी उत्पत्तिका [illegible]

तो यही दिव्यता वाला अर्थ एवं तात्पर्य है। यह प्रकृति-पुरुषका रमण है। यह पुराणमें सूचित होने पर भी प्रतिपक्षी उसकी ओरसे आंखको क्यों मून्द लेता है ?। वहां लिखा है कि–दोनों के गिरे हुए तेजसे शिवलिंग प्रादुर्भूत हुए; तो क्या शुक्र-शोणित पुरुष-स्त्री न बनकर केवल लिंग-योनि ही बनते हैं ? स्पष्ट है कि यह गौरी-शङ्करके ही प्रतीक-विशेष हैं। देहलीकी बसोंके सिगनलको खड़ा करनेपर भी प्रतिपक्षी शायद मूत्रेन्द्रिय का खड़ा करना समझकर उसकी भी निन्दा करेगा। फलशकी टट्टीको भी स्त्रीका अंग समझ लेगा ? लीची-फलका छिलका उतारनेपर उसे अण्डा समझ लेगा ? कटे हुए तरबूजको रक्त-मिश्रित मांस समझ लेगा। 'ॐ' में भी यही 'भग-लिंगकी-सो आकृति दीखती है; तब 'ॐ'का उपासक प्रतिपक्षी भी भग-लिंग का उपासक सिद्ध हुआ। यदि ऐसा नहीं; तब शिवलिंगमें भी ऐसा नहीं।

अथवा दुर्जनतोषन्यायसे यह शिव-शक्तिके भग-लिंगकी पूजा भी मानी जाय; जिससे प्रतिपक्षीको आनन्द आ जाता है; तब भी कोई क्षति नहीं। सारा संसार ही भग-लिंग-पूजक है। जो किसी मनुष्यका आदर करता है, वह उस मनुष्यके मूलजनक अंगोंका ही परम्परासे पूजन करता है। उन्हीं दो अंगोंकी प्राप्ति केलिए ही बड़े-बड़े बाजे-गाजे बजते हैं, गैसके हण्डे जलते हैं, प्रसन्नताके नृत्य होते हैं, एतदर्थ बड़े-बड़े खर्च तथा भीड़-भड़क्के किये जाते हैं ? उन्हींकी उपासना सृष्टिकी प्रवर्धक है। क्या प्रतिपक्षी यह उपासना नहीं करते ? उन्होंने तो इसी उपासना केलिए नियोगका आविष्कार भी कर रखा है। प्रतिपक्षी लोग अम्बाशङ्कर तथा उसकी पत्नीके भग-लिंगोंका ही पूजन-सम्मान किया करते हैं, उन्हींसे अवतीर्ण मूर्तिका नाम उन्होंने मूलशङ्कर

वा दयानन्द रख दिया है। वह लिंगोंका मूर्ति है। भक्त उसी दयानन्दके लिंग स.प्र.की पूजा वा कथा करते हैं, उसकी कई प्रकारकी मूर्तियां मुद्रित कराते हैं। उन्हींके सम्प्रदायके भक्त होनेसे वे तद्विरुद्ध हम लोगोंको गालियां दिया करते हैं। उस अ-पवित्र अंगसे उद्भूत मूर्तिकी पूजा (सत्कार)में वे नहीं शर्माते। 'इमं ते उपस्थं मधुना सँसृजामि, प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम्' सं. वि. विवाह-प्रकरणकी आदिमें दिये इस मन्त्रके अनुसार वादी उपस्थकी मधुसे पूजा भी करते होंगे ही। तब वेद-पुराणानुसार जगत्के माता-पिता अम्बा-एवं शङ्करके लिंगोंके पूजनमें वे क्यों शर्माते हैं?' शङ्करके भक्तोंको वे क्यों पानी पी-पीकर कोसते हैं?

अथवा यह समझिये कि–परमात्मा सृष्टि बनाता है। सृष्टि किससे होगी ?! वह भग-लिंगसे ही तो होगी। बिना भग-लिंगके सृष्टिनियमविरुद्ध कैसे होगी ?। स्वा. द.ने लिखा है कि–परमात्मा भी सृष्टिनियमके विरुद्ध नहीं कर सकता। 'क्या सर्वशक्तिमान् वह कहाता है, जो असम्भव बातको भी कर सके ? ••• ···जो स्वाभाविक नियम हैं, ······उनको विपरीत गुणवाले ईश्वर भी नहीं कर सकता' (स. प्र. ८ पृ० १३३)। अतः प्रतिपक्षियोंको भी उसका सृष्टिक्रमानुकूल लिङ्ग मानना ही होगा। वह परमात्मा ही असली शिव है, जिसे शिवमूर्तिपूजाके बाद स्वा. द. ढूंढने गये थे। प्रकृति वहां भगाङ्का मूर्ति है, और शिव-लिंगाङ्का मूर्ति; दोनोंके संयोगसे सृष्टि होती है। प्रतिपक्षी लोग सृष्टि-कर्ता होनेसे उसी कल्याणकारी शिव-शङ्कर नामवाले (शिवलिङ्ग-पूजा-पर्यालोचन पृ. ४) परमात्माकी पूजा करते हैं। यह हुई पिताकी पूजा। उस जगन्माता प्रकृतिकी पूजामें तो वे दिन-रात रहते ही हैं। तब यह वही शिव-शक्तिकी भग-लिङ्गकी पूजा स्वतः निष्पन्न हो जायगी। आशा है–इस मी-

मांसासे प्रतिपक्षी अपनो भूल सुधार लेंगे। दूसरोंपर आक्षेप न कर-के पहले वे अपने घरको देख लेंगे, और दूरदर्शिता अपनाएँगे।१३।'

पिताकी लालाटिक अस्थि।

(२३) प्रश्न—पद्मपुराणके सृष्टि-खण्डके (अध्याय १०) में बताया गया है-मृतकश्राद्धमें अपने मरे बाप-दादाके सरकी हड्डी पीसकर दूधके साथ श्राद्धभोजी पण्डितजीको प्रेमके साथ पिलावे। चिकित्साचक्रवर्ती-ग्रन्थ (पृ.१७२) में लिखा है कि— सरकी हड्डी दूधसे पिलानेसे स्त्रीको गर्भाधान हो जाता है। तब क्या पण्डितजीको हड्डी पिलानेका उद्देश्य भी गर्भाधान कराना है? क्या यह सम्भव भी है?।१४।

उत्तर—प्रतिपक्षोको यह पद्य इष्ट प्रतीत होता है-'अस्थि लालाटिकं गृह्य सूक्ष्मं कृत्वा विमिश्रयेत्। पाययेद् द्विजदाम्पत्यं पितृभक्त्या समन्वितः' (१०।१५)। इस विषयमें प्रतिपक्षीको जानना चाहिये कि-कई प्रतियोंमें यह पाठ नहीं है। मत्स्यपुराण-के ५ वें अध्यायसे २५ तकके अध्याय पद्मपुराण सृष्टिखण्ड छठे अध्यायसे हूबहू मिलते हैं। पाद्मका १० वां अध्याय मात्स्यके १८ वें अध्यायसे मिलता है, किन्तु 'अस्थि लालाटिकं' आदि १४ से २० तकके पाद्मके पद्य मत्स्यपुराणमें बिल्कुल नहीं मिलते। आनन्दाश्रमके छः पाठभेदोंमें भी किसीमें नहीं हैं। मोर तथा वेङ्कटेश्वरके संस्करणमें भी मत्स्यमें नहीं हैं, बङ्गवासीमें भी नहीं हैं।' फिर मत्स्य. १८। १४ पद्यसे पाद्मके सृ० १०।२१ के उत्तरार्धसे पद्योंका ज्यों का त्यों मेल है। इससे स्पष्ट प्रतीत होरहा है कि—अस्थि वाले पाद्मके पद्य सार्वत्रिक नहीं, किन्तु एकदेशी हैं। अतः अनुवर्तव्य नहीं। पद्मपुराणमें भी इस विधिकी निन्दा ही की है। तब उसपर प्रतिपक्षीका प्रश्न ही व्यर्थ हैं। फिर भी हम उस-का रहस्य बताते हैं:—

मृत्यु हो जाने पर मृतकके उद्देश्यसे अचारज (प्रेतका ग्रहण करने वाले ब्राह्मण) द्वारा दशगात्र कराये जाते हैं; मृतकके लोकान्तरमें दिव्य अंग बनते हैं; वा अङ्गोंकी उसे प्राप्त होती है। सो यहां ललाटास्थिका भाव भी ललाट वाले उस पिण्डसे है। पिण्डका निर्वाप हो जानेपर शीर्षस्था पिण्डका ब्राह्मणको खिलानेका स्मृतियों तथा गृह्यसूत्रोंके मेधसूत्रोंमें भी वर्णन आता है। उसमें प्रसिद्ध मनुस्मृति लोजिये-'एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डान् तान् तदनन्तरम्। गां, मजमग्निं वा प्राशयेद् अप्सु वा क्षिपेत्' (३।२६०)। ललाट मुखका भाव है; तो उस मुखवाले पिण्डको मुखजको खिला लिखा है। मुखज हैं ब्राह्मण, अग्नि और अज। देखिये-'ब्रा णोस्य मुखमासीत्' (यजुः ३१।११) यहां ब्राह्मणकी मु उत्पत्ति बताई है। एतदर्थ 'आलोक'का ४ र्थ और छठा देखिये।'मुखादग्निरजायत' (यजुः ३१।१२) यहां मुखसे अ की उत्पत्ति बताई गई है। अब मुखसे ब्राह्मण, अग्नि, अज की उत्पत्ति देखिये कृष्ण-यजुर्वेदमें— 'स (प्रजापतिः) मु त्रिवृतं निरमिमीत। तमग्निर्देवताऽन्वसृजत, गायत्री छन्दो, रथन्तरं साम, ब्राह्मणो मनुष्याणाम्, अजः पशूनाम्। तस्मात् ते मुख्या मुखतो हि असृज्यन्त' (तै० सं० ७।१।१।४)।

जिस प्रकार मृतककी अस्थियोंको उसकी सद्गत्यर्थ ग तीर्थमें डाला जाता है, वैसे ही पितृसद्गत्यर्थ यह भी विधि है, जिसे प्रेतके उद्धारक, प्रेतदानोपजीवी अचारज-ब्राह्म लिया करते हैं। वे तो चिताकी अग्निपर तैयार किये मृतकके द्रव्यसे बनाये हुए हलवेको भी खा लिया करते हैं। सो यहां पिण्डको भी उसी ब्राह्मणको खिलाना हो सकता है। अथवा प्रमाणोंसे ब्राह्मणस्थानापन्न अग्निमें उस पिण्डको डाला

है। वेदमें अग्निको भी द्विज कहा है..'अयं स होता यो द्विजन्मा' (ऋसं० १।१४९।५) यहांपर अग्नि देवता है। मनुस्मृतिमें भी देखिये— 'अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणौ एवोपपादयेत्। (एवं विप्राभावे अग्नौ) यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते' (मनुस्मृति अध्याय ३ श्लोक २१२)। कहीं सूक्ष्मीकृत अस्थि भी अभिप्रेत हो सकती है। कई विशेष विधियां अशुद्ध होनेपर भी विशेष उद्देश्य होनेसे गृहीत हो जाती हैं; जैसे कि सुना जाता है, आजकल खाण्डकी मल हटानेकेलिए तथा उसकी सुफेदीके लिए शोधनार्थ तथा डाल्डा आदि वनस्पति-तेलोंके जमानेकेलिए फासफोरस वा अस्थिका उपयोग हुआ करता है। यह जानकर भी जनता उसे सह जाती है। इस प्रकार यहां पितृशोधन-सम्बन्धी कोई विधि भी हो सकती है, उसे प्रेतदानो-पजीवी ब्राह्मण गृहीत करते हैं, अन्य सात्त्विक नहीं। वस्तुतः यहां ललाटास्थिसे ललाटका पिण्डही उद्दिष्ट है; जो मृतककी सद्गत्यर्थ अभिप्रेत है।

यदि कहीं उसका फल गर्भाधान लिखा है; जैसे कि प्रति-पक्षीने बताया है; वहां यह एक चिकित्साविशेष समझनी चाहिये। पिण्डमें चावल, घृत, दुग्ध, मधु, तुलसीदल आदि भी होते हैं। उस पिण्डको मधुपर्क तथा दूध-दहीमें सूक्ष्म करके द्विजदम्पतीको पिलाना लिखा है, केवल ब्राह्मण-पुरुषको नहीं; जैसा कि प्रतिपक्षीने आक्षेप किया है। देखिये वहां का पाठ— 'सूतकान्ते द्वितीयेऽह्नि शय्यां दद्याद् विलक्षणाम्' (१०।१२) यहां शय्यादान देना लिखा है। 'प्रपूज्य द्विजदाम्पत्यं नानाभरण-भूषि-तम्। उपवेश्य तु शय्यायां मधुपर्कं ततो ददेत्' (१०।१३) यहां पर उन द्विजदम्पतीको शय्यापर बैठाना तथा उनको चान्दी-के पात्रमें मधुपर्क देना लिखा है—'रजतस्य तु पात्रेण दधिदुग्ध-

समन्वितम्। अस्थि लालाटिकं गृह्य सूक्ष्मं कृत्वा विमिश्रयेत्। पाययेद् द्विजदाम्पत्यं पितृभक्त्या समन्वितः (१५) यह वही पद्य है। वह शय्या आदि प्रायः अचारज-ब्राह्मण (प्रेतदान लेने वाले) लेते हैं, वा दूसरे भी लेते हैं; तो शुद्ध्यर्थ गङ्गा-स्नान वा उसकी भावना, वा गंगाजलसे अपनी शुद्धि, वा 'गंगा गंगेति यो ब्रूयात्' गंगास्मरणसे शुद्धि करते हैं। सो उन्हीं अचारज-दम्पती को वह पिण्ड अथवा ललाटास्थि पिलानी लिखी है, पर यह प्रेतोद्देश्यक होनेसे अशुद्ध कर्म होता है; और एकदेशी होता है। अतः उसीके आगे यह पद्य लिखा है, जिसे प्रतिपक्षीने छिपा दिया है—'एष एव विधिर्दृष्टः पर्वतीयैर्द्विजोत्तमैः। तेन दुष्टा तु सा शय्या न ग्राह्या द्विजसत्तमैः' (१०।१६) अर्थात् इस ललाटा-स्थि आदिकी अशुद्धताके कारण—जिसका केवल पर्वतीय-ब्राह्मणोंमें रिवाज है, वह शय्या सात्त्विक ब्राह्मणश्रेष्ठको नहीं लेनी चाहिये। इसीलिए अचारज-ब्राह्मण लेते हैं। इसके आगे-के १७-१८-१९ पद्योंमें भी इसकी बड़ी निन्दा की गई है; तो जब यह कर्म सर्वसाधारण नहीं, और इस कर्मको मनाही की है; तब प्रतिपक्षीका आक्षेप व्यर्थ है। उसने आगे-पीछेके पद्य छिपा दिये है, जो उनकी गुरुपरम्परा चल रही है। तब आक्षेप कैसा ?।

जो कि उस ललाटास्थिके चूर्णसे कहीं गर्भाधान लिखा हो, वहां भी एक वैज्ञानिक-चिकित्सा समझनी चाहिये। वहां पूर्व कथनानुसार वही पिण्डका खिलाना इष्ट है, उससे स्त्रीको गर्भ हो जाता है। आगे जो प्रतिपक्षीने ब्राह्मणके गर्भाधानमें उपहास किया है, उससे उसकी अपनी आंखोंमें मोतिया-बिन्द मालूम पड़ता है। पुराणके उस वचनमें तो लिखा है—'पाययेद् द्विजदा-म्पत्यं' (१०।१५) अर्थात् पति-पत्नीको पिलावे। सो यह आयुर्वेदा-

नुसार कोई उपचार है। दोनों पति-पत्नीके पीनेसे पतिका फिर वही अंश पत्नीमें प्राप्त होनेसे और पत्नीमें भी वह अंश पहले से ही भीतर होनेसे उसे गर्भ हो जाए, यह असम्भव नहीं है।

मनुस्मृतिमें भी मध्यम-पिण्ड खानेसे स्त्रीको गर्भ होना लिखा है, देखिये-(३।२६२-२६३)। इस पर प्रतिपक्षीके सम्प्रदायके बड़े पण्डित स्व. श्रीरघुनन्दनशर्माने अपनी विशाल-पुस्तक 'वैदिक-सम्पत्ति'में इसकी वैज्ञानिकता बताते हुए मृतकश्राद्धमें पुत्रेष्टि-यज्ञकी विधिको प्रविष्ट हुआ माना है। सारा उद्धरण तो प्रतिपक्षी 'वैदिक-सम्पत्ति' (३७१-३७२ पृ.) में देख ले, अथवा 'आलोक'के पञ्चम-पुष्प (६८२-६८३ पृ.)में देखे। थोड़ा सा उसका उद्धरण हम यहां भी देते हैं। प्रतिपक्षी ध्यान से उसे देखे।

"मनुष्य पुत्र उत्पन्न करके ही पितृऋणसे उऋण होता है, इसलिए पुत्रकाम मनुष्य पितृपिण्ड-यज्ञके द्वारा अपने पितरोंको हविष्यान्नमें आकर्षित करके वह हवि स्त्रीको खानेकेलिए देवे। ...चान्द्र पदार्थोंको एकत्रित करनेसे चान्द्रवीर्य भी आकर्षित होता है। चान्द्र-वीर्यमें ही जीव [पितर] रहते हैं, इसलिए उन पदार्थों-में खिच आते हैं, जो चन्द्राकर्षणकेलिए विधिसे एकत्रित किये जाते हैं। वे पदार्थ दूध, घृत, चावल, मधु, तिल, रजतपात्र, कुश और जल हैं।...विधि-पूर्वक क्रिया तो पितृश्राद्धके समय होती है।...यह सब सामग्री उसी प्रकारका यन्त्र बन जाती है, जिस प्रकार चन्द्रमणि। इसीमें पितर खिचकर आते हैं-(अथर्व. १८।४।६३) और हविः-पिण्ड सूंघने अथवा खानेसे वीर्य और गर्भमें आते हैं।...इस प्रकार पुत्रेष्टियज्ञकी क्रियां पितृ-पिण्ड-श्राद्धके अन्दर घुसी हुई पाई जाती है"।

अब प्रतिपक्षी आर्यसमाजीको भी यह विद्या अपनी

'डाक्टरी'में शामिल कर लेनी चाहिये, पुत्रकी प्राप्ति हो जावेगी। दूसरोंका उपकार भी हो जावेगा। उसे चाहिये कि-पुराणोंको दोषदृष्टिसे न देखकर उसे गुण-दृष्टिसे देखे और कुछ लाभ उठावे। डाक्टरी-दवाइयोंमें तो समय पर हड्डी पीस कर, मांसका रस निकालकर भी डाला जाता है। जब पुत्रकाम पुरुष डाक्टरी-अपवित्र दवाइयोंको सह लेता है, तब यहां लालाटिक-अस्थिका चूर्ण भी वह सह जायगा। आक्षेप व्यर्थ है। हड्डियों-के चूर्णका खाद खेतोंमें भी डाला जाता है। इससे खेती बढ़ती है। गङ्गामें मृतककी अस्थियां पड़ती हैं, गङ्गाका जल भी खेती-में लाभदायक माना जाता है। वर्तमान-वैज्ञानिक तो इन्हीं अस्थियोंके पड़नेके कारण गङ्गा-जलको स्वच्छ तथा कभी न सूखने वाला मानते हैं; सो इस गर्भकी खेतीमें भी कोई वैज्ञानिक-कारण सम्भव है। प्रतिपक्षी लोग पुराणोंपर आक्षेप करते जाएं; और वैज्ञानिक-लोग इनसे कई प्रकारके लाभ निकालते जाएंगे।

शेष रही हड्डीको अशुद्धता; पर प्रतिपक्षी तो छुआछूत मानते नहीं; तब उसपर आक्षेप कैसे करते हैं? इस पर यह स्मरण रखना चाहिये कि-जिस अशुद्ध भी वस्तुमें कोई वैज्ञानिक-गुण मिल जावे; तो उसमें अशुद्धता नहीं मानी जाती। चर्म अशुद्ध माना जाता है, पर विज्ञानने मृगचर्ममें गुण बताये हैं, अतः उसमें अशुद्धि नहीं माननी पड़ती। उसे वैदिक-संस्कार उपनयनमें ब्रह्मचारी-द्वारा पहना जाता है। वेद भी कहता है- 'कार्ष्णं वसानः' (अथर्व ११।५।६)। स्वा. द.जी. ने अपनी सं. वि. (पृ. ६८)में इसका अर्थ यही किया है-'मृगचर्मादि धारण कर' (वेदारम्भ)। मुनि लोग भी मृगचर्म पहरते थे, उसका आसन बनाना भी लिखा

है; जिसे वादिप्रतिवादिमान्य 'गीता' भी लिखती है-'चैलाऽजिन-कुशोत्तरम्' (६। ११) अजिन मृग-चर्म का नाम है। विष्ठा अशुद्ध मानी जाती है, पर गोबरका उपयोग पञ्चगव्यपानमें होता है। शिलाजीत बन्दरको पुरीष माना जाता है, फिर भी वाजीकरणार्थ लोग उसका प्रयोग करते हैं, खाते हैं। मधुमक्षिकाका वमन मधु आप भी खाते ही होंगे। शङ्ख एक मृतकजीव की हड्डी है। इसमें वैज्ञानिक-गुण पाकर हमारे पूर्वजोंने इसको बजाना आदिष्ट किया है। सनातनधर्मी तो यह मानते ही हैं, आर्यसमाजी भी मानने लग गये हैं। स्वा. द. जीने अपने यजुर्वेद-भाष्यमें (३०। १९) शंख बजाने वालेको उत्पन्न करनेकेलिए कहा है। अब तो कट्टर आर्य-समाजी श्रीशिवपूजनसिंह कुशवाहाने भी 'वैदिकधर्म' (जनवरी १९६१) में 'शंखध्वनिकी वैदिकता' बताई है। शंखभस्म तथा शृङ्गभस्म आदि विशेष दवाइयां भी खानेमें प्रयुक्त होती हैं। उनका खाना वा पीना आदिष्ट किया है। कई डाक्टरी-दवाइयां ऐसी होती हैं, जिनमें विशेष-हड्डियोंके चूर्ण रहते हैं। प्रतिपक्षी वहां अशुद्धता नहीं मानता है। पितृकार्य तो वैसे ही अशुद्ध रहता है। देखिये मनुस्मृति-'सामवेदः स्मृतः पित्र्यः तस्मात् तस्याऽशुचिर्ध्वनिः' (४। १२४) इसी अशुद्धिके होनेसे एकोद्दिष्ट-श्राद्ध खानेपर जबतक उसका गन्ध वा लेप रहता है, तब तक अशुद्धिवश वेदस्वाध्यायका निषेध किया गया है। देखो-मनुस्मृति (४। १११); तब 'न शयानः पतत्यधः' (भाग.) इस न्यायके अनुसार शीर्षास्थि-प्रयोगमें नई अशुद्धता नहीं हो जाती। पितृपूजाका उद्देश्य पूर्ण करके फिर शुद्धयर्थ गंगाजलपान आदि कर लेना पड़ता है। जिसमें मृतककी अस्थियां हल हो जाती है, उस गङ्गाजल को प्रतिपक्षी भी उत्तम मान कर पीते हैं। तब इस पुराण-प्रोक्त वैज्ञानिकतामें आक्षेप करना प्रतिपक्षी

का अपना अज्ञान प्रदर्शित करना है।

अब रहा मृतककी हड्डीके सनातन-धर्ममें पिलानेकी कर्तव्यताका आक्षेप; इस पर यह जानना चाहिये कि-जैसे 'पलपैतृक' कलियुगमें निषिद्ध होनेसे कर्तव्य नहीं होता, वैसे उसीका एक अंश यह लालाटिक-अस्थि पिलाना भी कर्तव्य-कोटिमें नहीं आता। हमने यहां बहुत दृष्टिकोणोंसे प्रतिपक्षीके आक्षेपका समाधान कर दिया है, उसे जो पसन्द हो, उसे वह ग्रहण कर ले। १४।

वेश्याओंका उद्धार।

(२४) प्रश्न-भविष्यपुराण (उत्तर. १११ अ.) तथा पद्म-पुराण सृष्टिखण्ड (अ० २३)में रंडियोंकेलिए कहा है-वे रविवार-के दिन पुराण जानने वाले पण्डितजी को घरपर बुलाकर बिना फीस रतिदान किया करें, तो उनको विष्णुलोककी प्राप्ति होगी। यह रंडियोंका सौभाग्य है कि-सनातनी विद्वान् उनका ध्यान रखते हैं। १५।

उत्तर-इस विषयमें स्पष्टता 'आलोक' के छठे पुष्पमें देखनी चाहिये। वहां तो वेदके जानने वाले पण्डितको बुलाना लिखा है। देखिये पद्मपुराण-'तत आहूय धर्मज्ञं ब्राह्मणं वेदपारगम्' (२३। १९) भविष्यपुराणमें भी (१११। ४२) यही पाठ है। सो प्रतिपक्षी, सनातनियोंको पौराणिक और अपने-आपको वैदिक कहते हैं, सो इसमें तो प्रतिपक्षीके ही पौ-बारह रहे। वस्तुतः वहां 'यद् यद् इच्छति विप्रेन्द्रः तत्तत् कुर्याद् विलासिनी' (१२२) यह कहा है। सो वैदिक-विप्रेन्द्र उसे बुरी बातकेलिए थोड़े कहेगा; वह तो उसे पूजा तथा दान आदि करावेगा, जो वहां लिखा है। यह वहां १४१ पद्य तक देख लेना चाहिये।

यह दान-पूजा आदि उनके उद्धारार्थ है-यह वहां स्पष्ट है।

जैसे एक वैद्यने एक शराबीसे-जो शराब नहीं छोड़ना चाहता था-शराब छुड़वानेकेलिए उसे ३००-४०० गोलियां दीं; उनको क्रम- क्रमसे मद्यपात्रमें डालंकर फिर शराब पीनेका आदेश दिया। उसमें ऊपरसे तो मद्य पीनेका आदेश मालूम होता है; पर वस्तुतः वहाँ उसका मद्य छुड़ाना ही इष्ट है, वैसे यहां पर भी वेश्याको एक वैदिक-विद्वान्की संगतिमें लाकर उसका क्रमसे कुकर्म छुड़ाना समझ लेना चाहिये। १५।

मूर्तिपूजा द्वापरकेलिए (?)

(२५) प्रश्न—भविष्यपुराण (प्रतिसर्ग ३। २२। ११-१२) में मूर्तिपूजाका विधान केवल द्वापर-युगकेलिए ही विहित था। तब कलियुगमें उसे जारी रखना पुराणविरुद्ध होनेसे पापकर्म हुआ; तब आप लोग मूर्तिपूजा क्यों करते हैं? । १६।

उत्तर—पूर्वोत्तर-प्रकरणको छिपा देना, या कुतर देना-यह प्रतिपक्षियोंकी गुरुपरम्परासे प्रकृति चली आई है। वहांके श्लोक यह हैं-'सत्ये तु मानसी पूजा देवानां तृप्तिहेतवे। त्रेतायां वह्निपूजा च यज्ञदानादिका क्रिया। द्वापरे मूर्तिपूजा च देवानां वै प्रियंकरी। कलौ तु दारुणे प्राप्ते ब्रह्मपूजनमुत्तमम्' (१२) यहां पर द्वापरमें मूर्तिपूजा देवताओंको प्यारी है, यह तो कहा गया है। यह नहीं कि-अन्य युगोंमें मूर्तिपूजा आदि नहीं होती; वा उसका पाप है। नहीं तो त्रेता युगमें विहित यज्ञ-दानादि अन्य युगमें पाप हो जाएंगे। फिर यज्ञके एकांश हवनके प्रेमी आप वा अन्य व्यक्ति पापी हो जाएंगे!! कलियुगमें मूर्तिपूजाको वहां पाप नहीं कहा गया है। बल्कि वह त्रेतासे कलिमें भी अनुवृत्त हो रही है। हां, दारुण (कठोर) कलियुग-में ब्रह्मपूजन उत्तम बताया गया है। सो अभी तो कलियुगको १ लाख वर्ष भी नहीं बीते, ५०६२ वर्ष ही बीते हैं। चार लाख

कलि-वर्ष बीत जाने पर शेष ३२००० वर्षोंके अन्तिम भाग-क
हो सकते हैं; तब यदि मूर्तिपूजाका निषेध भी होगा; तो दे
जायगा। अब तो उसके निषेधका कोई अवसर वा शास्त्रनिषेध न
बल्कि-प्रतिपक्षीसे सूचित किये हुए श्लोकके आगे स्वयं पुरा
मूर्तिपूजा आदिष्ट की है. जिसे प्रतिपक्षीने चोरीसे छिपा
है। देखिये—

'शालग्रामः कलौ प्राप्ते देवानां तृप्तये ह्यलम्' (२२।
मुनयो देवताः सर्वास्तथा पितृगणाः प्रिये! सर्वे ते तृप्तिमाया
शालग्रामस्य पूजनात्' (१४) सो शालग्रामकी पूजा मूर्तिपूजा
है, उसे ब्राह्मण-लोग अब भी पूजते ही हैं, श्रीस्वामी शङ्क
चार्यने भी अपने भाष्योंमें यह पूजा बहुत सूचित की है। देखि
'यथा शालग्रामे हरिः।...सर्वगतोपीश्वरः तत्र उपासना
प्रसीदति' (ब्रह्मसूत्र १। २। ७) 'सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उप
ब्ध्यर्थं स्थानविशेषो न विरुध्यते—शालग्राम इव विष्णोः' (
१४) इत्यादि। पर प्रतिपक्षी उसे नहीं पूजते; तब पुराण
उस व्यवस्थाको मानते हुए भी उसके अनुसरण न कर
अपने शब्दोंमें प्रतिपक्षी 'पापकर्मा' हो सकते हैं। उससे बचा
लिए वे शालग्रामकी पूजा प्रारम्भ कर दें।

प्रतिपक्षी अब भी मूर्तिपूजा करते ही हैं। वे हवन करते
अग्निमूर्ति द्वारा वे 'अग्नये, सोमाय, वरुणाय, यमाय, प्रजाप
द्यावापृथिवीभ्यां, आदित्याय, स्वाहा' आदि बोलकर इ
हवि देते हैं। यदि यह उनके मतमें देवताओंके नाम हैं
उन्होंने अग्निमूर्तिके द्वारा उनकी पूजा की। अथवा परमा
नाम हैं, तब भी अग्निमूर्ति-द्वारा होनेसे मूर्तिपूजा की। यदि
तत्त्वोंके नाम हैं; तब भी उनको हवि देकर उनका सम्मान
से—'क्या यह मूर्तिपूजा नहीं है? किसी जड़ पदार्थके सामने

झुकाना वा उसकी पूजा [सम्मान] करना सब मूर्तिपूजा है' (११ समुल्लास पृ. २३०) 'सत्यार्थप्रकाश'के इस वचनके अनुसार मूर्तिपूजा है, तब प्रतिपक्षी मूर्तिपूजकों पर आक्षेप कैसे करता है ?। १६।

भविष्यपुराणमें अंग्रेजीकाल।

(२६) प्रश्न—'ईसा, मूसा, नूह, अकबर, अंग्रेजोंका भारतमें आना आदि इतिहास जब पुराणोंमें भरा हुआ है, तब पुराणोंको महाभारतकालीन व्यासऋषिकृत बताना पाखण्ड नहीं; तो क्या है ? क्या वेदव्यासजी भारतमें अंग्रेजी-शासनमें पैदा हुए थे ?। १७।

उत्तर—यह प्रतिपक्षीने भविष्यपुराण (प्रति. खं. ३ अ. ३ वा खं. ४ अ. १७ वा २२) पर आक्षेप किया है। 'भविष्य' का अर्थ है 'आगे की बात'। श्रीव्यासजी योगी तथा अवतार भी थे, वे 'परिणामत्रयसंयमाद् अतीतानागतज्ञानम्' (१६) 'योग-दर्शन'के विभूतिपादके इस तथा ३। २५-२६ आदि सूत्रोंके अनुसार अतीत, भविष्यत्, अतीन्द्रिय, व्यवहित आदि सभी जानते थे। जितना उन्होंने चाहा; निर्देशार्थ भविष्यत् लिख दिया, क्योंकि—'प्रभुः स्वातन्त्र्यमापन्नो यदिच्छति करोति तत्। पाणिनेर्न नदी गङ्गा यमुना च, स्थली नदी'। इस भविष्यत् लिखनेसे उनकी प्रशंसा हुई या निन्दा ? तब आक्षेप क्यों ?। और फिर श्रीव्यासजीकी अष्टचिरजीवियोंमें गणना है, तब उनपर आक्षेप क्यों ? जो आज का भविष्यत् उसमें नहीं मिलता; उतना भाग पुराणका लुप्त होना भी सम्भव है, क्योंकि—बहुतसे पुराण अभी तक भी पूर्ण नहीं मिले। स्वा० द० ने ऋभाभू० के २१० पृष्ठमें वेदके 'तरु-तारं' मन्त्रमें 'तारयन्त्र' का वर्णन किया है, 'द्वादश प्रधयः' इस मन्त्रका स्वामीने 'हवाई जहाज' (विमान) अर्थ किया है, रेडियो,

टेलीविज़न, टेलीप्रिन्टर आदिका वेदमें आविष्कार स्वामीने नहीं दिखलाया; तब क्या वेद अंग्रेजी जमानेमें लिखे गये, वेदके लेखक रेडियो आदि आविष्कारोंके समय तक जीवित न रह सके ? जो इसमें प्रतिपक्षीका उत्तर होगा, वही हमारा।

इसके अतिरिक्त स्वा०द०जीने स०प्र० (१४ समु० पृ० ३४५)में मुसलमानोंको उत्तर देते हुए कहा है—'पुराणी पुराणोंको खुदाके अवतार व्यासजीका वचन समझते हैं' जब ऐसी बात है, और स्वा.द.ने ऋभाभूमें लिखा है—'ईश्वरो हि त्रीन् कालान् जानाति' (पृ० ७५) तब ईश्वरावतार व्यासजी-द्वारा भविष्यपुराणमें भविष्यका निर्देश असङ्गत न हुआ। बल्कि-इससे प्रतिपक्षीका पक्ष ही कट गया। शेष यह प्रश्न है कि—आजकलका भविष्य उसमें क्यों नहीं, इसपर उत्तर यह है कि—आखिर भविष्यकी भी कुछ सीमा ही होती है। ज्योतिषी लोग भविष्यके ग्रहण लिख डालते हैं; उनमें भी सीमा ही होती है। सो पुराणके वक्ताने जितना आवश्यक समझा, उतना भविष्य लिख डाला। इसमें प्रभुकी इच्छाका पद्य पहले लिखा जा चुका है। उसमें भी देश-काल-भेदसे कुछ भेद सम्भव है। वेद भी 'भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति' (मनु० १२। ९७) इस वचनके अनुसार भविष्यत्का भी सूचक माना जाता है। तब उसमें स्वा०द०के भाष्यके अनुसार 'तार' हवाई-जहाज'का वर्णन मिलता है, रेडियो आदि वर्तमान आविष्कारोंका वर्णन नहीं मिलता, उसमें वसिष्ठ-विश्वामित्र आदि ऋषियोंका तो संकेत मिलता है, पर आजकलके आर्यसमाज-प्रसिद्ध स्वा० दयानन्दका और उनकी प्रसिद्ध-संस्था आर्यसमाजका नाम नहीं आया; तब क्या इससे वेदकी निन्दा हो जावेगी ? वशिष्ठ आदि ऋषियों तक एवं तार, हवाई-जहाज के आविष्कार तक तो वेदोंने बताया, आगे क्यों चुप हो गये ?

दोनों स्थल समान उत्तर होगा । अतः 'अवताररहस्य' में की हुई प्रतिपक्षीकी आपत्तियां कट गईं । १७ ।

देव-चरित्र ।

(२७) प्रश्न—जब ब्रह्मा-विष्णु आदि देवता चरित्रकी दृष्टि से स्वक्ष नहीं, अपनी मनोकामनाकेलिए बड़े युद्ध, यज्ञ व तप करते हैं, तो इनकी पूजा छोड़कर पौराणिकोंको भी क्यों नहीं परमेश्वरका ध्यान करना चाहिये, जो इन देवताओंकी उत्पत्ति पालन व मनोकामनाओंकी पूर्ति करता है ? इन चरित्रहीन देवताओंकी पूजासे भक्त भी क्या वैसे नहीं बनेंगे ? । १८ ।

उत्तर—सनातनधर्मी देवों-द्वारा भगवान्‌का पूजन एतदर्थ करते हैं कि—देवता अंगी भगवान्‌के अंग हैं, और मनुष्यसे उन्नत योनि हैं । देवता भगवान्‌के अंग हैं, इसमें एक वेद मन्त्र देखिये—'यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे । तान् वै त्रयस्त्रिंशद्-देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः' (अथर्व० १० । ७ । २७) तेतीस देवताओंमें एक अग्नि है, अग्निमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि देवता अन्तर्भूत हो जाते हैं, देखिये वेद—'त्वमग्ने ! इन्द्रः······त्वं विष्णुः, त्वं ब्रह्मा, त्वमग्ने रुद्रः' (ऋ॰ २ । १ । ३-६)। अपनी मान्य गीतामें भी प्रतिपक्षी, देवोंको भगवान्‌का अंग होना देखे—'पश्यामि देवान् तव देव ! देहे···ब्रह्माणमीशं (महादेवं) कमलासनस्थं' (११ । १५) 'पश्यादित्यान् वसून् रुद्रान्'(११ । ६) इत्यादि । सो अंगीकी पूजा अंगों-द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है । आपका आत्मा अंगी है, उसकी पूजा किसी अंग द्वारा ही होगी । सो देवता भी भगवान्‌के अंग हैं; और मनुष्यसे उन्नत-योनि हैं; अतः उनकी पूजा भगवान्‌की पूजा होगी । देवयोनि भोगयोनि होती है, मनुष्य कर्मयोनि । देवता तो 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता ९ । २१) अपना फल भोग कर फिर मनुष्यलोकमें आ-

जाते हैं, पर मनुष्य उन्नत हो सकता है । अतः दोनोंकी कर्म-वस्था बराबर नहीं हो सकती; इसीसे चरित्र-व्यवस्था भी सम नहीं होती । गाय पशु होनेसे भोगयोनि है । वह अपने पि चाहे गर्भ ले, वा पुत्र बैलसे, तथापि आप उसकी चरित्र-व्यवस्था की मनुष्यसे तुलना नहीं कर सकते, और इससे उसे अपूज्य नहीं मानते, किन्तु पूज्य ही; इसी प्रकार भोगयोनि-देवताओं भी अपने आक्षेपोंका समाधान समझ लें ।

मनः-कामनाकेलिए वे देवता यज्ञ, तप तथा अन्यदेवकी पू इसलिए करते हैं कि—मनुष्य भी 'यद् यदाचरति श्रेष्ठः तत्त तरो जनः' (गीता ३ । २१) इस न्यायसे उसे सीखें, नहीं तो देवोंकोभी अप्राप्य कुछ नहीं । इसी बातको वादिमान्य देवीभा प्रश्नोत्तररूपसे स्पष्ट किया है । (प्र०) 'ईश्वरेणापि कृष्णेन कुत (शिवाशिवौ) संप्रपूजितौ । न्यूनता वा किमस्त्यत्र तदेवं सं मम' (५ । १ । ५) इसके उत्तरमें व्यासजी कहते हैं—'सत्यमु त्वया राजन् । वासुदेवो जनार्दनः (इस पूजा करनेसे जो कि प्र पक्षी इन्हें ईश्वर नहीं मानता, उसे यहां रगड़ दिया गया है क्षमः सर्वेषु कार्येषु देवानां दैत्यसूदनः' (१२) तथापि मानुषं माश्रितः परमेश्वरः । कृतवान् मानुषान् भावान् वर्णाश्रमस श्रितान्' (१३) । यही बात 'गीता' (३ । २२-२४) तथा महा रतमें भी देखें—'अहमात्मा हि लोकानाँ विश्वेषां पाण्डुनन्द तस्माद् आत्मानमेवाग्रे रुद्रं संपूजयाम्यहम्' (शान्तिपर्व. ३ २३) 'यद्यहं नार्चयेयं वै ईशानं वरदं शिवम् । आत्मानं नार्च कश्चिददिति मे भावितात्मनः' (२४) मया प्रमाणं हि कृत समनुवर्तते' (२५--२८-२९) । इसके विषयमें अधिक 'आलो छठे सुमन (पृ. ५१८-१९) में देखें । तब 'अवताररहस्य' में कृष्णका जो सन्ध्या-तपस्यादिसे प्रतिपक्षीने मनुष्यत्व बताया

वह खण्डित हो गया।

अस्तु! परमात्मा अंगी है, और देवता अंग। अंगीकी पूजा अंगके विना नहीं हो सकती। आपका ही किसीने सम्मान करना हो, तो वह आपके आत्माका न करके आपके किसी अंगका ही करेगा। जो देवताओंके भक्त हैं; वे जानते हैं कि—'न देवचरितं चरेत्'। महाभारतमें कहा है—'कृतानि यानि कर्माणि दैवतैर्मुनिभिस्तथा। न चरेत् तानि धर्मात्मा श्रुत्वा चापि न कुत्सयेत्' (शान्ति. २९१। १७) अतः वे उन अलौकिक आचरणोंको नहीं करते। वे यह जानते हैं कि—'नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः। विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्' (१०। ३३। ३१) ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्। तेषां यत् स्ववचो युक्तं (लोकशास्त्रानुकूलं) बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्' (३२) अर्थात् देवताओंका वचन तो अनुसरणीय होता है, उनका आचरण तो कहीं वा कभी वा कोई ही अनुसरणीय होता है, जो लोकशास्त्रानुकूल हो; सब नहीं। मनुष्ययोनिकेलिए जो अकर्तव्य है, देवताओंकेलिए भी वह अकर्तव्य हो; यह आवश्यक नहीं, क्योंकि—वे भोगयोनि होते हैं। उनकी कर्मयोनिसे कर्तव्याऽकर्तव्यता समान नहीं होती। इस विषयमें स्पष्टता 'पौराणिक-चरित्रालोचन' में है, जो इस पुस्तककी आदिमें आ चुका है। उसमें प्रतिपक्षियोंकी सब शङ्काओंका समाधान आगया है।१८।

अवतारोंका अन्त (?)

(२८) प्रश्न—रामका पैर सरयूमें फिसलनेसे (प्रथम संस्करण), सरयूमें डूबनेसे (द्वितीय संस्करण), कृष्णके पैरमें बहेलियेके बाण मारनेसे, नृसिंहका शंकरद्वारा सर काटे जाकर खाल उतारनेसे प्राणान्त हुआ था। क्या अवतारोंका अन्त इसी प्रकार होता है? जिनका अन्त इस प्रकार होवे, वे भी क्या

अवतार कभी माने जा सकते हैं?। १९।

उत्तर—इस विषयको हम पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं कि कार्यकालके समाप्त होनेपर अवतारके तेजका अवतारीके तेजमें आकृष्ट हो जाना, कहीं मायिक शरीरका त्याग देना, और कहीं सशरीर ही अपने लोकमें चला जाना वर्णित होता है। उसको कहीं लौकिकरूपमें भी वर्णित कर दिया जाता है, उसमें उसका वास्तविक तात्पर्य समझना पड़ता है। उसमें दोषदृष्टि समाधान नहीं कर सकती। उसमें तो सर्वांगीण दृष्टिकोण तथा बहुश्रुतताकी आवश्यकता और समन्वयात्मक ज्ञानदृष्टिकी आवश्यकता होती है। परन्तु प्रतिपक्षीमें दोषदृष्टिमात्र तथा अल्पश्रुतता होनेसे उसे इनमें किसी भी बातकी समझ नहीं आ सकती। मायिक-शरीरके त्याग देनेमें पुराणोंमें ब्रह्माके कई शरीरोंका त्याग कहा है। कई विशेष निमित्त भी होते हैं, जैसे कि वालीका इस जन्ममें व्याध बनकर श्रीकृष्णको बाण मारना, इससे उनकी पांवकी विद्धता तो दिखाई है, मृत्यु नहीं (श्रीमद्भा० ११। ३०। ३३-३९)। वे सशरीर अपने धाममें गये थे। जैसा कि—श्रीमद्भागवतमें—'लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमंगलम्। योगधारणयाग्नेय्याऽदग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्' (११। ३१। ६)। प्रतिपक्षीके ८ वें प्रश्नके उत्तरमें नृसिंह-सम्बन्धी आक्षेपोंका उत्तर हम दे चुके हैं।

शेष है प्रतिपक्षीकी 'रामका पैर सरयूमें फिसलनेसे वा डूबनेसे प्राणान्त होना' उक्ति, यह उसकी अपनी झूठी कल्पना है। कहीं भी ऐसा नहीं लिखा। सबसे अधिक प्रमाण रामचरितके विषयमें वाल्मीकि—रामायण है। उसमें भी श्रीरामका सशरीर अपने लोकमें जाना लिखा है। देखिये—'विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः' (७। ११०। १२) यहां सशरीर रामका वैष्णव

तेजमें प्रवेश करना लिखा है। इससे यह भी सूचित किया गया है कि—श्रीरामका पार्थिव-देह न होकर तेजोमय देह था। इसे रामायणके टीकाकार श्रीनागेश-भट्टने भी रामाभिराम-टीकामें लिखा है--'सशरीरो वैष्णवं तेजो यज्ञज्वालावत् तेजोमयम् श्रौपेन्द्रं विवेश। अनेन तेजोमय एव देहो [रामस्य], मायया मनुष्यदेहादि-भिर्मनुष्यदेहत्वेन गृहीत इति ध्वनितम्' इससे बढ़कर अन्य स्पष्टता क्या हो ?।

दर्शनोंमें देवताओंके आप्य, तैजस, वायव्य शरीर दिखलाये गये हैं' (देखो न्यायदर्शन ३। १। २८, ३। २। ३६) वैशेषिक (८। २। १०-११) प्रशस्तपाद-भाष्य (पृथिवीनिरूपण) आदि। सो नृसिंह आदिके शरीर भी तैजस थे—यही न्यायमुक्तावलीमें भी सूचित किया है। वहां एक तेजका दूसरे अपने स्वाभाविक तेजमें प्रवेशमात्र होता है, शेष वर्णन अर्थवादमात्र होता है। प्राणान्त, पैर फिसलना वा डूबना आदि, यह सब प्रतिपक्षीकी निजो कल्पना है, ऐसा पार्थिव-शरीरोंमें होता है, तैजसोंमें नहीं। क्या यही प्रतिपक्षीका सत्यभाषण है ? क्या यह 'असत्यभाषिणः सर्वे वेदधर्म-विवर्जिताः' (६। ११। ४३) इस देवीभागवतके कहे लक्षणको प्रतिपक्षी अपने ऊपर नहीं घटा रहा ?।

प्रतिपक्षीको रामका पांव फिसलकर सरयूमें डूबनेका यह पद्य इष्ट मालूम होता है—'सरयू-सलिलं रामः पद्भ्यां समुपचक्रमे' (उत्तर. ११०। ७) पर यहां भी पैर फिसलने वा डूबनेका कहीं गन्ध भी नहीं। यहां तो कहा है कि राम पैदल सरयूके जलमें जाने शुरू हुए। रामाभिराममें भी यही लिखा है—'पद्भ्यां समुपचक्रमे गन्तुमिति शेषः'। उसी समय ब्रह्माजीने आकाशवाणी की 'आगच्छ विष्णो! भद्रं ते दिष्टचा प्राप्तोसि राघव (८) प्रविशस्व स्विकां तनुम् (९) कि अपने वैष्णवशरीर-

में प्रवेश करो। उस समय वे 'विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः (१२) सशरीर विष्णुमें, तेजमें यज्ञ-ज्वाला की भांति प्रवेश कर गये, यह हम पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं।

इसमें कोई डूबने आदिका गन्ध भी नहीं है। इससे स्पष्ट हो रहा है कि—प्रतिपक्षी झूठे-तरीकोंका प्रयोग करके पुराण वा इतिहास को किसी न किसी प्रकार बदनाम करना चाहता है। शायद इस बदनाम करनेसे उसे कुछ वृत्ति प्राप्त होती हुई होती है, जिसे वह नहीं छोड़ना चाहता। अतः खोद-खोदकर कोई न कोई दोष ढूंढनेकेलिए पुराणोंके पारायण करता है। यदि उसमें कोई दोष नहीं मिलता; तब वहांका पूर्व छिपाकर असत्य-व्यवहार भी कर दिया करता है-यह पाठकोंने स्वयं अनुभव किया होगा। १९।

रामावतारके कारण।

(२९) प्रश्न—रामावतारके निम्न मुख्य कारण पुराणोंने दिये हैं—'(क) सती वृन्दाका सतीत्व धोखेसे भंग करनेपर उसने विष्णुको शाप दिया (शिव. रुद्रसं. युद्धखं. अ. २३)। (ख) नारदने शाप दिया (रुद्र सं. अ. ४)। (ग) व्यभिचारकी वासनाओंकी पूर्त्यर्थ विष्णु अवतार लेते हैं (धर्मसं. अ. (घ) भृगुके शापके कारण रामावतार हुआ (दे.भा ४। इनसे सिद्ध है कि—रामावतार विष्णुको पापोंमें लगे दण्ड भुगतनेकेलिए हुआ था; उसका उद्देश्य लोककल्याण था। क्या पुराणोंके उक्त प्रमाणोंको गलत करके कोई कर सकता है कि—रामावतार स्वेच्छासे लोककल्याणार्थ हुआ ऐसा माननने वालोंको देवीभागवत (५। १। ४७-५०) बताया है। २०।

उत्तर—यह मुख्य-कारण नहीं हैं, अवान्तर-कारण

मुख्य-कारण यह है कि—रावणने स्त्रियोंका सतीत्व भ्रष्ट करके, मुनियोंको खाकर उनकी हड्डियोंका ढेर करके, अन्य भी कुकर्म करके, लोगोंको रुलाकर (रावयतीति रावणः) दक्षिण-भारतमें बड़ी गड़बड़ी मचा रखी थी; उत्तरभारतमें भी वह कई हानियां कर रहा था। इस प्रकार लोक-लोकान्तरोंमें भी उसने बहुत धर्महानि की। ऋषियोंसे कर-रूप में उनका रक्त लिया करता था। तब 'परित्राणाय साधूनां' (गीता ४।८) आदि अपनी प्रतिज्ञावश लोक-कल्याणार्थ भगवान् अवतीर्ण हुए।

(क) वृन्दाका सतीत्वभङ्ग करना भी **अन्य सतियोंके बचानेके लिए होनेसे लोक-कल्याणार्थ था।** उसका पति स्त्रियोंका सतीत्व नष्ट कर दिया करता था; इससे उनके पति दुर्बल हो जाते थे, उन्हें वह मार दिया करता था। वृन्दा पतिको मधुरतासे प्रिय-सत्य द्वारा इन कुकर्मोंसे हटवा सकती थी, पर वह कुछ नहीं करती थी; **अतः पतिके पापकी वह भी भागीदार हो रही थी।** उसके पतिकी हिम्मत इतनी बढ़ी कि—महादेवके साथ युद्धके समयमें युद्ध अन्योंके जिम्मे लगाकर स्वयं महादेवका रूप धरकर पार्वतीका सतीत्व ध्वस्त करनेके लिए गया। **यह उसने स्वयं ही दूसरेको वैसी शिक्षा दी कि—जो दूसरोंकी स्त्रियोंसे ऐसा व्यवहार करते हैं, उनकी अपनी स्त्रियां भी सुरक्षित नहीं रह सकतीं।**

फलतः यहां विष्णुका पाप नहीं था; क्योंकि विष्णुकी अपनी कोई मनः—कामना नहीं थी। 'मनः-कृतं कृतं राम! न शरीरकृतं कृतम्। येनैवालिंगिता कान्ता तेनेवालिंगिता सुता'। पार्वतीकी आज्ञा पूरी करनी थी, तथा अन्य स्त्रियोंकी रक्षा, और उससे उनके पतियोंकी रक्षा; **इसमें लोककल्याणका उद्देश्य था।** इससे वृन्दाका पतिव्रत्य भी जगत्प्रसिद्ध करना था। शापसे पत्थर बननेपर भी पूजा पाई। यह शाप न होकर वरदान था। स्त्री-

वियोगमें भी बन्दरोंकी सहायताका शाप-स्वरूप वर प्राप्त हुआ; क्योंकि यहां स्वकामनात्मक पाप नहीं था। अन्य भी कोई पापमूलक कारण नहीं थे। इसमें हम पूर्व लिख चुके हैं। अतः प्रतिपक्षी बलात् पाप बतानेपर उतारू है क्योंकि—वह देवद्रोही तथा दैत्योंका सहवर्गी अपनेको बनानेमें शायद गौरव समझता है।

(ख) नारदका शाप भी भगवान्की इच्छासे ही भक्तोंके उद्धारार्थ हुआ था। जैसेकि—'तन्मुखाद् दापयाञ्चक्रे शापं मे स महेश्वरः। **'भक्तोद्धारपरायणः'** (रुद्र सं सृष्टि. ४।४०-४१)। शापका फल तो विष्णुलोकमें भी पूरा हो सकता था; तथापि शापादिमें 'गच्छ अधस्ताद् मर्त्यलोकम्' इत्यादि जो कहा जाता था कि—तुम वहां स्त्रीके विरहमें दुःखी होगे, इत्यादि; उसमें लोक-कल्याण ही मुख्य कारण था। सीताके विरहके शापसे रामके द्वारा कितना लोककल्याण हुआ—यह तो विश्वविश्रुत ही है। यदि प्रतिपक्षी को न दीखे; तो इसमें किसका दोष?! श्रीमद्भागवतमें लिखा है—'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशि(र) क्षणं, **रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।** कुतोऽन्यथा स्याद् रमतः स्व आत्मनि, सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य' (५।१९।५) सो राक्षसोंका बध उससे जनरक्षण तथा शिक्षण यह अवतारका कार्य होता है। इसमें कोई पाप भी नहीं था. नारदकी वैराग्यवृत्ति इससे बढ़ी, नहीं तो स्त्री-संसक्तिमें वह भी लोककल्याण न कर सकता, यह सब पुराणोंमें स्पष्ट है।

(ग) यह आक्षेप तो प्रतिपक्षीका गलत ही है, **रामरूपमें विष्णुने अपनी कोई अतृप्त-वासना पूरी नहीं की। बल्कि—स्त्रीवियोगमें अपना अन्य विवाह तक नहीं किया,** जब कि यज्ञमें स्त्रीकी आवश्यकता होती है, बल्कि सुवर्णकी सीताकी मूर्ति रख करके ही अपना

वासनाराहित्य सिद्ध किया (वाल्मी. ७ । ९९ । ७, कात्यायन-स्मृति २० । १) यह है प्रतिपक्षीका पुराणोंको तथा अवतारोंको बलात् कलङ्कित करनेका साहस । अवतार स्वेच्छासे नहीं होता, क्योंकि उसमें कोई वासना नहीं होती, वह आप्तकाम है, वह सब जीवोंकेलिए हित करता है । जैसे कि–स्वा.द.जीने भी लिखा है–'जो आकाश-भूमिमें पदार्थ हैं, वे सब जीवोंकेलिए परमात्माने उत्पन्न किये हैं, अपनेलिए नहीं, क्योंकि–वह पूर्ण-काम है, उसको किसी पदार्थकी अपेक्षा नहीं' । (स. प्र. १४ पृ. ३४८) किन्तु 'यदा यदा हि धर्मस्य' (४ । ७) प्रतिपक्षीकी मान्य गीताके अनुसार साधुपरित्राण और असाधुजनविनाश ही भग-वान्का लक्ष्य होता है । हाँ, कहीं लोककल्याणार्थ शाप भी अवतारमें निमित्तकारण बन जाता था । यदि कहीं इससे विरु-द्धता दीखे, तो वहां अन्यकी महिमाका अर्थवाद होता है । यह रहस्य शास्त्रोंसे आंखें मूंद लेनेसे वा दोषदृष्टि रखनेसे नहीं मिलते । यह तो पुराणोंमें आनुसन्धानिक दृष्टि रखनेसे ज्ञात होते हैं । जैसे कि उसी देवीभागवतमें वहीं देवीका महत्त्व सूचित किया है–'जानीहि त्वं महाराज ! योगमाया (दुर्गा) वशे जगत् । ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्तं देवमानुषतिर्यगम्' (५ । १ । ५३) माया-(दुर्गा) तन्त्रीनिबद्धा ये ब्रह्म-विष्णु-हरादयः । भ्रमन्ति बन्ध-मायान्ति लीलया चोर्णनाभवत् (५४) यहां स्पष्ट शक्तिका प्रशंसा-र्थवाद दिखलाया है, यह शास्त्रीय-दृष्टि रखनेसे ज्ञात होता है, दोषदृष्टि रखनेसे नहीं ।

जो कि–प्रतिपक्षी देवीभागवत-आदिसे सिद्ध करता है कि–विष्णुके अवतारोंका उद्देश्य लोक-कल्याण नहीं होता; किन्तु व्यभिचारका अतृप्त-वासनाओंकी पूर्तिकेलिए होता है; पर यह बात स्वयं देवीभागवतसे विरुद्ध है । देखिये उक्त-पुराण स्पष्ट

कहता है–'एवं युगे-युगे विष्णुरवतारान् अनेकशः । करोति धर्म-ब्रह्मणा प्रेरितो भृशम्' (४ । २ । २७) पुनः पुनर्हरेरेवं नाना-पार्थिव ! अवतारा भवन्त्यन्ये रथचक्रवदद्भुताः' (२८) श्रीव्यासजी विष्णुके अवतारोंको धर्म-रक्षार्थ कहते हैं । धर्म-लोक-कल्याण स्वयं आ जाता है । यहां व्यभिचारकी कोई बात नहीं । व्यभिचारमें भला धर्म-रक्षण कैसे सम्भव हो ? तब पक्षीकी निर्मूल-कल्पनायें उसके प्रमाणित पुराणसे कट यहां तो 'मुद्दई सुस्त, गवाह चुस्त' वाली कहावत घट व्यासजीने प्रतिपक्षीके माने हुए देवीभागवत-पुराणमें शब्दोंमें भी कहा है—'ततस्तेनाथ शापेन, नष्टे धर्मे पुनः लोकस्य च हितार्थाय जायते मानुषेष्विह' (४ । १२ । ६) विष्णुका अवतार धर्मग्लानि होने पर धर्मकी रक्षाकेलिए कल्याणार्थ कहा है । कितना स्पष्ट यहां प्रतिपक्षीका पक्ष प्रति-से बहुत मान्य पुराणने काट दिया !!!

(घ) भृगु-द्वारा शाप स्वार्थ और क्रोध–मूलक था । स्त्रीका भी वहां दोष था । श्रीबाणभट्टके हर्षचरित १म उच्छ्-समें 'च्यवन'के निरूपण पर संकेत-टीकामें लिखा है–पुलो-राक्षस अपनी लड़कीको रखकर कहीं गया, तब भृगुने उस रा-सीसे विवाह कर लिया । उस राक्षसीने अपने मायावी-राक्ष स्वभाव-वश देवताओंसे द्रोह करना ही था । तब 'इन्द्र ! पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियम् । मायया शाशदानाम्' (अथर्व ८ । ४ । २४) इस वचनानुसार इन्द्रको मायाविनी-स्त्रीके का भी वेदने आर्डर दे दिया है । इन्द्रने वही आदेश अपनेसे अधि शक्तिशाली विष्णु-भगवान्के जिम्मे दे दिया । तथापि शापसे भगवान्के अवतार हो जानेसे भी लोक-कल्याण,

गया। यह पुराणमें ही स्पष्ट है। २०।

शिव-दूतीको अण्डकोषका भोजन [?]

(३०) प्रश्न—शिवजीने एक वार दावत दी। दावत समाप्त होनेके बाद शिव-दूती वहां आई। उसने कहा—मुझे ऐसा भोजन कराओ, जो तिब्बत (?)में भी न मिलता हो। शिवजीने कहा—तुम मेरी उपस्थेन्द्रिय-सहित दोनों वृषण खा लो, तुम्हारी तृप्ति हो जायगी' (पद्म पु.) एक स्त्रीको शिश्न वा वृषण खिलाना किस सनातनी मर्यादाके अनुकूल था ? ।२१।

उत्तर—आक्षिप्त पद्य यह है-'आसां कृते देहि भोज्यं दुर्लभं यत् त्रिविष्टपे' (१।३१।१२१) 'अधोभागे च मे नाभेर्वर्तुलौ फलसन्निभौ। भक्षयध्वं हि सहिता लम्बौ मे वृषणाविमौ। अनेन चापि भोज्येन परा तृप्तिर्भविष्यति' (१२६)। प्रतिपक्षीको मालूम होना चाहिए कि-शिवकी दूतीका नाम शिवदूती है। शिव तमोगुणके अधिष्ठाता प्रलयके देवता हैं, उनकी दूती एक संहारकारिणी उन्हींकी शक्ति है। जैसे कि-'रौद्री तपोन्विता धन्या शाम्भवी शक्तिरुत्तमा। संहारकारिणी देवी कालरात्रीति यां विदुः' (पद्म. सृष्टि. ३१। ७४) उसीके अट्टहाससे बहुतसी तद्रूप शक्तियां प्रकट हुईं (३१।७६-८२)। सो यह सब मृत्युके भेद थे। ब्रह्मस्वरूप शिवके 'नाभ्या आसीद् अन्तरिक्षं' (यजुः ३१।१३) नाभि (केन्द्र) स्थानीय अन्तरिक्षमें दो कटाहोंमें विभक्त हुआ (मनु. १।१२) अण्डकोषरूप वह ब्रह्माण्ड (ब्रह्मणोऽण्डं ब्रह्माण्डम्) शिवदूतीरूप मृत्युके भक्षयार्थ प्रस्तुत किया। उसे प्रलयमें मृत्यु खा जाती है, और परमतृप्त हो जाती है। 'अपूर्वं भवतीनां यन्मया देयं विशेषतः। आस्वादितं न चान्येन भक्ष्यार्थं च ददाम्यहम्' (३१।२५) ऐसा भोजन मृत्युके सिवाय अन्य कोई प्राप्त नहीं कर सकता। इससे भोज्य तथा भोक्ता दोनोंकी विचित्रता

प्रतीत हो रही है। प्राकृत-अण्डकोष कोई भोजनकी वस्तु नहीं हो सकती। उसके कटनेसे पुरुष मर भी सकता है। पर यहां शिवजीकी मृत्यु नहीं हुई। सो यहां वही दिव्यता शिवकी ईश्वरताकी परिचायिका है, यही भोजनकी भी विशेषता है। जैसे शिवलिंगमें लिङ्ग दिव्य है, वैसे ब्रह्माण्डमें अण्ड भी दिव्य है, प्रतिपक्षीको अपनी अल्पश्रुततावश यहां मानुषी-अङ्ग समझनेकी भूल नहीं करनी चाहिये।

सो द्विधा-विभक्त ब्रह्माण्डको शिवजीकी दूतीरूप मृत्युके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं खा सकता—यह तात्पर्य है। 'परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम्' (श्रीमद्भा. ११।२१।३५) 'इत्याचक्षते परोक्षेण, परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षविद्विषः' (अथर्व. गोपथ. १।१।१) इस न्यायके अनुसार तथा 'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवति आख्यानयुक्ता' (१०।१०।२) इस निरुक्तके कथनानुसार ऋषिलोगोंको किसी भावको विचित्र आख्यानके ढङ्गसे वा परोक्षतासे कहनेमें परमप्रीति हुआ करती है। जैसे वेदमें—'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' (अ. ६।१५ (१०)।१२) में पिता द्वारा लड़कीको गर्भ कर देना परोक्षतासे ही तो कहा गया है। इसे सभ्य-ढङ्गसे भी कहा जा सकता था। पर अश्लीलताकी शैलीसे कहा गया; क्योंकि ऋषियोंको परोक्ष-शैलीसे कहना अच्छा लगता है। इसी प्रकार पुराणके प्रकृत-स्थलमें भी समझ लें। कोई प्राकृत-पुरुष उस प्राकृत-अंगको किसीको खिलानेकेलिए तैयार नहीं हो सकता। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि—शिवजीके एतदादिक अङ्ग भी प्राकृत-लौकिक नहीं हैं, लौकिक समझ कर जिनपर प्रतिपक्षी अनभिज्ञतावश उपहास करते हैं। सो यहां लौकिक-मर्यादाका प्रश्नही प्रतिपक्षीका नासमझीका है।

'त्रिविष्टप'का अर्थ तृतीय लोक 'स्वर्गलोक' है, प्रतिपक्षि-

कृत 'तिब्बत' नहीं, जिसका 'ऊर्ध्वो नाकस्य अधिरोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति' (अथर्व- ११। १। ७) इस मन्त्रमें संकेत है। अमरकोषमें भी स्वर्गके नामोंमें 'त्रिविष्टपम्' (१। १। ६) आया है। 'तृतीयं विष्टपम् (लोकः, 'लोको विष्टपम्' अमर- २। १। ६) यह त्रिविष्टपका विग्रह है, तृतीय विष्टप-लोक। पृथिवी, अन्तरिक्षसे ऊपरका लोक द्युलोक (स्वर्ग) है। 'तिब्बत' तो भूलोकमें है, अतः वह त्रिविष्टप नहीं। स्वर्गलोकमें स्थित देवोंका 'अमृतत्व' (शतपथ. २। ४। २। १) होता है, पर तिब्बतमें मृत्यु होती है। सो स्वर्गमें अमरत्व होनेसे वहां शिवदूतीरूप मृत्युको अपना भोज्य नहीं मिल सकता—यह तात्पर्य है।२१।

शिवमायाका प्रभाव (?)

(३१) प्रश्न—शिवपुराण (उमासं. ४अ.) में लिखा है—जितने (?) भी ऋषि, मुनि व देवता शिवके भक्त होने से (?) शिवकी मायाके प्रभावमें आये, वे सभी महाव्यभिचारी बन गये। (ख) दारुवनमें अपने भक्तोंकी स्त्रियोंके साथ शिवजीने व्यभिचार किया (?) (ग) महानन्दा वेश्या जो शिवकी भक्त थी, उससे शिवजीने फीस देकर वेश्यागमन किया। इसे जानते हुए भी जो लोग शिवभक्त बनकर लिंग (मूत्रेन्द्रिय) को पूजते हैं; तो क्या इसका यह अर्थ है—वे व्यभिचारी बनना चाहते हैं? शिवपुराणमें आखिर शिवमायाके इस व्यभिचार-प्रचारक प्रभावके वर्णनका क्या तात्पर्य है? ।२२।

उत्तर—"जितने भी ऋषि आदि शिवभक्त होनेसे शिवकी मायाके प्रभावमें आये, वे सभी महाव्यभिचारी बन गये" यह प्रतिपक्षीकी बात गलत है। 'शिवके भक्त होनेसे व्यभिचारी बन गये' यह शब्द पुराणके नहीं, किन्तु पुराणोंके घोर-शत्रु प्रतिपक्षीके हैं। पुराणमें तो यह लिखा है—'महिम्ना येन शम्भो-

स्तु ये ये लोके विमोहिताः। मायया ज्ञानमाहृत्य नानाली- विहारिणः' (उमासं. ३। ६) अर्थात् जो लोग शिवमायासे मो- में पड़ गये, उस मायासे उनका ज्ञान हरा गया; अतः वे लीलाओंमें पड़ गये। मायाकी दुर्निवारता आगे कही है—'तस्मा- परमा दिव्या सर्वत्र व्यापिनी मुने! तदधीनं जगत्सर्वं सदेवासुर- मानुषम्' [४। १५] इसमें शिवभक्तोंका यह मोह नहीं बता- गया है; किन्तु शिवमायाका शेष सारे देव-असुर-मनुष्य जगत् प्रभाव बताया गया है। शिवकी महामाया देवीरूपा है, उस- लिए 'दुर्गासप्तशती' में कहा है—'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भ- वती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति' [१। उसी देवीके 'स्त्रियः समस्ताः तव देवि! भेदाः' [११।६] स्त्रि- रूप बताई गई हैं, उनमें तथा सोने-रत्नादिमें जो मोहित कर- बलपूर्वक दूसरेके मन को अपनी ओर खींचने वाली शक्ति है जिसने संसारके बड़े-बड़े विद्वान्, योगी, तपस्वी, ऋषि-मुनि- आदियोंको भी चलायमान करके हिला दिया है—उन-उन अपने जप-तपसे डिगा दिया है, वही शिवकी महामाया अ- रूपोंमें होती है। देवताओंके राजा इन्द्रमें भी यह शक्ति न थी कि—वह विश्वामित्रादिको तपसे डिगा सके; तब मेनका अप्सराको इन्द्रने भेजा। इससे सिद्ध हुआ कि—ज्ञानियोंके चि- को भी वही महामायारूप स्त्री-शक्ति वा सौन्दर्य-शक्ति वा शक्ति खींच लेनेका सामर्थ्य रखती है। उससे बड़ेसे बड़ा भी खिंच जाता है। कोई उस सोने वा रत्नके रूपमें खिंच जा- है, और कोई स्त्रीके रूपमें। यही शिवमाया, वैष्णवीमाया- अनन्तवीर्यता वा दुर्निवारता बताई गई है। तब उसपर दोष- का कारण प्रतिपक्षीका स्वयं साम्प्रदायिकताके मोहकी मा- डूबना है। फिर शङ्करको 'प्रजनश्चापि कन्दर्पः' [गी. १०।

की रीतिसे काम बताकर उसकी दुर्निवारता बताई गई है-'कामेन प्रबलेन मनोभुवा। सर्वः प्रधर्षितो वीरो विष्णवादिप्रबलोपि हि' [१६] यहां पर देवता भी कामसे नहीं बच सके, यह बताया गया है। यह ठीक है। यह बात वेद भी अनुमोदित करता है। देखिये-'कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः। ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महान् तस्मै ते काम ! नम इत् कृणोमि' [अथर्व. ९। २। १९] यहां देव-कामको देवता, पितर तथा मनुष्यों-आदि सारे विश्वको हरानेवाला एवं दुर्निवार बताया गया है। जब उक्त पुराणका वचन उक्त वेदमन्त्रका भाष्य है; तब वैदिकम्मन्य-प्रतिपक्षी वेदके भाष्यका भी खण्डन करता है !

अब हम प्रतिपक्षीसे संकेतित पुराणप्रोक्त कथाओंको 'वेद-इतिहास आदिका अनुमोदन भी प्राप्त है'-यह बताते हैं। इससे पुराण वेदका भूतार्थवाद भाष्य सिद्ध होते हैं, यह प्रतिपक्षी देखे।

[अ] पुराणका मित्रावरुणके विषयमें वहीं पद्य है—'पूर्वं तु मित्रावरुणौ घोरे तपसि संस्थितौ। मोहितौ तावपि मुनी शिवमायाविमोहितौ। उर्वशीं तरुणीं दृष्ट्वा चस्कन्दोभौ बभूवतुः। मित्रः कुम्भे जहौ रेतो वरुणोपि तथा जले। ततः कुम्भात् समुत्पन्नो वसिष्ठो मित्रसम्भवः। अगस्त्यो वरुणाज्जातो वडवाग्नि-समद्युतिः' [उमासं. ४। २३-२५) यहां मित्रावरुणके द्वारा जिस प्रकार उर्वशीके द्वारा वसिष्ठ और अगस्त्यकी प्रतिपक्षीसे आक्षिप्त उत्पत्ति पुराणने बताई है, उसी उत्पत्तिको वेदका भाष्य निरुक्त भी बताता है। देखिये-'उर्वशी-अप्सराः' [५। १३। १] तस्या [उर्वश्या] दर्शनाद् मित्रावरुणयो रेतः चस्कन्द' [५। १४। १]। यही की यही उत्पत्ति वाल्मीकि रा. [७। ५६। २१, ५७। ४-७] म

देख लीजिये। तब पुराणप्रोक्त कथाकी निर्मूलता तो कट गई; अब सबके मूल वेदकी भी इसमें सहमति देख लीजिये।---

'उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठ ! उर्वश्या ब्रह्मन् ! मनसोधिजातः। द्रप्सं [रेतः] स्कन्नं' [ऋ ७। ३३ ११) 'कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्। तता ह मान [अगस्त्यः] उदियाय मध्यात्, ततो जातम् ऋषिमाहुर्वसिष्ठम्' [ऋ. ७। ३३। १३] इस प्रकार जब वेद-पुराणकी एकवाक्यता हो रही है; तब प्रतिपक्षी पुराणोंको वेदविरुद्ध कैसे बताता है ? यदि वेदमन्त्रमें वह अर्थ बदलता है, तो वैसे ही पुराणमें भी बदल सकता है। महाभारतमें भी स्पष्ट है-'स कुम्भे रेतः ससृजे सुराणां, यत्रोत्पन्नं ऋषिमाहुर्वसिष्ठम्' [अनुशा० १५८। १९]। इस प्रकार 'बृहद्-देवता' [५। १३१-१३७] में भी प्रतिपक्षी देख ले।

[आ] अब उसी पुराणका अन्य वचन देखिये-'चण्डरश्मिस्तु मार्तण्डो मोहितः शिवमायया। कामाकुलो बभूवाऽऽशु दृष्ट्वाऽश्वीं हयरूपधृक्' [४। २१] यह सूर्यकी कथा है। इसका अनुमोदन निरुक्तमें भी देखिये-'त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत आदित्याद् आश्वमेव रूपं कृत्वा तामनुसत्य सम्बभूव। ततोऽश्विनौ जज्ञाते। सवर्णायां मनुः' [१२। १०। ?]इसीका प्रतिपादन करने वाला वेदमन्त्र यह है सवर्णामददुर्विवस्वते। द्वा मिथुना सरण्यूः' [१०। १७। २] अर्थ दोनों स्थलोंमें बराबर है।

(इ) अब उसी पुराणकी अन्य कथा देखिये-'चन्द्रश्च मोहितः शम्भोर्मायया कामसंकुलः। गुरुपत्नीं जहाराथ युतस्तेनैव चोद्धृतः' (४। २२) यह सोमकी कथा है, जिसने बृहस्पतिकी पत्नी तारा ले ली। अब इसका वर्णन वेदमें देख लीजिये-'तेन जायाम् अन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीताम्' (अथर्व. ५। १७। ५, ऋ. १०। १०९। ५) 'सोमो राजा प्रथमो ब्रह्म (बृहस्पति)

जायां पुनः प्रायच्छद् अहृणीयमानः (अ. ५ । १७ । २, ऋ. १० । १०९ । २) 'यामाहुः तारकैषा' (अथर्व. ५ । १७ । ४) । अर्थ दोनों स्थान समान होगा ।

(ई) अब पुराणकी अन्य कथा देखिये—'इन्द्रः त्रिदशपो भूत्वा गौतमस्त्री-विमोहितः । पापं चकार दुष्टात्मा शापं प्राप मुनेस्तदा' (४ । १८) यहां इन्द्र-अहल्याकी कथा है। इसका मूल ब्राह्मण-भागात्मक-वेदमें देखिये—'अहल्याया मैत्रेय्या [इन्द्रः] जार आस' (षड्विंश १ । १) 'अहल्यायै जारेति' (शत, ३ । ३ । ४ । १८) गौतम-ब्रुवाण' (तै. आ. १ । २ । ३-४) 'जारमिन्द्रं' (ऋ. १० । ४२ । २) इससे स्पष्ट है कि—पुराण वेदके भाष्य हैं । जो वेदमें अर्थ होगा, पुराणमें भी वही ।

(उ) 'ब्रह्मा च वहुवारं च मोहितः शिवमायया । अभवद् भोक्तुकामश्च स्वसुतायां परासु च' (४ । २७) यह पुराणस्थ ब्रह्माकी कथा वेदमें भी संकेतित की गई है । 'प्रजापतिः स्वां दुहितरमधिष्कन्' [ऋ. १० । ६१ । ७] 'पितरि युवत्याम्' [६] 'प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यधावत्' [ऐतरेय. ३ । ३३, शत. १ । ७ । ४ । १] । अर्थ दोनों स्थल समान होगा ।

[ऊ] शिव-पुराणकी अन्य कथा देखिये—'च्यवनो हि महा-योगी मोहितः शिवमायया । सुकन्यया विजह्रे स कामासक्तो वभूव ह' [४ । २८] इसका मूल ब्राह्मणभागात्मक वेदमें देखिये—'इयं सुकन्या, तया तेऽपह्नुवे' [शत. ४ । १ । ५ । ७) स [च्यवनः] ह उवाच—'सा त्वं [सुकन्या] ब्रूतात्, पतिं नु मे पुनर्युवानं कुरुतम्' [१०] । ब्राह्मणभागकी वेदता 'आलोक' के छठे पुष्पमें देखिये । इसीका संकेत मन्त्रभागमें भी है—'युवं च्यवानम् अश्विनौ ! जरन्तं [वृद्धं] पुनर्युवानं चक्रथुः' [ऋ. १ । ११७ । १३] उपवेद-आयुर्वेदमें 'च्यवनप्राश' ओषधि इसी काण्डमें प्रसिद्ध है,

जिससे वृद्ध च्यवन युवा हो गये, यह सुकन्यासे विलासार्थ ...

[ऋ] वायुका कामी होना [४ । २०) वाल्मी. रा. (१ । ... १६]में प्रसिद्ध है, जहां उसने लड़कियोंको कुवड़ा कर दिया। ... उसी वायुकी कामनासे अञ्जनासे हनुमान् उत्पन्न हुए [वाल्मी. ४ । ६६ । १७-१८] । [ॠ] इस प्रकार विश्वामित्र-मेनका ... का कामी होना [४।३५] महाभारतमें प्रसिद्ध है । [ऌ] रावण ... कथा [४ । ३७] [ए] विश्वामित्र-वसिष्ठका विरोध (४ । ... [ऐ] पराशर (४ । ३४) आदिकी कथाएं रामायण-महाभारत आदि प्रसिद्ध इतिहासोंमें प्रसिद्ध हैं । तव इससे पुराण ... कोई दोष नहीं आ सकता । दोनों स्थान समान ... वा तात्पर्य होगा । फिर एकमात्र पुराणको ... करना व्यर्थ है । पुराणने जिसका जो चरित्र था, वह ... दिया । यह इतिहास शिव-भक्त होने वा शिवभक्तिके परिणाम रूपमें नहीं दिखलाये गये, जैसा कि प्रतिपक्षीने लिखा है जो मायामें मोहित होगये—उन्हींके उदाहरण दिखलाये गये।

यहां मायाकी दुरतिक्रमणीयता वताई गई है। स्त्री-निन्दा करते हुए स्वा. शङ्कराचार्यको मण्डनमिश्रने निन्दित करते हुए कहा था—'स्थितोसि योषितां गर्भे ताभिरेव विवर्धितः। अहो! कृतघ्नता मूर्ख ! कथं ता एव निन्दसि ?' अर्थात् जिन स्त्रियोंके ... गर्भ में रहे; उन्हींसे पाले-पोसे गये; उन्हींकी तुम निन्दा करते हो ? । इसपर आचार्यने गृहस्थी मण्डनमिश्रको कहा था—'यासां स्तन्यं त्वया पीतं यासां जातोसि योनितः । तासु मूर्खतम! स्त्रीषु पशुवद् रमसे कथम् ?' । [शङ्करदिग्विजय ८ । २४-२५] ... कथनके अनुसार जव पुरुष स्त्रीजातिसे पैदा हुआ है, वह स्त्री-जाति तो उसकी मातृवत् हो चुकी, तब वह उसमें गमन कैसे करता है ? वह इस भावको लेकर जन्मसे ही संन्यासी हो ...

उत्तम क्यों नहीं बन जाता, यह आचार्य-शङ्करका भाव है। फिर भी जो मायासे मोहित होकर वेदमन्त्रोंसे एक लड़कीको विवाहित कर उसमें गमन करता है, यह मध्यमता हो जाती है। यह इस लिए कि—वह परमात्माकी दुरत्यय-मायासे प्रभावित होकर अपने पर काबू नहीं पा सकता, उसमें वह कई मानुषी मर्यादाएं नियत कर देता है। पर उस मायासे कभी अधिक मोहित हो जाता है, तो वह भूल भी कर बैठता है। वही यहां तात्पर्य है। यह सब 'त्वन्माया-मोहिताः सर्वे ब्रह्माद्यास्त्रिदिवौकसः' (सत्यनारायणकथा) के अनुसार मायाके कारण होता है। सो वह माया शिव (परमात्मा) के भक्त वा उसे आत्मसमर्पण कर डालने वालेको नहीं व्यापती—यह तात्पर्य है। प्रतिपक्षीसे मान्य 'गीता' में भी यही कहा है—'**मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते**' (७। १४), तब प्रतिपक्षीका यह आक्षेप कि—'शिवके भक्त होनेसे जो शिवकी मायाके प्रभावमें आये' यह प्रतिपक्षीके शिव-भक्त न होनेसे 'माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः' (७। १५) का उदाहरण है।

(ख) 'दारुवनमें अपने भक्तोंकी स्त्रियोंसे शिवने व्यभिचार किया' यह प्रतिपक्षीकी अपनी कपोलकल्पना है, शिवपुराणमें ऐसा कहीं नहीं लिखा। इससे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि—प्रतिपक्षी शिवका तथा शिवपुराणका पूरा द्वेषी हैं, जो कि उसमें न लिखे दोषको भी उनमें जड़ रहा है। उसमें तो शिवका 'स्त्रियोंकी चञ्चलताकी परीक्षार्थ' जाना लिखा है—'परीक्षार्थं समागतः' (कोटि-रुद्र. १२। ९) इसे **प्रतिपक्षीने अपने 'शिवलिंग-पूजारहस्य' में** (पृ० २४) छिपा दिया है। पार्वती आदि उनके साथ थीं। विकारहेतु होनेपर भी शान्त रहकर शिवने 'विकारहेतावपि विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः' (कुमार-सम्भव १। ५९)

यह वचन चरितार्थ किया। तब इसमें प्रतिपक्षीकी बुद्धि ही व्यभिचारिणी निकली; जो निर्दोषपर भी दोष देती रही है। इस पर हम पहले भी लिख चुके हैं।

जिस शिवपुराणसे प्रतिपक्षी यह कथा देता है; उसमें यह लिखा है—'मनसा च प्रियं तेषां कर्तुं वै वनवासिनाम्। जगाम तद्वनं प्रीत्या भक्त-प्रीतो हरः स्वयम्' (१२। ११) इस पद्यका अर्थ प्रतिपक्षी लिखता है—'महादेव **दिलसे उन बनवासियोंका भला करनेकेलिए**, भक्तोंपर प्रसन्न होकर प्रेमसे स्वयं उस वनमें गये' ('शिवलिंग-पूजारहस्य' पृ० २५ पं० १९-२०, 'शिवलिंगपूजापर्यालोचन' पृष्ठ ६ पं. १८-१९) जब वह **बनवासी मुनियोंका मनसे भला करने गये थे; तब वे यदि व्यभिचारार्थ गये, तो यह 'मनसे भला करना' कैसे हो सकता था? सो वह तो मनसे भला करनेका विचार कर गये, पर प्रतिपक्षी मनको मलिन करके गया; तभी**—'आलिलिंगुस्तथा चान्याः करं धृत्वा तथा पराः। परस्परं तु संघर्षात् संमग्नास्ताः स्त्रियस्तदा' [१३] इस श्लोकका उसने गलत अर्थ कर दिया। यहां अर्थ तो था कि—वे स्त्रियाँ बहुत भीड़ होजानेसे आपसमें हाथ पकड़कर आलिगन करने लगीं (जो अनिवार्य था) और कई परस्पर धक्कमधक्कीसे डूब (गिर) गईं। पर अपने आपको वेदका ज्ञान रखने वाला मानता हुआ वही प्रतिपक्षी 'करं धृत्वा' (१३) का अर्थ करता है, '**कईने शिवलिंगको हाथमें पकड़ लिया**' [शि०लि० पू०र०पृ० २५] **द्वितीया का अर्थ सप्तमीका कर लिया, और लिंग शब्द स्वयं प्रक्षिप्त कर दिया !!!** 'हस्ते लिंगं विधारयन्' [१०] का अर्थ था, हाथमें शिव-लिंग—एक संक्षिप्त मूर्ति जिसका हम पहले विवरण दे चुके हैं—उठाये हुए थे, परन्तु प्रतिपक्षीने 'अपना लिंग हाथमें पकड़े हुए' (पृ० २५) अर्थ कर दिया; यहाँ 'स्व' शब्द कहां है, जो प्रतिपक्षीने 'अपना' अर्थ कर दिया ? 'जब परस्पर

संघर्षणमें मग्न हो (गिर) गईं' इसका कर्ता 'स्त्रियः' है कि—वे स्त्रियां एक दूसरेकी धक्कमधक्कीसे मग्न हो गईं; तब प्रतिपक्षीने पञ्चम्यन्त 'संघर्षात्' का सप्तमी वाला अर्थ कैसे कर दिया, और 'लिंग' इस पद्यमें वह कहांसे ले आया ? 'उसने औरतोंसे कुकर्म किया' [पृ० २७] यह अर्थ उसने पद्यके किन पदोंका किया ? यह हमने पाठकोंके सामने इन प्रतिपक्षियोंकी दुरभिसन्धिका दिङ्मात्र आदर्श दिखलाया है। इस असत्य-व्यवहारसे प्रतिपक्षी देवीभागवत वाले पूर्वप्रोक्त लक्षण अपनेमें लानेमें गौरव समझता है।

जो कि प्रतिपक्षीने बहुत-गन्दे शब्दोंमें आक्षेप किया है— 'ऋषियोंकी पत्नियोंसे शिव व्यभिचार करने गया; उसने अपना लिंग हाथोंमें पकड़ रखा था, वह नंगा था। उसने औरतोंसे कुकर्म किया, ऋषियोंके शापसे लिंग कट कर गिर पड़ा, कटा हुआ लिंग पृथ्वी-स्वर्गादि में आग लगाता फिरा; तब पार्वतीने योनिरूप होकर वह लिंग धारण किया, और शान्ति स्थापित को, मन्दिरोंमें योनि-लिंग पूजाका यह भी एक आधार है' यह सब आक्षेप प्रतिपक्षीके विकृतहृदयताके तथा वस्तुतत्त्वकी अनभिज्ञताके प्रमाण हैं। शिव तो सदा ही दिगम्बर रहते हैं, दिशा ही उनके वस्त्र होते हैं, केवल दारुवनमें नहीं, वे सभाओंमें भी दिगम्बर ही जाते थे; उसका कारण यह है कि—वे प्रवृत्ति-मार्गके नहीं थे; उनका निवृत्तिमार्ग परा-काष्ठाको पहुँचा हुआ था। निवृत्तिमार्ग वालोंको प्रकृति मोहमें नहीं डाल सकती; प्रवृत्तिमार्ग वाले ही प्रकृतिके थोड़ेसे सौन्दर्यके आकर्षणमें फंस कर अपनी सुध-बुध खो बैठते हैं; पर महादेवने तो प्रकृतिको अपने अधिष्ठातृत्वके अधीन कर रखा था; अतः उनको पर-स्त्रियोंका सौन्दर्य आकृष्ट नहीं कर सकता था; अतएव विकार अन्दर न

होनेसे वे दिगम्बर रहते थे। प्रवृत्तिमार्ग वालोंमें ऐसा [illegible] नियन्त्रण न होनेसे विकारवश वे अपने-आपको वस्त्रोंसे [illegible]च्छादित रखते हैं, उनका नंगा रहना अवश्य वेदमार्ग-वि[illegible] होता है। शिवके भक्त होते हुए भी, परन्तु इस समय [illegible] मोहित [१२-१५] अनभिज्ञ ऋषियोंने शंकरको शंकर न [illegible]कर साधारण प्रवृत्तिमार्गका समझा; अतएव उसको [illegible] वेदमार्गविलोपी [१२। १७] कहा। यदि वे पहलेसे ही [illegible] समझ जाते; तो यह कुकाण्ड न करते, जिससे उन्हें पीछे [illegible]ताना पड़ा। शेष जो प्रतिपक्षीने लिंगका कटना दिखाया है, शिवपुराणकथामें तो ऐसा कहीं भी नहीं; हां लिंगका [illegible] दिखलाया है, 'शिव हाथमें लिंग [एक मूर्ति] रखते हैं, यह महानन्दाकी कथामें स्पष्ट है, जिसे प्रतिपक्षी छिपा देते हैं। लिंगके गिरनेका शाप हुआ।

जो कि प्रतिपक्षीने व्यभिचारकी चिल्लाहट की है, [illegible] कहीं भी ऐसा नहीं लिखा। प्रतिपक्षी इतना भी नहीं सोचता [illegible] कोई कामी कामवासनासे प्रेरित होकर स्त्रियोंके पास [illegible] तो क्या वह नंगा जाता है ? कभी नहीं; किन्तु वस्त्रा[illegible] आच्छन्न होकर बन-ठन कर जाता है। नंगा पुरुष तो [illegible] और असुन्दर लगता है, उससे उल्टा सभीको घृणा होती [illegible] और फिर व्यभिचारी पुरुष अन्य स्त्रियोंके साथ जब व्यभि[illegible] जावे; तब क्या वह अपने साथ अपनी स्त्रीको भी ले [illegible] है? पुरुषोंके समूहको भी क्या ले जाता है? कभी नहीं। [illegible] अपनी स्त्री पार्वती भी साथ थी, ब्राह्मी आदि मातृगण भी [illegible] थे, प्रमथ आदि पार्षद भी साथ थे; यह शिवपुराणमें प्रत्यक्ष [illegible] बड़ेसे बड़ा बदमाश भी कहीं बदमाशीके लिए जावे; तो [illegible] स्त्री तथा मातृगणको साथ कभी भी नहीं ले जाता, किन्तु

से छिपकर ही कुकृत्य करता है।

वहां यह लिखा है कि लिंग गिरा, और ब्रह्माण्डमें अन्धकार हो गया। क्या किसी व्यक्तिकी मूत्रेन्द्रिय कटने पर संसारमें सूर्य-चन्द्र आदि पदार्थ लुप्त हो जाते हैं? वहां प्रतिपक्षियोंने भी स्वयं दिखलाया है कि–ज्योतिलिंग तीन लोकोंको भस्म करनेमें प्रवृत्त था, और कालाग्नि की तरह भ्रमण कर रहा था। क्या एक निर्जीव मांस-खण्डमें यह घटना सम्भव हो सकती है? जिस ग्रन्थ पर आक्षेप किया जाता है, उस ग्रन्थका पूर्वापर भी मानना ही पड़ता है, नहीं तो 'अभित्तिचित्रता'का प्रसङ्ग हो जाता है, प्रश्न भी उस पर नहीं बन सकता। लिंग गिरने पर भी शिव प्रसन्नचित्त रहे; उनमें कुछ भी विकृति नहीं आई! यदि यहां मूत्रेन्द्रिय इष्ट हो, और शिव यदि प्रतिपक्षीकी भांति कोई मनुष्य-व्यक्ति हो; तो प्रतिपक्षीकी मूत्रेन्द्रियको कोई काट दे; क्या वह भी अविकृत बना रहेगा? इससे स्पष्ट है कि–शिव मनुष्य नहीं थे, उनका ज्योतिलिंग भी उनकी मूत्रेन्द्रिय नहीं थी।

जो कि कहा जाता हैं कि 'कटे हुए लिंग की अग्नि शान्त करनेकेलिए ऋषियोंकी प्रार्थनासे पार्वतीने अपनी योनि फैलाई, तब वह लिंग पार्वती की योनिमें स्थित होकर शान्त हो गया। उसीका आदर्श मन्दिरस्थ मूर्तिमें दिखलाया जाता है' क्या यह माननेकी बात है? प्रतिपक्षीकी किसी विशेष कारणवश विरोधी व्यक्तिसे काटी हुई मूत्रेन्द्रियको क्या कभी उसकी स्त्री अपनी योनिमें धारण करेगी? वस्तुतः तो ब्रह्माने ऋषियोंको कहा था कि–गिरिजा देवीकी आराधना करके एक घट रख कर अष्टदलाकार वनाकर श्रद्धासे शिव-पूजन करो; तब तेजोमय लिंग शान्त हो जावेगा। योनि कारणका नाम है, प्रत्येक वस्तु अपने कारणमें शान्त वा लीन हो जाती है। उपद्रव करने वाला

आग्नेय तेज ही ज्योतिर्मय शिवलिंग था। शापसे जब वह ज्योतिर्मय लिंग गिर गया; तब सब स्थान आग लग गई। ब्रह्मा-के कथनसे पृथ्वीकी अभिमानिनी देवता पार्वतीकी आराधना करने पर घट रख कर जब ऋषियोंने शिवका पूजन किया; तब आग्नेय-तेजोमय लिंग अपनी योनि-कारण पृथिवीमें शान्त वा लीन हो गया; क्योंकि–अग्निका आधार वा योनि (कारण) पृथिवी होती है, इसलिए पृथिवीकी मट्टी गिरानेसे अग्नि शान्त हो जाती है। यही अभिप्राय शिवपुराणकी ज्ञानसंहिताके ४२ अध्यायमें संक्षेपसे दिखलाया गया है, और विद्येश्वर-संहितामें इसका विस्तारसे वर्णन है।

इससे स्पष्ट हो गया कि–यहां लिंग, योनि आदि शब्दोंसे मूत्रेन्द्रिय इष्ट नहीं, किन्तु पुराणको ब्रह्म तथा मायाका प्रतीक इष्ट है। लिंगका आकार अण्डाकार है, शिश्नाकार नहीं। वह परमेश्वर (महादेव-महान् देव)के ब्रह्माण्डकी संक्षिप्त मूर्ति है। वह ब्रह्माण्ड परमेश्वरसे सृष्टिके समय पृथक् हो जाने पर गर्म अवस्थामें था, तथा चल था। बहुत समय तक गर्म पृथिवीसे ही बने हुए पर्वतोंके, इन्द्रके वज्र [विद्युत्]से काटे हुए पंखोंसे बने मेघों द्वारा जिनकी पार्वती–पर्वतको भूमि योनि-रूप थी, वर्षा आदि होनेसे वह गर्म एवं चल ब्रह्माण्ड ठंडा और स्थिर [ठास] हुआ। उसीका यहां 'तल्लिगं चाग्निवत् सर्वं यद्ददाह पुरः स्थितम्' (१६) 'भूमौ सर्वत्र तद् यातं न कुत्रापि स्थिरं हि तत्' (२०) तल्लिगं तज्जलेनाभिषेचयेत् परमर्षयः! शत-रुद्रियमन्त्रैस्तु प्रोक्षितं शान्तिमाप्नुयात् (शिव. कोटि-रुद्र. ३६) इत्यादि कथा-व्याजसे स्मरण कराया गया है। वैदिक एवं पौराणिक आख्यानोंमें समाधि-भाषा आदि तीन भाषाओंके उपयोग होने से आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौति॰

आदि अनेकों अर्थ, कई वैज्ञानिक-भाव तथा कई रहस्य हुआ करते हैं। पर ऐसी विशेषताओंको रहस्यज्ञ जान सकते हैं, शब्दार्थमात्र देखते रहने वालोंको इनसे वञ्चित रहना पड़ता है। शङ्करका पूजन अनादि चला आया है। यहां तो पार्वती योनिरूपा बनी, अर्थात् संसारके उत्पादक पञ्च-तत्त्वोंकी मूर्ति-जिसमें पृथिवी प्रधान थी–का स्वरूप धारण किया, उसमें वह तेज:-पुञ्ज लीन होकर शान्त एवं स्थिर हो गया। आज भी गिरी हुई विद्युत्का तेज:-पुञ्ज पर्वत वा पृथिवीमें लीन होकर शान्त हो जाता है, इत्यादि उन कथाओंके अनेकों रहस्य निकलते हैं; जो केवल ऊपरी अश्लीलतामें रमने वालोंको नसीब नहीं होते। जब वे भी कुछ उसके भीतर घुसते हैं; तब उनको भी कई रहस्य अचानक मिल जाते हैं; पर पहलेसे ही अश्रद्धा होनेसे उनको उससे पूर्ण लाभ नहीं मिल पाता।

अब देखिये इसी प्रतिपक्षी डा. श्रीरामको इसी शिवलिंग पर जल चढ़ानेसे उसकी ऊष्माके शान्त होनेके उपहासमें दिन-रात लगे होनेसे एक रहस्यको शिक्षा अचानक अवगत हो गई। वे अपने 'शिवलिंग-पूजारहस्य' (प्र.सं.) के पृ० ६९-७० में लिखते हैं–'मेरे भोले शिवलिंग-पूजक भक्तो! जितना समय तुम शिवलिंग पर पानी चढ़ानेमें लगाते हो, उतना समय **अपनी उपस्थेन्द्रिय पर शीतल-जलकी धारा छोड़ा करो**, तो तुम्हारा शरीर दृढ बनेगा, ब्रह्मचर्यकी साधना होगी; **प्रमेह, स्वप्नदोष, शीघ्रपतनका नाश होगा। समस्त शरीर वा वीर्यकोषकी गरमी शान्त होगी।** शरीरके समस्त रोग **जल-चिकित्साके** 'सिट्ज़-बाथ'के अनुसार दूर हो कर चित्तमें स्फूर्ति उत्पन्न होगी। तुमने देखा होगा कि–छोटे-छोटे बालकोंको भारतकी **प्राचीन-संस्कृतिमें पली हुई पुरानी माताएं** अपने पैरों पर बिठलाकर उनको **उपस्थेन्द्रिय पर शीतल जलकी** धारा छोड़ती हैं, इससे उन बालक बालिकाओंके गर्भ तककी गरमी वा रोग दूर होकर उनका शरीर फूलता चला आता है। ऐसे बालक-बालिकाओंको कभी चेचक, खसरा, सूखा, मोतीझाला, फोड़े-फुन्सी आदि रोग नहीं होते। शरीरका समस्त विजातीय द्रव्य निकल कर उनकी काया सर्वथा निरोगी बन जाती है। जो नई रोशनीकी स्त्रियां ऐसा नहीं करती हैं, उनके बालक सदा रोगी बने रहते हैं। उसी विज्ञानके अनुसार यदि बड़ी उम्रके स्त्री-पुरुष भी इस क्रियाको करें, तो वह पूर्ण-स्वस्थ बन सकते हैं। इस विषयमें विशेष ज्ञान प्राप्त करनेकेलिए जल-चिकित्साके ग्रन्थ देखे जा सकते हैं।

यह है शिवलिंगपूजाके उपहासकर्ता डाक्टर श्रीरामके 'शिवलिंगपूजारहस्य'का अन्तिम निचोड़। कौन कहता है कि–'प्रतिपक्षीको यह रहस्य शिवलिंगकी दारुक-वनकी पूजासे नहीं मिला, जिसमें यह लिखा था–'तल्लिगं चाग्निवत् सर्वं यद् ददाह पुरः स्थितम्। यत्र यत्र च तद् याति तत्र तत्र दहेत् पुनः' (कोटि रुद्रसं. १२। १९) 'न कुत्रापि स्थिरं हि तत्' (२०) 'तल्लिंगं तज्जलेनाभिषेचयेत् परमर्षयः। शतरुद्रियमन्त्रैस्तु प्रोक्षितं शान्तिमाप्नुयात्' (३६)। यदि प्रतिपक्षी इस लिंग और योनिमें और भी अधिक घुस जावे, तो उसे और भी अधिक-रहस्य मिल जावे। वैज्ञानिक इसमें घुसकर यह रहस्य निकाल सकेगा कि–आदिमें पृथ्वी गर्म थी और चमकदार (ज्योतिर्मय) थी, वह सूर्यमण्डलसे अलग हो गई थी। उस समय वह हिलती थी। उसीके पर्वत भी बने। फिर उनकी गैसोंसे बादल बने। वे जल पृथिवी पर वर्षा करते रहे। इससे पृथ्वी जम गई और ठंडी हो गई, तब वह प्राणियोंके रहने लायक बनी।

जब प्रतिपक्षी स्वयं मानता है कि—'न पद्माङ्का न चक्राङ्का न वज्रांका यतः प्रजाः। लिंगांका च भगांका च तस्मान्माहेश्वरी प्रजा।' (महा. अनु. १४ अ. २३३) 'देव्याः कारणरूपभावजनिता, सर्वा भगांकाः स्त्रियो, लिंगेनापि हरस्य सर्वपुरुषाः प्रत्यक्षचिन्हाः कृताः। योऽन्यत् कारणमीश्वरात् प्रवदते देव्या च यत्रांकितं, त्रैलोक्ये स चराचरं स तु पुमान् वाह्यो भवेद् दुर्मतिः। (२३४) 'पुलिंगं सर्वमीशानं स्त्रीलिंगं विद्धि चाप्युमाम्' द्वाभ्यां तनुभ्यां व्याप्तं हि चराचरमिदं जगत्' (२३५) (जितने पुलिंग हैं, वे सभी महादेव हैं, तथा जो स्त्रीलिंग हैं, वे सब पारवती (?) हैं। इन दोनोंके शरीरसे सारा जगत् व्याप्त है' (शिवलिंगपूजारहस्य पृ. १५-१६) (शिवलिंगपूजापर्यालोचन' (पृ. १७-१८) जब ऐसा है, तो एकदेशी रहस्य यह भी निकल सकता है कि—यह सभी अंग उन महादेव तथा महादेवीके अङ्ग हैं, उनपर विद्वान् ब्रह्माजीके कथनानुसार जलकी धारा डालते रहनेसे वे अंग शान्त रहते हैं, नहीं तो उनमें गर्मी रह जानेसे वे इधर-उधर भाग कर दूसरोंकी तथा अपनी हानि करते हैं, तब उस कथा पर उपहासकी क्या आवश्यकता? उनका दूरदृष्टिसे तात्पर्य देखना चाहिये। प्राचीन ऋषियोंसे प्रोक्त कथाएं अपनेमें कई रहस्य अन्तर्गर्भित किये हुए होती हैं। लेकिन जब कि महादेव-पार्वती मनुष्य नहीं; किन्तु देवता हैं, देवता भी नहीं, महान् देव हैं, परमेश्वर हैं; तब उनमें यह लौकिक अङ्ग अर्थ करना उनपर उपहास करना प्रतिपक्षियोंकी अपनी अदूरदर्शिता तथा अपना अज्ञान प्रदर्शन है। जो इनका लौकिक मूत्रेन्द्रिय अर्थ करते हैं; वे दीर्घबुद्धि 'यो योनिं-योनिं तिष्ठत्येकः' (श्वेताश्व. ४।११) 'योनिमेक आससाद' (ऋ. ८।२९।२) इत्यादिमें योनिका अर्थ परमात्माकी मूत्रेन्द्रिय करेंगे ? सामान्यतया 'योनि' शब्दका अर्थ

उत्पत्तिस्थान है, जिससे उत्पन्न होकर संसार चालू होता है, वह 'योनि' है। संसारके सभी स्थावर-जङ्गमोंकी उत्पत्ति स्त्रीशक्ति एवं पुरुषशक्तिके संयोगसे होती है। पदार्थ-विद्यासे तथा अनेक उपपत्तियोंसे यह सिद्ध है कि-उस-उस उत्पत्तिमें पुरुषशक्तिरूप लिंग और स्त्रीशक्तिरूप योनिका संयोग स्वतः सिद्ध होता है। तब क्या स्थावर आदियोंकेलिए 'योनि' शब्द आ जानेपर प्रतिपक्षी मानुषी-स्त्रीकी मूत्रेन्द्रिय ले लेगा ? यदि हां, तब तो सचमुच वह दीर्घबुद्धि होगा ? क्या च्यूंटीकी योनिको भी लज्जास्पद विचारसे देखेगा ? गेहूँ-जौ आदिके जिस भागमें अंकुर पैदा होता है, वह भाग अंकुरकी योनि है; क्योंकि-वह अंकुरकी उत्पत्तिका स्थान है ? क्या प्रतिपक्षी वा अन्य आर्यसमाजी उसको भी स्त्रीकी मूत्रेन्द्रिय समझकर उससे लज्जा समझेगा? ऐसी तो शतशः योनियोंको तथा बीजोंको प्रतिपक्षी नित्य खा जाता है, यह क्यों ? उनसे शर्माता क्यों नहीं ?

फलतः संसारके स्थावर-जङ्गम, जड़-चेतन सभीके कारणभूत योनि-लिंग भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। उत्पत्तिका कारण होनेसे वे भी कहे तो योनि-लिंग ही जाते हैं, परन्तु इनमें न तो घृणा होती है, न लज्जा। केवल मनुष्योंके अङ्गोंमें आजकलके लोगोंको लज्जा होती है। पशुओं तथा स्थावरोंके लिंग-योनिमें लज्जा वा घृणा नहीं होती।

इसके अनुसार देवयोनि भी मनुष्य-आकारसे विलक्षण होती है। देवयोनिमें मनुष्यकी भांति अपवित्रता नहीं होती। देवताओंके पाञ्चभौतिक मानुषसदृश शरीर भी नहीं होते; प्रायः तैजस शरीर होते हैं। अतः उनके मनुष्यके समान अङ्ग भी नहीं होते; उनका संयोग भी मनुष्योंके समान नहीं होता। स्त्री-पुरुष देवताओंमें भी अवश्य होते हैं, उनका संयोग भी

मनुष्यों-जैसा नहीं होता। सामान्य-अर्थ लेकर स्त्री-पुरुषोंकी अङ्गोंकी कल्पना भी वहां आलङ्कारितासे हुआ करती है। परन्तु जैसे गेहूँ आदिमें स्त्री-पुरुष शक्तिकी कल्पना लज्जाका कारण नहीं, वैसे देवयोनिके अंगोंमें भी लज्जा नहीं होती।

इसमें कुछ उदाहरण भी देख लीजिये। 'विष्ठा' शब्द खानेसे अलग हुए असार-भागका नाम होता है, परन्तु वेदके अनुसार भस्म अग्निदेवकी विष्ठा है (कृष्णयजुः तै. सं. १। २। १२। ३) क्योंकि अग्निने भी काष्ठादि खाकर असार भाग छोड़ा; पर उससे घृणा नहीं होती; उससे हम बर्तन मांजते हैं। गोबर, गायकी पुरीषसे भी घृणा नहीं होती, बल्कि उसको प्रायश्चित्तकेलिए भी लिया जाता है, परन्तु मनुष्यकी विष्ठासे घृणा होती है। इसके अनुसार भी लिंग-योनिके व्यापक अर्थोंके अनुसार सोचा जावे; तो शिवलिंगपर जो आक्षेप किये जाते हैं; वे सभी निर्मूल सिद्ध हो जाते हैं।

परकीय-स्त्रीका स्तनस्पर्श बुरा समझा जाता है, पर प्रतिपक्षी भी गायके स्तनोंको निरन्तर छूते हैं, उनका दूध निकालते हैं। उनमें न लज्जित होते हैं, न अश्लीलता समझते हैं। मनुष्यके मूत्रको वे घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं, पर गोमूत्रको नहीं। उसे पञ्चगव्यरूपमें उपयुक्त भी किया जाता हैं, डाक्टर जी अपने रोगियोंको भी, सम्भव है-पिलाते हों। घोड़ेकी लीदसे लोग जमीनको लीपते हैं; आर्य-समाजियोंका परमात्मा तो घोड़ेकी लेंडी-लीदसे यज्ञमें प्रतिपक्षीको भी तपाया करता है। (स्वा. द. का यजुर्वेद भाष्य ३७। ९)। पुरुषके वीर्यका स्पर्श घृणार्ह माना जाता है, उसका खाना तो असभ्यता कही जाती है, परन्तु बहुतसे लोग मुर्गा-मुर्गीके अंडोंको ही चट कर जाते हैं; जिनमें मुर्गा-मुर्गीके रज-वीर्य होते हैं। सम्भव है डाक्टर जी अपने दुर्बल-रोगियोंको भी

खिलाते हों। जलको परमात्माका 'रेत' माना जाता है, उसे प्रतिपक्षी भी प्रेमसे पीते हैं। इस प्रकार शिव-पार्वती देवता हैं, और सृष्टिके माता-पिता हैं; तब उनके लिंग-भग भी मानुषी अंग वा मनुष्यके अंगोंकी भांति घृणित वा उपहास्य नहीं होते; बल्कि संसारके पूजनीय हो जाते हैं।

अपने वीर्य और रजको प्रतिपक्षी भी मुखसे नहीं छूते होंगे, पर जब वही उनका रज-वीर्य पुत्ररूप होकर योनिके बाहर आ जाता है, तब उसी पुत्रात्मरूप बने हुए अपने रज-वीर्यको प्रतिपक्षी प्रेमसे छूते हैं; बल्कि चुम्बन भी करते हैं। अन्य पुरुषके रज-वीर्यकी पुतली अपनी पत्नी बनी हुईका भी वे मुंह चूमते हैं। अपने अण्डकोषको छूकर वे अपने हाथकी शुद्धि करते होंगे, पर ब्रह्मके अंडकोष-ब्रह्माण्डको प्रतिपक्षी भी घृणायोग्य नहीं मानते होंगे। इस प्रकार वे अपने लिंग-योनिकोअस्पृश्य, अव्यवहार्य अथवा अपूज्य मानते हैं; पर देवताओंके उन्हीं अंगोंमें अस्पृश्यता अथवा अव्यवहार्यता वा उपहास्यता नहीं होती, बल्कि वह वैदिकोंसे स्पृश्य तथा पूज्य होते हैं।

शिव देवता ही नहीं, महान् देव हैं, उनके भग-लिंग भी मानुषी नहीं होते; किन्तु दिव्य एवं पूज्य होते हैं। उत्पत्तिके कारणको लिंग कहा जाता है, सो सृष्टिकी उत्पत्तिका कारण वही शिवलिंग है। 'अंगारलिंगोऽग्निः, धूमलिंगोऽग्निः' कहनेसे मानुषी मांस-चर्मका लिंग नहीं माना जाता; वहां लिंग चिह्न-वाचक होता है, इस प्रकार शिवका ज्योतिर्मय लिंग भी मांस-चर्मके लिंग अर्थ वाला नहीं; किन्तु महान् देवके तैजस शरीर वाला होनेसे ज्योतिर्मय चिह्न अर्थ वाला है। सो यह शिवलिंग ब्रह्माण्डका प्रतीक होनेसे उपास्य होता है। शेष रही लिंगकी आकृति, इसी प्रकार तो खीरेकी आकृति भी होती है।

प्रतिपक्षी उसे खाते हैं; तो क्या अपना लिंग खाते हैं ? पीपलके पत्तेकी, तथा पानके पत्तेकी आकृति योनिके समान मालूम होती है, तब प्रतिपक्षी पान खानेपर स्त्रीयोनि खाते हैं ? वस्तुत: दयानंदीय नियोगमय मस्तिष्क होनेसे प्रतिपक्षियोंको सर्वस्थान यही मूत्रेन्द्रिय दीखते रहते हैं—शायद इसीमें सदा रमे रहनेसे इनको गौतम-मुनिका सहस्रभगता शाप मिला हुआ है। शाप हटनेसे मस्तिष्कका विकार दूर हो जाने पर फिर उन्हें सहस्रनेत्र हो जाने से ठीक-ठीक दीखने लगेगा। तब उन्हें ठीक समझ भी आ सकेगी। हमने उनके मस्तिष्कको शुद्धचर्थ प्रयत्न तो किया है, दयानन्दीय नियोगका विकार दूर हो जानेपर फिर वे ठीक समझने लगेंगे।

महानन्दाकी कथा।

(ग) शेष है महानन्दाकी बात; उसपर भी प्रतिपक्षी सुने। वह शिवभक्ता थी, परन्तु थी वेश्या। शिव उसकीं भक्ति तथा सत्यता आदिकी परीक्षार्थ गये। वहीं अन्तमें शिववचन लिखा है—'सत्यं धर्मं च धैर्यं च भक्तिं च मयि निश्चलाम्। परीक्षितुं त्वत्सकाशं वैश्यो भूत्वाऽहमागत:' (शतरुद्रसं. २६। ५४)। पूर्व भी यही लिखा है—'एकदा च गृहे तस्या वैश्यो भूत्वा शिव: स्वयम्। परीक्षितुं च तद्भावमाजगाम शुभो व्रती' (२६।१३)। सो परीक्षार्थ विरुद्ध बातें भी करनी पड़ती हैं।

उनके हाथमें महारत्नमय कङ्कण था, वेश्या उसे देखकर लोभमें आ गई, और उसे उसने लेनेकी इच्छा प्रकट की। यही परीक्षाका अवसर था। शिवने कहा—'ले लो, पर इसका मूल्य क्या दोगी (२०)? यहां शिवजीने प्रतिपक्षीके अनुसार कोई फीस नहीं दी; उन्होंने तो उल्टा रत्नका मूल्य मांगा। वेश्याने कहा—'दिनत्रयमहोरात्रं पत्नी तव भवाम्यहम्' (२२) (मैं तीन दिन-रातकेलिए तुम्हारी पत्नी बनूंगी)।

महादेवने यही उसकी पत्नी होनेकी परीक्षा लेनी थी। पत्नी का कार्य पातिव्रत्य हुआ करता है, सुख-दुःख की सहचरी, केवल भोगकेलिए पत्नी नहीं होती। सो पतिके मरने पर वह भी मरे, यह उसका उच्च-दर्जेका लौकिक धर्म हुआ करता है, यही शंकरने देखना था। उस समय वे वैश्य थे। उन्होंने रत्नमय कंकण तो दे ही दिया, एक लिंग भी सुरक्षित बना रखनेकेलिए दिया था (२८)

पत्नीत्वकी पहली साधारण परीक्षा थी—पतिके साथ इकट्ठे सोना। मैथुन तो उसकी परीक्षा व्यर्थ थी, क्यों कि—कौन वेश्या भला मैथुनकी मनाही करे। यहां तो वास्तविक यह परीक्षा करनी थी कि यदि वह पत्नी बनती है; तो मरे पीछे सती होती है या नहीं। सो वह सुखपूर्वक सोगई—'सा तेन सङ्गता रात्रौ वैश्येन विटधर्मिणा। सुखं सुष्वाप पर्यङ्के मृदुतल्पोपशोभिते' (३०) यहां इकट्ठा शयन तो कहा है, पर मैथुन कहीं भी नहीं कहा। 'विटधर्मी' का अर्थ है धूर्तधर्मी; सो परीक्षामें धूर्तता करनी ही पड़ती है। वेश बदल लेना—यह यहां धूर्तताका लक्षण कहा है। वैसे तो 'रामा रमणायोपेयते न धर्माय कृष्णजातीया' (निरुक्त १२। १३। २) इसके अनुसार यहां वैश्यका उससे रमण भी हो जाता; तो वह कृष्ण (शूद्र) जातीयाकेलिए वैश्यका कथञ्चित् अभ्यनुज्ञात था; पर वह तो वहांपर हुआ नहीं। वह तो महादेवके मैथुनको सह भी नहीं सकती; वह तो प्रकृतिरूपा पार्वतीमें सामर्थ्य थी, अन्य स्त्रीमें नहीं। यह प्रतिपक्षी भी मानते हैं—'पार्वतीं च विना नान्या लिङ्गं धारयितुं क्षमा' (मेरे लिङ्गको पार्वतीके विना और कोई धारण नहीं कर सकता' ('शिवलिंगपूजारहस्य' पृ. २५-२६) यह हमारा किया हुआ अर्थ नहीं; प्रतिपक्षीका किया हुआ अर्थ है। जब ऐसा है; तो

मानुषी वेश्यामें वह सम्भव कैसे हो ? यदि यहां लिंगका यह अर्थ नहीं; तब 'शिवलिंग'में भी यह अर्थ नहीं ले सकते। यदि वहां यह अर्थ है; तो मानुषी-वेश्यामें भी शिव-मैथुन उपपन्न नहीं हो सकता।

महादेवकी यह विशेषता थी कि-'विकारहेतावपि विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः' (कुमारसम्भव १ । ६६)। इस-लिए शिवपुराणमें भी शिवको 'धीरः' (शतरुद्र. २६ । ४२) कहा है। यहां बारूद और आग इकट्ठे रहे, फिर भी फटे नहीं। यह असिधासव्रत होता है। जैसे दम्पती पहले तीन दिनों (चतुर्थी-कर्मसे पूर्व) वा अन्य विशेषव्रतोंमें इकट्ठे सोते हैं; और ब्रह्मचारी रहते हैं। पति-पत्नी वन जानेपर भी वे मैथुन नहीं करते, मैथुन से रहित इकट्ठे सोते हैं। देखिये-पारस्करगृह्यसूत्र (१।८। १६)। जैसे श्री सीता वनमें श्रीरामके साथ रातमें इकट्ठी सोती हुई भी 'नियता ब्रह्मचारिणी' (२।२७।१३) श्रीवाल्मीकिके इन शब्दोंमें ब्रह्मचारिणी रहती थी, वैसे यहांपर भी समझ लेना चाहिये। जो इसे नहीं समझ वा मान सकते; वे स्वयं विकारी हैं।

श्रीशिव पूर्णकाम थे, इसके अतिरिक्त पार्वती जैसी अलौ-किक-सुन्दरी उनकी पत्नी थी। तब उन्हें निम्नकोटिकी एक साधारण वेश्याकी कोई आवश्यकता भी नहीं थी; वहां तो केवल उसकी जन-प्रसिद्ध शिवभक्ति तथा सत्यताकी परीक्षा करनी थी। एतदर्थ वहां उनका आना हुआ; वेश्या-गमनार्थ नहीं।

प्रतिपक्षीके स्वामीके पास एक बालविधवा २३ वर्षकी युवति रमाबाई आकर टिकी थी। स्वामीने उसे समागमकी तिथि लिख भेजी थी। स्वामीने उसे दुशाला आदि भी भेंट

किया था। अब वे जिस ढंगसे वहां ब्रह्मचारी रहे; वही यहांपर भी प्रतिपक्षीको समझ लेना चाहिये। यदि यहां कहा जावे कि-वे रमाबाईके साथ इकट्ठे तो नहीं सोये, तो यह स्वामीकी दुर्बलेन्द्रियता समझनी पड़ेगी कि-वैसा करने उन्हें अपनेपर काबू पानेका विश्वास नहीं था; पर आस्तिक एवं संयतेन्द्रियचित्तको ऐसे अवसरोंपर कोई डर नहीं रहता। हमारे यहां तो ऐसे बहुतसे उदाहरण मिलते हैं; जहां स्त्री साथ इकट्ठे सोते हुए भी पुरुष अविचल रहे। देखिये-

महाभारतके अनुशासनपर्वमें अष्टावक्रके साथ एक स्त्री गई। उसकी कामेच्छा जानकर भी वे शान्त रहे-'श्रोत्र भुजाभ्यां तु ऋषिं प्रीत्या नरर्षभ ! निर्विकारमृषिं चापि कुड्योपमं तदा' (१६।७६, ८८, २०। १२) कैसा आदर्श वही आदर्श यहां वेश्याके साथ सोनेपर भी शिवका था। अर्जुनके पास उर्वशी अप्सरा उसपर अनुरक्त होकर आधीरातको निवासमें आई थी; तथापि अर्जुन विकारी न हुए; नपुंसकताका उस से दिया शाप सहर्ष स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार प्रतिपक्षी यहां भी समझ ले। वेश्यासे सम्भव नहीं भी था। पहली रातमें सोते ही शिवसे संरक्षणार्थ दी हुई लिंगमूर्तिको शिवमायासे आग लग और शिवने उसके प्रतीकाररूपमें जलनेकी तैयारी कर अब वह फालतू समय वहां कहां था ? स्पष्ट है कि-वहां की गुंजायश ही नहीं थी। प्रतिपक्षी भी स्वयं मानता है शिवका लिङ्ग सदा ब्रह्मचर्यमें रहता है-'नित्येन ब्रह्मचर्येण लिङ्ग यदास्थितम्। महयत्यस्य (पूजयत्यस्य) लोकश्च प्रियमे त्मनः। लिंगमेवार्चयन्ति स्म यत्तदूर्ध्वं समास्थितम्' (महा १६१। १५-१७)। यहां प्रतिपक्षी अर्थ करता है-'इसमें लि

स्पष्ट शब्दोंमें बताया है कि–शिवजीका लिंग सीधा ऊपर खड़ा है और ब्रह्मचर्यमें स्थित है' ('शिवलिंगपूजारहस्य' पृ० १४); यहां प्रतिपक्षीने 'नित्य' शब्दका अर्थ छोड़ दिया; तब 'नित्य ब्रह्मचारी शिवलिंगके' मैथुनका अर्थ प्रतिपक्षी अपने विरुद्ध कैसे कर सकता है ?।

तब महादेवके ही प्रभावसे वहां अग्नि लग गई (३२) वहां लिंग भी जिसे महादेवने महानन्दाको रखनेकेलिए दिया था, जल गया। 'स्तम्भेन सह निर्दग्धं तल्लिगं शकलीकृतम्' (३५) इसपर महादेवने दूरका विचार किया कि–इस मायिक कृत्रिम वैश्यशरीरको जिसने वेश्याका स्पर्श किया था; जलाया जाय, इससे लोकदृष्टिमें प्रायश्चित्त भी हो जाय; और फिर यह वेश्या जो हमारे इस वैश्य-देहकी पत्नी बनी थी, यह भी उसके पीछे जलती है या नहीं; यह इसकी सत्यताकी परीक्षा भी हो जाय। इस प्रकार शंकरने 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा' न्यायको चरितार्थ किया—'दृष्ट्वा ह्यात्मसमं लिंगं दग्धं वैश्यपतिस्तदा। ज्ञातुं तद्भावमन्तःस्थं मरणाय मतिं दधे' (३६) 'शिवलिंगे तु निर्भिन्ने दग्धे मत्प्राण-वल्लभे। सत्यं वच्मि न सन्देहो नाहं जीवितुमुत्सहे' (३८) 'चितां कारय मे भद्रे! ···प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्' (३९) उसे चिता बनानेकेलिए कहा, और वे चितामें घुस गये–'विवेश पश्यत्सु नरेषु धीरः सुकौतुकी सङ्गति भावमिच्छुः' (४२) इससे सत्यव्रता वेश्या दुःखी हुई, और अपने धर्मको पूरा करनेकेलिए वन्धुओंको कहा कि–'दिनत्रयमहं पत्नी वैश्यस्यामुष्य सम्मता। (४५) मैं तीन दिनकेलिए इस वैश्यकी पत्नी बनी थी। मुझसे की हुई असावधानतासे यह शिवभक्त जल गया है, मैं भी पत्नीधर्मके कारण जलती हूँ—'कर्मणा मत्कृतेनाऽयं मृतो वैश्यः शिवव्रती। तस्मादहं प्रवेक्ष्यामि सहानेन

हुताशनम् (४६) 'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्' (४८)। वन्धुओंने वहुत निषेध किया; पर सत्यव्रता वह जलनेको तैयार होगई। (४९)। 'तां पतन्तीं समिद्धेऽग्नौ स्वपदार्पितमानसाम्। वारयामास विश्वात्मा प्रादुर्भूतः स वै शिवः' (५१) तब विश्वात्मा (परमात्मा) शिवने प्रकट होकर उसे बचा लिया। परीक्षा हो गई; और वह फर्स्ट-डिवीजनमें पास हो गई और फिर भी शिवचरणकमल का स्पर्श चाहा।

कहां है यहां प्रतिपक्षिसम्मत व्यभिचार? व्यभिचारमय दयानन्दी-नियोगने अपने इन भक्तोंको ऐसा अपनेसे अभिन्न बना दिया है कि–सर्वत्र इनको 'विल्लीको छिछरोंका ख्वाब' व्यभिचारके सपने आते हैं; इनकी पेटेन्ट नाकको सर्वत्र व्यभिचारकी गन्ध आती है। मस्तिष्कको शुद्ध रखनेपर ही यह गम्भीर विषय समझमें आते हैं, अन्यथा नहीं। तब यहां स्पष्ट होगया कि–यह तो उस सत्य-निष्ठामें प्रसिद्ध वेश्याकी सत्यनिष्ठाकी परीक्षा थी, वेश्यागमन नहीं। इस प्रकार पुराणमें अन्यत्र गण्डकी-वेश्याकी विष्णुद्वारा परीक्षा आई है। वे गण्डकी को मनवा गये कि–एक रात वह उनकी पत्नी रहेगी। वे बड़े सुन्दर-पुरुषरूपमें आये थे। जब वे रातके ९-१० बजे आये, तो देखते ही देखते उन्हें गलित-कुष्ठ हो गया। तब वह वेश्या उसे रुई से दवाई लगाती रही। फिर रात्रिके २-३ बजे उस पुरुषको हैज़ा हो गया; तब वह वेश्या उस पुरुषके दस्त-उल्टियां साफ करती रही। फिर सूर्योदयसे पूर्व उस पुरुषकी मृत्यु होगई; तब वह सम्बन्धियोंके निषेध करनेपर भी उसके साथ सती होनेको तैयार हो गई, क्योंकि उसने कहा था कि– मैं एक रातकेलिए इसकी स्त्री बनी थी, मैंने इसकी रोगमें शुश्रूषा की; अब इसके मरनेपर मेरा भी अनुमरण स्वाभाविक है। जब चितामें आग

दी गई; तो उसने देखा कि–वह पूर्व मृतक पुरुष हँस रहा है। वह बड़े ग्राश्चर्यमें पड़ी, और पूछा कि–तुम कौन हो? पहले सुन्दर थे, फिर गलितकुष्ठी बने, फिर हैजाके शिकार बने, फिर मर गये और अब हँस रहे हो। तब भगवान्ने अपने स्वरूपमें प्रकट होकर उसकी सत्यनिष्ठताकेलिए उसे दर्शन दिया और सद्गति दी। वही गण्डकी नदीरूपमें परिणत हुई।

फलतः यहां वेश्याकी भी सत्यनिष्ठताकी परीक्षा अभिप्रेत है; और उन्हें शिक्षा दी है कि–तुम एक रात्रिकेलिए भी जिसकी स्त्री बनी हो, उसका सर्वात्मना संरक्षण और शुश्रूषण करो; दूसरी ओर ध्यान न दो। सो किसी कथाका भी तात्पर्यमात्र लिया जाता है; पर प्रतिपक्षी लोग उधर ध्यान न देकर अपने मस्तिष्कको कामसंभृत सिद्ध करनेकेलिए जोंककी भान्ति दुग्ध-पूर्ण स्तनमें भी पीप ढूंढते रहते हैं। इससे उनका चरित्र अवश्य शोचनीय है। २२।

कौन पिता?।

(३२) प्रश्न—ब्रह्मा, विष्णु, महादेव तीनों एक दूसरेके बाप होनेका दावा करते हैं। बतावें कि–वास्तवमें तीनोंमें बाप बननेका दावा किसका सच्चा है?। २३।

उत्तर–कई बार इसपर प्रकाश डाला जा चुका है। मूल पदार्थ एक ही होता है, वही अज, अविनाशी, निर्गुण, निर्विकार तथा सर्व-व्यापी होता है। वही मूल पदार्थ अपनी शक्तिसे अनेक सगुणरूपोंमें लीलार्थ व्यक्त होता है। वे हैं सगुण रूप ब्रह्मा, विष्णु और शंकर। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है–'सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते। स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञां श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः' (१।२।२३) (प्रकृतिके तीन गुण हैं;

सत्त्व, रज और तम। 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्म मायया' (गीता ४।६) के अनुसार अपनी प्रकृतिको स्वी करके संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकेलिए एक अ परमात्मा ही ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र-इन तीन संज्ञाओंको प्र करते हैं। 'गुणमय्या स्वशक्त्याऽस्य सर्गस्थित्यपयान् विभो धत्से यदा स्वदृग् भूमन्! ब्रह्म-विष्णु-शिवाभिधाम्' (८। २३) (हे प्रभो! अपनी गुणमयी शक्तिसे इस जगत्की सृ स्थिति और प्रलय करनेकेलिए आप अनन्त एक-रस होनेपर ब्रह्मा, विष्णु,शिव आदि संज्ञाएं धारण कर लेते हैं।) यही विष्णुपुराणमें भी कही है–'सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मवि शिवात्मिकाम्। स संज्ञां याति भगवान् एक एव जनार्दनः (अ अंश २।६६)।

सगुणका भाव है गुणाधिष्ठाता, वस्तुतः वे भी गुणा होते हैं। शिवपुराण रुद्रसं. सतीखण्डमें कहा है–'कस्त्वं को को ब्रह्मा तवैव परमात्मनः। अंशत्रयमिदं भिन्नं सृष्टि-स्थि कारणम्' (१९।७२) चिन्तयस्वात्मानात्मानं स्वलीलाधृतवि एकस्त्वं ब्रह्म सगुणा ह्यंशभूता वयं त्रयः (७३) शिरोग्री भेदेन यथैकस्यैव वर्ष्मणः (शरीरस्य)। अंगानि ते तदे तस्य भागत्रयं हर!' (७४) इस प्रकार दशम-अध्यायमें भी कहा है–'युवयोरन्तरं नैव तव रुद्रस्य किञ्चन' (१०।६) तश्चापि चैकत्वं वरतोपि तथैव च। लीलयापि महादि सत्यं सत्यं न संशयः। रुद्रभक्तो नरो यस्तु तव (विष्णोः) करिष्यति। तस्य पुण्यं च निखिलं ध्रुवं भस्म भविष्यति नरके पतनं तस्य (९)। 'त्वं ब्रह्मा, त्वं च विष्णुः, त (मैत्र्युपनिषद् ५।१, ४।४।१२-१३)

परन्तु मूलरूपके अनिर्वचनीय, अचिन्त्य एवं अगम्य

न उसकी स्तुति हो सकती है, न पूजा वा उपासना। वहांपर 'नेति-नेति' (बृहदारण्यक ४(६)।४।२२) कहनेके अतिरिक्त उसका किसी प्रकार भी वर्णन नहीं हो सकता; न उसका ध्यान वा सन्ध्या हो सकती है। न हमारे जीवनपर उसका कोई प्रभाव पड़ता है, न हम उससे कुछ प्रार्थना ही कर सकते हैं। उस समय किसी मानुषी-गुण प्रेम-दयालुता आदिका हम उसके साथ सम्बन्ध नहीं कर सकते। कदाचित् वह युक्त-योगियोंके ज्ञानका परम-लक्ष्य तो हो सके, परन्तु वह **किसीसे उपासनीय नहीं हो सकता**। उपासनीय वह अपने विशिष्ट अर्थात् सगुण-रूपमें ही होता है। मनुष्यके हृदयमें उसके जिस रूपकेलिए भक्ति, पूजा और उपासना है, वह उसका विशिष्ट एवं सगुण-रूप ही है; और वह रूप वेदादि-शास्त्रोंमें अनेक-रूपोंमें पूजा जाता है। उन्हीं रूपोंको देवता कहते हैं।

उन्हींमें कई हो जाते हैं अंगी; और कई अंग होते हैं। उन्हींको वेदपुराणादिमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, अग्नि, वायु, सूर्य, इन्द्र, यम, वरुण आदि कहा जाता है। इनमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रको मुख्य माना जाता है। तीन गुण सर्व-व्याप्त होनेसे देव भी तीन मुख्य माने जाते हैं। उन्हींका वर्णन करनेवाले पुराणादि भी त्रिगुणात्मक होते हैं। फिर भक्त भी त्रिगुणात्मक होनेसे उनकी अपने अनुकूल एक देवमें रुचि हुआ करती है। लेकिन मन अस्थिर होनेसे कभी वह इधर जाना चाहता है, कभी उधर। तब उसका हाल चमगादड़-जैसा हो सकता है, जो पक्षियोंकी विजयमें कहता था—मैं पक्षी हूँ, मेरे पंख हैं, और पशुओंकी विजयमें कहता था—मैं पशु हूँ, मेरे दान्त हैं। कई बार दोनोंकी जय-पराजयमें वह दोनों ओर आता-जाता था; पर फिर दोनों पक्षोंने उसका बहिष्कार कर दिया।

इस कारण एक पुराणमें एक देवको बड़ा बताया जाया है, और दूसरेको छोटा। एक देवकी स्तुति तथा दूसरे देवकी निन्दा आती है। जो उच्च ज्ञान रखता होगा, वह तो इसमें अद्वैतताका, तीनोंके अभेदका तात्पर्य ले लेगा। वह किसीकी स्तुति तथा दूसरेकी निन्दाको अर्थवाद, केवल प्रवर्तक-निवर्तक समझेगा।

मध्यम ज्ञानवाला तीनमें किसी एकको अपना उपास्य चुन लेगा, दूसरेकी ओर दृष्टिपात भी न करेगा; और अधम ज्ञान वाला अपने देवसे इतर देवकी अपने पुराणमें निन्दा देखकर उसे ग्रहण न करेगा; और अधमाधम व्यक्ति केवल निन्दावाक्योंको लेकर शिवभक्तके आगे विष्णुके पुराणमें प्रोक्त शिवके निन्दक वाक्योंको सुनाकर उसको उससे च्युत करेगा; और विष्णु-भक्तके सामने शिवके पुराणमें कहे विष्णु-निन्दक पद्योंको सुनाकर उससे उसको च्युत करेगा; और उन दोनों पुराणोंको सर्वसाधारणमें परस्पर-विरुद्ध दिखला कर उनकी इतस्ततः निन्दा फैलाता फिरेगा, और स्वयं 'इतो भ्रष्टः ततो नष्टः' होता हुआ अपने नवीन-सम्प्रदायके सब्जबाग दिखाकर उन लोगोंको उसमें फंसानेकी चेष्टा करके अपने पैसे खरे करनेकी चेष्टा करेगा।

सो प्रतिपक्षीको जानना चाहिये कि—शिवके पुराणमें यदि शिवको पिता तथा ब्रह्मा, विष्णु आदिको पुत्र कहा गया है, उसमें आश्चर्यजनक कोई बात नहीं। यह तीनों स्वयम्भू हैं, किसीने किसीको किसी स्त्रीसे पैदा नहीं किया। कोई किसीके मुखसे प्रकट हुआ, कोई किसीके माथे से, कोई किसीकी नाभिके पद्मसे। सो यहां **'पिता-पुत्र'** शब्द लाक्षणिक हैं, वास्तविक नहीं। कवि नामक अङ्गिराका लड़का शिशु बचपनमें अपने बाप-दादोंको स्वदृष्ट मन्त्र पढ़ाया करता था। पढ़ाते हुए उन्हें कहता था—

पुत्रो ! पढ़ो, समझो। देखिये इस पर मनुस्मृति–'अध्यापयामास पितृन् शिशुरांगिरसः कविः। पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्' (२। १५१) इससे उसके पितरोंको क्रोध आया कि–हम पितरोंको यह पुत्र कैसे कहता है ? यह कथा 'ताण्डयमहाब्राह्मण'में भी आई है–'स (शिशुः) पितृन् पुत्रका इत्यामन्त्रयत' (१३। ३) अतः प्रक्षिप्त भी नहीं; जैसा कि आर्यसमाजी श्री–तुलसीरामस्वामीने अपनी मनुस्मृतिकी टीकामें उसे प्रक्षिप्त श्लोकोंमें रख दिया है। उन्होंने देवताओंसे 'पुत्रकाः' कहनेके औचित्यपर पूछा। इसपर देवताओंने कहा कि–इसने आप लोगोंको 'पुत्र' ठीक कहा है। 'देवाश्चैतान् समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान्' (२। १५२) 'अज्ञं हि बालमित्याहुः, पितेत्येव तु मन्त्रदम्' (१५३)। फिर देवताओंने इसे स्पष्ट किया–'न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः। यो वै युवाऽप्यधीयानः तं देवाः स्थविरं विदुः' (१५६) 'स्वधर्मस्य च शासिता। बालोपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः' (१५७)। अर्थात् जो उस विषयमें अज्ञानी है, वह वृद्ध होनेपर भी बालक है, और ज्ञानी, बालक होनेपर भी पिता है। पुस्तकोंमें आता है–'बालानां सुखबोधाय, बालानां सुखबुद्धये, बालधीवृद्धिसिद्धये' सो यहां उस विषयके अनभिज्ञको चाहे वह १०० वर्षका भी हो, बालक कहा गया है। मनुस्मृति (२। १३५) में दश वर्षके ब्राह्मणको वर्णोच्चता के कारण पिता और १०० वर्षके राजाको वर्णनिम्नताके कारण 'पुत्र' बताया गया है। ऋ. सं.में मन्त्र आया है–'यः ता विजानात्, स पितुः पिताऽसत्' (१। १६४। १६) अर्थात् विद्वान् पुत्र अपने पिताका भी पिता है। पिताका पिता कैसे ? यहां भी वही तात्पर्य है।

प्रतिपक्षीके आक्षेप्य पद्य यह हैं–'कुतस्त्वमागतो वत्स !

(शिव. वायव्य. २। ३४। २२) यहां विष्णुने ब्रह्माको पुत्र कहा है। तब रजोगुणी ब्रह्मा क्रोधमें आकर बोले–'वत्सेति मां कुतो ब्रूषे ···प्रपञ्चो यस्य मे कृतिः' (३४। २३-२४)। मुझे पुत्र क्यों कहते हो, मैंने तो सभीको पैदा किया है। विष्णुने कहा–'भवानपि ममैवांशाद् अवतीर्णः' (२६) तथापि जनकं साक्षाद् मामेवमवमन्यसे' (२८) तुम भी मेरे अंशसे अवतीर्ण हुए हो; तब मुझ पिताको भी तुम अपमानित करते हो'!

इस विवादका अन्त महादेवको इन दोनोंसे बड़ा (पिता) करनेमें हुआ। 'ब्रह्मा सस्मार पितरं भगवन्तं त्रिलोचनम्' (शिव. ७। १। ११। २१) यहां शङ्करको ब्रह्माका पिता कहा है। 'ततः प्राणेश्वरो रुद्रो···प्रादुरासीत् प्रभोर्मुखात्' (१२। २६) यहां रुद्रकी ब्रह्माके मुखसे उत्पत्ति बताई है। 'मां विद्धि परमात्मानं तव पुत्रत्वमागतम्' (१। १२। ३८) यहां रुद्रने ब्रह्माको अपना पिता कहा है। 'वत्स ! वत्स ! विधे ! विष्णो ! मायया मम माहितौ' (७। २। ३५। ७१) यहां महादेवने ब्रह्मा और विष्णुको अपना लड़का बताया है। इन सबका रहस्य वही है, जो पूर्व कहा जा चुका है। जो ज्ञान देने वाला होगा, वही पिता कहा जावेगा, चाहे वह छोटा भी हो। एतदादि-स्थलोंमें पिता-पुत्र शब्द लाक्षणिक, औपचारिक हैं। पुराणमें कथा आई है कि शिव-पार्वती विवाहमें आचार्यने पूछा कि–अपने पिता, दादा, पड़दादाका नाम बताइये। शिवने कहा कि–मेरे पिता ब्रह्मा हैं, विष्णु दादा हैं; और पड़दादा सबका मैं हूँ, सब हँसने लगे। इस सबका रहस्य यह है कि–यह तीनों एक हैं, जैसा कि–श्रीमद्भागवतमें कहा है–'सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते, स्थित्यादये हरिविरञ्चिहरेतिसंज्ञाः श्रेयांसि तत्र

खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः' (१ । २ । २३) कैवल्योपनिषद्में भी कहा है—'स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः··· स एव विष्णुः (१ । ८)

एक अन्य भी गम्भीर कारण है। वह यह है कि-कल्पोंके भिन्न-भिन्न होनेसे गुणोंकी विषमताके कारण कभी सृष्टिकर्ता वा प्रधान शिव होते हैं (यह शिव-पुराणमें स्पष्ट है), किसी कल्पमें ब्रह्मा प्रधान होते हैं, और किसी कल्पमें विष्णु। जो उस कल्पमें आदि-कारण होगा, वही मुख्य होगा, वही पिता कहावेगा। शेष दो उसके अधीन, एवं गौण होनेसे पुत्र कहावेंगे। इस कल्पभेद-व्यवस्थामें प्रतिपक्षिप्रोक्त कोई भी विरोध नहीं रह पाता। यह केवल हम ही नहीं कहते, देखिये-पुराण स्वयं कहता है-'त्रयस्ते (ब्रह्म-विष्णु-रुद्राः) कारणात्मानो जाताः साक्षान्महेश्वरात्। चराचरस्य विश्वस्य सर्गस्थित्यन्तहेतवः' (शिव. वायवीयसं. पू. १३ । १३) 'लब्ध्वा सर्वात्मना तस्य प्रसादात् परमेष्ठिनः। ब्रह्मनारायणौ पूर्वं रुद्रः कल्पान्तरेऽसृजत्' (१३ । १७) यहां रुद्र-द्वारा एक कल्पमें ब्रह्मा और विष्णुका उत्पन्न करना कहा है। 'कल्पान्तरे पुनर्ब्रह्मा रुद्र-विष्णू जगन्मयः' (१८) यहां अन्य कल्पमें ब्रह्मा-द्वारा रुद्र और विष्णुकी उत्पत्ति कही गई है। 'विष्णुश्च भगवान् रुद्रं ब्रह्माणमसृजत् पुनः' (१३ । १८) यहां किसी कल्पमें विष्णुद्वारा रुद्र और ब्रह्माकी उत्पत्ति बताई गई है। 'पाद्मे भविष्यति सुतः कल्पे तव पितामहः' (रुद्रसं. सृष्टि- ६ । ६४) यहां पर पाद्म-कल्पमें ब्रह्माको विष्णुका लड़का बताया गया है।

'नारायणं पुनर्ब्रह्मा, ब्रह्माणं च पुनर्भवः। एवं कल्पेषु-कल्पेषु ब्रह्म-विष्णुमहेश्वराः' (१९) परस्परेण जायन्ते परस्परहितैषिणः। तत्तत्कल्पान्तवृत्तान्तमधिकृत्य महर्षिभिः (२०) प्रभावः कथ्यते तेषां परस्परसमुद्भवात्' (१३ । २१) 'प्रजापतिश्च विष्णुश्च रुद्रावेतौ

परस्परम्। सृष्टौ परस्परस्याङ्गाद् इति प्रागपि शुश्रुम' (१३ । ७) इन पद्योंसे प्रतिपक्षीका पुराणखण्डनात्मक पक्ष सर्वथा चूर्ण हो जाता है, पर यह लोग (प्रतिपक्षी) भी दयनीय हैं, संस्कृतका पूर्णज्ञान इन्हें होता नहीं, बहुश्रुत यह होते नहीं; वेद-पुराणकी समन्वयात्मक दृष्टि उनसे कोसों दूर रहती है। केवल पूर्वापरप्रकरणविरहित कई तीव्र मालूम होने वाली बातें अपनी नोटबुकमें नोट कर लेते हैं; और अपने पेट भरनेकेलिए छोटे-छोटे ट्रेक्ट अबोध जनतामें बाँट कर उसको गुमराह करनेका पाप कमा रहे होते हैं; और भ्रान्तोंमें होहल्ला हो जानेसे अपनी स्तुति समझ लेते हैं। वह स्तुति भी इन्हें मिलती नहीं। एक कविने क्या हो ठीक कहा है—'अद्यापि दुर्निवारं स्तुति-कन्या वहति कौमारम्। सद्भ्यो न रोचते साऽसन्तस्तस्यै न रोचन्ते' (स्तुति नाम वाली कन्या अभी तक भी क्वारी है। सत्-पुरुष उसे पसन्द नहीं करते और वह असत्-पुरुषोंको पसन्द नहीं करती। इसलिए वह अभी भी कुमारी हो है।)

देवता एक दूसरेके उत्पादक होते हैं-इस विषयमें प्रतिपक्षी निरुक्तका प्रमाण भी देख ले। उसमें लिखा है—'अपि वा देवधर्मेण इतरेतरजन्मानो स्याताम् इतरेतर-प्रकृती' (११ । २३ । ४) अर्थात् देवताओंमें एक धर्म यह भी होता है कि-एक-दूसरेको वे पैदा करते हैं। यह बहुत स्पष्ट वचन है; इस विषयमें यह वेद-वचन भी निरुक्तने प्रमाणित किया है—'अदितेर्दक्षो अजायत, दक्षाद्वदितिः परि' (ऋ. १० । ७२ । ४)। निरुक्तने बताया है-देवधर्मवश देवता एक-दूसरेको भी पैदा करते हैं। दक्षसे अदिति पैदा हुई, और वह उसकी पुत्री हुई, और अदितिसे दक्ष पैदा हुआ, वह उसका पुत्र माना जाता है। वृक्षसे बीज पैदा होता है; बीज से वृक्ष। इस प्रकार वेदभाष्य-रूप पुराणोंमें भी समझा जा सकता

है। वही पिता वही पुत्र बन जाता है—'स पिता स पुत्रः' (ऋ. १।८९।१०) यदि प्रतिपक्षी बहुश्रुत बन इन सबको निष्पक्ष-दृष्टिकोणसे पढ़े, तो वह आर्यसमाज को छोड़कर सनातनधर्मी बन जाए। पर वृत्ति और उससे मानकी प्राप्तिकी आशा बीचमें बाधक बन जाते हैं।

फलतः जिस कल्पमें ब्रह्मादियोंमें जो देव बड़ा होता है, उस कल्पका पुराण उसीकी शेष दोकी अपेक्षा महत्ता (पितृता) बताता है; जैसे सृष्टि पञ्चभूतात्मक होती है। जिस भूतमें प्रलय होता है; प्रलयान्तमें सृष्टिकी आदिमें फिर उसी भूतसे अन्य भूतोंकी उत्पत्ति बताई जाती है; इसलिए पहले कहीं आकाशपूर्विका सृष्टि आती है, और कहीं अग्निपूर्विका, कहीं जलपूर्विका। इसी-प्रकार इस त्रिगुणात्मक-सृष्टिमें जिस गुणवाले देवतात्वमें प्रलय होता है, सृष्टिकी आदिमें फिर वही देवता बड़ा बनकर उपस्थित होता है। इन बातोंका यदि प्रतिपक्षी सम्यक् विचार कर ले; तो उसे अल्पज्ञ-लोगोंको गुमराह करनेकी आवश्यकता न पड़े। अब वह समझ गया होगा कि—तीनों देवोंमें किसका बाप बननेका दावा सच्चा है? पुराणमें प्रतिपक्षियोंसे किये जाते हुए सभी आक्षेपोंके परिहार हैं; पर उन्हें पूर्ण पढ़नेसे वे स्फुरित होते हैं। पूर्वापर-प्रकरण छोड़ देने से अथवा अदूरदर्शितावश उनसे भ्रम बढ़ जाता है। प्रतिपक्षी यही करके अपना पेट भर रहे हैं!

प्रतिपक्षीको सदाकेलिए यह भी याद रख लेना चाहिये कि-ब्रह्मा, विष्णु, महादेव तीनों अपने-अपने स्थानमें बड़े हैं। किसीका परस्पर अंगांगिभाव वास्तवमें नहीं। आपसमें कोई विरोध भी नहीं। जहां परस्पर अंगांगिभाव आभात होता हो; वहां वह उनके अंशोंका समझना चाहिये। वे भी ब्रह्मा, विष्णु, महादेव कहे जाते

हैं। साहित्यके उच्च-ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश'में एक प्रश्न आता है कि-जबकि रस स्वप्रकाश तथा आत्ममात्रविश्रान्त, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य एवं अखण्ड माना जाता है; तब एक समयमें दूसरेके न आ-सकनेसे न तो परस्पर-अंगांगिभाव हो सकता है, न परस्पर-विरोध। फिर रसोंका परस्पर विरोध कैसे दीखता है? इसपर वहां उत्तर दिया गया है कि यह ठीक है। जहांपर रसोंका परस्पर विरोध दीखे, वहां रसोंका विरोध न होकर रसके स्थायिभावोंका विरोध समझना चाहिये। उन स्थायिभावोंको भी 'रस' कहा जाता है। इसी प्रकार 'रसो वै सः' (तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली २, सप्तम अनुवाक, तैत्तिरीयारण्यक ८।२।७) रसस्वरूप परमात्माके विषयमें भी समझना चाहिये।

जैसे रस अखण्ड होता हुआ भी नौ भेद रखता है, वैसे ही रसस्वरूप परमात्मा अखण्ड होता हुआ भी ब्रह्मा, विष्णु, महेश यह तीन सगुणरूप रखता । अद्वैततावश तीनों एक हैं। आत्ममात्रविश्रान्त होनेसे इनका परस्पर अंगांगिभाव वा विरोध नहीं हो सकता; तब जो कहीं वैसा आभास हो; वहां इनके उन्हीं नामों वाले अंशोंका ही तथात्व जानना चाहिये। उन्हें भी उसी नामसे कहा जाता है। इनमें पुराणका ही संकेत देखिये—'मूल-रुद्रस्यांशभूतो रुद्रनामा द्वितीयकः। सोपि पूज्योऽस्ति सर्वेषां मूल-रुद्रस्य का कथा?' (देवीभागवत ५।१।२९)। शिवपुराण रुद्रसं. खण्ड १ में भी कहा है—'महाप्रलयकृद् [illegible] विश्वात्मा (मम शिवस्य) हृदयोद्भवः' (१०।५७)। वस्तुतः मूलरूपमें एक होनेसे शिव-विष्णु आदिमें कोई भेद नहीं। 'शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः। एकमूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः' (पद्मपुराण भूमिखण्ड ७१। २१-२२) 'यो हरिः स शिवः साक्षाद् यः शिवः स स्वयं हरिः। एतयोर्भेद

प्रातिष्ठन् नरकाय भवेन्नरः' (देवीभाग. ३। ६। ५५) 'गुणेभ्यः क्षोभमाणेभ्यस्त्रयो देवा विजज्ञिरे। एका मूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः' (मत्स्यपु. ३। १६) इससे प्रतिपक्षीकी सब शङ्काओंका समाधान हो गया। २३।

तामस-शास्त्र (?)

(३३) प्रश्न—पद्मपुराणमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य इनको तथा मत्स्य, कूर्म, लिंग शिव, स्कन्द, अग्नि आदि पुराणोंको नरकमें ले जाने वाले तामस-शास्त्र बताया है। हेतु वा प्रमाणसे पुराणके इस दावेको सिद्ध करें। २४।

उत्तर—पुराणोंके विषयमें प्रतिपक्षीको यह श्लोक इष्ट मालूम होता हैं—'पुराणानि च वक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमात्। मात्स्यं कौर्मं तथा लैंगं, शैवं, स्कान्दं तथैव च। आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोध मे' (पद्म. उत्तर. २३६। १६-१७) इन पुराणों-को तामस बताया है। 'वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम्। गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने! सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै' [१७-१९] यह सात्त्विक-पुराण बताये गये हैं। 'भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे [२०] यह राजस-पुराण बताये गये हैं। इसी प्रकार कई दर्शनोंको तामस बताया है।

इस विषयमें हम अग्रिम-प्रश्नके उत्तरमें प्रकाश डालने वाले हैं। वस्तुतः एतदादिक अर्थवाद-वाक्य हैं। वहींपर [६। २३६। ३-४] पाशुपतदर्शन [३] चार्वाकदर्शन [५], बौद्धदर्शन [५], मीमांसादर्शन [११] को भी तामस बताया गया है। प्रतिपक्षीने इन्हें छोड़कर इनपर दया कर दी है। चार्वाकदर्शन, तथा बौद्ध-दर्शनको तो प्रतिपक्षी भी स्वयं तामस मानता ही होगा। शेष

सांख्यको निरीश्वरदर्शन माना जाता है—ईश्वरासिद्धेः' [१। ९२]। चाहे कई लोग इसका समाधान कर भी दिया करते हैं। मीमांसादर्शनमें कर्मप्रधानतावश ईश्वर गौण हो गया है, इन कारणोंसे वहां निन्दार्थवादसे तामसता कही गई है, तभी तो उक्त-पुराणमें कहा है—'निरीश्वरेण वादेन कृतं शास्त्रं महत्तरम्' [पद्म. ६। २३६। १२]। शेष हैं न्याय-वैशेषिक आदि, इनमें खण्डन-मण्डन तो खूब है; पर वास्तविक अन्तिम-लक्ष्य भगवद्-भक्ति वर्णित नहीं की गई; इस कारण वहां उनका भी निन्दा-र्थवाद है। जहांसे प्रतिपक्षीने यह आक्षेप उठाया है, वहीं यह पाठ है, जिसे या तो उसने देखा नहीं, अथवा अपनी गुरुसम्प्र-दायपरम्परावश उसे छिपा दिया है। वह यह है—'तामसानि च शास्त्राणि समाचक्ष्व ममानघ! संप्रोक्तानि च यैर्विप्रैर्भगवद्भक्ति-वर्जितैः' [उत्तर. २३६। १] सो इनके भगवद्भक्ति-वर्जित होनेसे उन्हें तामस कहा गया है। ऊहापोह तो खूब हो, परन्तु वास्तविक भगवद्भक्ति न हो, उसमें तामसता स्पष्ट

मायावादको भी इसी विवक्षावश असच्छास्त्र एवं तामस कहा गया है; क्योंकि उसमें जीव-ब्रह्मके पारमार्थिक अभेदवश उपास्य-उपासकता न हो सकनेसे भगवद्भक्तिको अवकाश नहीं रहता। सो यह तुरीयावस्था वा परमहंसावस्थाकेलिए पार-मार्थिक होता हुआ भी आदिम-कोटिमें उपासना छुड़ा देनेसे चित्तशुद्धि नहीं होने देता। दूसरा—'ब्रह्मेति सत्यमखिलं-नहि किञ्चिदन्यत्, तस्मान्न मे सखि! परापरभेद-बुद्धिः। जारे तथा निजवरे सहशोनुरागो व्यर्थं किमर्थमसतीति कदर्थयन्ति' साधारण लोगोंकेलिए इन व्यावहारिक-हानियोंको भी करने वाला होता है, यही कारण उसके निन्दार्थवादका है। आशा है—इन हेतुओंसे प्रतिपक्षीको इनकी निन्दाका रहस्य ज्ञात होगया होगा। शेष है

ऊपर कहे पुराणोंकी निन्दाका प्रश्न; सो पद्मपुराणमें जिस देव-को 'भगवान्' बताया गया है, उससे भिन्न परिगणित पुराणोंमें उस भगवान्की भक्ति न होनेसे एकनिष्ठताकेलिए उन्हें भगवद्-भक्तिवर्जित मानकर उन्हें तामस बताया गया है। एक देवमें निष्ठा रखो, यही इन वचनोंका परमार्थ है। शेष निन्दा आदि कई वार कहे हुए 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते किंतु विधेयं स्तोतुम्'—इस न्यायसे अर्थवादमात्र है, इस विषयमें शेष अग्रिम प्रश्न के उत्तरमें कहा जायगा। २४।

शिवपुराण तामस [?]

[३४] प्रश्न—जब कि शिवपुराण तामस व नरकमें लेजाने वाला पुराण है, और शिवजी भी उसीके अनुसार व्यभिचारके प्रचारक देवता होनेसे भक्तोंको नरकमें लेजाने वाले हैं, तो फिर ऐसे तामसी-देवताके बहिष्कारकी व्यवस्था सनातनी विद्वान् क्यों नहीं करते ?। २५।

उत्तर—पूर्वपक्षी गालियां देनेका अभ्यासी है। उसकी शास्त्रदृष्टि नहीं मालूम देती। पुराने आर्यसमाजी ट्रैक्ट देखकर उन्हीं बातोंको गन्दे-ढंगसे दोहरा रहा है। उसे ज्ञान होना चाहिये कि—वेदके दो भाग होते हैं १ मन्त्र और २ ब्राह्मण [यह दोनों वेद होते हैं। इस विषयमें 'आलोक' का छठा पुष्प देखना चाहिये] ब्राह्मण-भागका दूसरा नाम पुराण भी होता है—यह स्वा. द. जी भी मानते हैं। पुराण इन दोनोंके भाष्य हैं। इनमें ब्राह्मण-भागके अर्थवादोंका अधिक अनुसरण किया गया है। ब्राह्मणमें विधि और विधिस्तावक अर्थवाद हुआ करते हैं। पुराणमें भी गुणवाद तथा भूतार्थवाद बहुत हैं। अर्थवादमें प्रत्येक शब्दका अर्थ नहीं देखा जाता, उसका तात्पर्यमात्र लिया जाता है। उसमें प्रशंसार्थवाद अर्थात् रोचक वचन और निन्दार्थवाद अर्थात्

भयानक-वचन भी हुआ करते हैं; अतः उनका तात्पर्यमात्र देखा जाता है। उसे बच्चे वा अल्पश्रुत नहीं समझ पाते। वाच्यार्थमें तो सबकी गति होती है, पर व्यङ्ग्यार्थमें सबकी नहीं।

'गंगायां घोषः' में वाच्यार्थ देखनेपर उसमें विरोध मालूम पड़ता है, क्योंकि—प्रवाहविशेषपर मकान वा बस्ती ठहर नहीं सकती। तब विदग्ध-व्यक्ति जब उसका तट अर्थ करके फिर उसका शीतत्व-पावनत्वमें तात्पर्य बताता है, तब अल्पश्रुतको भी कुछ समझ आ जाती है। सो उक्त पुराणके वचनका रहस्य भी समझना चाहिये, वह बहुश्रुतको समझ आ सकता है—अल्पश्रुतको नहीं।

शिव प्रलयके देवता होनेसे तमोगुणके अधिष्ठाता हैं—'रजोजुषे जन्मनि, सत्त्ववृत्तये स्थितौ, प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे' [कादम्बरी १] इसमें प्रजाके पालक विष्णुको सत्त्वगुणी, उत्पादक ब्रह्माको रजोगुणी, प्रलयकर्ता महादेवको तमोगुणधारी कहा है। देवीभागवतमें भी कहा है—'त्रिविधः पुरुषः प्रोक्तः सात्त्विको राजसस्तथा। तामसस्तु महाराज ! ब्रह्म-विष्णुशिवादिषु' [५। १। ४५]। शिवके स्तुति करने वाले पुराणमें भी 'रजसाधिष्ठितः स्रष्टा रुद्रस्तामस उच्यते' [लिंग. १। ९६। ३] में रुद्रको तामस कहा है। इसी कारण विष्णु-सम्बन्धी पुराणको भी सात्त्विक, तथा ब्रह्म-सम्बन्धीको राजस, तथा शिवसम्बन्धी पुराणको भी तामस कहा गया है, सो जो देव जिसकी प्रकृतिके अनुकूल हो, वह उसको लाभप्रद होता है। विषके कीड़ेको विष भी लाभप्रद होता है, अमृत हानिप्रद। पद्मपुराण विष्णु-सम्बन्धी होनेसे उस गुणसे विरुद्ध तमोगुणवालेकी निन्दा करे, यह स्वाभाविक है। इसलिए भी निन्दार्थवाद रखना पड़ता है कि—उस प्रकृति वाला पुरुष उस देवमें स्थिर रहे। इतस्ततः गमनागमन

करने वाला कहींका भी नहीं रहता। यहां शिव-पुराणकी व्यभिचारवश नरक-प्रदता नहीं कहीं गई, किन्तु तमोगुण-वशात्। वह भी केवल भयानक-अर्थवादमात्र है। शिवका कहीं व्यभिचार बताया भी नहीं गया; शिवपरमात्माकेलिए कुछ व्यभिचार है भी नहीं। व्यभिचार-नियोगमय-मस्तिष्क होनेसे प्रतिपक्षीको सभी जगह व्यभिचार मालूम होता है। परमात्माकी कोई परकीया होती ही नहीं; न शिवको कहीं नरकमें ले जाने वाला कहा है। प्रतिपक्षी 'उपानद्गूढ़पादस्य ननु चर्मावृतैव भूः' न्यायसे सभीको वैसा समझते हैं, उन्हें उचित है कि—गुणग्राही बनें। 'न चात्रातीव कर्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः। दोषो ह्यविद्य-मानोपि तच्चित्तानां प्रकाशते'। हो शिवका पुराण, और वह शिवको व्यभिचारी कहे—यह भी कभी हो सकता है? प्रति-पक्षीकी अपनी बुद्धि ही व्यभिचारिणी है। तमोगुणीका यदि बहिष्कार करना चाहिये; तो प्रतिपक्षी निद्राका भी बहिष्कार कर दे; निद्राको उपासना क्यों करता है? क्योंकि वह तमोगुण-का रूप है। समयपर जो भय, शोक, विषाद करता है; वह इनको क्यों अवलम्बित करता है? रात्रिका वह बहिष्कार क्यों नहीं करता, वह भी तमोगुणा है। शूद्र भी तमोगुणी होता है, इनका भी बहिष्कार करा दे। वस्तुतः सभी गुण समयपर आवश्यक हैं। गुणोंके विषयमें यह याद रखना चाहिये कि—सत्त्व, रज, तम यह तीन गुण होते हैं। यह अकेले-अकेले कभी नहीं रह सकते। सत्त्व लघु एवं प्रकाशक होता है, रजोगुण उपष्टम्भक तथा चल होता है। तमोगुण आवरक और गुरु होता है (साङ्ख्य-कारिका. १३) 'सत्त्व एवं तम स्वयं अक्रिय होते हैं, कोई कार्य नहीं कर सकते; अतः अपनी प्रवृत्तिकेलिए उन्हें चालक रजोगुण-की आवश्यकता होती है। रजको भी यदि सत्त्व, तम न मिलें;

तो वह भी अकेला कुछ कार्य नहीं कर सकता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि— एकमें भी तीनों गुणोंकी आवश्यकता होती है। तभी उनमें भी कार्य-जनकता होती है। दियेमें तीन वस्तुएं होती हैं, बत्ती, तेल और ज्वाला—यह तीनों परस्पर-विरुद्ध हैं, इन्हींके योगसे प्रकाश होता है। अथवा एक ही शरीर में वात, पित्त, कफ होते हैं, यह तीनों परस्परविरोधी हैं; तथापि यह साम्यावस्थामें आकर शरीर-धारण करते हैं, वैसे ही उक्त तीनों गुण परस्पर-विरुद्ध होनेपर भी शरीरमें स्थित होकर अन्योन्याश्रित, अन्योन्यजनक, अन्योन्यसहचर अर्थात् अविना-भाववृत्ति वाले होते हैं। (सांख्यतत्त्वकौमुदी ११. का.)। इसपर देवीभागवतका प्रमाण भी देखिये—

'अन्योन्यमिथुनाः (सहचराः) सर्वे, सर्वे सर्वत्र गामिनः। रजसो मिथुने सत्त्वं, सत्त्वस्य मिथुने रजः। तमसश्चापि मिथुने ते सत्त्वरजसी उभे। उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते। नैषामादिः संप्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते' (३।८) यह पद्य हमें सांख्यसे देवीभागवतके नामसे मिले हैं। देवीभागवतमें हमें यह पद्य मिले हैं—'एकं सत्त्वं न भवति रजश्चैकं तम-स्तथा। सहैवाश्रित्य वर्तन्ते गुणा मिथुनधर्मिणः' (३।८।४२) रजो विना न सत्त्वं स्याद् रजः सत्त्वं विना क्वचित्। तमो विना न चैवैते वर्तन्ते पुरुषर्षभ! (४३) तमस्ताभ्यां विहीनं तु केवलं न कदाचन। सर्वे मिथुनधर्माणो गुणाः कार्यान्तरेषु वै (४४) अन्योन्यसंश्रिताः सर्वे तिष्ठन्ति न वियोजिताः। अन्योन्यजनका-श्चैव यतः प्रसवधर्मिणः (४५)

'सत्त्वं कदाचिच्च रजस्तमसी जनयत्युत। कदाचित्तु रजः सत्त्वतमसी जनयत्यपि (४६) कदाचित्तु तमः सत्वरजसी जन-यत्युभे। जनयन्त्येवमन्योन्यं मृत्पिण्डश्च घटं यथा (४७) भाव

इन श्लोकोंका भी वही है कि–अकेला एक गुण कहीं भी नहीं रहता। 'सत्त्वं तु केवलं नैव कुत्रापि परिलक्ष्यते। मिश्रीभावात्तु-तेषां वै मिश्रत्वं प्रतिभाति वै' (३।६।५)

जब ऐसा है, तो शिवमें यदि तम है; तो शेष दो गुण भी स्वतः ही हुए। दुर्गासप्तशती दुर्गाकी स्तावक पुस्तक है। उसमें देवीकी प्रशसा है। मार्कण्डेयपुराणादिसे वह संगृहीत है। उसमें उसे 'देवी तामसी तत्र वेधसा' (१।८९) 'तामसी' कहा गया है–'निद्रा-रूपेण संस्थिता' (५।२३) उसे तामस-निद्रारूपमें कहा है। 'सृष्टिस्थितिविनाशानां शक्तिभूते सनातनि!' (११।११) यहां देवीको विनाशंकशक्ति जो तमोगुणका ही रूप है, कहा गया है'। तो क्या तमोगुणधारिणी होनेसे उसकी निन्दा हो जावेगी? नहीं; तमोगुण भी एक आवश्यक वस्तु है। यदि भगवान् तमो-गुणका अवलम्बन न करे; तो सृष्टिका प्रलय कैसे करे? प्रलय न हो; तो सृष्टिमें पुनर्जन्मरूप नवीनता कैसे उत्पन्न हो?

जो शिवके तमोगुणसे डरते हैं; उन्हें सोचना चाहिये कि–क्या परमात्माके कोषमें सोना ही सोना है; लोहा–सीसा सर्वथा नहीं? क्या उसमें मधु ही मधु है; विष नहीं? क्या उसका कोष अपूर्ण है? उसमें सुख ही सुख है, दुःख नहीं? क्या प्रकाश है, अन्धकार नहीं? यदि वह स्मृति देता है; तो विस्मृति नहीं देता? क्या उसके राज्यमें पुण्य ही पुण्य है, पाप नहीं? क्या वैद्यके पास हड्डीके जोड़नेका ही यन्त्र होता है, तोड़नेका नहीं? लोहेकी तलवारके बचावकेलिए लोहेकी ढाल आगे की जाती है। प्रकाशसे प्राप्त हुए आयासको शान्त करनेकेलिए वह अपने पास स्थित अन्धकारको हमें देता है।

फलतः महान् देव, गुण अपने पास रखता हुआ भी उनके वश-नहीं होता; किन्तु गुण ही उसके वशमें होते हैं, वह गुणोंका

अधिष्ठाता होता है। सो तमोगुण भी वह तमोगुणी दै[त्य]-नाशार्थ अवलम्बित करता है, क्योंकि–कांटेसे कांटा नि[काला जाता] है। (पद्मपु. उत्तर. २३५। ३८-३९-४०)। इससे उन दै[त्योंको] देवताओंने अनायास ही जीत लिया (२३५। ६२-६३)। तमोगुण रखनेसे सत्त्वगुण आदि उसके हट नहीं जाते। हम दुर्गासप्तशतीमें प्रशंसित भी देवीका तमोगुणावलम्[बन] 'तामसी' होना बता ही चुके हैं; उससे वहां उसकी निन्दा नहीं होती; बल्कि उसमें सत्त्वगुण भी साथ रहता है। दुर्गा[सप्त]-शतीके 'वैकृतिक-रहस्य' में बताया है–'त्रिगुणा तामसी सात्त्विकी या त्रिधोदिता' (१) यहां तामसीमें सत्त्वगुण [और] सात्त्विकीमें भी तमोगुण रहना बताया है। दैत्योंके नाशार्थ तमोगुणमें महाकालीका रूप धारण करती है। इसी प्र[कार] शिव भी तमोगुणके अवलम्बनसे दैत्योंको तथा प्रलयमें प्र[जाको] मृत्यु देते हैं।

आक्षेप्ताके स्वा. द.जीने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' 'सृष्टि-[विद्या]विषय' (पृ० १२६) में 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' मन्त्रका [अर्थ] करते हुए 'अस्य पुरुषस्य मुख्यगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत्' [इत्यादि] परमात्माके मुख्यगुण (सत्त्वगुण) से ब्राह्मणकी उत्पत्ति [बत]-लाई है। '[अस्य पुरुषस्य] पादौ अर्थात्-मूर्खत्वादिनी[च]-किमुत्पन्नं वर्तते' (पृ० १२६) यहां परमात्माके नीचगुणों (तमो-गुण) से शूद्रकी उत्पत्ति कही है; इसे आगे स्वामीने स्प[ष्ट कर] दिया है–'अस्य पुरुषस्य ये विद्यादयो मुख्य-गुणाः, तेभ्यो ब्रा[ह्मणः] उत्पन्नो भवति'··· [अस्य पुरुषस्य] जडबुद्धित्वादि[भ्यो] शूद्रः जायते-इति वेद्यम्' (पृ० १२७) यह कहकर स्वा.[दयानन्दने] महादेव-परमात्मामें सत्त्वके साथ तमोगुण भी बताया है। [जब] परमात्माके तमोगुणसे शूद्रकी उत्पत्ति बताई; तब शि[व]...

तमोगुणधारी, शूद्रोत्पादक, सृष्टिके प्रलयकारक, प्रतिपक्षियोंके अनुसार परमात्माकी अपनी स्त्री न होनेसे दूसरोंकी स्त्रियोंके अङ्गमें व्यापक होनेसे, प्रतिपक्षीके अनुसार व्यभिचारी अपने परमात्माको नरक देने वाला मानकर अपने कथनके अनुसार उसके बहिष्कारकी व्यवस्था क्यों नहीं करता ?। जो वह उत्तर इसका देगा; यहां भी वही उत्तर हो जायगा। दोषदृष्टि रखनेपर प्रतिपक्षीका सर्वत्र पतन ही पतन होगा; यह वह जान रखे।

इसी प्रकार स. प्र.में स्वामीने 'मन्युरसि' (यजुः १९।९) मन्त्रका अर्थ करते हुए लिखा है—'आप दुष्टोंपर क्रोधकारी हैं' (७ म समु. पृ. ११२) इससे उस परमात्मामें 'क्रोध' भी बताया है। वह (क्रोध) सत्त्वगुणका तो फल नहीं; अन्ततः उसे रजोगुण-तमोगुणका ही फल मानना पड़ेगा, तो जब प्रतिपक्षीके भी परमात्मामें रजोगुण-तमोगुण भी हैं—तो शिव-परमात्मामें यदि पुराणने तमोगुणका अधिष्ठातृत्व लिख दिया है; उससे उसके बहिष्कारकी चर्चा क्यों ? मालूम होता है—प्रतिपक्षी अपने परमात्माका बहिष्कार कर चुका है, अब पुराणसे भी उस परमात्माका बहिष्कार कराना चाहता है। २५।

श्रीकृष्ण काले बालके अवतार !

(३५) प्रश्न—महाभारत (आदि. १९६) में लिखा है—'नारायण-ऋषिने अपने सरमेंसे १ सफेद और १ काला बाल उखाड़कर फेंका। उन्हींसे क्रमशः रोहिणीसे बलराम तथा देवकीसे कृष्ण हुए। तो नारायण-ऋषिके सरके काले बालके अवतार श्रीकृष्णको ईश्वरका अवतार कैसे माना जा सकता है ? ॥२६॥

उत्तर—महाभारत आदि-पर्वमें लिखा है—'अनुग्रहार्थं भूतानां विष्णुर्लोक-नमस्कृतः। वसुदेवात्तु देवोऽयं प्रादुर्भूतो महायशाः' (६३।९९-१०१-१०३) यहां श्रीकृष्णको विष्णुका अवतार कहा

गया है। विष्णु महाभारत आदिके अनुसार ईश्वर हैं। वही नारायण हैं। देखो मनुस्मृति—'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नर-सूनवः। ता यदस्यायनं प्रोक्तं तेन नारायणः स्मृतः' (१।१०)। महाभारत भी नारायणको ईश्वर बतलाता है। देखिये—'सचापि केशौ हरिरुद्वबर्ह शुक्लमेकमपरं चापि कृष्णम्' (१९९।३२) सो हरि महाभारतादिमें ईश्वर होनेसे उन्हींके अंश केशसे प्रकट होनेसे श्रीकृष्ण ईश्वरावतार सिद्ध हुए। इसलिए वहां 'नारायणमप्रमेयम्। अनन्तमव्यक्तमजं पुराणं सनातनं विश्वमनन्तरूपम्' (१९९।३१) नारायणको अनन्त, अज आदि विशेषणोंसे ईश्वर कहा है। अङ्ग अङ्गीका होता है, उससे पृथक् नहीं होता। तब प्रतिपक्षीका आक्षेप व्यर्थ है। पाठकोंने देखा है कि—प्रतिपक्षी अपनी गुरुपरम्पराकी प्रकृतिसे आगे-पीछेके पाठको कैसे छिपा दिया करता है ! यह है वैदिक-प्रकाशन (?) और सत्य-भाषण (!) ॥ २६ ॥

मुर्देसे सन्तान (?)

(३६) प्रश्न—राजा व्युषिताश्व बे-औलाद मर गया, तो रानीने उसके शवके साथ सोकर ७ लड़के पैदा किये थे (महा. आदि. १२० अ.) क्या मुर्दोंसे भोग करके औलाद पैदा करनेकी विधि अब भी सनातनधर्ममें चालू है ? ॥ २७ ॥

उत्तर—प्रतिपक्षीकी एक प्रकृति पूर्वसे चालू है कि—पूर्वापर छोड़ दिया करता है कि जिससे साधारण जनता भ्रममें पड़े अब सुनिये वह छोड़ा गया हुआ पाठ—'विलपन्त्यां पुनः पुनः। तं शवं संपरिष्वज्य, वाक् किलान्तर्हिताऽब्रवीत्'। (१२१।३३) (जब रानी शवको आलिंगन करके रो रही थी, तो आकाशवाणी हुई) 'उत्तिष्ठ भद्रे ! गच्छ त्वं ददानीह वरं तव ! जनयिष्याम्यपत्यानि त्वय्यहं चारुहासिनि !' (३४) अर्थात् मैं तुममें

सन्तान पैदा करूँगा। 'आत्मकीये वरारोहे! शयनीये चतुर्दशीम्। अष्टमीं वा ऋतुस्नाता संविशेथा मया सह' (३५) यह शवके आत्माने कहा था, शव भला कैसे बोले? रानीने वह बात पूरी की (३६)। 'सा तेन सुषुवे देवी शवेन भरतर्षभ!' (३७) यहां उस शवमें प्राप्त आत्मासे मनोयोग द्वारा रानीने ७ लड़के पैदा किये।

यह कथा कहकर कुन्तीने उपसंहार करते हुए पतिसे कहा कि—शापवश शवकल्प आप भी इस प्रकार मुझसे मनोबलद्वारा सन्तान उत्पन्न करें—'तथा त्वमपि मय्येवं मनसा भरतर्षभ! शक्तो जनयितुं पुत्रान् तपोयोगबलान्वितः' (१२१। ३८) यहां पर मनोबलद्वारा सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति उसीकी बताई गई है, जो तपोबल एवं योगबलसे युक्त हो। तपोबलकी शक्ति मनुस्मृतिके इस पद्यमें देखिये—'यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्। (११। २३८) यहां तपस्याकी बड़ी ज़बर्दस्त शक्ति बतलाई गई है। योगबलमें क्या शक्ति होती है—यह जानना हो तो प्रतिपक्षी 'योगदर्शन' के विभूतिपादका अध्ययन करे। मनोबलकी शक्ति प्रतिपक्षीने जाननी हो, तो 'योगदर्शन' व्यासभाष्य (४। १०) को देखे, जहां मनोबलद्वारा अगस्त्यका समुद्रपान बताया है। स्वा. द.के अनुसार क्रियात्मक और अनुभवसिद्ध योगशास्त्रकी बात कभी असत्य नहीं हो सकती। देखो—श्रीमद्दयानंद प्रकाश (पृ. ४६५) कई आत्माओंमें ऐसी शक्ति होती है कि—वे शवमें फिर भी पहुँच जाते हैं, इसमें स्वा. शङ्कराचार्यका अमरुकके शवोमें प्रवेश और फिर अपने आत्महीन शरीरमें पुनः प्रवेश प्रसिद्ध है।

तब कुन्तीको पाण्डुने कहा कि—व्युषिताश्व तो दिव्यशक्ति वाला था, जो शवमें फिर पहुँचकर दिव्यबलसे रानीमें गर्भ कर

देता था, पर मैं ऐसा नहीं। देखिये पाण्डुके शब्द—'एवमेतत् पुरा कुन्ति! व्युषिताश्वश्चकार वै। यथा त्वयोक्तं कल्याणि! स आसीद् अमरोपमः' (१२२। २) इसका अर्थ श्रीसातवलेकरने लिखा है कि—'ठीक ही है, व्युषिताश्वने ऐसा ही किया था, क्योंकि—वह देववत् थे'। सो देवताओंके पास तो अणिमा, महिमा आदि अष्टसिद्धियां होती हैं, अतः वे मनुष्योंसे बढ़कर हुआ करते हैं। इनमें वे 'प्राप्ति' नामक ऐश्वर्यसे मनोबल द्वारा अपने मनोरथकी प्राप्ति कर सकते थे। इसलिए व्युषिताश्वकेलिए लिखा है—'व्युषिताश्वस्ततो राजन्! अति मर्त्यान् अरोचत' (१२१। १०) 'मर्त्यान् अति' 'मनुष्योंको अतिक्रान्त करने वाला' यह उसके लिए कहे हुए शब्द हमारी बातकी सत्यतामें साक्षी हैं। इसके अतिरिक्त आत्माके स्थूलशरीरसे विनिर्मुक्त होनेपर विभुत्ववश बड़ी शक्ति बढ़ जाती है। जैसे कि—घड़ेमें पड़े हुए दीयेका प्रकाश उतना नहीं होता, जितना घड़ेसे बाहर ठहरे हुएका।

सो जब उसकी यह विशेषता महाभारतने स्वयं लिख दी है, तब उसे छिपाकर अपना मनमाना पाठ उपस्थित करके उसपर आक्षेप कर देना—यह प्रतिपक्षीकी दुष्प्रकृति है—यह 'आलोक'के पाठकोंने अनुभव कर ली होगी; इसका कारण केवल पुराण-साहित्यसे अकारण द्वेष ही है।

अन्य यह भी बात है कि—व्युषिताश्व मर कर मुक्त हो गया हो; तो मुक्त आत्मामें भी बड़ी शक्ति हो जाती है। छान्दोग्य-उपनिषद्में मुक्त-पुरुषोंकेलिए लिखा है—'ये एते ब्रह्मलोके .... तेषांꣳ सर्वे च लोका आत्ताः, सर्वे च कामाः, स सर्वांꣳश्च लोकानाप्नोति, सर्वांꣳश्च कामान्' (८। १२। ६) इसका स्वा. द.जीने ऋभाभू. में अर्थ इस प्रकार लिखा है—'जो

मुक्त पुरुष होते हैं, वे ब्रह्मलोक (परमेश्वर) को प्राप्त होके उसीके आश्रयसे रहते हैं। इसी कारण उनका आना-जाना सब लोक-लोकान्तरोंमें होता है। उनके लिए कहीं रुकावट नहीं रहती। उनके सब काम [कामनाएँ] पूर्ण हो जाते हैं। कोई काम अपूर्ण नहीं रहता' (शताब्दी सं. पृ. ४६३)

जब ऐसा है; तब मुक्त व्युषिताश्वने शवमें पहुँचकर बिलखती हुई-स्त्रीको यदि सन्तान भी दे दी; तब इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं रहती। ब्रह्मपुरमें रहने वालेकी सभी इच्छाएँ पूर्ण होना बताते हुए उक्त उपनिषद्ने कहा है-'एतत् सत्यं ब्रह्मपुरम् अस्मिन् कामाः समाहिताः।' (८।१।५) 'अथ यदि स्त्री-लोककामो भवति, सङ्कल्पादेव अस्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति। तेन स्त्रीलोकेन सम्पन्नो महीयते' (८।२।६) 'यं यमन्तमभिकामो भवति, यं कामं कामयते, सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति' (१०) जब इस प्रकार मुक्तात्मामें शक्ति है; तब मुक्त व्युषिताश्वने शवमें प्रवेश करके अपनी इच्छा-शक्तिसे अपनी स्त्रीके लोक-पुत्र उत्पन्न कर दिये हों; तब इसमें उपहास प्रकट करना अपनी शास्त्रानभिज्ञता बताना है। २७।

अर्जुनसे अर्जुनी, नारदसे नारदी।

(३७) प्रश्न—पद्मपुराण (पाताल खण्ड ७४-७५) में अर्जुनको अर्जुनी तथा नारदको नारदी (स्त्रियां) बना कर कृष्णका उनके साथ भोग करना—क्या यह आचरण वेदानुकूल था? ।२८।

उत्तर—प्रतिपक्षीको यह पद्य इष्ट प्रतीत होते हैं—'तस्याः पाणिं गृहीत्वैव सर्वक्रीडावनान्तरे। यथाकामं रहो रेमे महायोगेश्वरो विभुः' (७४।१६२) 'रेमे वर्षप्रमाणेन तत्र चैव द्विजोत्तम! (७५।४२) यहां उन स्त्रियोंकी अपनी ही इच्छासे, श्रीकृष्ण-द्वारा उनसे रमण आया है। वहीं श्रीकृष्णको भी स्त्री-स्वरूप वाला कहा है-'ताभिः सह गतस्तत्र यत्र कृष्णः सनातनः। केवलं सच्चिदानन्दः स्वयं योषिन्मयः प्रभुः' (७५।४०) इसीके आगे भगवान् श्रीकृष्णने भी इसी बातको स्पष्ट कर दिया है—'अहं च वासुदेवाख्यो नित्यं कामकलात्मकः। सत्यं योषित्स्वरूपोऽहं योषिच्चाहं सनातनी' (७५।४५)। अब प्रतिपक्षी बताये कि—स्त्रीका स्त्रीके साथ रमण क्या प्रतिपक्षीका मनचाहा भोग हो सकता है? यहां 'रेमे'में 'रमु' धातु है। 'रमु' धातुका क्रीडा अर्थ होता है, अब यहां वेदविरुद्धता क्या है—यह प्रतिपक्षीने नहीं बताया? 'विभुः' आदि शब्दसे श्रीकृष्णको परमात्मा' बताया गया है। परमात्मा सब पुरुषों तथा सभी स्त्रियोंमें अब भी रम रहा है। क्या वह प्रतिपक्षीके अनुसार वेदविरुद्ध आचरण कर रहा है? यदि प्रतिपक्षी उसका स्त्रियोंमें रमण पसन्द नहीं करते; तो प्रतिपक्षी उसे अपनी स्त्रियोंके अन्दरसे तथा अङ्गोंसे निकाल दें।

यह तो गोलोकके वृन्दावनका वृत्त है, वहां मर्त्यलोकका कानून लागू भी नहीं हो सकता। लोकान्तर [जन्मान्तर] में जब एक पुरुष कर्मवश स्त्री बन जाता है, तब उसका अन्यपुरुषसे संयोग भी हो जाता है, चाहे वह पूर्वजन्ममें उसका मित्र वा पिता वा माता वा बहन वा भ्राता रहा हो; उसमें कोई भी कुछ दोष नहीं मानता। तब एक अवतारसे उसका संयोग हो जावे, तो इसमें वेदका कौनसा वचन बाधक हो सकता है? यहां भी अन्यलोकमें जन्मान्तरका वृत्त है। सारा स्त्री-पुरुषात्मक जगत् उसी परमात्माका विवर्त है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है, परन्तु वह 'तस्मादेकाकी न रमते' (शत. १४।४।२।४) इस न्यायसे अपनी ही अन्य मूर्तियोंको बना देता है। जैसे कि श्री-

मद्भागवतमें भी प्रतिपक्षीका प्रिय यह पद्य आया है—'रेमे रमेशो व्रज-सुन्दरीभिर्यथाऽर्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः' (१०। ३३। १७)। इसमें अन्य स्त्रियोंको भगवान् कृष्णका प्रतिबिम्ब बताया है। यह उसके अपने प्रतिबिम्बसे क्रीडामात्र होती है, जैसे कि—बच्चा अपनी परछाईंसे क्रीडा करता है।

इसके अतिरिक्त भिन्न लोकान्तरमें जानेसे जन्मका भी जब परिवर्तन हो गया, योनिका भी परिवर्तन हो गया, जो भी वहां जाता है, वहां स्त्री हो जाता है; केवल भगवान् ही वहां पुरुष हैं, वे भी योषिद्- (स्त्री) रूप। जब उसका पुरुषत्वसे स्त्रीत्व हो गया, फिर जब उसकी स्वयं क्रीडा की इच्छा भी हो गई; फिर वेदके उपनिषद्भाग 'छान्दोग्य' के 'न कांचन परिहरेत्' (२। १३) इसके एकदेशी अर्थका भी समन्वय हो जाता है कि—अपनी बहुत-सी स्त्रियोंमें जो भी कोई समागमार्थिनी हो, 'उसका प्रत्याख्यान न करे, यह एक व्रत है', तब इसमें कौन सा वेद-मन्त्र निषेधक रह जाता है? मान लीजिये—प्रतिपक्षीके मान्य कोई व्यक्ति भिन्न लोकमें जाकर कर्मानुसार स्त्री बन गये, और यहां आकर प्रतिपक्षीकी स्त्री आ बने, तब प्रतिपक्षीकी उस कामिनीभूत मान्यसे क्रीडा किस वेदमन्त्रसे विरुद्ध होगी? किसी-की माता, किसीका पिता, वा बहिन जन्मान्तरमें उस पुरुषके जन्मान्तरमें स्त्री बन जाएं; तो उससे स्त्री-व्यवहार हो सकेगा, वा कोई वेदनिषेध होगा? तब तो आपकी ही स्त्री जन्मान्तरमें अन्य पुरुषकी स्त्री हो जावे; तब क्या प्रतिपक्षी वा उसका वेद उसे व्यभिचारिणी करार देगा?

मनुस्मृतिमें लिखा है—'द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः' (१।३२) यहां ब्रह्माने अपने ही दो भाग करके स्त्री-पुरुष बना दिये। शतपथमें

लिखा है—'आत्मैव इदमग्रे आसीत् पुरुषविधः' (१४।४।[illegible] १) आदिमें केवल परमात्मा ही था। 'स वै नैव रेमे, तस्मा[illegible] एकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स ह एतावान् आस, य[illegible] स्त्रीपुमांसौ परिष्वक्तौ। स इममात्मानं द्वेधा अपातयत्। त[illegible] पतिश्च पत्नी च अभवताम्' (१४।४।२।४)। 'पतिरे[illegible] आसीत्' (यजुः १३।४) वह पति है, शेष उसकी सब पत्नि[illegible] हैं। वह सबमें रम रहा है। वह कानूनसे बरी है—'शुद्ध[illegible] अपापविद्ध है' (यजुः ४०।८) कोई भी पाप मानुषी-दृष्टिको[illegible] से उसे विद्ध नहीं कर सकता। 'स न साधुना कर्मणा भूया[illegible] नो एव असाधुना कनीयान्, एष भूताधिपतिः' (शत. १४।[illegible] २।२४, बृहदार. ६।४।२२-२३, तै. ब्रा. ३।१२।६।७) इसी वचनका अनुवाद श्रीमद्भागवतमें यह आया है—'नह्यस्य[illegible] द्वितीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः। कर्मभिर्वर्धते तेजो ह्रसते च[illegible] रवेः' (१०।७४।४) सो उसे किसी भी प्रकारका कर्म दू[illegible] नहीं कर सकता। शेष कानून, मर्यादाएं केवल कर्मयोनि-मनुष्[illegible] के लिए व्यवस्था-स्थापनार्थ हैं। इस प्रकार सूक्ष्मदृष्टि डाल[illegible] प्रतिपक्षीको आशा हैं कुछ समझ आजायगी। परन्तु दोष[illegible] रखनेसे तो उसे दोषके सिवाय कुछ भी नहीं सूझेगा। २८।

ब्रह्माजी के असुर।

(३८) प्रश्न—भागवत (३।२०) में लिखा है—'ब्रह्मा[illegible] असुर पैदा किये। वे ब्रह्माकी खूबसूरतीपर मोहित होकर [illegible] पापवासना मिटानेको ब्रह्माके ऊपर चढ़ गये। ब्रह्माजी भा[illegible] हुए विष्णुकी शरणमें गये। क्या ऐसा कमजोर भी ईश्वर [illegible] सकता है, जिससे असुरोंने भोग किया हो, जो उनसे स्वयं [illegible] रक्षा न कर सका हो। २९।

उत्तर—असुरोंको ब्रह्माने अपने जघनसे पैदा किया ([illegible]

३।२०।२३) जघनसे पैदा होनेसे वे जघन्य हुए। तब वे फिर असुर हों–इसमें कोई अनुपपन्नता नहीं। तभी तो वे 'मैथुनाया-भिपेदिरे (२३) मैथुनार्थ आये; पर मैथुन किया नहीं। यहां प्रतिपक्षीने 'जिससे असुरोंने भोग किया' यह गलत अर्थ दिया है। ब्रह्माजी पहले तो हँसे, उन्होंने इसे उपहास समझा; पर फिर उनका अभिप्राय जानकर वहांसे भाग कर विष्णुके शरण गये।

शेष है डरना; सो दुर्जन वा असभ्यसे सज्जन वा सभ्य जोकि डर जाता है, सो निर्बलताके कारण नहीं, किन्तु सभ्यताके कारण। टट्टीकी टोकड़ी उठाये हुए भंगीसे डरकर कोई सवर्ण हिन्दु यदि जल्दीसे हट जाए, इससे उस सवर्णको कोई बलमें क-मज़ोर नहीं मान लेता। सात्त्विक व्यक्ति शान्त रहता है, क्षमा-धारी रहता है, पर राजस-तामस उद्दण्ड होता है; तब क्या इससे सात्त्विक निन्द्य हो जाएगा? अन्य यह भी कारण है कि प्रति-पक्षीके स्वामीने 'सहोसि' (यजुः १९। ९) मन्त्रका अर्थ किया है–'आप स्व-अपराधियोंका सहन करने वाले हैं' (स. प्र. ७ पृ. ११२) तो क्या अपने अपराधीको सहन करनेवाले होनेसे जैसे कि–शिवरात्रिके मूषकको अपने ऊपर चढ़ने पर भी परमा-त्माने उसे फांसी नहीं दे दी, अपनी सत्ताका खण्डन करने वाले भी नास्तिकोंको परमात्मा मार नहीं देता, तो क्या इससे प्रति-पक्षी अपने परमात्माको भी कमजोर समझकर उसे ईश्वर मानना बन्द कर देगा? दूसरा—वे असुर ब्रह्माके अङ्गसे उत्पन्न होनेसे उतनी शक्तिवाले हों; यह स्वाभाविक है। अपनी छाया वा अपनी शक्तिको कोई स्वयं अतिक्रान्त नहीं कर सकता। इससे प्रतिपक्षीके सब तर्क कट जाते हैं। विष्णुके कथनसे ब्रह्माने उस शरीरको छोड़ दिया, वह सांझरूप बन गई। असुर उसे स्त्री

समझ उसीपर लट्टू हो गये। इससे सन्ध्याकालमें असुरोंके आक्रमणका भय होता है–यह अर्थवाद सूचित होता है। २९।

ऋषिकी गाय खाना (?)

(३९) प्रश्न–शिवपुराण (उमासं. ४१ अ.) में विश्वामित्र-के पुत्रोंकी अपने आचार्य गर्ग-ऋषिकी गौको मारकर श्राद्ध करके मांस खाने एवं उससे उनकी सद्गतिकी कथा दी है। शिवपु. में इस कुकृत्यकी निन्दा न होकर गौरवसे इसका वर्णन है। जब गोवध-द्वारा श्राद्ध करनेका विधान स. ध. में सिद्ध है, तो क्या इसे वेदानुकूल सिद्ध किया जा सकता है?। ३०।

उत्तर—"गोवधकाण्डकी शिवपुराणके उक्त स्थलमें निन्दा न होकर उसका गौरवसे वर्णन है" यह प्रतिपक्षीकी बात प्रवञ्चनापूर्ण, असत्य तथा जनताकी आंखमें धूलिप्रक्षेपक है। देखिये–'विनियोगाद् गुरोस्तस्य गां दोग्ध्रीं समकालयन्। समानवत्सां कपिलां सर्वेऽन्यायागतास्तदा' (उमा. ४१। १३) इसमें बताया गया है कि–वे लड़के गाय पालते हुए अन्याय कर बैठे, इन शब्दोंसे उनकी निन्दा सूचित की गई है, गौरव नहीं।

आगे वहां लिखा है–'तेषां पथि क्षुधार्तानां बाल्यान्मोहाच्च भारत! क्रूरा बुद्धिः समुत्पन्ना तां गां वै हिंसितुं तदा' (१४) अर्थात् उन्हें परदेश एवं जंगलमें प्रबल भूख लगी। उनको बचपन तथा मूर्खताके कारण उस गायके मारनेकी कुबुद्धि उत्पन्न हो गई! यहां भी पुराणकार स्पष्ट-शब्दोंमें उनकी निन्दा कर रहा है। उनके इस कार्यको पुराण बचपन, मूर्खता तथा क्रूर एवं कुत्सित-बुद्धितासे पूर्ण बता रहा है। पुराणकारकी इस कुकार्यमें न तो सहमति रही; न गौरव-बुद्धि ही। तब प्रतिपक्षीका उस पर उक्त दोष मढ़ना असत्य-व्यवहार तथा पुराणोंसे सहज-द्वेष सिद्ध करता है।

फिर उन लड़कोंको भारद्वाजके लड़के कवि, स्वसृप, पितृ-

वर्ती आदि मिले। उन्होंने उन्हें उस कृत्यसे रोका, गाय मांगी; पर उन्होंने नहीं दी। इससे पितृवर्तीको बड़ा गुस्सा हुआ (४१। १५-१६)। जब उसने देखा कि–वे अपनी इच्छा पूरी कर रहे हैं; तब उसने कहा कि–मूर्खो! यदि तुम नहीं रुकते; तब तो पापी बनोगे, पर यदि तुम पितृकर्मका उद्देश्य कर लो; तो पेट भरने वाला पाप तो तुम्हें न होगा'! (१७-१८)

यह सम्मति भी पूरी ठीक नहीं थी। पुराणने इन भरद्वाजके लड़कोंको भी दुराचारी एवं भ्रष्ट बताया है। देखिये–'शृणु भीष्म! पुरा भूयो भारद्वाजात्मजा द्विजाः। योग-धर्ममनुप्राप्य भ्रष्टा दुश्चरितेन वै' (उमासं. ४१। १०) अर्थात् वे योगधर्मवाले होते हुए भी दुराचारके कारण भ्रष्ट हो गये। इससे स्पष्ट हुआ कि–पुराणकार-को उक्त आचरण भ्रष्ट इष्ट है। फिर उक्त-पुराण इन सबको गोवधका पापी बताता है, देखिये–'मिथ्योपचारतः पापमभूत् तेषां च गोघ्नताम्' (४१। २१) ते वै क्रूरतया, हिंस्रभावात् (हिंस्रत्वात्), स्वानार्यत्वाद्, गुरोस्तदा। उग्रहिंसाविहाराश्च जाताः सप्त सहोदराः' (२३) लुब्धकस्य सुताः जाता व्याधाः' (२४)। यहां उनको गो-हत्यारा, गलत व्यवहार करने वाला, हिंस्र, अनार्य तथा उग्र-हिंसा करने वाला बताया है। इससे बढ़कर अन्य निन्दा क्या हो?। उनका दूसरा जन्म भी शिकारीके घर दिखलाया गया। यदि उनकी सद्गति होती, तो किसी ब्राह्मणके घरमें उनकी उत्पत्ति दिखलाई जाती। तब 'उससे उनकी सद्गति होनेकी कथा दी है' यह प्रतिपक्षीका गलत–व्यवहार है। 'आलोक' पाठकोंने देखा होगा कि–प्रतिपक्षीने ने जितने भी पुराण-सम्बन्धी प्रश्न दिये हैं, वे वास्तवमें प्रश्न नहीं हैं, किन्तु पुराणों पर आक्षेप हैं, और इन सबमें प्रतिपक्षीने प्रायः असत्य-व्यवहार बहुत किया है। जब तक यह लोग असत्य-व्यवहार न

करें; तो पुराणोंको तथा सनातनधर्मियोंको बदनाम कैसे कर सकें? यह है– इन लोगोंकी असत्यप्रिय-मनोवृत्ति!!! देखिये इन्हीं डा० श्रीरामकी बनी हुई 'पौराणिक मुख-चपेटिका' के पृ० १३ में बड़ा-झूठा व्यवहार। वह लिखता है–'एक तुम्हारे सनातनी महापंडित दीनानाथजी शास्त्रीने सनातनधर्मालोक ६ में लिखा है कि–'गोपियोंके गुप्तांगोंमें कीड़े पड़ गये थे, इससे उनका कामदेव बहुत जोर करता था। श्रीकृष्णजी संभोग-द्वारा उन कीड़ोंको मार २ कर, गोपियोंका कामभाव मिटाया करते थे। शिवलिंगपूजाके समर्थनमें लिखा है कि माता-पिताके गुप्तांगोंकी पूजा पुत्र आदि करेंगे; तभी माता-पिताकी सच्ची पूजा होगी'। यह है इस आर्यसमाजीका झूठा-व्यवहार। इसमें 'आलोक'के छठे पुष्पके ५६२-५६३-५६४-५६५ पृष्ठ तथा ६५३-६५४-६५५ पृष्ठ देखे जा सकते हैं। जब जीवित-ग्रन्थकार पर भी इनका महान् झूठा कुव्यवहार चल रहा है; उसके पूर्वापर छिपा रहे हैं; तब परोक्ष-ग्रन्थकारपर उसका पूर्वापर छिपाकर झूठे दोष क्यों न लगावेंगे? प्रतिपक्षीको 'असत्यवादिनः' (देवी० ६। ११। ४२-४७) इस अपने मान्य-वचनके अनुसार राक्षस पसन्द होनेसे अब उस पुस्तकका नाम बदलकर 'दयानन्दमुख-चपेटिका' नाम रख लेना चाहिये।

शेष रहा इस कर्मको वेदानुकूल सिद्ध करना; सो वेदमें 'ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते। ते-ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः' (अथर्व. १८। ४। ४२) 'अपूपवान् मांसवांश्चरुरेह सीदतु' (१८। ४। २०) मृतकपितृकर्ममें विनियुक्त इन मन्त्रोंमें विशेष-देश, काल, पात्रानुसार मांसका प्रयोग तो आता है; पर गायके वेदपुराणाद्यनुसार अघ्न्या–अहन्तव्या होनेसे तथा शेष पलपैतृकके भी कलिवर्ज्य होनेसे वह कर्तव्य नहीं

होता।

इसके अतिरिक्त पुराणने वह इतिहास जैसाका तैसा लिख दिया; प्रतिपक्षीके सम्प्रदायमें स्वा. दयानन्दके इतिहासमें अ-सत्य तथा मिथ्या प्रशंसाओंसे भर देनेकी तरह मिथ्योपचार नहीं किया। अतः उस इतिहासके उल्लेखमात्रसे पुराणपर दोष डाला भी नहीं जा सकता। न्यायदर्शन (४।१।६२ सूत्रके प्रतिपक्षि-सम्मत वात्स्यायनभाष्य) में पुराण—इतिहासका मुख्य-विषय लोकवृत्त-(जैसा जिसका आचरण हुआ; वैसाका वैसा दिखला देना) बताना माना है, लोक-व्यवहारकी व्यवस्था करना मुख्य-विषय पुराण-इतिहासका नहीं बताया। लोक-व्यवहारकी व्यवस्था करना तो वहीं धर्मशास्त्रका मुख्य विषय बताया है। यदि कोई पौराणिक-चरित्र धर्मशास्त्रसे विरुद्ध हो, तो 'श्रुति-स्मृति-पुराणानां विरोधो यदि दृश्यते। तत्र श्रौतं प्रमाणं तु द्वयोः (स्मृति-पुराणयोः) द्वैधे (विरोधे) स्मृतिर्वरा' (वेद व्यास-स्मृति १।४) इस वचनसे बाधित हो जाता है, उसका अनुसरण कर्तव्यकोटिमें नहीं आ-जाता। पर उसके उल्लेखमात्रसे पुराण-पर आक्षेप करना अपनी अनभिज्ञता तथा पुराणद्वेष व्यक्त करना है, जब कि पुराण उस कृत्यको समर्थित भी न करता हो—यह प्रतिपक्षियोंको अवश्य स्मरण रख लेना चाहिये।

खेद है कि—प्रतिपक्षी भी उन लड़कोंकी भांति पुराणोंको कलङ्कित करनेकेलिए पुराणका पूर्वापर छिपाकर मिथ्याव्यवहार बहुत करते हैं। पाठकोंको इन लोगोंसे सावधान रहना चाहिये। इन लोगोंके षड्यन्त्रमें नहीं फंसना चाहिये। पद्मपुराण (१।१०) में भी यह काण्ड बहुत-प्रबल दुर्भिक्षमें किया हुआ बताया गया है (५१)। वहांपर 'इति चिन्तयतां पापं' (५३) 'क्रूरे कर्मणि निर्भयाः' (५८) इसे पाप और क्रूरकर्म बताकर निन्दा की गई है, उस कुकृत्यमें गौरव नहीं बताया गया है, जैसा कि प्रतिपक्षीने झूठा आक्षेप किया है। दूसरे जन्ममें उनकी व्याधजन्ममें और मृगजातिमें उत्पत्ति उक्त पापका फल बताया गया है। उनकी सद्गति नहीं बताई। सद्गति बताई होती, तो उनका जन्म ब्राह्मणके घर होता, वा स्वर्गमें वा मुक्तिमें गमन दिखलाया जाता; पर वैसा पुराणमें नहीं दिखलाया गया। तब यह प्रति-पक्षीका असत्य-व्यवहार सिद्ध हुआ, जिसे देवीभागवत-पुराणमें प्रतिपक्षीने राक्षसोंका धर्म बताया था। ३०।

[४०] आक्षेप—मनुके वंशज चक्रवर्ती सत्यव्रतने ऋषि-विश्वा-मित्रके परिवारका उस समय पालन किया, जिस समय ऋषि घोर तपस्यामें लगे हुए थे, और उनकी पत्नी अपने पुत्र गालव-को बेचने लगी थी। उस समय उसने अनेक प्रकारके मांसोंसे उस परिवारका पालन किया। एक दिन वसिष्ठ-ऋषिकी गौको मारकर उसका मांस स्वयं भी खाया, और विश्वामित्रके पुत्रको भी खिलाया—'अविद्यमाने मांसे तु वसिष्ठस्य महात्मनः। सर्वका-मदुहां दोग्ध्रीं ददर्श च नृपात्मजः। दाशधर्मगतो राजा तां जघान स वै मुने !! स तं मांसं स्वयं चैव विश्वामित्रस्य चात्मजम्। भोज-यामास तच्छ्रुत्वा वसिष्ठो ह्यस्य चुक्रुधे' शिवपुराणमें यह कथा है। पुराणोंमें जो लिखा है, वह वेदविरुद्ध है। परन्तु सनातन-धर्मी भाई उसे अपने गले लगाये बैठे हैं' ['दो शास्त्रार्थ' में आर्य-पथिक अमरसिंह ठाकुर [पृ० ३]। [ख]

परिहार—पुराणमें किसी कदाचारके लिखने मात्रसे उसकी ग्राह्यता नहीं हो जाती; किन्तु उस कुकृत्यकी निन्दा करनेसे उस अंशकी त्याज्यता हो जाती है। पर खेद है-प्रतिपक्षी पुराणका पू-र्वापर छिपाकर पुराणोंको बदनाम करनेकी चेष्टा करते हैं। यह असत्यव्यवहार देवीभागवतके अनुसार राक्षसोंका प्रिय व्यवहार

है, देवोंका नहीं। देखिये यह कथा उमासंहिताके उत्तरार्धमें आई है, वहां सत्यव्रतको दुराचारी बताया है, उसे हरिवंश-पुराणमें तो विकृतांग करके निकाल दिया गया था। एक ही कश्यप ऋषिकी सन्तान कोई देवता कोई दानव। एक ही पुलस्त्यके पौत्र रावण और बिभीषण। अब देखिये पुराणानुसार उसका चरित्र—

'तस्य सत्यव्रतो नाम कुमारोभून्महाबली' (३७। ४७) यहां सत्यव्रतको एक राजाका लड़का बताया गया है। अब उसके पुराणप्रोक्त दुश्चरित्र देखिये—'पाणिग्रहणमन्त्राणां विघ्नं चक्रे महात्मभिः। येन भार्या हृता पूर्वं कृतोद्वाहा परस्य वै' (४८) उसने एक पुरुषकी पाणिगृहीती-स्त्रीके विवाहमें होरहे हुए पाणग्रहण मन्त्रोंमें विघ्न डाल कर उसे छीन लिया था। 'बलात् कामाच्च मोहाच्च संघर्षाच्च मदोत्कटात्। जहार कन्यां कामाच्च कस्यचित् पुरवासिनः (४९) उसने किसी नागरिककी कन्याको भी बलपूर्वक उठा लिया था। ऐसे अधर्मीकी कथाको प्रतिपक्षी बड़े गौरवसे उपस्थित करके अपना पक्ष सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं। रावणका भी दुश्चरित्र रामायणमें दिखलाया गया है, क्या इससे रामायणको प्रतिपक्षी अपने गले न लगाकर छोड़ देते हैं? यदि नहीं; तब उस दुराचारीके, पुराणसे असमर्थित बल्कि निन्दित दुश्चरित्रके उल्लेख-मात्रसे प्रतिपक्षी पुराणके छोड़नेकी सम्मति कैसे देते हैं?' अब देखिये—उसे अधर्मी समझकर उसका पिता द्वारा निकाल देना भी पुराण ही बताता है—

'अधर्मसगिनं तं तु राजा त्रय्यारुणिः त्यजन्। अपध्वंसेति बहुशोऽवदत् क्रोधसमन्वितः' (५०) पिताने उसे 'अपध्वंस' कहकर निकाल दिया। यह एक बड़ी गाली है, यह शब्द वर्णसङ्करोंके लिए प्रयुक्त किया जाता है (मनु. १०। ४१)। 'वस श्वपाक-

निकटे राजा प्राहेति तं तदा (५१) उसे चाण्डालोंके पास रहनेको कहा। 'स हि सत्यव्रतस्तेन श्वपाकावसथान्तिके। पित्रा त्यक्तो-ऽवसद् वीरो धर्मपालेन भूभुजा (५२) राजा विरक्तः पुत्रकर्मणा (५३)। राजकुमारके इस पापसे उस देशमें १२ वर्ष वर्षा भी न हुई—'समा द्वादश विप्रर्षे! तेनाधर्मेण वै तदा' (५४)। ऐसे अकालके समयमें जब धान्य-अन्न नहीं मिलता था, तब उसने मांस खाना-खिलाना शुरू किया। जब वह मांस भी चुक गया, तब 'अ-विद्यमाने मांसे तु, वसिष्ठस्य महात्मनः। तां वै क्रोधाच्च लोभा-च्च श्रमाद्वै च क्षुधान्वितः। दाशधर्मगतो राजा तां (कपिलां) जघान स वै मुने!' स तं मांसं स्वयं चैव विश्वामित्रस्य चात्मजान् (३८। ११) भोजयामास तच्छ्रुत्वा वसिष्ठो ह्यस्य चुक्रुधे' (१२) यद्यपि वह अधर्मी था, तथापि मांस उसने अनावृष्टिसे खेतीके नष्ट हो जानेसे आपत्में शुरू किया। जब वह भी चुक गया; तब प्रबल-भूखसे आर्त होकर उसने कपिलाको मार दिया—यह उसके भीषण-आपत्तिकालका वर्णन है। इस कुकृत्यको पुराण-ने कहीं समर्थित नहीं किया, किन्तु उसे दाश-लोगोंका धर्म बताया गया है। दाश एक निम्न वर्णसङ्कर-जाति है। पीछे उसीको त्रिशङ्कुरूपमें चाण्डालता बताई गई है। इस प्रकार जब पुराण ने अत्यन्त-आपत्तिकालमें भी उसका यह कर्म समर्थित नहीं किया; और राजाका यह धर्म बताया भी नहीं है,; तब इससे पुराणपर आक्षेप क्या आसकता है? क्या प्रतिपक्षीका यह आशय था कि वह उसका कुकृत्य छिपाकर उसका झूठ-मूठ कोई अच्छा कार्य दिखा देता? यह तो उल्टा पुराणकी सत्यता सिद्ध हुई। इसने धर्मात्मा-युधिष्ठिरका जुआ खेलना भी दिखा दिया; और एक पापीका एक-परिवारको आपत्तिकालमें पालना भी दिखा दिया। फिर भी जो प्रतिपक्षी पुराणपर आक्षेप करते हैं, यह स्पष्ट उन

का पुराणोंसे कोई द्वेष तथा असत्य-व्यवहार जो प्रतिपक्षीसे मानित देवीभागवतके अनुसार राक्षसोंका धर्म है, उससे प्रतिपक्षियोंका प्रेम मालूम होता है। [ख]

रन्तिदेवका गोवध मेघदूतमें।

[४१] प्रश्न-महाभारतमें तो रन्तिदेवका गौओंको मारकर अतिथियोंको खिलाना तथा उससे उसका यश फैलना दिखलाया है। इससे पुराणको गोवध इष्ट मालूम होता है; प्रसिद्ध-कवि कालिदासने भी उसे अनूदित करके अपने 'मेघदूतमें' 'व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन् स्रोतो-मूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम्' [१। ४६] इस पद्यमें साक्षी दी है कि—उन गौओंको काटनेसे इतनी खालें हुई, जिससे, चर्मण्वती नदी बन गई। उससे रतिदेवका यश फैल गया, उस नदीको आजकल चम्बल कहते हैं। [ग] [सुधारक लोग]

उत्तर—इस विषयमें हम स्पष्टता तो 'आलोक'के छठे-सुमन में कर चुके हैं- पाठक वहीं देखें। महाभारतमें रन्तिदेवका अतिथियोंको गोदान इष्ट है। जब वेदानुसार गायको 'अघ्न्या' कहा गया है, तब उसका मारना इष्ट नहीं हो सकता। दान ही इष्ट है। 'सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमतिथिर्वसेत्। आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राण्येकविंशतिम्' [७। ६७। १६, १२। २६। १२७] इस महाभारतके पद्यमें 'आलभ्यन्त' है। आङ् पूर्वक 'लभ' धातुका अर्थ 'मारना' भी होता है, पर 'स्पर्श' अर्थ भी होता है, इस विषयमें छठे सुमनका ३६७-३६८ पृष्ठ देखिये। पारस्करगृह्यसूत्रमें 'अङ्गानि आलभ्य जपति—'अङ्गानि म आप्यायन्ताम्' (२।४।७)में 'आलभ्य' का स्पर्श-अर्थके अतिरिक्त अन्य अर्थ हो ही नहीं सकता। तब महाभारतके 'आलभ्यन्त शतं गावः' का भी अर्थ है—'दानकेलिए स्पर्श की गईं'। किसी

वस्तुका दान जब प्राचीन समयमें किया जाता था, तो दाहिने हाथमें जल लेकर और बाएँ हाथसे देय-वस्तुका स्पर्श करके फिर संकल्प पढ़ा जाता था। 'मारना' अर्थ गायके 'अघ्न्या' होनेसे सङ्गत नहीं होता; रन्तिदेवकी कीर्ति भी सहस्रों-गौओंके दानसे हो सकती है, मारने-मरवानेसे नहीं। तब महाभारतानुसारी 'मेघदूत' में भी गायके दानके निमित्तसे गायका 'आलम्भ' स्पर्श-अर्थ वाला है। अब उसमें यह व्याख्या हुई—'सुरभितनयानां-गवाम् आलम्भाद् दानार्थं क्रियमाणस्पर्शाद् जायते-उत्पद्यते—इति तथाभूतां, भुवि-पृथिव्यां स्रोतोमूर्त्या परिणतां-दानमूलकातिशयमात्रिकसाङ्कल्पिकजलपातवशाद् नदी-प्रवाहरूपेण सञ्जातां कीर्तिं—यशो मानयिष्यन्-तत्सम्माने स्थास्यन् हे मेघ! व्यालम्बेथाः—किंचिद्विलम्बं कामं कुर्वीथाः'। हिन्दीमें अर्थ वा तात्पर्य यह हुआ कि—गायके दानके समय दानार्थं जलसे संकल्प करते हुए जो स्पर्श किया जाता था, लाखों गौओंका दान होनेसे सङ्कल्पका जल इतना हो जाता था कि—उससे कवितामय यह शब्द कहा जाता था कि—उससे पृथिवीमें एक नदी ही बन गई [१।४५] यही संकल्पजलकी नदी रन्तिदेवकी कीर्ति बनी हुई थी, जिसका नाम 'चर्मण्वती' बन गया। 'चर्म' हमारे शरीरमें व्याप्त हुआ हुआ है ('चर्म चरतेर्वा' (२।५।५) यह निरुक्तका विग्रह यही अर्थ रखता है) इस प्रकार वह कीर्ति-नदी भी सर्वत्र व्याप्त हो जानेसे संज्ञाशब्द होनेसे 'चर्मण्वती' (अष्टा. ८।२।१२) बन गई, नहीं तो 'चर्मवती' नाम होता। गौओंको मारनेसे निकले हुए लोहूकी जमा की हुई राशिसे तो वह 'रक्तवती' कही जाती, 'चर्मण्वती नहीं; चर्म कोई तरल-वस्तु नहीं कि वह नदीके नाममें प्रयुक्त हो। दुग्धकी नदी, रक्तकी नदी, मज्जाकी नदी तो कहा जा सकता है, पर 'चर्मण्वती' कहनेसे स्पष्ट है कि—यह रक्त आदिकी नदी नहीं।

तब यहां गौओंको मारना अर्थ भी नहीं। रक्तनदी वा गौओंको मारकर खालोंकी बहुतायत कर देनेसे रन्तिदेवकी कीर्ति हो भी नहीं सकती थी; उस समय तो बहुत हिंसक होनेसे उसकी अत्यन्त निन्दा होती। कसाईकी भी क्या कभी कीर्ति फैलती है? यदि वह लहू की नदी होती; तो 'चर्मण्वती' नदी आज भी लाल नदी कही जाती वा होती। साङ्कल्पिक-जलकी बहुतायतसे कविकी भाषामें उसे जलकी नदी तो कहा जा सकता है। वेद-पुराण आदिमें यज्ञादिमें अन्य पशुकी हिंसा भले ही आवे; पर गायकी हिंसा कहीं भी अभ्यनुज्ञात नहीं, क्योंकि-वेद एवं पुराण गायको एक-स्वरसे 'अघ्न्या' कहते हैं। सो यज्ञमें हो, चाहे यज्ञके बाहर हो, गायकी हिंसा सर्वत्र पाप-जनक मानी जाती है। रन्ति-देवकी कथाके मूल महाभारतमें भी स्पष्ट कहा है—'अघ्न्या' इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति' [शान्ति. २६२।४७] अतः जहां हिंसा में 'गो' शब्दका प्रयोग दीखे; वहां 'गो' शब्दका अर्थ 'सामान्य-पशु' समझना चाहिये, क्योंकि—'गो' का अर्थ सामान्यपशु भी होता है। इस विषयमें स्पष्टता जाननेको उत्सुक महोदय 'आलोक' का छठा पुष्प [मूल्य १०)] हमसे मंगा लें। [ग]

[४२] आक्षेप—पौराणिक ऋषि, मुनि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, राजा आदि गोभक्षक थे, इस विषयमें पुराणोंके श्लोक पर्याप्त मात्रामें मिलते हैं, पर वेद इससे विरुद्ध हैं, अतः पुराण वेद-विरुद्ध सिद्ध हुए। [घ] [सुधारक आर्यसमाजी]।

परिहार—वेद तथा पुराण गायको 'अघ्न्या'—अहन्तव्या, अताडनीया कहते हैं। जब वे गायको ताडनका भी निषेध करते हैं; तब गायके मारनेके लिए कैसे कहेंगे? अतः कहीं पर यदि 'गोभ-क्षण' मिलता भी है; तब वहां 'गो' शब्द पशुसामान्य-वाचक है, गाय-वाचक नहीं। इस विषयमें हम अभी-अभी प्रकाश डाले

चुके हैं, 'आलोक' के छठे पुष्पमें तो हमने इस विषयमें विशेष प्रकाश डाला है। जो पुराणके पद्य इस विषयमें दिये जाते हैं, उन सबका भी समाधान हमने छठे पुष्पमें कर दिया है। आक्षेप-कर्ता उस पुष्पको मँगवाएँ। जब यहां यह पृथक् प्रश्न किया गया है; तब पृथक् उत्तर भी संक्षेपसे दिया जाता है।

जो कि ऋषियोंको 'गोभक्षक' कहा जाता है; तब क्या गाय कोई सब्जी है जो कि—कोई उसे खा जायगा! ऐसे अवसरपर लाक्षणिक अर्थ ही तात्पर्य-प्रदर्शक हो सकता है, वाच्यार्थ नहीं।

प्रतिपक्षियोंसे मान्य निरुक्तमें 'अवसाय पद्वते रुद्र! मृल' (ऋ० १०।१६९।१) ('पादयुक्ताय पाथेयाय अन्नाय गोरूपाय' अर्थवाले) इस वेदमन्त्रपर निरुक्तने लिखा है कि—'पद्वद् अवसं गावः पथ्य-दनम्' (१।१७।२) इसका अर्थ है गौएँ 'जङ्गम-पाथेय' (चलने-फिरने वाला मुसाफिरीका भोजन) हैं; तब क्या प्रतिपक्षी इसका अर्थ यह करेंगे कि—'गौएं हमारा चलता-फिरता भोजन हैं, जब चाहें, उसे खा लें'। ऐसा अर्थ करना मूर्खता होगी। इसका भाव यह है कि—'गो' शब्द 'गो-दुग्ध' वाचक होता है। सो गोदुग्धकी बनी हुई वर्फी आदि मुसाफ़िरीके भोजनरूपमें व्यवहृत होती है।

'गो' शब्द 'गोदुग्ध'का वाचक होता है, इसमें निरुक्तका प्रमाण भी देखें—'अथापि अस्यां (गवि) ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति; 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' इति पयसः' (२।५।४) अर्थात्—'गो' शब्दका तद्धिती प्रत्यय वाला अर्थ होता है, जैसे—'गोभिः श्रीणीत' मन्त्रमें 'सोमरसका गौओंसे पकाने'का अर्थ न होकर 'गायके दूधसे पकाने' का अर्थ है। जहां 'गो'का भक्षण हो, वहां 'गोदुग्धका भक्षण' इष्ट होता है। लोग दूधके पीनेका लाभ नहीं बताते, किन्तु दूधके खानेका

बताते हैं। दूधको रोटीकी भांति धीरे-धीरे खाने से लाभ होता है। यदि कहीं 'गोका पाक' आजावे, वहां 'दुग्धका पाक' समझना चाहिये।

जहाँ पर 'गो'का भक्षण आवे; वहां गाय कोई सब्जी तो नहीं कि-उसे खा लिया जावेगा, वहां उसका 'ग्रहण' अर्थ करना चाहिये, उसके दूध आदिके उपयोगका भाव समझना चाहिये। देखिये-'अद् भक्षणे' धातु है, सो भक्षणार्थक 'अद्' धातुका 'ग्रहण' अर्थ भी देखा गया है। जैसे कि वेदान्तदर्शनका सूत्र है-'अत्ता चराचरग्रहणात्' (१।२।६) यहां 'अत्ता' से 'परमात्मा लिया जाता है, और 'अत्ता'का अर्थ 'भक्षक' होता है। तो क्या परमात्माको चराचरका 'भक्षक' मानना पड़ेगा? इसी प्रकार 'दु. स.श.में भी 'यया त्वया जगत्स्रष्टा जगत् पात्यत्ति यो जगत्' (१। ८३)यहां भी विष्णुको प्रलयमें जगत्का 'अत्ता' कहा है। इसी प्रकार देवीकेलिए भी कहा है—'त्वं देवि! जननी परा। त्वयैतद् धार्यते विश्वं त्वयैतत् सृज्यते जगत्, (१।७५) त्वयैतत् पाल्यते देवि! त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा' (१।७६) तो क्या वह जननी देवी पुत्रोंको प्रलयमें खा जाती है? नहीं, एतदादि-स्थलमें भक्षणार्थक भी 'अद्' धातुका 'ग्रहण' अर्थ है। स्वा.द.जीने भी 'भ्रान्तिनिवारणम्, (शताब्दीसंस्करण पृ. ९१६) में लिखा है-'अत्ता, शब्दका 'ग्रहण करने वाले' के अर्थमें वेदान्त-सूत्रका अभिप्राय है'। संस्कारविधि पृ. १५५ में स्वामीजीने 'न अद्मि' का अर्थ 'भोग नहीं करता हूँ' यह लिखा है।

ऋ. १।२५।१८ में 'हविः क्षदसे' का 'हविः अश्नासि, यह श्रीसायणाचार्यने हविके भक्षणका अर्थ किया है, फिर उसका अनुवाद करते हुए श्रीसायणने लिखा है-'हविः-स्वीकाराद् ऊर्ध्वं'। इससे श्रीसायणने यह सूचित किया है कि-'भक्षण' का तात्पर्य

'स्वीकार' भी होता है। पञ्चतन्त्र-काकोलूकीयमें एक पद्य आता है—'प्रत्यक्षं यस्य यद् भुक्तं क्षेत्राद्यं दश वत्सरान्। तत्र भुक्तिः प्रमाणं स्याद् न साक्षी नाक्षराणि वा' (६३) भुजधातु 'खाने' अर्थमें प्रसिद्ध है। यहांपर टीकाकारोंने अर्थ लिखा है—'दश वत्सरान् व्याप्य यस्य अक्ष्णोः अभिमुखं, साक्षादित्यर्थः, यत् क्षेत्राद्यं-भूम्यादिकं वस्तु भुक्तं येनेति शेषः; तत्र भुक्तिः-भोग एव प्रमाणम्, स्वत्वकारणम् (श्री जीवानन्द-विद्यासागर पृ० ३४२) यहां भूमिका 'खाना' तो सम्भव नहीं, अतः उसका 'उपयोग' ही अर्थ होता है।

'जीवो जीवस्य भोजनम्' (जीवनम्)' यह उपनिषदोंमें प्रसिद्ध एक वाक्य है; यह मनुष्योंमें कैसे घट सकता है? क्या 'मनुष्य मनुष्यकी रोटी है' ऐसा अर्थ होगा? नहीं, यहां 'उपयोग' अर्थ है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको अपने अधीन कर लेता है, उसे अपना दास बना लेता है, उससे अपना काम निकलवा लेता है। इस प्रकार कहीं 'गोभक्षण' आजावे तो उससे अपने काम निकलवा लेना, वा उसे काबूमें कर लेना, अर्थ है। उसका दूध पी जाना—यह 'गोभोजन' ही तो है। 'बलीयान् अबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे' (कौटलीय-अर्थशास्त्र विनयाधिकारिकमें दण्डनीतिकी स्थापनामें) यहां बलवान् पुरुषका दुर्बलको ग्रस जाना क्या सचमुच उसके खाजानेका अर्थ होगा? 'ब्रह्मेश-विष्वाख्यशरीरभेदैर्विश्वं सृजत्यत्ति च पाति यश्च। तमादिदेवं परमं वरेण्यम्' (स्कन्द-पुराण उत्तरखण्ड नारद-सनत्कुमारसंवाद १६) क्या यहां आदिदेव-द्वारा सृष्टिका अदन-सब्जीकी भान्ति खाना माना जावेगा?

'होतुराहुति-साधनम्' (रघुवंश १।८२) यहां नन्दिनी गाय को वसिष्ठके यज्ञकी 'आहुतिका साधन' बताया है। इससे उस

गायका हवन नहीं कर दिया जाता था, किन्तु उसके घी-दूधका हवन होता था। यहां उसका 'आहुतिसाधनत्व' है। इसलिए 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' के पञ्चम-अङ्कमें 'सन्निहितहोमधेनुः' का अर्थ टीकाकारोंने 'दुग्ध-घृतादिना होमोपकारक-गोसनाथः' यही लिखा है।

अब जरा वेदपर भी दृष्टि डाल लेनी चाहिये—'नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते ! अत्तवे । मा ब्राह्मणस्य राजन्य ! गां जिघत्सो ! अनाद्याम्' (अथर्व. ५।१८।१) यहां ब्राह्मणकी गायको क्षत्रिय यदि खानेकी इच्छा करे, तो उसमें उस क्षत्रियकी निन्दा की गई है। 'सा ब्राह्मणस्य राजन्य ! तृष्टैषा गौरनाद्या' (३) यहां भी ब्राह्मणकी गायको क्षत्रियद्वारा खानेका निषेध किया है। सो विचारणीय है कि—यहां खानेका क्या भाव है? वही जो हमने पूर्व कहा है कि—ब्राह्मणकी गायको अपने काबू कर लेना, उसे 'हड़प' कर जाना'। जैसे कि—सहस्रार्जुनने ब्राह्मण जमदग्निकी गायको हड़प लिया था, उसे वह छीन कर ले गया, उसे लौटाया नहीं।

यही ब्राह्मणकी गायके भक्षणका अर्थ है। जैसे कि—स्वा. द.जीके स.प्र. वाले जाटने जो गाय ब्राह्मणको दान दी थी; वह तो ब्राह्मणकी हो चुकी; पर उसे वह उससे छीन ले गया, और हड़प कर गया; उसको खा गया; क्यों कि लौटाया नहीं, यही 'गो-भक्षण' है, जो जाटने किया। उसी ब्राह्मणकी गायको खा जाना वेदके पूर्व लिखे मन्त्रमें निन्दित किया है; पर खेद है कि वैदिकम्मन्य स्वा. द.जीने उस जाटकी कार्यवाहीको समर्थित कर दिया—'जब ऐसे ही जाटजीकेसे पुरुष हों; तो पोप-लीला संसारमें न चले' (स. प्र. ११ पृ. २१८)।

पूर्वके वेदमन्त्रमें 'गोभक्षण'का 'गायको ले लेना, छीन लेना' अर्थ था; यह वेदने अन्यत्र स्पष्ट कर दिया है। देखिये—'अवास्तुमेनम् अस्वगम्, अप्रजसं करोति······य एवं विदुषो ब्राह्मणस्य क्षत्रियो गामादत्ते' (१२।५।४५-४६) यहां 'आदत्ते' शब्द पूर्व की दी हुई 'अद्' धातुका स्थानापन्न है। इससे वेदने स्पष्ट कर दिया कि—वहां 'गायका खाजाने' का तात्पर्य 'गायका हड़प कर लेना' ही है। इस प्रकार अ. १२।५। ४१-४४ मन्त्रोंमें भी स्पष्ट है। सो अपनी गायको कोई ब्राह्मणको दान कर दे; दानका अर्थ होता है—अपना स्वत्व छोड़कर दूसरेका स्वत्व कर देना। सो जाटने भी जब उस अपनी गायको स्वस्वत्व-निवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोत्पादन करके दान कर दिया; अब वह ब्राह्मणकी हो गई, तब उसी ब्राह्मणकी गायको जाट-जैसा अब्राह्मण बलात् ले ले; सो उस गायको 'हड़प जाना' ही ब्राह्मणकी 'गाय खा-जाना' कहा है; उसका वेदने इस मन्त्रमें बहुत दुष्फल लिखा है। जिस सन्तानकेलिए उसने उस गायको छीना, खाया, इस वेद-मन्त्रने 'अप्रजसं करोति' लिखकर उसकी सन्तानका नष्ट हो जाना बताया है, पर स्वा. द. उसका वेदसे विरुद्ध उल्टा अनुमोदन करते हैं।

फलतः जो कोई किसीकी कोई चीज छीनकर वापिस न दे; तो कहते हैं कि— देखो वह उसकी यह वस्तु खा गया'। सो जहां 'गोभक्षण' आ जावे; वहां गायके 'अघ्न्या' होनेसे उसका 'खाना' अर्थ वाच्य होनेपर भी उसे 'काबूमें कर लेना, हड़प कर जाना' आदि लाक्षणिक-तात्पर्य ही होता है, यह जान रखना चाहिये। पुराण तो वेदका भाष्य ही हैं, उसके खण्डक नहीं।

यदि हमारा अर्थ आक्षेपकर्ता सुधारक-आर्यसमाजियोंको इष्ट न हो; तो हम उन्हें इस विषयमें वेदका ही एक अच्छा उदाहरण देते हैं। उसमें लिखा है—'यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव, स

विषस्य पिबति' (अथर्व.५ । १८ । ४) अर्थात्–जो क्षत्रिय ब्राह्मण को अन्न ही समझ लेता है, वह विष-भक्षण करता है। अब क्या ब्राह्मण क्षत्रियका अन्न-रोटी बन जायगा ? अथवा 'अन्न' का अर्थ यहां 'रोटी' भी कर दिया जावे; तब भी तात्पर्य वही होगा-'जो क्षत्रिय ब्राह्मणको अपने काबूमें कर लेता है, उसे नौकर बना लेता है, उसके धन-स्त्री आदिको हड़प कर लेता है' इत्यादि; तब जो अपने 'दो-शास्त्रार्थ' में ठाकुर-अमरसिंहजीने एक वेदमन्त्रके 'हे राजन् ! ब्राह्मणकी गौको मत खा' इस अर्थ करनेसे पं. अखिलानन्द जी कविरत्नपर आक्षेप किया है, वह एक प्रकारसे ठाकुर-महाशयका वेद पर ही आक्षेप है; क्योंकि–वह कविरत्नजीने वेदके मन्त्रका ही अर्थ किया है, देखिये वह मन्त्र–अथर्व. ५ । १८ सूक्त । उसका उदाहरण भी वेदने स्वयं दिया है–ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन्' (अथर्व. ५ । १८ । १०) यहां पर ब्राह्मणकी गायको खाजाने-हड़प जानेसे वीतहव्य के लड़कोंके पराभवका उदाहरण दिखला कर हमारे पक्षको सुस्पष्ट कर दिया है। उसका तात्पर्य इतना सरल है कि– वह बिना लिखे भी सभीको समझमें आ सकता है। शब्दार्थ वहां यही तो है; पर भाव हमने उसका पहले ही बता दिया है। वेदकी इस उक्तिका पौराणिक-उदाहरण है-जमदग्नि-सहस्रार्जुनकी कथा। वेदानुसार ही सहस्रार्जुनकी दुर्दशा हुई, उसकी सन्तान भी उसके समेत ही नष्ट हुई।

'न तदश्नाति किञ्चन, न तद् अश्नाति कश्चन' (बृहदारण्यक ३ । ८। ८) इसका अर्थ है–ब्रह्म किसीका अशन नहीं करता, और उस ब्रह्मका अशन कोई नहीं करता; तो क्या यहां भोजनार्थक 'अशन' का अर्थ 'खाना' कर दिया जावेगा ? नहीं, किन्तु उसका तात्पर्यार्थ 'ग्रहण' 'उपयोग' आदि ही किया जावेगा। इस प्रकार

प्रकृतमें भी समझ लेना चाहिये। 'गोमांसं भक्षयेन्नित्यं' 'गो-शब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि। गोमांसभक्षणं प्रोक्तं महापातक-नाशनम्' यह योगशास्त्रोक्त अर्थ होता है। प्रकरणानुसार वह अर्थ स्वयं देख लेना चाहिये। तब सुधारक आर्यसमाजियोंके इस आक्षेपका भी निराकरण हो गया। (श)

गोरी स्त्रियोंका पक्षपात (?)

(४३) प्रश्न–'कृष्णवर्णा या रामा रमणायैव, न धर्माय' (वसिष्ठ-स्मृति १८ । १६) काले वर्णकी सुन्दरी (?) स्त्रियां रमणकेलिए हो सकती हैं, परन्तु उनको पत्नी बनाकर दा[illegible] यज्ञादि धर्मकृत्य न करें। ३१।

प्रत्युत्तर–'समस्त पौराणिक-विद्वानोंसे ३१ प्रश्न' नां[illegible] डाक्टर-श्रीरामआर्यकी बनी क्षुद्र-पुस्तिकाका यह इकतीसवां अन्तिम प्रश्न है। जैसे हम उनके पूर्वके ३० प्रश्नोंका सर्वाङ्गीण प्रत्युत्तर दे चुके हैं; वैसे इस अन्तिम-प्रश्नका भी सर्वाङ्गीण प्रत्युत्तर देते हैं। अन्तिम-प्रश्न पुराणका न होकर स्मृतिका है। मालूम होता है कि–पुराणोंका मसाला 'पहली किश्त' में ही प्रतिपक्षीको 'किश्त' दे गया। इसी प्रकार ७ वां और ६ वां और २६ वां २७ वां प्रश्न भी १८ पुराणोंका नहीं। अस्तु।

यदि काली स्त्रीको रमणकेलिए रखा गया, धर्मकृत्यसे उसे अवकाश दिया गया, जिसकेलिए शीतकालमें प्रातः स्नानादि, [illegible] में भी यज्ञ आदिमें अग्निके सामने बैठना, कई उपवास रखना आदि कष्ट उठाने पड़ते हैं; यह तो उसपर दया हुई; उसे उनसे छुट्टी दे दी गई। स्त्री रमण (आनन्द) चाहती है। देखो शिवपुराण उमासंहितामें कहा है—'न कामभोगात् (इच्छापूर्तिसे) परं [illegible] नालङ्कारार्थसञ्चयात्। तथा हितं न मन्यन्ते [स्त्रियः] यथा [illegible] परिग्रहात्' (२५ । ३३)। इसी प्रकार महाभारत आदिमें

इस तरहके पद्य मिलते हैं। वह रति (आनन्द) उस काली स्त्री को मिली, यह उससे क्रूरता कैसे हुई ? क्या प्रतिपक्षीका मस्तिष्क आक्षेपकी प्रसन्नता वा धुनमें यह नहीं सोच सकता ?।

अब प्रतिपक्षी इसका वास्तविक तात्पर्य सुने और समझे– 'कृष्णवर्णाका अर्थ है 'शूद्र-वर्णवाली स्त्री'। सत्त्वगुणका वर्ण शुक्ल और रजोगुणका रक्त और सत्त्व-रजके मिश्रणका पीत' तथा तमोगुणका वर्ण-कृष्ण माना गया है। यह वर्ण-गुण क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णोंमें माने गये हैं। सो शूद्रासे द्विज धर्मार्थ तो विवाह नहीं कर सकता; किन्तु कामार्थ कर सकता है; क्योंकि–शूद्रका यज्ञादि-धर्मकर्ममें अधिकार नहीं। महाभाष्यमें कहा है–'दशपुरुषानूकं यस्य शूद्रा न विद्येरन्, स सोमं पिबेत्' (४। १। ९३) इसका अर्थ यह है कि–जिस पुरुष की दस पीढ़ियोंमें शूद्रा स्त्रियां न रही हों; वह यज्ञ करे। प्रमाण तो इसपर बहुत हैं, पर यहां उनके देनेका स्थान नहीं। 'तस्मात्शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' (कृ.य.तै.सं. ७। १। १। ४–६) आदि वैदिक-प्रमाण बहुत-से हैं, इस विषयमें 'आलोक'का ३य और ६ठा पुष्प देखिये। सो शूद्राको धर्मार्थ न लेकर कामार्थ लिया जाता है। जैसे कि–मनुस्मृतिमें कहा है–'कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः' (३। १२) यहाँ भिन्नवर्णा स्त्रीको कामार्थ लेना कहा है, उसमें शूद्रा भी कही है (३। १३)

वसिष्ठस्मृतिमें उक्त-वचनसे पूर्व कहा है –'नाग्निं चित्वा रामामुपेयात्' (१८। १५) अर्थात् अग्निहोत्र करके रामा (शूद्रा) का गमन न करे। 'शूद्रा' को 'रामा' क्यों कहा जाता है; इसपर वसिष्ठजीने वही प्रतिपक्षीसे उद्धृत वचन लिखा है कि- 'कृष्णवर्णा'– इत्यादि।' कृष्णवर्णा'का अर्थ है शूद्र-जातीया। शूद्रमें तमोगुण 'जन्मना' होता है। और प्रतिपक्षीके अनुसार

'कर्मणा' होता है। तमोगुण काले रंगका होता है, इस पर हम संकेत दे चुके हैं।

सांख्यमें प्रकृतिके तीन गुण दिखलाये हैं–'अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णाम्' (सांख्यतत्त्वकौमुदी १ सांख्यप्रवचन-भाष्य १। ६९)। इसमें लोहित (लाल-रंग) से रजोगुण शुक्ल (सफेद रंग) से सत्त्वगुण और कृष्ण (काले) रंगसे तमोगुण लिया जाता है। सो प्रकृति संसारका तिरङ्गा-झण्डा है। महाभारत (शान्तिपर्व) में कहा है–'ब्राह्मणानां सितो (शुक्लो) वर्णः, क्षत्रियाणां तु लोहितः। वैश्यानां पीतको वर्णः, शूद्राणामसितः (कृष्णः) तथा' (१८८। ५) यहां तो यह स्पष्ट कर दिया गया है कि शूद्रका काला रङ्ग माना गया है। श्रीमद्भागवतमें भी 'अङ्घ्रिश्रित-कृष्णवर्णः' (२। १। ३७) में 'कृष्णवर्ण' पादज (शूद्र) का रखा गया है। देवीभागवतमें लिखा है–'श्वेतवर्णं तथा सत्त्वं (३। ८। ४)'रक्तवर्ण रजः प्रोक्तं' (३। ८। ६) 'कृष्णवर्णं तमः प्रोक्तम्' (३। ८। ९) सो शूद्राके वेदाधिकार सर्वथा न होने से उसे 'धर्मपत्नी' नहीं बनाया जाता। यही यहां तात्पर्य है 'काले रङ्ग वाली स्त्री' अर्थ भले ही हो, पर तात्पर्य यह नहीं।

न केवल यह बात श्रीवसिष्ठने लिखी है, किन्तु वादि-प्रतिवादिमान्य-निरुक्तका श्रीयास्कने भी लिखी है। देखिये–'अग्निं चित्वा न रामामुपेयात्' इसपर श्रीयास्कमुनि कारण बताते हैं–'रामा रमणाय उपेयते, न धर्माय, कृष्णजातीया' (१२। १३। २) देखिये वही वसिष्ठ-जैसे शब्द हैं न ?' इस पर श्रीदुर्गाचार्यने अपनी वृत्तिमें लिखा है–'रामा इति शूद्रा उच्यते' इस पर वे कारण बताते हैं–'सा हि रमणाय एव उपेयते, रमणार्यमेव सा, न धर्माय'। वसिष्ठने 'कृष्णवर्णा' लिखा था, श्रीयास्कने 'कृष्ण-

जातीया' लिखा। सो इससे यहां सूचित हो रहा है कि—यहां पर जाति वा वर्ण शब्द समानार्थक हैं।

शूद्रका वैदिकयज्ञमें निषेध होनेसे उस शूद्र-जातीयाके साथ भी रमणका यज्ञ-कर्मके बाद निषेध किया है। यह धार्मिक कारण है। वैज्ञानिक-कारण यह है कि-देवताओंकी शूद्रोंके यज्ञसे तृप्तिका अभाव तथा उनकी निस्तेजस्कता होती है। देखो प्रतिपक्षियोंसे बहुत मान्यतावश उद्धृत किया जाता हुआ भविष्य-पुराणस्थित मिश्रदेशके शूद्रोंका इतिहास, जिन्होंने अपने उद्धारक कश्यपजीके स्वर्गगमनके बाद उनकी इच्छाके विरुद्ध बनावटी ब्राह्मण बनकर यज्ञ करने शुरू किये थे; इससे इन्द्रदेवताने अपनी तथा अन्यदेवताओंकी तृप्ति न होनेसे अपनी (देवताओंकी) निस्तेजस्कता दिखलाई थी। देखिये—भविष्य-पुराण (३।४।२०।७४-७७); अथवा 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाका तृतीय पुष्प। इससे शूद्रका वैदिक-यज्ञोंमें अनधिकार दिखलाया गया है।

'सर्वेषाꣳ शूद्रामप्येके मन्त्रवर्जम्' (१।४।११) पारस्कर-गृह्यसूत्रके इस सूत्रमें सभी टीकाकारोंने निरुक्तका उक्त पाठ उद्धृत किया है। हम यहां हरिहरभाष्यसे कुछ पाठ उद्धृत करते हैं—'शूद्राया धर्मकार्येष्वनधिकारात्। कुतो नाधिकारः इति चेत्? रामा रमणाय उपेयते न धर्माय कृष्णजातीया, इति निरुक्तकार यास्काचार्यः' इति वचनात्। अतो रमणार्थं शूद्रापरिणयनं...... तस्मात् शूद्रापरिणयनं भोगार्थमिच्छया कुर्वतो न शास्त्रातिक्रमः'। इस प्रकार जयराम, गदाधर, कर्काचार्य आदि सभीने अपने भाष्योंमें यही वचन लिखा है। प्रतिपक्षी भले ही अज्ञान-वश वादि-प्रतिवादि-मान्य श्रीयास्कको प्रमाण न माने, जैसा कि अनभिज्ञतावश उसने 'अवतार-रहस्य' (पृ. १३९ पं. २०-२६)

में हमसे लिखे यास्कवचन पर आक्रमण कर दिया है, पर यह बात निर्मूल न हुई।

सो यहां काले रंगकी स्त्री इष्ट न होकर 'तमोगुणा शूद्रा स्त्री' यह अर्थ इष्ट है। 'पत्युर्नो यज्ञ-संयोगे' (४।१।३३) इस पाणिनिसूत्रसे यज्ञादि धर्म-कर्मार्थ मुख्यतया 'पत्नी' होती है। अतः उससे जब चाहे, विषयक्रीड़ा नहीं हो सकती। उसकेलिए ऋतुकाल नियत होता है, उस ऋतुकालमें भी कई रात्रियां पर्व आदि वर्जित होते हैं। द्विज-स्त्रीपर सारे कार्यों तथा वंशका उत्पादन आदि दारामदार होनेसे उससे विषय-क्रीड़ा प्रतिसमय न हो सकनेसें उसे 'रामा' न कहकर 'धर्मपत्नी' कहा जाता है; परन्तु विषयी लोग रह नहीं सकते; तब वे कृष्णजातीया रामा अर्थात् शूद्रा ले लिया करते हैं। उसकेलिए कोई नियम नहीं रहता। हां, अग्निहोत्र करनेके तुरन्त बाद उससे भी क्रीड़ा निषिद्ध है।

शेष रहा गोरे-रंगकी स्त्रीसे प्रेम तथा कालीसे अप्रेम; इसपर तो प्रतिपक्षी अपने स्वा. द. जीके एक वेदमन्त्रका भाष्य देख ले जिसे स्वा. कर्मानन्दजीने आर्यसमाज छोड़ने तथा जैन बननेके समय लिखे हुए 'स्वा. दयानन्द और उनका वेदभाष्य' इस ट्रैक्ट-में उद्धृत करके उलाहना दिया था कि—'फिर स्वामीजीने मद्रासकी (काली) स्त्रियोंकेलिए क्या प्रबन्ध किया है, जो कि गोरी स्त्रियोंको केवल अपने साथ सुलानेका पक्षपात करते हैं; और कालीका नाम तक नहीं लेते। यह एक पक्षपात है'। आशा है प्रतिपक्षी इधर ध्यान दे देंगे।

'संसारके पौराणिक-विद्वानोंसे ३१ प्रश्न' इस क्षुद्र-पुस्तिकाके किये हुए आक्षेपात्मक ३१ प्रश्नोंका सर्वाङ्गीण समाधान यहां पूर्ण कर दिया गया है। यह प्रश्न केवल एकके किये नहीं, यही प्रश्न इस संस्थाके सभी उपदेशक लोग किया करते हैं, और

किसी समयमें किया भी करते थे। ऐसे कुतर्क प्रायः पूर्वकी आर्य-समाजी क्षुद्र-पुस्तिकाओंसे दुहे गये हैं। सनातनधर्मियोंको 'पौराणिक' कहना भारी भूल है। सनातनधर्मकी स्थिति तो यह है—'श्रौतं प्रमाणं तु श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते। तत्र श्रौतं प्रमाणं तु द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा' (१।४) वेद-व्यास स्मृतिके इस वचनके अनुसार सनातनधर्मी वेद, स्मृति तथा पुराणोंके परस्पर-विरोधमें वेदको ही प्रमाण मानते हैं। स्मृति तथा पुराणके विरोधमें स्मृतिको ही प्रमाण मानते हैं। तीनोंके अविरोधमें तीनोंको प्रमाण मानते हैं। यही बात 'श्रीदेवीभागवत'में भी कही गई है—'श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्। एतत्-त्रयोक्त एव स्याद् धर्मो नान्यत्र कुत्रचित्। (११।१।२१)विरोधो यत्र तु भवेत् त्रयाणां तु परस्परम्। श्रुतिस्तत्र प्रमाणं स्याद् द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा' (२२) श्रुतिद्वैधं भवेद् यत्र तत्र धर्मौ उभौ स्मृतौ। स्मृतिद्वैधं तु यत्र स्याद् विषयः कल्प्यतां पृथक् (२३) पुराणेषु क्वचिच्चैव तन्त्रदृष्टं यथातथम्। धर्मं वदन्ति तं धर्मं गृह्णीयान्न कथञ्चन (२४) वेदाविरोधि चेत् तन्त्रं तत् प्रमाणं न संशयः। प्रत्यक्ष-श्रुतिरुद्धं यत् तत् प्रमाणं भवेन्नच (२५) 'सर्वथा वेद एवासौ धर्ममार्गप्रमाणकः। तेनाविरुद्धं यत् किञ्चित् तत् प्रमाणं न चाऽन्यथा' (२६) इस प्रकार पुराण भी स्मृति एवं श्रुतिको अपनेसे बड़ा मानता है, सनातनधर्मी भी ऐसा ही मानते हैं; तब सनातनधर्मी केवल 'पौराणिक' कैसे कहे जा सकते हैं? इस हिसाबसे तो फिर प्रतिपक्षियोंको भी 'दयानन्दी' कहा जा सकता है; क्योंकि—वे दयानन्दजीके मतानुसार वेदार्थ करते हैं; क्या उन्हें यह स्वीकृत है? प्रतिपक्षी अपने 'ट्रैक्ट'के बीचमें तो 'सनातनधर्मी' शब्द लिखता है, फिर वह बाहर 'पौराणिक' क्यों लिखता है? केवल पौराणिक न होते हुए भी हमने प्रतिपक्षीसे किये हुए

पुराण-सम्बद्ध प्रश्नोंका उत्तर दे दिया है; आशा है-प्रतिपक्षी आगेसे ध्यान रखेगा।

यह भी प्रतिपक्षीको ध्यान रखना चाहिये कि-जिसने जो विरुद्ध कार्य किया; उसके उल्लेखसे पुराण कैसे खराब हो जाएंगे; जब तक पुराण उन विरुद्ध कार्योंका समर्थन न करें। जब वे उनका समर्थन नहीं करते, तब उनपर दोष देना कैसा? प्रतिपक्षियोंको इन सब बातों पर विचार करके उन्हींके मान्य 'श्रीदेवीभागवत' के वचनके अनुसार राक्षस बनाने वाले असत्य-व्यवहारको न करते हुए पूर्वापर—प्रकरणको देखकर तभी पुराणोंपर लेखनी चलानी चाहिये—यह हमारा उन्हें सत्परामर्श है। आगे उनकी इच्छा।

पुराण निन्दित (?)

(४४) आक्षेप—(क) 'ज्योतिर्विदो ह्यथर्वाणः कीराः पौराणपाठकाः। श्राद्धे यज्ञे महादाने वरणीयाः कदाचन' (अत्रिस्मृति ३८३) ज्योतिषी, अथर्ववेदीय कीर (तोतेकी तरह उपदेश देने वाले) तथा पुराण पढ़ने वाले ब्राह्मणोंको यज्ञ, दान और श्राद्धमें नहीं बुलाना चाहिये। 'श्राद्धे च पितरो घोरं दानं चैव तु निष्फलम्। यज्ञे च फलहानिः स्यात् तस्मात् तान् परिवर्जयेत्' (३८४) श्राद्धमें इन्हें बुलाने वालेके पितर घोर नरकमें जाते हैं, दानका फल निष्फल होता है, और यज्ञमें फल भी नष्ट होता है)। [ख] 'वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः। पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति, भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति' (अत्रि. ३८२) जो लोग वेद नहीं पढ़ सकते, वे शास्त्र पढ़ते हैं। जो शास्त्रोंको नहीं पढ़ सकते वे पुराणोंको पढ़ते हैं। जो पुराण भी नहीं पढ़ सकते, वे खेती करते हैं। और जो महाभ्रष्ट खेती भी नहीं कर सकते, वे भागवत बांचते (और पेट

पालते) फिरते हैं'। इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि–भागवतादि पुराण कोई उत्तम ग्रन्थ नहीं। इनकी रचना घोर पाखण्डी लोगोंने मानव जातिको लूटने–खानेकेलिए की थी। इन पुराणों तथा पुराणपाठकोंका पूर्ण बहिष्कार करना चाहिये, (शिवलिंग-पूजारहस्य पृ. ३८, ३९)।

परिहार-(क) पहले श्लोकमें 'कदाचन वरणीयाः' तो लिखा है; 'न वरणीयाः' तो लिखा नहीं; तब तो इसका अर्थ यह हुआ कि–इन्हें कभी बुलाओ; अन्य योग्य न मिले, तो इन्हें बुलाओ-यह तात्पर्य हुआ। तब 'इन्हें न बुलाओ' यह प्रतिपक्षीने अर्थ कहां से निकाल लिया? मालूम होता है कि–प्रतिपक्षीको स्वयं ज्ञान नहीं, केवल भाषा-टीकाएँ पढ़कर अपना काम निकालता है।

यदि अग्रिम-श्लोकके कारण उन्हें बुलानेकी मनाही की है; तो उसमें 'अथर्वाणः' भी लिखा गया है; तब प्रतिपक्षीको अथर्व-वेदी-ब्राह्मणको बुलानेका भी निषेध करना चाहिये। यदि वह इस लिखनेसे उस पद्यको प्रक्षिप्त समझता है; तब प्रक्षिप्त श्लोकको क्या इसलिए लिखता है कि–चलो, पुराणकी निन्दा तो इससे होती है न? 'अप्यात्मनो विनाशं न गणयति खलः पर-व्यसनहृष्टः। प्रायो मस्तकनाशे समरमुखे नृत्यति कबन्धः'।

प्रतिपक्षीकी अन्य धूर्तता देखिये–द्वितीयपादंस्थित 'कीराः' शब्द द्वितीयपादस्थित विशेष्य 'पौराणपाठकाः'का ही विशेषण था; पर उसने चालाकी करके उसे प्रथमपादके 'अथर्वाणः'से सम्बद्ध कर दिया। 'अथर्वाणः' विशेष्य है 'कीराः' विशेषण, तो विशेषण विशेष्यसे पहले रहा करता है; नहीं तो 'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्' इस न्यायसे 'अविमृष्टविधेयांश' दोष हो जाया करता है; तब 'कीराः'की 'अथर्वाणः'से विशेषणता कैसे हो सकती है?

यदि प्रतिपक्षी कहे कि–'कीराः' विशेष्य है, और 'अथर्वाणः' विशेषण है, इसलिए 'अथर्ववेदी कीर' यह उसने अर्थ किया है; तो यहां 'अथर्वन्' शब्दको अण् प्रत्यय होकर 'आथर्वणाः कीराः' यह पाठ होना चाहिये था, पर नहीं है; अतः प्रतिपक्षीका यह प्रयास निष्फल है। और फिर प्रतिपक्षीके इस अर्थसे ऋग्वेदीय कीर, यजुर्वेदीय कीर, और सामवेदीय कीर तो अच्छे, पर अथर्व-वेदीय कीर खराब; इसमें कोई विनिगमना नहीं रह जाती। अतः प्रतिपक्षीका अर्थ तथा अन्वय सर्वथा गलत है।

वस्तुतः यहां 'कीराः' पद विशेष्य 'पौराणपाठकाः' का विशेषण है; अब अर्थ यह हुआ कि–केवल तोते-रटन्त वाले जो पुराण-पाठक हैं; अर्थात् तोतेकी तरह रटकर पुराणोंके श्लोक तो बोल देते हैं; पर प्रतिपक्षीकी भांति उनका तात्पर्य नहीं जानते; वा नहीं समझ पाते; वे दान, यज्ञ, श्राद्धादिमें वर्जनीय हैं। अब प्रतिपक्षी बतावे कि–इसमें पुराणकी क्या निन्दा हुई? यह तो पुराणोंके अर्थ (तात्पर्य) से कोरे प्रतिपक्षी-जैसे व्यक्तियों की निन्दा हुई।

शेष है 'अथर्वाणः' शब्द; उसका भाव यह है कि–अभिचार-क्रियां, जादू-टोने करने वाले। अथर्व-वेदका यह विषय माना जाता है। 'अथर्वाणः' इस बहुवचनसे जादू-टोनेकी क्रिया करने वालोंकी निन्दा की गई है। जो किसी राष्ट्र आदिके हितकी दृष्टिसे राष्ट्र-शत्रुओंके विरुद्ध अभिचार आदि किये जाते हैं; जैसे कल्पना कर लीजिये कि–कोई भारतके अङ्ग-भङ्ग करने वाले भारतराष्ट्रके शत्रु मिष्टर जिन्ना आदिकी मृत्युके लिए अभिचारक्रिया करता है, जैसे कि उन दिनों कई व्यक्तियों ने की थीं, वह तो अयुक्त नहीं; पर अपनी वैयक्तिक स्वार्थ सिद्धिकेलिए जादू-टोना करके किसीके प्राण-हरण करने की

वर्जनीय हैं, यह भाव है । इसी कारण कई लोग अथर्ववेदकी त्रयी (वेद)में गिनती नहीं करते । उसकी वेदता वे पृथक्रूपसे सिद्ध करते हैं, देखिये इसपर कौटलीय-अर्थशास्त्र आदि । ज्योतिविंदोंकी निन्दा 'गणिकागणकौ समानधर्मौ निजपञ्चाङ्ग-निदर्शकावुभौ । जनमानसमोहकारिणौ तौ विधिना वित्तहरौ विनिर्मितौ' आदि कारणोंसे है; अथवा भविष्यत् घटित होना घटनासे पहले बताकर वे ईश्वरके दर्बारकी एक चोरी-सी करते हैं-इस कारणसे है ।

वैसे तो आगेके अत्रिस्मृतिके ३८५ पद्यमें वैद्यकी भी निन्दा आई है, चित्रकारीकी भी निन्दा आई है' कदाचित् डाक्टर-महाशयने अपनी निन्दाके डरसे उसे उद्धृत न किया हो; यहां अपनी स्वार्थसिद्धिमें बाधा आनेसे उसे प्रक्षिप्त समझा हो-जैसा कि प्रतिपक्षियोंकी यह शैली है । वस्तुतः यह लोग व्यक्तिगत लाभमें यदि लगे रहें; तो निन्दित हैं । यदि परोपकारके लिए करें; तो ठीक है। यही यहां तात्पर्य है । (क)

भागवतकी निन्दा (?)

(ख) अब आगेके आक्षिप्त पद्यपर भी प्रतिपक्षी सुनें- । वह उसका अर्थ लिखता है-'जो वेद नहीं पढ़ सकते, वे शास्त्र पढ़ते हैं' । इसका भाव यह हुआ कि-वेद कठिन तथा चिरकाल-पाठ्य हैं; इसलिए सर्वसाधारण लोग उन्हें पढ़ना नहीं चाहते, और शास्त्र (दर्शन) उनसे सुगम हैं । इससे क्या प्रतिपक्षी दार्शनिकोंकी निन्दा समझेगा ? यदि नहीं; तब 'जो शास्त्र नहीं पढ़ सकते, वे पुराणोंको पढ़ते हैं' इस प्रतिपक्षीसे किये अर्थसे पुराणोंकी भी निन्दा तो न हुई । हां, पुराण दर्शनोंकी अपेक्षा सुगम हैं-यह सिद्ध हुआ । उनमें इतिहास आदि आनेसे सरसतावश सर्वसाधारणोंको वेदार्थका ज्ञान तथा वृत्ति प्राप्त हो

जाती है; अतः दर्शनज्ञानसे हीन लोग पुराण पढ़ा करते हैं- यहां तो पुराणोंकी प्रशंसा हुई । 'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' घरके कोनेमें ही शहद मिल जाए; तो फिर पहाड़में उसके लिए क्यों जाए ?। इस सुगमतासे पुराणोंकी निन्दा कहां हुई ? उल्टा उनसे साधारण-लोगोंको उपाख्यानोंसे गम्भीर वेदार्थका ज्ञान हो गया ।

अब जो लोग उन सुगम पुराणोंको भी कठिन समझकर नहीं पढ़ सकते, वे खेती करते हैं, क्यों कि-उसमें संस्कृत पढ़ने का परिश्रम नहीं, मस्तिष्कका व्यय नहीं । इसमें तो किसी पक्ष वालेकी विमति नहीं, पर खेती करनेसे उनका भाषाविषयक अज्ञान अवश्य सिद्ध हुआ, क्योंकि- प्रायः सुगम-भाषा वाले पुराणोंको भी वे न पढ़ सके ।

अब आगे प्रतिपक्षी अर्थ लिखता है-'**जो महाभ्रष्ट खेती भी नहीं कर सकते, वे भागवत बांचते-फिरते हैं, और पेट पालते हैं**' । अब 'आलोक' पाठक देखें कि-यह प्रतिपक्षीका कितना गलत अर्थ है ? जब कि-'पुराणपाठाः' से श्रीमद्भागवतके वांचने वाले भी आगये, क्योंकि-'श्रीमद्भागवत' भी पुराण ही है; तब उनका अलग नाम कैसे आया ? । क्या भागवत, पुराण नहीं ? यह तो पुनरुक्ति दोष आ पड़ा । अब प्रतिपक्षीकी शक्ति नहीं कि-इसमें फड़-फड़ा सके ।

अथवा उसीका किया ही अर्थ मान लिया जाए कि-'भागवत बांचने वाले उससे भी भ्रष्ट हैं, तो इसका यह अर्थ हुआ कि-पुराणोंके ज्ञानकी अपेक्षा खेती भी सुगम है । पर खेती भी कुछ कठिन है, उसका हर एकको ज्ञान नहीं हो सकता; पर उतना भी ज्ञान न रखने वाले फिर भागवत बांचने वाले बन जाते

हैं'। इसका यह तात्पर्य निकला कि—पुराण कुछ कठिन हैं, पर खेती उनसे सुगम है, और खेतीसे सुगम है—भागवतपुराणका बांचना।

अब 'आलोक' के विद्वान् पाठक सोचें कि—क्या यह बात ठीक है ? कभी नहीं। भागवत-पुराणकी भाषा बड़ी कठिन है। इसमें वेदका, दर्शनोंका, तथा साहित्यिक रस-अलङ्कारोंका पदे-पदे समावेश है। जब तक कोई वेद, दर्शनों तथा अन्य पुराणों का अभ्यासी नहीं होगा; वह भागवतमें चल ही नहीं सकता। इसका वह ज्ञान-प्रकरण, वह वेदों-द्वारा भगवान्‌की स्तुति, वह कपिलमुनिका माताके प्रति उपदेश एवं अन्यान्य प्रकरण इतने गम्भीर हैं कि—कोई सामान्य-पण्डित तो उसमें प्रवृत्ति ही नहीं कर सकता।

यह एक बड़ा प्रसिद्ध श्लोक है—

'धनञ्जये हाटक-संपरीक्षा, रणे सदा शस्त्रभृतां परीक्षा।
विपत्तिकाले गृहिणी-परीक्षा, विद्यावतां भागवते परीक्षा'

अर्थात् सोनेके खरे-खोटेकी परीक्षा अग्निमें होती है। शस्त्रधारियोंके खरे-खोटे होनेकी परीक्षा युद्ध में होती है। घर-वाली के खरे-खोटे होनेकी परीक्षा आपत्तिकालमें होती है, और विद्वानोंके खरे-खोटे होनेकी परीक्षा श्रीमद्भागवतमें होती है। इसका तात्पर्य यह निकला कि—श्रीमद्भागवतमें जिसकी अबाध गति है; वह सचमुच विद्वान् है। यह बात सर्वथा ठीक है।

मैं यदि भूल नहीं करता; तो यह भी कह सकता हूँ कि—प्रतिपक्षी तो इसके 'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरत:' इस प्रथम-श्लोकका अर्थ भी ठीक-ठीक नहीं कर सकते। आगेके उसके प्रकरणोंमें भी नहीं चल सकते। तभी तो श्रीमद्भागवतके 'यस्या-

त्मबुद्धि: कुणपे त्रिधातुके' इस पद्यका अर्थ करना भी उन्हें नहीं आता, हम उसमें प्रतिपक्षियोंका आदर्श पूर्व दिखा चुके हैं। तब प्रतिपक्षीका—'जो खेती भी नहीं कर सकते, वे भ्रष्ट भागवत बांचते-फिरते हैं' यह अर्थ कर देना कितना असङ्गत है ?।

यदि प्रतिपक्षी कहे कि—"नहीं। हमारा ऐसा भाषाज्ञान-विषयक अभिप्राय नहीं; भागवतकी संस्कृत तथा विषय अवश्य ही गम्भीर हैं, हमारा तो पेट भरनेसे अभिप्राय है। तभी तो हमने लिखा है—'जो खेती नहीं कर सकते, वे भागवत बांचते और पेट पालते-फिरते हैं'। यदि पेट पालनेकी बात है, तब तो वादीके अनुसार वेद पढ़ना भी फिर पेट पालनेकेलिए हुआ। दर्शनोंका पढ़ना भी पेट पालनेके लिए हुआ। फिर यदि पेट भरना ही है, तो वे कठिन विषयोंमें क्यों जाएंगे ? सभी खेती क्यों नहीं कर लेते ?। फिर श्रीमद्भागवत भी तो कुछ सुगम नहीं है; उसका पढ़ना 'नाकों चने चबाना' है। यदि प्रतिपक्षी कहे कि—नहीं, इसका तो अर्थ यह है कि—जो सब कामोंमें असफल हो जाते हैं, वे भागवत-पुराण पढ़ते हैं। यह भी ठीक नहीं। पहले हम बता चुके हैं कि—यह बड़ा कठिन पुराण है, जो अन्य कार्य नहीं कर सकते, वे इसे भी नहीं पढ़ वा बांच सकते।

अथवा यदि यह भाव हो कि—'ऊपर वाले तो मान-प्रतिष्ठा वा धन पाते हैं; पर भागवत बांचने वाले लोग सब ओर से भ्रष्ट होते हैं' यह भाव भी ठीक नहीं; क्यों कि—भागवत पढ़ने तथा बांचने वालों की बड़ी मान-प्रतिष्ठा तथा उन्हें पुष्कल-अर्थकी प्राप्ति होती है; अत: प्रतिपक्षीके 'भागवता:' के 'भागवत-पुराण-परक' शब्द अर्थ गलत हैं।

तब हमसेही पूछा जायगा कि—'भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति' का वास्तविक अर्थ वा तात्पर्य क्या है ? तो इसपर हम बताते

हैं कि-यहां 'भागवताः' का अर्थ 'भागवत-पुराण'के बांचने वाले नहीं; क्योंकि—'पुराणपाठाः' इस पूर्व-पाठमें पुराणोंके पढ़ने वालों का नाम आ जानेसे भागवत-पुराणके पाठक भी स्वयं गृहीत हो गये। पृथक् ग्रहण व्यर्थ हो जाता है। यह अर्थ तो प्रतिपक्षीको श्रीमद्भागवत-पुराणसे घृणा वा चिढ़ होनेसे सूझमें आया है; और उसे उसने स्वतः-प्रमाण मान लिया है, व स्तुतः यहां यह अर्थ नहीं। तब 'भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति'का अर्थ यह है कि—जो और कुछ नहीं कर सकते, वे भगवानूका आडम्बररूपसे नाममात्र लेकर जिससे लोगोंकी उनपर श्रद्धा हो जाय, और वे उन्हें धन देने लगें; अपना पेट पाला करते हैं, ऐसा कार्य बहुत ही सुगम होता है।

ऐसे लोग सभी सम्प्रदायोंमें मिलते हैं, उन्हींकी यह निन्दा है। यहां भागवत-पुराण वा उसके ज्ञाताओंकी कोई चर्चा नहीं, किन्तु 'बगुला-भक्तों'का अर्थ है। वैसे तो नास्तिक भी वेदके बनाने वालोंकेलिए कह दिया करते हैं—'त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्ड-धूर्तनिशाचराः। जर्भरी तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्। ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह'। इससे उनकी बात ठीक नहीं हो जाती। वैसे ही प्रतिपक्षीके कहनेमात्रसे पुराण पाखण्डि-प्रणीत नहीं हो जाते। पुराण तो वेदकी भांति परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं—'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे' (अथर्व. ११।७।२४)। इसलिए वेदमें पुराणों का नाम भी आया है—'तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्च अनुव्यचलन्' (अथर्व. १५।६।१०)। इसी आशयसे पुराणका यह वचन आया है—'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः, (मत्स्यपु. ५३।३)। उन्हीं परम्परागत अनादि-पुराणोंका

श्रीव्यासजीने प्रवचन वा सम्पादन किया। जहां 'कर्ता' शब्द है, वहां भी 'कृ' धातुके अनेकार्थक तथा प्रवचनकर्ता अर्थ प्रसिद्ध होनेसे वहां 'प्रवक्ता' अर्थ है; अतः पुराणोंकी निन्दा करना अपनी वेद-शास्त्रानभिज्ञताका नग्न-प्रदर्शन करना है।

जो कि अन्तमें वादीने पुराण-पाठकोंकी पूर्ण-वहिष्कार करनेकी 'शिवलिङ्ग-पूजारहस्य'में प्रेरणा की है, उसे मानकर अब आर्यसमाजियोंको दोष-दृष्टि रखकर पुराण-पाठक बने हुए डा. श्रीराम तथा श्रीशिवपूजनसिंह तथा अन्य आर्यसमाजियोंका वहिष्कार करना चाहिये; क्योंकि-अपने स्वामीके अनुसार 'विष-सम्पृक्त-अन्न' का सेवन करने वाले उनके सङ्गसे आर्यसमाजी भी विषसम्पर्कके फलसे नहीं बच सकेंगे।

'पुराणादिविषयक-आक्षेपोंके परिहारमें पहला आक्षेप श्री-तुलसीराम-स्वामीका 'वेदप्रकाश' से फलित-ज्योतिषपर और दूसरा भी उन्हींका पुराणपर आक्षेप दिया गया था; अब अन्तमें भी उन्हींके फलित-ज्योतिष तथा पुराणोंपर आक्षेप उद्धृतकर तथा उनका परिहार करके यह महानिबन्ध उपसंहृत किया जायगा।

फलित-ज्योतिषपर आक्षेप।

(४५) आक्षेप-(क) अर्जुनका गरुड़वर्ग था और द्रौपदीका वर्ग था सर्प। शीघ्रबोधानुसार इनकी मैत्री नहीं होनी चाहिये थी; पर हुई; अतः फलित-ज्योतिष झूठा है।

(ख) रामचन्द्रजीकी जन्म-राशि कर्क और सीताकी प्रसिद्ध राशि कुम्भसे तदन्तर्गत नक्षत्रोंमें रामचन्द्रजीका देवगण, सीता-जीका राक्षसगण था, मैत्री कैसे हुई ?। 'देवराक्षसयोर्मृत्युः कलहो देव-रक्षसोः' इस शीघ्रबोधके अनुसार कलह होना चाहिये था। जब सीता राक्षसगण थी; तब उसकी साक्षात्-राक्षस रावणसे प्रीति क्यों न हुई ?।

(ग) कृष्णजीका देवगण था, और राधाका राक्षस-गण; तब परस्पर प्रीति कैसे हुई ?

(घ) राम तथा सीताकी राशि तुला-कुम्भ होनेसे नवम-पञ्चम शत्रुनवात्मज हैं; इससे अपत्य-हानि होनी चाहिये थी; पर नहीं हुई। इससे जो विवाहसे पूर्व सगाई करनेके समय गण, वर्ग, राशि-मेलन आदि हैं, यह फलित-ज्योतिषके झूठे होनेसे स्वयं ही झूठे हैं (श्रीछुट्टनलाल-स्वामी 'वेद-प्रकाश' (७। २ पृ० ३६-३७)

परिहार-(क) केवल वर्गसे प्रीतिका विचार फलित-ज्योतिषमें कभी नहीं किया जाता। यह तो सामान्यशास्त्र है, इसके बाधक होते हैं। लिखा है-'न वर्ण-वर्गो न गणो न योनिर्द्विर्द्वादशं वाऽथ षडष्टकं वा। तारावरुद्धं नवपञ्चकं वा मैत्री यदा स्यात् शुभदो विवाहः' इसका भाव यह है कि-वर्ग, वर्ण, गण आदि साधारण बातें हैं; राशियोंके स्वामियोंकी मित्रता होने पर इन की शत्रुता भी बाधित हो जाती है। सो अर्जुनकी मेषराशि होती है, इसका स्वामी 'मेषवृश्चिकयोर्भौमः' मंगल होता है। द्रौपदीकी राशि है मीन। उसका स्वामी-'स्यान्मीन-धनुषोर्जीवः' बृहस्पति है। सो 'रवीन्द्र-भौमगुरवः···स्वस्मिन् मित्राणि चत्वारः' इन दोनोंकी मित्रता है। स्वामियोंकी मित्रता होनेसे वर्गविरोध बाधित हुआ, अर्जुन-द्रौपदीकी मैत्री ठीक हो गई।

(ख) रामजीकी राशि तुला है, कर्क नहीं, और चित्रानक्षत्र है; सीताकी कुम्भ है, और शतभिषानक्षत्र है; तब 'कृत्तिका च मघाश्लेषा विशाखा शततारका। चित्रा ज्येष्ठा धनिष्ठा च मूलं रक्षोगणः स्मृतः' दोनोंका समान-गण होनेसे 'स्वगणे परमा प्रीतिर्मध्यमा देवमर्त्ययोः। मर्त्य-राक्षसयोर्मृत्युः कलहो देवरक्षसोः।' (शीघ्र-बोध)। 'निजनिजगणमध्ये प्रीतिरत्युत्तमा स्यात्'

(मुहूर्तचिन्ता. विवा. प्र. ३०) के अनुसार बड़ी प्रीति हुई। जब श्रीरामसे विवाह हो चुका; तब समान भी गणवाले भिन्न व्यक्ति रावणसे उसकी प्रीति कैसे हो सकती थी? यह प्रीति तो ११ पति वालोंके यहां सम्भव है। शेष रही रावणकी साक्षात्-राक्षसता; सो सीता साक्षात् तो राक्षसी थी नहीं; तब परम-प्रीति उसमें उसकी कैसे होती ? यहां तो संज्ञामात्रता थी। क्या व्याकरणकी 'नदी' को आप सचमुच नदी मान लेंगे ? तब तो 'हे गङ्गे' में 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' (पा.७। ३। १०७)से नदीको ह्रस्व होकर 'हे गङ्ग' बन जाना चाहिये, पर नहीं बनता। व्याकरणमें तो 'स्थली' की-जिसमें पानीकी बूंद भी नहीं, 'नदी' संज्ञा है; सो यह पारिभाषिक-संज्ञाएं अपने लौकिक-अर्थोंमें नहीं ली जातीं।

(ग) कृष्णजीकी मिथुन-राशि है। मिथुनका स्वामी बुध है-'बुधः कन्यामिथुनयोः'। राधाजीकी राशि तुला है, तुलाका स्वामी शुक्र है—'शुक्रो वृषतुलाभृतः'। सो 'ज्ञ (बुध) शुक्रशनि राहवः' इनकी मित्रता होनेसे राधा-कृष्णकी भी बड़ी प्रीति हुई।

(घ) नवम-पञ्चममें जानना चाहिये कि-'वरस्य पञ्चमे कन्या, कन्याया नवमे वरः। एतत् त्रिकोणकं ग्राह्यं पुत्रपौत्र सुखावहम्' सो तुला-राशिके श्रीरामसे कुम्भराशिकी सीता पञ्चम थी, और सीतासे राम नवम थे; अतः ग्राह्य होनेसे इस से अपत्यहानि सिद्ध न हुई।

(४६) आक्षेप-ग्रहोंमें जब चन्द्रमा वैश्य वर्णका माना गया है, तब उसका पुत्र बुध शूद्र वर्णका कैसे हुआ? सनातनधर्मी लि बुध-जैसे शूद्रको और राहु-शनैश्चर जैसे म्लेच्छ-ग्रहोंको पूज हुए अपने आपको नीचोपासनासे कैसे बचा सकते हैं? (श्रीरा रामजी-नवग्रहसमीक्षामें)

प्रत्यु०-ग्रहोंकी वैश्य शूद्र, म्लेच्छ आदि संज्ञा वैसी वर्ण-व्यवस्थाके लिए नहीं, किन्तु ज्योतिषके विज्ञानानुसार शुभाशुभ जाननेकेलिए यह संज्ञामात्र है। जैसे—व्याकरणमें 'स्थली' की नदी-संज्ञा उसके जलमय अर्थको बतानेकेलिए नहीं; किन्तु वहां 'आण्नद्याः' (पा.७।३।११२) इस कार्यकेलिए है, वैसे यहां-पर भी समझ लें।

ग्रहोंको केवल शूद्रादि-संज्ञा ही नहीं कही गई, बल्कि स्त्री-पुरुष-नपुंसक संज्ञा भी कही गई है। चन्द्रमा तथा शुक्र स्त्री-संज्ञक कहे गये हैं; बुध और शनि नपुंसक कहे जाते हैं। शेष पुरुष-ग्रह कहे गये हैं। इससे वे सचमुच ही स्त्री-नपुंसक नहीं हो जाते। नहीं तो स्त्री-ग्रह चन्द्रमासे बृहस्पतिकी पत्नीमें बुध कैसे हुआ? क्या आक्षेप्ता दो-स्त्रियोंके संयोगसे पुत्रोत्पत्ति मानते हैं? बुध यदि सचमुच नपुंसक है, तब उसका इलामें पुरूरवा पुत्र ही कैसे हुआ? जैसे व्याकरणमें स्त्री-वाचक भी 'कलत्र' शब्द नपुंसक-में होता है, और 'दार' पुंलिंगमें। व्यवहारमें जड़ भी आप: (जल) स्त्रीलिंगमें उस कार्यकेलिए माना गया है। वस्तुतः वैसे नहीं; वैसे यहांपर भी समझना चाहिए। इस प्रकार ग्रहोंकी जलचर, वनचर आदि संज्ञा भी कही गई है। यह सब फल-विशेषके बतानेकेलिए है, वास्तवमें वैसा बतानेकेलिए नहीं। वास्तविक वर्ण-व्यवस्थामें तो चन्द्रवंशसे क्षत्रियोंकी उत्पत्ति कही गई है। चन्द्रसे बुध, बुधसे पुरूरवा। वहां इनका वैश्य-शूद्रत्व नहीं बताया गया।

वस्तुतः ज्योतिषमें जो कि ग्रहोंकी ब्राह्मण-शूद्रादिकता कही गई है, वहां यह भी रहस्य है कि—उससे उन-उन वर्णोंको लाभादि होता है, जैसे गुरु-शुक्र ब्राह्मणोंके अधिष्ठाता हैं। जिस वर्ष-का राजा शुक्र या गुरु हो; उस वर्ष ब्राह्मण सुखी होते हैं। इस

प्रकार सूर्य-भौमके राजत्वमें क्षत्रिय, चन्द्रमें वैश्य, बुधमें शूद्र, शनैश्चरमें म्लेच्छ, राहु-केतुमें अन्त्यज। इनके राजत्वमें इन वर्णोंके उत्थान-पतन वा सुख-दुःख होते हैं—यही वहां रहस्य होता है। इस प्रकार बुध-शनि आदि नपुंसकोंके अधिष्ठाता होनेसे उन्हें ही लाभप्रद हैं। ११ वां शनि म्लेच्छसे लाभ कराता है, और ११ वां गुरु ब्राह्मणसे। सनातनधर्मी इनकी देवता होनेसे पूजा करते हैं, इसलिए वेदमें भी 'शं नो दिविचरा ग्रहाः' (अथर्व-वेदसं. १९।९।७) इनसे कल्याणकी प्रार्थना है। उसपर आक्षेप करते हुए प्रतिपक्षी अवैदिक सिद्ध हुए।

पुराणोंमें देवताओंकी निन्दा (?)

(४७) आक्षेप—पुराण भ्रम-जालमें फंसाने वाले हैं। जैसे कि—पद्म-पुराणमें स्पष्ट लिखा है—'व्यामोहाय चराचरस्य जगतश्चैते पुराणागमाः, तां तामेव हि देवतां परमिकां (?) जल्पन्ति कल्पावधि। सिद्धान्ते पुनरेक एव भगवान् विष्णुः सम-स्तागमाः, व्यापारेषु विवेचनं व्यतिकरं नित्येषु निश्चीयते' अर्थात् जितने पुराण हैं, सब मनुष्यको भ्रममें डालने वाले हैं, उनमें अनेक देव ठहराये गये हैं, एक ईश्वरका निश्चय नहीं होता। केवल एक भगवान् विष्णु पूज्य हैं। हे पौराणिक-भक्तो! जब ऐसा है; तो तुम्हें भ्रमसे बचाने वाला आर्यसमाज से अतिरिक्त और कौन है" ? (भा. प्र. ३ समु.)

(४८) आक्षेप—पद्मपुराणमें शिवकी स्तुतिमें कहा है—'विष्णु-दर्शनमात्रेण शिव-द्रोहः प्रजायते। शिवद्रोहान्न सन्देहो नरकं याति दारुणम्। तस्माद्वै विष्णुनामापि न वक्तव्यं कदाचन' (जब लोग विष्णुका दर्शन करते हैं; तब महादेव क्रुद्ध होता है, और उससे मनुष्य महानरकमें जाते हैं। अतः विष्णुका नाम कभी न लेना चाहिये।) (भास्कर प्र. ३ य समु.)।

(४९) आक्षेप—उसी पुराणमें ये श्लोक हैं—'यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मारुद्रादिदैवतैः। समं सर्वैर्निरीक्षेत स पाषण्डी भवेत्सदा। किमत्र बहुनोक्तेन ब्राह्मणा येऽप्यत्रै ष्णवाः। न स्प्रष्टव्या न द्रष्टव्या न वक्तव्याः कदाचन' (उत्तर-खण्ड २६३। ९-११) (जो कहते हैं ब्रह्मा, महादेव आदि नारायणके समान हैं; सो पाखण्डी है। ऐसोंको कभी न छूना और न देखना, न बोलना) (भास्कर-प्र. ३ समु., शिवलिंगपूजा-रहस्य पृ. २१)

(५०) आक्षेप—भागवतमें लिखा है—'भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः। पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः। मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ। नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः' (जो शिवके भक्त हैं; सो पाखण्डी और सच्चे शास्त्रके वैरी हैं, इसलिए जो मोक्षकी इच्छा वाले हैं; वे भयानक-वेष भूतोंके स्वामी (महादेव) को छोड़ें, और नारायण की शान्त-कलाओंकी पूजा करें। (श्रीतुलसीरामस्वामी)

(५१) आक्षेप—'वैष्णवः पुरुषो यस्तु शिवब्रह्मादिदैवतान्। प्रणमेदर्चयेद्वापि विष्ठायां जायते कृमिः' (वृद्धहारीत ८। २६१) जो विष्णुका उपासक भूलकर भी ब्रह्मा व शिवकी अर्चना करता है—वह मरकर पाखाने का कीड़ा बनेगा। (शिवलिंगपूजा-रहस्य पृ. २१-२२)।

(५२) आक्षेप—'येऽन्यं देवं परत्वेन वदन्त्यज्ञानमोहिताः। नारायणाज्जगन्नाथात् ते वै पाषण्डिनो नराः' (पद्मपुराण) (जो लोग किसी दूसरे देवताको नारायणसे बड़ा करके मानते हैं; सो अज्ञानी, पाखण्डी हैं)। इसीमें परस्पर-विरोध देखो—'एष देवो महादेवो विज्ञेयस्तु महेश्वरः। नत स्मात् परमं किञ्चित् पदं समधिगम्यते।' (महादेवको महान् ईश्वर जानना चाहिये, यह मत समझो कि—उससे कोई बड़ा है।) फिर इससे विरुद्ध देखो—

'वासुदेवं परित्यज्य येऽन्यं देवमुपासते। तृषितो जाह्नवीतीरे [illegible] खनति दुर्मतिः' (विष्णुको छोड़कर जो दूसरे देवको मानते हैं सो उस मूर्खके समान हैं कि—जो गङ्गाके तीर प्यासा बैठा हुआ कुंआ खोदता है। इस प्रकार शिव आदिकी निन्दा पुराण [illegible] हैं। इस परस्पर-विरोधसे पुराणोंके कर्ता भीभिन्न-भिन्न [illegible] होते हैं (भास्कर-प्रकाश)

उत्तरपक्ष—(४७) 'पुराण एवं आगम अनेक देवताओंकी पूज्यता बताकर जगत्को मोहमें डालने वाले हैं, सिद्धान्तमें [illegible] ही विष्णु पूजनीय है' यह वचन विष्णुदेवताकी प्रशंसाका अर्थवाद है, पद्मपुराण भी तो पुराण है; वह पुराणोंकी निन्दा [illegible] क्या अपनी भी निन्दा करता है? वस्तुतः इस सबका पर्यवसान अपने इष्टदेवकी स्तुतिमें है। 'स ब्रह्मा, स शिवः, सेन्द्रः...... एव विष्णुः' (१। ८) कैवल्योपनिषद्के इस प्रमाणसे सभी [illegible] देव एक हैं, नाम-रूपका भेद है, जिसकी जिस नाम-रूपमें [illegible] है, वह उसीको पूजे-यह इसमें तात्पर्य है, वेदोंमें भी अनेक देवताओंकी पूजा है, इसे हम पहले बता चुके हैं, यही पद्मपुराणके वचनमें 'पुराण-आगमाः' के 'आगम' शब्दसे सूचित है; तब [illegible] वेदभी प्रतिपक्षीके अनुसार अमान्य हो जावेंगे? आर्यसमाज [illegible] उत्तर नहीं दे सकती; वह तो केवल तोड़-मरोड़कर अर्थ बदलना जानती है। इसका उत्तर तो सनातनधर्म देगा। वह यह [illegible] भक्त अपने इष्टदेवको ही सर्वदेवात्मक समझे। उसीकी पूजा सर्वदेवपूजा समझे।

(४८) पहले ही कहा जा चुका है कि—पुराणोंके ऐसे [illegible] अर्थवाद हैं, विधिवाक्य नहीं। इस प्रकारके वचन एक [illegible] विचारवाले, भेददर्शी, अल्पमति मनुष्योंके अपनी कुलपरम्परा [illegible] प्राप्त उपास्य-देवमें अनन्यभक्तिकेलिए हैं। तात्त्विक [illegible]

शिव वा विष्णु एकही परमेश्वरके नाम-रूपके भेदसे शक्ति-विशेष हैं। पर यह विचार उच्चकोटि का है। इस प्रकारके उच्च-विचारके मर्म जानने वाले सभी अधिकारी नहीं होते, किन्तु थोड़े ही होते हैं; जो उच्च-कोटिके सर्वदर्शी वा दूरदर्शी वा अभेद-वादके ज्ञाता हैं, उनकेलिए पद्मपुराणका यह वचन नहीं। अधि-कारियोंके भेदसे कर्तव्य कर्मोंके अनेक प्रकार शक्तिके मुताबिक व्यवस्थित होते हैं। जैसे एक साधारण पुरुष प्रान्ताधीश वा जिलाधीश वा एक न्यायाधीशका नौकर है, उसका यह कर्तव्य है कि-वह अपने स्वामीको ही सर्वाध्यक्ष जाने। उसीको सन्तुष्ट करके वा उसकी सेवा करके ही वह सफल हो सकता है। यदि वह साधारण-भृत्य अपने स्वामीसे अतिरिक्त अन्य अफसरकी सेवा करनेका मनसे भी विचार करेगा; तो उसकी अपने अफ़सर-की सेवामें कुछ त्रुटि आवेगी ही। तब उसके स्वामीकी कृपादृष्टि उसमें कुछ न्यून हो जाएगी। दूसरे अफ़सरकी कृपादृष्टि भी उसमें शीघ्रतासे नहीं होगी कि-यह अपने पूर्व-स्वामीकी ही सेवा जब अनन्यभावसे न कर सका; तब मुझ-दूसरेकी सेवा ही अनन्यभावसे यह कैसे कर सकेगा? अतः दूसरे स्वामीकी कृपादृष्टि भी उसपर नहीं रहेगी। इस प्रकार दोनोंकी ही कृपादृष्टि न पड़नेसे, वह जिन-जिन दुःखोंको उठावेगा, वह उसकेलिए 'नरक' (न्यरकं नीचैर्गमनं (निरु. १। ११। १) होगा। उसकेलिए भी यह अर्थवाद कहा जा सकता है-'अन्यदर्शनमात्रेण स्वामि-द्रोहः प्रजायते। स्वामिद्रोहान्न सन्देहो दुःखमाप्नोति दारुणम्। तस्माद् अन्यनामापि नादर्तव्यं कदाचन'।

श्रीभगवद्गीतामें भगवान्‌ने भी अपने भक्तोंकेलिए यह कहा है-'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्' (९। २२) इसमें 'अनन्याः' शब्द भी इसी बातको बताता है। इसी तरह 'मां च योऽव्यभि-

चारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते' (१४। २६) 'अव्यभिचारेण भक्तियोगेन' का उल्टा 'सव्यभिचार-भक्तियोग' होता है, वह है 'दूसरेके पास जाना'। अव्यभिचार-भक्तियोग' का अर्थ है-'अनन्यभक्ति' अर्थात् श्री-कृष्णकी ही भक्ति।

निष्कर्ष यह है कि—जैसे कि साधारण भृत्य अपने स्वामी-की अनन्य-सेवासे ही उत्तरोत्तर उन्नति करता है, वैसे अनेक स्वामियोंकी सेवार्थ चेष्टासे उन्नति प्राप्त नहीं हो सकती। जैसे यहां अन्य-स्वामीकी निन्दाका अभिप्राय नहीं, किन्तु अल्पमति-सेवककी उन्नतिका रहस्य ही इसमें इष्ट होता है। इसी प्रकार जो साधारण-जन परम्परासे शिव-भक्त है; उसीका ही वह अनन्य-भक्त बना रहे-यह उद्दिष्ट करके पद्म-पुराणका यह अर्थ-वाद है। इस प्रकार देवीपुराणमें विष्णु आदिकी अपेक्षा देवीको बढ़ाया जाता है; सो इस प्रकारके स्थलोंमें शब्दार्थमें तात्पर्य नहीं होता। विष्णुके दर्शनमात्रसे शिवका द्रोह होता है—यह यहां शब्दार्थ नहीं, किन्तु अन्य देवकी ओर लगने से पूर्व-उपास्य की भक्तिमें विघ्न पड़ता है, जिससे उपासककी इष्टसिद्धिमें बाधाकी उपस्थिति आनेसे दुःख ही प्राप्त होता है-इसी तात्पर्यमें पर्यवसान होता है कि-दूसरे उपास्यकी ओर साधारण उपासक ध्यान न दे। परन्तु जो परम्परासे पञ्चायतनकी पूजामें लगे हैं; वे उच्चश्रेणीके हैं; उनकेलिए यह मध्यमश्रेणी वाले वचन नहीं।

वेदके विषयमें भी ऐसे विचार चालू रहे हैं। जिस गोत्र वाले ब्राह्मणोंकी वेदशाखा परम्परासे चली आ रही है, उसका उल्लं-घन करके अन्य वेदशाखाका ग्रहण करनेवाला हानि उठाता है। अतः परम्परासे आई हुई वेदशाखाका परित्याग नहीं करना

चाहिये। जैसे कि—महाभाष्यकार अथर्ववेदकी पैप्पलाद संहितावाले थे; अतः उन्होंने अथर्ववेदका आदिममन्त्र 'पैप्पलादसंहिता' का 'शं नो देवी' ही दिया है' 'ये त्रिषप्ताः परियन्ति' यह शौनकशाखाका मन्त्र नहीं दिया। इसीलिए कात्यायनस्मृतिमें भी कहा गया है—'स्वशाखाश्रयमुत्सृज्य परशाखाश्रयं च यः। कर्तुमिच्छति दुर्मेधा मोघं तत्तस्य चेष्टितम्' (३।२) 'यन्नाम्नातं स्वशाखायां परोक्तमविरोधि च। विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयमग्निहोत्रादिकर्मवत्' (३।३) 'ऊनो वा व्यतिरिक्तो वा यः स्वशाखोक्तमाचरेत्। तेन सन्तनुयाद् यज्ञं, न कुर्यात् पारतन्त्रिकम्' (गृह्यासंग्रह २।९२) 'यः स्वशाखोक्तमुत्सृज्य पर-शाखोक्तमाचरेत्। अप्रमाणमृषिं कृत्वा सोन्धे तमसि मज्जति' (२।९३)। धर्मचन्द्रिकाके संस्कारकाण्डमें अध्ययन-प्रकरणमें भी यही कहा है।—'स्वशाखां यः परित्यज्य पारक्यामधिगच्छति। स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वकर्मसु साधुभिः। स्वीयशाखोज्झिता येन ब्रह्म तेनोज्झितं परम्। ब्रह्महैव स विज्ञेयः सद्भिर्नित्यं विगर्हितः' जिस प्रकार यह अर्थवाद है; वैसे पुराणोंके उक्त पद्योंमें भी। परन्तु जो परम्परासे द्विवेदी वा त्रिवेदी या चतुर्वेदी हैं; उनकेलिए पहला नियम नहीं।

गो. तुलसीदास प्रसिद्ध रामोपासक थे। वह श्रीकृष्णको भी श्रीरामके रूपमें ही देखना चाहते थे। इसी अनन्यभक्तिसे उनकी अत्यन्त उन्नति हो गई। यदि वे अनन्य-भक्त न बनते; तो उतने उन्नत न होते; इसीलिए कहा है—'येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः। तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते' (मनु० ४। १७८)।

(४६) उत्तर—इस विषयमें हम पहले (६ प्रश्न) में प्रकाश डाल चुके हैं। तात्पर्य यह है कि—यह वचन परम्परासे विष्णु-

भक्तोंकेलिए उनको अनन्यभक्तिकी स्थिरतार्थ है कि—उपासक अपने उपास्यदेवको दूसरे देवोंसे बड़ा जाने। इससे अन्य देवोंकी निन्दा अपेक्षित नहीं होती; किन्तु अपने उपास्यकी दृढभक्ति ही अपेक्षित होती है। इसलिए प्रसिद्ध है; 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु विधेयं स्तोतुम्'। इसलिए कहा है कि—नारायणका भक्त दूसरे देवोंको नारायणके समान न जाने, किन्तु नारायणको ही सबसे बड़ा जाने। इससे उसकी निष्ठा उसीमें रहेगी। नहीं तो एकमें निष्ठा शिथिल होनेपर दूसरेमें भी पूर्ण निष्ठा न होनेपर 'इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः, संशयात्मा विनश्यति' (गीता ४।४०) इन उक्तियोंका उदाहरण बन जाता है।

यही अभिप्राय है—'न स्प्रष्टव्या न द्रष्टव्या न वक्तव्या कदाचन' का। नहीं तो दूसरोंका सङ्ग निस्सङ्कोच हो जाय तब पुरुष अपनी दुर्बलतासे चलितमति वाला हो जाता है। जैसे सती स्त्रीका सर्वोपरि इष्टदेव वा ईश्वर पतिदेव ही होता है; वह पति चाहे मूर्ख हो, निर्धन वा कुरूप, अथवा थोड़ी शक्ति वाला हो, चाहे दूसरे पुरुषोंसे योग्यता आदिमें हीन है; तथापि उस सती-स्त्रीकेलिए वही सर्वश्रेष्ठ तथा पूज्य होता है, पर-पुरुष सुन्दर भी हो; तो भी पूज्य नहीं। यदि स्त्री परपुरुषोंको सुन्दर वा योग्यतर समभकर उन्हें देखे, वा उनसे मधुरता से बोले, वा उनका स्पर्श करे; तो दुर्बलतावश चलितचित्त होकर हानि प्राप्त कर सकती है।

जैसे अपने पतिका सर्वश्रेष्ठ माननेका अभिप्राय अन्य स्त्रियोंके पतिकी निन्दाकेलिए नहीं होता; किन्तु दूसरोंकी निन्दा अपने पतिकी प्रशंसाकेलिए ही होती है; वैसे ही नारायण आदि अपने इष्ट-देवोंकी सर्वश्रेष्ठताके कथनका अभिप्राय अन्य देवोंकी निन्दा वा तुच्छताकेलिए नहीं होता। 'न स्प्र

व्याः' इस वाक्यसे अन्य-देवोंके उपासकोंकी निन्दा इष्ट नहीं, किन्तु उससे विष्णुभक्तिकी प्रशंसाके द्वारा विष्णुभक्तिकी स्तुतिमात्र इष्ट होती है ।

(५०) उत्तर-'भवव्रतधराः' इस प्रकारके पुराणके वचनोंके विषयमें पहले स्पष्टता हम कर चुके हैं कि-जहां-कहीं अपने इष्टदेवकी स्तुत्यर्थ दूसरे देवोंके उपासकोंको तुच्छ बताया जाता है, उसका अभिप्राय अन्य देवोंकी निन्दामें नहीं होता; किन्तु वह निन्दार्थवाद अपने इष्ट-देवकी प्रशंसामें पर्यवसित हो जाता है। 'या ते रुद्र ! शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी' (यजुः१६।४९) इस वेदके अनुसार प्रतीत होता है कि-रुद्रके घोर-अघोर दो शरीर हैं। उनमें पापियोंको दण्ड देनेकेलिए शिवका घोर शरीर होता है, मुमुक्षु-लोगोंकी भक्तिकेलिए अघोर शरीर होता है, जो शान्त होता है ।

शिवके भूतपतिरूप घोर-स्वरूपकी मुमुक्षु सात्त्विक-भक्तोंके लिए उपास्यता वेद भी नहीं मानता, किन्तु वेद उनकेलिए अघोर-रूपकी उपास्यता मानता है। 'रुद्राणां शङ्करश्चास्मि, वृष्णीनां वासुदेवोस्मि' (गीता१०।२३,३७) इस कथनसे शिव एवं विष्णुका वास्तवमें अभेद है। तब पुराणके पद्यमें जहां शान्त-नारायणकी कला कही हैं, इससे शिवकी भी अघोर-तनू उपास्य समझी जा सकती है । इससे शिवकी निन्दा इष्ट नहीं होती; किन्तु मुमुक्षुओंकेलिए देवताओंके घोररूपोंकी उपासनाका निषेध इष्ट है ।

केवल शिवजीके ही घोर-अघोर दो रूप होवें; यह भी नहीं है, किन्तु विष्णुके भी वैसे दो रूप हैं। उनमें मुमुक्षु विष्णु-भक्त विष्णुके अघोर-शान्त राम-कृष्ण आदि रूपोंकी उपासना करते हैं, उसके घोररूप नृसिंह आदिकी नहीं; क्योंकि-घोररूपोंकी

आराधना शत्रुसंहार आदि आभिचारिक कर्मोंमें होती है, मुक्ति-की इच्छामें नहीं। इस प्रकार शक्तिके भी घोर-अघोर दो रूप हैं। रक्तबीज आदि असुरोंके विध्वंसार्थ काली-आदि घोर-रूप हैं। दूसरे अघोर अम्बिका आदि रूप हैं। मुमुक्षु लोग अपने-अपने इष्टदेवके अघोररूपोंकी ही उपासना करें, घोररूपोंकी नहीं। हां, शत्रुओंके उच्चाटनार्थ घोर-रूपोंकी उपासना भी निषिद्ध नहीं-यही आशय पुराणके आक्षिप्त श्लोकों का है। न इससे उनकी साम्प्रदायिकता सिद्ध होती है, न भिन्न-भिन्न कर्तृ-कता ही। तथापि इससे लोग सम्प्रदाय-भेदमूलक कलहोंकी सृष्टि न करें, बल्कि-दूसरेकी मूर्तिको भी अपनी इष्टदेवमूर्ति समझकर उसे प्रणाम करना चाहिये ।

वैष्णवोंका विष्णु, शैवोंका शिव, शाक्तोंकी शक्ति-यह सभी सर्वत्र व्याप्त हैं। यदि विष्णु-प्रतिमामें शैव अपने शिव-को, और शाक्त शक्तिको व्यापक नहीं देखता, और शिवप्रतिमा-में वैष्णव विष्णुको व्यापक नहीं देख सकता; तो यह लोग स्वयं अपने इष्टदेवकी व्यापकताको खण्डित कर रहे हैं। तब उपा-सकको उचित है कि-अपने इष्टदेवको सर्वत्र व्यापक देखे, उसके साथ अनन्य हो। उसीको सर्वत्र देखे। वैष्णव शिवमूर्तिमें भी विष्णुको ही देखे। शैव विष्णुमूर्तिमें भी शिवको देखे। इससे परस्परविरोध हो ही नहीं सकेगा। इससे जो विरुद्ध वचन मिलते हैं; उनका तात्पर्य अनन्यनिष्ठामें ही है ।

विरोध वा कलहोंका सूत्रपात अपूर्ण लोग ही करते हैं, पूर्ण-विद्वानोंके विरोध नहीं होते। वेदकी ११३१ शाखाएं हैं; वे सभी वेद हैं। परन्तु पौराणिक अपूर्ण-विद्वानोंकी भान्ति वैदिक अपूर्ण-विद्वान् भी इसमें कलहोंकी सृष्टि किया करते हैं। दूसरेकी

शाखाकी मानुषता बताना वा उन्हें न मानना—यह वहां भी अर्थवादसे ही अपनी शाखामें अनन्यनिष्ठतार्थ होता है, वस्तुतः सभी वेद हैं; परन्तु कुल-परम्परा वा गुरु-परम्परासे जो शाखा जिसकी प्रधान हो, उसको प्रधान वह भले ही माने, पर दूसरी शाखाओंका भी आदर करे। अन्यमें विरोधकी आवश्यकता नहीं। दूसरी वेदशाखाको अवेद सिद्ध करना-यह पौराणिक देवभेदकी भान्ति अनभिज्ञता है। विरुद्ध-वचन अर्थवाद अनन्यनिष्ठतार्थ होते हैं कि—पुरुष एकका बनकर रहे। 'इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः' न हो जावे। पर तदर्थ कलहसूत्रपात अवाञ्छनीय है। इस प्रकार परस्पर-सहिष्णुता होनेसे साम्प्रदायिक-कलह नहीं हो सकेंगे। शैव-वैष्णवोंमें जो विरोध होता है, वह नासमझोंका होता है, इस प्रकार भिन्न वेद-शाखा वालोंके पारस्परिक कलहका मूलकारण भी अविचार है। अब यह कलह तो कम होते हैं; अब हिन्दु-मुस्लिम कलह भी इसी अविचारके कारण होते हैं; परस्परसहिष्णुता होनेसे सब ठीक हो जाता है; दूसरेके मतको भले ही न मानो; पर यह तो समझो ही कि—दूसरा भी अपनी स्थितिमें ठीक है। इसी अविचारके कारण मुसलमानोंमें शिया—सुन्नियोंके, ईसाइयोंमें रोमनकैथलिक-प्रोटेस्टेण्टोंके भी कलह हुआ करते हैं।

इससे स्पष्ट है कि—विभिन्न-सम्प्रदायोंमें जो विरोध होता है, वह अपने इष्ट-देवको सर्व-व्यापक न माननेके कारण तथा शास्त्रोंके परस्पर-विरुद्ध-वचनोंका वास्तविक तात्पर्य न समझने के ही कारण ही होता है। हमने उनका तात्पर्य समझा दिया है; इसमें निष्पक्ष-दृष्टि रखनेसे सब समझमें आ सकता है।

(५१) उत्तर—'विष्ठायां जायते कृमिः' आदि परनिन्दक वचन भी 'विरोधे गुणवादः स्यात्' इस न्यायसे अपने देवमें

अनन्यनिष्ठार्थ 'भयानक' अर्थवाद-वचन होते हैं; विधिवचन नहीं। अतः उनका स्वार्थ (शब्दके अर्थमात्र) में तात्पर्य नहीं होता। अर्थवादमें एककी प्रशंसार्थ, उस एकमें अव्यभिचारिणी-भक्तिके उत्पादनार्थ जहां रोचक-वचन आते हैं; वहां उससे भिन्नसे हटवानेकेलिए भयानक-वचन भी निन्दार्थवादरूपमें आते हैं। इस प्रकारके वचन एकदेशी विचारवाले, भेददर्शी, अल्पमति मनुष्योंके अपनी परम्पराप्राप्त इष्टदेवमें अनन्यमनस्कताके उत्पादनार्थ होते हैं। वास्तविक-दृष्टिमें शिव वा विष्णु एक ही परमेश्वर वा शक्तिविशेषके भिन्न-भिन्न नामरूप हैं; पर यह विचार उच्च-कोटिका होता है। इस प्रकारकी उच्चकोटिके सभी अधिकारी नहीं होते; किन्तु थोड़े ही होते हैं। जो उच्चकोटिके, सर्वदर्शी तथा अभेद-वादके जानकार होते हैं, उनकेलिए उक्त अर्थवादवचन होते भी नहीं। अधिकारिभेदसे कर्तव्य कर्मोंके अनेक प्रकार शक्तिके अनुसार व्यवस्थापित होते हैं।

जैसे सती स्त्री सुन्दर वा योग्य भी पर-पुरुषमें पति वाली-दृष्टि, परिचर्या, स्तुति वा रति करे; तब उसकेलिए भी 'विष्ठायां जायते कृमिः' प्रयोग हो जाता है। यदि उसकेलिए ऐसा कठोर प्रयोग न किया जाए; तो वह दुर्बलतावश चलचित्ततासे हानि उठा सकती है। जैसे अपने पतिकी सर्वश्रेष्ठता बतानेका अभिप्राय अन्य-सतियोंके पतिकी वस्तुतः निन्दार्थ नहीं होता, किन्तु अन्य पुरुषोंकी निन्दा उसके अपने पतिकी स्तुत्यर्थ तथा अपने पतिमें रतिकेलिए होती है, क्योंकि व्याहारिकतामें भेद-दृष्टि स्वाभाविक ही होती है; वैसे ही अपने-अपने पुराण वा स्मृतिमें अपने देवकी अतिशयित स्तुति तथा दूसरेकी निन्दा चल-चित्तता हटानेकेलिए ही होती है। वह साधारण-लोगोंकी चलचित्तता 'विष्ठायां जायते कृमिः' आदि भयानक बचनोंके प्रयोगके विना

हटती भी नहीं। पर विशेषज्ञ विद्वान् समझ जाता है कि यहांकी निन्दा अपने देव की स्तुत्यर्थ है, दूसरेके देव की निन्दार्थ नहीं। मीमांसाशास्त्रमें यह एक न्याय प्रसिद्ध है-"नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु विधेयं स्तोतुम्'। तब प्रतिपक्षी लोग जो कि उन निन्दा-वचनोंको साधारणोंके बुद्धिभ्रमार्थ उपस्थित कर देते हैं, यह या तो उनकी ना-समझी है, या उनकी कलह कराने-में स्वाभाविक-प्रवृत्ति ही इसमें अपराधिनी है।

(५२) उत्तर—इसी प्रकार 'येन्यं देवं परत्वेन' आदि श्लोकोंकी व्यवस्था भी समझनी चाहिये। यहांपर 'परत्वेन'का 'बड़ा करके मानते हैं' यह तात्पर्य न होकर 'भिन्नतासे मानते हैं' यह अर्थ एवं तात्पर्य है, नारायण ही सर्वदेवात्मक हैं' यह भाव है। अथवा 'जो लोग किसी दूसरे देवताको नारायणसे बड़ा मानते हैं, वे अज्ञानी हैं' ऐसा अर्थ होनेपर नारायणकी भक्ति-का अर्थवाद इष्ट है। इस प्रकार 'एष देवो महादेवो···न तस्मात् परमं किञ्चित्' यहाँ उस महान् देव की प्रशंसा है।

इस प्रकार 'वासुदेवं परित्यज्य' इस पद्यका तात्पर्य भी समझ लेना चाहिये। इसका यह अभिप्राय है कि—जो पहलेसे श्रीकृष्णका भक्त है, अब उसकी भक्ति छोड़ कर अन्य देवकी उपासना करता है, वह प्यासा उपस्थित गङ्गाजलको छोड़कर अन्य कुंवा खोदना चाहते हुए पुरुषकी भान्ति दुर्मति है। जैसे कि—गङ्गाजल जब उपस्थित है; अतः उसके पीनेमें कोई परि-श्रम न होगा, अन्य कुएंका खोदना नवीन-प्रयास-साध्य होनेसे कष्ट-जनक होता है, वैसे ही पहलेसे ही वासुदेवका भक्त उसे छोड़कर नये देवताकी भक्ति करना शुरू करेगा; तो उसमें नया-प्रयास होनेसे कष्ट ही होगा। इससे शिव-आदिकी निन्दा नहीं है, किन्तु पूर्व-प्रतिज्ञात व्रतका भङ्ग होनेसे निन्द्रित है; पर चाहिये

एकमें दृढता। इसी कारण भगवान् गीतामें कहते हैं—'अनन्या-श्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' (९। २२) 'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः' (८। १४) 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि' (६। ३०) 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन" (११। ५४)।

इस विषयमें पाठक अन्य स्पष्टता भी देखें-'उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा। सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः' (मनु २। १५) यहां उदित यज्ञ, अनुदितयज्ञ, समयाध्युषित यज्ञ-को वैदिक कहा गया है। इन्हीं यज्ञोंकेलिए न्यायदर्शनमें यह वैदिक-वचन उद्धृत किया गया है-'श्यावोऽस्य आहुतिमभ्यवह-रति, य उदिते जुहोति। शबलोऽस्य आहुतिमभ्यवहरति, योऽनु-दिते जुहोति। श्यावशबलौ अस्य आहुतिमभ्यवहरतो यः समया-ध्युषिते जुहोति' इनमें परस्पर विरोध दीखता है। इस विरोध-का दूर करनेका उपाय श्रीगोतममुनिने न्यायदर्शनमें लिखा है—'अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्' (२।१।५८) यहांपर श्रीवात्स्या-यनने अपने भाष्यमें कहा है-'न व्याघातो हवने-इति अनुवर्तते। योऽभ्युपगतं हवनकालं भिनत्ति, ततोऽन्यत्र जुहोति; तत्र अभ्यु-पगतकालभेदे दोष उच्यते—'श्यावोस्य आहुतिमभ्यवहरति' इत्यादि। तदिदं विधिभ्रंशे निन्दावचनम्"—इति।

इसका अभिप्राय यह है कि—इन तीन कालोंमें जिसने अपनी कुल-परम्परासे एक काल (चाहे सूर्योदयमें यज्ञका, या सूर्योदयसे पूर्व यज्ञका वा सूर्योदयके बाद देरीसे यज्ञका) स्वीकृत कर रखा है; उस कालको तोड़कर यदि पुरुष अन्य-कालका अनुसरण करता है, वही उक्त श्रुतिप्रोक्त दोषोंका भागी बनता है। इस प्रकार विरोध हट जाता है, वैसे ही पुराणोंमें भी जानना चाहिये। देवपूजा ही

यज्ञ होता है, 'यज देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु'। जो परम्परासे वासुदेवका भक्त है, वह उसे छोड़कर अन्यको भजता है, वह पूर्व की न्यूनता-सी बताकर पुराणोक्त दोषका भागी बनता है। इस प्रकार उक्त-पुराणवचनमें उस दृढताको शिथिल करनेमें निन्दा-वचन है। उसमें न कोई विरोध है; न दूसरे देवकी पूजाका खण्डन। नहीं तो वैदिक-यज्ञकालके भेदमें परस्पर-विरुद्ध वचन दीखनेसे उक्त व्यवस्थाके अस्वीकार करनेपर न्यायदर्शनके पूर्व पक्षानुसार व्याघात उपस्थित हो जानेसे वेदकी अप्रमाणता उपस्थित हो जाएगी। पर यह बात न्यायकारको अभिप्रेत नहीं। इसलिए मनुस्मृतिमें यज्ञकालके परस्पर-विरुद्ध वचनोंको अप्रमाण न मानकर सभीकी प्रमाणता स्वीकृत की गई है—'श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मौ उभौ स्मृतौ। उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः' (२। १४) सो वह विरुद्धता भिन्न पात्रमें चरितार्थ हो जाती है। इस कारण भगवद्गीतामें भी कहा गया है—'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्'। (७। २१-२२) अर्थात्-भक्त जिस देवकी मूर्तिकी पूजा करता है—मैं उसकी उधर श्रद्धा बढ़ाता हूँ। फिर वह मुझसे ही फल प्राप्त करता है। ऐसे विचार जानलेनेपर सभी विरोध काफूर हो जाते हैं। उससे पुराणोंकी भिन्न-कर्तृकता भी नहीं हो जाती।

उपसंहार

इस निबन्धमें 'संसारके पौराणिक-विद्वानोंसे ३१ प्रश्न' नामक क्षुद्र-पुस्तिका (ट्रैक्ट)का पूर्ण उत्तर दे दिया गया है। अब तक 'कीर्तन-सम्बन्धी विज्ञापन' पुराणोंके कृष्ण, शिवलिंग पूजा-

रहस्य, नृसिंह-अवतार-वध, शिवजीके विलक्षण बेटे, शिवलिंग-पूजा क्यों?, शास्त्रार्थ-चैलेंजका उत्तर, मृतकश्राद्ध-खण्डन, पौराणिकमुख-चपेटिका, सनातनधर्ममें नियोग-व्यवस्था, अवतार-रहस्य, पौराणिक-कीर्तन पाखण्ड है' इत्यादि प्रतिपक्षीकी क्षुद्र-पुस्तिकाओं के 'स्थाली-पुलाक' न्यायसे अपेक्षित आक्षेपोंका परिहार 'आलोक' के इस पुष्पमें प्रायः कर दिया गया है। कई आक्षेपोंका परिहार गत-पुष्पोंमें हो चुका है; क्योंकि-इनमें आक्षेप नये नहीं हैं, पुराने आर्यसमाजी ट्रैक्टोंका निचोड़ है। फिर कुतर्कोंका परिहार आगे होगा।

निष्कर्ष यह है कि—'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किंतु विधेयं स्तोतुम्' इस न्यायसे 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गो-अश्वाः' की भांति अन्य देवकी निन्दा तात्पर्य-विषय न होकर अपने इष्ट-देवमें प्रवृत्ति तथा अन्य देवसे हटानेमें तात्पर्य रखती है। कड़ी निन्दा के विना शास्त्रीय-शैलीसे अनभिज्ञ साधारण-लोग एक निष्ठ-भक्त न बनकर, सब ओर प्रवृत्ति करते हुए संशयात्मा बनकर 'संशयात्मा विनश्यति' (गीता ४।४०) इस उक्तिके कहीं लक्ष्य न बन जाएं; इस कारण उनके हितैषी पुराणादि-शास्त्र उन्हें एकमें स्थिर रखना चाहते हैं।

इसी कारण श्रीमद्भगवद्गीतामें भी बहुत स्थलोंपर कहा है कि—भक्ति अव्यभिचारिणी हो, पुरुष अनन्य-मन बने—यह हम पहले संकेतित कर चुके हैं। उसका कड़े निन्दार्थवादके अतिरिक्त सरल-उपाय अन्य नहीं हो सकता। दो नौकाओंपर पैर रखने वाले न इधरके और न उधरके रहकर बीचमें ही गिरकर डूब जाते हैं। साधारण-लोग अपना हित आप नहीं सोच सकते। अतः वे अपनी प्रकृतिसे विरुद्ध अपथ्य-पदार्थके सेवन करके बीमार पड़ जाते हैं। ऐसे अवसरोंपर निपुण-वैद्यकी आवश्यकता

पड़ती है—जो उस अपथ्यमें विषाक्तता होनी उन असमीक्ष्यकारियोंके हृदयोंमें रूढ-मूल कर दे।

यही प्रकार जीवमात्र-हितैषी पुराण, स्मृति तथा वेदादि सभी शास्त्रोंमें थोड़ा-बहुत, स्पष्ट-अस्पष्टरूपमें अवलम्बित किया गया है, पर आपाततोदर्शी, अदूरदर्शी, तथा 'बिड़ालो वृषणायते' के निदर्शनभूत, ज्ञानलवदुर्विदग्ध, गालिव्यसनी तथा असभ्य प्रतिपक्षी इन बातोंको जान नहीं पाते; तब वे 'अशक्तास्तत्पदं पक्षाश्रितो निन्दां प्रकुर्वते' 'न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं, स तं सदा उपगति नात्र चित्रम्। यथा किराती करिकुम्भभाजो मुक्ताः इत्युज्य बिभर्ति गुञ्जाः' इन उक्तियोंके अनुसार अपनी असर्थप्रकाशक भी पुस्तकोंको अपनी कूपमण्डूक-बुद्धिके कारण सत्यार्थ-प्रकाशक समझते हुए उसी सीमामें रहा करते हैं। वे समुद्रमें पहुँच तो दूर, उसे समझ भी नहीं पाते, तब उसको असम्भव दिखलाकर उसकी निन्दापर उतारू हो जाते हैं। तात्पर्यपर्यन्त-प्रतीतिवन्ध्य (तात्पर्य तक पहुँच न रखने वाले) वे लोग शब्दार्थमात्रप्रतीतिमें उलझकर विद्वानोंके उपहास्य होते हैं, पर मूर्खोंमें वे लोग 'अन्धोंमें काना राजा' 'निरस्त-पादपे देशे एरण्डोपि द्रुमायते' इस न्यायसे वे धुरीण मान लिये जाते हैं। अतः अपने-आपको 'कुछ' समझकर देवताओंकी निन्दाभासके श्लोकोंका संग्रह करके उन्हें ग्रन्थोंके पूर्वापर न देखने वाली, साधारण-जनताके सामने रख दिया करते हैं। पर वे नहीं जानते कि—अस्थिरचित्त जीव भिन्न-भिन्न रूपमें भटक कर कहीं यह कहावत न चरितार्थ कर बैठे कि—'न इधरके रहे न उधरके रहे'। इसी अज्ञानके ही कारण प्रतिपक्षी भी तात्पर्य तक पहुँच न होनेसे स्वयं भी भ्रम-संदेहके सागरमें खूब गोते खा रहे हैं, और दूसरे अपने साथियोंको भी गोते खिलाना चाहते हैं।

पुराणोंमें दूसरे रूपोंकी हीनता इसीलिए दिखलाई गई कि—कोई भी कार्य क्यों न हो; चाहे वह सांसारिक हो, वा पारमार्थिक; उसको उस समय तक पूर्ण-उन्नति नहीं हो सकती, जब तक कि—कार्यकर्ताका मन प्रतिक्षण उसमें रमा न रहे। संसारमें यह प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ रहा है कि—जो विद्यार्थी अपनी श्रेणीकी विद्या ग्रहण करनेमें पूर्णरूपसे संलग्न होते हैं; वही उस श्रेणीमें फर्स्ट-डिवीजनमें उत्तीर्ण होकर आगे उन्नति कर जाते हैं; पर जिनके अस्थिर-मन अन्य-श्रेणियोंके कोर्समें, हैं। रहते हैं, वा विषयान्तरोंमें संलग्न रहते हैं; वे न केवल फिर श्रेणीमें ही असफल नहीं होते, बल्कि उन्नत-श्रेणीमें कभी कुछ ही नहीं पाते। वे ठोकर पर ठोकर खाकर निरन्तर असीर्तन रहा करते हैं। परन्तु पुरुष ऐसी असफलता प्राप्त न करे, यह सोचकर जीवमात्रके हितैषी पुराणोंने रोचक-भयानक अर्थवादोंका प्रयोग करके पुरुषोंको सावधान कर दिया है।

परमात्मा अङ्गी है, देवता उसके अङ्ग हैं, यह हमने ८म पुष्प में बताया है। अङ्गीकी पूजा किसी अङ्गके बिना हो ही नहीं सकती। यह सोचकर पुराणोंने अंगीके अपने इष्ट-अंगकी उपासनार्थ प्रेरणा की है। भिन्न देव को जो निन्दा वहां मिलती है, उसका भी रहस्य हमने बता दिया है।

अब इस दीर्घ निबन्धको यहाँ उपसंहृत करके आगे सुधारकोंसे आक्षिप्त 'श्रीपराशर-मत्स्यगन्धा समागम, श्रीसीतारामकी विवाहावस्था, तथा द्रौपदीके पञ्चपतित्वपर विचार' पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करना चाहते हुए, उससे पूर्व कुछ 'कुतर्कितर्ककर्तन' उपस्थित करेंगे। उसमें पाठकोंको प्रतिपक्षियोंसे किये जाते हुए अनेकों-आक्षेपोंका समाधान मिलेगा। हम प्रतिपक्षीको भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते, जो कि—उसने पुराणोंके दोषाभास

दिखलाते हुए जनताको उनके समाधान जाननेका अवसर दिया। यदि वह असभ्यता वा लिखनेका ढंग बदल दे; तो आपसमें मनोमालिन्य न रहे। उसीकी दुर्नीतिसे कहीं हमें भी न चाहते हुए भी तदनुकारी शब्द लिखने पड़े हैं।

यह सभीको याद रखना चाहिये कि इतिहास-पुराण वेदका रोचक-भाष्य होनेसे पुरुषको वेदके विषयमें बहुश्रुत कर देते हैं; पर यह तब होता है, जब पुराणोंमें श्रद्धा हो। 'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजुः १९। ३०) इस मन्त्रके अनुसार श्रद्धासे ही सत्यकी प्राप्ति होती है। इतिहास-पुराणका अवगाहन न करने वा उनमें श्रद्धा न रखनेसे पुरुष 'अल्पश्रुत' ही रह जाता है, बहुत-सी शास्त्रीय भूलें कर बैठता है। सभीको महाभारतका यह वचन याद रख लेना चाहिये—

'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति' (१। १। २६७)

संशोधन—३१ वें प्रश्नका छूटा हुआ अन्तिम अंश यह है—'सनातनधर्मकी गोरी स्त्रियोंपर दया एवं काली स्त्रियोंपर इतनी क्रूरता क्यों है? इसका धार्मिक एवं वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करें'। ३१।
शेष संशोधन—'पृ. ४९ पं. ७ पूज्यन्ते। ५१—८ अथर्व। ५२-१२ सम्भोगः। ५७-४ देवानन्द। ६१-१६ यथा। १५३-१८ पुराण। १७६-२० दिया। १७७-२४ समु. ५। १९०-५ (ब्रह्मा) यह पद्य लिखा। १९९-१३ रहा। २०२-७ अण्। ३१५-१६ दोग्ध्रीं। ३१६-१२ पाणि-। ३२३—३० विष्णवा-। ३२९, ३३१ कृष्णवर्णा। ३३५—१८ टोने। ३४५ पुराणोंमें देव-निन्दा (?)। ३५२-९ रुद्र!।

५. कुतर्क-तर्ककर्तन।

प्रतिपक्षीने 'पुराणोंके कृष्ण' एक क्षुद्र-पुस्तिका (ट्रैक्ट) प्रकाशित की थी; हमने उसका पूर्ण-प्रत्युत्तर 'आलोक'के ... पुष्पमें 'भगवान् कृष्णका सुदर्शनचक्र' निवन्धमें पौने दोसौ पृष्ठमें दिया था। उसमें हमने उसके सभी कुतर्कोंका प्रत्युत्तर दिया था। इस पर उसने 'अवतार-रहस्य' १३० पृष्ठोंमें प्रकाशित किया है। इसमें उसने हमारे प्रत्युत्तरोंका कुछ भी उद्धार न करके ... प्रायः वही की वही बातें पृष्ठ भरनेकेलिए लिख डालीं; और कुछ नये प्रश्न भी बढ़ा दिये। यही तरीका उसका 'पौराणिक-पोल-पाखण्ड' आदिमें भी देखा गया है। तब उसकी पुरानी बातोंका तो लिखना व्यर्थ है, हां, उसके अपने ट्रैक्टोंमें जो उसके नये कुतर्क हैं; उनका प्रत्युत्तर इस निबन्धमें दिया जाता है। उसका लिखनेका प्रकार इतना कुत्सित, निर्लज्ज, गालियोंसे युक्त ... असभ्यता-पूर्ण और निस्सार होता है कि—कोई भद्र-पुरुष ... क्षुद्र-पुस्तिकाओंको देखना ही पसन्द न करे। पर हम सनातनधर्मकी सेवाके नाते उन गालियोंको भी सहते हुए उसके कुतर्कोंका कर्तन यहां कर देते हैं; आशा है—'आलोक' पाठक इस पर ध्यान देंगे।

श्रीवराहावतारपर आक्षेप।

१. कुतर्क—ब्रह्माजीके छींकसे निकले हुए वाराह-अवतारसे ... सफाईका काम लिया जाता; तो ज्यादा उपयोगी रहता, ... कि—उसके वंशज सुअरोंसे भंगी लेते हैं' (अवताररहस्य पृ. ...)

प्रत्युत्तर—वाराह-अवतार सृष्टिकी आदिमें प्रलय-जलमें निमग्न पृथ्वीके उद्धारार्थ उसे जलपर कर देनेकेलिए हुआ था। उस समय मानुषी-सृष्टि हुई ही नहीं थी; तब मानुषी-मलभक्षण ...

आक्षेप प्रतिपक्षीका ही मलप्रेम अछूतोद्धारके नाते सिद्ध होता है। यह अवतार 'वनजौ वनजौ खर्वो रामौ रामः कृपोऽकृपः। अवतारा दशैते स्युः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इसके अनुसार 'वनज' माना जाता है, ग्राम्य नहीं। उसने अपनी दाढ़ पर भूमि उठाई थी। ग्राम्य-सूकरकी आरण्यक-सूकरकी भांति दाढ़ नहीं होती। दाढ़ वाला आरण्यक-वराह विष्ठा नहीं खाता, वह तो 'विस्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले' (अभिज्ञान-शाकुन्तल २।६) इस महाकवि-कालिदासके वचनानुसार 'नागरमोथा' की जड़ें खाता है। इसीलिए निरुक्तकारने भी 'वराह' के निर्वचनमें 'वराहारः' (५।४।१) कहकर वराहका अच्छा आहार माना है। श्रीयास्कने 'बृहति मूलानि, वरं वरं मूलं बृहति' (५।४।१) कहकर वराहका आहार अच्छी जड़ें खाना माना है।

यहां तो वह अवतार, खानेके उद्देश्यसे तो हुआ नहीं था; किन्तु पृथिवीके उद्धारके उद्देश्यसे हुआ था। दिव्य होनेसे उसे भोजनकी आवश्यकता भी क्या थी? तब जो 'स्वर्गमें सब्जैक्ट कमेटी' में आर्यसमाजी श्रीरुद्रदत्तने वराहावतारके भोजनपर उपहास किया है, वह और उसकी जूठन चाटनेवाला यह प्रतिपक्षी भी शोचनीय ही है। लार्ड-मैकालेके मानसिक-दास ये अपने शास्त्रोंका ही तो खण्डन करेंगे! तब प्रतिपक्षीका यह कुतर्क उसकी मूषक-प्रशिष्यताको पुष्ट कर रहा है। मूषक उसके सम्प्रदायके आचार्यके 'बोध'का आचार्य एवं बोधोत्सवका नायक है। वह कुतरनेकी प्रकृति रखनेसे 'कुतर्की'का प्रतीक है; जिसे इस अर्वाचीन-सम्प्रदायने शिरोधार्य कर रखा हैं। पर श्रद्धा-विश्वास एवं प्रमा-प्रमाणके प्रतीक उमा-शंकरके 'आत्मा वै पुत्रनामासि' रूपसे पुत्र गणेशने उसे अपने नीचे दबा रखा है; सो छुआछूत

न मानने वाले उन कुतर्कियोंको ही अपना अभिमत वह भोजन स्वीकार कर लेना 'ज्यादा उपयोगी' होगा।

शेष प्रश्न है वाराहका ब्रह्माजीके छींकनेसे उत्पन्न होना; इससे अयोनिज-शरीरकी उत्पत्ति सिद्ध होती है। अयोनिज शरीर की सिद्धि वैशेषिक-दर्शन (४।२।५-६-८-९-१०-११) तथा प्रशस्तपादभाष्य (द्रव्य-ग्रन्थ पृथिवी-जल-तेज-वायु आदि निरूपण)में देखिये। इस उत्पत्तिमें असम्भव भी नहीं है। निरुक्तमें नासत्यों (अश्विनीकुमारों)का 'नासिकाप्रभवौ बभूवतुः' (६।१३।१) नाकसे पैदा होना माना गया है। शतपथ-ब्राह्मणमें भी नासिका-द्वारा अविपशुकी उत्पत्ति बताई गई है (शत. १२।७।१।३)। आर्यसमाजी भी पुंसवन-संस्कार (सं. वि. पृ. ४९) में ओषधि-विशेषको नाक-द्वारा डलवाकर पुत्रोत्पत्ति कराते हैं।

'वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय' (अथर्व. १२।१।४८) यह मन्त्र वराहावतारका मूल है। यहां 'वराह'को स्पष्ट करने वाला 'सूकर' शब्द भी साथ पड़ा है। फिर सूकरका विशेषण पशुवाचक 'मृग' शब्द पड़ा है; अतः इसमें वराहावतारका ही संकेत है। 'सृष्टिके आदिम वेदमें पीछेके वराहावतारका नाम कैसे आवे' यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिये। वराहावतारने प्रलयके बाद सृष्टिसे पूर्व जलके भीतर पड़ी हुई पृथिवीको जलके ऊपर कर दिया था; तो वेदमें पृथिवी, जल, सूर्य आदि सृष्टिके पदार्थोंका वर्णन आनेसे सृष्टिकी पूर्व-अवस्था में आविर्भूत वराहावतारका संकेत क्यों न आवे?'

जो कि प्रतिपक्षी निघण्टु (२।९) के सहारे 'वराह' का अर्थ 'मेघ' करता है; (अव. पृ. १३४) इसपर वह याद रखे कि-यह निघण्टु ऋग्वेदकी एक विशेष-संहिताका है, तभी इसके कई शब्द वर्तमान ऋ. सं. में नहीं मिलते। देखिये—निघण्टु (१।१०)में

'बलिशानः, बलाहकः' यह मेघका नाम, 'शोकी' (१-। ७) यह रात्रिका नाम, 'आष्ठा' (१ । ६) यह दिशाका नाम, बेकुरा (१।११) वाक्का नाम, सर्णीकम्, स्वृतीकम्' (१ । १२) यह जलके नाम वर्तमान ऋ.सं.में तो दूर, चारों वेदसंहिताओंमें भी नहीं मिलते। स्वा. द. जी भी अपने प्रकाशित निघण्टुकी भूमिकामें उसे ऋग्वेदका सूचित करते हैं; तब एक विशेषसंहिताके निघण्टुसे अथर्ववेदकी शौनकसंहिताका अर्थ करना प्रतिपक्षीकेलिए उचित नहीं।

दूसरा—उसे यह भी याद रखना चाहिये कि—निघण्टु वेदके अधीन होता हैं, वेद निघण्टुके अधीन नहीं। प्रतिपक्षी देखे कि—स्वा.द.जीने निघण्टुके अनुसार 'ब्रध्न'का 'अश्व' अर्थ करने वाले मैक्समूलरका अर्थ नहीं माना; और उससे भिन्न 'सूर्य' अर्थ करने वाले श्रीसायणाचार्यका अर्थ मान लिया। देखो ऋभाभू. (पृ. १७०)। तब हम भी यहां निघण्टुसे किये हुए प्रतिपक्षीके 'वराह'का 'मेघ' अर्थ माननेमें बाध्य नहीं, और फिर निरुक्तकार श्रीयास्कने मेघवाचक 'वराह' के निगम 'विध्यद् वराहं' और 'वराहमिन्द्र !' यह दिये हैं; अथर्वका उक्त मन्त्र नहीं दिया। तब प्रतिपक्षीका उसमें 'मेघ' अर्थ करना सत्यार्थ कैसे हो सकता है? और फिर श्रीयास्कने 'अयमपि इतरो वराह एतस्मादेव' (५। ४। १) यह कहकर वेदमें 'वराह'को सुअर-वाचक भी माना है। तब उक्त-वेदमन्त्रमें वेद-पुराणका समन्वय दीख रहे होनेसे उक्त-पृथिवी सूक्तका मन्त्र पृथिवीके आदिम-उद्धारक वाराहावतारका ही मूल है—यह स्पष्ट हो गया। यही यहांपर सत्यार्थ है।

मोहिनी-अवतारपर आक्षेप।

२ कुतर्क—मोहिनी-अवतारने न दुष्टोंका नाश किया, न सज्जनोंकी रक्षा की; केवल शिवजीके साथ कामक्रीड़ा करके

उनका वीर्यपात करा दिया। क्या अवतारका उद्देश्य यही होता है' (पृ. १३८)

प्रत्यु.—मन्थनसे उत्पन्न अमृतको दैत्य लोग छीन ले गये थे। उसमें देवताओंका परिश्रम भी था। पर दैत्य अन्यायसे उनका हक्क भी छीन ले गये। इससे दैत्योंको दण्डविधान भी करना था कि—वे सीधे-साधोंको ठीक मौकेपर ठग ले गये। इसके अतिरिक्त सांपोंको दूध पिलानेसे उनका विष बढ़कर दूसरोंको हानि पहुँचाने वाला सिद्ध होता है। सभ्य-जनताके हितार्थ सांपोंको मारना न सही, पर उनके दान्त तोड़ देना सर्वजन-हितकर होता है। दैत्य अन्यायी दुष्ट एवं सज्जनोंको तंग करने वाले थे। देवता लोग सौम्य, भद्र, एवं जनताके रक्षक थे। यदि अमृत दैत्योंको मिल जाता; तो अन्यायका बाजार सदाकेलिए गर्म हो जाता; इससे न्यायको बड़ा धक्का लगता। देवता सब मारे जाते। इस समय युद्धका अवसर भी नहीं था। प्रबलोंके साथ नीतिकी आवश्यकता होती है। इसी कारण दैत्योंको नीतिसे फांसनेकेलिए 'त्वं मायाभिः अप मायिनोऽधमः' (ऋ. सं. १।५१।५) इत्यादि वैदिक-राजनीतिके आदेशसे मोहिनी-अवतार हुआ। वैसे तो वेद मायावी-दैत्योंको मार डालनेका आदेश भी देता है। जैसे कि—'इन्द्र ! जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम्' (ऋ. ७। १०४। २४), परन्तु इन्द्ररूप विष्णुने इस अवसरपर इसी नीतिका अवलम्बन वेदानुकूल समझा; क्योंकि यही अन्तमें उनके हननका मूल थी। यही यहां दुष्टोंका नाश और सज्जनोंकी रक्षा थी; पर यह दैत्य-प्रकृतिवालोंको नहीं दीखता। तभी ऐसे लोग दैत्योंके हिमायती बनकर देवरक्षक अवतारोंका खण्डन करनेकेलिए एड़ीसे लेकर चोटी तकका पसीना बहाते हैं।

कामक्रीड़ा यहां कोई हुई ही नहीं। कामक्रीडा तो प्रतिपक्षी के ही दिल-दिमागमें बसती है, जहां-तहां उसे कामक्रीडा ही सूझती है। शुक्रपात तो 'स्त्री एक मोहनी शक्ति है, इससे सज्जन सदा सावधान रहें; इसी बातके प्रदर्शनका अर्थवाद है। तथा वैष्णवी-मायामें शिव भी निमग्न हो जाते हैं-यह अर्थवाद भी सूचित होता है।

वामनावतार पर आक्षेप।

३ कुतर्क-परमधर्मात्मा राजा बलि-जैसे सत्यवादीसे धोखे-बाज़ी करने वालेको वामनावतार बना दिया गया। छल-कपट करना तो धूर्तताका कार्य होता है। (पृ. १३८)

प्रत्यु-जिसने देवताओंका अधिकार और उनकी अधिकृत सम्पत्तिको अपने बलका दुरुपयोग करके छीन लिया हो, उसकी परमधर्मात्मता तो 'दैत्य' शब्दसे प्रकट हो रही है, परन्तु प्रतिपक्षीको उससे सहानुभूति है। क्यों? इसका कारण पाठक जानते ही हैं। आसुरी-माया तो वेदमें भी प्रसिद्ध ही है। ऐसे पुरुष 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्र-दारहरश्चैव षडेते आतता-यिनः' इस लक्षणवश आडम्बरमें धर्मात्मा एवं सत्यवादी होते हुए भी आततायी होते हैं। उनसे 'त्वं मायाभिः ··· मायिनं ··· अवंधः' (ऋ. १० । १४७ । २, १ । ११ ७, साम. ऐन्द्र. ४ । ७ ।४) इत्यादि नीतिका अवलम्बन करना वैदिकता होती है। तब वैदिकम्मन्य-प्रतिपक्षी उस वैदिक-नीतिका विरोधी क्यों हो? क्या वह दैत्योंका सहवर्गी है, जो उक्त वैदिक-नीतिका बिरोध करता है? इस नीतिको प्रतिपक्षीका आचार्य भी मानता है। देखिये—स.प्र.६ समु. 'पश्चात् शत्रुओंको छलसे पकड़े' (पृ. ९४) तब क्या मनुजी तथा स्वा.द.जीने शत्रुसे छलका व्यवहार बताकर 'धूर्तताका कार्य' सिखलाया, यह प्रतिपक्षीको हृदय खोलकर

बताना चाहिये। तब क्या वैदिकम्मन्य-प्रतिपक्षी आततायी-दैत्य-से वैदिक-राजनीति करना धूर्तता बताकर वेदको भी नास्तिकों-के अनुसार 'त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्त-निशाचराः' धूर्तप्रणीत मानता है, क्या यहां 'गुरु तो गुड़-चेला चीनी हो गये' यह कहा-वत चरितार्थ नहीं हो रही?' यदि ऐसा है; तो क्या प्रतिपक्षीके वैदिक-समाजको अधिकार है, या नहीं कि-प्रतिपक्षीको उक्त समाजसे *बहिष्कृत कर दे? वैदिक-राजनीतिको निन्दा करने वाला वैदिकमानी प्रतिपक्षी 'वैदिक-साहित्य प्रकाशनसंघ' का सर्वे-सर्वा' हो, यह बलिहारी है!!!

(ख) वामनावतारका संकेत 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (ऋ. १। २२। १७) इत्यादि-मन्त्रोंमें है। 'विचक्रमे' का अर्थ है 'पाद-न्यास किया'। इसमें 'वेः पादविहरणे' (पा. १। ३ । ४१) यह पाणिनिका सूत्र ज्ञापक है। इसमें इससे आत्मनेपद होता है। श्रीसायण यदि अवतार अर्थ कर दे; तब प्रतिपक्षी उसे मानने को तैयार रहता है; तभी तो वार-वार लिखता है कि-सायणने अमुक वेदमन्त्रमें अवतार अर्थ नहीं किया; सो यहां श्रीसायणा-चार्यने त्रिविक्रम-वामनावतारका वर्णन कर दिया है; अतः वादी अब वेदमें अवतारवाद मान ले। यदि नहीं मानता; तब जो वह दूसरे स्थान सायणकी दुहाई देता है, यह उसका छल सिद्ध हुआ।

जो कि प्रतिपक्षी 'इदं विष्णुः' में निरुक्तानुसार 'विष्णु'का सूर्य अर्थ करता है (पृ. १३४) इसपर वह जाने कि-विष्णुका निवास द्युलोकमें है- वेदकी भान्ति पुराणोंमें भी प्रसिद्ध है। निरुक्तकार तीन देवता मानता है, शेष देवताओंको इन्हीं तीनमें अन्तर्भूत कर देता है, अतः उसने 'विष्णु' का 'सूर्य' अर्थ किया

*यह प्रतिपक्षीके ही शब्द अनुकृत हैं।

है। एक यह भी कारण है कि—निरुक्तकार समान-स्थान वालों-का एक मुख्य-देवताके नामसे ही ग्रहण कर लेता है। जैसा कि—उसने लिखा है—'तत्र संस्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं च उपेक्षितव्यम् यथा-पृथिव्यां मनुष्याः, पशवो देवाः' (७। ५। ८) इसमें श्री-यास्क पृथिवीलोकमें ठहरे देवता, पशु एवं मनुष्योंको पृथिवी-देवताके अन्तर्गत मान लेते हैं। इसी प्रकार द्यु (सूर्य) लोकमें-ठहरे हुए देवताओंको भी 'सूर्यदेव'में अन्तर्भूत करके अर्थ करते हैं। श्रीयास्ककी यह भी उक्ति है कि— 'इतरेतर-जन्मानो भवन्ति इतरेतर-प्रकृतयः' (नि. ७। ४। १२) अर्थात्-देवता एक-दूसरेको पैदा करते हैं (सूर्य उषाको पैदा करता है, उषा सूर्य-को), तथा एक-दूसरेकी प्रकृतिको भी धारण करते हैं।

सूर्य होता है 'आदित्य'। 'आदित्यका अर्थ है—'अदितेः अपत्यम्'। इसकी सिद्धि 'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः' (४।१ ८५) इस पाणिनिसूत्रसे होती है। 'अदिति' देवताओंकी माता होती है। जैसेकि निरुक्तमें लिखा है—'अदितिरदीना देवमाता' (४। २२। १)। विष्णु भी अदितिमें वामन-आदिरूपमें प्रकट होनेसे 'आदित्य' कहे जाते हैं। बारह आदित्योंमें विष्णु भी हैं। सो आदित्य सूर्य प्रसिद्ध होने से तथा निरुक्तानुसार देवताओंके इतरेतरकी प्रकृतिको धारण करने वाला होनेसे विष्णुको भी 'सूर्य' नामसे वा आदित्य-नामसे नैरुक्त-परिभाषाके अनुसार कह दिया जाता है। इससे यह नहीं कि—सूर्य और विष्णु एक हो जावें। नहीं, विष्णु सूर्यसे भिन्न हैं। देखिये इसपर कई वेदमन्त्र—'आदित्यं, विष्णुं, सूर्यं, ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् [हवामहे]' (ऋ. १०। १४१। ३) 'अग्निना, इन्द्रेण, वरुणेन, विष्णुना, आदित्यैः, रुद्रैः, ... सूर्येण च सोमं पिबतम् अश्विना!' (ऋ. ८। ३५। १) इत्यादि मन्त्रोंमें सूर्यको विष्णुसे पृथक् दिखलाया

है। तब वामनके भी अदितिमें प्रकट होनेसे आदित्यता हुई। इससे वामनावतार वैदिक सिद्ध हुआ। प्रतिपक्षीको इन बातोंका ज्ञान रख कर अपने सन्देह मिटा लेने चाहियें। यहां तो प्रतिपक्षी ने 'विष्णुका अर्थ 'सूर्य' कर दिया। पर 'वामनो ह विष्णुरास' (शत. १। २। २। ५) इस वेदवचनमें 'वामन (छोटा) विष्णु (यज्ञ) का वर्णन है' (पृ. १३४) इसमें उसने खूब पतन प्राप्त किया है, यहां विष्णु'का अर्थ 'सूर्य, क्यों नहीं किया? यहां स्पष्टरूपसे वामनको विष्णुका अवतार संकेतित किया गया है।

हयग्रीव-अवतार पर आक्षेप।

४ कुतर्क—हयग्रीव-अवतारका धड़ मनुष्यका था, पर सरके स्थानपर घोड़ेके सरकी कलम थी। कितना सुन्दर स्वरूप था! आजकल ऐसेको विश्वकी प्रदर्शनीमें इनाम मिलता! (पृ. १३८)

प्रत्यु—वैदिक बातोंपर भी यदि प्रतिपक्षी उपहास न करे तो वह वैदिकम्मन्य ही क्या हुआ? वेदमें भी अश्वशिर वाले पुरुषका वर्णन है। किन्नर एक देव-जाति होती है, इसे 'तुरगा-नन' कहा जाता है। घोड़ेके मुख होने पर भी उनकी बड़ी सुरीली आवाज होती है। इनका वर्णन कादम्बरी तथा अन्य साहित्यमें भी आता है। स्वाभाविकतामें हँसीको बात नहीं होती। गणेश गजानन थे। सृष्टिमें, विशेष करके देवसृष्टिमें कई विचि-त्रताएँ हुआ करती हैं। पहले हमारे यहां इतनी शक्ति हुआ करती थी कि-दिव्य-पुरुषका सिर काट कर उसपर हाथी वा घोड़ेका सिर पैबन्द कर दिया जाए; और उससे कार्य चलाया जाय। दधीचिमुनिके पास एक विद्या थी, इन्द्रने उसे अश्विनी-कुमारोंको देनेका निषेध किया हुआ था। वैसा करने पर सिर काट लेनेका दण्डविधान भी कर दिया था। अश्वी उसके पास आये, और उस विद्याको देनेकेलिए कहा। दधीचिने पूर्वोक्त

दण्ड सुना कर अपनी विवशता प्रकट की। तब अश्वियोंने उसका सिर काटकर उसे सुरक्षित रख दिया; और उसपर घोड़ेका सिर लगा दिया। उस अश्ववाले सिरसे दधीचिने विद्या दी। इन्द्रने उस सिरको काट दिया; तब अश्वियोंने दधीचिका अपनेसे सुरक्षित रखा हुआ सिर उसके धड़से जोड़ दिया। देखिये—इस पर मन्त्रभागके भाष्य ब्राह्मणभागात्मक-वेद (यजुर्वेदशतपथ-ब्रा.) की साक्षी (१४। १। १। १६-२४)। तब क्या प्रतिपक्षी सत्यार्थ करनेकेलिए स्वा.द.जीसे भी आहत शतपथ-ब्राह्मणपर खिल्ली उड़ावेगा ?।

केवल ब्राह्मणभागकी ही नहीं, इसमें मन्त्रभागात्मक वेदकी भी साक्षी है। देखिये—'आथर्वणाय अश्विनौ दधीचे अश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम्' (ऋ. सं. १। ११७। २२) 'ध्रुवं दधीचो मन आवि-वासथो अथा शिरः प्रति वाम् (अश्विनौ) अश्व्यं वदत्' (१। ११६।६)। तब क्या प्रतिपक्षी वैसी साक्षी देनेवाले अपने वेदको भी विश्वप्रदर्शिनीमें इनाम दिलवाएगा ?।

जब देव एवं मुनियोंमें भी ऐसी शक्ति है; तब बहुरूपके धारणकी शक्ति रखने वाले परमात्मामें ऐसे विलक्षणरूप धारण करनेकी शक्ति क्यों न हो ? वह अनुकूलता देखकर स्वेच्छासे सब प्रकारके रूपोंको धारण कर सकता है। वेद भी यही सूचना देता है—'इन्द्रो मायाभिः पुरु (बहु) रूप ईयते' (ऋ. सं. ६। ४७। १८) इन्द्र प्रतिपक्षियोंके मतमें भी परमात्मा है—'इन्द्रं मित्रं वरुण-मग्निमाहुः' (ऋ. १। १६४। ४६)। इसीलिए नृसिंह, हयग्रीव, गजानन आदि उसके विचित्र रूप हैं।

इन्द्र सूर्यका नाम नहीं होता, जैसे कि— प्रतिपक्षीने (अव. पृ. १३४ में) लिखा है। देखिये दोनोंको भिन्न बताने वाले मन्त्र—'इन्द्रः सूर्यमरोचयत् (ऋ. ८। ३। ६) 'इन्द्रः सूर्यस्य रश्मिभिः'

(ऋ. ६। १२। ६) त्वम् इन्द्र ! '····सूर्यमरोचयः' (साम. उत्तरा. ६। ७। २। २) 'इन्द्रो···सूर्यं रोहयद् दिवि' (ऋ. १। ७। ३) 'सूर्यं या। इन्द्रं या देवी' (अथर्व. ६। ३८। १) 'इन्द्र एकं, सूर्यं एकं जजान' (ऋ. ४। ५८। ४) 'त्वं त्यम् इन्द्र ! सूर्यं पश्चा सन्तं' (ऋ. १०। १७१। ४) इत्यादि बहुत मन्त्रोंमें स्पष्ट विभक्तिभेद दीखनेसे इन्द्र प्रतिपक्षीसे प्रोक्त सूर्य नहीं।

सायणाचार्य जब वामनावतारको अपने वेदभाष्यमें मान चुके हैं, जबकि ब्राह्मणभागात्मक वेद 'वामनो ह विष्णुरास' (शत. १। २। २। ५) वामनको विष्णु बताता है; जिसका सूर्य अर्थ बदलनेमें प्रतिपक्षी सफल नहीं हो सका; प्रतिपक्षी भी जब अवतारोंको विष्णुके ही मानता है; तब श्रीसायणाचार्यने अवतार-वादको मान लिया। यदि मन्त्रोंकी अनेकार्थतावश अथवा यज्ञार्थ-में लगे होनेसे उसने कहीं अवतार-अर्थ नहीं किया; इससे वेदमें अवतारवादका अभाव नहीं हो जाता। उक्त मन्त्रका श्रीसायण-ने 'स चेन्द्रः—परमेश्वरो मायाभिः—मायाशक्तिभिः, पुरुरूपः—वियदादिभिर्बहुविधरूपैरुपेतः सन् ईयते-चेष्टते' यह लिखकर पर-मात्माके सब प्रकारके रूपोंके निर्माणकी शक्ति कह कर अवतार-वादको वैदिक सूचित कर दिया है; तब प्रतिपक्षीका यह कहना कि—'सायणने भी इसमें अवतारवाद नहीं माना' (अव. पृ. १३४) जनवञ्चन है। श्रीसायणने वामनावतारको वैदिक मान लिया; यहां भी परमात्माकी बहुरूपता दिखलाकर अवतारवादको वैदिक प्रश्रय दिया है।

मत्स्य एवं कच्छप अवतार।

५ कुतर्क-दो अवतार कछुआ और मछली पानीकी गन्दगी साफ़ किया करते होंगे (पृ. १३६)

प्रत्यु—पुराणोंसे प्रतिपक्षीने यह कहीं दिखलाया नहीं। तब

आश्चर्य है कि– उसे गन्दगी क्यों अच्छी लगती है?। इसका कारण तो वही जाने। पर यहां यह जानना चाहिये कि–परमात्माकी शक्ति सूर्य वा चन्द्रमाकी किरणें पुरीष, पङ्क आदि गन्दी-वस्तुओंमें भले ही पड़ें, पर इससे सूर्य-चन्द्र आदि स्वयं उनसे लिप्त नहीं होते; तब परमात्मावतारका क्या कहना ?। जब साधारण जीव मत्स्य, कूर्म, सूकर आदि मलमूत्र खाते हैं, उनसे उनकी कोई भी हानि नहीं होती। हमारा वे लाभ करते हैं; तब परमात्माके अवतार दिव्य मत्स्य, कूर्म वराह पर कुत्सित आलोचना करनी प्रतिपक्षीकी नितान्त अबहुश्रुतता एवम् अनभिज्ञता है।

मत्स्यावतारने तो प्रलयकी सूचना देकर अपने आश्रयसे मनु एवं अन्य ऋषियोंको बचाया था; यह शतपथ-ब्राह्मण (१।८।१) आदिमें प्रसिद्धहै। पुराणनुसार एक वेदापहारक दैत्यको भी मारा था। ऐसी गन्दगियोंको वे साफ करते हैं; पर यह प्रतिपक्षी-न मालूम-दैत्योंको मारनेसे विष्णुभगवान्से क्यों चिढ़ता है ?। क्या दैत्योंसे उसका प्रेम वा भाई-चारा है ? अथवा 'समानशील-व्यसनेषु सख्यम्'का कारण है?। कूर्मने अमृत-मन्थनमें पर्वतको उठाया, वा वह पृथिवीको उठाता है। अवतारोंका उद्देश्य जगत्के कूड़ा-करकट राक्षसोंको साफ करके जगत्का उद्धार करना होता है। यदि वे प्राणियोंके कल्याणके उद्देश्यसे जलादिको स्वच्छ रखते हैं; तब यह प्रतिपक्षी आक्षेप क्यों करता है ? उस जगदुद्धारकको कोई गन्दगी, कोई भी दैत्यहननका पाप व्याप नहीं सकता, वह निर्लेप है–यह शास्त्रोंमें स्पष्ट है। उन दिव्य-मत्स्य आदिको प्रतिपक्षी प्राकृत-मत्स्य आदिकी दृष्टिसे देखता है, यह कितना बड़ा भारी अज्ञान है ? 'कहां राजा भोज, और कहां भोजुआ तेली !!!

राम मनुष्य (?)

६ कुतर्क–राम पूर्व-जन्म वा इस जन्ममें भी मनुष्य ही [थे।] वे स्वयं कहते हैं–'या त्वं विरहिता नीता चलचित्तेन रक्ष[सा।] दैवसम्पादितो दोषो मानुषेण मयाजितः' (वाल्मी. युद्ध. ११५।) यहां रामने अपने-आपको मनुष्य कहा है। 'यत् कर्तव्यं मनु[ष्येण] धर्षणा प्रतिमार्जिता। तत्कृतं रावणं हत्वा मयेदं मानकाङ्क्षि[णा]' (११७।१३)। अथात्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्।' [इस प्रकार] राम अपनेको मनुष्य कहते हैं, पर पौराणिक उन्हें ईश्वर कहते [हैं।] (अव. पृ. ८१-८२, १३९)

प्रत्यु–राम परमात्माके अवतार थे, पर मनुष्याकृति[में।] देखिये–वाल्मी. (१।१५।१६-२१, युद्ध. ३५।३४-३६, ११[९।] ११-१४) आदि। नट, पुरुष होता हुआ भी स्त्रीके रूपमें स्त्रियों वाली मर्यादाएं अभिनीत करता है, बलवान् भी [अपने] आपको अबला सिद्ध करता है। इसी प्रकार श्रीराम-द्वारा [अपने] आपको मनुष्य कहना भी इसी मानुषी-मर्यादाके पालनार्थ था। [नहीं तो] मनुष्यका अपने-आपको मनुष्य कहना क्या माने रखता है ? 'आत्मानं मानुषं मन्ये' (युद्ध० ११९।११)में रामाभिराम (तिलक) टीका में स्पष्ट लिखा है–'आत्मानं नावबुध्यसे'इति ब्रह्मणैव [कथित] (क्वथित) त्वात् तज्जिज्ञासुरिव, स्वीयानां स्वस्वरूप-बोध[काय] ब्रह्माणं गुरुम् अज्ञ इव उपासदद्-इति। अर्थात्-अनभिज्ञ-लोगों[को] ब्रह्मा-द्वारा अपने स्वरूपका ठीक बोध हो जाय-इसलिए श्रीराम[ने] मर्यादापुरुषोत्तम होनेसे मर्यादा-संरक्षणार्थं अज्ञताका नाटक [किया] और ब्रह्माने स्पष्ट कर दिया कि–'भवान् नारायणो देवः [श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः। एक]शृङ्गो वराहस्त्वम्' (११९।१३)

एक समयमें दो अवतार

७ कु—एक ही समयमें भगवान्के दो-दो अवतार कैसे

गये ? (पृ० १३६)

प्रत्यु—अग्नि निराकाररूपमें सर्व-व्यापक है। जहां-जहां उसे संघर्ष प्राप्त होता है; वहां-वहां वह एकसे अधिक स्थानोंमें भी प्रज्वलित हो उठती है। वहां-वहां प्रज्वलित होने पर भी अन्यत्र सर्वत्र उसकी सत्ता नष्ट नहीं हो जाती। इसी दृष्टान्तसे अवतारों-का एक समयमें बाहुल्य भी होसकता हैं। क्या एक स्थानमें प्रकट हुई अग्नि अन्य स्थानोंमें अपनी सत्ता खो बैठती है कि—अन्यत्र वह प्रकट न हो सके ?। जब परमात्माकी एक शक्ति अग्निमें ऐसी शक्ति है, तो सभी शक्तियोंके केन्द्रीभूत उस परमेशानमें एक स्थलमें प्रकट होनेपर अन्य स्थलमें प्रकट होनेमें शक्ति क्यों प्रतिहत हो ?

८ कु—व्यभिचारसे पैदा हुए व्यासजी ईश्वरका अवतार बन बैठे हैं। (पृ० १३७)

प्रत्यु—तब दुष्यन्त द्वारा शकुन्तलामें भरत भी क्या व्यभि-चारज था ? इस विषयमें पृथक् निबन्ध इतिहास-चर्चामें देखिये ?

९ कु—ऋषभदेव जैनोंके तीर्थंकर थे, तथा बुद्धदेव—ये दोनों धर्मविनाशक वेद वा ईश्वरकी सत्ताके विरोधी थे। ऐसे घोर-विरोधी नास्तिकोंको भी ईश्वरावतार बताना बुद्धिहीनता नहीं तो क्या है ? (पृ० १३६-१३७)

प्रत्यु—ऋषभ यह जैनोंवाले तीर्थङ्कर नहीं। उन लोगोंने हमारी ही वस्तुओंको कुछ बदलकर अपनेमें ले लिया। हमारे महावीर हनुमान् थे, राम थे; पर उन्होंने उनमें कुछ परिवर्तन करके उन्हें ले लिया। अतः प्रतिपक्षीका उसपर आक्षेप अज्ञानसे ही है। बुद्धदेवके विषयमें पृ० १९३ से २०६ पृष्ठ तक देखें।

पुराण वेदसे पहले वा मुस्लिम-हदीसोंके भाष्य (?)

१० कुतर्क—'प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः'। (सब शास्त्रोंसे पहले ब्रह्माजीने पुराण बनाये। उसके बाद उनके मुंहसे वेद प्रकट हुए, शिव० वायुसं० ५।१।११-३२) इसीका समर्थन मत्स्यपुराणमें भी किया है ! यह पुराणकी गप्प है कि—'पुराण वेदोंसे भी पहले बने'। पुराण वेदके भाष्य नहीं, यह तो इस्ला-मी-हदीसोंके भाष्य अवश्य प्रमाणित होते हैं। (पृ० ५६)

प्रत्यु—वेद एवं पुराण दोनों अनादि हैं, अतः यह दोनों एक ही समयमें थे। पुराण अर्थ हैं, वेद मूल हैं। वेद बीज हैं, पुराण वृक्ष हैं, यह दोनों सदा इकट्ठे ही रहते हैं। ऐसा सांसारिक-साहित्यका कोई भी पुस्तक नहीं, जिसमें पुराणका स्मरण न किया गया हो। महाभाष्य-पस्पशाह्निकमें भी शब्दको नित्य सिद्ध करते हुए कहा गया है कि—'लोके **अर्थमर्थमुपादाय** शब्दान् प्रयुञ्जते, नैषां निर्वृत्तौ यत्नं कुर्वन्ति'। किसी पुरुषको घड़ेकी आवश्यकता हो, तो वह कुम्हारके पास जाकर कहता है कि—मुझे घड़ा बना दो; उससे जलका कार्य करूंगा; परन्तु शब्द कहनेकी इच्छा वाला पुरुष वैयाकरणके पास जाकर नहीं कहता कि—'शब्दान् कुरु, प्रयोक्ष्ये' (शब्दोंको बना दो; मैं उनका प्रयोग करूंगा, किन्तु वह **अर्थको स्मरण करके** शब्दोंका प्रयोग कर देता है—'न तद्वत् शब्दान् प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाऽऽह-कुरु शब्दान्, प्रयोक्ष्ये। **तावत्येव अर्थमुपादाय शब्दान् प्रयुङ्क्ते।**

सो पुराण वेदके अर्थ हैं; वेद उन विस्तीर्ण अर्थोंके संक्षिप्त शब्द हैं। शब्दको प्रयुक्त करना चाहता हुआ पहले **विवक्षित-अर्थ-का स्मरण करके** फिर उनके **शब्दोंका प्रयोग** करता है। पुराणके

उक्त आक्षिप्त वचनमें भी 'पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्' कहा है कि—ब्रह्माजीने अर्थरूप पुराणका पूर्व स्मरण किया, फिर शब्दरूप वेद उनके मुखसे निकले। जब यह बात स्वाभाविक है; तब पुराणका पहले स्मरण, फिर पीछे वेदका प्राकटच, यह युक्ति-युक्त है।

पहले बीज होता है, वा वृक्ष? पहले समुद्र होता है, वा जलकी बिन्दु? पहले शब्द होता है या अर्थ? ऐसे प्रश्न स्वतः उठते हैं। वृक्षको पहले नहीं कह सकते, क्योंकि वृक्ष बीजसे पैदा होता है। बीजको भी पहले नहीं कह सकते, क्योंकि-बीज भी वृक्षसे-निकलता है। एक-एक बूंद इकट्ठी होकर क्या समुद्र बना? समुद्र पहले न हो; तो जलकी बूंद कहांसे आगई? एक यह भी प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि—पहले सहस्रमुख परमेश्वर था, उससे सृष्टि हुई, या पहले सृष्टि हुई, उससे वह ईश्वर-सहस्रमुख हुआ?' इस प्रकार निरुक्तमें वेदसंहितापर ही यह प्रश्न उठाया गया है कि—क्या पहले पद थे, पीछे संहिता बनी? वा संहिता पहले बनी, उसीके पद माने गये? इस प्रकारके शतशः प्रश्न उठते हैं। अन्तमें निर्णय यही होता है कि—वृक्ष, समुद्र, संहिता, परमेश्वर ही पहले थे। 'ततः समुद्रो अर्णवः' (ऋ०सं० १०।१९०।२) यह मन्त्र भी यही बताता है। सृष्टि की आदिमें पानीकी एक-एक बूंद इकट्ठी होकर समुद्र बना, यह तो सम्भव प्रतीत नहीं होता। मन्त्रमें 'अर्णवः' (जलवाला) यह विशेषण 'आकाश'के व्यवच्छेद केलिए है, क्योंकि आकाश भी समुद्र कहा जाता है।

यद्यपि जलवाला तो आकाश भी है; पर अर्णवकी लोक-प्रसिद्धि पार्थिव-समुद्रमें ही है। फलतः पहले समुद्र और पीछे जल-तरङ्ग हुई। भगवान् शङ्कराचार्यने भी षट्पदी-स्तोत्रमें कहा है—

'सामुद्रो हि तरङ्गः, क्वचन समुद्रो न तारङ्गः' समुद्रकी तो तरङ्ग होती है, तरङ्गोंका समुद्र नहीं होता। इसी प्रकार सृष्टिसे परमेश्वर नहीं बनता; परमेश्वरसे सृष्टि बनती है? तभी तो उक्त-पद्यके पूर्वार्धमें आचार्य-शङ्करने कहा है—'सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्' हे नाथ! यद्यपि तेरा-मेरा भेद तो नहीं है, तथापि मैं तेरा हूँ, तू मेरा नहीं है। संहिता और पदके पूर्वापरत्वके झगड़ेमें प्रातिशाख्यों (प्रतिशाखाके व्याकरणोंने शब्द-शास्त्र होनेसे) पहले पदोंको माना है, पीछे संहिताओंको; पर भाष्यकारोंने बहुत युक्तियां देकर पहले संहिताओंको ही माना है कि—पहले प्रकृति-संहिता थी, पीछे उसकी विकृतिरूप पद। नहीं तो संहिताओंका अनादित्व खण्डित होता है; अन्तमें परम-निर्णय यही होता है कि—सृष्टिके आरम्भमें दोनों एक ही समयमें थे। इसी प्रकार शब्द-अर्थ दोनों इकट्ठे होते हैं—'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' (रघुवंश १।१); तथापि पहले अर्थका स्मरण करके फिर शब्द कहा जाता है।

सो पुराणरूप-अर्थको पहले स्मरण करके फिर ब्रह्माके मुखसे वेद निकले, यह पुराण-प्रोक्त-वचन सङ्गत हो जाता है। तभी वेदमें पुराणका नाम भी आता है। जैसे कि—'तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्च अनुव्यचलन्' (अथर्व. १५।६।११) 'इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति, य एवं वेद' (१२)। स्वा० द० जीने ऋभाभूमें इन नामोंसे ब्राह्मणभागका ग्रहण किया है—'एतैः प्रमाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते, (शताब्दी. ३४१ पृष्ठ)। इसी प्रकार स० प्र०में भी लिखा है—'इसलिए सबसे प्राचीन ब्राह्मणग्रन्थों ही में यह सब घटना हो सकती है' (११ समु० पृ० २०९)। चलो यही सही; तब अर्थ ब्राह्मणभाग पहले ही वेदमें

वा ब्रह्माको स्मृत हुआ, पश्चात् वेद ब्रह्माके मुखसे निकले। सो अपौरुषेययोजनात्मक-ब्राह्मणभाग-वेद ही तो पुराणोंका मूल है। वही पौरुषेय-योजनामें आकर पुराण-इतिहास बना। तब मन्त्र-भाग एवं ब्राह्मणात्मक-वेद एवं उसका दूसरा रूप पुराण सृष्टिकी आदिम वस्तु हुए।

तभी अथर्ववेदसं.में कहा है—'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे' (११।६(७)। २४) यहां ऋग्वेदादिकी भांति पुराणोंकी भी उच्छिष्ट (सर्वान्त-में अवशिष्ट परमात्मा) से प्रकटता बताई है। इस मन्त्रमें 'पुराण' यह जातिमें एक-वचन है, जैसे इसी मन्त्रमें 'ऋचः, सामानि, छन्दांसि' बहुवचनमें हैं; वैसे 'यजूंषि' भी बहुवचन होना चाहिये था, क्योंकि यह मन्त्रविशेषोंके नाम हैं, जैसे कि यजुर्वेदवा. सं.में—'यजूंषि नामास्मि' (१८।६७) इत्यादि मन्त्रोंमें; परन्तु उक्त अथर्वके मन्त्रमें 'यजुषा' यह जातिमें एक वचन है, 'यस्मिन् ऋचः, साम, यजूंषि'(यजुः ३४।५) इस मन्त्रमें 'साम'में जाति-में एकवचन है, वैसे ही उक्त अथर्वके मन्त्रोंमें 'पुराण' में जाति-में एकवचन है, सो 'पुराण'का अर्थ 'पुराणानि' है।

उसी अथर्वके वचनके अनुकूल ब्राह्मणभागमें भी कहा गया है—'अरे अस्य महतो भूतस्य [उच्छिष्टस्य] निःश्वसितमेतद् यद्—ऋग्वेदो यजुर्वेदः, सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः, इतिहासः-पुराणं ... अस्यैव एतानि' (१४।५।४।१०) इसके 'अथर्वाङ्गिरसः' के बादके अंशको स्वा.द.जीने वेदविरुद्ध समझकर ऋभाभू. (शता. पृ. २६६) में उद्धृत नहीं किया, 'भ्रमोच्छेदन'में तो उस अंशको स्पष्ट वेदविरुद्ध बताया है, पर पाठकोंने देख लिया कि—यह अंश पूर्वोक्त अथर्वके मन्त्रका अनुवाद है। अत एव वेदविरुद्धता कट गई। पुराण-इतिहाससे ब्राह्मणभाग एवं पुराण (दोनों

गृहीत हो जाते हैं। कभी गो-बलीवर्दन्यायसे उन्हें अलग भी कह दिया जाता है। अथर्ववेद-गोपथब्राह्मणमें कहा गया है—'इमे सर्वे वेदा निर्मिताः ' सब्राह्मणाः, सपुराणाः' (१।२।१०) यहां पर पुराण एवं ब्राह्मणभागको पृथक्-पृथक् बताया गया है।

स्वा. द. जीने 'सबसे प्राचीन ब्राह्मणग्रन्थोंमें ही यह सब घटना हो सकती है' (स. प्र. ११ पृ. २०६) में ब्राह्मणभागको सब से प्राचीन माना और वेदस्थित 'पुराण' शब्दसे ब्राह्मणभागका ग्रहण माना है। इससे मन्त्रभागमें भी ब्राह्मणभागके स्वामिवच-नानुसार स्मृत हो जानेसे ब्राह्मणभाग स्वतः सबसे प्राचीन सिद्ध हुआ। स्वा. द.जीके शब्दोंमें सबसे प्राचीन उसी ब्राह्मणभागने इतिहास-पुराणको स्मृत एवं प्रमाण माना है; अतः पुराण स्वतः सृष्टचादिमें सिद्ध हुए।

इसी बातको न्यायदर्शन-भाष्यकार, वादिप्रतिवादिमान्य—श्रीवात्स्यायनमुनिने इन शब्दोंमें लिखा है—'प्रमाणेन खलु ब्राह्म-णेन इतिहास-पुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते—'ते वा खल्वेते अथर्वा-ङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यवदन्—'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदः' इति, तस्मादयुक्तमेतत् पुराणेतिहासाऽप्रामाण्यम्' (४।१।६२) 'अथर्वाङ्गिरसः'से अथर्ववेद और उसका ब्राह्मण दोनों गृहीत होते हैं, सो अथर्ववेदमें तो इतिहास-पुराणको स्मृत किया ही है, अथर्ववेदके किसी ब्राह्मणमें भी 'इतिहास-पुराणको, पञ्चमवेद' कहा गया, जैसे कि—श्रीवात्स्यायन-मुनिने उसमें साक्षी दी है।

तब 'पुराणको ब्रह्माजीने पहले स्मृत किया हो, पीछे वेद उनके मुखसे प्रकट हुए' ऐसी पुराणकी उक्ति प्रतिपक्षीके अनुसार 'गप्प' सिद्ध न हो कर युक्त सिद्ध हुई। तभी वेदमें स्थान-स्थान पर पुराणको स्मृत किया गया है। जैसे कि—'पुराणं-वेदं विद्वांसम-

भितो वदन्ति' (अथर्व. १० । ८ ।१७) । यहां पुराण-वेद (पञ्चमवेद) का नाम आया है। पुराणवेद शब्द वेदके मन्त्रभागके इस वचनकी भांति वेदके ब्राह्मणभागमें भी मिलता है—'तानुपदिशति पुराणं-वेदः, सोयमिति किञ्चित् पुराणमाचक्षीत' (शत० १३ । ४ । ३ । १३) । गोपथब्रा० (१ । १ । १०) में भी 'पुराणवेद' शब्द मिलता है । 'तं गाथया पुराण्या पुनानम्' (ऋ. ९ । ९९ । ४) । वेदके ब्राह्मणभागान्तर्गत-उपनिषद्में भी कहा है—'इतिहास-पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदः' (छान्दो० ७ । १ । २) । छान्दोग्य-ब्राह्मणमें भी कहा है—'तेषामेते अथर्वाङ्गिरस एतद् इतिहास-पुराणमभ्यतपन्' (३ । ४ । २) इससे पुराण भी सृष्टचादिके सिद्ध हुए ।

इसी प्रकार त्रेतायुगीय रामायण-आदिमें भी 'पुराण'का नाम आता है । सुमन्त्र कहता है कि—'श्रूयतां यत् पुरावृत्तं पुराणेषु मया श्रुतम्' (वाल्मी. १ । ९ १) । इससे यह भी मालूम होता है कि—रामायणको वाल्मीकिजीने भी पुराणोंसे दुह कर ही अपनी ललित-कवितामें बनाया है । उसका प्रमाण यह है कि—वाल्मी. रामा. में राजा दशरथसे पहलेका तथा लवकुशके बादका वृत्त नहीं है । कालिदासके रघुवंशमें है, वह पुराणसे ही लिया गया है–यह स्पष्ट है । रामायण काव्यमय-इतिहास होनेसे केवल चरित-नायक श्रीरामके होनेसे श्रीरामके पिता-पुत्र तकके वृत्ततक ही सीमित रखी गई है; पर महाकवि-कालिदासने रामवंश न रखकर 'रघुवंश' रखा है । सो उसमें रामके पूर्वका तथा लवकुशके सन्तानका वृत्त भी लिखा है–यह सब उसने परमप्रतिष्ठास्पद पुराणोंसे लिया है । स्वा. द. जीने स. प्र. ११ समु.के अन्तमें राजा युधिष्ठिरके बादके राजाओंकी जो वंशावलि लिखी है, इसका आधार भी पुराण हैं । सो त्रेतायुगकी रामायणके

भी मूल-पुराण होनेसे पुराण सृष्टिकी आदिम-वस्तु सिद्ध होते हैं ।

द्वापर-युगके अन्तके महाभारतमें तो पुराणका वर्णन साथ ही है–'पुराणे हि कथा दिव्या आदि-वंशाश्च धीमताम्' (आदि ५ । २) 'अष्टादश-पुराणानां श्रवणाद् यत् फलं भवेत्' (स्वर्गारोहणपर्व. ६ । ९७) । इस प्रकार आश्वलायन-गृह्यसूत्रमें 'इतिहास-पुराणानि' (३ । ३ । १) । उपवेद-आयुर्वेदकी चरक-संहितामें–'इतिहास-पुराणकुशलान्' (सूत्रस्थान १५ । ७) । आपस्तम्ब धर्मसूत्रमें 'इति भविष्यत्पुराणे' (२ । २४ । ६) यहां भविष्यपुराणका नाम आया है । महाभाष्य-पस्पशाह्निकमें 'इतिहास पुराणम्' । 'शुक्रनीति' (२ । १७७)में, सिद्धान्त-शिरोमणिमें 'तत् संहितावेद-पुराणबाह्यम्' (ग्रहणाध्याय ८) इत्यादि में प्राचीन-साहित्यमें पुराणका नाम प्रतिष्ठासे आया है ।

द्वापरयुगसे पहलेके त्रेतायुग-सत्ययुग आदिकी पुस्तकों में 'पुराण'का नाम देखकर कई लोग आश्चर्य मानते हैं, या वहां प्रक्षिप्तता मानते हैं, पर ऐसी कोई बात नहीं । यह ठीक है कि पुराण भी वेदकी भांति अनादि चले आये हैं । 'सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे' (महाभाष्यमें प्रथम वार्तिक) शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध नित्य हुआ करता है । अर्थ भी शब्दसे संश्लिष्ट रहता है–'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' (रघुवंश १ । १) । पर अर्थ जब शब्द-रूपमें आ जाता है; तब वह मूल-शब्दसे पृथक् रहा होता है । तब अर्थ-रूप अपौरुषेय ब्राह्मण-भागका तथा ... की पौरुषेय-योजनारूप पुराणोंका वेदसे पूर्व विद्यमान रहना ... नहीं; क्योंकि–लौकिक-भाषा देववाणी भी देवोंकी ... लोकके लिए आई हुई होती है । सो देववाणीमें आये हुए पौरुषेय योजना वाले पुराण भी वेदके साथ ही रहते हैं । लोक...

पृथक् होते हुए भी एक दूसरेके आश्रित और इकट्ठे होते हैं। लोकभाषा भी परमात्मदत्त ही मानी जाती है; पर आर्यसमाजी पुराणोंको स्वयं अप्रमाणित कर चुके हैं; अतः वे वेदादिमें विद्यमान 'पुराण' शब्दका अपने निर्मूल पक्षके बचावकेलिए पुराणों को हटानेकेलिए 'पुराण-विद्या' यह अनिश्चित एवं निर्मूल अर्थ कर दिया करते हैं।

कई लोग पुराणोंका वेदव्यास-द्वारा द्वापरयुगके अन्तमें निर्माण मानते हैं; वस्तुतः यह मत भी ठीक नहीं। श्रीव्यास पुराणोंके कर्ता नहीं; किन्तु वेदोंकी तरह पुराणोंके भी प्रवक्ता एवं सम्पादक ही हैं। प्रत्येक-द्वापरमें भिन्न-भिन्न व्यास, अब श्रीकृष्ण द्वैपायन-व्यास, और आगेके द्वापरमें अश्वथामा-व्यास पुराणोंका सम्पादन करते हैं और करेंगे, निर्माण नहीं। यदि कहीं वेदव्यास पुराणोंके 'कर्त्ता' कहे गये हों; तो वहां 'कर्ता' शब्द 'प्रवक्ता'के अर्थमें आता है; क्योंकि—'कृ' धातु 'क्रिया-सामान्यवाची' होनेसे अनेकार्थक होती है। इसी कारण 'ब्रह्मणः प्रणवं कुर्याद् आदौ अन्ते च सर्वदा' (२।७४) इस मनुपद्यमें 'कृ' धातु उच्चारण-अर्थमें ही आई है। 'कथां प्रकुरुते' यहां भी 'कृ' धातुका 'कथा बनाता है' यह अर्थ नहीं, किन्तु 'कथा कहता है' यह अर्थ है। इसीलिए 'गन्धनावक्षेपण-सेवनसाहसिक्य-प्रतियत्न-प्रकथनोपयोगेषु कृञः' (१।३।३२) इस पाणिनि-सूत्रमें 'कृञ्' धातुका 'प्रकथन' अर्थ भी आया है। इस प्रकार 'अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः' इस पाठमें भी 'कर्ता'का अर्थ 'प्रवक्ता' ही है। सो यह पुराणोंका इस कल्पके २८ वें द्वापरमें २८ वां संस्करण हैं, निर्माण नहीं। पुराण भी वेदकी भांति अनादि ही हैं। अतः प्राचीनसे प्राचीन साहित्यमें 'पुराण' का नाम आता है। तब पुराणोंको वेदसे पहले ब्रह्माने स्मरण किया—यह

बात सङ्गत हो जाती है। इसलिए पहले दिये हुए प्रमाणोंमें 'पुराणवेद' नाम आया है, पुराणके साथ वेद शब्द तथा पुराणेतिहासको पञ्चम-वेद कहना—यह पुराणकी अनादिताको व्यक्त कर रहा है। इसी प्राचीनमताके कारण ही इनका नाम 'पुराण' है।

सार यह निकला कि—वेद और पुराण समकालीन हैं। तभी एक-दूसरेमें एक-दूसरेको स्मरण किया गया है। इतना अन्तर है कि—मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदकी योजना अपौरुषेय है और पुराणकी पौरुषेय; पर पुराण वा उसका ज्ञान भी अनादिकालसे ही प्रचलित है। तब इस बातको 'गप्प' कहना प्रतिपक्षीका पुराणद्रोही होनेके कारण वा अज्ञानसे है। इसमें कोई असंगति नहीं। प्रतिपक्षी भी 'पुराण' से पुराणविद्या' लिया करते हैं, सो वेदमें उनके अनुसार भी 'पुराण-विद्या'के स्मृत होनेसे 'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्' यह पुराणकी बात ठीक सिद्ध हुई। इन्हीं कारणोंको लक्ष्य करके ही महाभारतमें कहा गया है—'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् (वेदं समुपबृंहयेत्)। बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति' (१।५।२)-

शेष आक्षेप है प्रतिपक्षीका पुराणोंका 'मुसलिम-हदीसोंका भाष्य' होना; इसमें प्रतिपक्षीकी अपनी अबहुश्रुतता एवं पुराण-द्रोह ही कारण है। भविष्यद्रूपमें पुराणोंमें कहीं मुसलमान-राजाओंका वर्णन आजावे, यह अन्य बात है, पर इससे वे मुस्लिम-हदीसोंके भाष्य कैसे हैं? पुराण तो वेदके भाष्य हैं; जो उनपर शङ्काएँ हों; करते चलो, क्रमसे उत्तर लेते चलो। जो कि कई मुसलमानी बातें प्रतिपक्षी पुराणोंमें समझता है; वे मुसलमानोंने ही वेद-पुराणादिसे ले ली हैं; जैसे स्त्रियोंमें अव-

गुण्ठनप्रथा। मुसलमान कोई ऊपरसे तो आ टपके नहीं। हमसे ही तो निकले हैं; तो हमारा ही उनपर प्रभाव समझना पड़ता है। दूसरोंके दुष्प्रभावसे प्रतिपक्षी उलटा समझ लेते हैं। उन्होंने स्वयं तो वेदादिसाहित्य देखा नहीं, और दूसरोंके उपजापों (चुगलियों) से यह मान लिया कि—हिन्दुओंने अमुक-व्यवारह मुसलमानोंसे लिया, तब यदि वैसी बात उन्हें पुराणादिमें मिल जाती है; तो कहते हैं कि—यह मुसलमानों द्वारा किया हुआ प्रक्षेप है। यदि वेदादिमें मिले; तो उसका तोड़-मरोड़ कर अर्थ बदलने के लिए एड़ीसे लेकर चोटी तकका पसीना बहाते दीखते हैं। ऐसे ही व्यक्ति मुस्लिम-एजेण्ट मानने योग्य हैं।

जो कि प्रतिपक्षीने अपनी 'पौराणिक-कीर्तन पाखण्ड है' इस क्षुद्र पुस्तिका (पृ० ३) में 'आश्रमा यवनै रुद्धाः' इस भागवतपुराणस्थ पद्मपुराणके माहात्म्यमें 'यवनों'से मुसलमान समझे हैं, यह उसकी समझकी बलिहारी है। 'यवन' मुसलमान मान लिये जाएँ; तो 'यवनों' को बताने वाली मनुस्मृति (१०। ४४), पाणिनि (४। १। ५९) तथा महाभारतका ज़माना भी जिसमें भगदत्त यवनों के साथ मिलकर राजसूयमें सेवा करने आया था ('यवनैः सहितो राजा भगदत्तो महारथः' (महा. २। ५१। ३-२९) तथा श्रीकृष्णका काल-यवनसे युद्ध-यह सब १४०० साल के माने जावेंगे, ५००० वर्षके नहीं; क्या यह प्रतिपक्षीको स्वीकार है? और मनुस्मृति स्वा. द. के स. प्र. के ११ समु. के आरम्भिक शब्दोंमें सृष्टिकी आदिकी पुस्तक न रहेगी; पर यह प्रतिपक्षीको स्वयं अनिष्ट होगा।

उस पुस्तिकामें प्रतिपक्षीने कोई भी नया प्रमाण नहीं दिया। जो 'पुराणोंके कृष्ण'में उसने लिखा, वही इसमें लिख डाला। इनका पूरा प्रत्युत्तर 'आलोक' ग्रन्थमालाके छठे पुष्पके

'श्रीकृष्ण।भगवान्का सुदर्शनचक्र' में देखना चाहिये। 'यवनों' पर पूरा उत्तर भी वहीं (पृ० ६४४-६४७) हमने दे दिया है। प्रतिपक्षीको उसका खण्डन करना चाहिये था; पर फिर वहींका वही लिख देनेसे प्रतिपक्षी 'अप्रतिभा' निग्रहस्थानमें निगृहीत हो गया है। गीताप्रेस गोरखपुरकी हिन्दी 'श्रीमद्भागवतसुधासागर' में 'यवनों'का अर्थ 'विधर्मियों' तो लिखा है, 'मुसलमान' नहीं। तब प्रतिपक्षी 'जनवञ्चन' क्यों करता है? धर्मभेद तो अपने लोगोंमें शुरूसे चला आया है। जैसेकि वेदमें 'जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्' (अथर्व० १२। १। ४५) यहां नाना-धर्म रखने वालोंका वर्णन आया है। सो अपनेसे विरुद्ध धर्मवालोंको 'विधर्मी' कहा जा सकता है। मुसलमानोंके बहुत पीछेके होनेसे उनका ग्रहण नहीं। शेष जो भविष्यपुराणमें मुसलमानी राज्यका वर्णन है, वह भविष्यकी दृष्टिसे है। पुराणका उक्त नाम भी यही स्पष्ट कर रहा है। वेदके समयमें प्रतिपक्षियोंके मतमें भी एक-धर्म था, फिर पृथिवी-सूक्तमें आया हुआ 'नानाधर्माणं' पद भविष्यकी दृष्टिसे मानना पड़ेगा। क्या उसे प्रतिपक्षी मुसलमानी-जमानेका मानेगा?। सो वेदसहचारी पुराणमें भी भविष्यत्की बातें दूरदर्शी-मुनियों द्वारा बता देना असम्भव नहीं।

श्रीहरिने 'वाक्यपदीय' में ठीक ही कहा है—'आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम्। अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते। अतीन्द्रियान् असंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा। ये भावान्, वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते' [१। ३७-३८]। उपवेद-आयुर्वेद चरकसंहितामें भी लिखा है—'रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञान-बलेन ये। येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा। आप्ताः शिष्टा विबुद्धा ये तेषां ज्ञानमसंशयम्। सत्यं वक्ष्यन्ति ते, कस्मादसत्यं नीरज-

स्तमाः' [सूत्रस्थान ११ । १८-१९] इन वचनोंमें तपस्वीं-ऋषि-मुनियोंको त्रिकालदर्शी एवं अव्यवहित-दृष्टि कहा है।

गुरुकुल-कांगड़ीसे एक 'अलङ्कार' पत्र निकला करता था। उसीका दूसरा संस्करण 'हिन्दी-सन्देश' नामसे चालू किया गया। सम्भवतः सन् १९३३ में वह मेरे पास मुलतानमें आता था। उसमें सन् १९३९ में होने वाले हिटलर-यहूदियोंके फिर बाद विश्वयुद्धका भविष्यद्-दृष्टिसे व्यवस्थाके दृष्टिकोणसे भूत-कालवत् वर्णन किया गया था। वह लेख सन् १९३३ में प्रकाशित किया गया। जिस अँग्रेजी पुस्तकसे वह लिया गया; वह तो सन् १९३३ से पहले ही छप चुकी थी। जब आजकलके दूरदर्शी पुरुष भी अपनी सूक्ष्मदृष्टिसे भविष्यत्का वृत्त पहलेसे बता देते हैं, उसमें कुछ भूलें भी रह सकती हैं। जब कि—दैवज्ञ लोग भूत-भविष्यत् बता दिया करते हैं; तब 'अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते' [उनको भूत-भविष्यत्का ज्ञान करामलकवत् प्रत्यक्ष दीखता है]के लक्ष्यभूत मुनियोंने पहलेसे यदि भावी-मुसलमानोंका भूतवत् वर्णन कर डाला हो; तो इससे वह पुस्तक मुसलमानी-हदीसोंकी नकल कैसे होजाएगी ?। अतः यह आक्षेप पुराण-द्रोही-प्रतिपक्षीकी अल्पश्रुतताका ही फल है। पुराण तो प्रतिपक्षी से बहुत मानित देवीभागवतके अनुसार भगवान्का हृदय हैं—'श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे, पुराणं हृदयं स्मृतम्। एतत्त्रयोक्त एव स्याद् धर्मो नान्यत्र कुत्रचित्' [११ । १ । २०]।

राम-कृष्णको जनाना बनाना (?)

११ कुतर्क—ये कीर्तनपक्षी तो 'कृष्ण को' 'कृष्णा', और 'राम'को 'रामा' 'हरे कृष्णा, हरे रामा' कहते भी नहीं लजाते ! राम वा कृष्ण शब्द पुल्लिग हैं, और रामा वा कृष्णा स्त्रीलिंग हैं। इस तरह ये हिन्दु-धर्मके शत्रुगण राम व (?) कृष्णको भी

मर्दसे जनाना बना डालते हैं !!' (पौराणिक-कीर्तन पाखण्ड' पृ. १४)

प्रत्युत्तर—प्रतिपक्षी सनातनधर्मियोंके प्रत्येक-कार्यमें सदा दोष-दृष्टि ही रखता है। वह 'गुप्ता कालोनी, लार्ड कृष्णा, कृष्णा मार्कीट, चन्द्रभानु गुप्ता, 'रामा-बस, कृष्णा-बस' इन पर तो कभी उट्टङ्कना नहीं करता; पर वही बात चूंकि सनातन-धर्मियोंके कीर्तनमें आगई है; तब सनातनधर्मका विरोधी प्रति-पक्षी उसका खण्डन क्यों न करे ? महाशय ! जब कीर्तन हिन्दी-में होता है; और हिन्दी संस्कृतसे विकृत है। 'यथा हि मलिनैर्वं-स्त्रैर्यत्र-तत्रोपविश्यते' इस न्यायसे संस्कृतके विकृत शब्द भी हिन्दीमें प्रयुक्त किये जाते हैं। 'अभिलाष' शब्द संस्कृतमें पुल्लिग है, पर हिन्दीभाषामें उसे 'अभिलाषा' इस प्रकार आकारान्त लिख दिया जाता है। प्रतिपक्षी भी सदा 'अभिलाषा' ही लिखता होगा, 'अभिलाष' नहीं। इसी प्रकार प्रतिपक्षी यहां भी समझ ले। उसपर दोषदृष्टि क्यों ? प्रतिपक्षीकी इसी पुस्तिकामें 'महान योगी, उज्जवल' आदि शब्द लिखे हैं, यह संस्कृतमें 'महान्, उज्ज्वल' आदि रूपमें लिखे जाते हैं; पर हिन्दी संस्कृतसे अप भ्रष्ट होनेसे उसमें कई रामा, कृष्णा आदि विशेष शब्द संस्कृतके विकृत आ भी जावें; तो उस ओर ध्यान नहीं दिया जाता; पर प्रतिपक्षी अपने वैसे शब्दोंमें ध्यान न देकर कीर्तनमें वैसा ध्यान देकर कहीं 'परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्' इस न्याय-का अनुसरण तो नहीं कर रहा ?।

यदि प्रतिपक्षी कहे कि—'नहीं। कीर्तनमें तो 'हरे रामा' हरे कृष्णा' यहां 'हरे' खासा सम्बोधनान्त संस्कृतका शब्द है; अतः हिन्दी-भाषा वाला बहाना ठीक नहीं' तब हम यहां उसकी यह बात मान कर भी वास्तविकता बताते हैं। वह यह है कि—

कीर्तनमें राम और कृष्ण को 'रामा और कृष्णा' कहना उन्हें ज़नाना बनाना नहीं, किन्तु परमपुरुष ही बनाना है। उसपर दोष देना प्रतिपक्षीकी अपनी ही अल्पश्रुतताका फल है। 'हरे रामा' हरे कृष्णा' इस कीर्तनमें 'हरे' यह सम्बोधन है, यह तो ठीक है, यह हम भी मानते हैं। साथ यह भी बताते हैं कि—उनके साथ ठहरा हुआ राम और कृष्ण भी उसीका विशेष्य सम्बोधन है। तब सम्बोधनमें 'तद् दूरे तद्वन्तिके' (यजु: ४०।५) इस मन्त्रके अनुसार परमात्मा हमसे दूर बैठा है—इस पक्षमें दूरसे बुलाने वा उच्चस्वरसे बुलानेमें प्लुत-स्वरका प्रयोग करना पड़ता है। इस अवसरपर 'दूराद्धूते च' (८।२।८४) इस पाणिनिसूत्रसे प्लुत होता है।

प्लुत ह्रस्वसे तो बड़ा होता ही है; क्यों कि—ह्रस्वकी एक मात्रा होती हैं, और प्लुतकी तीन। वह प्लुत दीर्घसे भी बड़ा ही होता है; क्योंकि—दीर्घकी दो मात्रा होतीं हैं; और प्लुतकी तीन। सो जब प्लुत दीर्घसे भी बड़ा होता है; तब ह्रस्व मात्रामें भी प्लुत प्रयुक्त करनेपर ह्रस्वमें भी दीर्घ-मात्रा लगा दी जाती है। स्पष्टताकेलिए वहां ३ का अङ्क लिख दिया जाता है। लिखना केवल तीन मात्रामें उच्चारण करनेके लिए प्रेरणा होती है, वैसा लिखना आवश्यक नहीं होता। तथापि उस ह्रस्वमें प्लुतोच्चारण करनेकेलिए उसे दीर्घ तो लिख ही दिया जाता है।

जैसे कि सिद्धान्तकौमुदी अच्-सन्धिमें 'आयुष्मान् भव देवदत्त ३' को 'आयुष्मान् भव देवदत्ता ३' लिखा जाता है। इस समय मेरे सामने मूल सिद्धान्तकौमुदी पड़ी है, उसके १० वें पृष्ठमें इसी प्रकारसे 'देवदत्ता ३' इस पुल्लिंग—'देवदत्त'में भी 'देवदत्ता' यह दीर्घ 'आ' लिखा गया है; तो प्रतिपक्षी क्या इस लिखनेसे देवदत्तको ज़नाना बनाना मान लेगा? ऐसा हो तो वह धन्य है,

उसे शीघ्र हो वेदालङ्कारकी डिग्री मिलनी चाहिये, यह हमारी गुरुकुलको प्रेरणा है।

प्लुतमें दीर्घ आकारमें बोलना आवश्यक होता है। इसी प्रकार कीर्तनोंमें 'राम! कृष्ण!' को प्लुतस्वरमें उच्चारण करनेसे वही 'रामा ३' 'कृष्णा ३' इस प्रकार प्लुतस्वरमें दीर्घमात्रा भी बड़ी मात्रा होनेसे दीर्घमात्रामें बल दिया जाता है। इससे वह स्त्रीलिंग नहीं होता; स्त्रीलिंग यदि वहां होता; तो वहां 'राधे! गोपि' की भांति 'रामे! कृष्णे' कहा जाता, पर नहीं कहा जाता, अतः प्रतिपक्षीका आक्षेप अल्पश्रुत होनेसे वस्तुस्थितिकी अनभिज्ञतावश है।

कथंचित् मान भी लिया जाय कि—भक्त लोग 'रामा' कृष्णा' को स्त्रीलिंगमें बोलते हैं, इस पर यह याद रखना चाहिये कि विष्णु-भक्त लोग राम और कृष्णको ब्रह्म मानते हैं; और ब्रह्म 'सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्' (१।१।२६) इस अथर्ववेद-गोपथब्राह्मणकी श्रुतिके अनुसार तीनों लिंगोंमें उसका प्रयोग माना जाता है। तीनों लिंगोंमें भी वह वही होता है। तब कोई दोष नहीं आता।

अथवा—भक्त विविध-रुचिवाले होनेसे अपने इष्टदेवको अपनी प्रेयसी और अपने-आपको उसके प्रेमीके रूपमें भजते हैं, अतः स्त्रीलिंगान्त वर्णन करते हैं। जैसे कि—श्री चमूपति एम. ए. ने स्वा. द. जी की तसवीरको स्त्रीलिंगके रूपमें कल्पित किया था। देखिये—इसपर 'आलोक' छठा पुष्प। सो कोई भी प्रकार मानिये, प्रेममें मनुष्य 'राम-राम' को 'मरा-मरा' जपता (देखिये वाल्मीकिकी आरम्भिक-कथा) चाहिये हार्दिक-भाव पर जो भक्तिरससे शून्यान्तःकरण हो, केवल क्रोधी एवं

प्रेमी होकर 'येन केन प्रकारेण कुर्यात् सर्वस्य खण्डनम्' का व्यसनी हो, लकड़ी, दीवार और पत्थरका प्रतिरूप ऐसा व्यक्ति सहृदयता वा भाव-भक्तिकी उच्चता नहीं जान सकता। भावमें अर्थमें ध्यान होता है, शब्दोंमें नहीं। पर भक्त लोग तो 'राम, कृष्ण' को 'रामा' कृष्णा' प्लुतरूपमें कहते हैं, यह बात हमने स-मूल सिद्ध कर दी है। व्याकरण न जानने वाले भी कभी किसी-को दूरसे बुलाते हैं; तो प्लुत-स्वरमें ही बुलाते हैं। प्रतिपक्षी इसमें अब कितना भी बल लगावे, इसे काट नहीं सकता, पर **प्रतिपक्षी अथवा-वाचक 'वा' शब्दको ह्रस्व 'व' सदा ही लिखता है, सो क्या यह उर्दू का है? वा संस्कृतका?** इसी प्रकार वह हमारे पास पत्रोंमें वा अपनी पुस्तकोंमें 'पार्वती'के स्थान 'पारवती' लिखता है, हल् को भी सस्वर लिख देता है, उसमें कदाचित् वैदिक-धर्मसे मित्रता कारण हो!!!

जो कि प्रतिपक्षी कहता है—'ईश्वर व जीवमें व्यापक-व्याप्य सम्बन्ध हैं। ईश्वर सर्वव्यापक होनेसे जीवोंके अन्तःकरण-में विद्यमान है। जीव ईश्वरको अपनी अज्ञानतासे अपनेसे पृथक् समझता है [**प्रतिपक्षी आज अपने सिद्धान्तसे विरुद्ध अद्वैतवादी बन गया है**] यदि वह अज्ञानका पर्दा [अद्वैत-सिद्धान्तमें माया, अविद्या] जीवके हृदयसे हट जावे; तो वह बाहरी जगत्में ईश्वर को क्यों ढूंढनेकी मेहनत करेगा? [इसका तात्पर्य क्या यह है कि-ईश्वर बाहरी जगत् मूर्ति-आदिमें सर्वथा नहीं, केवल पुरुषके हृदयमें हैं, धन्य है प्रतिपक्षी!!] उसे ईश्वरसे मिलना ही तो है। वह जब भी चाहेगा, एकान्त शान्ति-स्थानमें [देवमन्दिर भी इसीलिए बनाये जाते हैं] बैठकर अपने अन्तःकरणमें व्याप्त [क्या इसका भाव यह है कि-वह अन्यत्र मूर्ति-आदिमें व्याप्त नहीं है?] प्रभुका स्मरण कर सकेगा' (पृ. २२) [यह भी मूर्ति-

पूजा वाला ही सारा ढंग हो गया, अन्तःकरण भी जड़, मूर्ति भी जड़, दोनों जड़ोंमें चेतन-देवको प्रतिष्ठापित करना, और उसका ध्यान वा अर्चन करना दोनों ही मूर्तिपूजा हैं, थोड़ा भी अन्तर नहीं, बल्कि-अपनेसे अभिन्नमें पूजा ही सम्भव नहीं]।

जब ऐसा है; तो वह सर्वव्यापक मूर्तिमें भी तो व्यापक है; उसमें भी यदि इसी प्रकार ध्यान कर लें; तो इसमें अनुपपत्ति क्या हो जाती है? यह मानवी-प्रकृति स्वाभाविक है कि-वह अपनेसे अलग वस्तुमें परमात्माकी उपासना करे। उपासनामें उसे पर-मात्माको अपनेसे अलग करना पड़ता है। इसलिए अन्तिम-अद्वैतकोटिमें इसी अभिन्नतावश उपासना ही नहीं होती; पढ़िये इसपर आचार्यशङ्करका 'परा-पूजा' स्तोत्र, जिसे आर्यसमाजी उसके कई पद्योंको छिपाकर सनातनधर्मके खण्डनार्थ उपस्थित किया करते हैं। उपासना द्वैतवादमें होती है, सो लोकप्रकृति-की स्वाभाविकतावश उपासना भिन्नतामें हुआ करती है।

एक पुरुषकी गाय बीमार होगई थी। वैद्यने कहा कि-दो छटांक माखनमें एक तोला पिसी हुई कालीमिर्च मिलाकर गाय-को खिला दो। प्रतिपक्षी-जैसे समझदारने सोचा कि-दूधमें माखन तो है ही। आज गायको नहीं दुहेंगे। माखन तो उसके अन्दर रहेगा ही, यह सोचकर शेष काली-मिर्च उसने पीसकर गायको खिला दी। गाय अधिक बीमार हो गई। वैद्यने यह जानकर कहा कि-महाशय जी, आप अपनी समझ अभी अपने-में रखिये; हमारी समझसे चलिये। अलग माखन लेकर उसमें पिसी हुई काली-मिर्च मिलाकर गायको खिलाओ।

इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये। पुरुष यदि अपने अन्दर भी परमात्माकी उपासना करेगा, तो **यह भी मूर्तिपूजा वाला ही प्रकार होगा**। उसमें मूर्तिपूजापर आप लोगोंसे किये

जाते हुए आक्षेप उपस्थित होंगे। तब उपासक वा ध्यानकर्ताको शरीरस्थित हड्डी, लहू, एवं हृदयस्थित काम, क्रोध, ईर्ष्या आदि-का विचार भा आ सकता है। पृथक् व्याप्य मूर्तिमें भी जब परमात्मा व्यापक है, जिसमें रक्त, अस्थि, चर्म एवं काम, क्रोध, लोभ आदिका कोई भी विकार नहीं; उसमे उपासना करनी पूर्वकी अपेक्षा कितनी सुन्दर रहेगी।

एक छोटेसे स्थान हृदयमें एक महाविशाल परमात्मा स्वा. द. जीके कथनकी भांति कि–'जो आकाशवत् सर्वत्र व्यापक अनन्त ···है, वह एक छोटेसे गर्भाशय और शरीरमें क्योंकर आ सकता है' (स. प्र. ११ पृ. १९५) इसी प्रकार हृदयमें भी कैसे आ सकेगा? क्या परमात्मा हृदयमें रहता है, अन्य किसो अङ्गमें नहीं रहता? क्या आप लोगोंके गुप्त-अङ्गोंमें भी वह रहता है, या नहीं? उनमें भी आप उसकी पूजा कर सकते हैं वा नहीं? यदि नहीं कर सकते; तो क्यों? अतः प्रतिपक्षीको चाहिये कि कुतर्कोंको छोड़कर सनातनधर्मी बन जावे; तो उसकी सभी शङ्काएँ निश्शेष हो जाएँ। नामसंकीर्तनकी वैदिकता 'आलोक' (छठे पुरुष पृष्ठ ६४९, ६५५) में देखिये। नामसंकीर्तनको 'पाखण्ड' कहना वेदके कथनको 'पाखण्ड' बताना है।

अवतार के अर्थपर आक्षेप।

१२ कुतर्क–'अवतार' शब्दका अर्थ होता है 'नीचे उतरना'। सर्व-व्यापकके लिए उतरना-चढ़ना माना जाना नहीं बनता है। यह एकदेशोकेलिए कहा जा सकता है। अतः 'अवतार' शब्द ईश्वरकेलिए प्रयुक्त करना बुद्धि-हीनता का प्रमाण है' (पृ० १४३)

प्रत्यु—'पादोस्य विश्वा भूतानि' (यजुः ३१। ३) यह पार्थिव-संसार परमात्माका एक 'पाद' माना जाता है। 'त्रिपाद

अस्यामृतं दिवि' (यजुः ३१। ३) उसकी त्रिपाद-महिमा द्यु- में मानी जाती है। जब द्युलोकमें उसकी अधिक महिमा तब सर्वव्यापक होनेपर भी पृथिवीसे ऊपर ठहरे हुए द्यु- में उसकी अधिक सत्ता हुई। इसलिए परमात्माका जब विचार का समय आवे; तब हमारी दृष्टि ऊपर आकाशमें-द्युलोकमें चली जाती है। इसलिए परमात्माकी गम्भीरता बतानेमें उसकी 'अधःस्विदासीद् उपरि स्विदासीत्' (ऋ. १०।१२९) ऊपर भी स्थिति वेदानुसार मानी गई है। इसी लिए सर्व- भी परमात्माकी ऊपरके लोक वैकुण्ठलोकमें विशेष स्थिति मा- जाती है, जिसमें पुरुष मुक्त होकर जाते हैं। जैसे विद्युत् व्यापक होने पर भी उसकी विशेष-स्थिति वा प्रकटता पा- हाऊसमें मानी जाती है।

स्वा. द. जीने स. प्र. ९म में लिखा है–'सदा-मुक्त परमात्मा हमको मुक्तिमें आनन्द भुगाकर पृथिवीमें ···जन्म देकर पिताका दर्शन कराता है' (पृ. १५०) इससे स्पष्ट है कि मुक्त परमात्मा मुक्ति-लोकमें (जो पृथिवी-लोकसे भिन्न ऊपरका लोक है, जिसमें जन्म-मरणादिका बन्धन नहीं रहता है, और मुक्त जीवको वहीं आनन्द भुगवाता है, उसे पृथिवी-लोकमें जन्मग्रहणार्थ भेजता है। इससे मुक्ति पृथिवी-लोकसे ऊपर सिद्ध हुआ।

तब उस सर्वव्यापक भी पर ऊपरके लोकमें विशेषस्थित परमात्माका इस नीचेके लोक, पृथिवीलोकमें भी जब विशेषरूपमें प्रकटता होती है, उसीका नाम अवतरण अवतार कहा जाता है।

सो सर्व-व्यापकके अवतरणका तात्पर्य होता है, विशेष कालमें प्राकट्य। सो प्राकट्य होनेसे उसमें उतरना

आना-जाना आदि व्यवहार भी लौकिकतामें उपचारभावसे कहे जाते हैं। जैसे कि—चित्रपट में। इसकी स्पष्टता 'आलोक'के छठे पुष्प (पृ. ६७१-६७२)में देखनी चाहिये। आकाश व्यापक है, उसका आना-जाना वा एक सीमित-स्थानमें बन्धना नहीं बन सकता; पर वही आकाश मठमें सीमित हुआ 'मठाकाश' कहा जाता है। घड़ेमें भी वही बंधा हुआ 'घटाकाश' कहा जाता है। उसी घड़ेको उठाकर कोई भागता जाए; तो उपचारभावसे कहा जाता है कि—यह घड़ेको भगाये जा रहा है। घड़ेके साथ घड़ेका आकाश भी होता है, वह भी उपचारभावसे भागता हुआ मालूम पड़ता है। प्रतिपक्षी भागा जा रहा है, कहीं आ-जा रहा है; उस-का शरीरस्थित अन्तःकरण तथा उसमें प्रतिपक्षीके अनुसार विशेषरूपमें रहने वाला परमात्मा भी आ-जा रहा हुआ उपचार-भावसे कहा जाता है। प्रतिपक्षीके कमरेमें निराकार आकाश है, उसकी लम्बाई-चौड़ाई भी उपचारभावसे नापी जाती है। कई चलते-फिरते जापानी-मकानोंका आकाश भी चल-फिर रहा होता है। सो यह बातें उपाधि-भेदमें लोक-व्यवहारमें संघटित हो जाती हैं; इसी प्रकार परमात्माके लौकिक-अवतारमें भी संघटित हो जाती हैं; पर इसकेलिए 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' दिव्य आंख चाहिये; और हृदय (अन्तःकरण) भी अन्तः-पक्ष-पात कलुषित न हो। पर यदि आंख पर खण्डनके आवरणकी मैल जम गई है; उसका बिना आपरेशन हुए ठीक-ठीक नहीं हो सकता। दिव्य-चक्षु तथा दिव्य-बुद्धि एवं दिव्य-हृदय हो जाने पर प्रतिपक्षीकी हीनबुद्धिता हट सकती है।

रावणादिके मारनेमें कोई महत्त्व नहीं (?)

१३ कुतर्क—रावणादिको नष्ट करना सर्व-व्यापक ब्रह्मकेलिए कोई महत्त्वकी बात नहीं है। हृदयकी गतिको अन्दर ही अवरुद्ध

करके पल भरमें उसको भी वह मार सकता है (पृ. १४४)

प्रत्यु—यह सब आपत्तियां निस्सार हैं। सर्वव्यापक ब्रह्मने क्यों अपने ज्ञान (वेद) को अपने हृदयसे पृथक् करके यहां भेजा? जब वह चाहे, सब जगत्के जीवोंको भीतर ही भीतर ज्ञान देकर उनसे दुष्कर्म छुड़वा दे। जब वह अपने असीमित एवं अभिन्न ज्ञानको सीमित तथा भिन्न-भिन्न चार मूर्तियोंके मन्दिररूपमें भिन्न करके भेजता है, उसी रीतिसे अपने ज्ञानकी भांति निराकार वह स्वयं भी यहां सीमित [अवतार] रूपमें आ सकता है, पर इसके-लिए प्रतिपक्षीको निष्पक्ष होकर दिव्य-बुद्धि ग्रहण करनी होगी। जब वह परमात्मा अपने निराकार-ज्ञानको साकाररूपमें प्रकट करके पृथ्वीलोकमें किसी माध्यममें अवतीर्ण कर सकता है, इसी प्रकार वह स्वयं भी किसी माध्यम (पिता) द्वारा प्रकट होकर अवतीर्ण हो सकता है।

रावणादिको मारकर दिखाना—यह 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (वेदान्त. २।१।३३) उसकी मनुष्यावतारमें लोकलीलामात्र है; नहीं तो उसकेलिए रावणादि मच्छरके कीटदंशसे भी बढ़कर नहीं, इस विषयमें आगे (१४आ.के प्रत्यु. में) देखिये। रावणादिका मारना ही केवल अवतारका लक्ष्य नहीं होता, किन्तु 'मर्त्यशिक्ष-ण' भी उद्देश्य होता है। इसीलिए श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं, रक्षोवधायैव न केवलं विभोः। कुतोऽन्यथा स्याद् रमतः स्व आत्मनः, सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य' (५।१९।५)। यदि रावणादिको हृदयकी गतिको अवरुद्ध करके भगवान् पलभरमें उन्हें मार देता; तब रावणादिको पता क्या लगता कि—हमें किन पापोंका फल मिला? बड़ी दुर्दशा होनेसे तब उन्हें भी पूर्व-कर्मोंका कारण ज्ञात हो जाता है, और अन्य पापियोंको भी इस काण्डसे शिक्षा मिल जाती है, और वे सुधर

जाते हैं। बल्कि-पापियोंको क्या; अवतार लेनेसे तो सारे संसार को पता लग गया कि—रावण-कंसादिको किस पापका इतना दुर्दशा-कारक फल मिला। हृदयगतिको अन्दर ही अन्दर अवरुद्ध कर देनेसे मर्त्योंको शिक्षा न मिलती। तभी तो कहा है 'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्य-शिक्षणम्'।

सो उस भगवान्ने रामरूपमें अपने वैदिक-उपदेश-'अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्' (अथर्व. ३।३०।२) इत्यादिकी शिक्षा भी मनुष्यको स्वयं मनुष्यके रूपमें अपने आचरणद्वारा देनी थी। 'सत्यं वद' (कृ. य. तैत्ति. उ. १।११।१) इस वेदके कथनसे पुरुष सत्यवादी नहीं बनता, सत्यवादी-हरिश्चन्द्रके नाटकसे श्रीगान्धि-जैसे व्यक्ति भी सत्य-व्यवहार सीख सके, जिससे उनका बड़ा यश फैला।

सो वेदादि श्रव्यकाव्य हैं; और भगवान्का अवतार दृश्य-काव्य (अभिनय) है। परमात्मा अपने वेदशास्त्रके सिद्धान्तोंको जनतामें शिक्षणार्थ स्वयं उसका अनुकरण कर दिखाता है। सबका पिता भी वह दशरथ-वसुदेवको अपना पिता बनाता है। स्वयं महान् देव भी वह देव-पूजा कहो, चाहे अपनी पूजा कहो; लोकशिक्षणार्थ भिन्नतासे करता है। पुराणोंमें महादेव-द्वारा रामपूजा और रामादि-द्वारा महादेव पूजा इसका उदाहरण है यह सब अभिनय है। दृश्यकाव्य (अभिनय) का प्रभाव श्रव्य-काव्यकी अपेक्षा अधिक पड़ता है। सो वह भगवान्को करना पड़ता है। वेद बनाने वाले भी भगवान् हैं। उन्होंने सर्व-प्रथम मन्त्र लिखा—'अग्निमीले पुरोहितं' (ऋ. १।१।१) मैं अग्निकी पूजा करता हूँ। तो क्या परमात्मा भी अग्निकी पूजा करके मूर्तिपूजा करता है? अथवा अग्निका अर्थ 'परमात्मा' करो;

तो क्या परमात्मा अपनी पूजा करता है? हां, करता है वह कहता है। क्यों? केवल लोकशिक्षणार्थ। यदि कहा जाय कि यह ऋषिका कथन है, कि मैं ऋषि ही अग्निकी मूर्तिकी पूजा करता हूँ, तो वेदको ऋषि-प्रणीत मानना पड़ेगा। पर वादीको यह अनिष्ट है। सो परमात्माके वैसा कहने वा करनेसे अन्य लोग भी वैसा करते हैं, देखिये गीतामें—

'यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते' (गीता ३।२१) 'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि (३।२२) यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ! सर्वशः' (२३) 'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्। सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः' (२४) यह भगवान्के ही वाक्य हैं—ऐ अर्जुन! मुझे इस संसार में कुछ भी अप्राप्त नहीं, न कुछ मेरेलिए कर्तव्य है, तथापि मैं भी कर्तव्य करता हूँ। यदि मैं कर्म न करूं; तो मनुष्य भी मेरा अनुसरण करके निष्कर्मा होकर सङ्कीर्ण होते हुए नष्ट-भ्रष्ट हो जावें—इस वादि-प्रतिवादिमान्य 'गीता' में कहे हुए श्रीभगवान्के अपने ही उत्तरसे प्रतिपक्षीके अवताररहस्यके वे कुतर्क जिन्हें उसने ६३-६४-६५-६६-६८-६९-७०-७७-७८-८१-९९-१००-१० ११४, ११५, ११६, ११७, ११८, ११९ आदि पृष्ठ काले किये उनका निराकरण हो गया, हां, जहां उस लोकोत्तर दिव्य-पुरुष लोकसीमाको अतिक्रमण करने वाला अलौकिक चरित्र होता है, वह लोकमर्यादासे अतीत होनेसे अनुकर्तव्य नहीं होता। वहां 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' (३।२१) इस गीताके सामान्य-वचनका बाधक 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' (१६। २४) यह गीतास्थित भगवान्का विशेष-वचन ही होता है

'सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत् । परेण पूर्वबाधो वा' ।

जो कि कहा जाता है कि–'यदि ईश्वरावतार धर्म, गौ, स्त्री, वा हिंदुजातिकी रक्षार्थ होता; तो अब उसने अवतार क्यों नहीं लिया ? जब कि–भारतके खण्ड-खण्ड होकर 'पाकिस्तान' बन गया । लाखों मन्दिर नष्ट हो गये । लाखों हिन्दु-देवियोंका सतीत्व-भङ्ग हुआ । नित्य ही लाखों गायें मारी जाती हैं; तब इन पुराणियोंका विष्णु क्यों अवतार नहीं लेता ? अब उसे तोपों, मशीनगनों; ऐटम-बमों,वा राकेटोंसे भय लग रहा है, जो आनेमें संकोच करता है ?' (अव. पृ. १४४)

यह नास्तिककी वाणी है । प्रतिपक्षी भी पूर्वोक्त कुकाण्डोंको यदि पाप तथा कुकर्म वा अन्याय समझता है; तब वह यह बतावे कि–उसका माना हुआ 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः, स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति वेद्य' (श्वेताश्व. ३ । १९) परमात्मा यह सब काण्ड देख वा सुन रहा है–या नहीं ? क्यों उन पापियोंकी हृदयकी गतिको अन्दर ही अवरुद्ध करके पलभर-में उन्हें मार नहीं डालता ? (अव. पृ. १४४ पं १-२) तो क्या उसे भी रूसके हाईड्रोजन-बमों वा प्रक्षेपणास्त्रोंसे भय लग रहा है कि–रूस मुझे फांसी न दे दे ? । क्यों ईश्वरको फांसी देनेवाले नास्तिक-रूसकी वह उन्नति कराता चला जा रहा है ? । इसका जो उत्तर प्रतिपक्षी देगा, वही इसमें हमारा होगा ।

महाशय ! जब समय आयगा, वह अवतीर्ण (प्रकट) होकर सब ठीक-ठाक कर देगा । पहले वह सब सहन करता है । स्वा. द. जीने परमात्माकेलिए स.प्र.में 'सहोसि' (यजुः १९ । ९) मन्त्रका अर्थ यह किया है–'आप निन्दा-स्तुति और स्वअपराधियों-का सहन करने वाले हैं' (७ स. पृ. ११३) । स्वा. वेदानन्दजीने

सटिप्पण स.प्र.(पृ.२३-२४)में 'यो मृलयाति चक्रुषे चिदागः' (ऋ. ७ । ८७ । ७) मन्त्रके अर्थमें लिखा है–'भगवान् पाप करने वाले पर भी दया करता है' । यदि ऐसा न हो; तो प्रलय हो जावे । प्रतिपक्षीने हो अपने ट्रैक्टोंमें भगवान्को असीम गालियां दी हैं; तो यदि वह भगवान् एकदम निर्दय हो जाय; तो अभी उसे लकवा कर दे, पर नहीं, पहले वह सहन करता है । भगवान्ने पहले शिशुपालकी १०० गालियां सही ही तो थीं । अपने अज्ञानी पुत्रोंको एकदम दण्डविधान कैसे कर दे ? थोड़ी सी जेलखानेकी हवा-खिलाकर सत्यनारायणव्रतकथाके बनियेकी तरह अपराधियों-को चेतावनी तो दे देता है; फिर भी यदि अपराधी नहीं चेतता; उल्टा और अकड़ जाता है, तो पापका घड़ा भर जानेपर, पाप पूरा पक जानेपर ही वह फल देता है, तत्काल नहीं । न्याय भी यही है ।

इसके अतिरिक्त प्रतिपक्षीसे उपक्षिप्त पाकिस्तान-काण्डमें जिनको कष्ट उठाना पड़ा, यह भी तो हमें पता नहीं कि–कदाचित् उनका वैसा पूर्व-जन्मका प्रबल दुष्कर्म रहा हो, जिसका उन्हें दुष्फल मिला । देशभङ्ग वा भूकम्प आदिके अवसरोंपर बहुतसे लोगोंको पूर्वजन्मके दुष्कर्मोंका सामूहिक-फल मिल जाया करता है । कर्म-मीमांसा बड़ी जटिल हुआ करती है । हम सर्वज्ञ न होनेसे जान नहीं सकते; पर सर्वज्ञ-प्रभु तो सब जानता है; अतः उस विषयमें हम कुछ निर्णय नहीं दे सकते ।

शेष है–देवमन्दिरादि तोड़ने वालों तथा गो-हत्या आदि करने वालोंके अधर्मका फल तत्काल उन्हें मिलना; इसपर मनुजीके निम्न श्लोक स्मरण रखने योग्य हैं, कि–'नाऽधर्मश्च-रितो लोके सद्यः फलति गौरिव । शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि

कृन्तति ॥ यदि नात्मनि पुत्रेषु, न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु । नत्वेवं तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥ अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति । ततः सपत्नान् जयति, समूलस्तु विनश्यति' (४। १७२-१७३-१७४)। 'किया हुआ अधर्म तत्काल फल नहीं देता। वह अधर्म धीरे-धीरे अधर्मीके सुखके मूलोंको काटता चला जाता है। यदि उसे अपने समय दुष्फल नहीं मिलता; तो उसके अपने अंशावतार पुत्रोंको उसका दुष्फल भोगना पड़ता है। यदि उसके पुत्रोंको नहीं मिला, तो उसके पोतोंको मिलेगा; पुत्रके किये श्राद्ध आदि कर्मोंका फल बाप-दादा-परदादाको मिलनेकी भान्ति बाप, दादा, परदादाके दुष्कर्मोंका फल उन्हें न मिलनेपर मनुजी के स्वा० द० सम्मत इस वचनके अनुसार पुत्र, पोता, पड़पोताको मिला करता है। यह नहीं कि—वह कर्ताका अधर्म निष्फल चला जावे।

जिस प्रकार पुत्रपौत्रादिका श्राद्धादि-कर्म निष्फल नहीं जाता (मनुस्मृति ३ याध्याय); वैसे बाप-दादेका पाप भी निष्फल नहीं हो जाता। पुरुषके पाप-पुण्यका फल अपनी प्रायः तुरे तीन पीढ़ी तक, नहीं तो सात तक दुष्फल-रूपमें मिल ही जाता है। औरङ्गजेबके पापने बहादुरशाह तक ही अपना फल देकर मुगलिया-सलतनतको विध्वस्त कर दिया। मनुजी कहते हैं कि—अधर्मी प्रथम बढ़ता है, फिर उसे भान्ति-भान्तिके कल्याण मिलते हैं, फिर वह शत्रुओंको जीत लेता है, फिर स्वयं समूल नष्ट हो जाता है।

सोमनाथके मन्दिर तोड़ने वाले स्वयं अपनी ही जाति वालों से दुर्दशा-पूर्वक मारे गये। इन वातोंको प्रतिपक्षी भी याद रखे, व्यर्थके खण्डन करके ईश्वरका अपराधी वा उसे गालियां देने वाला बनकर उसका अपराधी मत बने। समय पर परमात्मा असत्यवादी तथा जनताको झूठे भ्रमोंमें फंसाने वाले अपराधियों

को भी ठीक कर देता है। बात समयकी है, देर है, अन्धेर नहीं। हम प्रभुसे प्रार्थना करते हैं कि—वह प्रतिपक्षीको सुबुद्धि दे; जो कि वह असद्-उपायोंसे जनताको गलत भ्रमोंका शिकार बना रहा हैं; वे उसके भ्रम दूर हो जावें। अवतार कलिके अन्तमें अपने समयपर होगा। बीच-बीचमें धर्मरक्षणार्थ विभूतियां आ सकती हैं।

रामावतारका मन्त्र।

१४ कुतर्क—'भद्रो भद्रया' (ऋ. १०। ३। ३) सनातनी इस मन्त्रसे रामावतार सिद्ध करते हैं, पर सत्यार्थमें अग्नि और उषाका वर्णन है, इस 'राम' का अर्थ अन्धेरा है' (पृ० १३३-३४)

प्रत्यु—यहां प्रतिपक्षीने अपने इस 'सत्यार्थ'का आधार नहीं बताया। यदि इस मन्त्रका देवता अग्नि वा उषा है, यही कारण इस अर्थ करनेका रहा हो, और देवतावादके अनुसार अर्थ करना ही 'सत्यार्थ' हो; तो 'द्वादश प्रधयः चक्रमेकं' (ऋ. १। १६४। ४८) इस मन्त्रका देवता 'संवत्सरात्मा कालः' है, तदनुसार इसमें वर्ष (साल) अर्थ होना चाहिये, पर स्वा. द.जीने ऋभाभू. (शताब्दी-सं. पृ. ५०७-५०८) में इसका 'विमान' अर्थ किया है; तब क्या प्रतिपक्षी देवतावादसे विरुद्ध अपने आचार्यके इस अर्थको गलत बतानेको तैयार हैं? इसी बातसे सब फैसला हो जायगा।

हमारे यहां तो नीलकण्ठभाष्यमें इसका राम-परक अर्थ किया गया है। यदि इस मन्त्रका 'अग्नि' देवता है; तो 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' (७। १७। ४) इस निरुक्तकी परिभाषाके अनुसार 'अग्नि' से 'विष्णु' भी गृहीत हो जाते हैं। जैसे कि—एक वेद-मन्त्रमें लिखा है—'त्वम् अग्ने! इन्द्रः······त्वं विष्णुः' (ऋ. २। १। ३)। यदि ऐसा है; तो विष्णुसे 'विष्णु' के अवतार 'श्रीराम' भी इस मन्त्रमें अर्थ-समतावश गृहीत हो गये। 'राम'

का अर्थ प्रतिपक्षीके अनुसार 'काला' है; तब 'यथा नाम तथा गुणः' के अनुसार यहां कृष्ण-वर्ण वाले 'राम' स्वतः गृहीत हो गये। इस विषयमें अधिक मीमांसा 'आलोक' के पञ्चम-पुष्प (पृ. ६४१-६४३) में देखें।

'राम'का अर्थ 'अन्धेरा' प्रतिपक्षीने कहांसे देखा है, यदि वह कहे कि-'निरुक्तसे'; तो निरुक्तमें वहीं लिखा है-'सामान्यात्' (१२।१३।२) अर्थात्-इस काले रंगकी समतासे सूर्यका नाम, तथा पशुका नाम, एवं कृष्णत्व-सामान्यसे 'रामा' यह काले रंग वाली (तमोगुणा) शूद्राका नाम भी होता है (देखो-यही पुष्प-(३२९-३० पृष्ठ)। इसी प्रकार उसी कृष्णरंगकी समतासे यहां रामावतार तथा कृष्णावतारका बोध भी हो जाता है, क्योंकि-राम-कृष्ण दोनों काले रंगके थे। इसी कारण ही उनका नाम राम-कृष्ण हुआ था। तब इस मन्त्रमें रामावतार तथा आगे कहे जाने वाले मन्त्रमें कृष्णावतारका संकेत भी समूल सिद्ध हो गया। 'प्र रामे वोचमसुरे' (ऋ. सं. १०।९३।१४) इस मन्त्रमें भी राजा रामका वर्णन है, यहां 'काला रंग' अर्थ किसी भाष्य-कारने नहीं किया। 'असुरे' विशेषण होनेसे यौगिक है, इसका अर्थ है 'बलवान्'। जैसे कि-वरुण-देवता (यजुः१४।२०)के लिए भी 'असुर' (ऋ. १।२४।१४) यह विशेषण आया है। 'महद् देवानामसुरत्वमेकम्' (ऋ. ३।५५।१-२२) यहां भी देवताओं का असुरत्व (बलवत्त्व) दिखलाया गया है। सो देवावतार राम-को असुर कहना विशेषणकी यौगिकता अनिवार्य होनेसे रावणवधमें बलवत्ता-प्रदर्शनार्थ है।

कृष्णावतारका मन्त्र।

१५ कुतर्क-'कृष्णं त एम' (ऋ. ४।७।९) इसमें कृष्णा-वतारका वर्णन नहीं। 'कृष्ण' का अर्थ 'अन्धकार' है। सायण-

ने भी अवतार नहीं माना (पृ. १३४)

प्रत्यु-'कृष्ण'का अर्थ यदि 'अन्धकार' है; तो उसी भांति काले तथा कृष्णपक्षकी आधीरातके अन्धकारमें प्रकट होनेवाले, अग्निरूप श्रीकृष्णका संकेत भी इस मन्त्रमें सिद्ध हो गया। इसमें 'अग्नि' देवता है। 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' (७।१७।४) इस नैरुक्त-परिभाषाके अनुसार अग्निसे विष्णु गृहीत हो जाते हैं, जैसे कि-वेदमन्त्रमें हो कहा है-त्वमग्ने! इन्द्रः, त्वं विष्णुः' (ऋ. २।१।३), और विष्णुसे विष्णुके अवतार श्रीकृष्ण भी गृहीत होते हैं। इसमें श्रीनीलकण्ठका भाष्य भी अनुकूल है। प्रतिपक्षीसे मान्य श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीकृष्णभगवान् कहते हैं-'अहं क्रतुरहं यज्ञः.........अहमग्निः' (९।१६)। तो जब श्रीकृष्ण अग्निरूप हैं; और उक्त मन्त्रमें 'अग्नि देवता' है; तब यह मन्त्र श्रीकृष्णपरक भी स्वतः-सिद्ध हो गया। इस प्रकार श्रीरामके विषयमें भी समझ लें; क्यों कि-श्रीकृष्णने 'रामः शस्त्रभृता-महम्' (१०।३१) कहकर अपनेको श्रीरामात्मक भी कहा है। तब अग्निदेवतात्मक पूर्व आक्षिप्त मन्त्रमें रामावतारका वर्णन स्पष्ट हो गया।

श्रीसायण वेदमें अवतारवाद मानते हैं-'प्र तद् विष्णुः स्तवते मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः' (ऋ. १।१५४।२) इस मन्त्रके भाष्यमें श्रीसायणने विष्णुको 'कुचरः=कुषु-सर्वासु भूमिषु लोकत्रये संचारी वा' यहां पृथिवीचारी बताकर, 'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः' (यजुः ५।२०) में 'मृगादिभिः पदैरिन्द्रो विशिष्यते। स हि विष्णोरुपमानं भवितुमर्हति। मृगो न। मृजूष् शुद्धौ। शुद्धोऽपहतपाप्मा इन्द्रः......कुचरः-कौ पृथिव्यां चरति-इति कुचरः, मत्स्य-कूर्मादिरूपेण' इस मन्त्रके भाष्यमें यजुर्वेदके प्राचीन-भाष्यकार; श्रीउवटाचार्यने, उक्त मन्त्रके ही भाष्यमें

'कुचरः—मत्स्यकूर्मादिरूपेण इन्द्रः पृथिव्यां चरति' यह लिखकर श्री-महीधराचार्यने ('इन्द्रो वै सर्वे देवाः' (शतपथः १३।२।७।४) 'देवा-नामस्मि वासवः (इन्द्रः)' (गीता१०।२२) यहां श्रीकृष्ण-भगवान्ने अपनेको इन्द्र कहा है) वेदमें मत्स्य-कूर्मादि अवतारोंकी स्थिति बतला दी है। कूर्मादिमें 'आदि' पदसे राम-कृष्ण अवतार वेदमें स्वतः सिद्ध होगये। तब सायण, उवट, महीधर, नीलकण्ठ आदि प्राचीन-भाष्यकारोंके अनुसार वेदमें अवतारवाद होनेसे प्रति-पक्षी निग्रहस्थानमें आ गया। तब सायण अवतारवादका अर्थ चाहे बहुत स्थान करे, अथवा वेदका विषय यज्ञ अपने अभिमत होनेसे प्रायः वेदमें यज्ञपरक-व्याख्यामें लगे रहनेसे चाहे वह वैसी व्याख्या थोड़े स्थान करे; उसकी तथा अन्य प्राच्य-भाष्य-कारोंकी भी साक्षीसे वेदमें अवतारवाद तो सिद्ध हो ही गया। तब यह नहीं कि—वेद एक अवतार तो जाने, और अन्य प्रसिद्ध अवतार न जाने। वेदमें आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधि-भौतिक तीन प्रकारके अर्थ हुआ करते हैं; ऐसा प्रतिपक्षी भी मानते हैं। उसमें आधिदैविकअर्थमें अवतारवाद-अर्थ अन्तर्भूत हो जाता है।

वेदमें सीताजी।

१६ कुतर्क—'अर्वाची सुभगे भव सीते !' (ऋ. ३।८।६) इसमें सीताका वर्णन नहीं हैं, खेत जोतनेके हलका वर्णन इसमें हैं' (पृ. १३४)

प्रत्यु—सीता यदि लाङ्गलपद्धति (हलकी रेखा) का नाम है, सीता भी उसीसे प्रकट हुई थी। देखिये रामायण—'अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गलाद् उत्थिता ततः। क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता' (वाल्मीः १।६६।१४) तभी तो उसका नाम सीता हुआ। इस मन्त्रकी देवता भी 'सीता' है। तब इस मन्त्र-

में सीताजीका वर्णन सिद्ध हो ही गया। वह जनककी औरस पुत्री न होकर अयोनिजा धर्मपुत्री थी, यह रामायणमें स्थान-स्थान पर स्पष्ट है। उसे जनकजीने आत्मजाकी भान्ति पाला, अतः वह उसे आत्मजा कहता था। अब प्रतिपक्षीसे प्रष्टव्य है कि—क्या उक्त मन्त्रमें हल का ही वर्णन है ? यदि ऐसा है, तो बधाई हो। वेदमें मूर्तिपूजा भी निकल आई।

इसके आगे लिखा है—'सीते ! वन्दामहे त्वा' (ऋ. ४।५७।६) इसमें उसी सीताको नमस्कार की गई है। वन्दन पूजा वा सिर झुकाने अर्थमें होता है। देखिये स्वा.द.जीसे प्रकाशित 'निघण्टु वैदिककोष'—'वन्दते-अर्चतिकर्मा' (पृ. ५४)। हल आप लोगोंके अनुसार जड़ होता है; तब जड़की अर्चना (पूजा) मूर्तिपूजा हुई। स्वा. द. जीने स.प्र.में लिखा है—'क्या यह मूर्तिपूजा नहीं है? किसी जड़-पदार्थके सामने सिर झुकाना वा उसकी पूजा करना सब मूर्तिपूजा है' (स. प्र. ११ नानकपन्थ प्र.पृ. २३०) तब हल का वन्दन (पूजन) कराते हुए वेदने मूर्तिपूजा वैदिक बता दी। यही बात मानते हुए प्रतिपक्षीके मतमें भी हलको नमस्कार करनेसे मूर्तिपूजा वैदिक सिद्ध हो हो गई। स्वा. द. जीने भी हलकी पूजा-प्रार्थना स्पष्टरूपसे स्वीकार की है। देखिये उनका यजुर्वेद-भाष्य (१२। ७०। पृष्ठ ४१४) जल वा दुग्धसे ·····सींचा वा सेवन किया हुआ पटेला घी तथा शहत वा शक्कर आदिसे संयुक्त करा पटेला (हल) हम लोगोंको घी-आदि पदार्थोंसे संयुक्त करेगा' यह कैसी जबर्दस्त मूर्तिपूजा है, जड वस्तु घी, शहद, शक्कर आदिसे सेवित होकर आर्यसमाजियोंको घी-शहद आदिसे संयुक्त करेगा; सो यह हल की सेवा-प्रार्थना मूर्तिपूजा हुई, और आर्यसमाजी मूर्तिपूजक सिद्ध हो गये; तभी स्वा.द.जी परमात्माको गुर्चके अर्कका भोग भी लगवा गये। देखिये—उनका आर्याभिविनय—'हे अनन्तबल

वायो दर्शनीय ! हम लोगोंने अपनी अल्पशक्तिसे सोमवल्ली आदि ओषधियोंका उत्तम रस सम्पादन किया है ····· यह सब आपको समर्पण किये गये हैं, उनको आप स्वीकार करो (सर्वात्मासे पान करो)'। (पृ. १५)। वेद भी 'इष्टापूर्ते स᳘ᳬसृजेथाम्' (यजुः १५।५४, १८।६१) मूर्तिपूजा बताता है। पूर्तमें 'देवतायतनानि च' (अत्रि. ४५ 'श्री मद्भागवत ७।१५।४९) देवमूर्ति, मन्दिरकी प्रतिष्ठा आ जाती है।

ऊपरके मन्त्रके साथ वाले—'इन्द्रः सीतां निगृह्णातु, तां पूषाऽनुयच्छतु' (ऋ. ४।५७।६) इस मन्त्रमें भी राम-सीता-की कथाका संकेत है। यहांपर 'इन्द्र' से 'रामावतार' इष्ट हैं, जैसा कि-उवट-महीधरके भाष्य-द्वारा इन्द्रका 'कुचरत्व' (यजुः ५।२०) पृथिवीमें मत्स्य-कूर्मादि अवतार लेना हम दिखला चुके हैं। आदिसे सभी रामादि अवतार गृहीत हो जाते हैं। सो यहां श्रीरामावतार-द्वारा सीताकी अग्निपरीक्षाके समय निग्रह-कथा और पूषा (अग्नि) द्वारा उस सीताको वापिस लौटाना संकेतित है। अतः वेदमें अवतार-वाद होनेसे प्रतिपक्षी निग्रह-स्थानमें आ गया।

वेदमें शिवलिङ्ग (?)

१७ कुतर्क—'शिश्नदेवाः' (ऋ० ७।२१।५) पद वेदमें आया है। सनातनधर्मी इसमें शिवलिंगपूजा सिद्ध करते हैं। सत्यार्थ—शिश्नेन्द्रियके भोग जिन्हें प्रिय हैं' (पृ० १३४)।

प्रत्यु—सनातनधर्मी तो इसका यह अर्थ नहीं करते। पाश्चात्य-अन्वेषक-वा पश्चात्य-दृष्टिवाले यह अर्थ करते हैं। सनातनधर्मी तो शिवलिंगमें 'लिंग' को प्राकृत-शिश्न-वाचक नहीं मानते। कहीं यदि वादितोषन्यायसे मानते भी हैं; तो प्रत्युत्तर देनेकेलिए ही। प्रतिपक्षीको तो यह अर्थ मानकर उल्टा

शिवलिंग-पूजाका वैदिककालसे प्रचलन मानना चाहिये, क्योंकि-कि—वह शिवलिंगको शिवका 'शिश्न' मानता है। 'शिश्न—शिवलिंगको देव मानने वाले' इस अपने माने हुए अर्थसे उसके अनुसार शिवलिंगपूजा वैदिककालकी सिद्ध हो जाती है। पाश्चात्य तो इसी मन्त्रके लिङ्गसे शिवलिङ्गपूजाको वैदिककाल-से भी पूर्व अनार्योंसे आर्योंमें आना सिद्ध करते हैं। उन्हें मुहञ्जो-दाडो-हड़प्पा आदिकी खुदाईमें शिवलिंग बहुत मिले। उन्होंने परीक्षणसे उन मूर्तियोंको वैदिककालसे बहुत-प्राचीन माना है।

वेदमें अवतारवाद।

१८ कुतर्क—'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते' (यजुः ३१।१९) में अवतार-वाद नहीं है। इसका अर्थ यह है कि-कभी जन्म न लेने वाला परमेश्वर जीवोंके अन्तःकरणके मध्यमें विचरता है। वह परमेश्वर कार्यरूप जगत्को उत्पन्न करनेसे अनेक-प्रकारसे अपने अस्तित्वको प्रगट करता है, अथवा प्रगट होता है' (पृ. १२९-१३१)

प्रत्यु—प्रतिपक्षी मन्त्रमें अविद्यमान कई शब्दोंको बीचमें प्रक्षिप्त करके ऐसा अर्थ करता हुआ भी स्वयं अवतारवाद वैदिक सिद्ध कर बैठा है। 'गर्भे' का उसने 'अन्तःकरण' अर्थ कैसे कर लिया ? इसमें उसके पास क्या प्रमाण है ?। यदि उसके अनुसार 'गर्भे' अन्दरका वाचक है; इसलिए उसने 'अन्तःकरण' अर्थ किया है; तो 'अन्तः' भी तो अन्दर का वाचक है; यह तो वेदमें प्रतिपक्षीने पुनरुक्ति-दोष उपस्थित करके 'तदप्रामाण्यमनृत-व्याघात-पुनरुक्तेभ्यः' (न्याय. २।१।५७) के अनुसार वेदको ही अप्रमाण बना दिया। यह बनावटी अर्थ करनेका परिणाम है। अन्तःकरणका नाम कभी 'गर्भ' देखा नहीं गया। 'वदन-गर्भगतं' (नैषध. ४।६५) इत्यादिके समान 'गर्भ' शब्द किसी

शब्दसे समासयुक्त हो; तब तो उसका अर्थ 'मध्य' हो जाता है; पर यदि अकेला आ जावे, वा आदिमें आ जावे; तो स्त्रीके 'गर्भ' अर्थमें प्रयुक्त देखा गया है-'गर्भाशय, गर्भवती, गर्भिणी, गार्भिणम्,' आदि शब्द उसीके वाचक देखे गये हैं।

'अपने अस्तित्वको प्रगट करता है' यह प्रतिपक्षी अर्थ करता है। यह प्रतिपक्षीकी अपनी कल्पना है। 'विजायते' अकर्मक-धातु है। प्रतिपक्षीने उसका सकर्मक-अर्थ कैसे कर लिया ? 'विजायते' का कर्ता प्रजापति है, जगद् वा अस्तित्व नहीं; न ही मन्त्रमें उसका कोई कर्म है। यदि प्रतिपक्षी उसका 'प्रगट होता है' यह अर्थ करता है, जैसा कि-उसने किया भी है; तो अवतार-वाद वेदमें सिद्ध हो ही गया। वह तो सर्वत्र विद्यमान है ही, उसका कहीं 'प्रकट हो जाना' ही अवतार होता है। स्वा.द. के वेदभाष्यानुसार तो 'विजायते' का 'विशेष करके प्रकट होता है' यह अर्थ है। यहां तो अवतारवादकी अत्यन्त-स्पष्टता हो गई। 'विशेष प्रकट होना, अवतीर्ण होना,' समान तात्पर्य है।

जब प्रतिपक्षी अर्थ करता है कि-'परमेश्वर जीवोंके अन्तः-करणके मध्यमें विचरता है' तब इसपर अपनी कही हुई आपत्ति वह क्यों स्वयं भूल जाता है कि- 'गर्भ' (अन्तःकरण) में तो 'परमेश्वर सर्वव्यापक होनेसे सदैव हीं विद्यमान रहता है, अतः उसमें विचरण करना सर्वव्यापक प्रभुका नहीं बन सकता'। इससे तो प्रतिपक्षी वेदका ही खण्डन करके नास्तिकता अपना रहा है। हमारे मतमें तो यह आपत्ति नहीं आती। सर्वव्यापककी भी एक विशेष-स्थानपर प्रकटता दिखलाई ही जा सकती है। वेदान्तदर्शन-शाङ्कर भाष्यमें कहा है—'सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थं स्थान-विशेषो न विरुध्यते—शालग्रामे इव विष्णोः' (१। २। १४)। स्वा.द. जीके 'भ्रान्ति-निवारणम्' में भी देखिये,

वहां सर्वगत-परमात्माको भी 'पृथिवी-स्थान' दिखलाया है। उनके शब्द यह हैं-'क्या परमेश्वर व्यापक होनेसे [वह परमेश्वर] पृथिवी-स्थान नहीं हो सकता ?' (शताब्दी. पृ. ८९०)। वस्तुतः यहां यह अर्थ है कि-गर्भमें वह जीवकी तरह तो पैदा नहीं होता, कि 'गर्भे अन्तः अजायमान एव बहुधा विजायते' अर्थात्-वह गर्भके भीतर जीवकी भान्ति न उत्पन्न होता हुआ भी बहुत प्रकारसे प्रकट हो जाता है' जैसे कि-ब्रह्मवैवर्तपुराणमें बताया गया है कि-गर्भमें केवल वायु भर जाती है, वह १० वें मासमें बाहर निकल जाती है। उसी समय बाहर भगवान्का प्राकट्य हो जाता है। वही तो 'अवतार' कहा जाता है ! देखिये-'आलोक' छठा पुष्प (पृ. ६३८)।

'तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः' का 'उस गर्भधारण करने वाली स्त्रीकी योनिको सनातनी-पण्डित देखा करते हैं' यह प्रतिपक्षीका अर्थ तो प्रदर्शिनीमें रखने योग्य और सुवर्णपदक देने योग्य है। 'तस्य' पुंलिंगका स्त्रीलिंग अर्थ कर दिया! प्रजापतिकी भी 'योनि' बना दी, क्या वह पति था वा पत्नी ? धन्य है यह संस्कृतकी विद्वत्ता !!! 'योनि' का अर्थ यहां 'मूत्रेन्द्रिय' प्रतिपक्षी ही करेगा, क्योंकि-उसके तन-मनमें यही इन्द्रिय बसी हुए हैं, इसलिए वह शिवपुराणादिमें वैसे ही अर्थ किया करता है। सनातनधर्मी-पण्डित तो ऐसा असम्भवी-अर्थ कभी नहीं करता। आगेकी उसकी विप्रतिपत्तियां बालजल्पनमात्र हैं।

इसी भांति अग्रिम-मन्त्र 'एषो ह देवः प्रदिशोनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनाः ! तिष्ठति सर्वतोमुखः' (यजुः ३२।४)यहां भी अवतार स्पष्ट है। यदि प्रतिपक्षी 'गर्भे अन्तः'का 'अन्तःकरणमें विद्यमान है' यह अर्थ करता है; तो वेदमें पुनरुक्ति करता है। वहां 'गर्भमें भी

हिस्सेमें रहता है' यही अर्थ है। 'गर्भ' माताके उदरका नाम यहाँ स्पष्ट है। 'गर्भ' शब्द इस अर्थमें इतना प्रसिद्ध है कि—स्वा. द.जीको भी अपने यजुर्वेद-भाष्यमें 'आधत्त पितरो गर्भं'(२।३३) में 'गर्भं'का 'गर्भमिव' अर्थ करना पड़ा है, और भावार्थमें 'गर्भवद् धार्याः, यथा गर्भे देहः क्रमेण वर्धते' यहां भी 'गर्भ' शब्द स्पष्ट लिखा है। अपने 'उणादिकोष' में स्वामीने 'गर्भः जठरं तत्रस्थो वा' 'गर्भादप्राणिनि' (पा. गण. ५।२।३६) तारकादित्वाद् इतच्-गर्भिताः शालयः। प्राणिनि तु गर्भिणी' (३।१५२) यह लिखकर तो स्वामीने स्पष्ट कर दिया है कि—प्राणीका 'गर्भ' आवे; तो वहाँ 'पेट'का नाम होता है' कहां गया अब 'अन्तःकरण' अर्थ ?।

सो अवतार गर्भमें जीवकी भांति पैदा हुए बिना ही प्रकट हो जाया करता है, 'जनी प्रादुर्भावे' (दि. से. आ.)। यही उसके 'जन्म कर्म च मे दिव्यं' (गीता ४।९) जन्मकी दिव्यता हुआ करती है। ऐसे ही जन्मको 'प्राकट्य वा अवतार कहा जाता है। उसी परमात्माको यहां 'सर्वतोमुख' बताया गया है। सो जीवकी भांति जन्म लेने वाला वह हमारे मतमें भी न होनेसे, दिव्य-प्रकटता वाला होनेसे वेदमें अवतारवाद स्पष्ट सिद्ध हो गया। इससे ईश्वरमें कोई दोष नहीं आता। उसके गुणोंमें इससे कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। सर्व-व्यापक, निराकार अग्नि वा विद्युत्की तरह कहीं एकदेशमें प्रकट होनेपर भी उस-की सर्वव्यापकतामें कुछ भी क्षति नहीं आती।

यह कहना कि—'विद्युत् परिवर्तन-शील, भौतिक एवं नाश-वान् है, और परमेश्वर अजायमान, नित्य, अपरिवर्तनशील है, अतः विद्युत्का दृष्टान्त ईश्वरके साथ नहीं घट सकता' (पृ.१३१) यह प्रतिपक्षीका शास्त्रविषयक-अज्ञान सिद्ध करता है।

महाशय ! वेद ही तो कह रहा है—'अजायमानो बहुधा विजायते' 'स एव जातः स जनिष्यमाणः'। तो अवतार-वाद सिद्ध हो ही गया। विद्युत्-अग्नि आदिके दृष्टान्तमें यह याद रखना चाहिये कि—दृष्टान्त-दार्ष्टान्तमें कभी सार्व-सारूप्य कहीं हो भी नहीं सकता, किन्तु विवक्षित-एकदेशमें ही सादृश्य हुआ करता है। यही बात श्री स्वा. शङ्कराचार्यने वेदान्तदर्शनके भाष्यमें स्पष्ट की है—'नहि दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः क्वचित् कश्चिद् विवक्षितांशं मुक्त्वा सर्व-सारूप्यं केनचिद् दर्शयितुं शक्यते। सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्त-दार्ष्टा-न्तिकभावोच्छेद एव स्यात्' (३।२।२०) सर्वसरूपतामें दृष्टान्तता-दार्ष्टान्तिकताका ही उच्छेद हो जावेगा। अन्यत्र भी स्वामि-चरणने कहा है—'नहि दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोरत्यन्तसाम्येन भवि-तव्यमिति नियमोस्ति' (ब्र. सू. भा. १।२।२१)।

'चन्द्रवन्मुखम्' इस उपमा-रूप दृष्टान्तमें मुखका चन्द्रमाके साथ सर्वसारूप्य नहीं हो जाता। नहीं तो, जितना बड़ा चन्द्रमा है, मुख भी उतना बड़ा होना चाहिये ?। चन्द्रमा आकाशमें उदित हो, तो मुखको भी क्या आकाशमें उदित होना चाहिये ? चन्द्रमा रातके अन्धेरेको हटावे; तो क्या मुख भी घरमें रातके अन्धेरेको हटावे ? यहां मुख और चन्द्रका सर्व-सारूप्य नहीं हुआ करता, किन्तु आह्लादकत्वरूप विवक्षित-सादृश्यमें दृष्टान्त-दार्ष्टान्त की समता मानी जाती है। सो यहां भी विद्युत् वा अग्निके परमात्माके साथ दृष्टान्त देनेमें, निराकाररूपमें सर्वव्यापक अग्नि वा बिजुलीका स्थान-विशेषमें प्रकट होने, और विशेष-देशमें विशेषरूपमें प्रकटता होनेपर भी उसकी सर्वव्यापकतामें बाधा न आनेरूप इस विवक्षितांशका संघटन वा समन्वय अर्थात् समता है। यही दृष्टान्त-दार्ष्टान्तका साम्य है। इसमें कुछ भी विषमता नहीं है।

प्रतिपक्षी लोग भी तो परमात्माकी सर्व-व्यापकताको आकाशसे उपमित वा दृष्टान्तित करते हैं। जैसे कि स. प्र. में 'जो [परमात्मा] आकाशवत् सर्व-व्यापक, अनन्त है' (११ समु.पृ.१९५); पर आकाश भी भौतिक है, महाप्रलयमें उसका भी विलय माना जाता है। घटाकाश-मठाकाशरूपमें उसका भी उपाधिमें प्रवेश, दौड़-भाग, नाप-तौल आदि हो जाते हैं। तब क्या प्रतिपक्षी उन दोनोंका सर्वसारूप्य बता सकते हैं? वस्तुतः दृष्टान्त समझानेके लिए होता है कि– विद्युत् वा अग्नि जो कि परमात्माकी एक शक्ति हैं, निराकारतामें सर्वव्यापक भी वे संघर्षादिकारणवश स्थान-विशेषमें प्रकट हो जाते हैं। फिर भी इससे उनकी सर्व-व्यापकतामें कोई क्षति नहीं आतो। एक स्थान प्रकट होकर वे अन्यत्र भी प्रकट हो जाते हैं। प्रकटता वाले स्थल से भिन्न भी सभी स्थलोंमें उनकी सत्ता एकरस रहती है, इस प्रकार इन शक्तियोंके स्वामी विद्युद्, अग्निस्वरूप परमात्मामें तो ऐसा होना स्वतः सिद्ध है। अतः प्रतिपक्षोकी–'अनन्तविश्वमें एकरस व्याप्त प्रभुका एक तुच्छसे शरीरमें आकर बन्द हो जाना ईश्वर-के सर्वव्यापकत्वका विनाश मानना होगा' (पृ.१४४) एतद्विषयक आपत्तियां निस्सार होनेसे खण्डित हो गईं। ऐसे दृष्टान्तोंसे परमात्माके अवतारकी सिद्धि होनेमें प्रतिपक्षियोंका पक्ष कटता है; इसी कारण वे लोग इनमें बाधाएँ खड़ी करनेकेलिए निस्सार आपत्तियां खड़ी करते हैं, पर वे स्थिरमूल न होनेसे स्वयं गिर जाती हैं। यदि वह शरीरमें नहीं समा सकता, तब वह शरीरके अल्पतमअंश अन्तःकरणमें प्रतिपक्षीके अनुसार कैसे समा जाता है? वेद-शास्त्र तो स्वयं इस दृष्टान्तको देते हैं—'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं-रूपं प्रतिरूपो बहिश्च' (कठोपनिषद् २।५।९) उपनिषद्;

ब्राह्मणभागान्तर्गत होनेसे वेद है—इस विषयमें 'आलोक' का छठा पुष्प देखिये।

'पुराणोंने अवतारोंका जन्म पापोंमें लगे शापोंके कारण माना है, न कि लोककल्याणकी भावनासे' (अव. पृ. १४४) यह प्रतिपक्षीका पुराणोंसे विरुद्ध अनर्गल-कथन है। इसका प्रबल-खण्डन पुराणोंने ही कर दिया है; वहां मर्त्यलोकमें अवतरणका मुख्य-उद्देश्य लोककल्याणको ही माना है, शापका मुख्यकारण होनेपर तो उसका फल विष्णुको विष्णुलोकमें भी मिल सकता था, पर शाप देकर मनुष्यलोकमें भिजवानेका उद्देश्य विष्णुका लोककल्याण ही रखा जाता था, यह सभी अवतारोंमें प्रत्यक्ष भी है। देखिये-मत्स्य-कूर्म-वराहादिने तथा राम-कृष्णादिने कितना लोककल्याण किया?। अवतारमें लोककल्याणकी कारणताको प्रतिपक्षीसे बहुत ही मान्य श्रीदेवीभागवत-पुराण भी कहता है। इस विषयमें 'आलोक'के इसी पुष्पके २५६-२५७ पृष्ठमें और आगे (२० क में) उक्त पुराणका प्रमाण प्रतिपक्षी देख सकता है।

'ईश्वरका अवतार कभी नहीं होता है, विष्णुका ही अवतार हुआ करता है' (पृ. १३२) प्रतिपक्षीका यह कहना तो पुराणादि-के अज्ञानके कारण है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश उसी परमात्माके देवा-वतार हैं। इस प्रकारके प्रमाण हम पहले भी दिखला चुके हैं, और आगे भी दिखलाने वाले हैं, फिर इन्हींके मनुष्य, पशु-पक्षी आदि रूपमें भी अवतार हुआ करते हैं। अवतारी और अवतारका औपचारिक भेद भले ही हो; परन्तु वास्तवमें कोई भेद नहीं हुआ करता। विष्णुके अवतार विशेष-रूपमें इस कारण हुआ करते हैं कि-विष्णुका विशेषरूपसे कार्य सृष्टिका पालना है। सृष्टिके पोषणमें जो बाधाएँ आती हैं, उनका दूर करनेका कार्य भी विशेष करके विष्णु भगवान्का है।

फिर इन अवतारोंका भक्ति, तप, वरदानग्रहण, यज्ञ, सन्ध्या, शत्रुभय, अपना माता-पिता बनाना आदि सभी (अव. पृ. १३२) 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (वे. २।१।३३) लोकलीलामात्र, अभिनयमात्र होते हैं। एक बड़ा आदमी छोटे बच्चेके सामने ठहरता हैं, बच्चा उसे छड़ी मारता है, इससे वह बड़ा व्यक्ति अपना डर जाना दिखलाता है। वह डर बनावटी होता है; तब नादान-प्रतिपक्षी क्या यह समझेगा कि–वह बच्चेसे सचमुच डर रहा है!! इसी प्रकार अवतारोंके नाटचमें भी यह समझना चाहिये। भक्ति, तप आदि लोक-शिक्षणार्थ होते हैं; जैसे कि–हम अन्यत्र गीताके तथा वेदके वचनसे सिद्ध कर चुके हैं। आगे (२० ङ में) देवीभागवतके प्रमाणसे भी बताएंगे। सो सनातनधर्मी-पण्डितोंको अपने सिद्धान्तोंका सब पता है, यह तो इन बेचारे अल्पश्रुत–प्रतिपक्षियोंको न तो वेदके ही और न ही पुराणादिके इन रहस्योंका पता है, और उस छत्तेमें, बिना सोचे-विचारे हाथ डाल देते हैं, और अपनी क्षुद्रपुस्तिकाओंमें*उलटी-सीधी बात वेदों वा पुराणोंके नामसे लिख दिया करते हैं; ताकि इनके शब्दोंमें 'आँखके अन्धे, वा गांठके पूरे' इनके सहवर्गी इन्हें महा-पण्डित मान लें, और इनकी दूकानदारी चलती रहे*।

किसी मन्त्रके कोई शब्द देखनेमात्रसे सनातनधर्मी विद्वान् रामकृष्णादिका अवतार नहीं लिख वा मान लिया करते, किंतु उनके पास वेद, स्मृति, पुराणादिके प्रमाण होते हैं। यह तो प्रतिपक्षियोंके नायक तथा स्वयं वे कर दिया करते हैं कि–'तरु-तारं'में 'तृच्' प्रत्ययका द्वितीयान्त पद देखा, तो झट 'ताराख्यं यन्त्रं' (ऋभाभू. शताब्दी पृ. ५०९) अर्थ कर लिया। 'द्वादश प्रधयः, चक्रमेकं'में 'चक्र' देखा; तो हवाई-जहाज़का चक्र अर्थ

*यह प्रतिपक्षीके शब्दोंका अनुकरण है।

कर दिया। (ऋभाभू. शता. पृ. ५०७)। सनातनधर्मियोंमें यह बनावट नहीं। उनके सिद्धान्त वेद-शास्त्र-प्रमाणित तथा युक्ति-योंसे परिपुष्ट होते हैं।

वेद जब परमात्मासे प्रोक्त हैं, तब परमात्माका अपना तथा उसके अवतारोंका वर्णन वेदमें क्यों न संकेतित हो? वेदोंका प्रादुर्भाव प्रतिपक्षी भले ही दो अर्ब वर्षोंसे माने, पर परमात्मा तो दो अर्ब वर्षोंसे नहीं पैदा हुआ। हम तो वेदोंको अनादि मानते हैं; उन्हें दो अर्ब वर्षोंसे बताना वेदोंको आदिमान् बताना है। परमात्मा भी अनादि है; उसके अवतार भी अनादि हैं 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्', वेद भी अनादि हैं; तब वेदमें उनका संकेत क्यों न हो? अवतारोंकी भी जाति मानी जाती है; क्योंकि–वे प्रत्येक-कल्पमें उसी रूपमें वेदोंकी भान्ति आते हैं। जैसे कि उस-का संकेत 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली'में नृसिंहावतारके विषयमें है। उसे वहां व्यक्ति न मानकर प्रत्येक-कल्पमें प्रकट होने वाला और तैजस-देव माना है। वहां नृसिंहका उदाहरण उपलक्षणमात्र है। अतः वहां ऋषि, देव, अवतार आदिकी जाति ही मानी जाती है। वादी पौ. मु. च. (पृ. १०) में वेदस्थित ऋषिनामोंको उपाधि मानता है। जब प्रवाह-नित्य-इतिहास वेदमें वादि-प्रति-वादि-सम्मत है, ऋषि भी, देव भी, अवतार भी नित्य होनेसे वेदों में संकेतित हैं; तब वेदमें अवतारवादमें भी कुछ अनुपपत्ति नहीं रहती। 'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' (उत्तरराम-चरित १।१०) आदिम-ऋषि वेदोंकी वाणी पहले हो जाती है, वह पदार्थ पीछे अपने समय पर होता है।

राधा प्रकृति।

१९ कुतर्क–कई बार विपक्षी घबड़ाकर राधाको प्रकृति बता देते

हैं; यह भी उनका छल है। ब्रह्मवै. श्रीकृष्णखं. अ. १५ में लिखा है कि–श्रीकृष्णने नाना-प्रकारसे राधाके साथ सम्भोग किया। **वह विवरण प्रकृतिका नहीं है (पृ० ५६-५७)**

प्रत्यु–प्रतिपक्षीके 'पुराणोंके कृष्ण' के प्रत्युत्तरमें हमने 'आलोक'के छठे पुष्पमें 'भगवान् कृष्णका सुदर्शनचक्र' (पृ. ५१३ से ६८७ पृष्ठ तक प्रायः १७५ पृष्ठोंमें) इस निबन्धसे विवेचन दिया था। उसमें प्रतिपक्षीके प्रत्येक-आक्षेपका निराकरण हमने युक्ति-प्रमाणसे कर दिया था। प्रतिपक्षोने उसके बदलेमें 'अवतार-रहस्य' (१३६ पृष्ठोंमें) प्रकाशित किया। उसमें प्रायः हमारी उपपत्तियोंका उद्धार न करके प्रतिपक्षीने 'परमतमप्रतिषिद्ध-मनुमतं भवति' इस न्यायसे मान लिया है; अथवा यदि नहीं माना; तो उनका प्रत्युत्तर देनेमें सामर्थ्य न होनेसे 'अप्रतिभा'-नामक निग्रहस्थानको अपना कर अपने गलेमें 'हार' को प्राप्त कर लिया है। यदि कोई निष्पक्ष-निर्णायक हो; तो वह ठीक निर्णय कर सकता है। इस 'अवताररहस्य'में हमारी उपपत्तियों-को बिना काटे प्रतिपक्षीने वही पुरानी बातें दोहरा भर दी हैं। यह जो उसने अब नया आक्षेप किया है, उसका यह तात्पर्य हुआ कि–'ब्रह्मवैवर्तपुराण'ने तो राधाको प्रकृति कहीं नहीं कहा; पर हमारे प्रमाणोंसे उद्विग्न होकर 'आलोक'-प्रणेताने छलसे राधाको प्रकृति कह दिया'। अब आइये 'आलोक'-पाठकगण! यदि हम 'ब्रह्मवैवर्त-पुराण' के पद्योंसे राधाको 'प्रकृति' सिद्ध कर दें; तब तो प्रतिपक्षी "घबराकर जवाब देनेमें चारों खाने चित्त होकर गिरा है' (पृ० ५०) इस अपनी उक्तिका स्वयं उदाहरण बन ही जावेगा, अब पाठक असत्यवादी प्रति-पक्षीके पतनका यह कौतुक भी देखें।–

'राधा प्रकृति थी, श्रीकृष्ण ब्रह्म थे' यह बात हमने प्रति-

पक्षीसे घबराकर नहीं लिखी, किन्तु ब्रह्मवैवर्तपुराणसे यह सिद्ध किया था। जिस पुस्तकसे आक्षेप किया जावे; उसकी वास्त-विकता भी यदि वहां लिखी है; तो उसे भी मानना ही पड़ेगा, नहीं तो 'अर्धजरतीय' न्याय उपस्थित हो जाता है। प्रतिपक्षी राधाकृष्णका शृङ्गार, जो वहां स्पष्ट आलङ्कारिक है, उसे तो ब्रह्मवैवर्तसे दे देता है; पर जो उस पुराणने राधा-कृष्णको प्रकृति-पुरुष बताया है, **प्रतिपक्षी उसे छलसे छिपा दिया करता है;** और छलमें नाम हमारा डाल दिया करता है; ठीक ही है–'उपानद्-गूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः'। यह असत्यवाद एवं जनवञ्चन-की 'श्रीदेवीभागवत' के कलिलक्षणोंमें कही हुई प्रकृति उसकी अस्थि-मज्जामें प्रविष्ट है। तथापि हम चाहते है कि–उसे इस विषयमें कुछ ज्ञान हो जाय। अतः फिर लिखते हैं।–

जिस ब्रह्मवैवर्तसे वह राधा-कृष्णके संयोगको व्यभिचार बताता है, उसमें श्रीराधा-कृष्णकेलिए स्पष्ट लिखा है–'शिवलोके शिवा, त्वं च **मूलप्रकृतिरीश्वरी**।' (४।६७।६१) अहं (श्रीकृष्णः) सर्वस्य प्रभवः (ब्रह्म), सा (राधा) च **प्रकृतिरीश्वरी**' (७३। ५१) अब यही बात प्रतिपक्षी अपनेसे बहुत मानित देवीभागवतमें देखे–'गणेश-जननी दुर्गा, राधा, लक्ष्मीः, सरस्वती। सावित्री च **सृष्टि-विधौ प्रकृतिः** पञ्चधा स्मृता' (९।१।१)। राधाकी उत्पत्ति, राधासे रासक्रीड़ा, राधासे शृङ्गार यह सभी अपने मानित देवीभागवत (९।२।२७, ३६, ३७, ३८)में भी प्रतिपक्षी देखे, उससे सृष्टिका वर्णन भी उसी अध्यायमें देखे। इस शुद्ध प्रकृति-पुरुषकी क्रीडाको हृदयकी आंखसे हीन प्रतिपक्षी 'व्यभिचार' कहता है। श्रीकृष्ण ब्रह्म हैं–यह तो ब्रह्मवैवर्त-पुराणमें स्पष्ट ही है। इसी कारण उस पुराणका नाम 'ब्रह्मवै-वर्त' है। उस राधा-प्रकृतिको भी उस पुराणमें ब्रह्मका विवर्त

(दूसरा रूप) ही बताया है—'प्रकृतिर्मद्विकारा च साऽप्यहं प्रकृतिः स्वयम्' (७३।४७)। देवीभा. में भी कहा है—'उपाधितस्त्रिधा भाति यस्याः सा प्रकृतिः परा (४।१६।२३) इसीलिए ... पुराणमें ब्रह्मखण्ड तथा प्रकृतिखण्ड यह दो खण्ड आये हैं। उसमें 'वन्दे कृष्णं गुणातीतं परं ब्रह्माऽच्युतं यतः' (१।१।४) यहां ब्रह्मखण्डमें श्रीकृष्णको ब्रह्म और प्रकृतिखण्डमें 'राधा, लक्ष्मीः, सरस्वती। सावित्री च सृष्टिविधौ प्रकृतिः पञ्चधा स्मृता' (२।१।१) राधाको प्रकृति बताया गया है। प्रतिपक्षीसे बहुत सम्मानित श्रीदेवीभागवत्में भी राधापति श्रीकृष्णको परमात्मा कहा है—'सत्यस्वरूपं श्रीकृष्णं परमात्मानमीश्वरम्' (९।२।८६) 'कृष्णस्य परमात्मनः' (९।३।५)। प्रकृति-पुरुष पति-पत्नी कहे जा सकते हैं; पर लौकिक नहीं, किन्तु दिव्य। पर समझानेकेलिए उसमें लौकिक रंगत दे दी जाती है।

सो उन्हीं प्रकृति-पुरुषका रमण एवं सृष्टिविधान उक्त पुराणमें बताया गया है—'यथा त्वं (राधा) च तथाऽहं (कृष्णः) च समौ प्रकृति-पूरुषौ। नहि सृष्टिर्भवेद् देवि ! द्वयोरेकतरं विना' (६७।८०) इत्युक्त्वा परमात्मा च राधां प्राणाधिकां प्रियाम्' (८१) यहां श्रीकृष्णको परमात्मा और राधाको उसकी प्रिया प्रकृति बताया है। इसी बातको अन्य बहुत स्थलोंमें स्पष्ट किया है—'तेन राधा समाख्याता···तेन प्रकृतिरीश्वरी' (६४। ७४)। इसी प्रकार प्रतिपक्षीसे बहुत मानित 'देवीभागवत'-पुराणमें भी वर्णन है।

प्रतिपक्षी जब पुराणसे अपनी बात सिद्ध करनेकी असफल चेष्टा करता है; तब पुराणने जो राधा-कृष्णकी वास्तविकता (प्रकृति-पुरुषता) बताई है; प्रतिपक्षी उसे क्यों छिपा देता है ?। पुराण-प्रोक्त उस वास्तविकताको छिपाना या न मानना—यह प्रतिपक्षीके

पक्षकी निर्मूलता-निराधारता बता रहा है। इन बातोंसे घबराकर प्रतिपक्षी इन श्लोकोंको लोकदृष्टिसे छिपा लेता है, स्वयं भी उनसे अपनी आंखें मूंद लेता है। यदि बिल्लीको देखकर कबूतर अपनी आंखें बन्द कर ले; तो इससे वह कबूतर बच थोड़े ही जाएगा, बिल्ली उसे दबोच ही तो लेगी ! सो प्रकृति-पुरुषके दिव्य-रमणको नीरसता देखकर उसमें सरसता लानेकेलिए पुराण गुडजिह्विका-न्यायसे लोकरञ्जनकेलिए उसका लौकिक-शृङ्गाररूपसे भी वर्णन कर देता है; नहीं तो शुष्क-विषय हो जानेसे कोई उसे देखे भी नहीं। तभी तो उक्त-पुराणने कहा है—'कामिनां कामदं चैव मुमुक्षूणां च मोक्षदम्' (१।१।४४) प्रतिपक्षीने कामी होनेसे उससे कामको दुह लिया। मुमुक्षु-लोग वास्तविकता समझकर उससे मोक्ष दुहते हैं।

सो अपनेसे उत्पादित प्रकृति राधामें (जैसा कि प्रतिपक्षीने अव. र. (पृ. ५८) में बताया है—'आविर्बभूव कन्यैका कृष्णस्य वामपार्श्वतः। तेन राधा समाख्याता पुराविद्भिर्द्विजोत्तमाः !' (ब्रह्मवै. ब्र. खं. ५।२५-२६) इसी प्रकार प्रतिपक्षीसे बहुत मानित देवीभागवत (९।२।२७)में भी है। तथा 'राधा कृष्णाङ्ग-सम्भूता भुक्तिमुक्ति-फलप्रदा। कृष्णस्वरूपा परमा सर्वब्रह्माण्डपूजिता' (देवी. ९।१२।७९-८०)में भी है।) भगवान्के रमणको जो सृष्टचर्य होता है, उसे चाहे जैसा कह लो, लेकिन यहाँ अमैथुनयोनिता होनेसे लौकिक—दृष्टिसे, मैथुनयोनिके दृष्टिकोणसे नहीं तोला जा सकता। शतपथ, ब्राह्मणभागात्मक वेद है, अतः वह यजुर्वेद है, इस विषयपर 'आलोक' का ६ छठा सुमन देखिये। उस (शतपथ) में सृष्टिका निरूपण करते हुए यही प्रकार बताया गया है। देखिये—

'आत्मैव इदमग्रे आसीत् पुरुषविधः (१४।४।२।१,

बृहदारण्यक १।४।१) यहां परमात्माको सृष्टिकी आदिमें पुरुषके समान बताया गया है। अब आगे देखिये-उसने क्या किया ?। 'स वै नैव रेमे, तस्माद् एकाकी न रमते (उस अकेले को आनन्द न आया, इससे यह भी सूचित होता है कि-रमण 'मैथुन' का नाम नहीं होता) स द्वितीयमैच्छत् (उसने दूसरेकी इच्छा की)। स ह एतावान् आस, यथा स्त्री-पुमांसौ संपरिष्वक्तौ। स इममात्मानं द्वेधाऽपातयत्, (उसने अपने दो भाग किये) ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्। यह ब्रह्मवैवर्तपुराण-जैसी उत्पत्ति बताई गई है, क्या यहां अपनेसे उत्पादित उस स्त्री-को प्रतिपक्षी उस परमात्माको पुत्री मानेगा; जैसा वह राधाके विषयमें कहता है ? अब आगे देखिये-

'...... तां समभवत्, ततो मनुष्या अजायन्त' (उससे संयोगद्वारा मनुष्य उत्पन्न हुए) (शत. १४।४।२।४-५, बृहदा. ३।४।३) यहां उन्हीं दो राधा-कृष्ण-स्थानीय प्रकृति-पुरुषके संयोगसे मनुष्य-सृष्टि बताई गई है। फिर आगे बताया है-'सा ह इयमीक्षाञ्चक्रे-कथं नु मा जनयित्वा सम्भवति, हन्त ! तिरोऽसानि (स्त्रीने सोचा कि-यह मुझे उत्पन्न करके मुझसे संयुक्त होता है, मैं अपना रूप बदल लूं।) सा गौरभवद् वृषभ इतरः। स तां समेवाभवत् (वह गाय बनी और पुरुष बैल बना) ततो गावोऽजायन्त (६-७) (उससे गाय-बैल पैदा हुए) एवमेव यदिदं किञ्च मिथुनमा पिपीलिकाभ्यः, तत् सर्वमसृजत्' (शत. १४।४।२।६, बृहदा. ३।४।४) (इस प्रकार च्यूंटी तक सारी सृष्टि हुई)।

अब देखिये-अमैथुन-योनिके पारस्परिक-व्यवहारमें यहां मानुषी-दृष्टिकोणको परमात्माने उपेक्षित कर दिया था। क्या यहां भी प्रतिपक्षी व्यभिचारकी चिल्लाहट करेगा, और

सब अपने आदि-पुरुषोंको वह व्यभिचारसे उत्पन्न मानेगा ?। स्मृतिकी साक्षी भी देखिये-'द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरु[illegible] भवत्। अर्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजद् विभुः' (१।[illegible] आदि-पुरुषने अपने दो भाग किये, एक भाग पुरुष बना, दू[illegible] स्त्री। उस अपनेसे उत्पादित स्त्रीमें परमात्माने विराट्को [illegible] किया। क्या प्रतिपक्षी अमैथुनयोनिके युगलके संयोगमें मा[illegible] दृष्टिकोण रखकर व्यभिचार-व्यभिचार चिल्लावेगा ?।

'सत्यार्थप्र. [पृ. १२६]के अनुसार बहुतसे युवा-जोड़े [illegible] किये गये। उनके मिथुनीभावसे सृष्टि चली। अब वे [illegible] एकसे उत्पन्न होनेसे आपसमें क्या लगे ? और उनका [illegible] क्या व्यभिचार हुआ ? यह प्रतिपक्षी ही खुले-गलेसे बताव[illegible] तब प्रतिपक्षी इससे सारी सृष्टिको व्यभिचारोत्पन्न माने[illegible] क्या ?। यदि वह यह कहे कि-अमैथुन-योनि वालोंमें [illegible] यानि वाली मर्यादाएँ नियमित नहीं होतीं; उनमें मानुषी-दृ[illegible] कोण नहीं रखा जा सकता; तब यहां भी प्रतिपक्षी सम[illegible] कि-ब्रह्मवैवर्तानुसार श्रीकृष्णने राधाको वामपार्श्वसे प्र[illegible] किया, यहां स्पष्ट अमैथुनयोनिता हुई; और फिर देवा[illegible] तथा मनुष्यमें दिव्य-अदिव्यताके बड़े भारी अन्तर होने[illegible] अमैथुनयोनियोंके व्यवहारको मैथुनयोनिकी तुलासे नहीं [illegible] जा सकता। यहां पर यह वेद-पुराणकी एकवाक्यता सिद्ध [illegible] इसी विशेषताके कारण अणिमादिसिद्धि वशमें होनेसे स्व[illegible] भी श्रीकृष्ण राधासे भी बड़े हो गये; और यह क्रीड़ा यथो[illegible] भी न दिखाई दी।

अब देखिये कि-पूर्वोक्त ब्राह्मणभागात्मक वेदके [illegible] सृष्टि बतानेमें वहां लौकिक मालूम होने वाला [illegible] भी बता दिया गया। यही पुराणमें भी है। तब प्रतिपक्षी [illegible]

यथोक्त सृष्टिकर्ता परमात्माको भी व्यभिचारी कह देगा क्या ? यदि ऐसा है; तो प्रतिपक्षी उस परमात्माको भी सृष्टिके अधिकारसे बाहर कर दे ! पर यह रमण तो रहेगा ही; यह स्वाभाविक है, अमैथुनयोनितावश दिव्य है, चाहे उसे समझानेकेलिए भले ही उसमें लौकिक-पुट भी दे दिया गया हो, जैसाकि–पुराणमें दिया गया है । 'राधा······सृष्टिविधौ प्रकृतिः पञ्चधा स्मृता' (२।१।१)। अब पुराणका कहा हुआ सृष्टचर्थ राधाका प्रकृति होना हमने सप्रमाण दिखा दिया गया, जिसे प्रतिपक्षी छल करके छिपा रहा था; तब हमने छल क्या किया ? क्या पुराणमें कही हुई वास्तविकता बताना छल होता है, और उस वास्तविकताको छिपा देना 'आर्यसमाजी-वैदिकधर्म' हो जाता है ? जब प्रतिपक्षीसे आक्षिप्त पुराणने राधाको पहलेसे ही प्रकृति बता रखा है, और हमने उसे वहांसे ही उद्धृत करके उसे छठे-सुमनमें दिया; तब हमारी घबराहट क्या हुई ? । घबराहट वा छल तो प्रतिपक्षीका है, जो इन बातोंका प्रत्युत्तर न देसकनेसे प्रत्यक्षको भी छिपाकर जनवञ्चन करता है ।

सो जैसे शतपथमें प्रकृति-पुरुषका रमण दिखाया है, वैसा ही पुराणमें भी । इस प्रकृति-पुरुषके रमणको जैसे गीतामें इस प्रकार वर्णित किया है–'मम योनिर्महद् ब्रह्म (प्रकृतिः) तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' (१४ । ३) तासां ब्रह्म (प्रकृतिः) महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता' (४) इसी प्रकार पुराणमें राधा-कृष्णका रमण भी यही प्रकृति-पुरुषका रमण है, केवल सरसता लानेकेलिए लौकिकतामें वर्णित किया गया है । पार्वती यदि जाम्बवती हुई, तो पार्वती भी तो प्रकृति है–'शिवलोके शिवा, त्वं (राधा) च मूलप्रकृतिरीश्वरी' (६७ । ६१) । शिव-विष्णुका पुराणानुसार अभेद है (यह हमने पुराणोंके बहुत प्रमाणोंसे गत दीर्घ-निबन्ध-

में सिद्ध कर दिया है, आगे भी करना है) 'स मां पश्यति विश्वात्मा तस्याऽहं प्रकृतिः शिवा' (देवीभा. ५ । १६ । ३६) । और जाम्बवान् भी कोई साधारण रीछ नहीं था; किन्तु देवावतार दिव्य-ऋक्ष तथा कामरूप (इच्छानुसारी शरीर बना सकने वाला) था, यह वाल्मीकि-रामायणमें स्पष्ट है। 'पूर्वमेव मया (ब्रह्मणा) सृष्टो जाम्बवान् ऋक्षपुङ्गवः' (१ । १७ । ६) इनकी आकृतिमें कामरूपतावश मनुष्य-बहुलता रहती है; इसी कारण उसकी लड़की जाम्बवतीका भी कामरूपतावश मनुष्य शरीर-धारिणी-होनेसे श्रीकृष्णसे विवाह भी हुआ । अतः इसमें प्रतिपक्षियोंसे उपक्षिप्त कोई दोष नहीं आता । प्रतिपक्षीकी बुद्धि ही व्यभिचारमयी है, जिसे सर्वत्र व्यभिचारके अतिरिक्त कुछ सूझता ही नहीं । इस मूल-बातके सिद्ध होजानेसे प्रतिपक्षीसे किये जाते हुए सभी आक्षेपोंका प्रत्युत्तर हो गया । पूर्वापर छिपाकर आक्षेप करने वाले इन लोगोंके कथन पर विश्वास न करके सदा इनसे सावधान रहना चाहिये । सो पुराणोंमें स्पष्ट लिखे हुए राधा-कृष्णके प्रकृति-पुरुषत्वको छिपा देना यह प्रतिपक्षीका ही छल है, हमारा नहीं । यह विद्वान् पाठकोंने समझ लिया होगा । अब प्रतिपक्षीके कुछ अन्य आक्षेप भी संगृहीत करके (जिनका वह भारत-सरकारसे जब्त 'पौराणिकपोलप्रकाश' [श्रीमनसाराम-[illegible] पुस्तकसे पूर्वके संगृहीत किये हुए आक्षेपोंकी भान्ति इनका भी अपनी नोटबुकमें संग्रह करके अपने ट्रैक्ट बना रहा है] परिहृत किये जाते हैं ।–❀

❀ पृ. २०९ पं. ८ में परिवर्धन–'आश्वलायनगृह्य सूत्रके ऋषि तर्पणमें 'सुमन्तु···भारत-महाभारत धर्माचार्याः' [३ । ४ । ४] भारत और महाभारत दो भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंका उल्लेख किया है : इस प्रकार छोटे भारतका बड़े भारतमें समावेश हो जानेसे कुछ कालके बाद-

६ विविध-आक्षेपोंका परिहार।

अब प्रतिपक्षीद्वारा स्त्री-शूद्रोंके यज्ञोपवीत एवं वेदाधिकार-सम्बन्धी तथा अन्य विविध विषयोंपर दिये गये कुछ प्रमाणाभास उपक्षिप्त करके [जिनका उसने अपनेसे पूर्वकी आर्य-समाजी पुस्तकोंसे संग्रह कर रखा है] उनपर संक्षिप्त विचार दिया जाता है।

पार्वतीका जनेऊ (?)

(१) आक्षेप—'ततः शैलवरः सोपि प्रीत्या दुर्गोपवीतकम्। कारयामास सोत्साहं वेदमन्त्रैः शिवस्य च' [शिव. पार्वती. ४७। १] अर्थात् तब शैलराजने प्रीतिपूर्वक वेदमन्त्रोंसे उत्साहके साथ दुर्गा [पारवती(?)]का जनेऊ कराया। यहां पारवती [?]का जनेऊ कराना लिखा है' ['शास्त्रार्थ-चैलेंज का उत्तर' पृ. ५]

प्रत्युत्तर—हमारा यह शास्त्रार्थ विस्तीर्णरूपमें पहले 'सिद्धान्त काशी' [संवत् २००३] में आर्यसमाजियोंसे हो चुका है, और उसीका संक्षेप 'आलोक' ग्रन्थमालाके तृतीयपुष्पमें आ गया है। सो इन सब बातोंका प्रत्युत्तर उन्हींमें देखना चाहिये। कुछका समाधान यहां भी किया जाता है। जब तक प्रतिपक्षी श्लोकोंका कुछ अंश न छिपावे, अथवा गलत अर्थ न करे; तब तक उसके पेटमें पानी कैसे पचे? और अपने पक्षकी दुर्बलताको कैसे छिपावे? उक्त श्लोकका अन्वय इस प्रकार है—'शैलवरः प्रीत्या वेदमन्त्रैश्च शिवस्य दुर्गोपवीतं कारयामास' अर्थात् शैलराजने शिवके विवाहके समय शिवका दुर्गोपवीत कराया। पर प्रतिपक्षीने उसे छिपाकर पार्वतीका जनेऊ कराना लिख दिया। 'शिवस्य दुर्गोपवीतं कारयामास' जो पाठ था, उसमें 'शिवस्य' इस 'प्रत्यक्ष-विद्यमान-

—छोटा भारत नामक स्वतन्त्रग्रन्थ शेष नहीं रहा' [गीता-विमर्श पृ. १२-१३ में आर्यसमाजी श्रीराजेन्द्र जी]

शब्दको छिपा लिया; उसका अर्थ किया ही नहीं। क्या उसकी यही सत्यवादिता है? क्या यह जनवञ्चना नहीं?

सो शिवका विवाहके समय दुर्गोपवीतका कराना लिखा है। यह एक पुराणकालकी कोई वैवाहिक-रस्म विशेष है, जनेऊ नहीं। यदि जनेऊ होता; तो उसे 'दुर्गोपवीत' न लिखकर 'यज्ञोपवीत' लिखा जाता। यदि शिवके 'दुर्गोपवीत' का अर्थ 'जनेऊ' होता, तो क्या यह शिवके ब्रह्मचर्याश्रमका आरम्भ हो रहा था? क्या शिव विवाहके समय आठ वर्षके थे? जनेऊ तो ८ वर्षकी अवस्थामें होता है। क्या विवाह-गृहस्थाश्रम तक शिवजीका यज्ञोपवीत ही नहीं हुआ था? जनेऊ तो ब्रह्मचर्याश्रमका आरम्भक होता है, यहां तो उनके ब्रह्मचर्याश्रमकी समाप्ति हो रही थी।

इस कारण स्पष्ट है कि यहां दुर्गोपवीत एक वैवाहिक-रस्म थी, जो हिमालयने शिवकी कराई; क्योंकि—विवाहके समय कई ग्रामधर्म, कुलधर्म करने पड़ते हैं। जैसे कि आश्वलायनगृह्यसूत्रमें लिखा है—'अथ खलु उच्चावचा जनपदधर्मा ग्रामधर्माश्च तान् विवाहे प्रतीयात्' [१। ७। १]। गार्ग्यनारायणकी वृत्तिमें लिखा है—'कुलधर्मा अपि कार्याः'। इसी बातको सोचकर प्रतिपक्षीने 'शिवस्य दुर्गोपवीतं' यह शब्द ही छोड़ दिये। सो जैसे आगेके गरुड-पुराणके वचनमें एक पवित्रे-कण्ठी पहरनेका वर्णन आता है, वैसे ही यहांपर भी 'दुर्गोपवीत' नामक विशेष-कण्ठी विवाहमें पहरनेका वर्णन है, जनेऊ नहीं, क्योंकि—जनेऊका ब्रह्मचर्याश्रमके समाप्त कराने वाले विवाहमें पहराना शास्त्रीय-व्यवस्था नहीं।

यदि यहां पार्वतीका जनेऊ होता; तो 'दुर्गाया यज्ञोपवीतं कारयामास' होता; पर यहां तो 'शिवस्य' में षष्ठी है, पार्वतीमें नहीं। यदि 'दुर्गाया उपवीतं' यह यहां विग्रह होता; तो समासमें

गौणता हो जानेसे अविमृष्टविधेयांश-दोष उपस्थित होता। अतः यहां यह अर्थ नहीं; और हो भी नहीं सकता; क्योंकि-पार्वती का विवाहके समय जनेऊ माना जाय; कारण-विवाहका ही वहां प्रकरण है, तो क्या पार्वतीकी इस समय ८ वर्षकी अवस्था थी? क्या आप लोग ८ वर्षमें लड़कीका विवाह मानते हैं? यदि प्रतिपक्षियोंके अनुसार पार्वती इस समय २५ वर्षकी थी; तब क्या लड़कियोंका २५ वर्षमें जनेऊ कराना शास्त्रीय है? इससे स्पष्ट है कि-प्रतिपक्षीके इस पक्षमें बहुत अनुपपत्तियां आती हैं; अतः उसका यह पक्ष निर्मूल है। अथवा वादितोष-न्यायसे यदि दुर्गाका भी जनेऊ माना जावे; तो वह देवयोनि थी। देवयोनिमें अलौकिकतावश कई मानुषिक-व्यवहारोंसे विरुद्ध व्यवहार भी दीखा करते हैं, इससे वे मनुष्योंसे अनुकरणीय नहीं हो जाते। अन्यथा प्रतिपक्षी शिव आदिके जो लोकविरुद्ध-व्यवहार दिखलाता है जिन्हें वह व्यभिचार बताता है, क्या वह अपनेसे आचरणीय समझता है? कभी नहीं? अमैथुनयोनि और मैथुनयोनि वालोंके व्यवहार कभी समान नहीं हो सकते।

शूद्रोंका जनेऊ और गरुड-पुराण (?)

[२] आक्षेप—गरुण [?] पुराणमें लिखा है—'कुशसूत्रं द्विजातीनां, राज्ञां कौशेयपट्टकम्। वैश्यानां चोरणं क्षौमं शूद्राणां शणवल्कजम्। कार्पासं पद्मजं चैव सर्वेषां शस्तमीश्वरः। ब्राह्मण्या कर्तितं सूत्रं त्रिगुणं त्रिगुणीकृतम्' [प्रा. का. ४३। ६-११] यहां शूद्रोंका यज्ञोपवीत सनका बताया गया है। पुराणकारने स्पष्ट-शब्दोंमें ब्राह्मणी-स्त्रियोंका कर्तव्य बताया है कि—वे जनेऊ बनाकर चारों वर्णोंको दिया करें। इस पुराणके प्रमाणसे शूद्रोंको यज्ञोपवीत धारण करनेका पूर्ण अधिकार होना स्पष्ट है।

प्रत्यु—प्रतिपक्षीने गरुडपुराणका वचन देकर उससे शूद्रोंको भी यज्ञोपवीतका अधिकार बताया है। जब तक प्रतिपक्षी पुराण-आदिका पूर्वापर न छिपावे; वा पुराणादिका नाम लेकर गलत बात न लिखे; तबतक उसे अपने आर्यसमाजी होनेका आनन्द नहीं आता। जब पुराणके वचनसे प्रतिपक्षीका तथाकथित मत उसकी दृष्टिमें समर्थित होता हो; तब वह पुराणकारका तथा पुराणका ही वचन बन जाता है। जब पुराण प्रतिपक्षीके मतका खण्डन कर दे; तब वह वचन पुराणकारका न होकर प्रक्षिप्त हो जाता है। इन लोगोंकी ऐसी प्रवृत्ति देखकर चित्त खिन्न होता है, और विचार आता है कि—ऐसे असत्यवक्ताओंको भी केवल अपने साम्प्रदायिक-भाई होनेके नाते उस सम्प्रदायके व्यक्ति अपनी आंखोंपर बिठाते हैं; और हम-जैसोंके सत्यव्यवहार वाले होनेपर भी अपने मतका विरोधी जानकर हमें घृणित-दृष्टिसे देखते हैं।

'आलोक'-पाठकोंने देख लिया होगा कि—हमने इस प्रतिपक्षी के कितने असत्यवाद तथा जनवञ्चन दिखाये हैं, लेकिन फिर भी ऐसे व्यक्तियोंको अपने असत्यवादपर खेद नहीं आता। हम डंकेकी चोट कहते हैं कि—गरुडपुराणने शूद्रोंको यज्ञोपवीतका अधिकार कहीं भी नहीं दिया। यह जो 'कुशसूत्रं द्विजातीनां' वचन प्रतिपक्षीने गरुडपुराणका दिखलाया है; इसमें 'यज्ञोपवीत' शब्द है कहां? यह तो उसमें विष्णुका तथा शिवका पवित्रा गलेमें पहनना कहा है, जैसे कि—आज भी वैष्णव लोग गलेमें कण्ठी पहरते हैं, कालभैरवका काला धागा श्रद्धालु लोग काशीसे लाकर अपने गलेमें पहरते हैं। यह यज्ञोपवीतसे पृथक् होता है। इसमें अधिकार-अनधिकारकी कुछ भी बात नहीं होती। इस पवित्रे का फल यह लिखा है—'पवित्रं वैष्णव तेजः सर्वपातकनाशनम्' (गरुडपु. आचारकाण्ड पूर्वखण्ड ४३। ३४) धर्म-

कामार्थसिद्धयर्थं स्वकण्ठे धारयाम्यहम्' (३५) यह मन्त्र वहांपर उक्त पवित्रा पहरनेके समय बोलना पड़ता है, परन्तु यज्ञोपवीत पहरनेमें तो 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं (पार २।२।११) यह मन्त्र बोलना पड़ता है। 'वृणीष्व पवित्राख्यं' (४३। ३) 'पवित्रं' [४३। २६, २६, ३१] इससे स्पष्ट है कि–इस कण्ठीका नाम 'पवित्रा' है, यज्ञोपवीत नहीं।

गरुडपुराणके वचनमें कुशसूत्रका पवित्रा ब्राह्मणोंकेलिए लिखा है; तो क्या ब्राह्मणोंका जनेऊ कुशका होता है? और वहाँ 'कार्पासं चैव सर्वेषां' लिखा है कि रुईका पवित्रा सब पहरें। पर मनुजीने 'कार्पासमुपवीतं स्याद् विप्रस्य' [२। ४४] रुईका जनेऊ केवल ब्राह्मणोंकेलिए लिखा है; अतः स्पष्ट है कि—गरुडपुराण-के उक्त वचनमें यज्ञोपवीतकी कुछ भी चर्चा नहीं। मनुजीने 'शणसूत्रमयं राज्ञः' [२। ४४] सनका जनेऊ क्षत्रियकेलिए लिखा है, पर गरुडपुराणमें 'शूद्राणां शणवल्कजम्' लिखा है। सो स्पष्ट है कि—गरुडपुराणके उक्त वचनमें शूद्रोंके यज्ञोपवीतका कहीं गन्ध भी नहीं।

अथवा–यदि वादितोष-न्यायसे प्रतिपक्षीकी ही बात ठीक मानी जावे, कि–पुराणमें शूद्रके यज्ञोपवीतकी ही बात है; तो 'श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र विद्यते। तत्र श्रौतं प्रमाणं तु द्वयोः (स्मृतिपुराणयोः) द्वैधे स्मृतिर्वरा' (१। ४) इस वेद-व्यासस्मृतिके वचनसे तथा 'विरोधो यत्र तु भवेत् त्रयाणां [श्रुति-स्मृति-पुराणानां] तु परस्परम्। श्रुतिस्तत्र प्रमाणं स्याद् द्वयोः (स्मृति-पुराणयोः) द्वैधे स्मृतिर्वरा' (देवीभाग. ११। १। २२) इस पुराणके वचनसे गरुड-पुराणका वचन स्मृति-विरुद्ध होनेसे बाधित हो जायगा। अतः स्पष्ट है कि–गरुड़-पुराणके उक्त वचन-में जनेऊ की कोई चर्चा नहीं, किंतु एक डोरेका वर्णन है। प्रति-

पक्षीका उसे जनेऊ लिखना असत्यवाद एवं जनवञ्चन है, इसके लिए अन्य भी गरुड़पुराणके ही प्रमाण हैं। देखिये–

गरुडपुराणमें इसी डोरेकेलिए लिखा है—'प्रावृट्काले तु ये मर्त्या नार्चिष्यन्ति पवित्रकैः। तेषां सांवत्सरी पूजा विफला भविष्यति' [४३। ५] इसका भाव यह है कि—इस डोरेको वर्षा-ऋतुमें तो जरूर पहिने। 'विष्णवे वृद्धिकार्ये च गुरोराग-मने तथा। नित्यं पवित्रमुद्दिष्टं प्रावृट्काले त्ववश्यकम्' [६] अर्थात्–विष्णुके पूजन आदिमें इस सूत्रका पहनना जरूरी है, अन्य समयमें नहीं। पर यज्ञोपवीतकेलिए ऐसा नहीं, उसे तो हर समय पहनना पड़ता है। विष्णु-पूजाके बाद इस पवित्रेका विसर्जन कर देना पड़ता है। देखिये–'सांवत्सरीमिमां पूजां सम्पाद्य विधि-वन्मया। व्रजेः पवित्रकेदानीं विष्णुलोकं विसर्जितः' [४३] तब क्या प्रतिपक्षी वार्षिक पूजाके बाद यज्ञोपवीतको उतारकर फेंक दिया करता है?

यह ४३ वें अध्यायमें विष्णुपवित्रेका वर्णन है; अब उसी गरुडपुराणके ४२ अध्यायमें शिवपवित्रा भी देखें। 'मन्त्रितानि पवित्राणि स्थापयेद् देवपार्श्वतः' [४२। १७] शिवलिङ्गके पास कई पवित्रे रखने पड़ते हैं। तब क्या जनेऊ भी विष्णु तथा शिवके पृथक्-पृथक् होते हैं? इस पवित्रेको ब्राह्मणीसे कता हुआ कहा है, सो यह यज्ञोपवीत कैसे हो गया?। कई डोरे भी वह कातती है; तो क्या वे यज्ञोपवीत हो जाते हैं? अब गरुड़-पुराणका मत सुनिये, वह शूद्रको उक्त सूत्र तो देता है, पर शूद्र-को यज्ञोपवीतका अधिकार नहीं देता—

'शुश्रूषैव द्विजातीनां शूद्राणां धर्मसाधनम्' (४६। ४) यहां पर शूद्रोंकी केवल द्विजसेवा ही अधिकृत की गई है, यज्ञादि अथवा अध्ययन नहीं। तब वह यज्ञोपवीत कैसे पहरेगा?'-

शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा, द्विजो यज्ञान् न हापयेत्' [९६। २८] यहां शूद्रोंकी द्विजसेवा ही बताई गई है, वैदिक-यज्ञ नहीं। द्विजोंको वैदिक यज्ञोंकी आज्ञा दी गई है, तब शूद्र यज्ञोपवीत कैसे पहर सकेगा? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यकी द्विजता बताते हुए उक्त-पुराण कहता है—

'मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धनम्' [९४। २४] 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशस्तस्मादेते द्विजातयः' (२५) यहां मौञ्जी-बन्धन (यज्ञोपवीत) संस्कार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंका ही बताया गया है, और उसीसे उन्हींका द्विजत्व बताया गया है। शूद्रकी तो कोई उसमें चर्चा ही नहीं। 'वेद एव द्विजातीनाम्' (२६) यहां तो वेदमें द्विजोंका ही अधिकार बता कर शूद्रोंको वेदसे पृथक् कर दिया गया है। 'ब्रह्म-क्षत्रिय-विट्-शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः। निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः' [९३। १०] यहां तो प्रतिपक्षीसे मान्य गरुडपुराणने स्पष्टताकी सीमातीतता कर दी है। वर्ण चार बतलाकर आदिम तीन वर्णोंको ही द्विज और उन्हींको वेदाधिकार दिया है। इससे शूद्र वेद एवं वेदाधिकारप्रद यज्ञोपवीत-सूत्रसे वञ्चित रहा। इसीको उक्त पुराणने अन्यत्र भी स्पष्ट कर दिया है—'गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम्। राज्ञामेकादशे, सैके विशामेके यथाकुलम्' [९४। १] यहां शूद्रोंका उपनयनमें अधिकार-राहित्य स्पष्ट होगया। स्वा.द.जीने भो स.वि.में शूद्रोंको जनेऊ नहीं दिया।

'तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहश्च समन्त्रकः' [९३। १३] यहां स्त्रियोंकी क्रियाएं भी अमन्त्रक कहकर उनका भी उपनयनमें अधिकाराऽभाव सूचित कर दिया। केवल अपवादवश स्त्री-विवाहको ही समन्त्रक कहा गया। तब उसी गरुडपुराणसे प्रतिपक्षी स्त्री-शूद्रोंका यज्ञोपवीत सिद्ध करे; तो यह तो वदतो-

व्याघात हो जायगा। तब विष्णुपवित्रेको यज्ञोपवीत कहना यह प्रतिपक्षीका जनवञ्चन ही है। अब उसकी शक्ति नहीं कि-उसे यज्ञोपवीत सिद्ध कर सके। वादि-प्रतिवादि-मान्य मनुजी तो शूद्रको यज्ञोपवीत देते नहीं; तब प्रतिपक्षी स्वमान्य मनुस्मृतिको इस विषयमें छोड़कर अपने अमान्य पुराणसे ही शूद्रका यज्ञोपवीत ढूँढ़नेका उपहासास्पद प्रयत्न क्यों करता है?

स्त्रीका जनेऊ वेदमें (?)

(३) आक्षेप-'भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता' (ऋ. १०। १०९।४) इसमें ब्राह्मणकी पत्नीको उपनीता (यज्ञोपवीत धारण करने वाली) बताया है। (शास्त्रार्थ-चैलेञ्जका उत्तर पृ. ५)।

प्रत्यु-यहां भी प्रतिपक्षीका छल है। यहांपर 'उपनीता' का अर्थ 'उपस्थापिता' है; जनेऊ वाली नहीं; तभी तो इसी प्रकारके अथर्ववेदसं. के मन्त्रमें 'भीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता' (५। १७। ६) यहां 'अपनीता' शब्द है। यदि प्रतिपक्षीसे दिये मन्त्रमें उसका 'उपनयन की हुई' अर्थ है, तो यहां 'अपनयनकी हुई' अर्थ है; तब इन दो परस्पर-विरुद्ध मन्त्रोंका क्या सामञ्जस्य हुआ? इस लिए स्पष्ट है, यहां 'लाई गई' और 'हटाई गई' अर्थ है; उपनयनका कोई गन्ध भी नहीं। जैसे स्वा.द.जीने 'तस्तारं' में 'तारं' देखकर 'ताराख्यं यन्त्रं' अर्थ कर दिया था; वैसे ही प्रतिपक्षीने भी यहां 'उपनीता' शब्द देखकर 'यज्ञोपवीत धारण करने वाली' अर्थ कर दिया है। इस विषयमें विशेष-मीमांसा 'आलोक' के तृतीय-पुष्प (पृ. ९८-९९-१००) में देखिये।

स्त्रीकी सन्ध्या (?)

(४) आक्षेप—सीताजी भी सन्ध्या करती थीं 'सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी' (रामा. सुन्दर. १४। ५०)

(प्रव. रह. पृ. ११७)।

प्रत्यु—सन्ध्यामें वेदमन्त्रोंकी अनिवार्यता नहीं होती । यदि ऐसा हो, तो प्रतिपक्षीकी सन्ध्यामें जो कि 'ओं वाक्-वाक्' तथा 'ओं भूः पुनातु' तथा 'ओं भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः' यह सप्त-व्याहृतियों वाला मन्त्र-यह तीन मन्त्र हैं, प्रतिपक्षीके किस वेदके हैं– यह उसे बताना होगा ? यदि वेदसे न बता सके; तो निश्चय हो गया कि–वेदमन्त्रोंकी सन्ध्या होगी अधिकारियोंकेलिए; अनधिकारियोंकेलिए बिना वेदमन्त्रोंकी; केवल भगवान्के ध्यान वा स्तुतिके अपनी देशभाषाके कई शब्द भी सन्ध्याशब्दवाच्य होते हैं। स्वा. दयानन्दजीने उपनयनरहित ठाकुर-महाशयको 'ओं नमः परमेश्वराय सच्चिदानन्दस्वरूपाय सर्वगुरवे नमः' यही स्वनिर्मित-सन्ध्या करनेकेलिए कह दिया था । (देखो दया-नन्द-प्रकाश १२० पृष्ठ।) इस विषयमें अधिक-विवेचना 'आलोक'-के तृतीयपुष्प (पृ. १२५-१२६-१२७-१२८)में देखिये ।

स्त्री-शूद्रोंको वेद वा उपनयनका अधिकार (?)

(५) आक्षेप–'यथेमां वाचं कल्याणीं' (यजुः २६ । २) इसमें स्त्री, शूद्र वा चाण्डाल ही नहीं, मनुष्यमात्रको सम्पूर्ण वेद पढ़ने का अधिकार दिया है । (शास्त्रार्थ. पृ. ६)

प्रत्यु—यह उक्त मन्त्रका अर्थ गलत है क्योंकि–यहां 'वेद वाचं' शब्द ही नहीं । तब उससे वेद-वाणीका ग्रहण कैसे हो सकता है? वेदकेलिए तो 'वेदमाता · · ·द्विजानाम्' (अ. १९।७१।१) यह द्विजोंका अधिकार आया है, अतः प्रतिपक्षीका पूर्वोक्त मन्त्रार्थ इस वेदके स्पष्ट-वचनसे विरुद्ध होनेसे गलत है। इस विषयमें मीमांसा 'आलोक' तृतीयपुष्प (पृ. १ से पृ. ५४ तक) में देखिये । 'न शूद्रजनसंनिधौ' (४ । १०८) वेदानुवादक मनु-आदि धर्मशास्त्र शूद्रके समीप अन्यको भी वेद पढ़नेका निषेध करते हैं;

(२ । १७३ पद्यमें) अनुपनीतको क्रमिक वेदमन्त्रोच्चारणका निषेध करते हैं, 'स्त्रिया क्लीबेन च हुते न भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित्' (मनु. ४ । २०६) 'न वै कन्या [अविवाहिता] न युवतिः [विवाहिता स्त्री] · · · होता स्यादग्निहोत्रस्य' (मनु. ११। ३६-३७) स्त्रियोंको वैदिक-होता बनना निषिद्ध है। तब अनुपनीत स्त्री-शूद्रको वेदाधिकार कैसे होगा ?

(६) आक्षेप–'पञ्च-यज्ञविधानं तु शूद्रस्यापि विधीयते, तस्य प्रोक्तो नमस्कारः' (लघुविष्णुस्मृति ५ । १०) इसमें शूद्रको पञ्चयज्ञ वा नमस्कार करनेका पूर्ण अधिकार दिया है' [पृ. ६]

प्रत्यु–इससे शूद्रको वेदाधिकार कैसे हो गया ! प्रतिपक्षीको श्लोकोंका अर्थ करना भी खूब आता है ! लिख दिया-नमस्कार करनेका अधिकार दिया गया है, तो नमस्कार करनेमें क्या वह वेदाधिकारी हो जायगा । यहां तो यह अर्थ है कि–नमस्कार-मन्त्र से शूद्र भी पञ्चयज्ञ करे–ब्रह्मयज्ञमें 'ब्रह्मणे नमः' पितृयज्ञमें 'पितृभ्यो नमः' इस रूपमें पञ्चयज्ञ करे। इससे वह वेदाधिकारी सिद्ध नहीं हो जाता । इस विषयमें अधिक-विवेचन 'आलोक' तृतीय-पुष्प [पृष्ठ ३३३-३३५] में देखिये ।

(७) आक्षेप–'प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमानयन्' [गोभिलगृ. २ । १ । १९] यहांपर कन्याको जनेऊ पहिनाकर पतिके निकट लाना कहा है [पृ. ८]

प्रत्यु–यह लड़कीके विवाह-प्रकरणका वचन है। जनेऊ ८ वर्षमें होता है; तब क्या प्रतिपक्षी ८ वर्ष वाली लड़कीका विवाह वैदिक मानता है ? स्पष्ट है कि—उसका यह अर्थ गलत है। प्रकरणानुसार अर्थ यह है कि–वर अपनी वधूको एक वस्त्र देता है, और वह उस वस्त्रको यज्ञोपवीतकी भांति जैसे कि–स्त्रियां दुपट्टा पहनते हैं–उसे पहिनती है, यही 'यज्ञोपवीतिनी'का

है। स्वा. द. जीने भी यही माना है। जैसे कि—संस्कारविधिमें स्वा. द. जीने लिखा है—'यां अकृन्तन्' मन्त्रको बोलके वधूको वर उपवस्त्र दे, और वह [वधू] उपवस्त्रको यज्ञोपवीतवत् धारण करे' [पृ. १४१]। और फिर उसी वाधूयवस्त्रको विवाहके बाद वधू ब्राह्मणको दान दे देती है। स्पष्ट है कि—यह जनेऊ नहीं। इस विषयमें अधिक-विवेचना 'आलोक' तृतीय-पुष्प [पृ. ८५-८६-८७-८८-८९-९०-९१-९२-९३-९४-९५-९६-९७) में देखिये।

(८) आक्षेप—'द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनं वेदाध्ययनम्। वधूनां तु उपस्थिते विवाहे कथञ्चिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्यः' [मध्वाचार्य] यहांपर स्त्रियोंके यज्ञोपवीत धारण करनेका पूर्ण समर्थन हो गया [पृ. ९]।

प्रत्यु—ब्रह्मवादिनीको सारी आयु कुमारी रहना पड़ता है; और वे प्रायः ऋषिका होती हैं। तब विवाहिताका तो उपनयन तथा वेदाध्ययन सिद्ध न हुआ। वधुओंको उपनयन तो कहा है; पर वेदाध्ययन नहीं; यहां 'उपनयन' भी यज्ञोपवीतवाचक नहीं, किन्तु वाधूयवस्त्रवाचक है। इस विषयमें विशेष-विवेचना 'आलोक'-तृतीय पुष्प [पृ. ६९-७०-७१-७२-७३-७४-७५-७६-७७-७८-७९-८०-८१-८२-८३-८४-८५] में देखिये। स्त्री-शूद्रोंके उपनयन एवं वेदाधिकारमें 'आलोक'का तृतीय पुष्प सम्पूर्ण ही पठन-योग्य है। जिज्ञासु उसे मंगा लें। [मूल्य ३।।)]।

परस्परमें नमस्ते (?)

(९) आक्षेप—परस्परमें 'नमस्ते' करनेकी आज्ञा वेदमें दी है—'नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च' [यजु. १६। ३२] यहांपर छोटे-बड़ोंको तथा शूद्रादि सभीको परस्पर नमस्ते करना चाहिये' यह आज्ञा है [शास्त्रार्थ पृ. ४]

प्रत्यु—इस मन्त्रमें 'नमस्ते' है कहां, और उसकी आज्ञा भी कहां है? यहां रुद्रको ही नमस्कार कही है; क्योंकि—इस मन्त्रमें रुद्र-देवता है। रुद्रको 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' (श्वेताश्व. ३। २०) का लक्ष्य करके ज्येष्ठ-कनिष्ठ कहा है; इस विषयमें विशेषरूपसे विवेचना 'आलोक' ग्रन्थमाला १-२ पुष्प [पृ. १३८-१४२, १५६-१५७, २०१-२११] में देखिये।

'गोमांसभोजन'का अर्थ।

(१०) 'पञ्चकोटिगवां मांसं सापूपं स्वन्नमेव च' (ब्रह्मवैवर्त. प्रकृति. ६१। ९८) यहां ब्राह्मण-लोगोंका पांच करोड़ गायोंका मांस व मालपुवा खाना लिखा है' [पृ. ११]

प्रत्यु—मांसके साथ मालपुवेका कोई मेल नहीं। यह वचन अथर्ववेदसं० के 'अपूपवान् मांसवान् चरुरेह सीदतु' [१८। ४। २०) इस वेदमन्त्रकी व्याख्या है; तो क्या वैदिकम्मन्य-प्रतिपक्षी वेदमें भी यही अर्थ समझेगा? यदि ऐसा है; तो उसे पहले वेद-पर आक्षेप करना चाहिये, फिर वेदभाष्य पुराणोंपर। वस्तुतः यहां 'मांस' का अर्थ परमान्न [खीर] है, जैसे कि—शतपथ-ब्राह्मणमें लिखा है—'एतदु ह वै परममन्नाद्यं यन्मांसम्' [११। ७। १। ३) यहां 'मांस' 'परमान्न'का नाम आया है और 'परमान्न' खीरका नाम होता है—'परमान्नं तु पायसम्' [अमर. २। ७। २४]। इसलिए महाभारतके 'गृहान् अभ्यागतान् विप्रान् अतिथीन् परिवेषकाः। पक्वापक्वं दिवारात्रं वरान्नममृतोपमम्' [द्रोण० ६७। २) यहां रन्तिदेवकी कथामें 'वरान्न' शब्द आया है; जो यहां 'मांस' का 'पायस' अर्थ बता रहा है। पुवा और खीरका मेल तो देखा गया है, मांसका नहीं। अतः उक्त-स्थलमें 'पायस' ही अर्थ है। गोमांसका प्रयोग यदि प्रतिपक्षी देखना चाहे; तो अपने गुरुके आदिम-सत्यार्थप्रकाशमें देखे, जहां लिखा

है—'जो वन्ध्या गाय होती है, उसको भी गोमेधमें मारना लिखा है ·····जो मांस खाये अथवा घृतादिकोंसे निर्वाह करे, वे भी सब अग्निमें होमके बिना न खाँय' इत्यादि (१० समु. पृ. ३०३) इस विषयमें अधिक 'आलोक' के छठे 'सुमन' (पृ० ४१७ से ४३६ पृष्ठ तक, तथा अन्य पृष्ठों) में देखें।

(११) आक्षेप—रुक्मिणीकी शादीमें भयंकर वधशाला लिखी है (ब्रह्मवै० कृष्ण-जन्म० १०५) [पृ०. ११]

प्रत्यु—यह पशुहिंसाका प्रस्ताव रुक्मीका था; जो अपनी बहन रुक्मिणीका विवाह शिशुपाल-दैत्यसे करना चाहता था। तब उसके साथ 'दन्तवक्त्र' आदि सैकड़ों दैत्यों तथा उनकी फौजने भी आना था। रुक्मी भी आसुरी प्रकृतिका था; पर रुक्मिणीके पिता भीष्मक धार्मिक थे, 'यैः संचरन्ति उभये भद्रपापाः' (अ. १२।१।४७) इस मन्त्रके अनुसार भले-बुरे दोनों प्रकारकी प्रकृति वाले लोग पृथिवीमें रहते हैं। सो वे (भीष्मक) अपनी लड़कीका विवाह दैत्यसे नहीं करना चाहते थे; अतः उन्होंने रुक्मिणीका विवाह श्रीकृष्ण-भगवान्‌से स्थिर किया था (ब्रह्मवै. १०५।३४) मन्त्रीके साथ मन्त्रणा करके उनने श्रीकृष्णके पास बारात लानेकेलिए सन्देसा भी भेज दिया था। (१०५। ६५)। उस समय आकर श्रीबलरामने रुक्मीको हराकर बाँध दिया था, शिशुपाल, दन्तवक्त्रादिको मार-पीटकर भगा दियो था' (१०७। १-१६) तब रुक्मीका वैवाहिक-पशुहिंसाका प्रस्ताव खटाईमें पड़ जानेसे वधशाला वहां नहीं बनी, किन्तु 'भक्ष्यपूर्णां सुधोपमम्' (१०७।३३-३४) 'अमृतं क्षीरभोजनम्'के अनुसार खीर खिलाई गई। इस विषयमें स्पष्टता 'आलोक' के छठे पुष्प (पृ. ४३२-४३३) में देखें।

नियोग-व्यवस्था।

(१२) आक्षेप—सनातनधर्ममें नियोग-व्यवस्था है, राजा पा ने अपनी स्त्री कुन्ती-माद्रीसे नियोग करनेको कहा (महाभार इससे महाभारतकालमें नियोगकी व्यवस्था थी' ('सनातनध नियोग-व्यवस्था' पृ० ११)

प्रत्यु—यह स्वा. द. वाला वैषयिक-नियोग नहीं। यहां देवताओंके वरदानसे पाण्डवोंकी उत्पत्ति बताई गई है, मैथुन नहीं। इस विषयमें 'नियोग और मैथुन' आदि निबन्ध 'आलो के अष्टम-पुष्पमें देखिये। वह पुष्प छप रहा है। शीघ्र प्रकाशि होगा।

अश्वमेध-यज्ञमें रानीका हय-संयोग (?)

१३ आक्षेप—'अश्वमेध यज्ञमें आपके महीधरजी-द्वारा प्र शित विधिके अनुसार भगवान्-रामकी माता कौशिल्या (? आदि रानियोंको 'हयेन समयोजयन्' लिखकर यज्ञोय-घोड़े साथ पौराणिक-पण्डितोंने नियोजित (संभोग) करा दिया था (देखो वाल्मी. बाल. सर्ग १४)। स्त्रियोंके साथ घोड़ोंसे संभो कराना, क्या यह भी सनातनधर्म है? आपके यहां अवतारों पैदायशकेलिए गर्भाधानके तरीके भी विलक्षण प्रकारके का लाये जाते हैं। इस प्रकार जो पैदा होगा; उसकी आकृति घो की होगी, या मनुष्यकी? और घोड़ेका पुत्र होगा या मनुष्य (शास्त्रार्थ-चैलेञ्ज पृ. १९-२०)

प्रत्युत्तर—प्रतिपक्षीका आक्षेपका तरीका ऐसा गन्दा, अस एवं निर्लज्ज तथा फिर पूर्वापर-प्रकरणको छिपानेके का जनवञ्चक होता है, जिससे असभ्य लोगोंपर उसका प्रभाव प पूर्वापर-प्रकरणको न देखने वालोंको भ्रम पड़ जानेकी सम्भ बना रहती है। यदि प्रतिपक्षी अश्वमेधके अश्वका विषय ठी

ठीक जानना चाहता हो; तो 'श्रीमहीधरका 'गणानां त्वा' मन्त्रका भाष्य' निबन्ध 'आलोक'के पञ्चम-पुष्प (पृ. ७७१ से ८०६ पृष्ठ तक) में देखें। यहां उसका फिर दोहराना व्यर्थ है। संक्षेपसे कुछ पंक्तियां लिखते हैं—

वाल्मीकि-रामायणका प्रतिपक्षीने 'हयेन समयोजयन्' इतना प्रमाण देकर कौशल्या-आदिका घोड़ेसे पौराणिक-पण्डितों द्वारा सम्भोग कराना बताया है; इस श्लोकका अधूरा अंश देकर प्रतिपक्षीने १४ वें सर्गके ३३-३४ इन दो श्लोकोंकी पूरी, तथा एक श्लोककी पौनी चोरी की है। इसी चोरीसे यह लोग जनताको भ्रममें डालनेका पाप कमाकर अपना पेट भर रहे हैं। वे प्रतिपक्षीसे छिपाये हुए पद्य यह हैं—

'कौशल्या तं हयं तत्र परिचर्य (परिक्रम्य) समन्ततः। कृपाणैर्विशशासैनं त्रिभिः परमया मुदा' (१।१४।३३) इस पद्यमें कौशल्या-द्वारा तीन कृपाणोंसे, अथवा कृपाणके तीन वारोंसे अश्वका विशसन (हनन) कहा है, जैसे कि अश्वमेधादि-यज्ञोंमें विधि होती है। तो क्या मरे हुए घोड़ेके साथ प्रतिपक्षी रानियोंका सम्भोग करावेगा? ऐसी विद्या क्या उसकी डाक्टरीमें है?। अथवा 'परमैश्वर्यकेलिए बैलसे, छेरीसे भोग करें [उपयोग लें]; (यजुः २१।६०) इस स्वा. द.के भाष्यका उसके दिल-दिमागपर प्रभाव पड़ा हुआ है?।

अश्वमेधके अश्वके मारनेकी साक्षी न केवल रामायणमें बल्कि-महाभारतमें भी है। देखिये—'ततः संज्ञप्य तुरगं विधिवद् याजकस्तदा। उपासंवेशयन् राजन्! ततस्तां द्रुपदात्मजाम्' (आश्वमेधिकपर्व ८९।२)। यहां हननका पर्यायवाचक शब्द 'संज्ञप्य' है, जिसका अर्थ 'मारकर' है। 'मारण-तोषण-निशामनेषु ज्ञा' (८११) मित्संज्ञक धातुओंमें 'ज्ञा' का अर्थ मारना सबसे पूर्व

लिखा है। यहांकी 'सिद्धान्तकौमुदी' की 'तत्त्वबोधिनी' तथा 'बालमनोरमा' टीकामें लिखा है—'पशुं संज्ञपयति-मारयतीत्यर्थः'। स्वा. द. जीसे संगृहीत धातुपाठके पृ. १२ में भी यह अर्थ लिखा है। स्वा० द० जीके ही 'आख्यातिक' भ्वादिगण (पृ० ८३) में भी ऐसा ही अर्थ लिखा है। यह वेदाङ्गकी साक्षी है। अब ब्राह्मणभागात्मक-वेदकी साक्षी भी देखिये—'घ्नन्ति वै एतत् पशुम्, यद् एनं संज्ञपयन्ति' (शतपथ. १३।२।८।२)।

तब जब अश्वमेधयज्ञका अश्व मृतक है, कौसल्याने उसे जबकि कृपाणसे मार दिया, तब उस मृतक-अश्वसे कौसल्याका सम्भोग अर्थ कहांसे निकल सकता है? क्या पतिके मृतक हो जानेसे हो गई हुई विधवाएं उस योगशक्तिरहित मृतक-पतिसे प्रतिपक्षीके मतमें सम्भोग कर सकती हैं? रामायणका पूर्वसे अग्रिम पद्य यह है—'पतत्रिणा तदा सार्धं सुस्थितेन च चेतसा। अवसद् रजनीमेकां कौसल्या धर्मकाम्यया' (१४।३४) सो यहां मृतक-अश्वके साथ रात भर रहना धर्मकामनासे कहा है, रतिकामनासे नहीं। प्रतिपक्षी यहां प्राचीन-रचनाओंसे कितना बलात्कार करता है?

अगला पद्य यह है कि—'होताऽध्वर्युस्तथोद्गाता हयेन समयोजयन्। महिष्या परिवृत्त्याऽथ वावातामपरां तथा' (३५) यहां ऋत्विजोंका महिषी तथा परिवृत्तिके साथ वावाताको वैसी विधिके कारण मृतक-अश्वके साथ संयुक्त करने-(इकट्ठा बैठाने) का नाम क्या प्रतिपक्षी असम्भावित-सम्भोग सिद्ध कर सकता है? अमेरिकामें कई स्त्रियोंका कुत्तेके साथ सम्भोग तो सुना जाता है, (देखिये इसपर श्री चतुरसेनशास्त्रीकी 'व्यभिचार' पुस्तक) और स्वा० द०के यजुर्वेदभाष्यमें 'बैलसे भोग' (शायद स्त्रीका हो) और छेरीसे भोग (शायद पुरुषका हो) भी सुना जाता है। स्थूल-गुदासे सांपोंका पकड़ना भी (यजुः २५।७) स्वा०द०जीके

भाष्यमें सुना गया है; पर घोड़के साथ तो स्त्रियोंका असम्भावित सम्भोग कभी सुना भी नहीं गया; तब मृतक-अश्वके साथ सम्भोग तो उपपन्न ही कैसे हो सकता है? क्या प्रतिपक्षीका इतना दिमाग नहीं कि-यह उसे समझ आ सके?

जब यही सिद्ध नहीं; और रामायणमें उसका कुछ गन्ध भी नहीं; तब अश्वसे गर्भाधान कराना; आकृति घोड़की होगी, या अन्य, ऐसी गन्दी बातें लिखना, प्रतिपक्षीके हृदयके कालुष्यको प्रकट करता है। अथवा मालूम होता है कि-पुराने आर्यसमाजी पुस्तकों 'पौराणिकपोलप्रकाश' आदियोंसे उसने यह बात बिना-विचारे उद्धृत कर ली है, रामायणका प्रकृत-स्थल कभी स्वयं पृष्ठ खोलकर देखा तक नहीं। ऐसी चोरियां करके जनवञ्चन करना यह प्रतिपक्षीका साम्प्रदायिक 'वैदिक-धर्म' मालूम होता है। विशेष जिज्ञासु इस विषयमें 'आलोक' का पञ्चम-सुमन मंगावें, और उसके ७७१ से ८०६ पृष्ठ तक देखें।

श्रीरामचन्द्रजीकी सर्वज्ञता।

१४ आक्षेप-पुराणमें श्रीरामचन्द्रजीका मज़ाक उड़ाते हुए वेदव्यासजीने उन्हें मूढ (मूर्ख) तक लिख मारा है।—'सर्वज्ञत्वं गतं कुत्र प्रभुशक्तिः कुतो गता। यद् हेममृगविज्ञानं न ज्ञातं हरिणा किल' (देवी. ४।२०।३६) योऽपृच्छत् पादपान् मूढः क्व गता जनकात्मजा। भक्षिता वा हृता चैत्र रुदन्नुच्चतरं ततः (४१) यहांपर पुराणकारने रामके ईश्वरावतारका पर्दाफाश किया है। वह यह नहीं मानता कि-रामचन्द्रजी नाटक खेलकर दुनिया को दिखाने आये थे। इससे सिद्ध है कि-देवीभागवतकार राम-को सर्वज्ञ परमात्मा नहीं मानता था। (पृ. १९)

प्रत्यु-देवीभागवतका जो वचन प्रतिपक्षीने दिया है, इससे सिद्ध होता है कि-प्रतिपक्षी शास्त्रीय-शैली नहीं जानता, और

पुराणका पूर्वापर भी कभी नहीं देखता। यहां तो देवीकी मायाकी प्रबलता बतानी थी कि-श्रीराम सर्वज्ञ होते हुए भी सीता-हरणके समय मोहमें पड़ गये। 'मूढः' यह मुहधातुका 'क्त' प्रत्ययमें प्रयोग है, जिसका अर्थ है कि-'मोहमें पड़े हुए'। सो श्रीसीताके अति-शयित-प्रेम होनेसे उन्होंने मर्यादा-पुरुषोत्तमतावश तथा देवीभाग-वतानुसार देवोकी मायाकी प्रबलता दिखलानेकेलिए नाट्यरूपसे अपना मोह दिखलाना था; जिससे अन्य पुरुष भी स्त्री-सम्बन्धी ऐसी आपत्ति आनेपर उसकी खोज करें। जैसे कि-श्रीमद्भागवत-पुराणमें इसी को स्पष्ट कर दिया है-

'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं, रक्षोवधायैव न केवलं विभोः। कुतोऽन्यथा स्याद् रमतः स्व आत्मनि, सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य' (५।१९।५) अर्थात् मनुष्यावतार मनुष्यों के शिक्षणार्थ होता है, नहीं तो भला आत्माराम-परमेश्वर राम को सोता-सम्बन्धी कष्ट कैसे होते? यहीका यही पद्य प्रतिपक्षीसे बहुत प्रमाणित देवीभागवतमें भी कहा है देखिये-(८।१० १५-१६-१७); इस लिए वाल्मी. (३।६०।१० पद्यकी रामा-भिरामी) में यह स्पष्ट कर दिया गया है-'एतत् सर्वं लोकव्यवहार-नटनं भगवतः चित्स्वरूपस्य लोके 'सर्वतो भार्या प्रियतमा' इति बोधयितुम्। तदुक्तं भागवते-'नेदं यशो रघुपतेः सुरयाच्ञया-ऽऽत्त-लीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः। रक्षोवधो जलधिबन्धन-मस्त्रपूगैर्यत्तस्य शत्रुहनने कपयः सहायाः' (९।११।२०) (भगवान्के समान प्रतापशाली और कोई नहीं है, फिर उनसे बढ़ कर तो कोई हो ही कैसे सकता है? उन्होंने देवताओंकी प्रार्थनासे ही यह लीलाविग्रह धारण किया था। ऐसी स्थितिमें श्री रामकेलिए यह कोई बड़े गौरवकी बात नहीं है कि-उन्होंने अस्त्र-शस्त्रोंसे राक्षसोंको मार दिया; या समुद्रपर पुल बांध ली। ...

उन्हें शत्रुओंको मारनेकेलिए बन्दरोंकी सहायताकी भी आवश्यकता क्या थी ? यह सब उनका लीला-नाट्य ही है।)

देवीभागवतने रामकी सर्वज्ञताका अभाव नहीं दिखलाया, हाँ, यह कहा है कि—उस समय रामकी सर्वज्ञता कहां गई थी ? इससे रामकी सर्वज्ञता तो पुराणकारको अभिमत ही गई। इसको स्वयं उसी पुराणने माना भी है, उस श्लोकको प्रतिपक्षीने चोरी करके जनताके सामने नहीं आने दिया। वह यह है—'सर्वज्ञोपि हृतां मत्वा रावणेन दुरात्मना।' (४।२०।५०) यहां स्पष्ट-शब्दोंमें रामको सर्वज्ञ बताया है। शेष रामकी आलोचना देवीकी मायाकी प्रबलताको दिखलानेकेलिए 'यद्विवाहस्तद्गीतगानम्' इस न्यायसे अर्थवाद है। देखिये वहांका निष्कर्ष—'किं ब्रवीमि महाराज ! **योगमायाबलं महत्** ! (क्या कहूँ महाराज ! योगमाया—देवीका बड़ा बल होता है, जिससे सारा जगत् भ्रममें पड़ जाता है) यया विश्वमिदं सर्वं भ्रामितं भ्रमते किल' (५१) सो मनुष्यावतार होनेसे श्रीरामके भी जगत्में होनेसे उनका प्रेम एवं भ्रम दिखलाना ही था। इन सब बातोंको प्रतिपक्षी छिपाकर यथार्थतामें पर्दा डालता है। देवीभागवत राम-कृष्णादिको विष्णुके अवतार बताता है—इस विषयके पद्य पहले दिये जा चुके हैं। विष्णु, भगवान्‌का ही सात्त्विकरूप है; पर प्रतिपक्षी इन बातोंको छिपाता है, जनताको ऐसे झूठे व्यक्तियोंपर विश्वास न करके स्वयं भी आक्षिप्त-स्थलोंको बड़ी सावधानतासे पूर्वापर-प्रकरणके साथ देखना चाहिये, तब सभी भ्रम उनके दूर हो जाएंगे।

अब हम यह दिखलाते हैं कि—देवीभागवतमें पुराणकार श्रीव्यास-जिनके वचनोंको प्रतिपक्षी प्रमाण मानकर बार-बार उद्धृत करता है—अवतारकी वैसी चेष्टाएँ उस अवतारकी लीलामात्र (नाट्य) मानते हैं, वास्तविक नहीं। प्रतिपक्षी अपने मान्य

पुराणका वचन कान खोलकर सुने—

'मानुषं जन्म (मनुष्यावतारं) संप्राप्य गुणाः सर्वेपि मानुषाः। भवन्ति देहजाः कामं, न देवा नासुरास्तदा' (४।२५।७) अर्थात् मनुष्यावतारमें मनुष्य वाले व्यवहार करने पड़ते हैं, देवताओं जैसे नहीं। इसीको स्पष्ट करनेकेलिए व्यासजी कहते हैं—'अज्ञवद् विचचाराऽसौ पश्यमानो वने-वने। जानकीं न विवेदाथ रावणेन हृतां बलात्' (४।२५।१२) अर्थात् सर्वज्ञ भी राम अज्ञताका नाट्य करते हुए सीताको ढूंढते फिरे। इसीको स्पष्ट करते हुए देवीभागवत-पुराणकार और भी स्पष्ट-शब्दोंमें कहते हैं—'मानुषं देहमाश्रित्य चक्रे मानुषचेष्टितम्' (४।२५।२१) तथैव मानुषान् भावान्, नात्र कार्या विचारणा' (२२) अर्थात् भगवान् मानुषी देह धर कर (मनुष्ययोनिमें अवतार लेकर) मानुषी चेष्टा वा भाव करते हैं, इसमें विचारकी कोई बात नहीं। और इससे भी स्पष्टतर वचन व्यासजीका देखिए—

'तथापि मानुषं देहमाश्रितः परमेश्वरः। कृतवान् मानुषान्भावान् वर्णाश्रमसमन्वितान्' (५।१।१३) इसे ग्रन्थ भी स्पष्ट करते हैं—'एवं मानुषदेहेस्मिन् मानुषं खलु चेष्टितम्' (५।१।२०) अर्थात् परमेश्वर मनुष्यावतारमें मनुष्योंवाले व्यवहार वा भाव करते हैं। यहां व्यासजीने इतना स्पष्ट कर दिया है, और प्रतिपक्षीके पक्षकी रीढ़की हड्डी ऐसी तोड़ दी है कि—अब प्रतिपक्षीको उठने लायक नहीं रखा। अब यह श्लोक हमने तो इस समय नहीं बना दिये; किन्तु प्रतिपक्षीके देवीभागवत-द्वारा अवतारकी निन्दार्थ उससे आक्षेप उद्धृत करनेके समय भी यह उत्तर-पक्षके श्लोक थे; पर प्रतिपक्षीने यह समझ कर कि—मैं जो कुछ लिख दूंगा—उसे सभी ब्रह्मवाक्य मान लेंगे; कौन सनातनी इतनी छानबीन कर इन श्लोकोंको उद्धृत करेगा—यह सोचकर इन श्लोकोंको जन-

वञ्चनार्थं जनदृष्टिसे चुरा लिया। यहां व्यासजीने स्पष्ट कर दिया है कि—परमात्मा मनुष्यावतारमें मानुषी-नाटक खेलकर दुनियां को दिखलाता है। वह रोता है, वह शस्त्रोंसे युद्ध करता है, शत्रुसे खेल खेलता है; नहीं तो भला शत्रु उसके आगे कुछ क्षण भी ठहर ही कैसे सकें? उसके अस्त्रोंको काट ही कैसे सकें? इसी भाव को मार्कण्डेयपुराणकी दुर्गासप्तशतीमें इस प्रकार चित्रित किया गया है। देवता देवीकी स्तुति करते हुए कहते हैं—'दृष्ट्वा तु देवि! कुपितं भ्रुकुटीकरालमुद्यच्छशांक-सदृशच्छवि यन्न सद्यः। प्राणान् मुमोच महिषस्तदतीव चित्रं, कैर्जीव्यते हि कुपितान्तकदर्शनेन' (४।१३) इसमें इस बातको अद्भुत बताया गया है। इस देवी-स्तुतिमें यह देवताओंने देवीका लीला-नाट्य दिखाया है। आशा है—अब प्रतिपक्षीकी शान्ति हो गई होगी। 'भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं' (८।१०।१८) में देवीभागवतने रामको हरि (परमात्मा) बताया है, तब प्रतिपक्षीका यह कहना कि—'रामको देवीभागवतकार परमात्मा नहीं मानता था' (पृ. १९) जनवञ्चन सिद्ध हुआ जब कि—देवीभागवतकार श्रीरामको स्पष्ट 'हरि' (परमात्मा) कह रहा है। इसी प्रकार 'रामं च भर्तारं परिपूर्णतमं हरिम्' (९।६।२२) यहां भी वही कहा है। इसी भांति ३।२८। ३१ में भी। 'सर्वज्ञोसि महाभाग! समर्थोऽसौ जगत्पते!' (३।२९।५४) देवीभागवतके इस वचनमें रामको सर्वज्ञ, जगत्पति और समर्थ बताया है। देवी स्वयं रामको कहती है—'त्वया वै रक्षिता वेदाः सुराणां हितमिच्छता' (३।३०।४९) यहां रामको वेदोंका तथा देवोंका रक्षक और मत्स्यादि सभी अवतारोंका धारण करनेवाला (३।३०।४८-४९-५०-५१-५२-५३-५४-५५) कहा है। इससे प्रतिपक्षीके आक्षेप कट गये। प्रतिपक्षीका यह कहना कि—'देवीभागवतकार

रामको सर्वज्ञ परमात्मा नहीं मानता था' (पृ. १९) यह जनवञ्चनार्थ है। 'अवतार'का अर्थ 'उतरना' है, ऐसा प्रतिपक्षीका मत है। स्वा. दयानन्दजी ने 'भ्रान्तिनिवारण'में निरुक्तानुसार परमात्माको पृथिवी एवं अन्तरिक्षसे उत्तर ज्योति (ऊपरकी ज्योति) माना है, सो जब वह ऊपरकी ज्योति नीचेके पृथ्वीलोकमें अवतीर्ण (प्रकट) होता है; इसीसे उसका नाम 'अवतार' कहा गया है। सो यह कथन हीन—बुद्धिता नहीं। इसे न समझकर इस पर आक्षेप करना ही हीन-बुद्धिता है।

अवतारके विषयमें प्रतिपक्षीने पीछे एक आक्षेप किया था कि—'इस पापमय युगमें धर्मकी रक्षार्थ अवतार क्यों नहीं होता; इसपर याद रखना चाहिये कि—अवतार तो अपने नियतसमय पर होता है। कल्की अवतारकी कलियुगके अन्तमें होनेकी बात है; पर बीच बीचमें भगवान्की विभूतियां आया करती हैं, वे पापकी शिथिलतार्थ प्रयत्न किया करती हैं। अतः इस विषयमें प्रतिपक्षीको चिन्ता करनेकी कोई आवश्यकता नहीं।

पार्वतीका मल (गणेश) सर्वपूज्य ?

१५ आक्षेप—(क) पार्वतीके जिस्मका मैल और उसका पुतला तो साक्षात् अछूत माना जाना चाहिये। शरीरके मैलको छूकर भी हाथ धोने पड़ते हैं, पर मैलका वही पुतला (गणेश) परमपवित्र वा सर्वपूज्य बना दिया गया है। (ख) जब पुतलेका सर कट गया; तो फिर उस धड़ पर वही कटा हुआ सर क्यों नहीं जोड़ा गया? किसी आदमीका सर क्यों न जोड़ा गया?' देवता एक धड़केलिए मनुष्यका सर भी क्यों न बना सके? मनुष्यके धड़पर हाथीके सरकी कलम लगाकर इन देवताओंने अपनेको हास्यका पात्र बनाया है। क्या ऐसी विलक्षण उत्पत्तिवाला भी देवता पूज्य माना जा सकता है? ('शिवजीके चार

विलक्षण बेटे'-पृष्ठ २२-२३)

प्रत्यु-(क) छुआछूत न मानने वाला प्रतिपक्षी शरीरकी मैल को अछूत मानता है, और उसे छूकर हाथ धोना मानता है। उसे बधाई है कि-कुछ-कुछ अस्पृश्यता मानने तो लगा, कदाचित् पुराणपर आक्षेप करनेके लिए ही अब छुआछूत मानने लग गया हो। फिर तो उसे चाहिये कि-चाण्डाल, पुक्कस, आदि जो शास्त्रानुसार अस्पृश्य हैं, उनकी अस्पृश्यता भी माने, और उन्हें छूकर भी अपनी शुद्धि करना मान ले। यदि वह इस विषयमें शास्त्रोंकी आज्ञाको नहीं मानना चाहता; तो अपने परम-मान्य-ऋषिकी शास्त्रीय-आज्ञा तो मान ले! स्वा. द.जी चाण्डाल आदिको अस्पृश्य मान गये हैं। प्रकरणवश उनके कुछ उद्धरण दे देना उचित होगा।

(अ) 'चाण्डालादि नीच भङ्गी-चमार आदिका न खाना; क्योंकि-चाण्डाल का शरीर दुर्गन्धके परमाणुओंसे भरा होता है' (स. प्र. १० पृ. १६६) यहां स्वामीजीने भङ्गी-चमार आदि अन्त्यजों-को नीच माना है, और उनके शरीरको अस्पृश्य माना है।

(आ) 'तब ऊट-पटांग भाषा बनाकर जुलाहे आदि नीच लोगों को समझाने लगा' (११ समु. पृ. २२८) यहां स्वा. द. जीने जुलाहे आदियोंको नीच माना है।

(इ) 'आर्योंके घरमें [शूद्र] जब रसोई बनावें, तब मुख बांधके बनावें, क्योंकि-उनके मुखसे उच्छिष्ट और निकला हुआ श्वास भी अन्नमें न पड़े' (१० स. पृ. १६६) यहां शूद्रोंके श्वासको भी स्वामीने अशुद्ध माना है, कितनी छुआछूत है! यहां स्पष्ट है कि-यह शूद्र जाति-शूद्र है, अतः वर्णव्यवस्था भी जन्मसे हुई। यदि 'मूर्ख' का नाम यहां 'शूद्र' होता; तो उसके सांस भला कैसे अशुद्ध हो जाते? तब इन जन्म-शूद्रोंके हाथसे स्वामी आर्यों (आर्य-

समाजियों जैसे डा. श्रीराम आर्य) की रोटी कैसे बनवाते हैं? क्या उन शूद्रोंके हाथोंके सूक्ष्म-छिद्रोंसे निकले हुए अशुद्ध-परमाणु आर्योंकी रसोईको, रोटीको अशुद्ध न कर देंगे?। तभी तो स्वा. द. जी को लिखना पड़ा कि-'शूद्रके पात्र तथा उसके घरका पका हुआ अन्न आपत्कालके बिना न खावें' (स. प्र. १३ पृ. १६६) इसीलिए स्वा. द. अपना रसोइया शूद्र न रखकर ब्राह्मण ही रखा करते थे।

(ई) वेदाङ्गप्रकाश (सामासिक) में स्वामीजीने 'जिन शूद्रों-के भोजन करे पीछे मांजेसे भी पात्र शुद्ध न हों, वे अनिरवसित कहलाते हैं' (२।४।१०) (पृ० ४७) शूद्रोंकी कितनी अशुद्धता बताई है?।

(उ) 'मा स्म कमण्डलूं शूद्राय दद्यात्' (स्त्रैणताद्धित ४।१। ७१ पृ० २५) में शूद्रको कमण्डलू देनेका भी निषेध कर दिया है, अन्य छुआछूत क्या हो?

(ऊ) श्रीमद्दयानन्दप्रकाश (सङ्गठनकाण्ड नवम सर्ग पृ० ३६७) के अनुसार स्वा. द. जीने कृपारामजीसे यह सुनकर कि-'घोष-महाशयके घर पर भङ्गिन पाचिका (रोटी पकाने वाली) हैं, इसलिए उसका भोजन पीछे लौटा दीजिये, महाराजने उसी समय घोषमहाशयका थाल लौटा दिया'। देखिये कि-स्वा० द० जी छुआछूतके कितने पक्षपाती थे कि-कृपारामके कथनमात्रसे कालीमोहन-घोषका भोजन लौटा दिया और फिर उनसे पूछने तककी आवश्यकता भी नहीं समझी, चाहे, घोषजीने स्वा. द. जीके यह कहनेपर कि-'आपका भोजन ग्रहण करनेमें मुझे केवल इतना ही सङ्कोच है कि-आप लोगोंके यहां भङ्गी भी भोजन बनाते हैं' उत्तर दिया था कि-हम लोग किसीके भी हाथसे खानेमें

कोई हानि नहीं मानते; परन्तु कर्ममें ऐसा नहीं आता'। घोषमहाशयके इस कथनपर भी विश्वास न करके कृपारामकी ही बात मान ली।

(ऋ) 'जैसे अन्त्यजोंके दुर्गन्धके सहवाससे पृथक् रहने वाले अच्छे हैं; जैसे अन्त्यजोंकी दुर्गन्धके सहवाससे निर्मल बुद्धि नहीं होती' (स० प्र० १२ पृ० २८६) इस उपमासे स्वामीने अपना छुआछूत-प्रेमित्व स्पष्ट कर दिया है।

(ॠ) 'वायुस्पर्शाय चाण्डालं परासुव। चाण्डालस्य शरीरागतो वायुर्दुर्गन्धत्वान्न सेवनीयः। वायुके स्पर्शके अर्थ भंगीको दूर कीजिये। भंगीके शरीरमेंसे आया वायु दुर्गन्ध-युक्त होनेसे सेवनेयोग्य नहीं होता' (यजुर्वेदभाष्य ३०। २१) यहां स्वामीने चाण्डालका अर्थ भङ्गी किया है, और भङ्गीके शरीरको अस्पृश्य माना है।

(ऌ) 'जिन नीच-स्त्रियोंको छूना नहीं [लिखा], उनको अतिपवित्र वाममार्गियोंने माना है। जैसे—शास्त्रोंमें रजस्वला आदि स्त्रियोंके स्पर्शका निषेध है, उनको वाममार्गियोंने अतिपवित्र माना है। सुनो इनका श्लोक अण्डबण्ड—'रजस्वला पुष्करं तीर्थं, चाण्डाली [भंगिन] तु स्वयं काशी। चर्मकारी (चमारी) प्रयागः स्याद् रजकी मथुरा मता। अयोध्या पुक्कसी (कञ्जरी) प्रोक्ता'।

यहां स्वा० द० जीने रजस्वला आदिको शास्त्रानुसार अस्पृश्य माना है। वे स्त्रियां स्वामीने उक्त श्लोकानुसार यह गिनाई हैं—रजस्वला, चाण्डाली (भंगिन), चर्मकारी (चमारिन), रजकी (धोबिन), पुक्कसी (अन्त्यजा)। इस प्रकार स्वा० द० जीने छुवाछूतको शास्त्रीय माना है। इन सबसे स्पर्श, सम्बन्ध तथा भोजनादि-सम्बन्ध नहीं माना, छुवाछूत और क्या होती है?। अस्तु।

मल (मैल) को अछूत तो प्रतिपक्षीने भी मान लिया, मलसे बने हुएको भी प्रतिपक्षीने अछूत सूचित कर ही दिया है। अब प्रतिपक्षी सुने कि—शास्त्रानुसार मल १२ होते हैं—'वसा-शुक्र-मसृङ्मज्जा-मूत्र-विड्-घ्राण-कर्णविट्। श्लेष्माश्रुदूषिका-स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः' (५। १३५) यहांपर मनुजीने शुक्रको मल माना है। शुक्रको छूकर प्रतिपक्षी भी अपनी शुद्धि करता होगा, उसे छूकर हाथ धाना तो दूर, बल्कि स्नान भी किया जाता है।

तब यदि अम्बाके मल (उबटन—जिसे कहीं अस्पृश्य नहीं माना गया।) से बने पुतलेको सर्वपूज्य करनेमें प्रतिपक्षीको आपत्ति है; और वह उसे अछूत बनाना चाहता है; तब अम्बा-शुक्र के अस्पृश्य मल (शुक्र-शोणित) से बने पुतलेको प्रतिपक्षी तथा उसका समाज यदि ऋषि, महर्षि तथा सर्वपूज्य एवं स्पृश्य मानता है, तब दिव्य अम्बा-देवताके दिव्य-उबटनका दिव्य-पुतला स्पृश्य एवं सर्वपूज्य क्यों न हो?।

मनुजीने उक्त पद्यमें लिखा है—'नृणां मलाः' (५। १३५) अर्थात् यह मनुष्यके मल हैं; और उनकी शुद्धि मनुजीने आगे लिखी है; इससे सिद्ध हुआ कि—देवताओंके मल, मल (अपवित्र) नहीं माने जाते। मनुष्योंका अण्डकोष अपवित्र माना जाता है, पर ब्रह्माका अण्डकोष ब्रह्माण्ड अस्पृश्य नहीं माना जाता। मनुष्यके शिश्नको प्रतिपक्षी भी अस्पृश्य मानता होगा, पर प्रतिपक्षीके अनुसार शिवका शिश्न-शिवलिङ्ग अपवित्र नहीं माना जाता। मनुष्य के शुक्रको अपवित्र माना जाता है, पर परमात्माके शुक्र जलको सभी पीते हैं। जब कि—गायके मल-मूत्र अपवित्र न माने जाकर उल्टा शोधक माने जाते हैं, घोड़ेकी लेंडी-लीदसे तो परमात्मा आर्यसमाजियोंको तपाकर शुद्ध करता है (यजुः स्वा. द. भाष्य ३७। ६), बाल-सींग आदि अशुद्ध होते हुए भी चमरीकी

चँवर तथा शृङ्गभस्म आदि रूपमें व्यवहृत होते हैं; तब देवता-पार्वतीकी मैल अशुद्ध कैसे हो सकती है ?। दिव्यका मैल भी न अशुद्ध होता है, और न ही व्यर्थ होता है।

(ख) शेष आक्षेप है—उस पहलेके कटे हुए सिरको ही उस धड़पर क्यों न जोड़ दिया गया, इसपर यह जानना चाहिये कि—शिवजीके शूलसे जो सिर कटेगा, वह वहां पड़ा थोड़े ही रहेगा ? उसका किसी अन्य लोकमें उड़ जाना स्वाभाविक है; तब वह वहाँ कहां मिलना था ? उसकेलिए प्रसिद्ध है कि—वह कृष्णपक्ष-की चतुर्थीके चन्द्रमाके पृष्ठभागमें जा पड़ा, इसीलिए कृष्णपक्षकी चतुर्थीमें गणेशपूजा मनाते हैं। इस ओर विचार किया भी नहीं गया। चन्द्रके पृष्ठभागमें जाना इससे दुरूह भी सूचित कर दिया गया है।

शेष है हाथीका सर जोड़ना; इसपर यह याद रखना चाहिये कि-वह पुतला मनुष्य तो था नहीं कि—उसकेलिए मनुष्यका सर बनाया जाता, जैसा कि प्रतिपक्षीने आक्षेप किया है, मनुष्यका सिर तो उस विशालकाय-देवताके धड़पर पूरा ही न आता। उस दिव्यके लिए दिव्यता अपेक्षित थी; सो एक दिव्य-हाथीका सर ही उसकेलिए उपयुक्त समझा गया। इसमें कई रहस्य भी निकलते हैं। एक यह कि—वह दिव्य था, बड़ी आकृतिका था; अतः उसकेलिए यही गजशिर उचित समझा गया। दूसरा यह कि—इसको गणनायक बनाना था। गणनायककेलिए हाथी वाला सिर चाहिये— यह भी उसमें सिद्ध करना था। यह रहस्य यदि प्रतिपक्षी जानना चाहे, तो 'आलोक' के पञ्चम-पुष्पमें 'गणनायकके स्वरूपका परिचय' (पृ. ८०६ से ८२७ पृ० तक) देखे।

यह प्रतिपक्षीको धन्यवाद है कि—उसने यह सन्देह उपस्थित

नहीं किया कि—सर कटनेसे वह पुतला मर क्यों न गया ? और हाथीका सर धड़पर जोड़ा ही कैसे जा सका ? आजकल इस विषयमें विज्ञानने भी कुछ उन्नति की है। 'वीर-अर्जुन देहली' में २५-९-५८ को यह रूसकी खबर प्रकाशित हुई थी—'एक कुत्तेका सिर दूसरे कुत्तेकी गर्दनपर जोड़ दिया गया। मास्को २४ सित-म्बर। 'मास्को-ईवनिंग' के अनुसार रूसी-वैज्ञानिक कल एक कुत्तेका सिर एक अन्य किस्मके कुत्तेकी गर्दनपर लगानेमें सफल हो गये। पत्रने लिखा है—दो सिरों वाला ठीक-ठाक है; और उनके दोनों सिर खाते-पीते हैं'।

शतपथ-ब्राह्मणमें घोड़ेके सिरको दधीचिके धड़से जोड़ा गया; इस विषयमें हम पहले (पृ. ३७१-३७२ में) कह चुके हैं। दिव्य होनेसे सर कटने पर भी मृत्यु सम्भव नहीं थी। इसमें जरासन्ध-के शरीरके दो फांकोंका जोड़ना भी ऐतिहासिक-प्रमाण है। यह भी प्रश्न प्रतिपक्षीने नहीं किया कि—मलका, जीवित पुतला कैसे बन गया ? इस पर यह याद रखना चाहिये कि—दिव्यका मैल भी व्यर्थ नहीं होता। इसी कारण विष्णुके कर्णके मैलसे मधु-कैटभकी तथा हनुमान्के पसीनेसे मकरध्वजकी उत्पत्ति हुई। शतपथब्रा. (१२।७।१।३-५)में भी नाक-कानसे कई उत्प-त्तियां बताई गई हैं।

सम्भोगसे दैत्यको मार डालना (?)

(१६) आक्षेप—'मेढ्रे वज्रास्त्रमादाय दानवं तमशातयत्' (मत्स्य. १५५।३७) अर्थ—महादेवने उस दानवकी मायाको जानकर उपस्थेन्द्रिय पर वज्रास्त्रको रख कर, उसके सङ्गसे आडि-दैत्यसे रमण (भोग) करके उसको मार डाला। इस प्रकार शिवजी-महाराजने अपने ही पुत्र अन्धकके लड़केका विचित्र ढंगसे वध करके उसके वंशका नाश कर दिया' ('शिवजीके विलक्षण बेटे'

पृ. ३३)

प्रत्यु—अन्धककी उत्पत्ति पार्वतीके हाथोंसे निकले तथा रुद्रके ललाटाग्निसे सन्तप्त मद-जलसे हुई। देवताका कोई अंश भी व्यर्थ नहीं होता। अतः यह अयोनिज उत्पत्ति हुई; पर वह उत्पन्न हुआ-हुआ करालमुख, भीषण, क्रोधी, अन्धा एवं काले रंगका, विकृताकार दैत्यरूपमें था (शिव पु. रु. सं. ४२। १६); तब उसे सन्तानहीन हिरण्याक्ष-दैत्यको दे दिया। पर वह दैत्य कई कुकाण्ड करने लगा, पार्वती पानेकेलिए उसने युद्ध छेड़ दिया। तब ऐसे अयोनिज-कुपुत्रको यदि शिवने मार डाला; और फिर उसका भी पुत्र आडि-दैत्य अपने पिताका बदला निकालनेके लिए पार्वतीकी अनुपस्थितिमें पार्वती बनकर महादेवको धोखा देने आया; तब उसका भी वध आवश्यक था। इससे यह भी शिक्षा मिलती है कि—अपना व्यक्ति भी यदि दैत्य सिद्ध हुआ है; और दैत्यों वाले कुकृत्य करके शत्रुता कर रहा है, तो उसका भी किसी भी प्रकारसे 'अपि चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि। पीडाकरममित्राणां यत् स्यात् कर्तव्यमेव तत्' (महाभारत द्रोणपर्व १४३। ६७-६८) इस राजनीतिसे वध कर देना चाहिये। पर यह प्रतिपक्षी-मालूम नहीं—दैत्योंके वधसे महादेवसे क्यों चिढ़ता है? क्या दैत्य जो कुछ भी करें; वह उनका आचरण ठीक समझता है? अन्धक पार्वती छीनना चाहता था; तब महादेव क्या उसे न मार कर उसे चुपचाप पार्वती लेने देते? पता नहीं—प्रतिपक्षीका दैत्योंसे प्रेम कबसे हुआ; और क्यों हुआ? गीतामें दैवी एवं आसुरी दो प्रकृति हैं, वादीको पुराणोंपर क्रोध, उनके प्रणेतासे परुष-व्यवहार करना (उन्हें गन्दी-गन्दी गालियां देना), अन्य सबको तुच्छ समझना, और अपने आपको बड़ा समझनेका अभिमान रखना, शास्त्रीय-अज्ञान रखनेपर भी अपने

आपको बड़ा ज्ञानी समझना, प्राचीन-ग्रन्थोंके सम्भवी-अर्थोंमें ताड़-मरोड़ करना, और उसमें अविद्यमान भी बातका अर्थमें प्रक्षेप कर देना, इत्यादि (गीता. १६। ४) प्रकृति क्यों पसन्द है? देवीभागवतोक्त कलि-लक्षण उसे क्यों अच्छे लगते हैं?। 'या यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता केनापि न त्यज्यते' यह कारण तो कहीं नहीं?

अब 'मेढ़्रे वज्रास्त्रमादाय दानवं तमशातयत्' (मत्स्य. १५४। ३७) इस उपक्षिप्त पद्यमें 'महादेवजीने अपनी उपस्थेन्द्रियपर वज्रास्त्रको रख कर उसके सङ्ग रमण (भोग) करके उसको मार डाला' इसमें 'उसके सङ्ग रमण (भोग) करके' यह प्रतिपक्षीके शब्द पुराणके इस उपक्षिप्त पद्यके किस पदका अर्थ हैं? जब ऐसा इस पद्यमें कहीं लिखा नहीं; तब वैसे बनावटी अर्थोंका बीचमें प्रक्षेप कर देना यह क्या असत्यवाद और जनवञ्चन नहीं? इस विषयमें हम इसी पुष्प [पृ. १३७-१३८-१३९] में स्पष्टता कर चुके हैं।

[ख] कार्तिकेयकी उत्पत्तिमें दिव्यतावश विचित्रता स्वाभाविक है, अतः उसे षाण्मातुर कहते हैं; शिवकी शक्तिके भी दिव्य होनेसे शिवके शुक्रमें भी दाहादि विचित्रता दिखलाई गई है। कई विद्वान् कार्तिकेयको कृत्तिका का अपत्य देखकर कृत्तिकाके 'एतद् वा अग्नेर्नक्षत्रं यत् कृत्तिकाः' [कृष्णयजुः तैत्ति. ब्रा. १। १। २। १] अग्निका नक्षत्र होनेसे और कृत्तिका-नक्षत्रमें अग्निमय ६ तारे होनेसे इस कार्तिकेयको षाण्मातुर कहते हैं; उसी अग्निका सबको ताप हुआ-इत्यादिरूपसे उक्त कथाको वर्णन करते हैं। शेष वर्णन आलंकारिक समझते हैं।

[ग] शुक्राचार्य तो पहलेसे ही थे, पर उनके अङ्गसे निकलनेसे उन्हें उपचार-भावसे पुत्र कहा गया है, वास्तविकतासे नहीं।

[घ] अन्धकके विषयमें पहले प्रकाश किया ही जा चुका है कि-दिव्यतावश देवताओंका कोई मल आदि भी व्यर्थ नहीं होता; अतः उसमें कोई उत्पत्ति हो जाती है; तब दिव्यतावश इसमें आश्चर्य क्या ? मन्त्राभिमन्त्रित जल एक कलशमें रखा गया था; उस जलके पानसे इन्द्रके अङ्ग-अङ्गसे कई उत्पत्तियां बताई गई हैं। देखिये शतपथ-ब्राह्मण-[१२। ७। १। १-९]। ऐसे ही पुत्रत्वाभिमन्त्रित जलके पीनेसे उसकी शक्तिकी अनिवार्यतावश युवनाश्वसे भी बिना-गर्भाशयके मान्धाताकी उत्पत्ति हो गई थी, जिसे प्रतिपक्षोने अपने किसी ट्रेक्टमें आक्षिप्त किया है। यह बात प्रतिपक्षी अपने बहुत ही मान्य देवीभागवत [७।९।५५-५६-५७-५८-५९-६०-६१-६२-६३] में भी देखे। यह सब विचित्रताएं मन्त्रकी शक्तिविशेषके परिणाम हैं; जैसे कि प्रतिपक्षीके बहुत मान्य देवी-भागवतमें भी कहा है-'गर्भं दधार नृपतिस्ततो मन्त्र-बलादय' [७।९।६०] जिनका अश्रद्धा करनेसे तात्पर्य ज्ञात नहीं होता, किन्तु श्रद्धा करनेसे ही उनके सत्य-रहस्य ज्ञात होते हैं-'श्रद्धया सत्यमाप्यते' [यजुः १९। ३०] इस वैदिक-नादके अव-लम्बनसे ही यह उपपत्तियां समझमें आती हैं।

मरनेके बाद तुरत पुनर्जन्म [?]

१७ आक्षेप-आत्माका एक शरीरको त्यागकर दूसरा शरीर धारण करना, तत्काल पुनर्जन्म होना ही शास्त्रीय-सिद्धान्त है। [क] तृणजलायुकाका उदाहरण देते हुए बृहदारण्यक-उपनिषद् [४।४] में लिखा है-जैसे जोंक पानीमें एक तिनके-परसे दूसरे-पर जाते समय प्रथम-तिनकेको तभी छोड़ती है, जब वह दूसरे तिनके पर पैर जमा लेती है। इसी प्रकार जीवात्मा एक शरीर त्यागकर अविलम्ब दूसरे शरीरको ग्रहण कर लेता है। [ख] महा-भारतमें भी लिखा है-'आयुषोन्ते प्रहायेदं क्षीणप्रायं कलेवरम्।

सम्भवत्येव युगपद् योनौ नास्त्यन्तरा भवः' [वनपर्व. १८३। ७७] मरने पर जीव उसी क्षण दूसरे शरीर [योनि] में प्रगट होता है। क्षणभरकेलिए असंसारी [बिना शरीरके] नहीं रहता है। [ग] गीतामें भी कहा है-'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, ...अन्यानि संयाति नवानि देही' [२। २२] इन प्रमाणोंसे जब जीवात्माका पुनर्जन्म तुरन्त हो जाता है; [घ] तो फिर उसका पितृलोकमें भूखा-प्यासा रहना आदि मानना सर्वथा मिथ्या बात है, अतः तदर्थ मृतकश्राद्ध भी व्यर्थ है [मृतकश्राद्ध पृ. १२]

प्रत्युत्तर-प्रतिपक्षी जो भी प्रमाण देता है; जनवञ्चनार्थ उसका पूर्वापर छिपा दिया करता है। अथवा दूसरे आर्यसमाजी-ट्रैक्टोंसे वह बात बिना पूर्वापर-प्रकरण देखे उनपर विश्वास करके गद्गद होकर, अपना पक्ष पूर्णतः सिद्ध हुआ समझ कर उद्धृत कर दिया करता है।

इनमें बृहदारण्यकके वचनका मृत्युके अनन्तर जो देह तैयार रहता है, उसके ग्रहणमें तात्पर्य है, इस लोकके शरीर-ग्रहण (पुनर्जन्म लेने]में नहीं। वह पारलौकिक सूक्ष्म देह-ही है, चाहे वह देवता [देव-लोक] का हो, वा पितृ [पितृलोक] वा गन्धर्वादिका। उसे भी एक-प्रकारसे पुनर्जन्म कहा जा सकता है। मृत्युके बाद जीवका इस लोकमें पुनर्जन्म एकदम नहीं होता। स्वा. द. जी भी 'सविता प्रथमेऽहन्' [यजुः ३९। ६] इत्यादिसे कमसे कम १२ दिनोंके बाद जीवका पुनर्जन्म मानते हैं, फिर उसे बादलोंमें, सब्जियोंमें रहकर तब शुक्रमें प्रवेश करके गर्भाशयमें आना अभिप्रेत करते हैं। उसमें प्रतिपक्षीके अनुसार 'तृणजलायुका' न्याय नहीं घटता। मरनेके बाद पारलौकिक सूक्ष्म-शरीर तो तत्काल मिल जाता है; अतः उक्त उपनिषद्वचन वहीं सार्थक है। परलोकमें उसे पितृलोककी प्राप्ति हो; तो पितृशरीरकी प्राप्ति होती है।

देवलोककी प्राप्ति हो; तो देव-शरीरकी प्राप्ति होती है, यह पारलौकिक, मनुष्यदेहसे भिन्न (विलक्षण) शरीरोंकेलिए है। बृहदारण्यकका जो वचन प्रतिपक्षीने दिया है, उसी पारलौकिक-शरीरकी स्पष्टताका जो प्रस्तुत-प्रमाणके साथका वचन था, उसे प्रतिपक्षीने लोकदृष्टिसे छिपा दिया है। वह यह है-'एवमेव अयमात्मा इदँ शरीरं निहत्य, अविद्यां गमयित्वा, अन्यद् नवतरं, कल्याणतरँरूप कुरुते, पित्र्यं वा, गान्धर्वं वा, दैवं वा, ब्राह्मं वा, अन्येषां वा भूतानाम्' [४।४।४]। यहां मृतकका तत्काल मिलने वाला पारलौकिक-शरीर पितृलोकका वा देवलोकका पितृ-देवादि शरीर बताया गया है। इससे मृतकका पित्र्य-शरीर होनेसे पितृलोकमें जाना सिद्ध हो गया; उसीकेलिए मृतक-पितृश्राद्ध भी प्रयोजनीय हो गया। पितृलोकका वर्णन यजुर्वेद-शतपथब्राह्मण [१४।४।३।२४, ३।७।१।२५] में स्पष्ट है। पर प्रतिपक्षी इसे छिपा दिया करते हैं।

एक आर्यसमाजी-विद्वान्का मत।

यदि प्रतिपक्षी हमारी बात न माने, तो इसपर हम उसे एक आर्यसमाजी-विद्वान्के युक्ति-प्रमाणसे मिले हुए विचार सुनाते हैं। श्रीगङ्गाप्रसादजी M. A. (कार्य-निवृत्त मुख्य-न्यायाधीश टिहरी, जयपुर) 'सार्वदेशिक' (देहली) पत्र (सितम्बर-अक्टूबर १६४६ के अङ्कों) में 'मृत्युके पश्चात् जीवकी गति' लेखमें लिखते हैं-'मैंने 'मृत्यु और परलोक' एक ग्रन्थ देखा, जो कि स्व. श्रीनारायण-स्वामीजीका लिखा हुआ है। उसमें श्रीस्वामीजीने इसी मतको माना है कि-मृत्युके बाद आत्माको तुरन्त ही दूसरा शरीर धारण करना होता है। इसकी पुष्टिमें केवल एक प्रमाण बृहदारण्यक-उपनिषद् (४।४।३ कण्डिका) का उनने दिया है-'तृणजलायुका' (पृ. ८६)। श्रीनारायण-स्वामीजीकी अपूर्व

योग्यताका श्रद्धापूर्वक मान करते हुए भी मुझको लिखना पड़ता है कि-उक्त उपनिषद्के प्रमाणसे उनके मतका समर्थन नहीं होता। ...तृणजलायुकाका जो दृष्टान्त दिया गया है, वह दोनों मतोंमें एकसा लागू हो सकता है। उसका यह भाव लेना आवश्यक नहीं कि-एक शरीरसे दूसरे शरीर ही में जाता है। छोड़नेके अर्थमें शरीर शब्दका प्रयोग है 'इदं शरीरं निहत्य'; परन्तु दूसरे स्थानमें जानेकेलिए 'आक्रम' शब्द आया है, 'अन्यमाक्रममाक्रम्य आत्मानं उपसंहरति'। यह भाव भी हो सकता है कि-स्थूल-शरीरको छोड़कर प्राणमय लोकको जाता है।

मैं बृहदारण्यककी पूर्वोक्त कण्डिकासे अगली कण्डिकाको भी लिखना उचित समझता हूँ, जिससे स्पष्ट होगा कि-उक्त उपनिषद्से दूसरे मत [मृतककी परलोक-पितृलोकादिमें जाने] की ही अधिक पुष्टि होती है'। 'तद् यथा-पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादाय अन्यद् नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते, एवमेव अयमात्मा इदं शरीरं निहत्य अविद्यां गमयित्वा अन्यद् नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते-पित्र्यं वा, गान्धर्वं वा, दैवं वा, प्राजापत्यं वा, ब्राह्मं वा, अन्येषां वा भूतानाम्' (४।४।४)। जैसे सुवर्णकार सुवर्ण लेकर दूसरा नया अतिशय-सुन्दर रूप बनाता है, इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीरको नष्ट करके (जन्मान्तरकेलिए) नया कल्याणकारी रूप बनाता है, पितृ वा गन्धर्व वा देव वा प्रजापति वा ब्रह्म, वा अन्य भूतोंका। ...

इस प्रकार पूर्व-जन्मके सूक्ष्म-शरीरको उन्नत करके [...] उसे नये देहकेलिए अधिक उपयोगी बनकर [जिसमें सहायता [...] मृतकके बन्धुओंको पितृयज्ञ-श्राद्धादि करना पड़ता है 'आलोक' प्रणेता] जीवात्मा दूसरा नया देह धारण करता है। वह शरीर [...] साधारण-मनुष्यका हो, अथवा पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति [...]

ब्रह्माका हो वा अन्य भूतोंका। पितर, गन्धर्व, देव आदि साधारण मनुष्योंसे ऊपर जीवोंकी अन्य अवस्थाओंके नाम हैं जिनका इसी बृहदा. उप.के ३ ब्राह्मणकी ३३ कण्डिकामें सविस्तर वर्णन आया है, और तैत्ति. उप.की ब्रह्मवल्लीमें भी लगभग उसी प्रकार आया है [इन सबकी आनन्दमात्रा पृथक्-पृथक् बताई गई है 'आलोक'-प्रणेता]। श्रीस्व. नारायणस्वामीजीने पूर्वोक्त मतके समर्थनमें और कोई प्रमाण 'मृत्यु और परलोक'में नहीं दिये।

विचारका सार—जहां तक मेरी जानकारी है, इस विषयमें ऋषि-दयानन्दके ग्रन्थोंमें उनका मत कहीं प्रकट नहीं होता। परन्तु पूर्वोक्त-प्रमाणोंका युक्तियोंके आधारपर मेरी समझमें यही सिद्धान्त युक्त प्रतीत होता है कि-जीव मृत्युके बाद साधारण-तया कुछ समय तक अन्य लोकोंमें रहकर अपने सूक्ष्म-शरीरका संशोधन करके उसको दूसरे जन्म और देहकेलिए अधिक उप-योगी बनाता है, और फिर नया शरीरधारण करनेकेलिए गर्भमें आता है। यह वेद और शास्त्रोंकी शिक्षाके किसी प्रकार विरुद्ध नहीं; प्रत्युत उपनिषदोंकी शिक्षाके अनुकूल है। इससे पुनर्जन्मके सिद्धान्तमें कोई बाधा नहीं पड़ती और स्वर्ग-नरकके मतकी उसके साथ एक प्रकारसे अनुकूलता हो जाती है। थियोसाफ़ी-कलसो. वा श्रीअरविन्दके मतके बिलकुल अनुकूल है" [सार्व-देशिक पृ-३६९-३७०-३७१-३७२]

अब प्रतिपक्षीको आर्यसमाजके मान्य विद्वान्के मतका आदर तो करना चाहिये, यदि वह शास्त्रकी बातें नहीं मानना चाहता। जब कि प्रतिपक्षी महाभारतके प्रमाणमें जीवकी उसी क्षण दूसरी योनिमें प्राप्ति मानता है. तो पितृ वा देव-योनिके प्राप्त होने पर परलोक-स्थितिवश पुनर्जन्म उसका सिद्ध हो ही जाता है। पितृयज्ञ-श्राद्ध उसमें सहायताकारक होनेसे उपयोगी

होता ही है। मनुष्य-शरीर भी वह कर्मवश तत्काल ग्रहण कर ले, तो उसमें नित्य-पितर, वसु, रुद्र आदित्य उसे उस श्राद्धका फल शास्त्रानुसार पहुँचाते हैं, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं आती।

(ख) महाभारतका जो प्रतिपक्षीने 'आयुषोन्ते प्रहायेदं (३।१८३।७८) वचन दिया हैं, उसके आगेका पाठ उसने जनवञ्चनार्थ छिपा लिया है। वह यह है—'एषा तावद् अबुद्धीनां गति-रुक्ता युधिष्ठिर (१८३।८१) अर्थात् यह साधारण-गति तो मूर्खोंकी होती है। 'अतः परं ज्ञानवतां निबोध गतिमुत्तमाम् (८१) इसके बाद ज्ञानियोंको जो उत्तम-गति प्राप्त होती है, उसे सुनो। 'कर्मभूमिमिमां प्राप्य पुनर्यान्ति सुरालयम्' [८६] अर्थात् वे स्वर्गादि-देवलोकोंमें जाते हैं। आगे इस बातको स्पष्ट कर दिया है—'तेषामयं चैव परश्च लोकः (९२)स्वर्गं परं पुण्यकृतां निवासं क्रमेण संप्राप्स्यथ कर्मभिः स्वैः' (१८३।९६) इससे सनातन-धर्मका पक्ष पुष्ट होता है।

(ग) गीताका भी जो प्रतिपक्षीने प्रमाण दिया है, उसमें भी लिखा है—'तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही' (२।२२) इससे भी सनातनधर्मके सिद्धान्तकी पुष्टि होती है कि—जीव अन्य नवीन देहोंको प्राप्त होता है। सो देव, पितरों आदिके भी तो शरीर माने जाते हैं, हां, वे पार्थिव-तत्त्वकी अल्पता तथा जल, तेज, वायु आदि तत्त्वोंकी मुख्यता होनेसे मनुष्य-शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म होते हैं। तभी तो गीतामें 'यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृ-व्रताः' (९।२५) 'प्राप्य पुण्यकृतां लोकान् उषित्वा शाश्वतीः समाः' (६।४१) 'ते तं भुक्त्वा स्वर्ग-लोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (९।२१) इत्यादि वचनोंमें परलोकमें भी नियत-समय तक पितृलोक आदिमें निवास माना गया है, परन्तु प्रतिपक्षी जनवञ्चनार्थ असत्यवाद-

का अवलम्बन करके इन वचनोंको लोकदृष्टिसे छिपा देता है।

(घ) इस विषयमें शास्त्रोंमें प्रमाण यत्र-तत्र भरे पड़े हैं। वेदमें ही 'पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः' (अथर्व. १२।२।४५) यहां-पर मरे हुओंका पितृलोकमें जाना कहा है। इसी प्रकार 'अधा मृताः पितृषु सम्भवन्तु' (अथर्वः १८। ४। ४८) यहां भी मृतकोंका पितृलोकमें जाना सूचित किया है। वैदिकम्मन्य प्रतिपक्षी वेदके इन वचनोंको छिपाता है। पितृलोकमें हमारे एक मासका एक दिन होता है; और अमावास्या पितरोंका मध्यान्ह होता है, इस विषयमें 'आलोक' का चतुर्थ पुष्प देखिये। अतः श्राद्धमें उनको प्रति-अमावास्याको भोजन दिया जाता है। इसीलिए यजुर्वेद-शतपथब्रा. में कहा है—'अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जानु आच्य उपासीदन्। तान् अब्रवीत् [प्रजापतिः], मासि-मासि वोऽशनं, स्वधा वः, मनोजवो वः, चन्द्रमा वो ज्योतिरिति' (२। ४। २। २) इससे सनातनधर्मके 'श्राद्ध'-सिद्धान्तकी परम-पुष्टि हो रही है; पर प्रतिपक्षी शास्त्रोंके इन वचनोंको छिपाकर अपनी गलत एवं अपूर्ण बातें जनताके सामने उनके वञ्चनार्थ रखता है।

(ङ) ठाकुर-अमरसिंहजी 'आर्यपथिक'ने अपने 'दो-शास्त्रार्थ' पृ. ३१) में जो यह लिखा है कि–'पं. अखिलानन्दने 'मृताः पितृषु सम्भवन्तु' में 'अमृताः' का अकार उडाकर 'अमृताः' को 'मृताः' ही बना रखा है, इसको चोरी कहें, डाका कहें, ब्रह्महत्या कहें, वेदहत्या कहें, यह है महापाप'।

परन्तु यहां स्वयं आर्य-पथिकजीने वेदहत्या की है। 'अधा' में 'अथ' शब्दके अर्थमें 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा. ६। ३। १३७) इस सूत्रसे दीर्घ हुआ-हुआ है। यहां 'अ'के छेदका कोई अवसर नहीं। यहां 'मृताः' पद है, यह सायणभाष्य वाले अथर्ववेदके

पदपाठमें देखा जा सकता है। उक्त मन्त्रके चतुर्थपादका पदपाठ यह है–'अध। मृताः। पितृषु। सम्। भवन्तु' (१८।४।४८) तब इसमें 'अमृताः' छेद हो ही नहीं सकता। इस विषयमें आर्य-समाजके मान्य स्वा. विश्वेश्वरानन्द-नित्यानन्दजीकी 'अथर्ववेदपद-सूची' [पृ.१८३, तीसरा स्तम्भ, २० वीं पंक्ति] देख लें। 'अमृताः' ऐसा पद १८। ३। ५३ में तो है–'देवा अमृता मादयन्ताम्', पर १८। ४। ४८ में नहीं। इसमें 'पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः' (अथर्व. १२। २। ४५) इस मन्त्रकी साक्षी भी इस पाठमें है। उक्तमन्त्रकी पदपाठकी साक्षी तो हम दिखला ही चुके हैं। पद-पाठकी इतनी महत्ता है कि—जिस मन्त्रका पदपाठ न मिले, उस मन्त्रको 'खिल' माना जाता है। उक्त मन्त्रका घनपाठ, जटापाठ आदि भी साक्षिस्वरूप देखा जा सकता है। उनमें भी 'मृताः' है, 'अमृताः' नहीं। सायण-भाष्यमें 'अमृताः' भ्रमसे लिखा है; ऐसे छेदका वहां कोई अवसर भी नहीं है। यदि सायणकी बात प्रतिपक्षी मानें; तब मृतकश्राद्ध भी उन्हें मानना पड़ेगा; क्योंकि—सायणाचार्यने सैकड़ों मन्त्रोंमें मृतक-श्राद्धपरक व्याख्या की है, इस मन्त्रमें भी मृतक-पितरोंका अमृतत्व (देव) कोटिमें जाना उसने माना है; 'अमृताः' का अर्थ उसने 'जीविताः' नहीं किया, न वैसा उसमें अर्थ हो ही सकता है। इससे कोई प्रति-पक्षिसम्मत जीवित-श्राद्धकी सिद्धि नहीं हो जाती। 'पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः' (अथर्व १२। २। ४५) यह तो उस मन्त्रमें 'मृताः' पद होनेकी बड़ी प्रबलसाक्षी है। 'जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिः' (ऋ. १। १६४। ३०) इत्यादि मन्त्रोंमें मृतक-श्राद्ध स्पष्ट है। इसमें सायणभाष्य भी देखा जा सकता है।

श्रीअमरसिंहजी-आर्यसमाजीने जो 'अधा मृताः पितृषु सम्भवन्तु' [१८। ४। ४८] में 'मृताः' के स्थान 'अमृताः' छेद

वेदहत्याका प्रयत्न किया है, वह केवल मृतक-श्राद्धसे अपने बचावकेलिए ही है। अब यह उनका प्रयास विफल हो जानेसे 'मृतक-श्राद्ध' वैदिक सिद्ध हो ही गया; और इस आक्षेप्ता प्रतिपक्षीका मत भी अवैदिक सिद्ध हो गया।

इस 'मृतकश्राद्धखण्डन' नामक क्षुद्र-पुस्तिकामें मृतक-श्राद्ध-सम्बन्धमें प्रतिपक्षीने जो अन्य आक्षेप किये हैं, उनका 'आलोक' के ४र्थ और ५म सुमनमें प्रत्युत्तर देख लेना चाहिये। श्राद्धमें प्रतिपक्षीसे आक्षिप्त मांसका विषय सबकेलिए न होकर देश-विशेष वा पात्र-विशेषके कारण हैं, और वह 'मांसपार्टी'' वालोंकेलिए है। वह घटिया पक्ष है, उत्तम नहीं; क्योंकि—उससे सीमित तृप्ति दिखलाई गई है। जबकि हिन्दुजातिमें शाकभक्षी भी हैं, मांसभक्षी भी; कलक आर्यसमाजमें भी 'घासपार्टी और 'मांसपार्टी' है; तब मांसभक्षी भी अपने कर्तव्यको न छोड़ देवें; अतः उन्हें सर्वसामान्य-मांसकी अभ्यनुज्ञा न होकर विशेषमांसकी अभ्यनुज्ञा दी गई है; उन देशोंके ब्राह्मणादि भी उसका प्रयोग करते हैं; देवीभागवतमें ब्राह्मणोंके भी तीन भेद बताये है—'त्रिधात्वात् सृष्टिधर्मस्य त्रिविधा ब्राह्मणास्ततः। सात्त्विका राजसाश्चैव तामसाश्च तथा परे' [५ । २० । ३८-३९] अतः उसमें उन्हींको बुलाया जाता है; अथवा पितृयज्ञके अग्निमें भी होनेसे वह आहुति अग्निमें हो जाती है, परन्तु मुनियोंके अन्नको उसमें सर्वान्तिम दिखाकर उत्तरपक्षमें रखा गया है—'सत्यमुत्तरः पक्षः' (तैत्ति. उ.२ । ४) देखिये वह उत्तर-पक्ष मनुस्मृतिमें 'आनन्त्यायैव कल्पन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः (३।२७२) यह अलग अन्तिम चतुर्थ-पाद इसीलिए मांसपक्षके बाधनार्थं बनाया गया है। एक लकीरके मुकाबिलेमें बड़ी लकीर खींच देनेसे पहली लकीर स्वतः छोटी और बाधित हो जाती है। मुनियोंके अन्नके सर्वान्तिम उत्तरपक्ष होनेसे

शेष मांसादि-पक्ष बाधित हो जाते हैं। अन्य स्मृतियोंकी व्यवस्था भी सर्वमान्य-मनुस्मृतिके अनुसार होती है। अतः प्रतिपक्षी-से आक्षिप्त मांसपक्षका भी समाधान हो गया।

(१८) आक्षेप—(क) श्राद्धका वास्तविक अर्थ 'जीवित-गुरुजनों, अपने बड़ोंकी यथोचित सेवा—शुश्रूषा करना' है न कि 'जियत पितासे दंगमदंगा। मरे पिता पहुँचाये गंगा ॥ जियत पिताको दीनी न रोटी। मरे पिताको खीर और रोटी' (पृष्ठ १८)

(ख) 'जनिता चोपनेता च यश्च विद्यां प्रयच्छति। अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः' (चाणक्यनीति ५। २२) इससे आदरणीय जीवित माता-पिता तथा गुरुजन आदिके लिए 'पितृ'-शब्दका प्रयोग होता है। मृतक-व्यक्तिकी आत्माके लिए 'पितर'-शब्दका प्रयोग आर्ष-साहित्यमें कहीं भी नहीं हुआ' [पृ.२-३ ४)

प्रत्यु—(क)'श्राद्ध' शब्द परिभाषिक होता है। यदि यौगिक माना जावे. तो ऐसा कौन-सा कार्य है जो श्रद्धा-पूर्वक नहीं किया जाता; तो क्या प्रतिपक्षी सभीको श्राद्ध कहता वा मानता है? प्रतिपक्षी स.प्र.को श्रद्धासे पढ़ता है, तो क्या वह स्वा.द.का मृतक-श्राद्ध करना मानता है? 'पौराणिकपोलप्रकाश'से वह श्रद्धासे अपनी समझमें पुराणोंके खण्डक वचन अपहृत करता है; तो क्या मनसारामजीका वह मृतक-श्राद्ध करना मानता है ? वह अपनी ट्रैक्टमाला बड़ी श्रद्धासे निकाल रहा है; तो क्या अपना श्राद्ध कर रहा है? प्रतिपक्षी यह भी बतावे कि जो उसने 'श्राद्ध' शब्दका अर्थ किया है कि 'जीवित—पितरोंकी सेवा' सो यह अर्थ उसने 'श्राद्ध' शब्दके किस-किस अक्षरका किया है? अथवा उसकी कल्पित इस परिभाषामें शास्त्रीय-प्रमाण क्या है? जीवित माता-पिता

की सेवा तो शास्त्रीय है, पर उसका नाम 'श्राद्ध' नहीं होता; क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं।

प्रतिपक्षी जीवित-गुरुजनोंकी सेवा क्या सदा अमावास्याको करता है, जैसाकि शतपथब्रा. (२।४।२।२)में कहा है ? उसके पास इसकी शास्त्रीय-उपपत्ति क्या है ? अथवा 'आश्विन कृष्ण-पक्ष-में करता हैं श्राद्धे शरदः' (पा.४।३।१२)' उसके पास इसकी क्या सङ्गति है ? जब उसके पास कोई शास्त्रीय वा वैज्ञानिक उपपत्ति नहीं; तब यह उसका पक्ष अशुद्ध तथा अशास्त्रीय एवं अवैज्ञानिक हुआ। यदि अन्नदाता आदिको वह पिता मानता है, तब क्या उनकी सम्पत्ति(जायदाद)का मालिक बनता है ? यदि नहीं, तब वे उसके पिता कैसे हुए ? यदि कोई मूर्ख-पुरुष प्रतिपक्षीको भयसे बचावे; तो क्या वह उसे पिता मानकर उसका श्राद्ध करेगा ? जो कि उसने जीवित-पितासे दंगा तथा मरे पर श्राद्ध-करनेका आक्षेप किया है, सो सनातन-धर्मका यह तो आदेश कहीं लिखा नहीं कि-जीवित-पितासे दंगा किया करो ! वह तो कहता है कि—जीवित माता-पिताकी खूब सेवा करो और उस सेवाका स्तर इतना बढ़ाया कि उसकी मृतकतामें श्राद्धका विधान कर दिया; पर प्रतिपक्षी अपने जीवित तथा मृतक सभी सनातनी बाप-दादों पर उन्हें 'पोप-पाखण्डी' कहकर डण्डे बरसाता है, उन्हें गालियां देता है। स. ध. में ऐसी कुशिक्षा नहीं है।

व्यक्तिगतरूपमें किसी कुपुत्रका विशेष-कारणवश जीवित-पितासे झगड़ा रहे, यह सम्भव है, पर यदि वह पिता मृतक हो गया है; तब यदि पुत्र उसका मृतक-श्राद्ध करता है; तो यह शास्त्रानुकूल करता है—'सुबहका भूला शामको घर आजाए; तो वह भूला हुआ नहीं कहलाता'। वह ऐसा करके अपनी मूर्खता-का प्रायश्चित्त करता है। रामायणमें श्रीरामजीने रावणके

मरने पर विभीषणको कहा था कि'मरणान्तानि वैराणि निवृ न: प्रयोजनम्। क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव' (६।१०६।२५,११३।१००) अर्थात्-वैर मरने तक रहता है; उस बाद नहीं। सो अब वह पूरा हो चुका; अब इसके मृतक-करो। इसी प्रकार उक्त-आक्षेपका परिहार हो गया। मर्या पुरुषोत्तम रामचन्द्रजीने भी मृतक-पिताका श्राद्ध-तर्पण किया 'आनयेंगुदिपिण्याकं चीरमाहर चोत्तरम्। जल-क्रियार्थं गमिष्यामि महात्मनः (२।१०२।२०) 'एतत् ते राजशार्दू विमलं तोयमक्षयम्। । पितृलोकगतस्याद्य मद्दत्तमुपतिष्ठतु, ('ऐंगुदं बदरैर्मिश्रं पिण्याकं दर्भसंस्तरे। न्यस्य रामः सुदुःखार्तो वचनमब्रवीत्'(२९) इदं भुङ्क्ष्व महाराज ! प्रीतो यदशना यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः' (२।१०२।३०) प्रकार महाभारतादिमें स्पष्ट है। अथर्ववेदसं.का १८ वां काण्ड पितृमेध-सम्बन्धी मन्त्रोंसे भरा हुआ है। पितृयज्ञमें 'पितृ' शब्द मृतक-पितरोंका वाचक होता है; वह मनुष्यसे भिन्न योनि मानी जाती है।

प्रतिपक्षी भी मृतक स्वा. द. का अपनी दयानन्द-मत ग्रन्थमालाएं निकालकर उनका तर्पण तथा मृतक-श्राद्ध ही कर रहा है। मृतक-दयानन्द जो शरीर था; वह तो जल अब उसका उससे क्या सम्बन्ध ? फिर भी जो कि-वह मृतक स्वा. द. की सेवा कर रहा है, यह मृतक-श्राद्धका ही एक प्रकार है। इससे वह मृतक स्वा. द. के आत्माकी प्र ही तो समझता होगा। नहीं तो उसे स्वा. दः के मृतक हो से उनसे सब प्रकारका सम्बन्ध तोड़ देना चाहिये। जब मृतक-दयानन्दसे अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ता, तब तक मृतक-उसका पिण्ड नहीं छूट सकता। फिर वह मृतक-श्राद्धका खण्डन

क्यों परस्पर-विरुद्धता कर रहा है ?

आर्यसमाजी-लेखक कोई पुस्तक बनाकर मृतक-स्वा. द. को वह पुस्तक समर्पित करते हैं। देखिये इस पर गुरुकुल-कांगड़ी के स्नातक श्रीचन्द्रमणि-पालीरत्नके निरुक्तभाष्यकी भूमिका। दयानन्द-शताब्दीके अवसर पर आर्यप्रतिनिधि-सभा पञ्जाबने ऋषितर्पणके उद्देश्यसे 'वेदामृत प्रकाशित' किया था। कितना यह डबल मृतक-श्राद्ध है!!! सारी आर्यसमाजों, 'दयानन्द-कालेजों, दयानन्द-आश्रमों, दयानन्द-मठों, विरजानन्द-आश्रमों आदिको खोल कर तथा आर्यसमाजके वार्षिकोत्सवोंमें 'ऋषि-लंगर' खोलकर (यहां ऋषिसे मृतक स्वा.द. का लंगर स्पष्ट है) अपने मृतक-ऋषिके नामसे दूसरोंको खीर-पूड़ी वा अन्न खिलाना। मृतकके नामसे गुरुकुल वा डी.ए.वी. कालेजमें कमरा बनवाना, यह सब आर्यसमाजका बड़ा डबल मृतक-श्राद्ध है, और वह आर्यसमाज दूसरोंको मृतक-श्राद्धसे हटवाता है, यह तो 'याज्जीवमहं मौनी' न्यायकी चरितार्थता हो गई।

(ख) यह ठीक है कि—जीवित-पिताका नाम भी पिता होता है; पर श्राद्धकर्ममें 'पितृ' शब्द वैदिक (आर्ष) साहित्यमें 'मृतक' वाचक है, जो पितृ (चन्द्र)लोकमें गया है। वेदमें स्पष्ट कहा गया है—'पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः' (अथ. १२।२।४५) 'अधा मृताः पितृषु सम्भवन्तु' (अ. १८।४। ४८) इत्यादि वैदिक-प्रमाणोंसे मृतक जो हमारे पूर्वज लोग पितृलोकमें जाते है; उन का विशेष नाम 'पितरः' होता है। यह मनुष्यसे एक भिन्न योनि होती है; जिनको 'देवाः, पितरो, मनुष्याः' (अथर्व. १०।६। ६, १०।१०।२६, ११।१।५, १०।६।३२) इत्यादि बहुत मन्त्रोंमें मनुष्यसे भिन्न-योनि वाला कहा है। इस कारण पञ्च-महायज्ञोंमें 'पितृयज्ञ'को 'नृयज्ञ' से भिन्न कहा है। नहीं तो

'पिता' के भी मनुष्य होनेसे उनमें उसका ग्रहण हो जाता। पर यह भिन्न होनेसे यहांसे मृतक होकर पितृयोनिमें गये हुए पितृ-पितामह आदिका वर्णन सिद्ध होता है; इस विषयमें विशेष-वर्णन 'श्रीसनातनधर्मालोक'के 'मृतक-श्राद्धसिद्धि' (३०० पृष्ठ के) निबन्धमें है।

(ग) पृ. ४५७ में हमने 'तृणजलायुका' न्यायकी आलोचना करते हुए मृतकका पितृ(चन्द्र)लोकमें जाना बताया था। इस विषयमें पृ. ४५८-४६० में 'एक आर्यसमाजी-विद्वान्‌का मत' भी उद्धृत किया था। पितृलोक चन्द्रलोकमें ही हुआ करता है, जैसे कि—सिद्धान्तशिरोमणि गोलाध्याय त्रिप्रश्नवासना १३ वें पद्यमें कहा है—'विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति'। उन्हीं पितरोंकेलिए 'पिण्डपितृयज्ञ (मृतकश्राद्ध) करनेकी आवश्यकता पड़ती है; उसी पिण्डके भक्षणसे स्त्रीको गर्भ भी हो जाता है। उसमें हम आर्य-समाजमें प्रसिद्ध-विद्वान् श्रीरघुनन्दनशर्माकी 'वैदिक-सम्पत्ति' (४थं सं.) के पृ. ३६० से 'पुत्रेष्टियज्ञ' से कुछ उद्धरण देते हैं। इससे भी हमारे ही पक्षकी कि—'मृतक लोग एकदम जन्म न लेकर चन्द्रलोक आदिमें जाते हैं, उनकेलिए श्राद्ध किया जाता है—' सिद्धि होगी; और प्रतिपक्षी-आर्यसमाजीके मतका खण्डन होगा।—

'यह सभी जानते हैं कि—जितने मनुष्य मरते हैं, वे या तो सूर्यलोकको जाते हैं, या चन्द्रलोकको। जो मोक्षको पाते हैं, और आवागमनके चक्करसे छूट जाते हैं; वे सूर्यलोकको जाते हैं; परन्तु जो कर्मवश फिर लौटनेकेलिए जाते हैं, वे चन्द्रलोकको जाते हैं। 'ये वै चास्माल्लोकात् प्रयान्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (कौषीतकी उप.)। चन्द्रमा वीर्यका देवता है। चन्द्रलोकसे जीव मनुष्य-लोकको आते हैं-'तत् पितृलोकाज्जीवलोकमभ्यायन्ति' (शत. १३)।

४ । ७ । ६) और किरणों-द्वारा मनुष्यके वीर्यमें प्रवेश कर जाते हैं—'अस्मिंश्चन्द्रे अधिवद्धिरण्यं तेनायं कृणवद् वीर्याणि' (अथर्व. ६ । २७ । १०) मनुष्यवीर्यसे स्त्रीके गर्भमें आते हैं, इस प्रकारसे पुनर्जन्मका सिलसिला जारी रहता है' (पं. २५-३०) इस प्रकार 'वैदिकसम्पत्ति' में आगे मृतक-पितरोंको पिण्ड देनेका प्रयोजन अपनी शैलीसे बताया है, वह वहीं देखा जा सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि—मृतकजीवका जन्म एकदम नहीं हो जाता, किन्तु चन्द्रलोकादिमें कुछ समय पितृयोनिमें रहकर फिर आकर होता है, उन्हींकेलिए श्राद्ध है; सो तृणजलायुका न्यायका तात्पर्य तुरत मानुषी-पुनर्जन्ममें नहीं है; किन्तु पितृ-देवादिके शरीर लेनेमें है, तब प्रतिपक्षीका अभिप्राय खण्डित हो गया।

(१६) आक्षेप—कौओं और पितरोंमें क्या सम्बन्ध है ? श्राद्धोंमें कौओंको जो विष्ठाभोजी हैं, विशेषकर भोजन क्यों दिया जाता है ? क्या कौओंको पितरोंका दलाल माना जाता है ? अथवा सनातनी-ब्राह्मणोंकी तरह वे भी पितरोंके सोल-एजेण्ट हैं ? (पृ. २३)

प्रत्यु—श्राद्धमें ग्रास गायको भी दिया जाता है, क्या प्रतिपक्षी उसपर भी प्रश्न न करेगा कि—विष्ठा खाने वाली गायको क्यों खिलाते हो ? प्रश्नोंका अन्त तो हो नहीं सकता। कौएके साथ कुत्तेको भी ग्रास दिया जाता है, पर प्रतिपक्षीने उसपर भी उक्त प्रश्न नहीं किया। सो इसपर अब वह संक्षेपसे सुने।—

वेदानुसार यमराज पितृ (मृतकोंके) पति हैं; तब पितृश्राद्धके समय यमदूतोंको भी खिलाया जाता है। 'यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु' (अ. १८ । २ । १३) 'यौ ते श्वानौ यम ! (ऋ. १० । १४ । ११) यहां कुत्तेका वर्णन है। बोधायनीयगृह्यशेषसूत्रमें 'दक्षिणस्यामुत्तरवेद्यां श्वभ्यां हविर्निवेदयते' (१ । २१ । ११) यहां

यमके दूत कुत्तेको हवि दी गई है। इस प्रकार कौवेको निर्ऋति (मृत्युके देवता) का दूत माना है—'इदं यत् कृष्णः शकुनिः (काकः)' (अ. ७ । ६६ । २)।

इसके विषयमें वाल्मीकि-रामायणमें लिखा है—जब मरुत्त-राजाको संवर्त-ऋषिने यज्ञ कराया था; तब देवता भी वहां उपस्थित थे। वहां राक्षसराज—रावण आगया। उसके कारण देवताओंने पक्षियोंका रूप धारण करके अपना बचाव किया। उसमें यमराजने कौएका रूप धारण किया (वाल्मी. ७ । १८ । ५)। रावणके चले जानेपर देवताओंने अपने स्वरूपमें आकर उन पक्षियोंको वर दिया। उनमें यमराजने कौएकेलिए कहा—'ये च मद्विषय-(यमलोकमें) स्था वै मानवाः [पितरः] क्षुधार्दिताः। त्वयि भुक्ते (भुक्तवति) सुतृप्तास्ते भविष्यन्ति सबान्धवाः' (२७) अर्थात् ऐ कौआ; तुम जब बलि खा लोगे; तब यमलोकस्थ पितर तृप्त हो जाएंगे। इसी कारण काकबलि भी शास्त्रानुसार है।

यदि प्रतिपक्षी इस विषयमें हमारी बात नहीं मानता; तो अपने मृत-पितर स्वा. द. का श्राद्ध करनेकेलिए उनकी अपनी बात तो मान लेगा। स्वामीने स. प्र. (पृ. ६२) में पितृयज्ञके साथ बलिवैश्वदेव बताते हुए मृत-पितरोंके नामसे क्योंकि—इस समयके पितर कभी जीवित-पितर नहीं हो सकते, देखो 'आलोक' चतुर्थ-पुष्प (पृ. ३४१-४२) 'पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः' (संस्कारविधि पृ. २१३)। 'ओं पितरः शुन्धध्वम्' (संस्कारविधि पृ. ११८) इस मन्त्रसे अपसव्य होकर (जनेऊ दाहिने कन्धेपर करके) दक्षिणकी ओर मुख करके अन्नका भाग रखाया है, और जलसे तर्पण कराया है, अन्तमें 'श्वभ्यो नमः,···वायसेभ्यो नमः' कुत्ते, कौवे आदिको ग्रास देवे' कहकर उन्हें बलि देनी लिखी

है। इस प्रकार संस्कारविधि (गृहाश्रमप्र. पृ. २१३) में स्वामीने लिखा है–'कुत्ता, चाण्डाल, काक और कृमि इन नामोंसे घृत-सहित लवणान्न पृथिवीमें धरे, और उस-उस (कुत्ता-काक आदि) को देना चाहिये'। ऋभाभू. में भी स्वामीने लिखा है—'कुत्तों···काक आदि पक्षियों और चींटी आदिकेलिए भी भाग अलग-अलग बांट देना, और उनकी प्रसन्नता करना' (शताब्दी. पृ. ५९८)। मनुस्मृतिमें तो यह स्पष्ट लिखा ही है–'शुनां च पतितानां च···वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि' (३।९२)। आशा है–अब स्वामीजीका कौआ विष्ठा-भोजी नहीं रहा होगा।

वैतरणी-नदीका त्रिविष्टपमें वर्णन आता है; पर 'त्रिविष्टप' यह तिब्बतका नाम नहीं, जैसाकि प्रतिपक्षीने लिखा है। यह तो स्वर्गलोकका नाम है। इसपर हम अन्यत्र लिख चुके हैं। जो कि–श्राद्धादिके दिनोंमें कनागतों (कन्यागत-सूर्यके दिनों) में क्षौर आदि नहीं कराई जाती; उसमें कारण यह है कि-'ततः शेषाणि कन्याया यान्यहानि तु षोडश। क्रतुभिस्तानि तुल्यानि पितृभ्यो दत्तमक्षयम्' (सूर्यसिद्धान्त १४। ६) कन्यागत-सूर्यके दिनों [कनागतों]को पितरोंकेलिए यज्ञका दिन (पितृयज्ञ) माना है। तो यज्ञ-दीक्षितको ब्रह्मचारी रहना पड़ता है, और उस ब्रह्मचर्यमें 'दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः' (अथर्व. ११।५।६) मुण्डन आदि नहीं कराना पड़ता; 'दीर्घश्मश्रु' का अर्थ स्वा. द. जीने सं. वि. (पृ. ९८) में 'डाढ़ी-मूँछ आदि पञ्चकेशोंको धारण करने वाला ब्रह्मचारी होता है' यह किया है। मुण्डन करनेकेलिए नाई (शूद्र) का स्पर्श भी होना हुआ; सो यज्ञमें ठीक नहीं होता। यज्ञमें तो शूद्रसे सीधी बातचीत करना भी वर्जित है 'न वै देवाः सर्वेणेव संवदन्ते, ब्राह्मणेन वा एव, राजन्येन वा, वैश्येन वा' ते हि यज्ञियाः' [शूद्रो न यज्ञियः, तस्मात् तेन सह साक्षाद् न

संवदेत्–वह आगे स्पष्ट है] (शतपथ ३।१।१।१०)। रजकको वस्त्र देनेमें उनका कई गन्दे वस्त्रोंसे योग होनेकी सम्भावना रहती है, इधर रजकके भी अशुद्ध (स.प्र. ११) होनेसे यज्ञमें उस से धुले हुए वस्त्रका भी निषेध है। इत्यादि बहुत कारणोंसे क्षौर आदिका पितृयज्ञमें निषेध किया गया है। दूसरा–रजकके वस्त्र, नाईसे हजामत-यह सब शृंगारार्थ होते हैं, पर पितृयज्ञमें मृतक-कर्म होनेसे शोकावेशमें शृंगार करना उचित भी नहीं जंचता। इस विषयमें विशेष-विवरण श्राद्ध विषयमें किसी पुष्पमें लिखा जाएगा। उसमें छोटे-मोटे सभी प्रश्न समाहित कर दिये गये हैं।

श्रीदेवीभागवतपुराणके प्रमाण।

२० प्रश्न–आपके प्रतिपक्षीने अपने ट्रैक्टोंमें देवीभागवत-पुराणके बहुतसे प्रमाण दिये हैं; इससे प्रतीत होता है कि–उससे आर्यसमाजके पक्षकी सिद्धि है। आप क्या देवीभागवतको पुराण मानते हैं? कई विद्वान् उसकी गिनती महापुराणोंमें न करके उपपुराणमें करते हैं। आप भी वैसा मानिये। यदि आप इसकी भी पुराणोंमें गणना करते हैं; तो पुराण १९ हो जाएंगे, और इस आपके प्रतिपक्षीसे अभिमत इस पुराणके माननेसे सनातन-धर्मके पक्षकी हानि होगी, इसमें बड़ी भयानक विरुद्ध-बातें लिखी हैं; अतः इसका मानना ही बन्द कर दीजिये, और इसकी घोषणा निकाल दीजिये। (तटस्थ)

प्रत्यु–यह ठीक है कि प्रतिपक्षीने देवीभागवतके बहुतसे प्रमाण दिये हैं; इससे प्रतीत होता है कि–वह देवीभागवतको अपने पक्षका समझता है। वस्तुतः प्राचीन-साहित्यका का कोई भी पुस्तक प्रतिपक्षीके मतका नहीं। इसलिए यह लोग उन ग्रन्थोंके पूर्वापर-प्रकरणको प्रायः छिपा कर और कहीं शब्दोंकी तोड़-मरोड़ कर-के संस्कृतज्ञानसे रहित जनताके सामने उन वचनोंको रख कर

अपना निर्वाह करनेकी चेष्टा करते हैं। हम प्रतिपक्षीसे दिये गये हुए देवीभागवतके वचनोंका पूर्वापर दिखलाकर वहां-वहां समाधान कर चुके हैं। कुछ यहां भी कर देते हैं, जिससे साधारण-जनताको भ्रम न रहे। इससे प्रतिपक्षीका पक्ष सर्वथा विच्छिन्न हो जायगा।

(क) प्रतिपक्षीने डंकेकी चोटसे कहा था कि–'रामावतार विष्णुको पापोंमें लगे शापोंका दण्ड भुगतनेकेलिए हुआ था, उसका उद्देश्य लोक-कल्याण नहीं था' (२०) पर देवीभागवत स्पष्ट कहता है–'एवं युगे-युगे विष्णुरवतारान् अनेकशः। करोति धर्मरक्षार्थं ब्रह्मणा प्रेरितो भृशम्' (४। २। ३७) यहां व्यभिचारार्थ न कहकर भगवान्-विष्णुका अवतार ब्रह्माकी प्रेरणासे धर्मरक्षार्थ कहा है। 'ततस्तेनाथ शापेन, नष्टे धर्मे पुनः-पुनः। लोकस्य च हितार्थाय जायते मानुषेष्विह' (४। १२। ६) यह भी व्यासजीका अपना वचन है; इसमें उन्होंने मनुष्यावतारको लोकहितार्थ बताया है। 'कारणानि बहून्यत्राप्यवतारे हरेः किल' (४। ३।१) यहां अवतारोंके बहुतसे कारण माने गये हैं, केवल शापका फल भुगतना उसमें कारण नहीं होता। वह तो उसमें आकस्मिक-निमित्त हो जाता है, वास्तविक-कारण नहीं। वास्तविक-कारण तो उसमें लोककल्याण ही होता है; जिसे पुराणकारने पूर्व कह दिया है, और पदे-पदे स्पष्ट भी कर दिया है। नहीं तो मनुष्यावतारमें आने और द्युलोकसे इस लोकमें उतरने (प्रकट होने) तथा देवत्वसे मनुष्यत्वमें अवतरणकी आवश्यकता ही क्या थी? शापका दण्ड विष्णुलोकमें मिल जाता, मनुष्यलोकमें जानेकी आवश्यकता ही नहीं थी। यहां आना 'तौ हि कृष्णार्जुनौ जातौ भूभारहरणाय च'। (देवीभा. ४। १७। २३) पृथिवीके भारहरणार्थ है। 'भूभारहरण'का भाव है–पृथिवीसे पापियोंको नष्ट करके, दैत्यों वा उनकी प्रकृतिवालों-

को दूर करना। क्योंकि पृथिवीकेलिए पापियोंका भार असह्य होता है। पहाड़ों और समुद्रोंका भार पृथिवी नहीं मानती। जैसे कि–नैषधचरितमें सूचित किया है–'तेन भूमिरतिभारवतीयं न द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रैः' [५। ८८] इससे प्रतिपक्षीका व्याज कट गया। शेष पृ. २५३-२५७ में देखिये।

[ख] "क्या कोई पौराणिक-विद्वान् यह सिद्ध कर सकता है कि–रामावतार स्वेच्छासे लोककल्याणकेलिए हुआ था? ... माननेवालेको देवीभागवत [५। १। ४७-५०] में मूर्ख बताया है" [७ म पुष्प पृ० २५३] यह प्रतिपक्षीकी उक्ति है। पर प्रतिपक्षीको जानना चाहिये कि– देवीभा.के उक्त स्थलमें लिखा है– 'मन्दोपि दुःखगहने गर्भवासेतिसंकटे। न करोति मतिं विद्वान् कथं कुर्यात् स चक्रभृत्' [४८] अर्थात्–'मूर्ख पुरुष भी मलपूर्ण गर्भवासमें मति नहीं करता, तब भला नित्यमुक्त विष्णु, गर्भवासकी मति कैसे करेगा?'

आज तक सभी शास्त्रोंमें मुक्तिको परमपुरुषार्थ तथा उसमें सदाकेलिए निवास माना गया है; पर प्रतिपक्षीके ऋषि इस मुक्तिको पसन्द नहीं करते। वे कहते हैं-'मुक्तिमें जाना, वहांसे पुनः ... ही अच्छा है। क्या थोड़ेसे कारागारसे जन्म–कारागार दण्ड ... प्राणी वा फांसीको कोई अच्छा मानता है? ब्रह्ममें लय होना समुद्रमें डूब मरना है' [यहां स्वामीने मुक्तिको सारे जन्मका जेलखाना, ... फांसी वा समुद्रमें डूब मरना कहा है'] [स. प्र. पृ. १५१] '... च दृशेयं मातरं च' [ऋ. १। २४। १-२] 'जो सदा-मुक्त परमात्मा हमको मुक्तिमें आनन्द भुगाकर पृथिवीमें पुनः माता-पिताके सम्बन्धमें जन्म देकर माता-पिताका दर्शन कराता है' [स. प्र. पृ. १५०] इन अपने वचनोंसे स्वा. द. जी जन्म-मरणके बन्धन तथा मुक्तिसे पिताके मल [द्वादशैते नृणां मलाः' मनु. ५। १३५ ...

शुक्रमें तथा माताके विष्ठा-मलसमाकुल पेटमें आना अच्छा एवं वैदिक मानते हैं; तब वे दे. भा. के प्रतिपक्षिसम्मत 'मन्दोऽपि दुःखगहने गर्भवासेति-संकटे । न करोति मतिं' इस वचनके अनुसार अपने शिष्य-प्रतिपक्षीके समर्थित शब्दोंमें 'मूर्ख' हुए या नहीं, (यह हमारे शब्द नहीं- किन्तु प्रतिपक्षीसे समर्थित शब्द हैं) जो स्वयं अपनी इच्छासे वेदका अर्थ पलटकर मुक्तिसे माताके विष्ठा-युक्त गर्भमें पुनर्जन्म द्वारा बलात् आना चाहते हैं-यह बताना प्रतिपक्षीका काम है । पुनर्जन्म परमपुरुषार्थ हो गया ।

प्रजापति विष्णु तो भला विष्ठामल-समाकुल कौसल्या एवं देवकीके गर्भमें कैसे रहें, वे तो 'प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते' (यजुः ३१ । १९) के अनुसार तथा ब्रह्मवैवर्तादि-पुराणोंके पहले कहे अनुसार गर्भमें बिना उत्पन्न हुए ही प्रसवसमयमें वायु निकल जानेपर बाहर प्रकटमात्र हो जाते हैं; अतः वहां कोई दोष नहीं आता । इसलिए उनके शरीरको भौतिक नहीं माना जाता (भाग. १ । १४ । २) ।

शेष है स्वेच्छासे विष्णुद्वारा अवतार धारण करना; वे तो अपने भक्तोंकी इच्छा-पूर्तिकेलिए तथा देवकार्यकेलिए अवतार धारण करते हैं । जैसा कि-देवीने स्वयं विष्णुको कहा था-'अवताराः सुविख्याताः पृथिव्यां तव भाग्यशः । भविष्यन्ति धरायां वै माननीया महात्मनाम्' (३ । १३ । ४३) ताभिर्युक्तः सदा विष्णो ! सुर-कार्याणि माधव ! साधयिष्यसि' (४६) स्वेच्छासे भला कोई ऊपर (अपनी त्रिपाद-महिमावाले द्युलोक (यजुः ३१ । ३)से एकपाद महिमावाले भूलोक (यजुः ३१ । ३)में अवतरण कौन चाहता है ?

जो कि देवीभागवतका प्रतिपक्षिप्रोक्त वचन है, उसमें तो यह भाव है कि-'जानीहि त्वं महाराज ! योगमायावशे जगत्'

(५३) अर्थात्-भगवान् भी अपनी माया-शक्तिके वशवर्ती होते हैं-'न विष्णुर्न हरः शक्रो न ब्रह्मा न च पावकः । न सूर्यो वरुणः, शक्तः स्वे स्वे कार्ये कथञ्चन । तया [शक्त्या] युक्ता हि कुर्वन्ति स्वानि कार्याणि ते सुराः' (देवी. १ । ८ । ३८-३९) अर्थात् सभी देवता अपनी शक्तिसे ही कार्य कर सकते हैं, शक्तिसे हीन नहीं ।' शक्तिसे हीन 'शिवोऽपि शवतां याति'(१ । ८ । ३१) 'शक्तिहीनं तु निन्द्यं स्याद् वस्तुमात्रं चराचरम्' (३३) इसी कारण भगवान्को भी सभी सम्प्रदाय 'सर्वशक्तिमान्' कहते हैं कि-वे भी अपनी शक्तिके वश रहते हैं ।

वह शक्ति भी वस्तुतः उनसे भिन्न नहीं है; क्योंकि-शक्ति और शक्तिमान् भिन्न नहीं रहते, और न ही उनमें भेद रहता है । स्वयं देवीभागवत यह अभेद बतलाता है-'सा च [शक्तिः] ब्रह्मस्वरूपा च नित्या सा च सनातनी । यथाऽऽत्मा च तथा शक्ति-र्यथाऽग्नौ दाहिका [शक्तिरभेदेन] स्थिता' (९ । १ । १०) अर्थात् जैसे अग्निमें दाहिका शक्ति उसमें अभेदसे रहती है, वैसे ही शक्ति देवोंमें । 'अत एव हि योगीन्द्रैः स्त्री-पुंभेदो न मन्यते (११)स्वयं देवीका भी यह वचन है-'सदैकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वदैव ममास्य च । योऽसौ साहमहं योऽसौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात्' (३ । ६ । २) 'जले शीतं, यथा वह्नौ औष्ण्यं, ज्योतिर्दिवाकरे' (१६) ये विभेदं करिष्यन्ति मानवा मूढचेतसः । निरयं ते गमिष्यन्ति विभेदान्नात्र संशयः' (५४) इससे शक्ति तथा शक्तिमान्का आपसमें अभेद सिद्ध होता है, केवल व्यावहारिकताकेलिए उपाधिभेद बताया जाता है । लोहा होनेपर भी व्यवहारकेलिए उसे 'कुल्हारा' कहा जाता है । वस्तुतः जल होनेपर भी व्यवहारकेलिए उसे 'बर्फ' कहा जाता है । वस्तुतः मट्टी होनेपर भी उसे व्यवहारार्थ 'घड़ा' कहा जाता है । तब प्रतिपक्षीकी (अव. पृ.

६७-६८-६६-१००-१०१ में) कही हुई सभी आपत्तियां पूर्वापर-प्रकरण छिपा देनेसे केवल जनवञ्चनार्थ हैं। पुराणमें वैसे वचन शक्तिकी महत्ताके प्रकाशनार्थ हैं।

सर्वशक्तिमान्‌की सामर्थ्य भी तो शक्तिके ही कारण होती है; अतएव शक्तिको महत्ता सभी देवोंका, बल्कि देव-देवका भी शक्तिके अधीन रहना स्वतः-सिद्ध है; तब उसपर उपालम्भ क्या ? शक्ति सबका करण (क्रियामें प्रकृष्टोपकारक) होनेसे उसे यदि उपाधिभेदसे सबका मुखिया बताया जाता है; तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं। यहां आपातदृष्टिको-जिसमें दोषका अध्यास होता है-छोड़ कर दूरदर्शिताका दृष्टिकोण अपनाना सब शङ्काओंका समाधानकारक सिद्ध होगा।

'केनोपनिषद्'में भी यही शक्तिकी महिमा प्रकट की है। यक्षके सामने अग्नि आया, परन्तु वह तृणको न जला सका; क्योंकि- उसकी शक्ति खींच ली जानेसे उसमें नहीं रही थी, (३।६)। वायु आया, वह तृणको न उड़ा सका (३। १०)। इसके बाद इन्द्र आया; यक्ष अन्तर्हित हो गया। इसके बाद इन्द्र हैमवती-उमा (शक्ति) से मिला—'स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहु शोभमानाम् उमां हैमवतीम्' (३।१२)। उसने समझाया कि उसी देव-देवकी शक्ति ही तुममें काम कर रही है, उस शक्तिका आकर्षण होने पर अग्नि भी नहीं जला सकता। उसी वेदके ब्राह्मणभागान्तर्गत इस उपनिषद्का देवी-भागवत-पुराण विस्तीर्ण एवं रोचक भाष्य है। देभा. (१२।८)में वही केनोपनिषद् वाली कथा आ भी गई है।

(ग) जो कि प्रतिपक्षी विष्णु-आदिका परस्पर भेद कहता है, उसपर वह दे.भा.का ही वचन देखे-'एका मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः। रजः-सत्त्व-तमोभिश्च संयुताः कर्मकारकाः।

तेषां मध्ये हरिः श्रेष्ठो माधवः पुरुषोत्तमः। आदिदेवो जगन्नाथ: समर्थः सर्वकर्मसु' (१।८।४-५) 'साऽऽद्या शक्तिः परिणता स्मिन् या प्रतिष्ठिता। दाहशक्तिस्तथा वह्नौ समीरे प्रेरणात्मिका' (३०) इनमें शक्ति और शक्तिमान्‌का अभेद कहा गया है। द्रुहिणे(ब्रह्मामें) सृष्टि शक्तिश्च; हरौ पालनशक्तिता। हरे संहार-शक्तिश्च सूर्ये शक्तिः प्रकाशिका' (२८-२९) इन सभी देवोंमें शक्तिका ही चमत्कार दिखलाया गया है। स्वयं देवी भी हरि-हरका अभेद बताती है—'यो हरिः स शिवः साक्षाद् यः शिवः स्वयं हरिः। एतयोर्भेदमातिष्ठन् नरकाय भवेन्नरः' (३।६।५५)। यहां स्पष्ट हरि-हरका अभेद दिखलाया गया है। उपाधि-भेद उपाधिके हट जाने पर स्वयं हट जाता है।

शिव-पुराणादिमें विष्णुकी; तथा विष्णुपुराणादिमें शिवकी निन्दाके क्वाचित्क वचन जो आते हैं; वे अल्पश्रुत भेददर्शियोंके लिए हैं कि-कभी वे किसीके, और कभी अन्य किसीके उपासक बनते-हटते रहें; तो 'संशयात्मा विनश्यति' (गीता. ४।४०) के वे उदाहरण बन जावेंगे। उनके संरक्षणार्थ उन भेद-दृष्टिवालोंमें अनन्यनिष्ठता लानेकेलिए शिवभक्तकी शिवमें, विष्णुभक्तकी विष्णुमें भक्ति स्थिर रखनेकेलिए उस-उससे भिन्न देवके निन्दार्थवाद बताये जाते हैं; पर जो बहुश्रुत अभेददर्शी हैं, केवल उपाधिभेद माना करते हैं, वास्तविक भेद नहीं मानते; वे किसी भी देवकी पूजा करें। वे संशयग्रस्त होनेसे कोई भी हानि प्राप्त नहीं करते। वे जानते हैं कि-उपाधि के हट जानेपर उपाधिभेद स्वयं हट जाता है, वहां अभेदमें पर्यवसान हो जाया करता है।

देखिये-मार्कण्डेय-पुराणकी दुर्गासप्तशतीमें शुम्भ-निशुम्भसे युद्ध करनेकेलिए-ब्रह्माणी (८। १५), माहेश्वरी (८।

कौमारी (१७), वैष्णवी (१८), वाराही (१६), नारसिंही (२०) ऐन्द्री (२१) आदि शक्तियां भी आई थीं। निशुम्भ मारा गया, सेना भी। अकेला शुम्भ दैत्य बच गया, कहने लगा कि–देवि ! तू दूसरोंके बल-बूतेसे लड़ रही है, अभिमान न कर; तब देवीने कहा–'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा' (१०।५) मैं एक हूँ, दूसरी मुझसे भिन्न यहां कौन है ? यह तो सब मेरी विभूतियां (उपाधियां) थीं।' वे सब उसीके शरीरमें प्रवेश कर गईं, देवी एक ही रह गई।

(नृसिंह-रूपसंहारपर पुन: स्पष्टता)

[घ] [अ] देवीने कहा–'अहं विभूत्या बहुभिरिह रूपैर्यदा स्थिता। तत् संहृतं मयैकैव तिष्ठाम्याजौ स्थिरो भव' [१०।८] अर्थात्–अब तक मैं उपाधियोंमें अनेक-रूपोंमें ठहरी थी, उन सब को मैंने अपनेमें संहृत कर (समेट) लिया है; मैं एक ही हूँ'। यही बात लिङ्गपुराण वा शिवपुराणमें शिवद्वारा अपने तेज, केवल उपाधिभेदसे भिन्न, नृसिंह-तेजको अपनेमें समेटनेमें भी 'तेजस्तेजसि शाम्यतु' [उत्तरराम. ५।७] इस न्यायके उदाहरणमें विवक्षित है, जिसे प्रतिपक्षीने न समझ कर 'नृसिंह-अवतारवध' में आक्षेप किया है। देवताओंका शरीर पार्थिव नहीं होता कि—यह घटना उनमें न घट सके; किन्तु देवताओंका शरीर तैजस वा वायव्य होता है। इसी विलक्षणताके कारण उनमें अणिमादि-सिद्धिवश वे अपने शरीरको छोटा कर देनेमें भी समर्थ हो जाते हैं, अन्तर्धान हो जाते हैं, प्रकट हो जाते हैं। एक-दूसरेके शरीरमें विलीन हो जाते हैं। पार्थिव-शरीरों वाले मनुष्योंमें यह बातें अलबत्ता सम्भव नहीं होतीं, हां, योगी लोग अपनी समाधि एवं तपस्या-द्वारा अपने शरीरके पार्थिव-परमाणुओंको कम करके और तेज वा वायुके परमाणुओंको बढ़ाकर अणिमादि-सिद्धि प्राप्त करके

फिर देवताओं वाले व्यवहार कर सकते हैं, सर्वसाधारण नहीं।

[आ] आक्षेप्ता प्रतिपक्षियोंके नेता स्वा. द. जी भी अपने वेदभाष्यमें योगियोंके विशेष-चमत्कार मान गये हैं। देखिये [क] योगिजन योगाभ्यासके पूर्ण नियम करते हुए ...... आकाश और पृथिवीको चढ़ जाते हैं, अर्थात्–लोकान्तरोंमें इच्छा-पूर्वक चले जाते हैं' (यजु: १७। ६८) (ख) 'योगके अङ्गोंके अनुष्ठान, संयम, धारणा, ध्यान, समाधिमें परिपूर्ण मैं पृथिवीके बीचसे आकाशमें उठ जाऊं..... (भावार्थ) जब मनुष्य अपने आत्माके साथ परमात्माके योगको प्राप्त होता है; तब अणिमा-आदि सिद्धि उत्पन्न होती है। उसके पीछे कहींसे न रुकने वाली गतिसे अभीष्ट स्थानोंको जा सकता है' (यजु: १७। ६७)। (ग) 'जो योगी पुरुष तप:-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान आदि योगके साधनोंसे योग (धारणा, ध्यान, समाधि, संयम) के बलको प्राप्त होता और प्राणियोंके शरीरमें प्रवेश करके, अनेक शिर, नेत्र आदि अङ्गोंसे देखने आदि कार्योंको कर सकता है। अनेक पदार्थोंका सेवन कर सकता है' (यजु:० दयानन्द-भाष्य १७। ७१)

(इ) जब ऐसा है, तब इस तैजस आदि शरीरकी विशेषताके कारण देवताओंमें परस्पर तेजका आदान-प्रदान एवं आकर्षण-विकर्षण सम्भव हो जाता है। तैजस-वायव्य आदि अयोनिज शरीर लोकान्तरों (देवलोकों) के देवोंमें होते हैं। इसकेलिए प्रतिपक्षी वादि-प्रतिवादि-मान्य न्यायदर्शन-वैशेषिकदर्शनादिके प्रमाण देखे। न्यायदर्शनमें लिखा है—'तत्र मानुषं शरीरं पार्थिवम्। ...... आप्य-तैजस-वायव्यानि लोकान्तरे (मनुष्य-लोकसे भिन्न देवलोकोंमें) शरीराणि' (३।१।३८) अर्थात् मनुष्य-शरीर तो पृथिवीका होता है, पर लोकान्तरस्थ देवोंके शरीर जलीय,

तैजस या वायव्य होते हैं। योगियोंकी भी इसी विशेषताको बताते हुए न्यायदर्शनमें कहा है—'योगी खलु ऋद्धौ प्रादुर्भूतायां [अणिमा आदि सिद्धि प्राप्त होनेपर) विकरणधर्मा (विशेष सामर्थ्यवाला होकर) निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि तेषु-तेषु युगपद् ज्ञेयानि लभते' (३।२।१९)। वैशेषिकदर्शनमें कहा है—'तत्र शरीरं द्विविधम्—योनिजम्, अयोनिजं च' (१४।२।५)। स्वा०द०जीके बहुत मान्य प्रशस्तपादभाष्यमें कहा है—'तत्र अयोनिजम् [शरीरम्] अनपेक्ष्य शुक्रशोणितं, देव-ऋषीणां शरीरं धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते'। (पृथिवीनिरूपण)। विशेषरूपसे यह विषय प्रतिपक्षी 'आलोक'के छठे पुष्प (पृ० ६३४-६३५-६३६-६३७-६३८-६३९-६४०-६४१-६४२-६४३ आदि) में देखे, जिसका प्रत्युत्तर देनेमें 'अवताररहस्य'में असमर्थ होकर (पृ० ५० में) प्रतिपक्षीने हमें 'सनातनधर्मकी दूसरी बड़ी तोप' उपाधि देकर हमारे उत्तरोंके प्रत्युत्तर देनेमें अपना 'चारों खाने चित्त होकर गिरना' अपने मुखसे ही प्रकट कर दिया है; उसे धन्यवाद हो। अस्तु।

(ई) इन बातोंको न समझकर 'नृसिंह-अवतारवध' ट्रैक्टमें तद्विषयक आक्षेप करना प्रतिपक्षीका दार्शनिक ज्ञान न होना ही है। कई साधारण साईकल होते हैं, कई सर्कसोंके बने हुए विशेष। सर्कसोंके साईकलोंसे जो कार्य हो सकते हैं; वे जनसामान्यके साईकलोंसे नहीं हो सकते। इसलिए **दिव्य-शरीरोंमें मानुषी-शरीरसे विलक्षणता होनेसे** उनमें प्रतिपक्षीका मानुषी-शरीरों जैसी शङ्का करना उसकी अल्पश्रुतता है। इससे उसका 'नृसिंह-अवतारवध' ट्रैक्ट खण्डित हो गया। पार्थिव शरीर ऊपरसे गिरे, **तो उसे** बड़ी चोट लगेगी; पर यदि तैजस वा वायव्य शरीर ऊपर **से गिरे**; तो उसे चोट नहीं लगेगी। पार्थिव शरीरको काटा जाय;

तो उसे बड़ा कष्ट होता है; उसीका नाम वध भी होता है। तैजस आदि शरीरोंमें ऐसा नहीं होता।—जैसे किसीकी बाहु कोई काट ले; तो उसे दर्द होता है; पर रबड़की बनी हुई बाहुको कोई काट ले; वा अलग कर ले; तो वहां उस व्यक्ति कोई कष्ट नहीं होता; न उसका नाम काटना ही होता है। किसीके दांतोंको उखाड़ दिया जाय तो कितनी तकलीफ होती है; पर कोई किसीके मुखमें जड़े हुए डेंटिस्टसे बने हुए दांत निकाल दे; तो उससे न तो कोई तकलीफ होती है, और न दांतोंका उखाड़ना ही कहा जाता है; वैसे प्रकृत-विषयमें नृसिंहके पार्थिव-शरीर न होनेसे, तैजस-शरीरमें पार्थिव-शरीर से विलक्षणता स्वयं समझ लेनी चाहिये। यहां तो दांतों दूसरेके द्वारा खींचना न समझकर शिव-विष्णु(नृसिंह)के आ वश अपने ही डेंटिस्ट वाले दान्तोंको मुंहसे बाहर दृष्टान्तित कर लेना चाहिये। अब इस विषयमें प्रकृतोप दृष्टान्त भी देख लेना चाहिये—

(उ) देवीके शरीरमें अन्य-देवियोंके शरीरोंका प्रवेश पहले मार्कण्डेयपुराणसे जो लिख चुके हैं, इसमें वही दे शरीरकी **तैजसता ही कारण है**। इसी प्रकारका नृसिंह-रूपका भी वहांपर विवक्षित हैं, जिसे प्रतिपक्षीने अज्ञानवश आ किया था। पूर्व-उद्धरणानुसार दुर्गासप्तशतीमें नारसिंही, वैष्ण वाराही, माहेश्वरी आदि देवियों (शक्तियों) का भी मार्क पुराणकी देवीने संहार कर दिया था; तो प्राकृत-दृष्टि अल्पज्ञ प्रतिपक्षी क्या उन्हें मार देना मानेगा? नहीं, अपनेसे भिन्न हुए तेजको फिर अपनेमें उपसंहृत कर देना, से अभिन्न कर देना ही यह होता है। उसे लौकिक प्राकृत भले ही 'वध' कह ले, परवस्तुतः यहां संहारका भाव

वध न होकर, दूसरे उपाधि-भेदसे भिन्न हुए अपने ही तेजको अपनेमें समेटना ही दैवी-योनियोंमें विवक्षित होता है। वास्तविक-वध तो पार्थिवशरीरोंमें ही माना जाता है, तैजसोंमें नहीं।

(ऊ) जैसे प्रस्ताव वा निबन्धमें पांचवां अवयव 'उपसंहार' हुआ करता है, उसमें पूर्व-विषयका अन्त होता हैं। वहां 'अन्त और उपसंहार' शब्द जो लौकिक 'वध' शब्दके वाचक हैं, प्रयुक्त तो होते हैं, पर पार्थिवता न होनेसे वहां वस्तुतः विषयका मारना अर्थ नहीं होता, किन्तु अपने ही बिखरे विषयोंका एक स्थानपर समेटना, संक्षेप करना, वा अभेद करना ही हुआ करता है; वैसे नृसिंहतेज के महादेव-द्वारा आकर्षणमें भी यही रहस्य है। वहां भले ही "संहृत, संहार, वध आदि शब्द आवें, पर नृसिंह, कूर्म, वराह आदि अवतारोंको प्राकृत, पार्थिव-शरीर न होनेसे (जिसका श्रीमद्भागवतमें 'अस्याऽपि देव! वपुषो···स्वेच्छामयस्य, नतु भूतमयस्य' (१।१४।२) 'जन्म कर्म च मे दिव्यं' (गीता ४।९) संकेत दिया गया है) वहां वस्तुतः वध नहीं होता है; किन्तु अपने ही उपाधिभेदसे भिन्न तेजका पुनः अपने तेजमें समेटना ही अर्थ होता है। जैसे कि—दुर्गासप्तशतीमें देवीने नारसिंही आदि देवियोंको शुम्भ-दैत्यके 'बलावलेपाद् दुष्टे! त्वं मा दुर्गे! गर्वमावह। अन्यासां बलमाश्रित्य युध्यसे याऽतिमानिनी' (१०।३) इस उपालम्भ देनेसे अपने शरीरमें समेट लिया था, जिसे वहां 'ततः समस्ताः ता देव्यो ब्रह्माणी-प्रमुखा लयम्। तस्या देव्याः तनौ जग्मुः एकैवासीत् तदाम्बिका (६) 'अहं विभूत्या बहुभिरिह रूपैर्यदा स्थिता। तत् संहृतं मया—एकैव तिष्ठामि' (१०।८) लय, संहृत आदि शब्दोंसे कहा है, वहां वस्तुतः 'वध' अर्थ न होकर भेदमें अभेद अर्थ ही विवक्षित होता है, जिसे देवीने यह कहकर स्पष्ट कर दिया है कि—'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का

ममाऽपरा। पश्यैता दुष्ट! मय्येव विशन्त्यो मद्-विभूतयः' (१०।५) यहां देवीने स्पष्ट कह दिया है कि—मैं एक हूँ, मेरी बिखरी हुई जो शक्तियां थीं; अब मुझमें प्रविष्ट—(विलीन) हो गई हैं; अर्थात् अभेद हो गया है, इस प्रकार शिवमें शिवपु. वा लिंगपुराणके अनुसार नृसिंह-नामक महादेवके अपने तेजका महादेवमें अभिन्न कर देना ही वहां अभिप्रेत है, मारना नहीं।

(ऋ) प्रतिपक्षी अल्पश्रुत होनेसे, वा पुराणमें अश्रद्धालु होनेसे यदि फिर भी न समझ वा मान सके, तब हम उसे एक और भी दृष्टान्त देते हैं। कहते हैं कि—अलवर, जयपुर, कश्मीर हैदराबाद आदि रियासतोंका भारतमें विलीनीकरण हो गया, अथवा विलय हो गया; तो क्या प्रतिपक्षो यह कहेगा कि—भारतने इन रियासतोंको मार डाला? नहीं, यहां अमैथुनयोनिता होनेसे भारतके ही अङ्ग जो रियासतें बिखरी पड़ी थीं, उन्हें भारतमें उपसंहृत कर दिया; भेदवाद हटाकर भारत जैसे एक कर दिया गया; वैसे ही महादेव (महान्-देव)की ही हिरण्यकशिपुके मारणार्थ पृथक्की हुई नृसिंहरूप-अपनी शक्तिको उस महान् देवने फिर अपनेमें विलीन कर दिया। अब कहां गया प्रतिपक्षीका नृसिंह—अवतार-वध' ट्रैक्ट, उसका भी अब इस लेखनी-वज्रसे संहार हो गया। इस विषयमें पहले हम सूत्ररूपसे (पृ. १६९-७०-७१-७२में) कह चुके हैं, उस सूत्रका यहां कुछ भाष्य हमने कर दिया है, कुछ और भी करते हैं—

(ॠ) अन्य यह भी बात है कि—काव्यमय रचना होनेसे ऐसे स्थलोंपर आलङ्कारिकता भी प्रयुक्त की जाती है। जैसे कि—कादम्बरीमें राजा शूद्रककेलिए लिखा है—'नाम्नैव यो निर्भिन्नारातिहृदयो विरचित-नरसिंहरूपाडम्बरम्, एकविक्रमाक्रान्त-सकलभुवनतलो विक्रमत्रयायासितभुवनत्रयं हसति स्मेव वासुदेवम्'

अर्थात् राजा शूद्रक विष्णुभगवान् पर हंसा करता था, क्योंकि शूद्रकनेतो अपने नामसे ही शत्रुओंकी छाती फाड़ डाली थी; पर विष्णुको तो शत्रु-हिरण्यकशिपुको मारनेकेलिए नृसिहावतारका आडम्बर धारण करना पड़ा था। शूद्रकने एक ही विक्रम [अद्विनोग-बल] से सारे भुवनोंको आक्रान्त कर लिया था; पर विष्णुको तो तीन विक्रम [वामनावतारमें तीन पाँव रखने) से तीन भुवनोंको तकलीफ देनी पड़ी; तब क्या प्रतिपक्षी यही समझता रहेगा कि—राजा शूद्रक विष्णुपर कह-कहे लगाकर हँसा करता था; और उसके नामने शत्रुओंकी छांती सचमुच ही फाड़ डाली थी ? नहीं, इसपर सभी समझ जाया करते हैं कि यहाँ आलङ्कारिकता है, केवल अर्थवाद वा अतिशयोक्ति से राजा शूद्रककी अन्य-राजाओंकी अपेक्षा अतिशयित-प्रशंसा कर डाली गई है। इतना भेद है कि—आज कलके, आलंकारिकोंका ढंग अन्य प्रकारका होता है, और प्राचोन कवियोंकी आलंकारिता अन्य ढंगकी होतो थी। आजकलका अलंकार वा व्यङ्ग्य शीघ्र समझमें आ जाता है, पर प्राचीन-कालका अलंकार साधारण-पुरुषोंकी समझमें शीघ्र नहीं आता है।

[लृ] इस प्रकार 'अमुक राजाने अपने पिछले राजाको वा अन्य राजाओंको तो खत्म ही कर दिया', इस प्रकारके वाक्य प्रयुक्त हुआ करते हैं, तो क्या यहां उनका यह अर्थ किया जायगा कि—उस राजाने दूसरे राजाओंको मार ही डाला ? युद्धमें मारना भी होता है, पर यहां तो यह भाव होगा कि—दूसरे राजाओंकी अपकीर्ति कराकर 'संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' [गोता २ । ३४] उस राजाने उन्हें मार दिया और आप यशसे अमर हो गया। इस प्रकार यहां शिवने अपनी शक्तिसे नृसिंहकी शक्ति समाप्त कर दी, मानो उसे मार डाला, उसकी खाल वा

सिर उतार डाले, यह तात्पर्य भी आलंकारिता-पक्षमें निक... सकता है।

[ए] यह भो कहा जाता है कि—'उसने तो उसकी मूछें उखाड़ लीं, उसने उसकी खाल ही उखाड़ ली, उसे तो ... खा ही गया, उसकी हड्डियां भी उसने चबा डालीं" इस प्रकार के वाक्य मुहावरे-रूपमें प्रयुक्त हुआ करते हैं, इससे अन्यका अपमान ही इष्ट होता है।

[ऐ] लक्ष्मणको कालकी प्रतिज्ञावश दुर्वासा-मुनिके कहनेसे गुप्तमन्त्रणाके समय अन्दर आनेसे श्रीरामने मार ही देना था, पर 'त्यागो वधो वा विहितः साधूनां ह्युभयं समम्' [वाल्मी. ७ । १०६ । १३] लक्ष्मणको अपमानके साथ बाहर निकाल देना है वहां उसका वध माना गया; तभी तो इससे श्रीरामकी मारनेकी प्रतिज्ञाका भङ्ग नहीं समझा गया।

[ओ] महाभारत [कर्णपर्व] में गाण्डीव-धनुषकी निन्दा करते हुए युधिष्ठिरको अर्जुन जब अपनी प्रतिज्ञावश मारने दौड़ा, तब भगवान् कृष्णने वस्तुस्थिति समझकर अर्जुनको कहा कि-बड़ोंको 'तू" कह देना उसका शास्त्रीय'वध' हुआ करता है (६९।८३-८६) अर्जुनने वैसा ही किया, यही युधिष्ठिरका 'वध' समझा गया सभी तो अर्जुनका प्रतिज्ञाभङ्ग न माना गया—इस विषयकी स्पष्टता 'आलोक' के छठे पुष्पमें 'गोघ्न-संज्ञापर विचार' [पृ. ३४७ आदि] में देखनी चाहिये। इसी प्रकार यहां वीरभद्रका अपमान भी नृसिंहका वध समझा जा सकता है। शिवके पुराण में शिवको विष्णुकी अपेक्षा बड़ा बनाकर नृसिंहका अपमान है, वहां पूर्वोक्त-रीतिसे 'वध'रूपमें वर्णित हो सकता है, उसे ... पक्षके अनुसार वास्तविक वध नहीं समझा जा सकता ... पर एतदादिक-ज्ञान साहित्यमें सर्वाङ्गीण प्रवेश होने

तथा व्यञ्जनावृत्तिकी उपासनासे होता है, केवल अभिधा-वृत्तिकी उपासना करने वालों, तथा केवल खण्डनात्मक दृष्टि-कोण रखनेवालोंको यह वैदग्ध्य नसीब नहीं हुआ करता। यह साहित्यिक-दृष्टिकोण है। अब कुछ शास्त्रीय-दृष्टिकोण भी देख लेना चाहिये—

[औ] 'निरुक्त'में कहा गया है—'एकस्य आत्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति' [७।४।९] 'इतरेतरजन्मानो भवन्ति इतरेतरप्रकृतयः' [७।४।१२] 'कर्मजन्मानः, आत्मजन्मानः,' [७।४।१३-१४] 'आत्मा एव एषां रथो भवति, आत्मा अश्वः, आत्मा आयुधम्, आत्मा इषवः, आत्मा सर्वं देवस्य-देवस्य' [७।४।१५] अर्थात् एक देवताके आत्माके दूसरे देवता अङ्ग हुआ करते हैं। देवताका रथ, आयुध, बाण, वाहन सब उसी देवताका आत्मा अथवा अङ्ग हुआ करते हैं; सो अपने अङ्गका कूर्मके अङ्गकी भान्ति अपनेमें विलीन होना, अन्तर्भूत हो जाना कोई आक्षेपयोग्य बात नहीं हुआ करती।

[अं] महाभारत-युद्धमें किसी योद्धाने श्रीकृष्णभगवान्पर नारायणास्त्र चलाया था, श्रीकृष्णने नारायण होनेसे उस अस्त्र-को अपने वक्षमें ले लिया था। इससे अपना अङ्ग होनेसे उन्हें कोई चोट नहीं पहुँची थी। इस प्रकार शिवके अपने अंग वा तेज नृसिंहको अपनेमें विलीन कर लेना भी लौकिक-वध नहीं हो जाता; अतः उसमें आक्षेप भी अज्ञान-मूलक ही है।

इस विषयमें हमने 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' का विचार रखकर यहां पर कई दृष्टिकोणोंसे विचार दिया हैं; जो पक्ष जिसको रुचे, वा जिसकी बुद्धिमें बैठे; वह उसे ग्रहण कर सकता है। एतदा-दिक साहित्यिक तथा शास्त्रीय बातोंका ज्ञान रखनेवालोंको यह शङ्का नहीं उठ सकती। जो इस ज्ञानसे कोरे हैं वे स्वयं भी

भ्रान्त रहते हैं, अन्यको भी भ्रममें डालते रहते हैं।

(अः) 'औ' में कहे हुए निरुक्त-प्रमाणानुसार देवताओंका पारस्परिक वास्तविक अभेद भी सिद्ध हो गया, जिसपर निरुक्त कारने 'तत्रैतद् नरराष्ट्रमिव' (७।५।९) यह उदाहरण दिया है। नर पृथक्-पृथक् हैं; पर वे बहुत भी राष्ट्ररूपमें एक हो जाते हैं; पर भेददृष्टि रखने वालोंकी अनन्यनिष्ठताकेलिए अपने इष्टदेवसे भिन्न देवकी उपासनामें निन्दार्थवाद बताये गये हैं; यह हम पहले (पृ. ३४७-३४८ में) स्पष्ट कर चुके हैं।

(ङ) 'मुख्यः सत्त्वगुणस्तेऽस्तु····· गौणत्वेपि परौ स्यातौ रजोगुण-तमोगुणौ' (देवीभा. ३।६।५७) यहाँ विष्णुमें मुख्य गुण सत्त्व तथा शेष रज-तम गौण बताये गये हैं। शिवकेलिए कहा है—'मुख्यः तमोगुणस्तेस्तु, गौणौ सत्त्व-रजोगुणौ' (६६) शिवमें तमोगुणकी मुख्यता तथा सत्त्व-रजकी गौणता कही है। इसीलिए शिवके पुराणोंको भी तामस कहा है, जिससे प्रतिपक्षी उन्हें निन्दित करता है, परन्तु पूर्वकथनानुसार उनमें भी सत्त्व-गुण-रजोगुण भी रहते ही हैं।

प्रतिपक्षीसे मान्य 'गीता'में 'त्रैगुण्यविषया वेदाः' (२।४५) वेदोंको भी सत्त्व, रज, तमोगुणात्मक कहा है। इससे वेदकी निन्दा नहीं हो जाती, [जैसे कि–'गीता-विमर्श' (पृ०६४)में आर्य-समाजी श्रीराजेन्द्रजीने कहा है। उसीके शब्दोंमें अपने 'श्रद्धेय', 'उच्चकोटिके दार्शनिक-विद्वान्' श्रीगङ्गाप्रसादजी उपाध्याय M.A. की बात भी इस विषयमें उसने नहीं मानी; उसकी पृष्ठ २४-२५-२६ में बताई हुई गीता द्वारा वेद-निन्दाका समाधान हमने 'आलोक' के अष्टम पुष्प (पृ० १९० से २११ पृष्ठ तक) में कर दिया है; उसे वहीं देख लेना चाहिये।] किन्तु प्राणियोंके सत्त्व, रज, तथा तम इस त्रिगुणात्मकताके कारण उनकेलिए

वैसा ही शास्त्र उपयोगी हो जाता है। विषके कीटकेलिए विष ही अपेक्षित होता है, अमृत नहीं। परमात्मा प्राणिमात्रका कल्याण चाहता है; अतः भगवान्के आदेशरूप वेदादि-शास्त्रोंमें भी तीन प्रकारके कर्मोंका विधान आता है। जैसे सात्त्विक-शास्त्रोंकी आवश्यकता है, वैसे तामसिक-शास्त्रोंकी भी। जैसे त्रिगुणात्मक-वेद सम्माननीय हैं, इससे वे निकृष्ट नहीं माने जाते; वैसे ही त्रिगुणात्मक—पुराण भी निकृष्ट नहीं। सात्त्विक-केलिए तमोगुण अमृतप्रेमीकेलिए विषका काम देता है; और तमोगुणीकेलिए सत्त्वगुण विषका काम करता है, जैसे कि—विषके कीटको अमृत भी मार देता है; पर विषके अभ्यासीको संखिया भी बल देता है। हां, अन्तिम-कोटिमें, परमहंसावस्थामें जैसे त्रिगुणात्मक-वेद तथा वेदका अधिकार-पट्ट यज्ञोपवीत भी छोड़ा जाता है—'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!' (२।४५), उस समय तामस-पुराण भी यदि छोड़ा जावे; इससे वेदकी भान्ति पुराणकी भी कोई निन्दा नहीं। जहां निन्दा वा निकृष्टता वताई गई हो; वहां अन्यकी प्रशंसाका अर्थवाद होता है, यह शास्त्रीय-शैली सदा जान रखनी चाहिये। (शेष पृष्ठ २६४ से ३०२ तक देखिये।)

(च) जो कि प्रतिपक्षीने 'अवताररहस्य' (पृ. ६२ से ६५ तक) में देवीभागवतादिके कई प्रमाणोंसे श्रीकृष्णादिकी तपस्या दिखला-कर श्रीकृष्णके भगवदवतार होनेका खण्डन किया है, इससे प्रतीत होता कि—देवीभागवतका पूर्वापर छिपाकर वह जनवञ्चन करता है। यही प्रश्न जनमेजय राजाने श्रीव्यासजीसे किया था—

'कृष्णेनाराधितः शम्भुः तपः तप्त्वातिदारुणम्। विस्मयोऽयं महाभाग! देवदेवेन विष्णुना (५।१।६) यः सर्वात्मापि देवेशः सर्वसिद्धिप्रदः प्रभुः। स कथं कृतवान् घोरं तपः प्राकृतवद् हरिः (१०) जगत्कर्तुं क्षमः कृष्णः तथा पालयितुं क्षमः। संहर्तुमपि,

कस्मात् स दारुणं तप आचरत्' (११) अर्थात् श्रीकृष्ण परमात्मा थे; तथा सर्वसामर्थ्य वाले थे; फिर उन्होंने साधारण पुरुषकी भांति महादेवकी घोर-तपस्या क्यों की? यही प्रश्न प्रतिपक्षीने अपने ट्रैक्टोंमें कई-बार किया है; अब इसका प्रत्युत्तर भी प्रतिपक्षी अपने बहुत ही मान्य देवीभागवतपुराणकार-श्रीव्यासजी-द्वारा दिया हुआ सुन ले; इससे उसके एतद्विषयक सभी आक्षेपोंका परिहार हो जायगा।

व्यास उवाच-व्यासजी कहते हैं—'सत्यमुक्तं त्वया राजन्! वासुदेवो जनार्दनः। क्षमः सर्वेषु कार्येषु देवानां दैत्यसूदनः' (५।१।१२) अर्थात्-श्रीकृष्ण सच ही परमात्माके अवतार हैं, वे सर्व-समर्थ हैं, पर 'तथापि मानुषं देहमाश्रितः परमेश्वरः। कृतवान् मानुषान् भावान् वर्णाश्रम-समाश्रितान्। [१३] वृद्धानां पूजनं चैव देवताराधनं तथा' [१४] अर्थात् मनुष्यावतार धारण करनेसे ही भगवान् मनुष्योंवाले भाव तपस्या आदि किया करते हैं, जैसे नट सती-स्त्रीका स्वाङ्ग धारण करके वैसा ही पार्ट अदा करता है। 'शोके शोकाभियोगश्च हर्षे हर्ष-समुन्नतिः [१५] वह शोकमें शोक और हर्षमें हर्ष दिखलाता है। यही देवीभा.में 'स्त्रीजितत्वं प्रकाशयन्' (४।२५।२६) इस शब्दसे सूचित किया गया है। इससे प्रतिपक्षी पीस दिया गया। श्रीकृष्णकी परमात्मता देवी-भागवत-द्वारा अक्षत ही रही; तब सीतान्वेषणमें अपनी अज्ञताका नाटक खेलना—यह केवल मानुषी लीलामात्र थी। इसी प्रकार महाभारतमें भी मानुषवत् तपस्यादिमें भी श्रीकृष्णकी परमात्मता कही गई है। देखिये 'आलोक' छठा सुमन (पृ. ५१८, ५१६, ५२०) जिस पुस्तक पर प्रश्न किया गया है, उसमें उसी पुस्तककी व्यवस्था माननी ही पड़ेगी (यदि अब भी प्रतिपक्षी धृष्टतासे आश्रित करके उसे न माने; तो स्पष्ट होगा कि—उसका प

सिकता-भित्ति है। वह केवल हठ-वाद अपनाये हुए हैं।

(छ) जो कि-अव. र. (पृ. १२) में प्रतिपक्षीने हमारेलिए लिखा है—'विपक्षीने श्रीकृष्णको साक्षात् भगवान्‌का अवतार सिद्ध करनेमें सरसे एड़ी तकका सारा जोर लगा दिया है। हम यह दिखलाना चाहते हैं कि–सनातनी-धर्मशास्त्र पुराणोंने श्रीकृष्णको जिस रूपमें उपस्थित किया है, क्या वे उस रूपमें ईश्वर-अवतार सिद्ध हो सकते हैं' ?

इस पर उसे याद रखना चाहिये कि–उसने श्रीकृष्ण-आदिके व्यभिचार वा पाप जो पुराणसे दिखलाये हैं, हमने उसमें यह दिखलाया कि–पुराणने श्रीकृष्णको मनुष्य न बताकर ईश्वरावतार बताया है; तब मानुषो-दृष्टिकोणसे प्रतिपक्षि-द्वारा उपस्थापित किये हुए दोष नहीं लग सकते। इसी कारण हमने पुराणसे भी श्रीकृष्णादिका ईश्वरावतार होना दिखलाना था। जब वह हमने दिखला दिया; और प्रतिपक्षीने पुराणमें श्रीकृष्णका ईश्वरावतार दिखलाया जाना मान भी लिया, क्योंकि–उसका खण्डन कुछ भी नहीं किया; तब उसकी सभी क्षुद्र-पुस्तिकाओंका खण्डन तो स्वयं उसी-द्वारा हो गया, क्योंकि–ईश्वरमें लोकोत्तरतावश लौकिक-विधिनिषेधशास्त्रके कानून लागू नहीं हो सकते, वह उनसे लिप्त नहीं हो सकता; इसलिए उसे वेदमें 'शुद्ध एवं अपापविद्ध' (यजु: माध्य. सं. ४० । ८) माना गया है; अर्थात् ईश्वर किसी भी मानुषी-दृष्टिकोणके पाप वा अशुद्धतासे विद्ध नहीं होता। सूर्य देवता, चन्द्रदेवता आदि चाहे कीचड़में, चाहे मद्यमें, चाहे विष्ठामें भी अपना हाथ (किरण) डालें; उसका रस भी खींच रहे हों; तथापि वे उससे विद्ध (लिप्त) नहीं हो जाते। क्या उस समय प्रतिपक्षी सूर्य, चन्द्र देवता को मद्यप एवं विष्ठाभक्षी मान लेगा ? जलदेव वरुण बाढ़से लोगोंको डुबा रहा हो, अग्निहोत्रसे पूजित अग्नि-

देव लोगोंके घरों वा आदमियोंको भस्म कर रहा हो, देवाधिदेव महादेव महाप्रलय करके सबको मार रहा हो; तो क्या प्रतिपक्षी उनको हत्यारा-हिंसक कह कर शोर मचाने लगेगा ? परमात्मा लोगोंकी स्त्रियोंके गुप्त-अंगमें रह रहा हो, व्यभिचारके समय भी वहीं रहे; तो क्या प्रतिपक्षी उसे भी व्यभिचारी हो जानेका सर्टिफिकेट दे देगा ? यहां डाक्टर-साहबको अब अपनी दवाई भी आप करनी पड़ेगी। यदि अपनी दवाई न लगे; तो दूसरोंकी दवाई प्रयुक्त करनी पड़ेगी, उसमें मुखको विचकाना न पड़ेगा।

जब हमारे कानूनोंसे भोगयोनि-पशु भी विद्ध नहीं होते; गाय भी अपने पिता वा भ्रातासे गर्भ लेती हुई भी व्यभिचारिणी वा पापिन प्रतिपक्षि-द्वारा भी नहीं मानी जाती; इससे उसकी पूज्यतामें भी कोई क्षति नहीं आती; नहीं तो प्रतिपक्षीको अब गाय-आदिका भी व्यभिचारका ढंढोरा पीटकर 'गोकरुणानिधि' को भी जलमें प्रवाहित करके अब गौवोंका विरोध भी शुरू कर देना चाहिये। यदि वह ऐसा नहीं करता; तब मानना पड़ेगा कि प्रतिपक्षी भी भोगयोनिको मानुषी कानूनोंसे मुक्त (वरी) मानता है। यदि ऐसा है; तब देवता वा देवतावतारों तथा देवाधिदेव महान् देव अज, योगेश्वरेश्वर (भाग. १० । ३३ । १६) नित्यप्रिय, परमेश्वर (२६ । ३३) हरि (२६ । २८) अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्' (३१ । ४) श्रीकृष्णादिमें तथा 'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधि: को निषेध:' के उदाहरणभूत ऋषि-मुनि-योगियोंमें भी हम-कर्मयोनि मनुष्योंमें सीमित निषेधशास्त्र के कानून लागू नहीं हो सकते। पशु एवं देव दोनोंके योनिभेद होनेपर भी भोगयोनिता समान है। जहांपर मनुष्योंके पेशाब कर देनेसे जुर्माना लगाया जाता है; वहां घोड़े आदिके पेशाब कर

देने वा इन्द्रदेवताके भी पेशाबकर देने [वर्षा]से जुर्माना नहीं लगाया जाता। इसी प्रकार भोगयोनि–देवताओंपर भी कर्म-योनि वाले विधि-निषेध आलोचना-प्रत्यालोचना आदि प्रवृत्त नहीं हो सकते।

रासलीला रहस्य।

(अ) प्रतिपक्षी श्रीकृष्णादिको ईश्वरावतार माने वा न माने; यह उसकी अपनी निरङ्कुश-इच्छा ही प्रमाण है, परन्तु पुराणोंने उन्हें ईश्वरावतार एवं सर्वव्यापक माना है, यह पहले लिखा जा चुका है, कुछ अब भी लिखा जाता है–'यथा समस्तभूतेषु नभोऽग्निः, पृथिवी जलम्। वायुश्चात्मा तथैवासौ (श्रीकृष्णः) व्याप्य सर्वमवस्थितः' (ब्रह्म-पुराण १८९। ४५) यहां आत्म-स्वरूप श्रीकृष्णकी सब प्राणियोंमें स्थिति बताई है। विष्णु-पुराणमें भी रासलीलाकी समाप्तिमें ब्रह्मपुराण-जैसे पद्यसे श्री-कृष्णको सर्वव्यापक परमात्मा स्वीकार किया है 'तच्चिन्तावि-मलाह्लादक्षीण-पुण्यचया तथा। तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेष-पातका। चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम्। निरुच्छ्वास-तया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका' (विष्णु० ५। १३। २१-२२)। (आ) पद्मपुराण (पाताल-खण्ड ७७। ३-६) में गोपियोंसे घिरे श्रीकृष्णको जगन्नाथ, त्रिगुणातीत तथा अव्यय कहा गया है। वहां गोपियोंको श्रुतिस्वरूपिणी कहा है'–अवाप्त-गोपीदेहाभिः श्रुतिभिः कोटि-कोटिभिः' (बह्वीभिः) (७७। १२) इसीका संकेत 'श्रुतयो यथा' (भाग० १०।३२।१३) में है। सो यह श्रुतिप्राक-ट्यकर्ता परमपुरुषका अपनी श्रुतियोंसे रमण था। श्रीमद्भा०की विशुद्धरसदीपिका (पृ० ६१९) में 'गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋषि-जा गोपकन्यकाः। देवकन्याश्च राजेन्द्र! न मानुष्यः कथंचन' यह पुराणका वचन उद्धृत किया है।

(इ) श्रीराधाको वहां चिन्मयी-मायाके रूपमें श्रीकृष्णकी स्वरूप-शक्ति माना गया है–'स्वरूपा शक्तिरूपा च मायारूपा च चिन्मयी' (पद्म० पाताल० ७७। १५) इस प्रकार श्रीराधाको प्रकृति तथा श्रीकृष्णको अव्यय--पुरुष और गोपियोंको श्रुति मानकर प्रकृति-पुरुषका तथा श्रुतिपतिका श्रुतियोंसे रमण वा संयोग ही रासके रूपमें प्रकट किया गया है। [ई] पद्म-पुराणमें अन्य स्थानपर रासलीलाके समस्त उपादानोंको आध्यात्मिकरूप-में बताया गया है। (७५। १०-१३)। श्रीदेवीभागवतमें रासलीलाका आधिदैविकस्वरूप मिलता है; उसमें श्रीकृष्ण पर-ब्रह्म हैं–'सचात्मा स परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' (९। २। २४) यहां परब्रह्म श्रीकृष्ण अपनी चित्शक्तिरूपिणी-प्रकृतिके साथ विहार करते हैं, यही रास है। महाप्रलयके पश्चात् सृष्ट्यर्थ एकाकी श्रीकृष्ण अपनी चित्-शक्तिको प्रकट करके सृष्टि करते हैं। 'स कृष्णः सर्वसृष्ट्यादौ सिसृक्षन्नेक एव च' (९। २। २६) वही राधाका विलास वहां रास है। सृष्टिकेलिए रासका विचार होते ही श्रीकृष्णके दो रूप बन जाते हैं–वामभाग स्त्रीरूप हो जाता है, दक्षिणभाग पुरुष। इसी प्रकृतिसे रासेश रासमण्डलमें रासक्रीडा करते हैं–'दृष्ट्वा तां तु तया सार्धं रासेशो रासमण्डले। रासोल्लासे सुरसिकां रासक्रीडां चकार ह' (देवी.९।२।३६)। इस प्रकार आधिदैविक–अर्थमें रासलीलाका आशय सृष्ट्यर्थ प्रकृति तथा पुरुषका सम्बन्धमात्र है। उसी प्रकृत्यधिष्ठात्री देवता राधाका तथा श्रीकृष्णका शापवश मनुष्यलोकमें आना दिखलाया गया है। सो वह उन्हींकी अपनी शक्ति थी, परकीया नहीं थी। रायाणके पास वाली राधा इसी राधाकी छाया थी, और रायाण श्रीकृष्णकी छायात्मक थे।

[उ] इसी प्रकार श्रीमद्भागवतादिमें भी रासलीलामें

रहस्य गर्भित है। वहां कई शब्द परोक्षरूपमें प्रयुक्त किये गये हैं, जिनका तात्पर्य आपाततोदर्शी नहीं जान पाते। हम यहां कई ऐसे शब्दोंका तात्पर्यनिर्देशसमेत संग्रह करते हैं—

[ऋ] 'अनंगवर्धनं (१० । २९ । ४) 'सुरतवर्धनं' (३१ । १४) यहां अर्थ है 'कामक्षपणं' कामको छेदन करने वाला, 'वर्ध छेदन-पूरणयोः' (चु० से० उ०)। 'मोहिताः' (२९ । ८)–मोहमें पड़ी बेसुध हुईं। 'जारबुद्ध्या (२९ । ११)—जरयति जन्म वासनां वा–इति जारः, तद्बुद्धया' वासना वा जन्म हटाने (मुक्ति देने) वाले पुरुषकी बुद्धिसे। 'दशलक्षाणि पुत्राणां गोपालानां ससर्ज ह' (शिव. धर्मसंहिता) श्रीकृष्णने बहुतसे गो-पालक बालकोंकी सृष्टि कर दी, जैसे कि—ब्रह्मा द्वारा गौओं तथा गोपाल-बालकोंका अपहार होनेपर फिर श्रीकृष्णने अपनी मायासे वैसे ही तथा उतने ही ग्वाल-बालोंकी सृष्टि कर दी (भाग० १० । १३ । १८-१९-२०-२१-२७)। हृषीकेशम्, अधोक्षजप्रियाः' (२९ । १३) हृषीकों-इन्द्रियोंके स्वामी, जो इन्द्रियोंके वशीभूत न थे, इन्द्रियोंको ही अपने काबूमें कर रखा था, ऐसे श्रीकृष्ण। अधोक्षजः—अधःकृता अक्षजा विषया येन सः, तत्प्रियाः-इन्द्रियोंके विषयोंको जिन्होंने अपमानित कर दिया था, ऐसे श्रीकृष्ण। उनकी आकार-चिन्तन, नामचिन्तन, लीलाचिन्तन तथा गुणानुवादचिन्तनके प्रेमवाली गोपियां। 'कामं' (२९ । १५) अनुरागप्रधान बुद्धि-वृत्तिको, जिसमें वासनाका लेश भी नहीं होता। एतदादि-शब्द परोक्षरूपमें प्रयुक्त किये गये हैं, परन्तु उन्हें समझनेकेलिए दोष-दृष्टि छोड़कर समाधान-दृष्टि, आपातदृष्टि छोड़कर तलस्पर्शिनी दृष्टि अपेक्षित होती है। वैसी दृष्टि न होनेसे तो वेदमें भी 'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' (अ. ९ । १० । १२) इत्यादि बहुतसे वाक्योंका दोषदृष्टि रखनेसे कुत्सित अर्थ किया जा सकता है।

(ऋ) श्रीमद्भागवतका उपनाम 'पारमहंसीसंहिता' है। उसके वक्ता परमहंस, वीतराग, शृङ्गारसे कोसों दूर रहने वाले श्रीशुकदेव, और श्रोता मृत्युके मुखमें स्थित, संसारी रागको त्यागे हुए और भगवान्में मग्नमन महाराज परीक्षित् थे; अतः वहां शृङ्गारमें पर्यवसान इष्ट नहीं हो सकता; यह एक साधारण बुद्धिवाला साहित्यिक व्यक्ति भी समझ सकता है। नहीं तो वहां करुण वा शान्तरसमें प्रतिकूल-विभावादि होनेपर 'परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः' अनंगस्य कीर्तनम्, प्रकृति-विपर्ययः' आदि रसदोष उपस्थित हो जाएं, पर यह अनिष्ट है।

(ॠ) प्रसिद्ध विद्वान्-टीकाकार श्रीधरस्वामी 'रासपञ्चाध्यायी'को 'निवृत्तिपरा' मानते हैं, देखिये उनके शब्द– 'रास-क्रीडाविडम्बनं कामविजयख्यापनाय, शृंगार-कथाऽपदेशेन विशेषतो निवृत्तिपरा इयं [रास] पञ्चाध्यायी' (भाग. १० । २९ । १) अर्थात्–ऊपर-ऊपरसे शृंगार प्रतीत होता है, वस्तुतः इसमें निवृत्तिमें पर्यवसान है। "जो व्यक्ति रासलीलाको कामविकारसे सम्बद्ध समझते हैं, उनकी धारणा सर्वथा भ्रान्त है" यह 'श्रीमद्भागवतादर्श' (पृ. ४३४) में उद्धृत यूरापियन-विदुषी महिला श्रीमती एनीबेसेण्ट जो एक तटस्थ निष्पक्ष दृष्टिकोणकी थी, का वक्तव्य भी देखा जासकता है। 'निरवद्यसंयुजां' (भाग. १० । ३२ । २२) में श्रीकृष्णने गोपी-मिलनको निरवद्य (दोषशून्य) बताया है। (ऌ) रमण करते समय श्रीकृष्णको 'आत्मारामः' (भाग. १० । २९ । ४२), और दर्शनके समय 'मन्मथमन्मथ' (कामदेवका मथन करने वाला १० ३२ । २), रासलीला करते हुए 'योगेश्वर' (१० । ३३ । ३) कहा गया है। यदि रासलीलामें कामविकार होता, तो श्रीकृष्णकेलिए यह विशेषण न दिये

जाते। 'नृणां निःश्रेयसार्थाप व्यक्तिर्भगवतो नृप! अव्ययस्याऽप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः' (२९। १४) यहां भगवान्को अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण, गुणोंके स्वामी तथा पारलौकिक-कल्याण देने वाला बताकर परमात्मा बताया गया है—'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः (गीता १५। १७)।

(ए) श्रीकृष्णने गोपियोंके साथ उसी प्रकारकी क्रीडा की, जैसाकि—छोटा बालक दर्पणमें अपने प्रतिबिम्बसे क्रीडा करता है। इसी बातको श्रीमद्भागवतमें प्रतिपक्षीके बहुत मान्यरूपमें प्रयुक्त 'रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथाऽर्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः' (१०। ३३। १७) इस पद्यसे स्पष्ट किया गया है। बालक दर्पणमें अपने प्रतिबिम्बको देखकर अपने ही सौन्दर्यमें मुग्ध होकर क्रीडा करता है, किन्तु उसकी आसक्ति और वासनाकी उत्पत्ति अपने प्रतिबिम्बमें नहीं होती, इसी प्रकार भगवान् भी अपने ही सौंदर्य-माधुर्यका अनुभव स्वप्रतिबिम्बस्वरूपा गोपियोंमें करते हुए उनमें आसक्त नहीं हुए। यही 'रेमे स्वयं स्वरतिः' (३३।२४) में 'स्व-रति' शब्दसे स्पष्ट है। 'लीलया रेमे' (३३। २०)में 'लीला' शब्द यह और भी स्पष्ट कर रहा हैं कि—यहां वासना नहीं थी। यही 'योगमायामुपाश्रितो रन्तुं मनश्चक्रे' (२९।१)में भाव है। 'आत्मन्यवरुद्धसौरतः' (२९) यहां तो सर्वथा स्पष्ट कर दिया गया है कि—रासलीलाकी विविध-सामग्रियोंमें विद्यमान होते हुए भी भगवान् स्वयम् अस्खलित थे। इसीसे उन्होंने कन्दर्प (काम) के दर्प (अभिमान) का दलन करके 'विकारहेतावपि विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः' (कालिदास-'कुमारसम्भव १। ६९) को चरितार्थ किया।

(ऐ) 'रासलीलाध्ययनसे कामसंचारका उन्मूलन होता है'

(१०। ३३। ४०) यह स्वयं श्रीमद्भागवत की उक्ति है; पर जो भागवत (भगवान्का भक्त) न हो, भगवद्विरोधी-दैत्योंके पक्षका हो; तो उसका कामसञ्चार कदाचित् बढ़ ही जाता होगा; तब इन बातोंको छिपाकर भगवान् श्रीकृष्णआदिके लोकोत्तर-चरित्रोंपर व्यर्थ ही दोषारोपण करना और उनको मानुषी-तुलासे तोलना प्रतिपक्षीके अबोधका सूचक है।

(ओ) जिस राधाके विषयमें प्रतिपक्षीने दोष लगाये हैं, वह प्रकृति है, उसका श्रीकृष्णसे रमण प्रकृति पुरुषका रमण है—यह हम (४१७-४२५ पृष्ठोंमें) पहले बता चुके हैं। यदि प्रकृति-पुरुषका रमण केवल शास्त्रीय-शैलीसे दिखलाया जाता; तो नीरसता हो जाती; पर सरसतासे समझानेकेलिए कवि आपात-शृंगारको भी कभी गुडजिह्विका-न्यायसे प्रयुक्त कर देता है। श्रीमान् आनन्दवर्धनाचार्य (ध्वनिकार)ने इसी लक्ष्यसे कहा है-

(औ) 'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः। यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते'। अर्थात् काव्यसंसारका ब्रह्मा कवि ही होता है, वह जैसे चाहता है, वैसी ही काव्य-सृष्टि कर दिया करता है। सरसता लानेकेलिए वह शृंगारी बन जाता है। यदि वह वीतराग रहे; तो काव्य नीरस हो जाता है, उसे कोई देखता तक नहीं। 'शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्। स एव वीतरागश्चेद् नीरसं सर्वमेव तत्'। सो सरसता लानेकेलिए नीरस प्रकृति-पुरुषके रमणको राधा-कृष्णके लौकिक शृंगाररूपमें वर्णित किया जाता है। जैसे वेद देवका काव्य माना जाता है—'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति' [अ. १०। ८। ३२] उसमें वह 'मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः' [ऋ. ६। ५५। ५) 'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' [अ. ९। १०। १२] इत्यादि-स्थलोंमें आपात-दृष्टिमें उद्वेजनीय शृंगार-द्वारा सरसता

भी कर देता है; पर वह बाहरी शब्दार्थमें ही होता है, वस्तुतः उसका अन्य गम्भीर आन्तरिक तात्पर्य होता है, वैसे ही वेदके सहचारी काव्यभूत-पुराणोंमें भी 'व्याख्यानतो विशेष-प्रतिपत्तिः, नहि सन्देहाद् अलक्षणम्' इस न्यायसे समझा जा सकता है; पर उसमें गम्भीर-दृष्टि तथा बहुश्रुतता एवं गुण-ग्रहण-रसिकता होनी चाहिये। आपात-दृष्टि, साम्प्रदायिक-दृष्टि, अल्पश्रुतताद्दृष्टि, दोषमात्रदृष्टि यह दृष्टियां वहां पर तात्पर्य नहीं समझने देतीं।

(अं) फलतः गोपियोंके साथ श्रीकृष्णकी क्रीडा भी विशुद्ध है। दुर्जनतोषन्यासे उसका कामवर्धन माननेपर भी हमने उसका समाधान एक संयमीके दृष्टान्तसे कर दिया था; जिनका प्रत्युत्तर न दे सकनेसे प्रतिपक्षी उसे अपने ट्रैक्टोंमें हंसीमें उडा देना चाहता है कि–'श्रीकृष्ण गोपियोंके काम-कीट मारा करते थे' पर इसका नाम प्रत्युत्तर नहीं होता। दुर्जनतोषन्यायसे कहा हुआ कथन केवल प्रतिपक्षीको समझानेकेलिए होता है; वह प्रयोक्ताका स्वपक्ष नहीं बन जाता। तब वह हमारा पक्ष न होने पर भी प्रतिपक्षी अपने पक्षकी दुर्बलताको तथा प्रत्युत्तरणकी अशक्तिको छिपानेकेलिए दुर्जनतोषन्यायसे प्रयुक्त अभ्युपगमवाद को ही बलात् हमारा पक्ष बता रहा है। थोड़ेसे अधकचरे लोगोंमें वह कुछ देरकेलिए अपनेको दूधका धुला साबित कर ले, पर परीक्षकोंकी दृष्टिमें वह गिर ही जायगा 'क्रयविक्रय-वेलायां काचः काचो मणिर्मणिः'। अस्तु।

(अः) भोगयोनिमें कर्मयोनिवाली आलोचना रखना भी प्रतिपक्षीका एक महान् अबोध है, तब उन चरित्रोंके उपस्थापनका उसका प्रयास भी निरर्थक है। उससे केवल कुछ अल्पश्रुत तथा दुश्चरित्र व्यक्ति भ्रान्त हो जावें, वा प्रसन्न हो जावें; यह

सम्भव है; है; पर उत्सर्ग-अपवाद, बाध्य-बाधक, विधिनिषेध, प्रसव प्रतिसव आदिकी व्यवस्थाके जानकर विद्वानोंके आगे वह प्रयास बालजल्पनकल्पनामात्र हुआ करता है। **जिस पुस्तकपर आक्षेप किया जाता है, उसमें उसीकी व्यवस्था माननी पड़ती है;** अपनी कपोलकल्पना वहां पर प्रमाण नहीं हो जाती। आशा है कि–यदि प्रतिपक्षीके मस्तिष्कमें विशुद्धता वा सारग्राहिता होगी; तो उसे सब समझ आजायगा; केवल 'ज्ञानलवदुर्विदग्धता' होने पर तो 'ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रञ्जयति' इस वचनकी चरितार्थता होगी।

(ज) हयग्रीव-दैत्यको मारनेकेलिए 'जैसेको तैसा' इस न्यायसे विष्णुका हयग्रीव बनना देवीभागवत भी कहता है–'तस्मात् शीर्षं हयस्यास्य समुद्धृत्य मनोहरम्। देहेऽत्र विशिरो-विष्णोः त्वष्टा संयोजयिष्यति' (१।५।१०४-१०६) तब उपहासकी कोई बात नहीं। शेष लीला-मात्र है।

(झ) प्रतिपक्षीने विरजाको पराई-स्त्री बताया था; पर देवीभागवतमें भी वह राधाकी सपत्नी बताई गई है–'तत्रैकदाऽहमगमं स्वालयाद् रासमण्डलम्। विरजामपि नीत्वा च मम प्राणाधिकाऽपरा' (६।१६।७४) गोलोकमें रासमण्डलकी सभी स्त्रियां रासेश श्रीकृष्णकी स्त्रियां थीं–'दृष्ट्वा तां तु तया सार्धं रासेशो रासमण्डले। रसोल्लासेषु रसिको रासक्रीडां चकार ह (६।२।३६)। इससे सौतियाडाहसे राधा अपनी सुध-बुध खो बैठी, जिससे पीछे उसे पछताना पड़ा। तब इससे प्रतिपक्षीका 'विरजानन्द-स्वामी' (श्रीकृष्ण) पर आक्षेप भी परिहृत हो गया।

(ञ) विष्णुलोक आदिको प्रतिपक्षीने हमारा विदेश तथा उनमें अगम्यता बताई है, पर देवीभागवत तो उनमें गम्यता बताता है देखो–'सन्देहो नात्र कर्तव्यः सर्वथा नृप सत्तम! गम्याः

सर्वेपि लोकाः स्युर्मानवानां नराधिप ! अवश्यं कृतपुण्यानां तापसानां नराधिप ! पुण्यसद्भाव एवात्र गमने कारणं नृप ! तथैव यजमानानां यज्ञेन भावितात्मनाम्' (७ । ८ । १५-१६) यहां ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक आदिमें तपस्वियों-पुण्यात्माओंका गमन बताया है।

(ट) व्यासके अवतरणके विषयमें श्रीपराशरका यह वचन सत्यवतीको दे. भा. में कहा गया है-'शृणु सुन्दरि ! पुत्रस्ते विष्णुवंशसम्भवः शुचिः। भविष्यति च विख्यातः त्रैलोक्ये वरवर्णिनि !' (२ । २ । ३०) केनचित् कारणेनाहं जातः कामातुरस्त्वयि । कदापि च न संमोहो भूतपूर्वो वरानने' (३१) दृष्ट्वा चाप्सरसां रूपं सदाऽहं धैर्यमावहम् । दैवयोगेन वीक्ष्य त्वां कामस्य वशगोऽभवम् । (३२) अर्थात् मैं आज तक अप्सराओंके रूपको देखकर भी मोहमें नहीं पड़ा। आज मोहमें पड़ना विशेष दैवी घटना मालूम पड़ती है।) 'तत् किञ्चित्-कारणं विद्धि नैवं हि दुरतिक्रमम् । पुराणकर्ता पुत्रस्ते भविष्यति वरानने ! वेदविद्भागकर्ता च ख्यातश्च भुवनत्रये' (३४-३५) इससे यह एक विशेष-आकस्मिक-घटना बताई गई है। इसीलिए व्यासजीके आविर्भावकी तथा उसके बादकी विशेषता ३६-३७-३८-३९ पद्योंमें भी स्पष्ट है। और वह लड़की मल्लाहकी अपनी लड़की भी नहीं थी, किन्तु मल्लाहसे पालित थी; (देवी. २ । १ । ४७) वह उपरिचरवसुकी लड़की थी। महाभारत (१ । ६३, १ । १०० । ७९) की भान्ति 'देवीभागवत' (२ । १ । ९, ३४)में भी यह स्पष्ट है। विशेष अग्रिम-निबन्धमें देखिये। इस प्रकार यदि देवीभागवतके सभी उद्धरण दिये जावें; तो यह पुष्प भी बहुत बड़ा हो जाय, पर स्थान-सङ्कोच हमें विस्तारसे रोक रहा है। अस्तु।

(ठ) यह ठीक है कि-कई लोग देवीभागवतको उपपुराण

मानते हैं; पर हम पुराणोंमें 'भागवत' आनेसे दोनों भागवतोंको पुराणमें ही गिनती करते हैं। एकका विशेष नाम 'श्रीमद्भागवत' तथा दूसरेका विशेष नाम 'देवी-भागवत' है। दो 'भागवत' दोनों होनेसे ही, यह एक ही संख्या मानी-जाती है। इससे न तो पुराण १८ से १९ हो जाते हैं, न इससे देवीभागवत उपपुराण ही हो जाता है। देवीभागवतसे 'आर्यसमाजके पक्ष' की कुछ भी सिद्धि नहीं, तथा उसमें कोई भयानकता वा विरुद्धता भी नहीं है। केवल वे उक्त-पुराणके पूर्वापरको लोक-दृष्टिमें नहीं आने देते, इसलिए अनुसन्धान-हीन भ्रान्त-पुरुषोंको उन वचनोंसे भ्रमकी सम्भावना हो सकती है; पर हमसे दिखलाये हुए पाठके साथ मिलाकर देखनेसे फिर भ्रमकी सम्भावना नहीं रहती। हमने उन सब भ्रमोंको दूर कर दिया है।

प्रतिपक्षीके प्रायः सभी ट्रैक्टोंके भारी समझे जाने वाले तर्कों का-जिनपर उसे अभिमान था कि-इनका प्रत्युत्तर नहीं दिया जा सकता, हमने इस पुष्पमें प्रत्युत्तर दे दिया है। अवशिष्ट उसके साधारण-तर्कोंका प्रत्युत्तर भी दिया जा सकता है, उनमें कुछ भी कठिनता नहीं, न कुछ नवीनता ही है। पर इस सप्तम-पुष्प में अन्य अधिक-स्थानकी गुंजायश न होनेसे हमने उनमें उपेक्षा कर दी है। यदि प्रतिपक्षी उनमें कुछ बल समझता है तो उनका निर्देश कर दे; उनका हम अन्य पुष्पोंमें प्रत्युत्तर दे देंगे।

एक अन्य निवेदन यह है कि-प्रतिपक्षीको हम प्रेरणा करते हैं कि-वह गम्भीरतासे तथा सभ्य-शैलीसे प्रत्युत्तर लिखे। हमें भी अनिच्छासे इस वार उसीकी कुछ शैली कहीं-कहीं अपनानी पड़ी। 'भगवान् कृष्णका सुदर्शन चक्र' निबन्ध जो हमने उसके 'पुराणोंके कृष्ण'के प्रत्युत्तरमें 'आलोक'के छठे पुष्पमें लिखा था, उसने उसकी किसी भी बातका प्रत्युत्तर नहीं दिया। श्वाविद्धे

न्यायसे कही हुई बात अपना सिद्धांत नहीं हो जाती; वहां वादीकी ही बात कुछ देरकेलिए मानकर उसका समाधान करना पड़ता है; पर वह अपना सिद्धान्त नहीं होता, पर वादीने कहीं वादितोष-न्यायसे दी हुई श्रीकृष्ण-गोपी सम्बन्धी बातोंको भी हमारा पक्ष दिखलानेकी जनतामें प्रवञ्चना की है। कई बातें उसने केवल उपहास वा आक्षेपरूपमें जनताको भ्रान्त करनेकेलिए लिख दी हैं; पर हमारे प्रत्युत्तरोंका कुछ भी उद्धार नहीं किया।

सो यदि वह हमारी इस पुस्तकपर प्रत्युत्तर देना चाहे; तो छठे पुष्पके 'सुदर्शन-चक्र' (१७५ पृष्ठ) तथा सतम पुष्प पूरा, इनके सभी अंशोंपर गम्भीरता एवं सभ्यतासे लिखे। केवल एक दो उपहासकी तथा असत्य बातें लिखनेसे, उसका पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता। विद्वान् समझ जाते हैं कि—इसके पास मसाला तो कुछ भी नहीं है, केवल इसका अपनी नाक ऊँची रखनेकेलिए प्रयत्नाभास मात्र है कि—दूसरा यह समझे कि—इसने प्रत्युत्तर दे दिया है। यह प्रेरणा करके दूसरी यह प्रेरणा भी करके कि—जो भी प्रमाण प्रस्तुत किये जाएँ, उनके स्थल-निर्देश शुद्ध एवं पूरे हों, जिससे हमें उनके स्वयं ढूढनेमें समयका व्यय न करना पड़े-हम आगे चलते हैं।

गङ्गा आदि तीर्थ शोधक नहीं (?)

२१ आक्षेप—'गंगादि-तीर्थेषु वसन्ति मत्स्याः, देवालये पक्षिगणाश्च नित्यम्। भावोज्झितास्ते न फलं लभन्ते, तीर्थावगाहाश्च तथैव योगात्' (शिव पु. उमा सं० २३। २३) सर्वेण गांगेन जलेन सम्यङ्, मृत्पर्वतेनापि च भावदुष्टाः। आजन्मनः स्नानपरो मनुष्यो न शुध्यतीव वयं वदामः' (२१) प्रज्वाल्य वह्निं घृततैलसिक्तं, प्रदक्षिणावर्तशिखं महांसम्। प्रविश्य दग्धस्त्वपि भावदुष्टो न धर्ममाप्नोति फलं न चान्यत्' (२२)

यहां पुराणमें बताया गया है कि गङ्गा आदि तीर्थोंमें मछलियां भी रहती हैं, और देवालयोंमें पक्षी भी, पर वे स्वर्गमें नहीं जाते। गङ्गाजलमें सदा नहाता रहे, मट्टीके पहाड़से भी अपनी पवित्रता करता रहे, पर फिर भी मनुष्य शुद्ध नहीं होता।

अग्निहोत्रमें चाहे अपने-आपको जला भी क्यों न ले, तथापि उसे धर्म नहीं होता। तीर्थावगाहन वा योगसे भी फल नहीं होता; जब पुराण ही ऐसा कहता है, तब गङ्गा गंगेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि। लिप्यते न स पापेन विष्णुलोकं स गच्छति' इत्यादि पौराणिकोंके गंगाद्वारा विष्णुलोकमें जानेके वचन 'गप्प' सिद्ध हुए (एक सुधारक)

प्रत्यु—आर्यसमाजी वा सुधारकोंकी यह प्रकृति प्रायः देखी गई है कि—वे प्रमाणोंके पूर्वापर प्रायः छिपा देते हैं। यदि वह छिपाया हुआ पूर्वापर-प्रकरण प्रकट कर दिया जावे, तो उनका वह तर्कपर्वत धूलिसात् हो जाया करता है। उनका वह तर्क उसी छोड़े वा छिपाये हुए पाठसे समाहित हो जाता है।

इसमें प्रतिपक्षीने जो कि गंगादि-तीर्थों द्वारा सद्गति वा पवित्रताका पुराण-द्वारा खण्डन करनेकी चेष्टा की है, वस्तुतः उसने ऐसा प्रयास करके गंगा-आदि तीर्थोंकी पावनता ही सिद्ध कर दी है। यह कैसे? ऐसी जिज्ञासा होने पर सुनिये—आक्षिप्त पद्य भाव-शुद्धिके अर्थवाद हैं। पहले ही पद्यमें लिखा है कि—'भावोज्झितास्ते न फलं लभन्ते' अर्थात् मछलियां एवं पक्षी गंगा एवं देवमन्दिर आदिमें स्थित भी वैसा भाव न होनेसे गंगास्नान, वा देवमन्दिरस्थितिके फलको प्राप्त नहीं करते।

इसका भाव यह हुआ कि—जो गंगा आदि तीर्थोंके अवगाहन में तथा देव-पूजास्थानमें पावनताका का भाव रखते हैं, वे ही उन-

के फलको प्राप्त करते हैं। सनातनधर्म यह कबकहता है कि–इन-में भाव न रखो? बल्कि सनातनधर्म तो स्वयं कहता है–'भावे हि विद्यते देवः'। स्वा.द. जीने स.प्र. ११ समु. पृ० १६५ में 'न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृन्मये। भावे हि विद्यते देवः तस्माद् भावो हि कारणम्' यह सनातनधर्मियोंका पद्य दिया है। यह पद्य सनातनधर्मकी स्थितिको स्पष्ट कर रहा है। भावसे ही तो यह सारा संसार है। नहीं तो वह भी कुछ भी नहीं। उसी पुराण-पद्यमें 'तथैव योगात्' योगविद्यासे भी फलकी प्राप्ति निषिद्ध की है; तब क्या प्रतिपक्षी स्व-स्वीकृत योगविद्या तथा अग्नि-होत्रको भी फल न देने वाला मानकर यहां योग तथा अग्नि-होत्रका भी खण्डन समझेगा?

वस्तुतः ऐसे वचन 'अर्थवाद' हुआ करते हैं–'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्! यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यः तन्न वेद, किम् ऋचा करिष्यति' (ऋ. १। १६४। ३९) यह वेदका मन्त्र है। इसमें कहा है कि–जो ऋचाके अक्षरस्वरूप ब्रह्मको नहीं जानता, उसे ऋग्वेदसे क्या लाभ मिलेगा? तब क्या यहां वादी ऋग्वेदका भी खण्डन समझ लेगा? वस्तुतः यह सब वचन किसी वस्तुके अर्थवाद होनेसे अन्यका खण्डन नहीं कर देते, किन्तु प्रस्तुत-वस्तु-सहित उसीका प्रतिपादन करते हैं। जैसे यहां ऋचाके अक्षर (ब्रह्म वा ॐ) के ज्ञानसहित ऋग्वेदका पढ़ना लाभदायक है, यह अक्षर-ज्ञानका अर्थवाद है, ऋग्वेदके खण्डनमें यहां तात्पर्य नहीं; वैसे ही भावसहित तीर्थावगाहन तथा योगा-वलम्बन करने से फल मिलता है–इस प्रस्तुत बातमें तात्पर्य है, इससे तीर्थ एवं योग वा अग्निहोत्र वा देवालयका खण्डन नहीं।

तभी तो आक्षिप्त-पद्योंमें 'भावोज्झिताः' शब्द स्पष्ट है। इससे भी स्पष्ट भावशुद्धिके विषयमें वहां आगे लिखा गया है–

'भावशुद्धिः परं शौचं प्रमाणं सर्वकर्मसु। अन्यथाऽऽलिङ्ग्यते कान्ता भावेन दुहिताऽन्यथा' (शिव. उमासं. २३। २४) अर्थात् सभी कर्मोंमें भाव ही देखा जाता है। उसमें दृष्टान्त दिया गया है कि पुरुष स्त्रीका अन्य-भावसे आलिङ्गन करता है, और लड़कीका अन्य-भावसे। इसीको गीतामें इन शब्दोंमें कहा है–'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः' (१७। ३) यहां 'श्रद्धा' का अर्थ 'भाव' है। सो जिसका जैसा भाव है, वह पुरुष भी वैसा ही होता है। इसी बातको पुराणने आगे भी स्पष्ट कर दिया है, 'मनसो भिद्यते वृत्तिरभिन्नेष्वेव वस्तुषु। अन्यथैव सुतं नारी चिन्तयत्यन्यथा पतिम्' (२३। २५) अर्थात् एक ही नारी पुत्रको अन्य भावसे सोचती है, और पतिको अन्य भावसे। ... तीर्थ आदिका जो जिस भावसे सेवन करेगा, उसे फल भी उसी रूपमें प्राप्त होगा। यही बात प्रकारान्तरसे वेदमें भी कही गई है–'अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः' (ऋ. १०। ७१। ७)

फलतः उक्त पुराण–वचनमें भावशुद्धिका अर्थवाद है। ... कि–मनुस्मृतिमें 'सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्। योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः' (५। १०६) यहां अर्थ-शुद्धिका अर्थवाद है। यहां बताया गया है कि–जो अर्थ-शुद्धि रखता है, वही शुद्ध है। मट्टी-जलसे शुद्ध पुरुष शुद्ध नहीं। ... मट्टी-जलसे शुद्धताका खण्डन इष्ट नहीं, नहीं तो 'मृत्तोयैः शुध्यते शोध्यं' (५। १०८) इस मनुके पद्यसे जिसमें मट्टी ... जलसे शुद्धता बताई गई है, इन वचनोंमें परस्पर विरोध उपस्थित हो जावे, और अर्थशुद्धि रखने वालेको टट्टी फिर ... प्रक्षालन तथा मट्टीसे हस्त-शुद्धिकी आवश्यकता न पड़े। ... ऐसा इष्ट नहीं।

सो यहां यह तात्पर्य है कि—मट्टी-जलसे भी अपनी शुद्धि करो, और अर्थ-शुद्धि भी रखो। अमानतमें खयानत मत करो। इसी प्रकार पुराणके उक्त वचनोंका भी यही तात्पर्य है कि—भावशुद्धि भी रखो, और गङ्गा आदि तीर्थोंका अवगाहन भी करो। तभी पूर्ण-शुद्धता होगी। तब भावशुद्धि होनेपर 'गङ्गा-गङ्गा' यह गङ्गासे दूरीसे भी कहा हुआ शब्द फलप्रद हो जाता है, यह तात्पर्य निकलनेसे कोई विरोध नहीं रहता।

चित्तशुद्धि पर सर्वत्र ही बल दिया जाता है। लोग कहते हैं—'मन चंगा तो कठौतीमें गङ्गा'। यह भी अर्थवादात्मक लोकोक्ति है। कठौतीमें सचमुच गंगा नहीं होती; इसमें यह तात्पर्य निकलता है कि—चित्तशुद्धि होनेपर ही गंगा शुद्ध करती है; अन्यथा नहीं।

सो प्रतिपक्षी लोग पूर्वापर छिपाकर जो साधारण-जनोंको भ्रान्त करनेकेलिए पुराणके प्रमाण देते हैं, यहां भावकी अशुद्धि होनेसे यह उनको प्रवृत्ति पापिष्ठ है। जनताको चाहिये कि—इन प्रतिपक्षियोंके जब कोई आक्षेप वा तर्क सनातनधर्मसे विरुद्ध देखें; तब वे एकदम भड़क न उठें, किन्तु धैर्य धारण करके उस आक्षिप्त प्रमाणका पूर्वापर बड़ी सावधानतासे देख लें; तो उन्हें उसका प्रत्युत्तर वहीं मिल जावेगा। प्रतिपक्षियोंका काम ही यही रहता है कि—पूर्वापर छिपा कर जनताको गुमराह करना; और हमें यह करना पड़ता है कि—उन आक्षिप्त वचनोंके पूर्वापर प्रकट करके प्रतिपक्षियोंके जनवञ्चन एवं असत्यवादका भण्डाफोड़ करना।

अब इसी पुराण-वचन-जैसा वादिप्रतिवादिमान्य मनुस्मृतिका वचन भी प्रतिपक्षियोंके ज्ञानार्थ लिखा जाता है—'वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च। न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति

कर्हिचित्(२।९७)। इसमें बताया गया है कि—वेद, दान, यज्ञ, तप आदि दुष्ट-भाववालोंको कभी सिद्धि नहीं दे सकते। तो क्या इससे वेद, यज्ञ आदिका खण्डन समझ लिया जायगा? कभी नहीं, यहां स्वयं मानना पड़ेगा कि—यहां भावशुद्धिका अर्थवाद है। सो भावशुद्धि होनेपर वेद, दान, यज्ञ, जप, तप आदि सिद्धिप्रद हो जाते हैं, यह यहां तात्पर्य है। इस प्रकार पुराणके आक्षिप्त वचनमें भी भाव-शुद्धि-पूर्वक तीर्थस्नान, देव-दर्शन आदिसे सिद्धि प्राप्त होती है- यह तात्पर्य निकलता है। आशा है – 'आलोक'-पाठकोंने यह सब समझ लिया होगा; अब कतिपय आर्यसमाजी वा वैसे विचार वाले सज्जनोंके दो-तीन प्रश्नों पर विचार करके फिर ऐतिहासिक-चर्चामें तीन प्रश्नोंपर विचार किया जायगा।

———

परिवर्धन— १३३-५ 'अन्यत्र स्वामीने अपने इस कथनसे विरुद्ध उसे 'उपस्थ' लिख दिया है। वह आक्षेपके लिए होनेसे मान्य नहीं। २७१—२० इसपर देखो अष्टम पुष्प —पृ०२५५-५६)। ३१३-१८ 'दयानन्दिमुख-'। ३३५-२५ 'उन्हींकेलिए कहा है—'यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शान्तिपारगः। निवसत्यपि तद् राष्ट्रं वर्धते निरुपद्रवम्'। ४०१-१९ 'कर्मणो गहना गतिः' (गीता ४। १७)। ४१७-१० 'यहां स्वा. द. जीने ऋभाभू. (प. ३१) में लिखा है—'सूर्यचन्द्रग्रहणमुपलक्षणार्थम्; यथा पूर्वकल्पे. तेन सूर्य-चन्द्रादिरचनं कृतम्'। ऐसे वह प्रतिकल्पमें अवतीर्ण भी होता है। ४२७-१७ 'ग्रामधर्मा जातिधर्मा देशधर्माः कुलोद्भवाः। परिग्राह्या नृभिः सर्वैर्नैव तान् लङ्घयेन्मुने! (देवी. ११। १। १७)। ४३६-५ (शांखायनगृ. १। १४। १२)।

(७) क्या गणेश वा रुद्र अग्नि हैं, और यम समय है ?

पूर्वपक्ष—पौराणिक-साहित्यमें गणेश 'शिव (रुद्र) का पुत्र' है। उसे 'सिन्दूरवर्ण'वाला माना जाता है। उसका वाहन 'चूहा' है। मुख 'हाथी'का है। प्रत्येक शुभकार्यमें उसकी पूजा की जाती है। उसे 'द्वैमातुर' (दो माताओं वाला) कहा जाता है। उसे वक्रतुण्ड, विघ्नेश, लम्बोदर, महाबुद्धि, ब्रह्मणस्पति, विनायक, कपिल, धरणीधर, धूम्रकेतु, बुद्धिसागर कहा जाता है।

अब इसका वैदिक-स्वरूप देखिये-'गणेश रुद्र (अग्नि) का ही रूपान्तर (पुत्र) है। क्योंकि—उससे मिलता-जुलता वर्णन वेदों, शाखाओं, ब्राह्मणग्रन्थोंमें अग्निके सम्बन्धमें कहा गया है। उसे न समझकर सचमुचके गजमुखवाले देवताकी कल्पना कर ली गई है। महा. अनु. ४८ में गणपति रुद्रकेलिए आया है। वैदिक-साहित्यमें 'रुद्र' पद अग्निके लिए प्रयुक्त हुआ है। यजुर्वेद (११। १५) में 'रुद्रस्य गाणपत्यं' पद आया है, अर्थात् रुद्र ही गणपति हैं। रुद्रका अर्थ है अग्नि; अतः गणपति अग्नि हुआ। ऋ. (२। २३। १) में बृहस्पतिको गणपति तथा कवि (मेधावी) कहा है। बृहस्पतिका अर्थ है—वेदवाणीका पति। इसलिए गणपति-को विद्यां एवं बुद्धिका देवता मान लिया गया। वेदोंमें इन्द्रको भी मेधावी और गणपति कहा है (ऋ. १०। ११२। ९)। इसी प्रकार ऋ. (१। ११२। ९)में गणपतिके सम्बन्धमें कहा है—'त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्' तथा 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे, कविं कवीनां' (ऋ. २।२३।१) अर्थात्-गणपति अधिक-मेधावी एवं कवि हैं।

विल्किन्सने लिखा है—'हिन्दुधर्ममें गणेशको बुद्धिमत्ताका देवता माना है। उसका सिर हाथीका सिर कहा जाता है। यह चिन्ह उसकी बुद्धिमत्ताका सूचक है। यद्यपि प्राकृतिक-अग्निमें बुद्धि-

मत्ताका वर्णन चरितार्थ नहीं हो सकता; तथापि वेदोंमें अग्नि ब्राह्मण, परमात्मा आदि नाना अर्थ लिये जाते हैं।

गणेशका 'लम्बोदर' तथा 'महोदर' नाम बहुत खानेके कारण हैं। अग्नि ऐसा है, 'विश्वादमग्निं' (मैत्रायणीसं. २। १३। १) 'सर्वं वा इदमग्नेरन्नम्' (शत. १०। १। ४। १३) 'एष ह वा देवानां महाशनतमो यदग्निः' (जैमिनिउप. ब्रा. २। १५। १) 'अग्ने ! अशीतम' (यजुः २। २०) (भोक्तृतम-महीधर)। गणेश का त्रिनेत्रत्व रुद्रके त्र्यम्बक (यजुः ३। ६०) शब्दके कारण है, जो शतपथ. (२। ६। २। ९) काठक (३६। १४) तथा मैत्रायणी (१। १०। २०) के विरुद्ध है।

गणेश विशिष्ट-नायक (सेनानी) होनेसे 'विनायक' है। वह अग्नि है। 'अग्निर्वै देवानां सेनानीः' (काठक ३६। ८)। अग्नि का रंग 'कपिल' है, अतः वैसा गणेश भी अग्नि है। 'अग्निः कपिलो नाम' (महा. वन. २२१। २१)। 'धूमकेतु' अग्निका नाम है, अतः 'धूम्रकेतु' गणेश अग्नि है। गणेश 'सिन्दूरवर्ण' है, अग्नि वैसा है। निघण्टु, (१। १५) में अग्निके वाहनको रोहित (लाल) कहा है, अग्निकी ज्वालाएं अग्निके वाहन हैं।

गणेशका वाहन 'चूहा' है, अग्निके सम्बन्धमें लिखा है 'अग्निर्देवेभ्यो निलायत। आखुरूपं कृत्वा स पृथिवीं प्राविशत्' (तैत्ति. ब्रा. १। १। ३। ३) उसका सृष्टिके आदिका धधकना अब नीचे छिप गया है। इसीसे अग्निको 'आखु' कहा है। रुद्र भी अग्नि है, अग्नि गणेश है, अतः यजुर्वेदमें रुद्रका वाहन आखु कहा है—'आखुस्ते पशुः' (यजुः ३। ५७) रुद्र भयानकता का प्रतीक है, चूहा भी महामारीका प्रधान कारण होनेसे भयङ्कर है।

गणेश स्वस्तिकके आकारका है 卐। वह स्वस्तिक हाथीकी सूंडके समान टेढ़ा है, अतः उसे 'गजानन' मान लिया गया है। अग्निका वाहन गज कहा गया है। (मरीचिसं. विमानार्चन-कल्प, पटल २०)। सम्भवतः स्वस्तिक-चिन्ह अग्निको परस्पर मिलित टेढी-मेढी लपटोंका एक चित्रमात्र है। इसलिए गणेशके पारिषदोंको 'गजेन्द्र-चर्म-वसन' (महा. शल्य. ४५। ७५, ८७) कहा गया है। अग्निके वायुपुञ्ज भी अग्निकी ज्वालाओंके कारण टेढी-मेढी चालों वाले हो जाते हैं।

गणेशकी प्रथम-पूजा होती है, यह अग्निपूजा है। इसका यह भाव है कि—प्रत्येक शुभकार्यके प्रारम्भमें अग्निहोत्र-द्वारा अग्निकी पूजा करनी चाहिये—'अग्निं देवतानां प्रथमं यजेत, अग्नि-मुखा एव देवताः प्रीणाति' (कपिष्ठल-कठ सं. ४८। १६)। 'अग्निः प्रथम इज्यते' (मैत्रा. सं. ३। ८। १)। ऋ. १०। ११२। ९) में गणपतिको विप्रतम और कवि कहते हुए लिखा है—'न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे'।

पुराणोंमें गणपतिको 'रुद्रका पुत्र' कहा है। गणेश भी अग्नि है, और रुद्र भी अग्नि है। यह पिता-पुत्र वाला अभेद है। पौरा-णिकोंमें सब श्रेष्ठकर्मोंसे पूर्व गणपति-पूजा अग्निहोत्रके स्थान पर प्रचलित कर दी गई है। गणेश 'द्वैमातुर' (दो माताओंका पुत्र) है। यह अग्नि है। वह द्युलोक और पृथिवीलोकसे उत्पन्न है। दो अरणियां अग्निकी दो माताएं हैं। 'त्वमग्ने !...... द्विमाता' (ऋ. १। ३१। २) स्कन्दभाष्यमें लिखा है—'द्यावा-पृथिव्यौ अरणी वा मातृस्थानीये यस्य स द्विमाता'। गणेश 'धरणीधर' भी है, वह अग्नि है। पृथिवीका अग्नि देवता है। पृथिवीवालोंके काम अग्निसे ही चल रहे हैं—'आग्नेयी पृथिवी' (ताण्ड्य १५। ४। ८) 'पृथिवी अग्नेः पत्नी' [गोपथ उ. २। ९)

इससे यह मानना उचित है कि—वैदिक-साहित्यके अनुसार गणेश नाम अग्निका है। (श्रीहंसराज जी, रिसर्च-विभाग विश्वे० रिसर्च इन्स्टी.)।

उत्तरपक्ष— इस [हमसे संक्षिप्त किये हुए] पूर्वपक्षके उद्भावक, एक खोजी आर्यसमाजी-सज्जन हैं। अन्य आर्यसमाजी वा वैसे विचार वाले व्यक्ति तो गणेशको पौराणिक-देव तथा पौराणिकोंकी गप्प वा उसे नया देवता बनानेकी कल्पना बता-कर गणेशको उड़ा ही देते हैं; कई व्यक्ति तो गणेश-पूजाको अनार्यों से आई हुई मानकर उसे वैदिक-देव नहीं मानना चाहते; पर पूर्वपक्षीने गणेशको वैदिक-देवता ही माना है; और उसे सिद्ध भी किया है, हमारे एतद्विषयक-परिश्रमको हल्का भी कर दिया है, एतदर्थ उसे धन्यवाद। पर उक्त-महाशयने गणेशको अग्नि-के स्थान ला बैठाया है। मधुरं-ढंगसे उसने भी इसमें पौराणिकों-का अज्ञान दिखलाया है कि अग्नि-पूजाको भुला कर हिन्दुओंने गणेश-पूजा प्रारम्भ कर दी।

कई आर्यसमाजी तो गणेशको 'ॐ'में अन्तर्भूत करते हैं कि—उसमें आरम्भमें सूंड-सी दीखती है, अनुस्वार मोदक-स्थानीय हैं। 'ओ३म्'में प्लुत मूषक-स्थानीय है। सब कार्योंमें उसीकी पूजा होती है। उस 'ॐ'की पूजाको भुलानेका परिणाम ही गणेश-पूजा है'। यदि पूर्वपक्षीको यह कल्पना पता लगे, तो 'ॐ' को भी वह मोड़माड़ कर अग्निकी ज्वाला ही सिद्ध कर दे। इन सब पूर्वपक्षियोंका लक्ष्य सर्व-व्यापक गणेश-पूजाको उड़ाना ही है। इस कारण कोई एक कल्पना करता है, तो कोई दूसरी। यह भिन्न-भिन्न परस्पर-विरुद्ध कल्पनायें गणेश-पूजाको उड़ाने की एक चालमात्र हैं। हम पूर्वपक्षीको इस विषयमें 'आलोक'के

पञ्चम-पुष्पमें 'श्रीगणेशका मंगलाचरण' (पृ. २ से ६६ पृ. तक) पढ़नेकी प्रेरणा करते हैं। इससे उसके इस विषयके अनेक-भ्रम दूर हो जावेंगे-ऐसी आशा है।

पूर्वपक्षीने जो कि गणेशको तथा रुद्रको अग्नि सिद्ध करने-का परिश्रम किया है; तो गणेश-पूजा बताने वाले वेदभाष्यरूप पुराणोंके संपादक श्रीव्यास जी क्या इतने अज्ञानी थे कि-वे वेद-को भी न जान सके !!! वस्तुतः ऐसा कहना पूर्वपक्षियोंका अक्ष-म्य अपराध है। हाँ, पूर्वपक्षीकी यह बात ठीक हो सकती है कि गणेश तथा रुद्रका अग्निसे मिलता-जुलता वर्णन वेदोंमें मिलता है। परस्पर प्रकृतिके मिलने-जुलनेसे वह वस्तु वही नहीं हो जाती।

जब पूर्वपक्षी रुद्रको भी अग्नि, तथा गणेशको भी अग्नि मानता है; तो फिर कौन किसका लड़का हो सकता है? क्या अग्निका लड़का कहीं विशेषरूपसे अग्निको बताया गया है? दोनों-के पूर्वपक्षीके अनुसार अग्नि होनेसे रुद्रको गणेशका लड़का क्यों नहीं माना गया है? यदि दोनों अग्नि हैं; तो भिन्नता कैसी? और पिता-पुत्र सम्बन्ध कैसा? और फिर गणपतिको तो कवि वा बुद्धिमान् बताया गया है, रुद्रको वैसा क्यों नहीं बताया गया? ब्रह्मचारी उषर्बुधजीने 'रुद्र-देवता'में रुद्रको सेनानी-सेना-पति पुरुष सिद्ध किया है; और श्रीहंसराजजीने सेनापतिका अग्निसे सम्बन्ध जोड़ा हैं। तव क्या युद्धका सेनापति-पुरुष और अग्नि एक हो जाएंगे?।

बात यह है कि—देवताओंके धर्म कुछ-कुछ परस्पर मिल जाते हैं; अतः कई लोग उन-उन देवताओंको उन-उन देवताओंमें अन्तर्भूत कर देते हैं। पुराणोंमें कहा जाता है—देवता ३३ कोटि, तेतीस करोड़ हुआ करते हैं, 'यथा सम्पूजिता देवास्त्रयस्त्रिशत्तु कोटिशः' पद्म-

पुराणस्थित कार्तिकमाहात्म्य (२८। २६) के इस पक्षमें वेदश भी संकेत दीखता है (यजुः ३३। ७) यहां पर श्रीमहीधरने आगम-वचन भी दिया है—'नवैवाङ्कास्त्रिवृद्धाः स्युर्देवानां दशकैर्गणैः। ते ब्रह्मविष्णुरुद्राणाँ शक्तीनां वर्णभेदतः' इस प्रकार होनेपर ३३, ३३, ३३, ३३३ देवसंख्या हो जाती है। इसे फिर कभी स्पष्ट किया जायगा।

कई कहते हैं कि—देवताओंकी ३३ कोटियां हैं, ३३ वर्ग हैं। अन्य सव देवता इन्हींमें गृहीत हो जाते हैं। श्रीयास्कमुनिने और भी संक्षेप कर दिया है। उनने देवता तीन कोटि—तीन श्रेणी मान लिये; अग्नि, इन्द्र और सूर्य। अन्य सब देवताओंको श्री-यास्कने इन्हीं तीनोंमें गिन लिया। पर इससे अन्य देवताओंका अभाव नहीं हो जाता। उसी निरुक्तमें इन तीन देवताओंसे भिन्न भी देवता दिखलाये गये हैं। समान-धर्मतासे एक-दूसरेमें समता तो हो सकती है, एकका दूसरेमें अन्तर्भाव भी हो सकता है, पर यह नहीं कि—भिन्न-देवता होते ही नहीं यही पूर्वपक्षियों-की अल्पश्रुतताका अपराध है।

निरुक्त (सप्तम-अध्याय वैश्वानर-प्रकरण)में कई वेदमन्त्र देकर सूर्य तथा विद्युत्को भी अग्नि दिखलाया गया है; तब क्या सूर्य एवं विद्युत् को अग्निसे पृथक् न माना जाएगा? अवश्य पृथक् माना जावेगा। देवताओंकी एक-दूसरेसे समानधर्मता व समानप्रकृति हो, यह तो स्वाभाविक है, पर इससे वे एक नहीं हो जाते। निरुक्तमें लिखा है—'एकस्य आत्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति' (७। ४। ९) अर्थात् एक देवताके आत्माके अन्य देवता अङ्ग-प्रत्यङ्ग भी बन जाते हैं। फिर वहां लिखा है—'इतरेतर-जन्मानो भवन्ति इतरेतर-प्रकृतयः' [७। ४। १२) अर्थात्-देवता एक-दूसरेको पैदा करते हैं; और एक-दूसरेकी प्रकृतिको

धारण करते हैं।

एक मन्त्र है–'अदितेर्दक्षो अजायत, दक्षाद्वदितिः परि' [ऋ. १०।७२।४] अदितिसे दक्ष पैदा हुआ, और दक्षसे अदिति। इस पर निरुक्तमें प्रश्न किया गया है कि—'तत् कथमुपपद्येत समानजन्मानौ स्याताम्' (११।२३।३) अर्थात् इनका एक-दूसरेसे जन्म कैसे उपपन्न (संगत) हो सकता है? इसका उत्तर वहां दिया गया है–'देवधर्मेण इतरेतरजन्मानौ स्याताम् इतरेतर-प्रकृती' (११।२३।४) अर्थात् देवताओंमें यह एक धर्म होता है कि–वे एक-दूसरेको पैदा करते हैं, और एक-दूसरेकी प्रकृतिको भी धारण करते हैं। शतपथमें भी कहा है–'स एष प्रजापतिः। पिता-पुत्रः। यदेषोऽग्निमसृजत, तेन एषोऽग्नेः पिता। यद् एनमग्निः समादधत्, तेन एतस्य अग्निः पिता। यदेव देवानसृजत्, तेन एष देवानां पिता, यद् एतं देवाः समादधुः, तेनास्य देवाः पितरः' (६।१।२।२६)।

जब ऐसी बात है, तो गणेश एवं रुद्र भी इसी प्रकार अग्नि-के समान-धर्मा तो हो सकते हैं, पर अभिन्न नहीं; वही (अग्नि) नहीं। यदि रुद्र वा गणेशको कहीं अग्नि कहा है; तो अर्थवादसे ही। जैसे-आयुर्वै घृतम्' (कृ. य. तैत्ति. सं. २।३।२।२) कहा जाता है। यहां 'घृतमें आयुका आरोप' है। पर यह नहीं कि–दोनों अभिन्न वा पर्यायवाचक हो जावें! ऐसे स्थलोंमें 'वै' शब्द पर्यायवाचकताको नहीं बताता, किन्तु आरोप वा अर्थवादको ही बताता है।

जैसे–हमारे सामने श्रीहंसराजजी आजावें, कोई उन्हें कहे कि–आइये स्वा. दयानन्दजी!!! अथवा 'श्रीहंसराजो वै स्वा. दयानन्दः'। इससे श्रीहंसराजजी स्वा. द. जी नहीं बन जाते, किन्तु यह प्रयोग अर्थवाद हो जाता है। यहां ऐसा कहना समान-

धर्मताकी विवक्षासे होता है, अभिन्नतासे नहीं। यही बात प्रकृत-विषयमें भी समझ लेनी चाहिये कि–रुद्र-अग्नि, गणपति-अग्नि, यह भी समानधर्मतावश होता है, अभिन्नतावश नहीं। रुद्रको त्र्यम्बक (त्रिनेत्र) कहा जाता है, पर पूर्वपक्षीने उसे अग्निमें नहीं घटाया।

निरुक्तमें लिखा है—'अथापि ब्राह्मणं भवति—'अग्निः सर्वा देवताः' (७।१७।४) अर्थात्—अग्नि सर्वदेवात्मक होता है। 'शतपथब्राह्मण'में लिखा है–'इन्द्रः सर्वा देवताः' (३।४।२।३) 'इन्द्रो वै सर्वे देवाः' (१३।२।७।४) इन्द्राग्नी वै सर्वे देवाः' (६।३।३।२१) यहांपर इन्द्र एवं अग्निको सर्वदेवतात्मक बताया है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इन्द्र-अग्नि ही देवता है; इनसे भिन्न कोई देवता होते ही नहीं। इसका भाव यह है कि–अन्य देवता इसीमें गिन लिये जाते हैं, चाहे इसमें 'प्रधानेनहि व्यपदेशा भवन्ति' यह न्याय समझें, चाहे समानधर्मता समझें; पर अभिन्नता नहीं। अद्वैतवादमें भले ही अभिन्नता मान ली जावे, हमेंइसमें कोई आपत्ति नहीं।

यदि प्रतिपक्षीके अनुसार गणेश एवं रुद्र अग्नि हैं, तो गण-पति एवं रुद्र-देवतावाले मन्त्रोंको भी अग्नि-देवताके नामसे लिखना एवं विद्वानोंद्वारा वैसा मानना चाहिये था; और फिर यदि पूर्वपक्षीके अनुसार रुद्र-गणपति आदि अग्निके ही पर्याय-वाचक समझे जावें; तो 'तस्मै रुद्राय नमो अस्तु अग्नये' (अ. ७। ९२।१) यहांपर 'रुद्राय' और 'अग्नये' में पुनरुक्ति माननी पड़ेगी। 'गणेशाथर्वशीर्ष'में गणेशको 'त्वं ब्रह्मा, त्वं विष्णुः, त्वं रुद्रः, त्वमिन्द्रः' बताकर फिर कहा है 'त्वमग्निः'। यदि गणेश भी अग्नि है, रुद्र भी अग्नि है, तब गणेशको रुद्रसे भिन्न अग्नि कैसे कहा गया? और फिर क्या अग्निको ऐसा कहा जाता है कि–

'ऐ अग्नि ! तू अग्नि है' ? अग्निको फिर अग्नि कहना हास्यास्पद है। तब जैसे गणेशमें 'त्वं ब्रह्मा, त्वं विष्णुः, त्वं रुद्रः,' यह अर्थवादसे ब्रह्म-विष्णु-रुद्रत्वका आरोप किया गया है, वैसे गणेशमें अग्नित्वका भी आरोप किया गया है। इससे गणपति अग्निरूप तो हो जाते हैं; साक्षात् अग्नि नहीं।

सो 'रुद्राय नमो अस्तु अग्नये' में भी यही अर्थ विवक्षित है कि—'अग्नये-अग्निरूपाय रुद्राय, अथवा रुद्ररूपाय अग्नये नमः'। दोनोंका उक्त-स्थलमें अभेद विवक्षित नहीं। तभी तो 'यो अग्नौ रुद्रः' (अथर्व ७। ८७। १) यह इस मन्त्रके पूर्वार्धमें रुद्र तथा अग्निमें भेद-प्रतिपादक विभक्ति-भेद भी स्पष्ट है। यदि रुद्र अग्नि ही है, भिन्न नहीं, तो 'अग्नौ रुद्रः' यह विभक्ति-भेद क्यों आया ? इसी कारण इस मन्त्रका विनियोग रुद्रगणमें (कौ० ५०। १३) तथा रुद्रके यजन (५६। २६) में आया है। निरुक्तकारने 'वैश्वानरो यतते सूर्येण' मन्त्र दिखलाकर विभक्तिभेदसे वैश्वानर और सूर्यका परस्पर-भेद सकेतित किया है [७। २३। ११]। सो रुद्रको अग्नि कहना हंसराज-दयानन्दके दृष्टान्तसे अर्थवादरूपमें है।

निरुक्तके अनुसार इतरेतरकी प्रकृति धारण करने वाले होने तथा 'माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते' [नि. ७। ४। ८] इस कथनसे भग [अणिमा आदि आठ प्रकारके ऐश्वर्यों] के कारण कई प्रकारके रूपोंके निर्माणकी क्षमता होनेसे देवताको दूसरे देवताके नामसे अर्थवादसे कह दिया जाता है, पर वह वस्तुतः वही नहीं हो जाता। बहुभक्षी होनेसे अग्निकी समताके कारण 'लम्बोदर' कहनेसे गणेशजीको यदि वस्तुतः अग्नि मान लिया जाय; तब वृकोदर-भीमसेनके भी बहुभक्षी होनेसे बड़े पेटवाला होनेकी स्वाभाविकतावश, तथा सम्भवतः वृकोदर नामक अग्निके भी विश्रुत होनेसे, क्या भीमसेनको भी अग्निसे अभिन्न मान लिया

जायगा ? भीमसेनीकी स्वतन्त्र-सत्ता भी फिर क्या पौराणिकोंके अज्ञानवश मानी जायगी ? अग्नि और सूर्य एवं विद्युत्को भी अभिन्न मान लिया जायगा क्या ?।

'त्वम् अग्ने ! इन्द्रः, ... त्वं विष्णुः...त्वं ब्रह्मा' [ऋ. २। १। ३] 'त्वमग्ने रुद्रः' [६] यहां अग्निको इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, रुद्र कहा है। तब अग्निको फिर 'रुद्र' कहकर अग्नि कहना व्यर्थ ही ठहरता है, यदि अग्नि और रुद्र अभिन्न हैं तो ! अग्निको अग्नि कहना क्या ?। वस्तुतः यहां 'आयुर्वै घृतम्' [कृ. य. तै. सं. २। ३। २। २] की भांति अर्थवादसे अग्निको रुद्र, श्रीहंसराजको स्वा. दयानन्द कहनेकी भांति, कहा जाता है; पर्यायवाचकतासे नहीं।

'रुद्रो वै एष यदग्निः' [तै. सं. ५। ४। ३। १] में भी 'आयुर्वै घृतम्' की भांति 'रुद्रो वै' यह 'वै' शब्द है। सो जैसे 'आयुर्वै' में घृत 'वै' शब्दसे आयुका पर्यायवाचक नहीं हो जाता, वैसे 'रुद्रो वै' में 'वै' शब्द भी अग्निका पर्यायवाचक नहीं बन जाता। 'वै' तो आरोपात्मक अर्थवाद ही बताता है, पर्यायवाचकता नहीं। नहीं तो पूर्वपक्षी 'रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि' (यजुः ११। १५) यहांपर यह अर्थ करेगा कि—'अग्नेरग्नित्वमेहि' तू अग्निके अग्नित्वको प्राप्त हो ! यह अग्निको यदि कहा जा रहा है, तो ऐसा कहना व्यर्थ है। यदि अग्निसे अन्यको कहा जा रहा है, तो रुद्र और गणपति अग्निसे भिन्न सिद्ध हुए। महाभारतके लेखक गणपति थे, तो क्या अग्नि ही महाभारतके लेखक थे ? वस्तुतः इन्हें देवविशेष माननेसे सब असंगतियां हट जाती हैं, वैसा न माननेसे तो बहुत-सी असंगतियां प्रोद्भूत हो जाती हैं।

यथार्थता यह है कि—रुद्रकी पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, यज्ञदीक्षित यह आठ मूर्तियां होती हैं। इस-पर महाकवि कालिदासके 'अभिज्ञानशकुन्तल' का प्रथम-पद्य 'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या, वहति विधिहुतं या हविः' (अग्नि) देखिये। पुराणमें, तथा अमरकोष आदिमें तो रुद्र अष्टमूर्ति प्रसिद्ध हैं ही। अतः कहीं **अग्निकी प्रधानता** मानकर रुद्रको 'आत्मा पुत्रश्च विज्ञेयः' (महा. अनुशा. ४९। ३) इसके अनुसार रुद्रके पुत्र गण-पतिको अग्निरूपसे वर्णित कर दिया जावे, यह अन्य बात है, पर इससे रुद्र वा गणपति भिन्न देवविशेष न हों, केवल अग्नि हों, यह नहीं कहा जा सकता। यहां अग्निके ज्ञान न होनेसे अग्निको गणपति कहनेकी प्राचीनोंकी भूल नहीं कही जा सकती, जैसा कि पूर्वपक्षीने कहनेका साहस किया है। कर्मकाण्डकी पुस्तकोंमें 'रुद्राय अग्निमूर्तये नमः' आदि आठ मूर्तियोंके नामसे रुद्रको नम-स्कार आई है। यह अज्ञानमूलक नहीं, किन्तु ज्ञानसे आई है, और 'माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते' (निरु. ७। ४। ८) अर्थात्-देवताओंमें अणिमा, महिमा, प्राप्ति आदि सिद्धि होनेसे वे कई प्रकारके रूप धर लेते हैं, अतः उनकी बहुत प्रकार-के रूपोंमें स्तुति आती है। तब रुद्र वा गणपतिकी यदि अग्नि-रूपसे स्तुति आती है; तो वे अग्नि थोड़ ही हो जावेंगे !!

यदि पूर्वपक्षी गणपतिमें बुद्धिमत्ता बताते हुए अग्निमें बुद्धि-मत्ता न देखकर, एक वैदेशिक-विद्वान् विलिकिन्सके मतके आगे अपना सिर झुकाकर अग्नि वा गणपतिका अर्थ ब्राह्मण वा पर-मात्मारूपमें बदल देता है, तो यह उसके अपने पक्षको दुर्बलता स्पष्ट है। गणपतिको अद्वैतवादानुसार परमात्मा माना जावे, तब भी कोई हानि नहीं; क्योंकि-गणपत्युनिषद्में भी गणपति-के लिए यही कहा है-'त्वं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि' (१)। 'लम्बोदर'

इसीलिए तो गणेशको कहा जाता है कि—प्रलयमें सृष्टि उसीके पेटमें समा जाती है। अग्निको 'महाशन' तो कहा गया है, पर 'लम्बोदर' नहीं कहा गया। गणेशका 'मोदकभक्षण'से सम्बन्ध अग्निमें नहीं घटता। गणेशको 'त्रिनेत्र' पिता-रुद्रके त्रिनेत्र होनेसे, वा जो भी रुद्रपक्षमें 'त्रिनेत्र'का अर्थ है, वही 'आत्मा वै पुत्र-नामासि' (निरु. ३। ४। २) इस अभेदवश कहा जाता है।

गणेश 'द्वैमातुर' दुर्गा—चामुण्डासे पालित होनेके कारण है, और अग्निका द्विमातृत्व अरणिद्वयके कारण है, अतः दोनोंके द्विमातृत्वमें भिन्नताके कारण अग्नि और गणपतिकी भिन्नता ही सिद्ध हुई। यदि भीमसेन (वृकोदर) 'महाशन' [बहुत खवैया] थे; और आजकल भी कोई 'महाशन' मिल जाए; तो क्या वह भीमसेन [वृकोदर] हो जायगा ? उस बहुभक्षी मनुष्यको 'अय वै भीमसेनः' कहनेपर भी वह वस्तुतः भीमसेन नहीं रहेगा, किन्तु भीमसेनसे भिन्न ही रहेगा। सभी विज्ञ उसे 'भीमसेन' कहनेमें अर्थवादका उदाहरण मानेंगे; वस्तुतः भीमसेन नहीं मान लेंगे। किसी संहिता वा ब्राह्मणोंके अन्वेषक अनुसन्धाताको कहा जावे कि 'अयं वै श्रीहंसराजः'पर इससे वह वही नहीं हो जावेगा। भीमसेनकी यदि दो माताएं [कुन्ती-माद्री] हों; अन्य किसी बहु-भोजी व्यक्तिकी भी दो माताएं हों, तो क्या वह भीमसेन हो जायगा ? भीमसेन महाशन है, वृकोदर है, एक अग्नि भी वैसी है; भीमसेन भी द्वैमातुर है, अग्नि भी; तब क्या भीमसेन भी अग्नि हो जाएगा ? वा रुद्र एवं गणपति हो जायगा ? यदि नहीं; तब गणपतिके अग्नि होनेके तर्काभास भी इसी कोटिके हैं।

सब श्रेष्ठ कर्मोंमें सनातनधर्ममें गणपतिकी पूजा भी होती है, और पृथक् अग्निहोत्र भी हुआ करता है; दोनोंके एक होनेपर एकसे दूसरेकी गतार्थता होनेसे पृथक्-पृथक् पूजा न होती; तब

भिन्न-भिन्न पूजा होनेसे पूज्योंकी भी भिन्न-भिन्नता सिद्ध हो गई। पूर्वपक्षीके अनुसार यदि अग्नि-पूजाके स्थानापन्न गणपति-पूजा है; अतः गणपति अग्नि है, रुद्र भी अग्नि है; तो अग्निहोत्र-के साथ अग्नि-पूजासे पृथक् गणेश तथा रुद्रकी पूजा पृथक्-पृथक् न होनी; पर होती है; तब पूर्वपक्षीका मत निर्मूल ठहरता है। रुद्र भी पूर्वपक्षीके अनुसार अग्नि है; तब रुद्र-पूजा सर्वादिम क्यों नहीं होती, गणपति-पूजा सर्वादिम क्यों होती है ? इससे स्पष्ट है कि–न गणपति अग्नि है और न रुद्र ही। दोनों अग्नि-स्वरूप हों, इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं। अग्निपूजा प्रतिपक्षी वैदिक मानता है, अग्नि उसके अनुसार जड़ है, तब उस जड़की पूजा वा उस जड़के द्वारा परमेश्वरकी पूजा, या प्रकृति-पूजा क्या मूर्ति-पूजा होगी, वा नहीं ?

पूर्वपक्षी आर्यसमाजी हैं, यदि वे मूर्तिपूजा वैदिक मान लें, तब तो आर्यसमाजमें क्रांति हो जाए ! स्वा. द. जीने स. प्र. में गुरुनानकपन्थकी ग्रन्थ-पूजाकी समीक्षा करते हुए लिखा है–'क्या यह मूर्तिपूजा नहीं है ? किसी जड़-पदार्थके सामने शिर झुकाना वा उसकी पूजा करना सब मूर्तिपूजा है'(स.प्र.पृ.२३०)। गणेश-पूजा छूटकर अग्निकी मूर्तिपूजा आ पड़ी। यहां तो 'नमाज़ छोड़ी, तो रोज़े गले आ पड़े' यह कहावत यहां चरितार्थ हो गई।

अग्निका देवताओंमें प्रथम-यजनका कारण यह है कि–'अग्निमुखा वै देवाः' (शत. ३।७।४।१०; शाङ्खायनब्रा. ३।६, महाभारत १७।७।१०-११) आदिके अनुसार देवताओंकी हवि अग्निमें डालनेसे देवताओंके मुखमें पहुँचती है। गणपतिका प्रथम-पूजन उसके देवताओंसे बड़े होनेके कारण होता है। जब 'गणपतये स्वाहा' (यजुः २२।३०) कहकर गणपतिकी आहुति अन्य देवताओंकी भांति अग्निमें डाली गई; तो अग्नि एवं गण-

पतिकी भिन्नता सिद्ध हो गई, क्योंकि–यजुर्वेदके इसी अध्याय[illegible] 'गणपतये स्वाहा' (यजुः २२।३०) कहकर गणपतिसे भिन्न अग्नि[illegible] को भी फिर आहुति दी गई है–'अग्नये स्वाहा' (२२।२७) इस[illegible] से बहुत स्पष्ट है कि–गणपति अग्निसे भिन्न देवविशेष है।

बारह नामोंमें 'धूमकेतु' गणेशका नाम है, परन्तु पूर्वपक्षी[illegible] महाशयने धूमकेतुका प्रसिद्ध-अर्थ अग्नि लेकर उससे गणपति[illegible] अग्नि सिद्ध किया है। यदि 'धूमकेतु' अग्निका नाम है, और [illegible] भी, अतः दोनों अग्निसे अभिन्न हैं, भिन्न नहीं; तब 'शं नो मृ[illegible] धूमकेतुः, शं रुद्रास्तिग्मतेजसः' (अथर्व. १९।९।१०) यहां धूमके[illegible] तथा रुद्रसे भिन्न-भिन्न प्रार्थना न आती। भिन्न-भिन्न प्रार्थना[illegible] से यह दोनों भी परस्पर-भिन्न सिद्ध हैं। बल्कि इस मन्त्रके पूर्वा[illegible] 'शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः, शमादित्यश्च राहुणा'में ग्रहोंसे कल्या[illegible] की प्रार्थना है। पूर्वार्धमें 'राहु' का नाम आजानेसे 'राहोः छ[illegible] स्मृतः केतुः' इस शास्त्र-वचनानुसार 'राहु'से 'केतु'का ग्रहण स्व[illegible] हो जाता है। तब ग्रह-पूजाके साहचर्यसे उक्त मन्त्रके तृतीयपा[illegible] स्थित 'धूमकेतु' शब्द 'धूम्रकेतुर्गणाध्यक्षो'के अनुसार गण[illegible] वाचक है, 'मृत्यु' शब्द उसका स्वास्थ्यमें विघ्नकारक हो[illegible] उपद्रवकारक प्रसिद्ध होनेके कारण (देखो मानवगृह्यसूत्र[illegible] १४।१-२-३) 'मारक' अर्थ रखता है। तीसरे पादमें 'धूमके[illegible] से प्रोक्त 'गणपति'के साहचर्यसे चतुर्थ-पादमें स्थित 'रुद्र' श[illegible] गणपतिके पिता (महादेव) से कल्याणकी प्रार्थना है। इस प्र[illegible] सङ्गति हो जाती है।

गणेशके स्वस्तिक-चिह्नमें हाथीका सम्बन्ध तथा अग्नि[illegible] सम्बन्ध पूर्वपक्षीने बलात् लगाया है। वामावर्त-स्वस्तिक [illegible] तो चारों ओर गणपतिका बीजमन्त्र 'गं' सुरक्षित है। यदि [illegible] होता; तो अग्निकी लपटें लपटोंके ढंगसे दिखलाई जातीं, [illegible]

अग्निका शीघ्र पता लग जाता है। गणपतिके गजाननत्वके सम्बन्धमें जो कथा है, वह अग्निमें नहीं घटती। अग्निकी ज्वालाओंको 'गजेन्द्र-चर्मवसन' पूर्वपक्षिद्वारा बलात् बताया गया है।

ख-स्वस्तिक (आकाश) में चार तारे होते हैं—"स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः' (ऋ. १ । ८९ । ६) इसका भाव यह है कि—गणपतिको इन्द्र, बृहस्पति आदिके द्वारा भी वर्णित किया जा सकता है, उनमें अग्नि नहीं है। तैत्तिरीय ब्रा. के प्रमाणसे पूर्वपक्षीने अग्निको आखुका रूप कहा है, पर रुद्र वा गणपतिको तो 'आखु' बतानेकेलिए पूर्वपक्षिद्वारा कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया। आखुको गणेशका वाहन तो बताया गया है, पर उस आखुको गणेश कहीं नहीं कहा गया, न गणपति उस अग्निरूपमें पृथिवीके नीचे ही कहीं छिपता है, अतः पूर्वपक्षीका यह कल्पना-प्रासाद 'वालुकाभित्ति' है। हां, रुद्रका आखु वाहन गणेश-पक्षमें 'रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि' (यजुः माध्यं. सं. ११ । १५) इस पिता-पुत्रके अभेदके कारण कहा है। 'आखु'को बीमारी फैलानेसे भयङ्कर होनेके कारण 'रुद्र' संज्ञा प्राप्त हुई हो, ऐसा भी कोई प्रमाण पूर्वपक्षीने प्रस्तुत: नहीं किया। रुद्रको भी वेदमें 'आखु' नहीं कहा गया; किन्तु आखु तो रुद्रका वाहन ही कहा गया है। यदि 'आखु' भी अग्निका नाम है, और 'रुद्र' भी अग्निका; तब 'आखुस्ते पशुः' इसमें समन्वयात्मक-सङ्गति नहीं मिलती; क्योंकि—यहाँ आखु और रुद्रमें विभक्ति-भेद है, और फिर अग्निका वाहन कहीं अग्निको कहा भी नहीं गया; और फिर रुद्रका आखुरूप धारण कर कहीं अग्निकी भान्ति पृथिवीके नीचे छिपनेका वर्णन भी नहीं मिलता। इससे स्पष्ट है कि—पूर्वपक्षीने कदाचित् आर्यसमाजी होनेसे चित्तमें विचार कर लिया था कि—वेदादिमें दीख रहे हुए और हमसे पौराणिक माने हुए सनातन-

धर्मके प्रसिद्ध-देव गणेश एवं रुद्रको किसी प्रकार उड़ाया जावे। इसी दृष्टिकोणसे उसने संहिता एवं ब्राह्मणों आदिका मथन किया; और उक्त कल्पनाएं उपज्ञात कीं; पर कल्पनाएं अन्ततः कल्पनाएं ही होती हैं। वे असत्य होने पर अवश्य निर्मूल सिद्ध हो ही जाती हैं, उसमें कई असङ्गतियां भी प्रादुर्भूत हो उठती हैं। असत्यके पैर नहीं हुआ करते।

'अग्ने रोहितः' (नि. ३२ । २८ । २) में रोहितका अर्थ मृग-विशेष वाहन है, जो लालरंगका हो सकता है। वहांपर पशु वाहनोंका वर्णन है, जो दिव्य हैं, रंगोंका कोई वर्णन नहीं, किन्तु उन-उन रंगों वाले पशुओंका वर्णन है। 'श्वेतो धावति'में श्वेत-रंगवाले अश्वमें लक्षणा देखी गई है।

पर गणपतिका वाहन मृग नहीं, किन्तु मूषक है। रोहितका अर्थ लाल भले ही हो; पर लालरंग तो गणपतिका वाहन थोड़े ही हो जावेगा, किन्तु वह तो स्वयं लाल रंगका है। लालरंग भी गणपतिका वाहन कहीं नहीं माना गया। इस प्रकार पूर्वपक्षीके अन्य प्रमाणोंकी भी यही दशा है, उनमें अनन्वय है, असङ्गति है। आकाश-पातालके कुलाबे बलात् मिलाये गये हैं। फलतः पूर्वपक्षीका परिश्रम विशेष-फलदायक नहीं।

इसी प्रकार प्रतिपक्षीके कार्तिकेय तथा अश्विदेवतापर लिखा हुआ निबन्ध भी प्रत्युक्त हो गया। जो उसमें ब्राह्मणभागके उद्धरण दिये गये हैं, वहां वे 'बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति' (निरु. ७ । २४ । ६) इस श्रीयास्कके वचनानुसार भक्तिवाद-अर्थवादमें विश्रान्त हैं। जैसे—'आयुर्वै घृतम्' (कृ. य. तैसं. २ । ३ । २ । २), ब्राह्मणो वैश्वानरः' (तै ब्रा. ३ । ७ । ३ । २), संवत्सरो वैश्वानरः' (शत. ५ । २।५। १५)। 'श्रीहसराजो वै स्वा. दयानन्दः' इन दृष्टान्तोंकी भान्ति गणेशके अग्नि

आदि आरोपित-नाम हैं, इनमें परस्पर अभिन्नता वा पर्याय-वाचकता नहीं।

'विद्युद्दामसमप्रभां .... अनलात्मिकां शशिधरां दुर्गां त्रिनेत्रां भजे' दुर्गासप्तशतीके इस दुर्गा-ध्यानात्मक-पद्यमें दुर्गाको विद्युद् वा अग्निरूप कहा है। गायत्रीको अग्न्यात्मक माना जाता है। स्मृतियोंमें भौमग्रहको 'अग्निर्मूर्धा' अग्नि माना जाता है। बुधको 'उद्बुध्यस्वाग्ने !' अग्नि माना गया है। वाणीको अग्नि रूप कहा जाता है। अगस्त्य तारेको आग्नेय-पिण्ड माना जाता है। इससे यह सब अग्नि नहीं बन जाते; इन्हें अग्नि कहने पर भी अग्निरूप, अग्निसे भिन्न ही माना जाता है। जीवात्माको भी अग्नि माना जाता है, इसी अग्निके शरीरमें आनेसे श्वासरूप वायु, तथा 'अग्नेरापः' थूकेंरूप जल शरीरमें आ जाता है। इस आत्मा-अग्निके निकल जानेपर लोग कहते हैं कि-शरीर शान्त हो गया, यह पुरुष ठंडा हो गया; पर इससे आत्मा अग्निरूप होता हुआ भी अग्निसे भिन्न ही माना जाता है, इस प्रकार गणेश आदि अयोनिज एवं तैजस देव (तैजस-आप्य-वायव्य अयोनिज दिव्य-शरीरोंका वर्णन वैशेषिकदर्शन-न्यायदर्शन आदिमें देखिये) होनेसे अग्निको अंशतः धारण करते हुए भी अग्निसे भिन्न ही होते हैं। कहीं अंश-अंशीके अभेद-वश वैसा कहा जाता है; कहीं अर्थवादरूपसे। तब वे वस्तुतः वे ही नहीं हो जाते।

इसका प्रकृतोपयुक्त एक सुन्दर उदाहरण देख लेना चाहिये। ब्राह्मणभागमें लिखा है—'त्रयो वेदा एते एव, वागेव ऋग्वेदः, मनो यजुर्वेदः, प्राणः सामवेदः' (१४।४।३।१२) यहां ऋग्वेदादिको ब्राह्मणभागने वाणी, मन और प्राण बताया है; तब क्या पूर्वपक्षी वाणी, मन और प्राणके अतिरिक्त चार वेदोंको पृथक् रूप-में नहीं मानेगा ? उनको पृथक्रूपमें मानता वह आर्यसमाजियों

का पौराणिक-अज्ञान मानेगा ?। 'तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री' (शत. २।५।५) गायत्रीको तेजसे भिन्न न मानेगा ?। 'आत्मा वै अग्निः' (शत. ७।३।१।२) आत्माको भी अग्नि ही मानेगा ! अग्निसे भिन्न नहीं ?' 'अन्नं वै प्राणाः' अन्नको भी सर्वत्र प्राणका पर्यायवाचक मान लेगा ?। उसी ब्राह्मणभागमें 'समिधो यजति, वसन्तो वै समित्' [शत. १।५।४।६] समिधाको वसन्त-ऋतु वा वसन्तको समिधाका पर्यायवाचक मान लेगा ? 'गायत्री वा अग्निः' (शत. १।८।२।३) गायत्रीको अग्निरूप न मानकर अग्नि ही मान लेगा ?। 'योषा वै वेदिः' [शत. १।३।६।८] स्त्रीको यज्ञकी वेदी, या वेदीको स्त्री मान लेगा ?

वस्तुनः ब्राह्मणभागकी शैली भक्तिवादकी है, जैसे कि श्री. यास्कने लिखा है-'बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति। पृथिवी वैश्वानरः, संवत्सरो वैश्वानरः, ब्राह्मणो वैश्वानरः' [७। २४।६] इससे सिद्ध हुआ कि—ब्राह्मणभागसे प्रोक्त आरोप भक्तिवादसे कह दिये जाते हैं कि—ब्राह्मण भी वैश्वानर (अग्नि) है, यह नहीं कि—ब्राह्मण और वैश्वानर आपसमें पर्यायवाचक हो जावें। 'आयुर्वै घृतम्' (कृष्णयजुर्वेद तैसं. २।३।२।२) की भांति घीमें आयुका आरोपमात्र समझना चाहिये, आयु और घी की पर्यायवाचकता विवक्षित नहीं होती। इस रूपमें गणेशमें अग्निरूपता है, न कि गणेश सचमुच ही अग्नि बन जावे। क्या घृतसे अतिरिक्त आयु पृथक् नहीं होती ?। यही 'गणेशो वै अग्निः, रुद्रो वै अग्निः' आदिमें भी समझना पड़ेगा।

देवतावादका पूर्वपक्षी भौतिक एवं वैज्ञानिक रहस्य भले ही बतावें; पर जो उसमें आधिदैविकता है, उसे छिपा दिया जाता है; या उस ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता

यमको जो कि पूर्वपक्षी काल (समय) और सूर्यका लड़का सिद्ध करते हैं, सो काल जड है। कालका अधिष्ठाता चेतनदेव 'अभिमानि-व्यपदेशस्तु' (वेदा. २।१।५) यमराज सिद्ध हो जाने से सनातनधर्मका पक्ष सुस्पष्ट हो जाता है। उसीको 'यमं राजानं हविषा सपर्यत' (अथर्व. १८।३।१३] इस वेदमन्त्रानुसार हवि देकर पूजा जाता है, तब क्या प्रतिपक्षी लोग जड़-कालको हवि देकर उसकी पूजा-मूर्तिपूजा करते हैं? वह यम समयका नियामक 'काल' शब्दसे प्रसिद्ध है। समय तो निष्क्रिय होता है, वह किसी को मार नहीं सकता। वही यम मृत्यु है। पूर्वपक्षी लोग इतना परिश्रम इसलिए करते हैं कि—सनातनधर्मसम्मत देवतावाद मर जावे; पर जब तक वेदादिशास्त्र हैं, और संस्कृतके निष्पक्ष विद्वान् जीवित हैं; तब तक देवतावाद मर नहीं सकता। उसकी आधार-भूमि बहुत दृढमूल है। प्रतिपक्षियोंके कृत्रिम-मतमें बहुत अनुपपत्तियां आती हैं; इनके बचावकेलिए वे एक ही सूक्तके समान यम आदिका अर्थ बदलनेकी चेष्टा करते हैं। कभी यम मजिस्ट्रेटका नाम कह देते हैं, कभी वायुका। स्वा०द० जीने 'यमालय'का अर्थ 'वाप्वालय' किया है, इस विषयमें सम्भवतः ८म पुष्पमें 'आर्यसमाजका श्राद्ध एवं यमराज' विषय देखना चाहिये।

इसी प्रकार 'अश्विनौ'का केवल प्राण-अपान, उर्वशी-वसिष्ठ का विद्युत्-जल अर्थ तथा दुर्गा, कामधेनु, विष्णुके दशअवतारों, ब्रह्मा, विष्णु, नारद, उर्वशी आदिका सूर्य, किरण, मन आदि अर्थ करना पूर्वकी भांति ऐकदेशिक-परिश्रम है, केवल देवतावादके उडानेके अतिरिक्त इसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं दीखता। यह वैसा परिश्रम है, जैसे कि कई लोग महाभारतके पात्रोंमें कौरवोंका-मनकी कुत्सित वृत्ति, पाण्डवोंका मानसिक

अच्छी वृत्ति आदि अर्थ करके, इसी प्रकार युधिष्ठिर-शकुनिका जुआ खेलना, शूर्पणखाकी नाक काटना आदिको आलङ्कारिक-रूपसे दिखलाकर महाभारतकी ऐतिहासिकताको उडानेकी चेष्टा करते रहते हैं। आप भले ही वैज्ञानिक अर्थ कीजिये, पर वहां ऐकदेशिकता है। हमारे यहांकी यह विशेषता रही है कि—उसमें आधिभौतिकता, आधिदैविकता, आध्यात्मिकता तीनों भी रहा करती हैं। 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' (यजुः ३४।५५) यहां ७ प्राणरूप अध्यात्म-ऋषि कहे गये हैं। आकाशस्थ-सप्तर्षिमण्डल-में वे आधिदैविकरूपसे रहते हैं, वैदिक ऐतिहासिक सप्तर्षि आधिभौतिक होते हैं। इस प्रकार आग्नेय-प्राण भी देवता हैं; तारामण्डलमें भी इन्द्र आदि देवता हैं। मनुष्य-शरीरमें भी सूक्ष्म प्राणरूप देवता होते हैं। दिव्यस्वर्गादि लोकोंमें रहनेवाले शरीरी-चेतन देव भी देवता हैं। इस प्रकार सौम्यप्राण भी पितर होते हैं। उनके आधारपर होने वाली ऋतुएं भी पितर हैं। शरीर-त्यागके बाद सूक्ष्म-शरीरसे चन्द्र आदि लोकोंमें जाने वाले जीव भी पितर होते हैं। प्रति-शरीरमें रहने वाले सन्तानोत्पादक-भाव भी पितर होते हैं। और फिर इन सबके आपसमें सम्बन्ध हुआ करते हैं। तब इनमें पुराणवर्णित श्रुतिके ऐतिहासिक-भावोंको उड़ाना—यह श्रुतियोंके साथ बलात्कार है; और वह ऐकदेशिकता है; आशा है—पूर्वपक्षिगण केवल एक-आंख न रखकर, दूसरी आंख भी साथ-साथ रखेंगे; फिर पौराणिकोंका अज्ञान सिद्ध करनेकी आवश्यकता भी नहीं रहेगी।

(ख) श्रीहंसराजजी तो रुद्र एवं गणेशको अग्नि बनाने तक रहे, पर आर्यसमजी ब्रह्मचारी-उषर्बुधजीने अपने 'रुद्र-देवता' में रुद्रके अग्नि, मेघ, सेनापति, सृष्टिका संहर्ता परमेश्वर, बल,

अग्निकी सञ्जीवनी शक्ति-आदि बहुतसे अर्थ कर डाले हैं; जिससे पुराण-वर्णित रुद्र-देवताको उडाया जा सके। यहां हम ब्रह्मचारीजीके ट्रैक्टपर भी संक्षिप्त विचार देते हैं। श्रीहंसराजजी भी ब्रह्मचारीजीके इस पक्षको मानते हैं क्या ? यदि मानते हैं; तो सबमें उसका आखु वाहन, लालरंग, अग्नित्व सब घंटा सकेंगे ? यदि नहीं; तब स्पष्ट है कि—यह देवतावादके उडानेके एक-दूसरेसे विरुद्ध स्वप्रिय प्रकार-मात्र हैं। जब कि—ब्रह्मचारीजी रुद्रका 'सृष्टिका संहर्ता परमेश्वर' अर्थ भी मानते हैं; तो इससे महादेव वेदमें सिद्ध हो ही गये।

"वेदमें अनेक देवताओंकी उपासनाकेलिए कोई भी स्थान नहीं है" इत्यादि प्रतिपक्षीका कथन 'मनका मोदकमात्र' वा वेद का स्वाध्याय न करना है। हम इस विषयमें स्पष्टता अन्य पुष्पमें करेंगे, यहां स्थान नहीं है। कुछ इस विषयमें 'आलोक'के ४ थं पुष्पमें 'देवता और मनुष्योंकी भिन्नता' 'क्या विद्वान् मनुष्य ही देवता हैं' इत्यादि निबन्धोंमें देखा जा सकता है। परमात्मा है—अङ्गी, देवता हैं उसके अङ्ग। अङ्गकी पूजाके बिना अङ्गीकी पूजा हो ही नहीं सकती। अङ्गकी पूजाका पर्यवसान अङ्गीकी ही पूजामें होता है। इसलिए वेदमें बहुदेवतावाद होता हुआ भी अन्तमें एकेश्वरवादमें पर्यवसित हो जाता है। 'सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति' (अ० १३। ४। १५-२१) यह प्रतिपक्षीसे दिया हुआ प्रमाण बहुदेवतावाद सिद्ध करके उन्हें एक-परमात्मामें अंगरूपसे स्थित बताता है। 'यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे' (ऋ. १०। ८२। ६) यह वेद-वचन भी यही बताता है।

'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति' (निरु० ७। १। ४) इस वचनका 'मन्त्रका प्रतिपाद्य विषय ही उसका देवता कहाता है' यह अर्थ

करना प्रतिपक्षीकी कपोल-कल्पना है; इसमें 'ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते' का अर्थ छिपा दिया गया है। 'रुद्रासः' (ऋ० ५। ५७। १) में बहुवचन देखकर "देवता-विशेष वाचक रुद्र' अर्थ यहां नहीं हो सकता" यह प्रतिपक्षीका अल्प-श्रुतता है; जब कि पूजामें भी बहुवचन वेदादिमें भी मिलता है। 'यूयं' पात स्वस्तिभिः सदा नः'में 'वेदमें बहुदेवतावाद' होनेके कारण 'यूयं' बहुवचन था; पर स्वा०द० जीको यह बात इष्ट नहीं थी कि—वेदमें बहुदेवतावाद सिद्ध हो, अत एव उन्होंने 'आर्याभिविनय' (प्रथम-प्रकाश पृ० ३९। ४१) में इसपर लिखा था कि—'आदरार्थं बहुवचनम्' अर्थात् 'यूयं' यह बहुवचन परमात्माकेलिए उसके आदरार्थ है। तब यहां 'रुद्रासः'में पूर्वोक्त बहुवचन क्यों नहीं हो सकता--यह प्रतिपक्षी ही बतावे।

स्वा.द.जीने स.प्र. तथा संस्कारविधि आदिके अन्तमें अपने गुरु स्वा. विरजानन्दजीको बहुवचन दिया है। उसे देखकर प्रतिपक्षी क्या यही कहेगा कि—'यह मथुरावाले विरजानन्दजी नहीं हैं। वे तो एक थे; यहां तो बहुवचन होनेसे विरजानन्द बहुत कहे गये हैं'। महाशय! देवताओंकेलिए निरुक्तकारने कहा है—'माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते' (७। ४। ८) अर्थात् देवताओंमें अणिमा आदि बहुत प्रकारकी सिद्धियां होनेसे वे कई प्रकारके रूप धारण कर लेते हैं, अतः उनकी बहुत रूपोंमें वा बहुवचनमें भी स्तुति आती है।

निरुक्तमें दिया गया 'सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्' (१। १५। ७) यह वेद-(यजुः १६। ५४) मन्त्र स्वयं रुद्रके बहुत रूप धारण करना भी बता रहा है; तब यह बात समझमें न आ सकनेसे बहुवचन वाले रुद्रोंका 'सेनापति' अर्थ कर देना प्रतिपक्षीका अवस्थापराध वा अल्प-श्रुतता है; जब कि एक योगी

भी अणिमादि-सिद्धिवश अपने अनेकरूप धारण कर सकता है, (देखो इसपर स्वा.द. जीका यजुर्वेदभाष्य १७।७१) तब स्वतः-सिद्ध योगी, देवाधिदेव-रुद्र अपने यदि बहुत रूप कर ले, जैसे कि-दुर्गासप्तशतीमें युद्धमें दुर्गाकी ही बहुत सी ऐन्द्री, वैष्णवी, नारसिंही, वाराही, रौद्री आदि शक्तियां प्रकट हो गई थीं। फिर शुम्भसे युद्ध करनेके समय उसके उपालम्भसे देवीने सबको अपने में समेट लिया; और वह एक हो गई थी; और उसने कहा था-'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा। पश्यैता दुष्ट! मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः' (१०।५) इसी प्रकार दुर्गानाथ-रुद्रके वा शिवके भी अनेक अघोर-रूप वा घोररूप वेदमें बताये हैं। तब रुद्रके बहुवचनमें महादेव-अर्थ करनेमें क्या बाधा आती है-यह प्रतिपक्षी ही बताए। पुराणोंमें भी रुद्रके बहुत रूपोंका वर्णन आता है; अतः वैदिक-बहुवचनमें पुराणसे कोई असङ्गति नहीं पड़ती।

यदि वेदमें 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः' इस एकवचन-से तो महादेव ही गृहीत हों, और 'सहस्राणि सहस्रशो रुद्राः' में 'रुद्र' के बहुवचनसे 'सेनापति' गृहीत हों; तो कौत्सने निरुक्तमें उक्त दो मन्त्रोंका परस्पर-विरोध कैसे बताया? भिन्नार्थकतामें विरोधका कोई अवसर ही नहीं होता। एकार्थकतामें हो भिन्नता दीखने पर विरोध उपस्थित होता है। और फिर एक युद्ध वा एक सेनामें सेनापति भी परिमित होते हैं, हजारोंकी संख्यामें नहीं हुआ करते; नहीं तो पराजय हो जाय। सेनापति ज्ञानस्था-नीय होता है, सेना कर्मस्थानीय। कर्मका ७५ वर्ष रखा गया है, और ज्ञानका २५ वर्ष। सेनापति अर्थ करनेमें अन्य असंगति यह आती है कि-'ये रुद्रा अधि भूम्याम्' में 'भूम्यां' शब्द व्यर्थ हो जाता है; क्या सेनापति पृथिवीमें न रहकर आकाशमें रहते

हैं? 'रुद्र! मीढ्वः! ......जुहुयाम ते हविः' (ऋ. १।११५।३) यहां प्रतिपक्षीने 'मीढ्वः!' का 'सींचने वाले' अर्थ देखकर 'मेघ' अर्थ कर दिया है; और अर्थ करते हुए लिखा है-'हम तेरेलिए हव्य-पदार्थ घृतादिका हवन करें'। तो क्या मेघको भी हवि कभी दी जाती है? प्रतिपक्षीके मतमें यहां कैसी सुन्दर असंगति होती है? वस्तुतः यहां रुद्र-महादेवको ही हवि दी गई है; 'स रुद्रः, स महादेवः' (अथर्व. १३।४।४) 'मीढ्वः' इस सम्बोधनान्त पदका अर्थ है-'मनोरथोंकी वृष्टि करने वाले'। अथवा देवताओंमें कभी निरुक्तानुसार 'इतरेतरप्रकृति' एक-दूसरेकी प्रकृति भी दिखा दी जाती है। वृष्टि करना तथा सहस्राक्षता इन्द्रकी आती है; वही रुद्रमें भी वेदमें देखी गई है। तब रुद्रका अर्थ बदल देना अपार्थक है। प्रतिपक्षीसे दिये गये सभी रुद्रदेवताके मन्त्र महादेवकेलिए हैं, उनके दैत्योंसे युद्ध पुराणोंमें भी प्रसिद्ध हैं; अतः वेदमें भी उन्हें 'स्थिर-धन्वा' अधिज्य-धन्वा' आदि कहा गया है। 'नीललोहित' वे विषपान करनेसे थे।

यह कहना कि-वेदमें रुद्रको 'मरुतोंका पिता' कहा गया है जब कि पुराणोंमें ऐसा कोई भी वर्णन नहीं है, यह ठीक नहीं। पुराणोंमें मरुतोंके अवतार हनुमान् रुद्रके अंश माने जाते हैं। शिव और रुद्र विभिन्न अर्थोंके बोधक भले ही हों, पर इससे रुद्र और शिव भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं हो जाते। उनके दो प्रकारके रूप हो जानेसे यह दो नाम हैं। उनके घोर-अघोर दोनों रूप प्रसिद्ध हैं-'अघोरेभ्योथ घोरेभ्यः' (तैत्तिरीयारण्यक १०।४५) 'या ते रुद्र! शिवा तनूरघोरा' (यजुः १६।२) इस मन्त्रमें रुद्रका अघोर एवं शिवरूप वर्णित होनेसे वे शिव हैं, इसमें कोई असङ्गति नहीं पड़ती। पौराणिक-रुद्र कोई नया नहीं; वह वेदसे

ही दुहा गया है। पुराण वेदके रोचक-भाष्य हैं। निष्पक्ष दृष्टि-कोणसे तो समन्वय हो जाता है। एक अर्वाचीन-सम्प्रदायका आवरक काला चश्मा चढ़ा हो; तो फिर ठीक-ठीक नहीं दीखता। यदि आयुर्वेदमें रुद्रवाची शब्द धत्तूरे, पारे आदिके बोधक हैं, तो पुराणोंमें पारद-लिङ्ग तथा धत्तूरेका शिवसे सम्बन्ध प्रसिद्ध है।

प्रतिपक्षीका यह कहना कि-वेदमें 'आखुस्ते पशुः' (यजुः ३। १७, काण्वशाखा ३।१५) आदि स्थलों पर आखु (चूहे)को रुद्रका पशु कहकर चूहेके समान "आ समन्तात् खनति" पृथ्वीमें बिल-सुरंगें बनाकर सेनापतिको युद्ध करनेकी शिक्षा दी गई है" हास्यास्पद है। वेदमें आखुको रुद्रका पशु (वाहन) 'रुद्रस्य गाण-पत्यं' (यजुः ११।१५) इसके अनुसार रुद्रके गणपति रूप होनेसे पिता-पुत्रके अभेदसे बताया गया है, यह बात प्रतिपक्षीके अर्थमें कहीं भी संगत नहीं होती। आखु रुद्रका वाहन तो बताया गया है; पर रुद्रको आखु नहीं बताया गया है, जिससे प्रतिपक्षीका अर्थ सिद्ध हो। यह कहना कि-"चारों वेदों, शाखाओं वा ब्राह्मणोंमें एक भी स्थानपर वृषभको रुद्रका वाहन नहीं कहा गया है" यह वेदका स्वाध्याय न करना तथा अपने साम्प्र-दायिक-पक्षका दृष्टिमें आवरण होना है। वेदमें रुद्रको पशुओंका पति कहा गया है, उनमें पहला पशु 'गौ' (बैल) है; देखिये इसमें बीजरूप मन्त्र– 'तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः' (अ. ११।२।९)। और फिर वेदमें वादियोंके अनुसार यौगिकता होने से रुद्रकेलिए 'आखुस्ते पशुः' (यजुः ३।५७) में 'आ समन्तात् खनतीति आखुः–वृषभः, पशुः' यह अर्थ भी हो सकता है, क्योंकि–बैल भी खुरोंसे जमीन खोदता है, और वह पशु है–यह अर्थ ठीक घट जाता है, इसीलिए पारस्करगृ. में भी 'रुद्रः पशूना-मधिपतिः' (१।५।८) यहां रुद्रका पशुपतित्वमें संकेत मिलता

मिलता है। सेनापतिमें न 'आखु' शब्द घटता है, न पशु।

यह कहना कि–"'यत्र-यत्र प्रयाति स्म रावणो राक्षसेश्वरः। जाम्बूनदमयं लिंगं तत्र तत्र-तत्र स्म नीयते' (वाल्मी. ७। ३१। ४२-४३) यह लिंगपूजा राक्षसोंमें थी, आर्योंमें नहीं। रावणका आचार कितना घृणित था" यह व्यर्थ है। रावणको तो आर्य-समाजी भी वेदका तथा दर्शनोंका पण्डित मानते हैं, उसके ४ वेद और ६ शास्त्र यही तो वे लोग दस मुख मानते हैं; तब उसे वेदविरोधी कैसे कहा जाता है? कई उसके सीता चुराना आदि घृणित वैयक्तिक आचरण भले ही हों; पर शेष उसके पूजा-पाठको घृणित कैसे कहा जा सकता है?

'यह लिंगपूजा शिवपूजा न होकर दीपशिखाकी आकृतिके ज्योतिर्लिङ्ग (ज्योतिके चिह्न) की पूजा ही थी, शिवपुराणादिमें ज्योतिर्लिङ्गोंका ही वर्णन आता है" यह 'रुद्रदेवता'के आर्यसमाजी-लेखकके शब्द हैं, उसे वधाई हो। जब उक्त-लेखक शिवपुराणमें ज्योतिर्लिंगका वर्णन मानता है; तब उसमें शिव-पूजा ही तो है; क्योंकि–शिवपुराणमें शिवजीके ही लिंगों (प्रतीकों)की पूजा-का वर्णन है; उसका गन्दा अर्थ तो गन्दे दिमाग वाले ही करते हैं, हम नहीं करते। और वहां गन्दा अर्थ है भी नहीं; सो ज्योति-लिंगकी पूजा जिसे वहां 'जाम्बूनदमय लिंग' शब्दसे निरूपण किया है, अनार्य-व्यवहार कैसे हो? सो यहां उक्त-लेखकके शब्दों-से ही आजकलके कुविचार वाले नौसिखियोंका खण्डन होगया। महाभारत द्रोणपर्व (२०१। ९६, १०३। १३६)में भी यही लिंग-पूजा कही है। सो यह मूर्तिपूजा सिद्ध होगई।

यह कहना कि–'वाल्मीकिरामायण'में रावणके अतिरिक्त अन्य किसीका मूर्तिपूजाका वर्णन नहीं है" यह ठीक नहीं है।

रामायणमें देवमन्दिरोंका वर्णन बड़ा स्पष्ट है।—'चैत्यांश्च सर्वान्, सिद्धार्थान् ब्राह्मणांश्च नमस्यसि' (२। १००। ६१) यहां चैत्यों-की पूजा कही है— 'नमोवरिवस्-चित्रङः क्यच्' (पा. ३। १। १९) यहां नमस्'को पूजा अर्थमें क्यच् कहा है। 'चैत्य' देवताय-तनका नाम होता है। उस देवमन्दिरकी मूर्तिकी पूजाके विषयमें श्रीरामने भरतसे पूछा है कि—तुम उस मूर्तिपूजाको किया करते हो न? उसे तुमने कहीं छोड़ तो नहीं दिया है?

अन्य देखिये—'देवागाराणि शून्यानि न भान्तीह यथा पुरा। देवतार्चाः (देवमूर्तयः) प्रविद्धा (निरस्तपूजा) श्च, यज्ञगोष्ठास्त-थैव च' (अयोध्याकाण्ड ७१। ४०) यहांपर देवमन्दिर तथा देव-मूर्तियोंकी पूजा स्पष्ट दीख रही है। राजा दशरथके मरनेपर रामशून्य-अयोध्यामें देवमन्दिरोंकी भरतने यह दुरवस्था देखी। यहां यज्ञशाला तथा देवमन्दिर,-देवमूर्ति पृथक्-पृथक् दिखलानेसे मूर्तिपूजा बहुत स्पष्ट हो रही है। आर्यसमाजके वेदज्ञ श्रीपाद-दामोदर-सातवलेकरने अपने रामायणभाष्यके समीक्षणमें ३७७ पृष्ठमें लिखा है—

"जिस समय रामायण लिखी गई थी, उस कालमें मूर्तिपूजा जनतामें प्रचलित तथा मान्य थी। ····इस भांति रामायणमें मूर्ति-पूजाके बारेमें उल्लेख पाये जाते हैं; अतः स्पष्ट है कि—उस (रामा-यण) के समय मूर्तिपूजा प्रचलित थी। उसी प्रकार लङ्काके राक्षसों में भी मूर्तिपूजा करनेकी प्रथा रूढ थी'।

इससे ब्रह्मचारीजीका कथन कि—'वाल्मीकि—रामायणमें रा-वणके अतिरिक्त अन्य किसीका मूर्तिपूजाका वर्णन नहीं है' यह असत् सिद्ध हुआ। श्रीरामकी अन्य मूर्तिपूजा भी देखिये—'कृतोद-कः शुचिर्भूत्वा काले हुतहुताशनः, देवागारं जगामाशु पुण्यमिक्ष्वाकु-

सेवितम्। तत्र देवान्, पितॄन्, विप्रान् अर्चयित्वा यथाविधि'। (७। ३७। १३-१४) यहां भी देवमन्दिरको यज्ञशालासे पृथक् कहा है। इस प्रकार मर्यादापुरुषोत्तमने मूर्तिपूजा करके उसकी अनुसरणीयता बता दी।

रामायणमें मनुस्मृतिको याद किया गया है। वालिवधके समय श्रीरामने वालीको मनुस्मृतिके दो पद्य सुनाये हैं (वाल्मी. ४। १८। ३०-३१-३२), वे आज भी मनुस्मृति [८। ३१८-३१६]में मिलते हैं। उसमें रामायणका आचरण मनुके अनुसार था—यह सिद्ध होता है। अयोध्यानगरी बनाई भी मनुजीने ही थी; [वाल्मी. २। ७१। १८] सो उसमें स्वा.द.जीके स.प्र. ११ समुल्लासके आरम्भिक वचनके अनुसार सृष्टिकी आदिमें निर्मित मनुस्मृतिके कानून चलते थे। उसी मनुस्मृतिमें अब मूर्तिपूजा देखिये—'कार्याणि देवतायतनानि च' [८। २४८] यहां देवमन्दिरोंके निर्माणकेलिए कहा गया है। 'नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्। देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च' [२। १७३] इसको टीकामें समस्त टीकाकारोंने देव-मूर्तिपूजा मानी है। यह ठीक भी है, क्योंकि—यहांपर देवताकी प्रतिकृति (प्रतिमा) अर्थमें 'इवे प्रतिकृतौ' (पा.५।३।९६)से जो कन्-प्रत्यय हुआ था; उसका 'जीविकार्थे चापण्ये' (पा. ५।३।९९)इससे लुप् हो जाता है; तब 'देवताभ्यर्चन'का देवताप्रतिमाकी अभ्यर्चना-अर्थ प्रतिफलित हुआ। 'पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम्, (४। १५२) यहां पर भी देवताप्रतिमाकी पूजा स्पष्ट है। 'गां, दैवतं, विप्रं···प्रदक्षिणानि कुर्वीत, (४। ३९) यहां देवताप्रतिमाकी परिक्रमा कही गई है, जो पूजनका ही अङ्ग है। 'दैवतान्यभि-गच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान्, (४। १५३) यहां भी देवपूजाके लिए देवमन्दिरमें जाना कहा है। 'जित्वा संपूजयेद्देवान् ब्राह्मणां-

श्चैव धार्मिकान्, (७।२०१) 'प्रतिमानां च भेदकः। प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं' (६।२८५) 'देवतागारभेदकान् । हन्यादेवाविचारयन्' (६।२८०) यहां देवमूर्तिके तोड़नेवालोंको दण्डविधान किया है। 'जीर्णदेवायतने' (मनु. ८।४६)। 'सीमासन्धिषु कार्याणि देव-तायतनानि च' [८।२४८] यहां सीमाओंमें देवमन्दिरोंका निर्माण कहा है। वेदमें पूर्तको आज्ञा है 'इष्टापूर्ते सँ सृजेथाम्' (यजु.मा. सं. १५।५४, अथर्व. १८।३ ५८)। पूर्तमें देवमन्दिर-का निर्माण भी आता है—'वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च। पूर्तमित्यभिधीयते' [अत्रिस्मृति ४५, लिखितस्मृति ४] मनु-स्मृतिमें भी यही पूर्त 'तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च। देवतायतनानि च' (८।२४८) इन शब्दोंमें करणीय बताया गया है। तब मनुस्मृत्यनुसार व्यवहार वाली रामायणमें भी मूर्तिपूजा क्यों न हो ? अतएव प्रतिपक्षीका उक्त कथन निर्मूल ही है। रामायणमें विष्णुके अवतार श्री रामका भी लोकशिक्ष-णार्थ महादेवकी पूजाका वर्णन आया है। जिसकेलिए वहां लिखा है—'अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद् विभुः। एतत्तु दृश्यते तीर्थं सगरस्य महात्मनः। सेतुबन्ध इति ख्यातं' (६।१२५।२०-२१) महादेवकी पूजा लिंगपूजारूपमें ही होती है, लिंग उनकी मूर्तिविशेष है। 'रामेश्वरलिंग' की प्रतिष्ठापना इतिहास-प्रसिद्ध है। मृतकश्राद्धका वर्णन भी वाल्मीकिरामायणमें (२।१०३।२९-३०) स्पष्ट है। श्रीरामकेलिए 'रामायण' में 'वेदविदां वरः' 'श्रुतवान्' (२।१०५।३८) आया है; सो मृतकश्राद्धकी वैदिकता भी सिद्ध हो ही गई है। अथर्ववेदका १८ वां काण्ड इसी मृतक-श्राद्धसे ओतप्रोत है। सो यह भी पौराणिक-कल्पना नहीं, जैसे कि—आर्यसमाजी श्रीअखिलानन्दजी झरियाने अपनी रामायण-की टीका (वेदवाणी) में लिखा है।

इससे स्पष्ट है कि—वेदमें रुद्रकी पूजा महादेव-शिवकी पूजा है; और वह वैदिककालसे ही चालू है। उसे कभी छिपाया नहीं जा सकता। मोहञ्जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाईके अन्वेषक लोग उसे वैदिककालकी, बल्कि उसकी पूर्वकी कहते हैं। उसमें शिवलिंग मिले थे। तब वैदिकदेव शिवको वैदिकम्मन्योंका 'बीभत्स' देव कहना अपनी प्रच्छन्नबौद्धता' प्रकट करना है। इससे सिद्ध हुआ कि—रुद्र वा गणपति आदि अग्नि नहीं; किन्तु अग्निरूप भिन्न देवविशेष हैं।

उनका कृष्णयजुर्वेदमें भी वर्णन आता है। जैसे कि—'तैत्ति-रीयाध्यक'में—'तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्' (१०।१) यहां पर रुद्रका तथा 'तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्तिः प्रचोदयात्' इसमें गणेशका वर्णन है, जिसमें उसे वक्रतुण्ड तथा दन्ती कहा गया है। तैत्तिरीया-ण्यकान्तर्गत नारायणोपनिषद्में शिवजीके वाहन नन्दिकेश्वर बैलका वर्णन भी आया है। जैसे कि—'तत्पुरुषाय विद्महे चक्र-तुण्डाय धीमहि, तन्नो नन्दिः प्रचोदयात्' (१०।१।५) इसके सायण-भाष्यमें आया है—'परमशिववाहनरूपं नन्दिकेश्वरं वयं विद्महे धीमहि च। कामरूपित्वात् जातु [कदा] चित् स्वेच्छया तिर्यक्त्वं (वृषभपशुत्वं) परिहाय धृतदिव्यपुरुष-विग्रहम्,...स नन्दी नः प्रचोदयात्'। इसका हम पहले पृ. ५३४ की अन्तिम पङ्क्तियोंमें वेद-संकेत द्वारा वर्णन दिखला चुके हैं। यह भी वेदका संकेत है; क्योंकि—आरण्यक तथा उपनिषद् भी वेद होते हैं; इस विषयमें आगे वेद-चर्चामें देखिये।

तैत्तिरीयारण्यक तो इतनी प्रमाण है कि—प्रतिपक्षियोंके नेता स्वा द.जीने अपनी तीनों मुख्य पुस्तकों—(स.प्र., सं.वि., ऋ.भा.भू.) की आदिमें मंगल भी इसी आरण्यकके मन्त्रोंसे किया है। इसीमें

'महासेनाय धीमहि, तन्नः षण्मुखः' यहां कार्तिकेयका, आगे 'सुवर्णपक्षाय धीमहि'में गरुद्रका, आगे हिरण्यगर्भ—ब्रह्माका 'नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्'में विष्णुभगवान्‌का, 'वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि तन्नो नारसिंहः प्रचोदयात्'में नृसिंहका, आगे सूर्य तथा इन सबसे पृथक् 'वैश्वानराय विद्महे लालीलाय धीमहि। तन्नो अग्निः प्रचोदयात्'में अग्निका तथा 'कात्यायनाय विद्महे कन्या-कुमारि धीमहि, तन्नो दुर्गिः प्रचोदयात्' यह दुर्गाका वर्णन आया है; इससे यह सारा शिवपरिवार वैदिक सिद्ध होता है, तथा अग्निसे पृथक् सिद्ध होता है।

अब कृष्ण-यजुर्वेद मैत्रायणी-संहितामें भी इन देवोंकी सत्ता देखिये। पहले वहां 'महादेवं सहस्राक्षं शिवमावाहयाम्यहम्' (२।९।१।२)में शिवका आह्वान बताया है। फिर 'तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्' (३) यह रुद्र 'गिरिसुताय धीमहि। तन्नो गौरी प्रचोदयात्' (४) यहां गौरी, 'तत्कुमाराय विद्महे कार्तिकेयाय धीमहि। तन्नः स्कन्दः प्रचोदयात्' (५) यहां कार्तिकेय, 'तत् कराटाय विद्महे हस्तिमुखाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात् (२।९।१।६) यहां उक्त संहिताके मन्त्रमें गणेश वर्णित किये गये हैं। करं—शुण्डादण्डम् आटयति-भ्रमयति इति कराटः—यहां गणेशका हाथीका मुख तथा उन्हें सूंड घुमाने वाला कहा है। इससे गणेश तथा रुद्रकी वैदिकता भी सिद्ध हो गई। आगे ७ वें में ब्रह्मा, आठवेंमें 'तत् केशवाय विद्महे नारायणाय धीमहि। तन्नो विष्णुः' (८) में विष्णु, ९ वें में भानु (सूर्य), १० वें में चन्द्र, ११ वें मन्त्रमें इन सबसे भिन्न वह्नि (अग्नि)का वर्णन है। स्पष्ट है कि—पहले महादेव और उनका परिवार वर्णित है, अग्नि इससे भिन्न

वर्णित है। इससे स्पष्ट है—'जो कि पूर्वपक्षी गणेश आदिको पौराणिक तथा उन्हें भिन्न न मानकर उन्हें केवल अग्नि सिद्ध करना चाहते हैं; उनका मत खण्डित हो गया। यह वैदिक तथा अग्निसे भिन्न सिद्ध हुए। सभी संहिता वेद हैं, इस विषयमें 'वेदचर्चा'में देखिये। वैसे तो 'अग्निः सर्वा देवताः' (निरुक्त ७।१७।४) 'इन्द्राग्नी वै सर्वे देवाः' (शतपथ. ६।३।३।२१) इन वचनोंसे अग्निमें सब देवता गिने जा सकते हैं; कुछ-कुछ एक-दूसरेके धर्म भी देवताओंके मिल सकते हैं; पर इसका यह भाव नहीं कि—अग्नि वा इन्द्रसे कोई भिन्न देवता ही नहीं होता; नहीं। ऐसा सोचना महामोह है। गणेशादि-विषयमें अन्य विस्तार 'आलोक'के पञ्चम-पुष्पमें देखिये।

८. अवतार-मूर्तिपूजादिविषयकाक्षेप-परिहार।

१ (पूर्वपक्ष) आपने गत-निबन्धके अन्तमें श्रीरामको विष्णुका अवतार बताकर उनसे की हुई मूर्तिपूजा मर्यादा-पुरुषोत्तमकी मर्यादा बताकर उसपर बहुत बल दिया है, पर वह ठीक नहीं है। आर्यसमाज इस पक्षका युक्तियोंसे खण्डन करती है; क्या आप इसका प्रतिखण्डन कर सकते हैं?।

(उत्तरपक्ष)—आर्यसमाजी यह तर्क करते हैं कि—परमात्मा जहाँ अवतार लेता है; उससे भिन्न प्रदेशोंमें फिर न रहता होगा; पर यह तर्क ठीक नहीं। उसमें अग्निका दृष्टान्त हमारे पक्षको स्पष्ट कर देगा। जैसे अग्नि निराकाररूपसे सर्वव्यापक है, वह जहां संघर्षण आदि कारणोंसे प्रकट हो जाता है, इसका यह आशय नहीं है कि—उसकी सत्ता दूसरे स्थानसे नष्ट हो गई; एक स्थानमें प्रकट होनेपर भी वह अन्य स्थानोंमें भी तथा प्राकट्य-वाले स्थानमें भी व्यापक रहता ही है; बल्कि-एक ही समय

भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भी प्रकट हो सकता है; इससे अन्य तथा उस स्थानमें उसकी व्यापकतामें कोई भी बाधा नहीं रहती, इस प्रकार अग्निशक्तिके स्वामी सर्वशक्तिमान् परमात्माके अवतार विषयमें भी जानना चाहिये। इससे राम-परशुराम दोनोंका एक स्थानमें अवतरण कैसे होगया—यह आर्यसमाजियोंका आक्षेप भी कट जाता है। इस विषयमें ४०६ पृ० से ४१७ पृ० तक देखना चाहिए।

इसमें वेदके ब्राह्मणभागान्तर्गत उपनिषद्का प्रमाण भी है—'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव। तथा ह्ययं सर्व-भूतान्तरात्मा रूपं-रूपं प्रतिरूपो बहिश्च' (कठोप. ५।१०) इस अग्निके दृष्टान्तसे यह भी सिद्ध है कि—'अग्निस्तेजो महल्लोके गूढस्तिष्ठति दारुषु। न चोपभुङ्क्ते तद् दारु यावन्नोद्दीप्यते परैः' (महाभारत उद्योग. ३७। ६०) अर्थात् अग्नि लकड़ी-आदिमें व्यापक होकर गुप्त रहा करता है, उस समय लकड़ी आदिको वह नहीं जलाता, लेकिन उसीको जब मथकर प्रकट किया जाता है; तब 'तद् दारु च वनं चान्यद् निर्दहत्याशु तेजसा' (३७। ६१) उस वस्तुको तथा दूसरे वन आदिको भी जला देता है। इससे जो कि यह कहा जाता है कि—वह परमात्मा रावणादिमें भी रहता है; तब उनको उस समय क्यों नहीं मार देता—इस आक्षेपका भी उत्तर हो गया। व्यापकतामें भी मथन करनेपर वह परमात्मारूप अग्नि जिसे चाहे वह जला देता है। जिसे न चाहे, चाहे वह तिनका भी हो, उसे नहीं जलाता।

यद्यपि अग्नि सर्वव्यापक है; परन्तु शीतकी निवृत्ति, भोजनका पकना, होम और प्रकाशादि व्यापक-अग्निसे नहीं हुआ करता। इनकेलिए तो उस अग्निको प्रकट करना पड़ता है। इस प्रकार निराकारसे साकार वाला काम नहीं होता, किन्तु साकार-

से ही वह काम होता है। इस प्रकार हमारा भी कार्य साकार परमात्मासे हुआ करता है। इसीलिए समय-समय पर उसका अवतार हुआ करता है।

इस विषयपर श्रीतुलसीरामस्वामीने अपने 'वेदप्रकाश' पत्र (८। ६ पृ० १२१) में लिखा था कि—अवतार वा मूर्तिपूजनकी पुष्टिमें सनातनधर्मी जो कि—अग्निसम्बन्धी दृष्टान्त देते हैं; वह दृष्टान्त ठीक तो है पर दार्ष्टान्तमें नहीं घटता। दृष्टान्तमें अग्नि सब स्थान एकरस व्यापक नहीं होता। अग्नि आकाशमें नहीं होता; परन्तु ईश्वर सर्वत्र एकरस व्यापक है, आकाशमें भी है।'

इस पर प्रत्युत्तर यह है कि—दृष्टान्तमें **एकदेशका संघटन** होता है, **सर्वाङ्ग-संघटन** कभी नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्म-सूत्रका भाष्य करते हुए स्वामी-श्रीशङ्कराचार्यने भी कहा है—'नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरत्यन्तसाम्येन भवितव्यमिति नियमोस्ति' (वेदा. १।२।२१)। इसलिए न्यायदर्शनमें भी कहा है—'सिद्धं च किञ्चित्साधर्म्याद् उपमानम्' (५।१।५) अर्थात् उपमामें किञ्चित्-सादृश्य होता है; सब धर्मोंका सादृश्य नहीं हुआ करता। नहीं तो 'इस महिलाका मुख ऐसा है, जैसे कि चन्द्रमा' तब क्या यहां तुलसीरामस्वामी पूरा साम्य लेंगे? चन्द्रमा यद्यपि पृथिवीसे छोटा है; फिर भी उसका मण्डल बहुत बड़ा है; तब क्या स्त्रीका मुख भी चन्द्रमा-इतना बड़ा मानना पड़ेगा? यदि वह परिमाण मुखमें न मिले; तो क्या चन्द्रमाका दृष्टान्त वा उपमान गलत हो जावेगा? नहीं; आह्लादकत्व आदि विवक्षित-अंशमें ही मुख और चन्द्रमाका सादृश्य अपेक्षित होता है। इसीलिए श्रीशङ्करस्वामीने वेदान्तभाष्यमें अन्यत्र भी कहा है—'नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः कञ्चित् क्वचिद् विवक्षितांशं मुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद् दर्शयितुं शक्यते। सर्वसारूप्य हि दृष्टान्त-

दार्ष्टान्तिकभावोच्छेद-एव स्यात्' (३।२।२०) अर्थात् कोई दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकमें वा उपमान-उपमेयमें सर्वसारूप्य देखना चाहे; तो दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक-भावका ही वह उच्छेद कर डालेगा। इसलिए काव्यप्रकाशकारने 'सादृश्यमुपमा भेदे' (दशम) में 'भेद' शब्द रखा है।

इस प्रकार दो भिन्न पदार्थोंकी विवक्षित समान-धर्मतामें उपमा वा दृष्टान्त होता है। नहीं तो परमात्माका उससे अपनेसे अतिरिक्त अन्य कौन सर्वसादृश्य धारण कर सके; जो सर्वथा उससेपूरा उतर सके। आकाश भी उसकी समता नहीं कर सकता। नहीं तो दो ईश्वर हो जाएं। इसके अतिरिक्त आकाश की भी उत्पत्ति और लय कहा गया है-'इदं वा अग्रे नैव किञ्चन आसीत्। न द्यौरासीत्, न पृथिवी, नान्तरिक्षम्' (कृष्णयजुर्वेद-तैत्तिरीयब्रा. २।२।९। (१) यहाँ आकाशका लय कहा गया है। 'तस्माद् वा एतस्माद् आत्मन आकाशः सम्भूतः' (तैत्ति.-उप. ब्रह्मानन्द वल्ली अ. १) यहाँ स्वा.द. जीने स.प्र. (प्रथम-समु. ४ पृष्ठ)में आकाशकी उत्पत्ति मानी है। इस प्रकार आकाशके भी पूर्ण सादृश्य न हो सकनेसे भी जैसे स्वा.द. जीने परमात्माको आकाशसे उपमित किया है। जैसेकि-'जैसे कोई अनन्त आकाशको कहे कि 'गर्भमें आया वा मूठीमें धर लिया, ऐसा कहना कभी नहीं हो सकता; क्योंकि—आकाश-अनन्त और सबमें व्यापक है···वैसे ही अनन्त, सर्वव्यापक परमात्माके होनेसे उसका आना-जाना कभी सिद्ध नहीं होता' (स. प्र. ७ पृ. ११७), वैसे ही अग्निको उपमामें भी जानना चाहिये।

कोई कहे कि-दूध जलकी तरह तरल होता है, तब क्या तुलसीराम-स्वामी इसमें यह कहेंगे कि-यह दृष्टान्त असंगत है; क्योंकि दार्ष्टान्तमें नहीं घटता। दूधके मक्खन, मावा, मलाई,

रवड़ी आदि पदार्थ बनते हैं; पर जलके नहीं'; परन्तु यह कहना नासमझीका है। तर्कविद्याके नियमानुकूल दृष्टांत-दार्ष्टान्तिकका केवल विवक्षित-अंशमें ही साम्य होता है, सर्वत्र नहीं। अग्निके उदाहरणसे यह विवक्षित था कि कोई वस्तु निराकार-रूपसे साकारका कार्य नहीं कर सकती। सर्दी हटाना आदि कार्य निराकार अग्निसे नहीं होते। यह कार्य साकारतामें ही हो सकते हैं। उक्त-दृष्टान्तका यह भी प्रयोजन है कि-व्यापक अग्नि कहीं प्रकट हो भी जाय; तथापि उसकी वहाँ तथा अन्यत्र स्थिति नष्ट नहीं हो जाती। प्रकट होनेके देशकालसे भिन्न भी देशकालमें वह प्रकट हो सकती है। प्रकट होने पर भी उसकी निराकारता और व्यापकतामें कोई बाधा नहीं पड़ती; वैसा परमात्माके अवतारके विषयमें समझना चाहिए। ईश्वर भी व्यापक है, अग्नि भी। जैसे-अग्नि हम साकारोंका साकारतामें ही कार्यनिर्वाह करता है, वैसे परमात्मा भी; इस विवक्षित-अंशमें दृष्टान्त और दार्ष्टान्तकी समता सम्पन्न होजाती है।

यदि प्रतिपक्षीके मतसे दृष्टान्तित अग्निमें परमात्माके सभी गुण होवें; तभी दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिककी समता होगी; तब तो परमात्मा दो हो जायेंगे। इसलिए उसका उक्त-तर्क ही विषम है। इस प्रकार जब परमात्माकी शक्ति अग्नि भी कहीं प्रकट हो जानेसे व्यापकताको नहीं छोड़ती, तो सर्वशक्तिमान् उस परमात्माके प्रकट हो जानेसे उसकी व्यापकता नष्ट कैसे हो जावे? जब उसकी साधारण-शक्ति भी प्रकट हो सकती है, तब सर्वशक्तिमान् ही क्यों न प्रकट हो सके?

जो कि प्रतिपक्षी कहता है कि-लकड़ीमें मंथनसे अग्नि जल उठती है, वैसे परमात्मा मूर्तिमें प्रकाशित नहीं हो जाता, यह

भी ठीक नहीं। क्या वह नृसिंहरूपमें प्रकट नहीं हुआ? इस प्रकार पौराणिक अन्य इतिहासोंमें भी मूर्तिसे परमात्माका प्रकट होना कहा है। जबकि सनातन-धर्मके सिद्धान्तोंपर ही प्रश्न है, तब उसके ग्रन्थ भी यहां मानने ही पड़ेंगे।

यदि कहा जावे कि-वह अग्निकी भांति मूर्तिसे क्यों नहीं प्रकाशित होता; अथवा मूर्तिमें प्राणप्रतिष्ठा हो जानेपर उसमें विलक्षणता क्यों नहीं दीखती; उसमें यह जानना चाहिये कि-सनातनधर्म मूर्तिसे अग्निकी भान्ति **स्थूल-प्रकटता नहीं कहता। सूक्ष्म-प्रकटता** ही कहता है; तथापि समयपर नृसिंहकी भान्ति आवश्यकता होनेपर अथवा संघर्ष होनेपर स्थूलरूपसे प्रकट हो भी जाता है। पर स्थूलबुद्धि लोग उसका सूक्ष्म-प्राकट्य नहीं जान सकते। दूसरेकी कन्या वैदिक-मन्त्रोंसे जब एककी पत्नी बन जाती है; तो उसमें **स्थूलरूपकी विलक्षणता प्रत्येकको** होती हुई नहीं दीखती। 'यदा देवतायतनानि कम्पन्ते, दैवतप्रतिमा हसन्ति' (षड्विंश-ब्राह्मण) काशीशास्त्रार्थमें स्वा.द. द्वारा दिये गये ब्राह्मणभागके इस प्रमाणमें मूर्तियोंमें विलक्षणताका अनुमान भी ठीक है। प्रकटता तो समय पर होती है।

यदि कहा जावे कि-देव तो उस प्रतिमामें पहले विद्यमान था; तब फिर उस मूर्तिमें प्राणप्रतिष्ठा वा आह्वान क्यों करते हो; इसपर जानना चाहिये कि-जैसे वायु पहलेसे ही सर्वत्र व्याप्त होती है; पर पंखेसे हम उसका आह्वान करके उसको प्रतिष्ठापित करते हैं; वैसे ही यहां भी समझ लेना चाहिये। जैसे कागजके एक टुकड़ेमें राजकीय-मुहरद्वारा राजाके प्रतिष्ठापित होनेपर वह उपासनीय एवं आदरणीय हो जाता है; वैसे ही दुकानपर पड़ी मूर्तिकी पूजा नहीं होती; किन्तु प्राणप्रतिष्ठा की हुईकी पूजा तो होती है।

यदि यह आक्षेप हो कि—सोमनाथमन्दिरके भङ्गके अवसर पर परमात्माने साक्षात् होकर क्यों नहीं महमूद-गज़नवीका अङ्ग-भङ्ग कर दिया; यह आक्षेप तो निराकारवादमें भी हो सकता है। यदि कोई नास्तिक ईश्वरको गालियां दे दिया करता है; वा उसकी सत्ताका खण्डन करता है; तब क्या परमात्मा उसका उसी समय अङ्ग-भङ्ग कर देता है; या उसकी जीभ वा जीव निकाल देता है? महाशय! कर्मोंका फल नियत-समयमें मिला करता है, तत्क्षण नहीं। यह मनु-वचन याद रख लीजिये कि-'नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव। शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति।' (४। १७२) यदि नात्मनि पुत्रेषु, न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु। नत्वेवं तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः (१७३) अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति। ततः सपत्नान् जयति समूलश्च विनश्यति' (१७४) हम यहां इन पद्योंका श्रीतुलसीरामस्वामीसे किया हुआ अर्थ लिखते हैं—

'इस लोकमें अधर्म किया हुआ उसी समय नहीं फलता; जैसे पृथ्वी वा गौ (उसी समय फल नहीं देती) परन्तु धीरे-धीरे फैलता हुआ अधर्म करने वालेकी जड़ें काट देता है। (७२) किया हुआ अधर्म, करने वालेको निष्फल नहीं होता, किन्तु यदि तत्काल देह आदिका नाश नहीं भी करे, तो उसके पुत्रमें सफल (फल देनेवाला) होता है। यदि पुत्रमें न हो; तो पौत्रमें सफल होता है (१७३) अधर्मसे पहले तो बढ़ता है, फिर कल्याणोंको देखता है, और शत्रुओंको भी जीतता है, परन्तु फिर (पापके परिपाकके समय) मूलसहित नष्ट हो जाता है'।

अब यहां पर स्वा.द.जीका किया अर्थ देखिये—'किया हुआ अधर्म निष्फल कभी नहीं होता; परन्तु जिस समय अधर्म करता है, उसी समय फल भी नहीं मिलता; इसलिए अज्ञानी लोग

अधर्मसे नहीं डरते; तथापि निश्चय जानो कि—वह अधर्माचरण धीरे-धीरे तुम्हारे सुखके मूलोंको काटता चला जाता है। इस क्रमसे जब अधर्मात्मा मनुष्य धर्मकी मर्यादा छोड़... प्रथम बढ़ता है, पश्चात् धनादि ऐश्वर्यसे...मान—प्रतिष्ठाको प्राप्त होता है, पश्चात् शीघ्र नष्ट होता है, जैसे जड़ काटा हुआ वृक्ष। (स.प्र. ४थं पृ. ६३)

पीछे शहाबुद्दीन द्वारा मूर्तिखण्डक-महमूदके वंशका बड़ी दुर्दशा-पूर्वक समूलोन्मूलन हो गया, मूर्तिखण्डनरूप-अधर्मका फल उसको वंश-समेत मिल गया। केवल उसकी ही क्या, प्रत्युत मुसलमान-राज्यकी ही समाप्ति हो गई—यह उसे मूर्त्यपमानका फल मिला। वैसे भी प्रतिमा-तोड़ने वालेको मनुजी दण्ड दिलाते हैं—'प्रतिमानां च भेदकः' (९। २८५) पर अप्रतिष्ठाके निमित्त-से तोड़ने वालेको तो परमात्मा-द्वारा फल मिलता ही है। औरङ्गजेबी इसीलिए खतम हुई। अब कुछ 'श्रीसत्यनारायण-व्रतकथा' पर किये जाते हुए आक्षेपोंका परिहार किया जावेगा।

६. 'श्रीसत्यनारायणव्रतकथा' (आक्षेप-परिहार)

(पूर्वपक्ष) आपने 'आलोक'के इस पुष्पके पृ. ४०१ पं. ९ में 'सत्यनारायणव्रतकथा'को स्मृत किया है; पर उस कथापर श्री-सम्पूर्णानन्दजीने—'ब्राह्मण, सावधान' (पृ० ८-९) में बहुत आक्षेप किया है। क्या आप भी वैसा मानते हैं? श्रीटण्डनजी भी इसपर आक्षेप करते हैं कि—इसकी कथा कौन सी है?। आप इन बातोंका क्या उत्तर रखते हैं।

(उत्तरपक्ष) हम पूर्वपक्षीकी इच्छानुसार 'सत्यनारायणव्रत-कथा' पर जो दोष दिये जाते हैं; उनको उपक्षिप्त करके उनका समाधान देते हैं। 'आलोक'-पाठक तथा पूर्वपक्षी ध्यानसे देखें।

श्रीसम्पूर्णानन्दजीने 'ब्राह्मण, सावधान'के ८-९ पृष्ठ मे 'धर्म-

के नाम पर अधर्म' शीर्षक देते हुए 'सत्यनारायणव्रत-कथा'पर कई आक्षेप कर डाले हैं। इस प्रकार कई अन्य लोग भी करते हैं; हम उन आक्षेपोंको पूर्वपक्षमें उद्धृत करके उन आक्षेपोंके उत्तर देंगे।

(१) पूर्वपक्ष—"लोगोंको बुद्धिको दुर्बल और भ्रष्ट करनेमें अपनी ओरसे कुछ उठा नहीं रखा गया है। वेदकी पोथी ही नहीं गई, वह पोथी जिन गुणोंका प्रतीक थी, वह गुण भी चले गये। धर्मकेलिए सत्य, दृढता, तप, श्रमकी आवश्यकता नहीं रह गई, सब काम सस्ता हो गया। सस्तेका अर्थ यह नहीं कि पैसा कम लगने लगा, वरन् यह कि ऐसे-ऐसे लटके निकल आये, जिन से बातकी बातमें स्वर्ग और विष्णु आदिके लोक प्राप्त हो जाते हैं, सब पापोंका क्षय-हो जाता है, अपने दैनिक-जीवनमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, झूठ-कपट छोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं होती।"

(उत्तर—) यह मर्मवेधी आक्षेप है। सत्यकी दुहाई देने वाले बाबूजीका यह आक्षेप है भी असत्य ही। वेदके पीछेकी ऐसी कौन सी हिन्दु-धर्मकी 'पोथी' है जो कि वेदकी निन्दा करती हो? जितनी व्रतकथाकी 'पोथियां' हैं, वे वेद तथा वेदोद्दिष्ट यज्ञकी प्रशंसामें भरी पड़ी हैं। वे तो वेद तक पहुँचनेकी सीढ़ियां हैं। क्या आप इन सीढ़ियोंके ही द्वारा वेद तक नहीं पहुँचे? क्या आपने वेदोंको सर्वसाधारणाधिकृत समझ लिया है? क्या आप-को साहस है कि व्रतकथाकी पुस्तकोंसे सिद्ध कर दें कि 'अमुक-व्रतसे विष्णुलोक प्राप्त हो जाता है, पर झूठ कपट छोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं? वस्तुतः व्रतोंका फल मनकी निर्मलता तथा श्रद्धा, सत्य आदिसे ही माना जाता है। कई व्यक्ति व्रत करते हुए भी झूठ वा दम्भ न छोड़ें, तो यह तो वैयक्तिक बात है, उस

का कोई मूल्य नहीं; पर व्रत-कथा आदि उपाय वैसा करनेको नहीं कहते। वैसे तो वेदकी पोथी रखनेवाले, बल्कि उसके भाष्यकार तथा बड़े तपस्वी भी रावणादि झूठ-कपट, अत्याचार आदि नहीं छोड़ सके। वेदके बड़े भी भक्त, आजकलके अर्वाचीन पन्थोंके प्रवर्तक, वेदार्थमें छल करना-रूप असत्यको नहीं छोड़ सके, यह आपका हृदय भी जानता-मानता होगा, तो क्या आप इस छल-आदिका श्रेय भी वेदपोथियोंके मत्थे मढ़ेंगे? महाशय, आप स्वयं सावधान होइये।

(ख) अब आक्षेप्ता अपने कहे सूत्रका उदाहरण देते हैं—"आज उत्तरभारत और महाराष्ट्रमें सत्यनारायणव्रत और कथा सर्वत्र लोकप्रिय है। मुझे मद्रासका ठीक पता नहीं है। लोग एक दिन व्रत रखते हैं, सत्यनारायणकी पूजा करते हैं; और व्रतके माहात्म्यकी चार कहानियां सुनते है। इन्हींको कथा कहते हैं। मुझे व्रत और पूजाके विषयमें कुछ नहीं कहना है, उनका उपदेश नारदजीको साक्षात् विष्णुने कलिकालके जीवोंके हितार्थ दिया है। माहात्म्यकी कहानियां इस बातका प्रमाण हैं कि इस पूजासे अभीष्टकी सद्यःसिद्धि होती है। कहानियोंमें तीन छोटी हैं, साधु-बनियाकी कहानी लम्बी है। अब कहानियोंकी ओर ध्यान दीजिये। किसी कहानीमें एक जगह भी भगवान् सत्यनारायण किसीसे यह नहीं कहते कि "तू सत्य बोला कर, नहीं तो तेरा व्रतोपवास मैं स्वीकार न करूँगा"।

(ग) और यह ऐसी कथा है कि—इसमें पता ही नहीं लगता कि—लकड़हारा-आदिने कौनसी सत्यनारायणकी कथा सुनी थी? (श्रीपुरुषोत्तमदास टण्डन आदि)

(परिहार—) सत्यनारायण-व्रतकथा-द्वारा लोगोंकी बुद्धिको दुर्बल और भ्रष्ट नहीं किया गया। पर अधर्मबहुल कलियुगमें—

जहां लम्बी तपस्याएँ तथा दृढता तथा श्रम करना कठिन है, जहां गर्मीकी ऋतुको एकादशीमें निर्जल-व्रतकी तपस्या करानेवाले श्रीव्यासजीको अर्वाचीनसुधारकोंकी ओरसे 'कसाई'की पदवी उपहृतकी जाती है—उसी कलियुगमें 'ईश्वरा भूरिदानेन यल्लभन्ते फलं किल। दरिद्रस्तच्च काकिण्या प्राप्नुयादिति नः श्रुतिः' इस नीतिका विचार करके बात-बातमें असत्य बोलनेवालोंके बचावकेलिए सत्यनारायणव्रत-कथारूप एक 'लघु-उपाय' बतलाया गया है। मद्यको न छोड़ सकते हुएको यदि वैद्य मद्य छोड़नेका उपदेश दे, तो वह व्यक्ति नहीं मानेगा। उस समय आप-जैसे वैद्य सफल भी नहीं हो सकते। समझदार वैद्य उसे क्रम-क्रमसे गोलियां डालकर मद्य पीनेको कहेगा, जिससे क्रमशः मद्य कम होते-होते उसके पीनेकी बान ही छूट जाय। सदाका असत्यभाषी भी जिस दिन व्रती होगा, भगवान्का ध्यान करेगा, उस दिन असत्य बोलना अच्छा न समझेगा। क्रमशः उसकी असत्यकी प्रकृति छूटेगी। इधर ये चार कहानियां हो कथा नहीं हैं, किन्तु सत्यनारायणके व्रतका विधान ही मुख्य-कथा है, पुस्तकका नाम 'सत्यनारायणकथा' नहीं, किन्तु 'सत्यनारायणव्रतकथा' है। उसीको जो प्रथमाध्यायमें विष्णुभगवान्ने वर्णित किया है, जो सारे कथाका मूल है, वह १म तथा कुछ २ य मुख्य व्रतकथा है, व्रतकी विधिका कथन यह व्रतकथाका अर्थ है; उसमें उस व्रतका फल, व्रतकी विधि, व्रतका प्रारम्भ कैसे हुआ; यह व्रत किस दिन किया जाता है' यह नारदजीके प्रश्न थे। इन सबका उत्तर प्रथमाध्यायसे लेकर उसकी समाप्ति तथा द्वितीयाध्यायके आरम्भसे 'शतानन्दकी कथा'की समाप्ति तक 'एवं नारायणेनोक्तं नारदाय महात्मने। मया तत् कथितं विप्राः किमन्यत् कथयामि वः' (२।१४-१५) यहां तक नारद-विष्णु संवाद सूतजीने मुनियोंको सुनाया।

यहां तक मुख्य-व्रतकथा है; वही कथा सभी आगेके पात्रोंने सुनी। फिर आगेकी कथाओंमें 'इस व्रतका प्रचार कैसे हुआ ?' इसमें सूतजी द्वारा आगेके उपाख्यान कहे गये। वे भी सत्यदेवकी भक्ति-के पोषक होनेसे आजकलकी जनताके हितार्थ व्रतकथाके अन्तर्भूत माने जाते हैं। अतः श्रोटण्डनजी आदिको आक्षेपमात्र-शूर न बनकर स्वयं भी कुछ रिसर्चका कष्ट उठाना चाहिये। साथ की चार कहानियां तो उसकी सहायक हैं। वह भी श्रद्धोत्पादक होने से व्यर्थ नहीं, किन्तु सत्यव्रतमें सहायक होनेसे उसीमें अन्तर्भूत होती हैं, क्योंकि इसमें सत्यकी कथा वास्तविक-कथा है।

पूर्वपक्षीने जो यह कहा है कि "उक्त-कथामें भगवान् सत्य-नारायणने सत्यकेलिए कहीं किसीसे उपदेश नहीं दिया"। पर उसने अपनी उक्तिके मूलमें ही कठोर-कुठार गिराया है। जिस भगवान्ने अपना केवल नाम 'नारायण' इस व्रतमें रुचिकर न समझ 'सत्यनारायण' यह सत्य-कवचित नाम रखवाना पसन्द किया, वही भगवान्-सत्यनारायण क्या अपने नामसे सत्यका उप-देश नहीं कर रहे ? सत्यनारायण होकर वे भला असत्यको क्यों प्रोत्साहन देने लगे ? 'सत्यमीशं तथैव च' (५।१४) यहां अपना नाम केवल 'सत्य' भी रखा। अथच उस कथाका प्रसारक भी भला असत्यको क्यों अपनाने लगा ? वास्तवमें यह कहकर प्रतिपक्षीने उक्त-कथासे 'अन्याय' किया है—यह हम मुक्त-कण्ठसे कह सकते हैं।

कहीं उपदेश वाच्य हुआ करता है, कहीं व्यङ्ग्य हुआ करता है। व्यङ्ग्योपदेशमें जितना आनन्द होता है, उतना वाच्यमें नहीं। प्रभाव भी व्यङ्ग्यका ही पड़ता है, वाच्यका नहीं। इसी-लिए 'रसस्योक्तिः स्वशब्देन' को साहित्यमें दोष ही माना गया है। पूर्वपक्षी सत्यहरिश्चन्द्रकी कथामें भी 'सत्यं वद' यह उप-

देश शब्दोंसे नहीं दिखा सकेंगे। काव्य-नाटकोंमें भी वह 'नायक-वत् प्रवर्तितव्यम्, न प्रतिनायकवत्' यह उपदेश शब्दोंमें नहीं दिखा सकते। वस्तुतः शाब्दिक-उपदेश प्रभु-सम्मित ही हुआ करता है, जिसका अधिकारी है वेद। पुराण मित्रोपदेश होता है, और काव्य कान्तोपदेश। मित्रको दोनों प्रकारके मार्ग बता देने हैं, उसमें लाभ-हानि भी बता देनी है, फिर कहना है—'येनेष्टं तेन गम्यताम्'। यही बात उक्त कथामें भी घट जायगी। तब आक्षेप-का अवकाश क्या ? सत्यनारायण-पूजनका उद्देश्य ही सत्ययुक्त होकर नारायणका पूजन करना है।

यह सत्यनारायणकी कथामें स्पष्ट भी है। जरा अन्दर प्रविष्ट होकर देखिये—जब गरीब-ब्राह्मण काशीनिवासी शतानन्द-से भगवान्ने वृद्ध-ब्राह्मणका रूप धारण करके दिनभर घूमते रहनेका कारण पूछा, तो उसने आज-कलके गरीब परन्तु कोट-पैंटधारी जेब-कतरोंकी भांति झूठी शेखी न बघारकर सत्य बात कह दी कि—मैं अतिदरिद्र ब्राह्मण हूँ; भिक्षार्थ पृथ्वीभ्रमण किया करता हूँ। यदि आप इस दरिद्रताको दूर करनेका उपाय जानते हैं; तो कृपया बतलाइये (२।४)। कितना सरल और निश्छल व्यवहार है ? श्रीरामेश्वराचार्यजी शास्त्रीके शब्दोंमें आज चने चबाकर किशमिशें बताने वाले ऐसे लोगोंकी कमी नहीं है, जो सब्जी खरीदने जाते हुए भी दूसरोंके पूछनेपर रोब डालनेकी दृष्टिसे कह बैठते हैं कि—'अमुक मिनिष्टर-साहबने इधर पिछले दिनों कई बार बुलावा भेजा; आज खयाल है—'चलूं, जरा हो ही आऊं'। सत्यनारायणव्रतकथाने ऐसा कपट पूर्ण व्यवहार रखनेकेलिए कभी नहीं कहा।

बूढे ब्राह्मणने जिस सत्यव्रत करनेकी सम्मति दी थी; उस व्रतको करनेका शतानन्दने दृढ-निश्चय कर लिया, इसी चिन्तामें

उसे रात्रि भर नीन्द न आई (२।८) प्रातः होते ही उसने व्रत-करनेके निश्चयको संकल्प द्वारा फिरसे दोहराया, और भिक्षार्थ चल पड़ा; और यह निश्चय किया कि—मुझे भिक्षामें जो मिलेगा; उसे भगवान्-सत्यनारायणके पूजनमें लगाऊंगा। वही उसने किया। उसे उस दिन भिक्षामें प्रचुर-धन मिला; पर उसने सत्यताका अवलम्बनकर उसी काममें लगाया (६-१०) आजकलके नव-सभ्य यह प्रतिज्ञा कर बैठें कि—आज जो हमें धन मिलेगा; उसे अमुक शुभकार्यमें लगा देंगे, और उन्हें मिल जाय मन-चाहेसे दुगना; तो वह कोई न कोई तर्क सोचकर उसे उस शुभ-कार्यमें न लगाकर अपने ही कार्यमें लगा देंगे।

पर शतानन्दने अपनी सत्यता पूर्ण की; और सत्यनारायण-की वास्तविक उपासना की। फल भी मिला। वह अपार सम्पत्तिका स्वामी और द्विजश्रेष्ठ बन गया (११) फिर भी वह भगवान्-सत्यको नहीं भूला, मदान्ध नहीं बन गया। उसकी पूजा प्रतिमास करता ही रहा। (१२) प्रतिमास सत्यव्रतकथाको सुनने और विधिपूर्वक सत्यनारायणकी परिवारसहित पूजा करनेका उद्देश्य भी यही रहता है कि—हमें सत्यपर अटल रहनेकी शक्ति मिले। परिवारकी साक्षीमें किया हुआ कार्य दृढ हो जाता है। फिर उसके घरमें प्यासा लकड़हारा आया। ब्राह्मणको व्रत करता देखकर उस ने अपनी जिज्ञासा व्यक्त की (१९) आजका कोई नव-सभ्य होता—यह कह देता कि—कुछ नहीं, यूं ही कुछ-पूजा-पाजा कर रहा था। शतानन्दने वह नुसखा उसको भी बता दिया, जिससे वह स्वयं स्वस्थ हुआ था। उसे छिपाया नहीं। स्पष्ट कहा—'सत्यनारायणस्येदं व्रतं सर्वेप्सितप्रदम्। तस्य प्रसादान्मे सर्वं धनधान्यादिकं महत्' (२।२०) आजकलका नवशिक्षित तो यह सोचकर कि—मैं अपनी आर्थिक उन्नति और आमदनीका रास्ता किसी

अन्यको, विशेषकर एक साधारण-लकड़हाराको क्यों बताऊं? यह व्यापार-सम्बन्धी 'गोपनीयता' सबके आगे कैसे रखी जा सकती है?। पर शतानन्दने तो उसमें सत्यनारायणकी पूजाकी विमुखता समझी; और सीधे-शब्दोंमें उसे उसके सामने रख दिया, यह है सत्यनारायणके उपासकका सच्चा स्वरूप! सत्य, सत्य और केवल सत्य !!!

लकड़हारेने भी उसके सत्यव्रतसे प्रभावित होकर स्वयं भी उक्त-व्रतका संकल्प कर लिया कि—लकड़ियां बेचते हुए जो मिलेगा, उसे सत्य-नारायणकी सेवामें लगाऊंगा (२३)। पहले जब वह लकड़ियोंकेलिए असत्यव्यवहार करता रहा; निर्धन बना रहा, पर उसकी सत्य-निष्ठासे मनचाहेसे दुगना धन मिला, और उस सबको भगवान्के पूजनमें लगा दिया (२६) आजकलका कोई नवशिक्षित होता; तो कह सकता था कि-यह दुगना धन मिल जाना तो आकस्मिक बात है, व्रतमें मैं उतने ही पैसे खर्च करूंगा-जितने मुझे रोज़ मिलते हैं। और यह बचत अपने बचत-बैंकमे जमा कर देता हूँ'। अनुकूल तर्क ढूंढ निकालनेकी प्रत्येक, विशेष करके आजके अपटूडेट-मनुष्यमें शक्ति होती है, परन्तु लकड़हारेका सत्य-व्यवहार दिखलाकर उक्त कथाने पुरुषोंको सत्यकी उपासनाकेलिए प्रोत्साहन दिया है, असत्यकेलिए नहीं।

इस प्रकार भद्रशीला-नदीके तटपर अपनी स्त्रीके पुत्र-प्राप्ति-के उद्देश्यसे सत्यनारायणका व्रत करते हुए उल्कामुख राजाने भी आगत साधुको सब सत्य बता दिया, कुछ छिपाया नहीं। (३।७) आजकलका नवशिक्षित यह न बताता, कुछ छिपा लेता। पर उक्त-कथाने इस व्रतसे सत्यव्यवहारकी शिक्षा दी कि—सत्यकी रक्षार्थ बड़े-बड़े बलिदान करनेके लिए सतत उद्यत रहना

चाहिए। यही सत्यदेवकी सच्ची पूजा है, इसीसे सब दुःख दूर होंगे। 'व्रतमस्य यदा विप्राः ! पृथिव्यां संकरिष्यति। तदैव सर्वं-दुःखं च मनुजस्य विनश्यति' (२। १३)।

इसके बाद उक्त-कथाने सत्य-व्यवहारके प्रत्युदाहरणस्वरूप असत्यव्रती बनियेकी कथा रखकर और उसे दण्ड दिलाकर अन्त में सत्यकी उपासनाके लिए प्रेरित किया। बनियाको जब राजासे पता चला कि-यह व्रत सन्तानके लिए किया जा रहा है, तब वह इस बातकी प्रतिज्ञा करके भी घर पहुँचते-पहुँचते बदल गया, और यहां भी बनियों वाला व्यवहार किया। पहले संतान मांगी, फिर व्रत करना प्रतिज्ञात किया। 'तदा व्रतं करिष्यामि यदा मे संतति-र्भवेत्' (३। १०) बात यहीं समाप्त नहीं होती। पुत्री-संतति होने पर भी अपनी पत्नीके स्मरण दिलाने पर भी उस साहूकारने व्रतको उस लड़कीके विवाह तकके लिए टाल दिया (३। १५)। विवाहके अवसर पर भी भूलसे वा जानबूझकर वा प्रमादसे वह व्रत नहीं किया। इस असत्य-व्यवहारके लिए भगवान्ने उसे इस-लिए दण्डित किया कि-यह आगे सत्यव्यवहार सीखे। अपने स्वार्थकी हानिके लक्ष्यसे भगवान्ने उसे दण्डित नहीं किया। 'विवाह-समये तस्यास्तेन रुष्टोऽभवत् प्रभुः' (३। २१) भ्रष्टप्रतिज्ञमा-लोक्य शापं तस्मै प्रदत्तवान्। दारुणं कठिनं चास्य महद् दुःखं भविष्यति' (३। २५) 'भ्रष्टप्रतिज्ञ' यह शब्द सत्यव्यवहारके प्रोत्साहनके लिए इतना स्पष्ट है कि—इसपर कोई टीका-टिप्पणी-की आवश्यकता नहीं है। इससे स्पष्ट है कि—उक्त कथा सत्यव्रत-केलिए कितनी प्रेरणा देती है।

हमारे असत्य बोलनेपर दूसरोंको कितना कष्ट होता है, इस बातका अनुमान हम तब लगा सकते हैं; जब किसीके असत्य बोलनेसे हमें कष्ट हो। साहूकारके साथ भी ऐसी घटना घटी।

वह अपने दामाद-सहित सर्वथा निरपराध होता हुआ भी चन्द्र-केतुके सिपाहियों द्वारा पकड़ लिया गया (३। ३०)। चोरीका माल भी उसके पाससे बरामद हो गया। अपनेको निरपराध ठहरानेकेलिए दोनोंने बहुत-कुछ कहा-सुना, परन्तु पहलेके असत्य-का प्रभाव यहां फलीभूत हुआ। उसे जेलखानेकी हवा खानी पड़ी। उसका धन छीन लिया गया। घरका धन भी चोरी चला गया। यह पहली शिक्षा मिली; उसपर प्रभाव पड़ा। जेलसे छूटनेपर वह बहुत कुछ शुद्ध हो चुका था। उसके फलमें उसे दुगना धन मिल गया (३। ५०) चलते समय उस साहूकारने बड़ा दान-धर्म किया (४। १)।

तब भगवान्ने उसकी फिर परीक्षा करनी चाही कि—अभी भी सत्यदेवका भक्त बना है, वा दुगने धनकी मस्तीमें मस्त हो गया है! भगवान्ने दण्डीका वेष धारण करके पूछा कि—तुम्हारी नौकामें क्या है ?। उत्तरमें साहूकारने न केवल भयङ्कर झूठ ही बोला, बल्कि—'कथं पृच्छसि भो दण्डिन् ! मुद्रां नतु किमिच्छसि' (४। ३) उसपर दांव भी लगा दिया कि—क्या तू मेरा रुपया छीनना चाहता है, अरे भाई ! मेरी नौकामें तो 'लतापत्रादिकं चैव वर्तते तरणौ मम' (४। ४) केवल बेल-पत्ते ही हैं। इस सत्योपासना छोड़नेका परिणाम फिर उसे भोगना पड़ा। उसका सारा धन घास-फूस ही बन गया (४। ७); तब उसे कहीं होश आया, फिर तो वह बाहर-भीतरसे एक होगया। न केवल इसी जन्ममें, बल्कि-दूसरे जन्ममें भी। दूसरे मोरध्वज-जन्ममें तो उसकी कड़ी परीक्षा हुई। और उसमें वह पास हुआ (५। २२) (श्रीरामे. शा.)

इस प्रकार भगवान्ने उसे असत्य-व्यवहारकेलिए दण्ड देकर सीधा किया; इससे अन्य उक्त-कथा द्वारा सत्यदेवकी उपासनाका

उपदेश और क्या हो? 'सत्यं भवतु ते वचः' (४।४) 'धनधान्यादिकं तस्याऽभवत् सत्यप्रसादतः' (५।११) 'य इदं कुरुते सत्य-व्रतं परम-दुर्लभम्। शृणोति च कथां पुण्यां भक्तियुक्तः फलप्रदाम्। धनधा-न्यादिकं तस्य भवेत् सत्य-प्रसादतः (५।१०-११)।

उक्त-कथाके उपदेशमें सत्य-देवके व्रतकी प्रेरणा तथा उससे लौकिक धन-धान्यकी प्राप्ति, तथा परलोकमें बन्धनसे मोक्ष कहा है। (१।१५,२।११, १३) भविष्यति कलौ [विष्णुः सत्य-रूपी सनातनः] सत्यव्रतरूपी सनातनः' (५।१६) यहां भी सत्यव्रतको ही विष्णुका रूप कहकर उसका महत्त्व बताया है।

'सत्यनारायण' शब्दसे भी यह सिद्ध हो रहा है कि-सत्य ही नारायण है, और नारायण सत्यस्वरूप हैं, सत्य ही नारायणके पास पहुँचनेका सीधा-साधन है। उसी नारायणका नाम केवल 'सत्य' भी लिखा है—देखिये—'केचित् कालं वदिष्यन्ति सत्यमीशं तथैव च। सत्य-नारायणं केचिद् सत्यदेवं तथाऽपरे (५। १४-१५) 'य इदं कुरुते सत्यव्रतं परमदुर्लभम्'। (५।१०)धनधा-न्यादिकं तस्य भवेत् सत्यप्रसादतः (५।११)। इत्यादि कथाके पद्योंमें सत्यका व्रत, तथा सत्यके प्रसादका महत्त्व दिखलाकर कथामें सत्यनिष्ठापर बल दिया गया है। इससे उन लोगोंका निराकरण हो गया, जो कहते हैं कि—इस कथामें सत्य बोलने तथा ईमानदार रहनेकी प्रेरणा नहीं है। ऐसा कहनेवाले तथा सत्यकी दुहाई देनेवाले स्वयं सत्यका अपलाप और असत्य व्यव-हार करते हैं। इस प्रकारके पद्यों तथा कथाका सत्यमें तात्पर्य वे स्वयम् असत्यव्रती होनेसे समझ नहीं पाते।

सत्यव्रतकी उपासनासे संसारमें सुखशान्ति और अन्तमें सत्य-पुरकी प्राप्ति होती है; यह इस कथाने तात्पर्य-अथवा अन्तिम निष्कर्ष रखा है। इसी बातको इन शब्दोंमें स्पष्ट किया है—'भी-

तो भयात् प्रमुच्येत सत्यमेव न संशयः। दरिद्रो लभते वित्तं बद्धो मुच्येत बन्धनात् (५।११-१२) ईप्सितं च फलं भुक्त्वा चान्ते सत्य-पुरं व्रजेत्(१२) यत् कृत्वा सर्वदुःखेभ्यो मुक्तो भवति मानवः (५।१३) विशेषतः कलियुगे सत्यपूजा फलप्रदा' (५।१४)

इस विशाल-विश्वमें केवल सत्य ही ऐसा एक सरल साधन है, जिसमें सारा तत्त्वज्ञान एक ही शब्दमें आ जाता है। साधा-रण-असाधारण सभी व्यक्ति इस व्रतका पालन कर सकते हैं। यही सरल मार्ग है। सत्यव्रती होना सभी धर्मोंका पालन है। जो सत्यव्रती नहीं होता, उसके भाग्यमें दुःखके अतिरिक्त और क्या हो सकता है? असत्यके त्यागसे अन्य सभी दोषोंका त्याग हो जाता है। संसारमें एक सत्यका व्रत हो सभी अपना लें; तो संसारकी अनेक समस्याएं अनायास सुलझ जाएं। जो हमें तदर्थ अनेक पैसे खर्चने पड़ते हैं, वे बच जाएं। संसारकी तीन चौथाई कठिनाइयां और कष्ट उसी क्षण मिट जाएं। केवल मौखिक सत्य बोलना ही सत्य नहीं होता; किन्तु पर-स्त्रीसे सद्-व्यवहार सत्य और असद्-व्यवहार असत्य होता है। सो सबका निश्छल सत्य-व्यवहार हो जाए, तो संसारका बहुत-सा धनका खर्च बच जाय। सत्य क्या है, इसी बातका पता लगानेकेलिए पुलिस, मैजिस्ट्रेट, जज आदि बढ़ाने पड़ते हैं। यदि सत्यव्रतकी पूजा-उपासना हो जाए; इससे जनताका भारी व्यर्थका खर्च बच जाए। जो सत्यव्रतमें प्रतिष्ठित है, सत्यनारायण उसका सब पूरा कर देते हैं। सारी ऋद्धि-सिद्धियां सत्यके पीछे-पीछे चलती हैं। असत्यसे कमाया हुआ धन मुकदमें बाजी कचहरी आदिमें खर्च होजाता है।

प्रश्न उठता है कि—यदि सत्यव्रत लेना ही उक्त कथाका उद्देश्य है; तो फिर ब्राह्मणों और बन्धुओंको बुलाने तथा

नैवेद्यके ग्रायोजनका क्या प्रयोजन है? घरके कोनेमें अकेले सत्यव्रत ले सकते हैं? ठीक है, विवाह वर-कन्याका ही होता है, वरात ग्रौर बाजे-गाजेकी उसमें क्या ग्रावश्यकता है? पर यह सब ग्रायोजन किये जाते हैं। सबके सामने ऐसा करने ग्रौर व्रत-ग्रहण करनेसे ग्रपनेको बल मिलता है। सब लोग साक्षी रहते हैं। विराट्की साक्षीमें किसी कर्मके सम्पादनसे अपने भीतर विराट्-शक्तिका सञ्चार होता है। अच्छा, तो फिर सीधे ढङ्गसे इतना ही क्यों न कह दिया जाय कि—पुरुष सत्यव्रती बने? इतनी लम्बी गाथा गानेकी क्या ग्रावश्यकता? ठीक है, 'तत्त्वमसि, ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।' सार बात इतनी-सी है। परन्तु इतनेसे सबको ज्ञान नहीं होता। इसी जरा-सी बातको समझानेकेलिए पुस्तकोंके पर्वत खड़े करने पड़े। दूसरेकी स्त्री-मत चुराग्रो; माता-पिताकी ग्राज्ञा मानो— इसीपर सारी रामायण लिखी गई है।

मनमें प्रश्न उठता है कि—'सत्यव्रत अत्यन्त कठिन है; संसारी लोग इस सत्यव्रतको ले बैठे; तो एक दिन भी काम न चले' पर व्यासजीने इस प्रश्नका बड़ा ही सुन्दर समाधान किया है। हरिश्चन्द्र ग्रादि बड़े-बड़े सत्यके पुजारियोंको छोड़कर अतिसाधारण गृहस्थोंको सत्यनारायणव्रत कथाका पात्र चुना है। जिन लोगोंने जिस स्थितिमें पड़कर सत्यव्रतका अनुष्ठान किया, उनका वहां अतिसुन्दर चित्र खींचा गया है। सत्यनारायणकी कृपासे ब्राह्मणको रोजसे अधिक भीख मिलती है। 'तस्मिन्नेव दिने विप्रः प्रचुरं द्रव्यमाप्तवान्' (२।१०) नियमसे व्रत करनेसे वह धनधान्यसे पूर्ण हो जाता है। उसका दारिद्र्य सदाकेलिए भाग जाता है। इस प्रकार काष्ठ-विक्रेताको भी स्वयं ही दुगना मूल्य मिल जाता है 'तद्दिने काष्ठ-मूल्यं च द्विगुणं प्राप्तवानसौ'

(२।२४) सत्य बोलनेवालेसे कभी कोई सौदा नहीं करता। जब कभी कोई सीधे-सादे रिक्शे वाले मोल-भाव नहीं करते, यात्रीके ऊपर छोड़ देते हैं; तब उस दिन यह इच्छा होती है, इसे कुछ अधिक दे दें। असत्य बोलने वालेसे विश्वास उठ जाता है, वह अपना ग्रागेका ग्रापका रास्ता बन्द कर देता है।

अब कहां गया प्रतिपक्षीका यह आक्षेप कि—'भगवान् सत्यनारायण किसीसे यह नहीं कहते; कि-तूं सत्य बोला कर, नहीं तो मैं तेरा व्रतोपवास स्वीकार नहीं करूंगा' अब प्रतिपक्षीने जान लिया होगा कि—भगवान्ने यह सब-कुछ कह दिया। ब्राह्मण ग्रौर काष्ठविक्रेताने यह शर्त नहीं रखी थी कि—पहले हमारा दारिद्र्य दूर हो, पीछे हम सत्यव्रत करेंगे, परन्तु साहूकार तो बनिया ही ठहरा। भगवान्से भी उसे सौदा ही सूझा, पहले भगवान्से सन्तान मांगी; फिर कन्याका विवाह मांगा; फिर भगवान्को व्रतका भी अंगूठा दिखा दिया। तत्स्वरूप ही उसे दण्ड भी मिला। तब जो कि प्रतिपक्षी पूछते हैं कि—सत्यनारायणकी कथा कौन-सी है; तो यही तो यहां कथा निकलती है कि—'सत्यं वद, धर्मं चर'; तब प्रतिपक्षीके आक्षेप व्यर्थ हैं। प्रतिपक्षी लोग दूसरोंके-लिए तो सत्यकी दुहाई देते हैं; पर स्वयं शाब्दिक तोड़-मरोड़ करके अथवा आर्थिक तोड़-मरोड़ करके, तथा बहुधा पूर्वापर-प्रकरणको छिपाकर असत्य-व्यवहार करते हैं, तभी तो वे पराजित होते हैं; इसी कारण उनको चुप्पी धारण करनी पड़ती है। फलतः उक्त कथामें परमात्माको सत्य तथा सत्यको परमात्मा बताया गया है।

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋ. १।१६४।४६) 'हरिः ॐ तत्सत्'। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, सच्चिदानन्द (सत्, चित्,

ग्रानन्द), 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' यह शास्त्रोंके शब्द भी यही बताते हैं। सो सत्यसे लक्ष्मी, धर्म ग्रादि सभी प्राप्त होते हैं। एक सत्यव्रत नामका राजा था, उसने प्रतिज्ञा की हुई थी कि-जिस शिल्पी की कोई वस्तु सारा दिन घूमने पर भी न बिके; तो मैं उस वस्तुको खरीद लिया करूँगा। एक शिल्पो शनैश्चरकी मूर्ति बेच रहा था, पूछने पर फल बता रहा था कि-इसके रखने से लक्ष्मी, धर्म, सत्य ग्रादिका नाश होगा। फिर उसे कौन ले? सायं वह मूर्ति राजाके यहां पहुँचाई गई। राजाने मूल्य देकर रख ली। ग्राधी रातको उसके पास लक्ष्मी ग्राई, कि मैं तुम्हारे यहां शनिके मूर्तिके ग्रानेसे नहीं रह सकती, जाती हूँ। राजाने नहीं रोका। इसी प्रकार धर्म भी गये, राजाने नहीं रोका। फिर सत्य ग्राये, ग्रौर उक्त बात कह कर जाने लगे; तो राजाने हाथ पकड़ लिया कि-सत्य-देव जी! मैंने ग्रापको रखनेकेलिए ही तो शनिकी मूर्तिली है, ग्राप कैसे जाते हैं? उक्त मूर्ति न लेनेमें मेरे सत्य-व्रत नाममें वट्टा लगता। सत्य समझ गये, ग्रौर वहीं रह गये। सत्यके रह जानेसे धर्म फिर वापिस लौट ग्राया, लक्ष्मी फिर वापिस लौट ग्राई। यही तो सत्यनारायण-व्रत कथाका ग्रभिधेय है। तब उस पर ग्राक्षेप करना केवल पौराणिककथाके गिरानेके उद्देश्यसे ही है, इन ग्राक्षेपोंमें सत्यता कुछ भी नहीं।

इसी सत्यव्रतकी पुष्टचर्थ उक्त कथामें सात्त्विक ग्राहार पञ्चामृत, केला, गेहूँ वा चावल, दूध, घी, शर्करा ग्रादि कहे गये हैं। ग्रौर यह भोज्य-सामग्री भी सत्यव्रतके ग्रवलम्बनसे मिलती है। ग्रतः उसे भगवान्का प्रसाद समझ कर खाग्रो; फिर सत्य-भगवान्के गुणानुवाद एवं नृत्यगीतादिका ग्रादेश है। इससे हमारी उसमें ग्रास्था बढ़ेगी, ग्रौर बाधाएं हटेंगी।

इससे सिद्ध हुग्रा कि प्रतिपक्षीके ग्राक्षेप व्यर्थ हैं। बल्कि 'भविष्य-पुराण'स्थ-'सत्यनारायण व्रत-कथा' में तो सत्यकेलिए शाब्दिक-रूपमें भी कहा है-'चतुष्पादो हि धर्मस्य तस्य सत्यं प्रसाधनम्। सत्येन धार्यते लोकः सत्ये ब्रह्म प्रतिष्ठितम्। सत्य-नारायणव्रतमतः श्रेष्ठतमं स्मृतम्' (प्रतिसर्गपर्व २४। १८-१९) जब दण्डीने धन होनेपर भी उपहासमें 'लतापत्रादिकं चैव' (४। ४) ऐसा ग्रसत्य बोलनेपर बनियेको दण्ड दिया, इससे भगवान्ने स्पष्ट कर दिया कि-उपहासमें भी ग्रसत्य न बोलो, इससे बढ़कर सत्यका उपदेश ग्रौर क्या हो?

ग्रागे प्रतिपक्षीने लिखा है-'साधु बनिया ग्रपने जामाताके साथ जहाज पर माल ले जाता है, ग्रौर ग्रपार धन कमा कर लौटता है। व्यासजीने कहा है कि 'नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम्। नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्' विना दूसरेके मर्म काटे, विना कठोर कर्म किये, विना मछुग्राकी भांति ग्रपने हितकेलिए सैकड़ोंके प्राण लिये, बहुत धन नहीं कमाया जा सकता। व्यासजी विष्णुके ग्रंशावतार थे, इसलिए उनकी कही हुई बात श्रीसत्यनारायणदेवको भी ज्ञात ही रही होगी, पर वह बनियेसे यह एक बार भी नहीं पूछते कि तुमने इतना रुपया कैसे कमाया, न उसकी भर्त्सना करते हैं। उन्हें बस इतनेसे काम है कि मुझको जो वचन दिया गया था, वह पूरा हो, मेरा भाग ठीक तिथि पर मिल जाना चाहिये।"

इस पर प्रतिपक्षीको जानना चाहिए कि 'कृषिगोरक्ष्य-वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्' (भगवद्गीता १८। ४४) यह वचन 'महाभारत'के प्रणेता विष्णुके ग्रंशावतार श्रीव्यासजीका भी है, 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'का भी यही वाक्य है। इस प्रकार वैश्यका वाणिज्य (व्यापार) एवं धनसङ्ग्रह श्रीविष्णु-

भगवान्‌के अनुसार सहज कर्म है। इसी तरह 'महाभारत' में 'तपः स्वधर्मवर्तित्वं' (वनपर्व ३१३।८८), 'स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं' (३१३।९६) यह श्रीव्यासजीका वचन है, इधर वैश्ययोनि-में जन्म ईषत्‌तमोमिश्रित रजोगुणसे भगवान्‌की व्यवस्थानुसार हुआ करता है। इधर भगवान्‌ने 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः' (भगवद्गीता १८।४५), 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (१८।४६) इस अपने वचनसे पुरुषके द्वारा स्वस्ववर्णके कर्माचरणसे अपनी पूजा बताई है। इधर भगवान्‌ने सहज कर्मके दुष्ट होनेपर भी उसके छोड़नेका (दृष्टान्त देकर) निषेध किया है। देखिये—'सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' (१८।४८) अर्थात् स्वाभाविक कर्मको दोष-युक्त होनेपर भी छोड़ नहीं देना चाहिए। दोष भला कहां नहीं होता? अग्निमें भी धूम होता है। बल्कि भगवान्‌ने तो यहां तक कहा है कि अपने स्वाभाविक सदोष कर्म करते हुए भी पाप नहीं लगता—'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्विषम्' (१८।४७), तब यदि धनसङ्ग्रहमें संलग्न वैश्यसे ईषत्‌तमोगुणके कारण कुछ असत्य-व्यवहार भी हो जाता है, क्योंकि 'सत्यानृताभ्यामपि वा [जीवेत्'] (मनु. ४।४) 'सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते, (मनु० ४।६) तथापि स्वाभाविक-गुणवश वह क्षम्य हो जाता है क्योंकि—'अल्पद्रोहेण वा पुनः। या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदना-पदि' (४।२) जब इस प्रकार ब्राह्मणकेलिए कहा है—तब बनि-येकेलिए तो क्या कहना ?' 'पणिनेव गावः' (ऋ. १।३२।११) इस मन्त्रमें श्रीयास्कने कहा है—'पणिर्वणिग् भवति, पण्यंनेनेक्ति' (निरु. २।१७।१) तब पण्य-वस्तुकी खरीद-विक्री उसका कर्तव्य सिद्ध हुआ।

इस प्रकार भगवान्‌को जब यह इष्ट है, यदि 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' (१६।२४) इस प्रकार भगवान् को शास्त्रीय स्ववर्णकर्म अभिप्रेत है, जब आपके भी श्रद्धेय वेद 'इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि' (अथर्व. शौ. सं. ३।१५।१) अपने तथा आपके भी श्रद्धेय-देवइन्द्रको भी वणिक् बना रहे हैं, उस इन्द्रदेवकी महती श्रीका आस्पद दिखा रहे हैं, क्योंकि 'इदि' धातु 'परमैश्वर्य' अर्थमें होती है, वे ही वेद 'द्रविणं धेहि चित्रम्' (यजुः २६।३) 'येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः। तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने'(अ. ३।१५।५) आदि मन्त्रोंमें पुष्कल-धनकी (न्यूनकी नहीं) प्रार्थना करार हे हैं, 'यो नो द्वेष्टि अधरः सस्पदीष्ट, यं वयं द्विष्मः, तमु प्राणो जहातु' (अथर्व०शौ०सं०१०।५।२५) यहां शत्रुका मारना प्रार्थित कर रहे हैं, इधर जब महाभारतमें 'तपः स्वधर्म वर्तित्वं' (वन-३१३।८८) 'स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं'(३१३।९६)यह व्यासजीका वचन है, और जब उस बनियेने असत्यसे धनसङ्ग्रह ही नहीं किया था, अथवा उसमें अनिवार्यतावश वैसे हो जानेपर भी साहजिक-गुण-वाले होने एवं साहजिक वैसे कर्मवाले होनेसे जब भगवान्‌के अनुशासनानुसार उसे पाप नहीं था, क्योंकि सदोष भी सहज कर्मका जब भगवान्‌के आदेशानुसार त्याग उचित नहीं, तब भगवान् उसे धनसङ्ग्रहका निषेध क्यों करते ? वा उससे तद्वि-षयक पूछ-ताछ क्योंकर करते ? अथवा उसकी इससे भर्त्सना क्यों करते ? वास्तवमें प्रतिपक्षीको भी कुछ खण्डनका रोग लगा है, जो उसे भगवान्‌के कार्योंकी आलोचना कराना चाहता है।

इधर आपसे उद्धृत 'नाच्छित्त्वा परमर्माणि' यह पद्य 'महा-भारत'में (१।१४२।७८) क्षत्रियके लिए है, बल्कि वहां तो क्षत्रियके लिए ऐसा करना कर्तव्य सूचित किया गया है कि जबतक

वह ऐसा न करेगा; तब तक वह 'महती श्री' को प्राप्त नहीं कर सकता। इधर उक्त-वचन साक्षात् श्रीव्यासजीका वाक्य भी नहीं, किन्तु करिणकका धृतराष्ट्रके प्रति यह वचन है। प्रकरणसे इस पद्यको पृथक् करके अर्थका अनर्थ कर दिया गया है। तो जब राजाकेलिए ऐसा आदेश दिया गया है, तब वैश्यकेलिए तो वाणिज्यके धर्मशास्त्रानुशिष्ट होनेसे उसे धनार्जनका निषेध क्योंकर हो सकता है? हां, धन होनेपर भी उसको छिपाकर जो उस बनियेने दण्डीके समक्ष असत्य कहा, उसका भगवान्ने उसको दण्ड दिया ही। 'सत्यं भवतु ते वचः' (४।४) कहकर उसके धनको अलक्षित करके लता-पत्रादि करके उसे दण्ड दे दिया (४।७) क्या यह 'सत्यं वद' का भाष्य नहीं? कई वार वह व्रत करनेकी प्रतिज्ञा करके भी व्रतको टालता गया था। उसकी इस असत्यप्रतिज्ञताका फल भी भगवान्ने उसे कैदके रूपमें करके तथा उसके स्वकीयार्जित धनको राजासे तथा घरमें चोरोंसे अपहृत करवाकर उसे उसका पूरा दण्ड दे दिया। भगवान्का रूठना अपने हिस्से पानेकेलिए नहीं था; बल्कि-'भ्रष्ट-प्रतिज्ञमालोक्य शापं तस्मै प्रदत्तवान्' (३।२५) प्रतिज्ञाको तोड़ने रूप असत्य-व्यवहारके दण्डनार्थ था। यह बहुत ही स्पष्ट है।

इसी बातको 'स्कन्दपुराण'की सत्यनारायणकी कथामें जहां व्यङ्ग्यरूपसे असत्यके दण्डस्वरूपमें ग्रथित किया है, वहाँ 'भविष्यपुराण' की सत्यनारायणकी कथामें इसे वाच्यरूपमें भी कहा है—'कर्मणा मनसा वाचा न कृतं सत्यसेवनम्। ततः कर्मविपाकेन तापमापाच्चिराद् वणिक्' (प्रतिसर्गपर्व २८। अ० ३१)। यत्र सत्यं ततो धर्मस्तत्र लक्ष्मीः स्थिरा भवेत्। सत्यहीनस्य तत्साधोर्धनं यत्तद्गृहे स्थितम्॥ हृतवान् अवनीपालः' (२६। ५-६)। इस प्रकार जब कि भगवान्ने उस कथामें सत्यका इतना महत्त्व बताया है, जब कि प्रतिपक्षीके प्रिय सत्यहरिश्चन्द्रके उपाख्यानमें भी 'ऐतरेयब्राह्मणानुसार' वरुणसे लड़केकी प्रार्थना की गई, उसकी बलि देनेकी प्रतिज्ञा करनेपर भी सत्यहरिश्चन्द्र अपना पुराना वादा पलटते गये, जिससे वरुणने उसे जलोदर-रोगसे ग्रस्त किया; इतना होनेपर भी सत्यनारायणकी कथाको तो प्रतिपक्षी अपना तीव्र-आलोचनाका विषय बनाते हैं, और उसी कथामें उन्हीं सत्यहरिश्चन्द्रकी कथाको भी सुनानेको कहते हैं, जैसा कि प्रतिपक्षी आगे लिखेंगे, तो क्या इसपर यह नहीं कहा जा सकता कि अनुकूल होनेपर भी आपको सत्यनारायणव्रत-कथामें आस्था नहीं है, इस लिए उसमें 'दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते' वाली बात चरितार्थ हो रही है। पर श्रीहरिश्चन्द्रका उपाख्यान आपको सर्वथा निर्दोष प्रतीत होता है। इससे हम हरिश्चन्द्र-उपाख्यानको दुष्ट नहीं बताना चाहते, किन्तु प्रतिपक्षीका हृदयमात्र दिखला रहे हैं।

आगे श्रीमान् फरमाते है—"इस कथाके प्रसारसे जो अधर्म फैला है, वह हमारे सामने है। सत्यनारायणकी पूजासे वही काम लिया जाता है, जो सरकारी अहलकारोंको रिश्वत देनेसे निकाला जाता है कि तुम जो चाहो करो, हम आंख बन्द कर लेंगे, परन्तु हमारा हिस्सा देते जाओ। पुलिस रिश्वत लेकर इस लोकमें मामला दबा देती है, सत्यनारायण-भगवान् परलोकमें सब अपराधोंको क्षमा करा देते हैं, और इस लोकमें ऊपरसे पुरस्कार दिलवाते हैं।"

खेद! यहां प्रतिपक्षीने किस विकृत-चित्तवृत्तिका आदर्श दिखलाया है। तब तो 'यद् रात्र्या पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना रात्रिस्तदवलुम्पतु', 'अदुच्छि-

श्मभोज्यं च यद्वा दुश्चरितं मम । सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रहं, स्वाहा' इत्यादि उद्देश्यसे सन्ध्या कर रहे हुए पुरुषोंको भी परमात्माका 'टोडी बच्चा' वा उसको रिश्वत देने वाले वा उसको खुशामद करने वाले कह कर वे सन्ध्याको भी अधर्मका प्रोत्साहक मान लेंगे ! 'तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने ! सातघ्नो देवान् हविषा निषेध' (अ. ३।१५।६) यहां पर लाभमें हानि पहुँचानेवाले देवताओंको अग्निके द्वारा हवि दिलवाकर उन्हें लाभमें हानि पहुँचानेसे निषेध करा दिया है; क्या आप उक्त आक्षेप करके इस वेदमन्त्रपर आक्रमण नहीं कर रहे ? महाशय ! यदि कोई सत्यनारायणके व्रतको करता हुआ भी पापी है, तो यह उसका वैयक्तिक दोष है, इसमें सत्यनारायण-कथा का क्या दोष ? सत्य व्यवहारकेलिए श्रीसत्यनारायणको डांटते हुए आप इस लेखमें स्वयं असत्य-व्यवहार कर रहे हैं । कहां कहा है श्रीसत्यनारायणने कि 'तुम जो चाहो करो, हम आंख बन्द कर लेंगे, परन्तु हमारा हिस्सा रख दो' । सत्यनारायण-कथाके श्रोता ऐसे नहीं होते कि दूसरेके नामसे ऐसा असत्य-व्यवहार कर डालें ।

यह आपके कैसे कड़े शब्द हैं कि 'साधु बनियाने न जाने किस-किस उपायसे रुपया कमाया था, परन्तु पूजा करके उसने भगवान्का मुंह बन्द कर दिया था' । महाशय ! वह था बनिया । बनियेका कर्म ही है धनार्जन—'कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्' (गीता १८ । ४४) । वाणिज्यसे ही उसने धन कमाया—यह उस कथामें स्पष्ट है जैसे कि—'वाणिज्यार्थं बहुधनैरनेकैः परिवारितः' (३ । ४) इससे प्रतीत होता है कि—उसने परम्परासे आये हुए धनको व्यापारमें लगा दिया था । 'ततो निवृत्य वाणिज्यात् सानन्दो गृहमागतः' (३ । ६) 'वाणिज्यार्थं गतः शीघ्रं जामातृसहितो वणिक्' (३ । २२) वाणिज्यमकरोत्

साधुर्जामात्रा श्रीमता सह' (३।२१) । सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्' (१८।४८) यह भगवान् कहते हैं । तब वह भगवान् उससे अपना कर्म छुड़ाकर क्या ब्राह्मणकर्म प्रारम्भ कर देनेके लिए कह देते, तब आपके अनुसार ठीक होता ? आप यह भी बताइये कि उस कथामें कहां लिखा है कि उसने पापसे धन कमाया । 'न जाने, किस-किस उपायसे' ये आपके शब्द इसलिए व्यर्थ हैं, वहां पर सिन्धुके समीप उसका अपने जामाताके साथ वाणिज्य करना स्पष्ट है । ३।४ पद्यके अनुसार उसने अपना धन वाणिज्यमें लगा दिया था, ३।२३ के अनुसार उसने वाणिज्य किया । फिर 'पुरा नीतं च यद् द्रव्यं द्विगुणीकृत्य दत्तवान्' (३।४६) चन्द्रकेतु राजाने उसे दुगुना धन दिया । तब यहां पाप की कथा ही न रही । वाणिज्य तो वणिक्का शास्त्रानुसार 'धर्म' है, अधर्म नहीं; यह सिद्ध किया जा चुका है । तभी तो 'सत्यनारायणव्रत'-कथामें उस बनियेका 'साधु' (३।४) यह साभिप्राय-विशेषण दिया गया है, जिससे आपके सब अनुमान कट जाते हैं । हां, जहां-जहां उसने असत्यप्रतिज्ञता की; वा असत्य-व्यवहार वा दम्भ किया, वहां-वहां उसे दण्ड भी दिया गया (४।४-८) तब उसमें भगवान्के मुंह बन्द करनेका प्रश्न ही नहीं उठता । जब वह दण्ड पाकर सीधा हो गया, और निश्छल तथा सत्यप्रतिज्ञ होकर भगवान्का पूजन करने लगा, तब भगवान् क्या उसको आपके कथनमात्रसे ही व्यर्थ दण्ड देने लग जाते ? नहीं, भगवान् किसी सरकारी-मुलाजिमके लिहाजसे किसी निरपराधको दण्ड नहीं दिया करते, और न किसी सरकारी मुलाजिम के डरसे किसी सापराधका दण्ड छोड़ ही देते हैं ।

आगे जो आपने लिखा है—"आज भी लोग झूठा मुकदमा जीत कर उतने ही चावसे सबन्धु-बान्धव व्रत करते हैं, और कथा

सुनते हैं"। इस पर यह जानना चाहिए कि प्रत्येक-पदार्थके उपयोगमें शुक्लपक्ष भी हुआ करता है, कृष्णपक्ष भी। आप उसके कृष्णपक्षको तो दिखला रहे हैं, पर उसके शुक्लपक्षको छिपा रहे हैं। यह आप-जैसे शिक्षितों-अनुभवियोंको उचित नहीं। क्या हमारे वा आपके भी माननीय वेदके उपयोगमें दो पक्ष नहीं दीखते ? देखिये आज वेदोंका नाम लेकर वैदिकम्मन्य सम्प्रदायोंके व्यक्ति लाखों रुपया इकट्ठा कर चुके हैं; तथा किया करते हैं, पर वेदप्रचार उनका क्या होता है ? केवल वहां पर जन्मके ब्राह्मणोंको पोप, पाखण्डी, सड़ातनधर्मी, कूड़ापन्थी, पोंगापन्थी आदि शब्दोंसे गालियां दे दी जाती हैं। कहीं यदि उनसे वेदका भाष्य भी किया जाता है तो वहां अपने अभिप्रायानुसार मन्त्रोंके पदोंको खींच-खांचकर अर्थके अनर्थ किये जाते हैं। अपने साम्प्रदायिक-सिद्धान्तोंको वेदके नामसे प्रसारित किया जाता है, यही वहां वेदका प्रचार होता है। तो क्या 'सत्यनारायणव्रतकथा' की भांति आप वेदोंको भी अधर्मका प्रसारक स्वीकार कर लेंगे ? यदि नहीं तो 'सत्यनारायण-व्रतकथा'में भी आप वैसे जान लें।

तथापि अपराधी भी जो अपने हितके साधक तथा अपने मनोरथके पूर्तिकर्ता श्रीसत्यनारायणका पूजन करते हैं, वे भी ठीक करते हैं। इस भगवत्कृपासे आगे उनके भी पापक्षयकी सम्भावना होती है, चित्तवृत्ति क्रमशः शुद्ध हो जाती है। पापियोंके पापको दूर करनेके लिए जप, तप, व्रत, भक्ति, पूजापाठ ही तो साधन हैं।

इधर आप सत्यनारायण-कथाकी शिकायत करते हुए अपने भी मान्य वेदको भूल जाते हैं, यह आश्चर्य है। वेद रुद्रके लिए कहता है—'स्तेनानां पतये नमः' (शुक्लयजुः माध्य. सं० १६।२०) यहां परमात्माको चोरोंका भी पालक कहा गया है। आप भी इस सूक्तमें रुद्रको ही स्तोतव्य मानते हैं। 'सहोसि' इस मन्त्रका आपके मार्गदर्शक स्वा० दयानन्दजीने 'सत्यार्थप्रकाश' सप्तम-समुल्लास ११२ पृष्ठमें यह अर्थ किया है—'आप निन्दा-स्तुति और स्व-अपराधियोंका सहन करनेवाले हैं'। 'ऋग्वेद' (शा० सं०)में भी कहा है—'यो मृलयाति चक्रुषे चिदागः' (७। ८७। ७) अर्थात् जो परमात्मा अपराध करनेवाले पर भी दया करता है। जब ऐसा है, तब आपके एतद्विषयक आक्षेप स्वयं वेदसे ही समाहित हो गये।

आपने जो सत्यनारायण-व्रतकथाको उद्दिष्ट करके आरम्भमें आक्षेप किया था कि "ऐसे-ऐसे सस्ते लटके निकल आये, जिससे बातकी बातमें स्वर्ग और विष्णु आदि लोक प्राप्त हो जाते हैं, सब पापोंका क्षय हो जाता है" इत्यादि, सो महोदय! यह कोई नई बात नहीं है, ऐसा मार्ग स्वयं वेदने ही बताया है। पावमानी ऋचाओंके पाठमात्रसे वेदमें कितने फलकी प्राप्ति लिखी है, यह सावधान होकर स्वयं देखिये—'पावमानीः स्वस्त्ययनीस्ताभिर्गच्छति नान्दनम्। पुण्यांश्च भक्षान् भक्षयति अमृतत्वं च गच्छति' (सामवेद० कौ० सं० उत्तरार्चि १०।७।६), 'यः पावमानीरध्येति ऋषिभिः सम्भृतं रसम्। सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना' (१०।७।१), 'पावमानीर्यो अध्येति''' तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्' (१०।७।२), 'पावमानीर्दधन्तु न इमं लोकमथो अमुम्। कामान्त्समर्धयन्तु नो देवीर्देवैः समाहृताः' (१०।७।४)। इसी प्रकार 'ऋक्परिशिष्ट'में भी पवमानदेवता वाली ऋचाओंके पाठका फल देख लीजिये—'पावमानं परं ब्रह्म ये पठन्ति मनीषिणः। सप्त जन्म भवेद् विप्रो धनाढ्यो वेदपारगः।' (१९) एतज्जुह्वद् जपन्मन्त्रं

घोरमृत्युभयं हरेत्' (२०) (सप्तमाष्टकके द्वितीयाध्यायमें १८ वर्ग के बाद)। देखिये पाठमात्रसे स्वर्गादि कितना फल होना कहा है?

अन्य देखिये कि ब्राह्मणको सुवर्ण-वस्त्रादि दान देनेका कैसा फल वेदमें लिखा है-'अमोतं वासो दद्याद् हिरण्यमपि दक्षिणाम्। तथा लोकान् समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः' (अथर्व० शौ० सं ६।५।१४) इस मन्त्रमें (६।५।६, १०, ११, १२ मन्त्रोंसे) 'ब्रह्मणे' (ब्राह्मणाय) की अनुवृत्ति आ रही है। इस प्रकारके बहुतसे मन्त्र हम वेदसंहिताओंसे दिखला सकते हैं। ब्राह्मणभाग तो इससे भरा ही पड़ा है। क्या इनको भी आप वैदिक-लटके कह देंगे? आपके सहवर्गी तो कहते हैं कि-पुराणोंने पूजापाठके बड़े जगड्वाल खड़े कर दिये, पर आप सस्ते लटके कहते हैं!

अन्तमें आप लिखते हैं-'यह ध्यान देनेकी बात है कि सत्य-नारायणको पूजाके साथ हरिश्चन्द्रकी कथा नहीं सुनी जाती'। इसपर आप यह जानें कि जब यह है ही 'श्रीसत्यनारायणव्रतं की कथा' तब इसमें हरिश्चन्द्रकी कथाका प्रसङ्ग भी क्या है? जब श्रीहरिश्चन्द्रने 'सत्यनारायणव्रत' नामक व्रतविशेष किया ही नहीं था, तब ग्रन्थकार उसका वह न किया हुआ व्रत दिखला कर क्या असत्य-भाषण करता? क्या ऐसा असत्य-भाषण आप-को पसन्द है? यदि हरिश्चन्द्रकी कथा सत्यकी कथा है, इसलिए सुनें, तो व्रत, उपासना भगवान्की न करके एक मनुष्यकी उपा-सना क्यों करें? यह तो हरिश्चन्द्रके भी स्वयं उपासना करने-योग्य सत्यस्वरूप-नारायणके व्रतकी कथा है। क्या सत्यनारा-यण सत्यहरिश्चन्द्र से न्यून हैं? जो हरिश्चन्द्रके भी उपासनार्ह हैं; उन श्रीसत्यनारायणसे हरिश्चन्द्र कैसे उपास्य हो जायगा? यह भी तो बताइये कि 'सत्यहरिश्चन्द्र'की कथा इस सत्यनारा-यणकी कथामें घुसेड़नेका आपका अभिप्राय क्या है? क्या आप

कलियुगके लोगोंसे वैसे व्यवहारकी आशा करते हैं? क्या फिर आप उसमें विश्वामित्रका व्यवहार पसन्द कर लेंगे? स्पष्ट है कि यह हुज्जतबाजी केवल 'सत्यनारायणव्रत-कथा'को लोकदृष्टिमें गिरानेकेलिए है, अन्यथा एतद्विषयक आपके तर्क महत्त्वपूर्ण नहीं दिखाई देते। हरिश्चन्द्रने पहले की हुई प्रतिज्ञाको कई वार तोड़ा; यह ऐतरेय-ब्राह्मणमें स्पष्ट है; तब क्या आप इसे सत्य मान लेंगे? आप स्वयं इनका अच्छा प्रत्युत्तर दे सकते हैं, पर आस्था हो, तब न। आस्था न हो, तो वेद भी 'भण्ड, धूर्त, निशाचर, पोप'-प्रणीत बन जाते हैं। महाशय, श्रद्धा बढ़ाइये, तभी 'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजुः माध्यं. सं० १९।३०) इस मन्त्रकी चरिता-र्थता होगी। दोषदृष्टि रखनेपर तो निर्दुष्ट वस्तु कोई मिल सकती ही नहीं। अस्तु।

आगे आप श्रीसत्यनारायणव्रतकथाको गिरानेकेलिए 'ब्राह्मण सावधान'के ९-१० पृष्ठकी टिप्पणीमें 'विद्वद्वर पण्डित विश्व-नाथप्रसाद मिश्र'का पत्र उद्धृत करते हैं। हम भी उसपर विचार करते हैं। 'विद्वद्वर'जी लिखते हैं-"ईसवी ११ वीं शताब्दीमें बङ्गालमें सत्यपीर नामके किसी व्यक्तिने नया मत चलाया। उसने संस्कृतकी कई पोथियां लिखवायीं, और बड़ी कूटनीतिसे काम लेता था। उसके मतके प्रसारको रोकनेकेलिए ब्राह्मणोंने यह उपाय किया कि उसकी पोथियोंको ज्योंका त्यों लेकर, आदि-अन्तमें कुछ जोड़कर पौराणिक रूप दे दिया। इस प्रकार उसपरसे नवीनताकी छाप हट गई, और लोग नये सम्प्रदायमें जानेसे बचा लिये गये।"

पर विद्वद्वरजीने इसमें अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग कोई भी प्रमाण नहीं दिया। नई पुस्तकोंको 'तर्कहीनता' बतानेवाले भी आपने आश्चर्य है कि इस तर्कहीन बातको मान कैसे लिया? कदाचित्

इस प्रसन्नतामें कि 'सत्यनारायणव्रतकथा' इससे गिरती है, आपने झट इसपर विश्वास कर लिया। न तो आपने 'विद्वद्वर'-जीसे सत्यपीरकी पुस्तकोंकी सूची ली, न ही 'सत्यनारायणव्रत-कथा'में 'पीरजी' का 'नया मत' ढूंढनेका प्रयास किया, न ही पीरजीकी 'कूटनीति' इस व्रतकथामें दिखलाई। उसका 'नया मत' क्या था, वह हिन्दु था या मुसलमान, यह भी आपने 'विद्वद्ववर' जीसे पूछनेका कष्ट नहीं किया। यह आपने उनसे नहीं पूछा कि ब्राह्मणोंने उसकी पोथियोंको 'ज्योंका त्यों' ले लिया, तो नवीनता उससे गई कैसे ? उसके नये मतका तो फिर ब्राह्मणोंने स्वयं प्रचार कर डाला, फिर आदि-अन्तमें पौराणिक रूप दे देनेमें लाभ क्या हुआ ? वास्तव में यह निर्मूल अनुसन्धान है।

आगे वे लिखते हैं कि "सत्यनारायण-कथा भी सत्यपीरकी देन हैं। उसमें विष्णु-नारद-संवाद ब्राह्मणोंका जोड़ा हुआ है, और सत्यफकीरकी जगह दण्डी-स्वामी रख दिये गये है।" यदि यह ठीक है, तो प्रथम-अध्याय ही ब्राह्मणोंको कृति हुई। शेष कृति ज्योंकी त्यों सत्य-फकीरकी हुई। दूसरे, तीसरे, चौथे,पांचवें अध्यायमें सत्यनारायणकी ही पूजा बताई गई है। अब बता-इये कि इन अध्यायोंमें उसका 'नया मत' क्या है ? दण्डी-स्वामी दूसरे, तीसरे एवं पांचवें अध्यायमें नहीं आये हैं, वहां 'सत्यपीर'-जीके स्थानापन्न कौन है ? और इन अध्यायोंमें 'नवीनताकी छाप' कौन-सी है ? क्या आप तात्पर्यनिर्णायक छः लिङ्गोंसे अपना यह पक्ष सिद्ध कर सकते हैं ?

फिर लिखते हैं कि "नवीन रचना होनेसे ही 'स्कन्दपुराणे रेवाखण्डे' लिखे रहनेपर भी अभी तक यह 'स्कन्द-पुराण'के किसी संस्करणमें स्थान नहीं पा सकी है"। यह भी हेतु नहीं, हेत्वाभास

है। 'महाभारत' के एक लाख श्लोक हैं, पर सब नहीं मिलते। 'महाभारत' में 'भगवद्गीता' के ७४५ पद्योंका निर्देश है, पर वर्तमान गीता में ७०० पद्य मिलते हैं। इसी प्रकार दीर्घसंख्या-वाले 'स्कन्दपुराण' में भी सम्पूर्ण पद्य न मिलते हों, यह सम्भव है। 'निरुक्त' (९।५।१) में कही 'भद्रं वद' यह ऋचा वेदमें नहीं मिलती, तब फिर यदि उस 'स्कन्दपुराण' में सत्यनारायण-की कथा नहीं मिलती, तो अनुमान कर लेना चाहिए कि वह उन लुप्त-पद्योंमें होगी। इधर लेखक-संशोधकोंके प्रमादसे एक पुराणका पाठ अन्य पुराणोंमें भी मिल गया है। यह भी सम्भव है कि यह कथा किसी अन्य पुराणमें जा मिली हो।

अन्तमें 'विद्वद्वर' जी लिखते हैं—"'रम्भाफलम्', 'अभावे शालिचूर्णं वा', 'गत्वा सिन्धुसमीपतः', 'रत्नसारपुरे रम्ये' आदि वाक्य उसके बङ्गीय-उद्भवका अन्तःसाक्ष्य दे रहे हैं"। यह हेतु भी व्यर्थ है। उक्त कथामें 'गोधूमस्य च चूर्णकम्' (१।२०) मुख्य गेहूँका आटा रखा गया है। गोधूमके अभावमें 'अभावे शलिचूर्णं वा' (१।२१) कहा है। मुख्य गेहूँका आटा है। काष्ठ-वाहककी कथामें भी—'गोधूमस्य च चूर्णकम्' (२।२५) आया है। यदि बङ्गालकी होती, तो उसमें गेहूँके आटेको मुख्य न रखा जाता, किन्तु चावलोंको ही मुख्य रखा जाता। बंगालकी होनेपर 'तण्डुलस्य च चूर्णकम्। गोधूमचूर्णं वाऽभावे' यह होता; पर नहीं है,—रम्भाफल (केला) भला किस देशमें नहीं होता ? चावल भला कहां नहीं होते ? आपके अनुसार यह (प्रथम) अध्याय तो 'सत्यपीर' का है ही नहीं, किन्तु ब्राह्मणोंका जोड़ा हुआ है, तब इसीको आपने सत्यपीरकी कृति सिद्ध करनेकेलिए कैसे दे दिया ? क्या विरुद्ध हेतु भी हेतु होता है ? रत्नसारपुर आदि शहर सब प्रान्तोंमें हो सकते हैं। वस्तुतः इस प्रकारके अनुसन्धान

पाश्चात्य-विद्वानोंकी देन हैं। पुराणोंमें तो स्वर्ग-नरकका वर्णन भी मिलता है, गङ्गा-यमुना आदिका वर्णन भी। कई विभिन्न देशोंका वर्णन मिलता है, कई लोकोंका भी वर्णन मिलता है, तब आप कहां-कहांका अनुमान लगायेंगे? सत्यनारायणकी कथामें मुख्य कथा 'काशी'की आती है, 'कश्चित् काशीपुरे रम्ये-ह्यासीद् विप्रोतिनिर्धनः' (२।१) तब आप उक्त कथाका उद्भव काशीसे ही क्यों नहीं मानते? अथवा बङ्गीय होनेपर भी 'सत्य-पीर'से इस कथाका सम्बन्ध क्या, जब कि उक्त कथामें 'सत्यपीर' का नाम भी नहीं, किन्तु भगवान्की ही व्रत-कथाका वर्णन है। 'नारायण' नाम संहिताकालसे ही चला आ रहा है। 'सत्य' भी उसी नारायणका विशेषणगर्भित नाम है। तब ये हेतु व्यर्थ हैं। फिर आपने व्यर्थ ही पण्डित विश्वनाथजीका 'बहुत ऋणी हो जाना' क्यों पसन्द किया? कोई महत्त्वकी बात भी तो हो!

आगे आप लिखते हैं—"मिश्रजीके शब्दोंमें 'उससे कहीं उत्तम और प्रभावयुक्त कथाएँ' पुराणोंमें हैं"। जब पुराणकी ही कथा लेनी है, तो इस सत्यनारायणकी कथाको ही क्यों न लिया जाय? यह भी तो पुराणकी है। भगवान्की सभी कथाएं उत्तम हैं, जैसे कि वेदमन्त्र सभी उत्तम हैं। प्रभाव इसका आप स्वयं भी मान चुके हैं—'सर्वत्र लोकप्रिय है'। मद्रासमें भी इसका प्रचार है। यह हमें एक अपने मद्रासी शिष्यसे मालूम हुआ था। अन्य पुराणोंकी कथाओंका निषेध हम भी नहीं करते। यह कथा 'भविष्यपुराण'में तो बहुत सुन्दर रूपसे आई है। उसके प्रति-सर्गपर्व (३) के द्वितीय-खण्डीय २४, २५, २६, २७, २८, २९ इन छः अध्यायोंमें यह आई है। २४ वें अध्यायमें ३८ पद्य हैं। उसके आरम्भिक पद्य भी वर्तमान सत्यनारायण-कथा पुस्तकसे मिलते हैं। देखिये 'व्यास उवाच—'एकदा नैमिषारण्ये ऋषयः शौन-

कादयः। पप्रच्छुर्विनयेनैव सूतं पौराणिकं खलु ॥ १ ॥ सत्यं ब्रह्मन्! वदोपायं नराणां कीर्तिकारकम् । ३ । सूत उवाच—जगत्त्राणहेतुं रिपौ धूम्रकेतुं सदा सत्यनारायणं स्तौमि देवम् ॥ ४ ॥ एकदा नारदो योगी परानुग्रहवाञ्छया। पर्यटन् विविधाँल्लोकान् मर्त्यलोकमुपागमत् ॥ ७ ॥ तत्र दृष्ट्वा जनान् सर्वान् नानाक्लेशसमन्वितान्। आधिव्याधिदरिद्रार्तान् पच्यमानान् स्वकर्मभिः ॥ ८ ॥ केनोपायेन चैतेषां दुःखनाशो भवेद् ध्रुवम्। इति सञ्चिन्त्य मनसा विष्णुलोकं गतस्तदा ॥ ९ ॥ तत्र नारायणं देवं शुक्लवर्णं चतुर्भुजम् । शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम् ॥ १० ॥ दृष्ट्वा तं देवदेवेशं स्तोतुं समुपचक्रमे ॥११॥ नारद उवाच—नमो वाङ्मनसातीतरूपायानन्तशक्तये। आदिमध्यान्तदेवाय निर्गुणाय महात्मने ॥ १६ ॥ सूत उवाच—इति श्रुत्वा स्तुतिं विष्णुर्नारदं प्रत्यभाषत । किमर्थमागतोसि त्वं किं ते मनसि वर्तते' ॥ १४ ॥" ये पद्य वर्तमान सत्यनारायणव्रत-कथासे ठीक मिलते हैं, तब 'सत्यनारायणव्रत-कथा' की समूलतामें कोई सन्देह नहीं रह जाता। यहां पर भी श्रीनारायणने नारदको सत्यनारायण-व्रत-की विधि बतलाई है।

'भविष्यपुराण'में उक्त कथाके ६ अध्याय हैं। पुराणके २५वें तथा व्रतकथाके द्वितीय अध्यायमें ४४ श्लोक हैं। इसमें शतानन्द-ब्राह्मणकी कथा है। सत्यनारायण-हरि द्वारा वृद्ध-ब्राह्मणके वेषसे व्रतकी विधि तथा शतानन्द-द्वारा व्रतविधान तथा सत्य-नारायणार्चन-प्रकार वर्णित किया गया है। पुराणके २६ वें तथा कथाके तृतीय अध्यायमें उल्कामुखके स्थानमें चन्द्रचूड—राजाकी कथा है, जिसका सत्यनारायणकी आरतीमें नाम आता है, उसका राज्य छीन लिया गया था, सदानन्द ब्राह्मण-

द्वारा उसे सत्यनारायण-व्रतका ज्ञान हुआ । सदानन्दके कहे शब्द भ.पु.की व्रतकथामें भी मिलते हैं–'दुःख-शोकादिशमनं धनधान्य-प्रवर्द्धनम् । सौभाग्यसन्ततिकरं सर्वत्र विजयप्रदम्' (२६।१३)सत्य-नारायणव्रतं श्रीपतेस्तुष्टिकारकम् । यस्मिन् कस्मिन् दिने भूप ! यजेच्चैव निशा-मुखे' (१४)। उस व्रतसे उस राजाने राज्य पाया। पुराणके २७ वें तथा कथाके चतुर्थ-अध्यायमें २८ पद्य हैं । वहां पर लकड़हारेकी कथा है । उसने भी सदानन्द-द्वारा सत्यनारा-यणको व्रत-विधि तथा पञ्चामृतस्नानादि-विधि जानी और व्रत किया । इससे अन्तमें लकड़हारेकी सद्गति दिखाई गई है । पुरा-णके २८ वें तथा कथाके पञ्चम-अध्यायमें ४८ श्लोक हैं। वहां साधु बनियेकी कथा है । सत्यनारायणव्रतकी प्रतिज्ञाको भूलनेके दोषसे साधु–बनियेका दामादके साथ कारागार-वासका वर्णन दिखलाया गया है । पुराणके २९ वें तथा कथाके छठे अध्यायमें ७२ पद्य हैं। उसमें साधु-बनियेकी स्त्री-द्वारा किये गये सत्यनारा-यण-व्रतके प्रभावसे बनियेकी कारागारसे मुक्ति दिखलाई गई है। 'गीता' में भगवान्ने अपने भजन करनेवालोंमें 'आर्त' (७। १६) को पहले स्थान दिया है । भगवान् उसकी सुनता भी है, क्योंकि उस समय वह निस्सहाय तथा निश्छल होता है । तब भगवान्ने उस दुःखिनीके पतिको बन्धनसे छुड़वाकर उसे भक्ति-का फल देना ही था ।

फिर तापसरूपधारी सत्यनारायण-द्वारा साधुकी परीक्षा ली जाती है, पर उसकी शठताको देखकर उसे शाप दिया जाता है । तब साधुकी दीन-प्रार्थनासे उसे वर दिया जाता है । फिर उस साधुकी कन्याके व्रतकी त्रुटिसे साधुका जामाता जलमें अल-क्षित हो जाता है । फिर सत्यनारायणके प्रसन्न करनेके बाद उसका जामाता जलसे निकल आता है । अन्तमें सत्यनारायण--

की कृपासे वह साधु सद्गति पाता है । आगे राजा तुङ्गध्वजकी कथा इसमें नहीं है । उक्त-पुराणमें पद्योंकी रचना बहुत मनोहर है । बंगवासी प्रेस कलकत्ताके छपे स्कन्दपुराणमें 'तुङ्गध्वज'के स्थान 'वंशध्वज' नाम है ।

जब 'भविष्यपुराण'में सत्यनारायण-व्रतकी कथा उसी रूपमें मिली है, तब श्रीसम्पूर्णानन्दजीकी बताई उसकी निर्मूलता कट जाती है । अन्य-पुराणमें भी यह कथा मिल सकती है । यदि आप 'स्कन्दपुराण' में ही इस कथाके मिलनेपर उसको समूल मानें; तो देखिये–श्रीतारानाथ-तर्कवाचस्पति, जो प्रसिद्ध टीकाकार श्री-जीवानन्द-विद्यासागरके पिता प्रसिद्ध-पण्डित थे, जिन्होंने 'वाच-स्पत्य' नामक वड़ा अभिधानकोष लिखकर प्रसिद्धि पाई है, उन्होंने स्पष्ट ही उक्त कथाका 'स्कन्दपुराण' में होना बताया है। वह कोष १८८२ सन्में प्रकाशित हुआ था । उसके १९ वें खण्ड २५०७ वें पृष्ठमें देखिये 'सत्यनारायण'-शब्दपर उनके अपने शब्द-'सत्यनारायण:—पुंलिंग:, संक्रान्त्यादिषु पूज्ये नारायणमुनि-भेदे । स्कन्दपुराणे रेवाखण्डोक्ता चतुरध्याय-सम्मिता तत्कथा दृश्या' । 'कलकत्तेके बंगवासी प्रेसमें १३०८ बंगवत्सरमें प्रकाशित स्कन्दपुराण' (बंगला-संस्करण) रेवाखण्डके २३३, २३४, २३५, २३६ अध्यायोंमें श्रीसत्यनारायणव्रतकथा प्रत्यक्ष है; जिसके अनुसार 'कल्याण' ने भी अपने 'स्कन्दपुराण'के विशेषाङ्कमें वह कथा अन्तमें दी है । २३३ वें अध्यायमें ३९ श्लोक हैं, २३४ वें में १८, २३५ वें में ७७ और २३६ वें अध्यायमें १७ पद्य हैं । लखनऊसे प्रकाशित स्कन्दपुराण रेवाखण्डमें २३२ अध्याय ही हैं, इसलिए उसमें उक्तकथा नहीं मिलती, परन्तु बंगवासी प्रेसकी पुस्तकमें २३६ अध्याय हैं । तब श्रीसम्पूर्णानन्दजीके एतद्विषयक आक्षेप परिहृत हो गये ।

अब यह स्पष्ट हो गया कि 'सत्यनारायणव्रतकथा' धर्मके नाम पर अधर्म नहीं है। वैसे तो दम्भी लोग चाहे वेद हो, चाहे धर्म, सत्य, दृढता, तप आदि हों, सबका दुरुपयोग कर लेते हैं। बाहर कुछ दिखलाते हैं, अन्दर कुछ और रखते हैं। पर इसका उत्तर-दायित्व उनपर आता है, वेद, धर्म आदि पर नहीं। अपने-आप-को अहिंसाके व्रती कहते हुए भी टट्टीकी ओटमें शिकार खेला ही करते हैं। पर इससे अहिंसा बुरी सिद्ध नहीं हो जाती। 'राष्ट्र-महासभा' देशकी संस्था है। इसके उद्देश्य उत्तम हैं, पर क्या इसके अनुयायी सभी दूधके धुले हैं? क्या इस संस्थाकी ओटमें कई लोग आज भी ब्लैक-मार्केटिङ्ग अथवा घूस नहीं ले रहे हैं? तब क्या इससे 'राष्ट्रमहासभा' ही खराब मानी जायगी? यदि नहीं, किन्तु इस प्रकारके कार्योंमें दोनों प्रकारके व्यक्ति खोटे, खरे स्वभावतः हो ही जाते हैं। तब यहांपर भी भगवान् श्री-सत्यनारायण तथा 'श्रीसत्यनायणव्रतकथा'का क्या दोष? वह कथा सदा धर्म ही रहेगी, 'धर्मके नाम पर अधर्म' नहीं। स्थान-स्थानपर 'सत्य' शब्द रखकर वहां सत्योपासनाको नारायणकी उपासना व्यक्त किया गया है, क्या आक्षेप्ता श्रीसम्पूर्णानन्दजी इधर ध्यान देंगे?

वस्तुतः इस 'सत्यनारायणव्रतकथा'में सत्यकी ही कथा, तथा सत्यका ही माहात्म्य सूचित किया गया है, जिस-जिसने सत्य-व्रतका नियम किया; वह पूर्ण ऐश्वर्यका स्वामी बना; यह शता-नन्द आदिकी कथासे प्रकट हो रहा है। जिस देशने इस सत्य-व्रतको अपनाया; वही ऐश्वर्यवान् बना। हमारा एक छात्र लण्डनमें पढ़ने गया था; उसने हमें वहांसे पत्र भेजकर लिखा कि—यहां पर समाचारपत्र सड़कके एक किनारे पर पड़े रहते हैं, बेचने वाला वहां पर बैठा हुआ नहीं होता। जिसे उनकी

आवश्यकता होती है, वह उसे ले लेता है; और वहां उसके लिखित पैसे रख देता है; कोई भी उन पत्रोंको बिना पैसा रखे नहीं उठाता है, न कोई उन पैसोंको ही उठाता है, पत्रोंका बेचने वाला अपने नियत समयपर आकर पैसे उठा ले जाता है। क्या यहां हमारे भारतमें ऐसा सत्यव्रत है? यहां तो अखबारोंको ही लोग उठा ले जावें; पैसोंका तो क्या कहना? माखन, दूध आदिकी बोतलें लोगोंके मकान यदि बन्द हों, तो उनके बाहर डायरी वाले आर्डरके अनुसार रख जाते हैं; दूसरा उन्हें कोई नहीं उठाता। मकान वाला आकर उन्हें लेता है; बोतलें खाली करके बाहर रख देता है, सप्ताहके बाद उनका बिल भेज देता है। हमारे भारतमें कोई खाली बोतलें भी बाहर रख दें, तो लोग उठा ले जावें। इस असत्य-व्यवहारके फल-स्वरूप भारतमें निर्ध-नता और तकलीफें हैं, पर यूरोपमें इस सत्यताके फल-स्वरूप ऐश्वर्य और सुख है।

अब जापानका हाल सुनिये। 'आजका जापान'में लेखकने लिखा है कि—मैं जापानमें गया। मेरी जेबसे नोटोंका बण्डल कहीं गिर गया, पता न लगा। इधर-उधर पूछा; तो एकने कहा कि—तुम्हारे नोट यदि गिरे होंगे; तो अमुक पुल पर जाकर देखो, वहां मिलेंगे; और वहां पर मिल भी गये। कितना है यह सत्य-व्यवहार? उन नोटोंको अन्यने नहीं लिया; किन्तु जिसको मिले; उसने वहां पुल पर रख दिया। वहां लिखा हुआ रहता था कि—यह वस्तु जिसकी हो, ले ले। क्या यहां भारतमें ऐसा सत्य-व्यव-हार है? इस सत्यके यहां न होनेसे हो प्रायः निर्धनता है; और जापानमें सत्य-व्यवहार होनेसे पूर्ण-ऐश्वर्य और सुख है।

अब रूसकी सुनिये। 'वेदवाणी'में एक स्वामीने लिखा था कि—मैं मास्को जा रहा था, ट्रेनमें एक टी. टी. टिकट चैक करने

आया। उसने मेरी टिकट देखी। एक रूसीके पास टिकट नहीं थी। टी. टी. ने टिकट पूछी। यात्रीने उत्तर दिया कि—मैं टिकट नहीं ले सका, रकम मेरे पास नहीं थी। मैं मास्कोमें घरमें जाकर वहांसे टिकटकी रकम दूंगा। कुछ भी न कहकर टी. टी. चला गया। स्वामीको बड़ा आश्चर्य हुआ और सोचा कि—देखें कि—यह स्टेशनके गेटसे बाहर कैसे जाएगा? मास्कोमें स्वामीने देखा कि—वह व्यक्ति टिकटवाले गेटमें नहीं, किन्तु विदाउट-टिकट वाले गेटमें गया। वहां कोई अधिकारी नहीं था, केवल एक कुर्सी-मेज़ थी। एक रजिस्टर रखा था, एक पैन साथ पड़ा था। एक बन्द सन्दूकड़ी भी पड़ी थी। रजिस्टरमें खाने थे कि—तुम किस स्टेशनसे किस स्टेशन तक विदाउट आये, कितनी रकम बनती है? रकम कब दोगे? उस यात्रीने खाना-पूरी कर दी कि—मैं आधे घण्टेमें रकम दे जाऊंगा। वह चला गया। स्वामी वहां बैठ गये। वह व्यक्ति आधे-घण्टेमें आ गया; उसने रकम सन्दूकड़ीमें डाल दी, और रजिस्टरमें जमा कर दी। स्वामी उस सत्यतापर मुग्ध हो गया। उसी सत्यसे रूसमें भी पूर्ण ऐश्वर्य है। क्या भारतवर्षमें ऐसा है? नहीं, तभी तो वह प्राय: निर्धनतामें है।

सत्यनारायणकी कथाने शतानन्द-आदिकी कथासे स्पष्ट कर दिया कि—उन लोगोंने सत्यनारायणके व्रतसे ऐश्वर्य और सुख पाया। खेद है कि—आज भारतमें कोई भी वस्तु शुद्ध नहीं मिलती, पूरे तोलमें नहीं मिलती, पूरे मूल्यमें नहीं मिलती। यहां तक कि—एक पुरुष विष आत्महत्याकेलिए लाया था, उससे वह मरा नहीं। पता लगा कि विषमें भी मिलावट थी। यह असत्यता है। इसी असत्यताका फल भारत भोग रहा है। इसी सत्यसे पहले भारत समृद्ध एवं सुखी था। यहांका सत्य अब विदेशमें पहुँच गया। आजकल विदेशोंमें सत्यकी पूजा तो है, पर सत्यना-

रायणकी पूजा नहीं; अतः वहां यद्यपि ऐश्वर्य है, तथापि शान्ति नहीं। वे अशान्तिमें हैं।

यदि सत्यनारायणका व्रत, उसकी पूजा, उसकी कथा-श्रवण, उसीका कीर्तन किया जायगा; आडम्बरसे नहीं, हृदयसे। अश्रद्धासे नहीं श्रद्धासे, अविधिसे नहीं, किन्तु विधिसे, तो इस व्रतकथामें कहे हुए फल पूर्णतया मिलेंगे; तब किसीको इस व्रत-कथापर आक्षेपकी आवश्यकता भी नहीं रह जायगी। जो दोष इस व्रतकथापर दिये जाते हैं; वे इसके दोष नहीं; किन्तु विधि, श्रद्धा तथा हार्दिक-भक्तिका अवलम्बन न करनेवाले व्यक्तियोंके ही दोष हैं। सो 'व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्। दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते'(यजु: १९।३०) श्रद्धासे अवश्य ही सत्यकी प्राप्ति और सत्यसे सर्वमनोरथोंकी प्राप्ति होती है। इसमें संशयस्थापन करनेवालोंको आत्म-विनाशके अतिरिक्त कुछ भी हाथ नहीं लगता। जिस दिनसे यह सत्यनारायणव्रतकी कथा भारतमें ठीक-ठीक सुनी जाएगी, उस दिनसे हमारा देश तथा हम समृद्धिशाली तथा सुखी होंगे। न हमें खराब आटा मिलेगा, न खराब घी मिलेगा, न खराब दूध मिलेगा। सार-युक्त पञ्चामृत और सार-युक्त घृतसे भुनी हुई पंजीरीका प्रसाद मिलेगा! तब हमें डाक्टरोंके घर भरनेकी आवश्यकता भी न रहेगी; न असामयिकमृत्यु कभी किसीकी होगी। यद्यपि असत्यसे भी पुरुष कभी धनी हो जाता है, तथापि वह धन 'अन्यायोपार्जितं वित्तं दश वर्षाणि तिष्ठति। प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति' निकम्में कामोंमें लगकर शीघ्रही उड जाता है। हम 'सत्यनारायण'के अन्दर-बाहरमें पुजारी बनें, यही हमें 'सत्यनारायण-व्रतकथा' शिक्षा देती है। इस व्रतकथाके अनुसार सत्यनारायण-भगवान्की हार्दिक-पूजा करने वाला, तथा हार्दिक कथा सुनने-

वाला न वेद-शास्त्रोंके अर्थमें ब्लैकमार्कीट करेगा; न क्रय-विक्रय-में ब्लैकमार्कीट करेगा। यदि करेगा; तो भगवान्-सत्यनाराय उसे कभी भी क्षमा न करेंगे, उसकी कथा-वर्णित बनिये वाली दुर्दशा हो जावेगी। सत्यके सर्वथा हट जानेसे पृथ्वी भी नहीं रहने पावेगी। वेदने पृथ्वी-सूक्तके प्रथम-मन्त्रमें यही कहा है—'सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति' (अथर्व. १२।१।१) इनमें पृथिवीके धारणकर्ताओंमें सत्यकी प्रथम-गणना की है, इसी वेदमन्त्रका भाष्य 'सत्यनारायणव्रतकथा' है। भविष्य-पुराणकी सत्यनारायणव्रतकथामें इसी वेदमन्त्रका अनुवाद आया है-'सत्येन धार्यते लोकः सत्ये ब्रह्म प्रतिष्ठितम्। सत्यनारायण-व्रतमतः श्रेष्ठतमं स्मृतम्' (प्रतिसर्गपर्व २४।१६)। यह है सत्यना-रायण-व्रतकथाके आक्षेपोंका परिहार।

(ख) 'सत्यनारायण व्रतकथा'में अछूतोद्धार (?)

(२) पूर्वपक्ष—सत्यनारायणव्रतकथामें पांच अध्यायोंमें पांच कथा हैं। दूसरे अध्यायमें काशीपुरीके ब्राह्मणकी कथा है। तीसरे-में क्षत्रियकी। चौथेम वैश्यकी कथा है, पांचवेंमें अन्त्यजकी कथा है। दूसरे ही अध्यायमें लकड़ियाँ बेचनेवाले भीलकी कथा है—'काष्ठभारवंहो भिल्लो गुहराजो बभूव ह' (५।२०) यहां भिल्ल शब्द स्पष्ट भी है। अन्तिम-कथामें अन्त्यजोंके साथ भोजन-व्यव-हार भी सिद्ध है। 'आगत्य वटमूलं चापश्यत् सत्यस्य पूजनम्। गोपाः कुर्वन्ति सन्तुष्टा भक्तियुक्ताः सबान्धवाः। राजा दृष्ट्वा तु दर्पेण न गतो न ननाम सः। ततो गोपगणाः सर्वे प्रसादं नृपस-न्निधौ। संस्थाप्य, पुनरागत्य भुक्त्वा सर्वं यथेप्सितम्। ततः प्रसादं संत्यज्य राजा दुःखमवाप सः' (५।३-४-५) यह पञ्चम-अध्यायके श्लोक हैं। यहां राजा तुङ्गध्वजने सत्यनारायणका व्रत करते हुए गोपोंको देखा। परन्तु न तो उसने नमस्कार किया। न उनके

पास गया। उसका प्रसाद अन्त्यजोंका जानकर उसका अनादर किया। उस पापसे उसके सौ पुत्र नष्ट हो गये। जब पश्चात्ताप करके उसने फिर उनसे मिलकर व्रत किया, तब उसके पुत्र जीवित हुए। इस प्रकार हिन्दु-जाति भी जिस कालसे अछूतोंसे घृणा करने लगी; उस पापसे वह भी नष्ट हो रही है।

गोप अन्त्यज हैं-यह 'व्यासस्मृति'में भी कहा है—'वर्द्धकिनापितो गोप आशायः कुम्भकारकः। वणिक्-किरातकायस्थमा-लाकारकुटुम्बिनः। वरटो मेदचण्डालदासश्वपचकोलकाः। एते-ऽन्त्यजाः समाख्याता ये चान्ये च गवाशनाः। एषां सम्भाषणात् स्नानं दर्शनादर्कवीक्षणम्' (१।११-१२) यह धर्मशास्त्रके वचन हैं। पं. ज्वालाप्रसादने 'जातिभास्कर'में लिखा है—'मणिबन्ध्यां तन्तुवायाद् गोपजातेश्च सम्भवः' वल्लव-गोप दूध-दही बेचते हैं, परन्तु इनका जल चलित नहीं है' (पृ. १६६)

(ख) लकड़हारा निषाद है—यह भविष्यपुराणके प्रतिसर्गपर्व-स्थित सत्यनारायणकी कथामें स्पष्ट है—'दृष्ट्वा निषादं सबलं काष्ठ-भारोपजीविनम्' (३।२।३४) 'निषादश्वपचौ अन्तेवासि-चण्डालपुक्कसाः' (२।१०।२०) अमरकोषके इस प्रमाणमें निषादको चाण्डालके पर्यायवाचकोंमें दिखाया गया है। इस प्रकार व्यासकृत-सत्यनारायणकी कथामें अछूतोद्धार बताया गया है। स्कन्द-पुराणवाली सत्यनारायणकी कथामें भी 'काष्ठभार-वहो भिल्लो गुहराजो बभूव ह' (५।२०) उसे भील बताया गया है। कथालेखक-व्यासकी बुद्धिकी प्रशंसा करनी पड़ती है कि—उस ने कितनी उदारतासे अपना सिद्धान्त रखके वेदका व्यास किया है। आर्यसमाजी लोग उक्त-कथाके इस रहस्यको न जानकर उसमें कुतर्क किया करते हैं। (श्रीगङ्गाप्रसादजी शास्त्रीके 'अछूतोद्धारनिर्णय'में (पृ. ६५-६६)।

उत्तरपक्ष—यहांपर शास्त्रीजीने व्यासस्मृतिके प्रमाणसे व्यास-प्रोक्त कथामें भी गोपोंको अन्त्यज सिद्ध किया है। इससे वे 'व्यास-स्मृति' को प्रमाण मान रहे हैं—यह सिद्ध है। परन्तु व्यासस्मृति तो अन्त्यजके साथ सम्भाषण तथा उसका दर्शन नहीं मानती है; यह उनसे दिये प्रमाणमें भी स्पष्ट है—'एतेऽन्त्यजाः समाख्याताः, एषां सम्भाषणात् स्नानं दर्शनादर्कवीक्षणम्' । तब व्यासस्मृति जो कि—अन्त्यजसे बातचीत तथा उसका दर्शन भी नहीं सहती; वह अन्त्य-जका अन्न खाना कैसे सह सकती है ? तब फिर स्मृति बनानेवाले व्यासजी अपनी बनाई कथामें अपनी स्मृतिसे विरुद्ध कैसे लिखें ? ।

शास्त्रीजीके श्रद्धेय श्री पं० ज्वालाप्रसादजी भी गोपजाति-का जल पीना नहीं मानते—यह शास्त्रीजीने स्वयं स्वीकृत किया है। तब व्यासोक्त-सत्यनारायणकी कथामें व्यासकी स्मृतिसे विरुद्ध अन्त्यजका अन्न ग्रहण करना कैसे दिखलाया ?। व्यासस्मृति-का ही एक श्लोक है—'श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते। तत्र श्रौतं प्रमाणं तु द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा' (१।४) (श्रुति, स्मृति तथा पुराणमें यदि विरोध हो; तो श्रुतिकी बात ठीक समझो। यदि स्मृति तथा पुराणमें परस्पर सिद्धान्तविरोध हो; तो उस समय स्मृतिकी बात ठीक मानो, पुराणकी नहीं। तब पुराणकी उक्त कथाकी बात स्मृतिविरुद्ध होनेसे माननेयोग्य नहीं रहेगी। इससे शास्त्रीजीका 'अछूतोद्धारनिर्णय'का उक्त पौराणिक कथा-का प्रमाण निर्बल सिद्ध हो गया।

वस्तुतः सत्यनारायणकी कथामें गोप, गौओंका रक्षण-रूप अपना कर्म करनेवाले 'कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यस्यापि स्वभाव-जम्' (गीता १८।४४) वैश्य ही हैं, अन्त्यज नहीं। गोपनाम वाली अन्त्यजजाति तो इससे भिन्न हो सकती है। जैसे कि—इसी व्यासस्मृतिके पद्यमें—'वणिक्'को भी अन्त्यजोंमें गिना गया है।

'वणिक्-किरातकायस्थमालाकारकुटुम्बिनः। ···एतेऽन्त्यजाः समा-ख्याताः' (१।११)। आक्षेप्ता-शास्त्रीजीने यहां तो यह पद्य छिपा दिया है, पर 'अछूतोद्धार-निर्णय' के ६० पृष्ठमें उसे लिखा है। तब क्या सत्यनारायणकथाका वणिक् (बनिया) भी अन्त्यज हो जायगा ?। क्या वैश्य-वणिक् अन्त्यज है ? यदि नहीं; किन्तु वणिक् वैश्य ही है, अन्त्यज नहीं; और अन्त्यजोंमें जो 'वणिक्' गिना गया है, वह वैश्यसे भिन्न है; वैसे गोप भी सत्यनारायणकी कथामें वैश्य ही हैं, अन्त्यज नहीं; तभी तो उनका दर्शन तथा सम्भाषण तथा अन्नग्रहण भी कथामें निषिद्ध स्वीकृत नहीं किया है। श्री-कृष्ण बाल्यावस्थामें नन्द-गोपके घरमें रहे; गोप और गोपियोंसे खेला करते थे। श्रीराधा भी गोपी थी। पर उन गोप-गोपियोंको कोई भी अन्त्यज नहीं मानता; तब शास्त्रीजीकी कल्पना कट गई।

इस प्रकार व्यासस्मृतिमें 'नर' को भी अन्त्यजोंमें गिना गया है, कायस्थ तथा दासकों भी अन्त्यज गिना गया है—'चर्मकारो नरो भिल्लो ···एतेऽन्त्यजाः समाख्याताः' (पूर्वोक्त-पद्य), पर सारी नर (मनुष्य) जाति वा कायस्थ और दास भला अन्त्यज कैसे हों; तब जैसे यहां नर वा दास कोई भिन्न जातिविशेष हैं, वे ही अन्त्यजोंमें परिगणित हैं—साधारण नर, दास आदि नहीं; वैसे व्यासकथामें प्रोक्त गोप भी अन्त्यज न होकर गोपालक वैश्य ही थे; अतः उनके साथ राजा तुङ्गध्वजके व्रत करनेमें अछूतोद्धार-के स्वप्न देखना अयुक्त वा निर्मूल है। 'राजा तुङ्गध्वजने 'अन्त्यजों का प्रसाद' समझकर उसका तिरस्कार किया'—यह उक्त-कथामें कहीं भी सूचित नहीं किया; किन्तु उसका दर्प (अभिमान) दिखाया गया है कि—मैं राजा होकर साधारण लोगोंकी साधा-रण वस्तु लूं, वा उसे उठाकर जाऊं !!! यही उसके दर्पका तात्पर्य है। तब उसका प्रसाद लेना तो दूर; वहां उसने भगवान्

को भी नमस्कार नहीं किया'-राजा दृष्ट्वा तु दर्पेण न गत्वा न ननाम सः' (५।४) आजकलके बाबू भी साधारण-भक्तोंसे भगवान्का प्रसाद लेनेमें भी अपना अपकर्ष समझकर उसे नहीं लेते। वहां अस्पृश्यताकी बात नहीं होती, किन्तु अभिमानमात्र होता है, इसीलिए उक्त-कथामें 'राजा, दर्पेण' आदि शब्द स्पष्ट हैं। उनके अस्पृश्य होनेसे उनका स्पर्श तथा अन्नग्रहण अशास्त्रीय होनेसे, उनके पास न जाने तथा उनको अपने संस्कार वाली मूर्तिके नमस्कार न करनेपर 'दर्प' न कहा जाता, किन्तु 'विधिपालन' कहा जाता। भविष्यपुराणमें यह गोपोंकी कथा नहीं है।

(ख) लकड़हारेके भविष्यपुराणानुसार निषाद होनेपर भी वह निषाद अनुलोमज हो सकता है, प्रतिलोमज नहीं। निषाद दो प्रकारका होता है—१ अनुलोमज २ रा प्रतिलोमज। अनुलोमज तो स्मृतियोंके अनुसार **व्यवहार्य होता है,** पर प्रतिलोमज तो चाण्डाल होनेसे स्मृतियोंके अनुसार व्यवहार्य नहीं होता है, रातमें उसका नगरप्रवेशमें अधिकार भी नहीं होता; यह सकल-स्मृतिमूर्धन्य मनुस्मृति (४।७९, १०।५१-५५)में स्पष्ट है। अनुलोमज निषाद तो 'निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते' (१०।८) इस मनुके पद्यमें ब्राह्मणसे शूद्रामें उत्पन्न अनुलोमज माना गया है। प्रतिलोमज तो शूद्रसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न एवं चाण्डाल कहा जाता है। देखिये मनुस्मृति (१०।१२)। अनुलोमज अस्पृश्य नहीं होता; पर प्रतिलोमज निषाद तो चाण्डाल होनेसे शास्त्रानुसार अव्यवहार्य होता है। रातको उसका ग्राममें रहनेका अधिकार नहीं होता, जैसा कि पहले मनु-प्रमाणसे हम कह चुके हैं। परन्तु उक्त-निषादका तो उक्त-कथामें रातको ब्राह्मणके घरमें निर्भीक होकर आना बताया है। अतः स्पष्ट है कि—वह प्रतिलोमज-निषाद नहीं। वही निषाद अगले जन्ममें

भी निषादराज गुह बना, **जिससे श्रीरामने आलिंगन किया।** वह प्रतिलोमज नहीं था—यह हमने अन्यत्र स्पष्ट दिखलाया है। प्रतिलोमजका लकड़ियां बेचना भी अशास्त्रीय है, उसके **कर्म मलापकर्षणादि** हैं, यह मनुस्मृति (१०।५१-५५) आदिमें स्पष्ट है, प्राचीन-ग्रन्थ नारदीय-मनुस्मृतिमें भी कहा है—'अशुभं दासकर्मोक्तं···गृहद्वाराऽशुचि स्थान-रथ्यावस्कर-शोधनम्। गुह्याङ्ग-स्पर्शनोच्छिष्ट-विण्मूत्र-ग्रहणोज्झनम्' (५-६-७) यहां पर दास-प्रतिलोमज आदिका **कर्म गलीका** कूड़ा-कर्कट साफ करना, टट्टी-पेशाब उठाकर फेंक आना कहा है। यही बात 'वैखानसधर्मप्रश्न' (३।१४।७-८-९) तथा 'औशनसस्मृति' (९-१०) में भी कही है।

स्कन्द-पुराण वाली सत्यनारायण-व्रत-कथामें—'काष्ठभार-वहो, भिल्लो गुहराजो बभूव ह' (५।२०) में भी 'भिल्लः' का सम्बन्ध लकड़हारेसे न होकर 'भिल्लो गुहराजो बभूव'से है, यहां 'भिल्लः'का अर्थ निम्न-जातीयतामें उपलक्षण है। इससे सिद्ध हुआ कि—सत्यनारायणकी कथामें किसी भी अछूत (प्रतिलोमज) की कथा नहीं; तब 'अछूतोद्धार-निर्णय'में श्रीगङ्गाप्रसादजी शास्त्रीका पक्ष सिद्ध एवं युक्त सिद्ध न हो सका। अब आगे पाठक 'सत्यकी खोज'की आलोचना देखें कि—प्रतिपक्षी लोग असत्यको भी 'सत्य' कहकर कैसा गलत-व्यवहार करते हैं।

१०. 'सत्यकी खोज' (आलोचना)

एक आर्यसमाजीसे बनाये हुए और आर्यसमाज हापुड़की ओरसे अपने उत्सवमें बांटे हुए 'सत्यकी खोज' क्षुद्रपुस्तक (ट्रैक्ट) की आलोचना 'यादृशो यक्षः, तादृशो बलिः'के अनुसार लेखककी टोनमें ही दी जा रही है। पाठक-महोदय इसपर ध्यान दें—

यह लेखककी बात ठीक है कि—'मुसलमानी-राज्यने अपने

अत्याचारों तथा अंग्रेजी-राज्यने अपनी मोहकतासे अनादिकालसे धर्मप्राणरूपसे विख्यात, हिन्दुजातिको निगलना चाहा;' पर उन अर्वाचीन-सम्प्रदायोंमें अर्थ और कामकी दृष्टि-मात्र रखनेवाले ही इने-गिने, गये-गुजरे, गरीब वा निम्नजातीय अथवा अंग्रेजी-शिक्षित व्यक्ति ही गये; धर्म और मोक्षकी दृष्टि वाले उधर नहीं गये; पर अभी तक भी जो कि हिन्दुजाति अपने स्वरूपमें स्थित है, और सुरक्षित बची हुई है, इसका क्या कारण है—यह विचारणीय है।—

उसमें 'सत्यकी खोज' के लेखकको तो 'दयानन्दजीकी आर्य-समाज' ही उनका बचाव करने वाली मिली। उसके यह शब्द हैं कि—'यदि म. दयानन्दने आर्यसमाजकी स्थापना न की होती; तो आज-दिन राम-कृष्णका नाम लेवा इस देशमें कोई न मिलता। सब मुहम्मद और यीशुकी शरण चले गये होते, और यज्ञ, जप, संध्या, चन्दन और पूजनके स्थानपर कलमा और नमाज़ पढ़ी जाती, या गिरजा-घरमें लोग यीशुसे दुआ मांगते होते'।

पर हम इससे सहमत नहीं। मुसलमानी-समयमें जब कि हिन्दु जातिपर अत्याचारका समय था—उस समय न तो दयानन्दजी थे, न दयानन्दजीकी समाज ही थी; तब उस समय क्या सभी हिन्दु मुहम्मदको शरणमें चले गये थे ? क्या सभी हिन्दु अपने जप, संध्या, चन्दन, पूजन आदि छोड़कर नमाज़-वा कलमा पढ़ने लग गये थे ? यह तो अनुभव वा प्रत्यक्षसे भी विरुद्ध बात है। तब सोचना पड़ेगा कि—उस समय हिन्दु-जातिके रक्षणकर्ता कौन थे—इसमें स्पष्ट तथा यथार्थ उत्तर यह है कि—वे थे हिन्दुजातिके प्राण पुराण और इतिहास। वे ही उस समय हिन्दुजातिके तथा उसके धर्म-पुस्तक वेदोंके रक्षक थे। जो व्यक्ति उन (पुराणों) को गिरावटके समयका बना हुआ मानते हैं; उनकी बुद्धि स्वयं

गिरी हुई है। जो उन्हें सृष्टिनियमविरुद्ध मानते हैं; वे अभी तक सृष्टिके नियमोंको ही जान नहीं सके। कल तक वे जो पुराणोंकी बातोंको गप्प कहकर हँसीमें उड़ाते थे; आज विज्ञान उन्हीं बातोंको यथार्थ सिद्ध करके उनके मस्तकको लज्जावनत कर रहा है। विश्वामित्रने देवताओं ग्रहों-उपग्रहोंकी सृष्टि की थी; त्रिशङ्कुको सशरीर स्वर्गमें भेजा था; एक शशक (खरगोश) तथा मृगको चन्द्रग्रहमें भेजा गया था—जिससे चन्द्रमाका नाम शशाङ्क और मृगाङ्क हो गया था; ध्रुव ध्रुवलोकको गये; एतदादिक अत्र आप-लोगोंसे उपहसित बातोंको रूसी तथा अमेरिकी उपग्रह सिद्ध कर रहे हैं। शेष लेखक आपसे आक्षिप्त की जाती हुई बातोंको विज्ञान अन्य भी उन्नति करके उनको यथार्थ सिद्ध कर देगा।

अवशिष्ट यह जो बात ट्रेक्ट-लेखकने लिखी है कि—यदि दयानन्द-समाज स्थापित न होती; तो आज-दिन कोई राम, कृष्णका नाम लेवा न मिलता, इस बातको पढ़कर तो हमें भी हंसी आ गई। सनातनधर्मके सङ्कीर्तन-मण्डल रामकृष्ण-नामका संकीर्तन करते रहते हैं, पर दयानन्द-समाज ही उसका (हापुड़-आदिमें) विरोध करती रहती है; उसपर फबतियाँ कसती है, उसका उपहास करती है। कदाचित् उसका स्वराज्य होता; तो वह वहांके हिन्दुओंको 'राम-कृष्णका नाम-लेवा' भी न रहने देती, राम-कृष्णके नामको न तो मिटवावे मुसलमानी राज; तथा न मिटवावे अंग्रेजी राज्य; यदि उसे मिटवावे आर्य-समाज; तब ट्रैक्टलेखकका यह कहना कि—'यदि दयानन्दसमाज-की स्थापना न होती; तो आज-दिन राम-कृष्णका नाम-लेवा इस देशमें कोई न मिलता;' यह 'सत्यकी खोज' हुई, या पूरे सौ पैसे 'असत्यकी खोज'। यहां भी स्पष्ट है कि—हम-आप लोग जो कि—आज भी राम-कृष्णके नाम-लेवा हैं; उसके कारण भी पुरा-

ऐतिहास ही हैं ; जिनका दिन-रात खण्डन करते हुए भी आप लोग नहीं थकते । वेदमें तो आप भी राम-कृष्णका नाम नहीं मानते। तब राम-कृष्णके नाम-लेवा बनानेमें कारण भी पुराणेतिहास ही हुए। यह उन्हीं पुराणोंकी कृपा है; जो उस समय धर्ममें सुदृढ रहकर हमने उस अत्याचारी मुसलमानी शासनको भी पीछे डाल दिया; और अंग्रेजी मोहक-प्रचारमें भी हम सुदृढ रहे। इससे अंग्रेजी राज्य भी असफल होकर फिर अपने घर समुद्र-पार जानेको बाध्य हो गया।

हम इस अंशमें कुछ सहमत अवश्य हैं कि—यदि आर्यसमाजने अपना प्रचार न किया होता; तो आज जितने अंग्रेजी-उर्दू-पढ़े लिखे आर्यसमाजी हैं; यह सभी आज ईसाई होते। कारण यह है कि-इन लोगोंको धर्म-कर्मसे कोई सहानुभूति नहीं थी। यह लोग ईसाइयोंके उसूलोंको ही अच्छा समझते थे; तब आर्यसमाजने उनको ईसाइयतसे बचानेकेलिए यह उपाय किया कि—जो उनके उसूल थे; उन्हें हिन्दु-जामा पहराकर वेदसे बलात् निकालकर दिखला दिया कि—विधवाविवाह करना, मूर्तिपूजा न करना, देवताओंको न मानना, छुआछूत न मानना, २४-२५ वर्षकी लड़कियोंका विवाह, स्त्री-स्वातन्त्र्य, शिखा काटना, अपनी इच्छाको वैदिक-धर्म कह देना—यह सिद्धान्त हमारे हैं; अतः ईसाइयों वा मुसलमानोंमें अब जानेकी ज़रूरत नहीं'। इसका प्रभाव भी उन अंग्रेजी-शिक्षादीक्षितोंपर पड़ा, इन्हीं सिद्धान्तोंके माननेवाली जमातका नाम ही उक्त-समाज हुआ। यदि आर्यसमाज न बनती—तो इस समाजके अंग्रेजीशिक्षित व्यक्ति प्रायः ईसाई होते।

अस्तु—वे सिद्धान्त तो लिये गये उनसे; और उनपर 'लेबिल' लगा दिया गया 'वेदों'का; तब वह नव-शिक्षित जनता आर्य-

समाजमें आने लगी। इसका कारण यह था कि—हिन्दु-जातिकी वेदमें बड़ी आस्था थी। वेदको वह अपना आधार-ग्रन्थ मानती थी; उनका सभी 'अथ'से 'इति' तकका, जन्मसे लेकर और्ध्वदैहिक गति तकका कर्मकाण्ड वेद-मन्त्रोंसे होता था, वेद उस हिन्दु-जातिका मूल था। पुराण-इतिहास उसी वेदकी रोचक व्याख्या थी—इन्हींके कारण मुसलमानका अत्याचार और ईसाई मोहक-जालका डोरा हिन्दु-जातिको प्रभावित न कर सका। उनका भारी प्रचार निष्फल हो गया, इसे वादी-प्रतिवादी सभी मुक्त-कण्ठसे स्वीकार करते हैं। उन पुराणोंकी इस अद्भुत सफलताको देखकर इनको 'विषसम्पृक्त-अन्न' मानने वाला भी उक्त समाज अपने अधिवेशनोंमें जनताकी अधिक उपस्थितिकेलिए इनका पल्ला पकड़ता है—अपने नीरस-व्याख्यानोंको इन्हींसे सरस बनानेकी चेष्टा करता है।

हिन्दु-जातिके मूल वेदोंको आर्यसमाजके पूर्ववर्ती देवसमाज-ब्राह्म-समाज, प्रार्थना-समाजके व्यक्तियोंने गड़रियोंके गीत मानकर नहीं अपनाया, केवल देशोपकारका ढोंग रचकर उन्होंने अंग्रेजियत ही फैलाई। अपने बाप-दादेसे आये हुए सनातन-धर्मको छोड़ दिया, छुवाछूतका कुछ भी विचार न रखा; इसलिए वे समाज भी पनप न सके; हिन्दुओंने उनकी ओर देखा तक नहीं; यह स्वा.द. जीने अपनी तीक्ष्णदृष्टिसे भांप लिया था; अतएव स्वा.द. जीने हिन्दु-जनताको अपनी ओर खींचनेकेलिए अपने पूर्ववर्ती उन समाजोंकी यह भूल न अपना कर वेदको अपने साथ ही रखा; पर सिद्धान्त कुछ हेर-फेरसे प्रायः उन्हींके ही रखे, लेबल सबपर 'वैदिक' अवश्य चिपका दिया।

स्वामीने उनकी आलोचना करते हुए लिखा—'जो कुछ

ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाजियोंने ईसाईमतमें मिलनेसे थोड़े मनुष्योंको बचाये और कुछ २ पाषाणादि-मूर्तिपूजाको हटाया; अन्य जाल-ग्रन्थोंके फन्देसे भी कुछको बचाये-इत्यादि अच्छी बातें हैं, परन्तु इन लोगोंमें स्वदेशभक्ति बहुत न्यून है, ईसाइयोंके आचरण बहुतसे लिये हैं, खान-पान विवाहादिके नियम भी बदल दिये हैं। ... अपने माता-पिता, पितामहादिके मार्गको छोड़कर दूसरे विदेशी-मतोंपर अधिक झुक जाना ब्राह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजियोंका एतद्देशस्थ संस्कृतविद्यासे रहित अपनेको विद्वान् प्रकाशित करना, इङ्गलिशभाषा पढ़के पण्डिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलाने में प्रवृत्त होना, मनुष्योंका स्थिर और वृद्धिकारक काम क्यों कर हो सकता है ?। [इन्होंने] 'अंग्रेज, यवन, अन्त्यजादिसे भी खाने-पीनेका भेद नहीं रखा। इन्होंने यही समझा होगा कि-खाने-पीने और जातिभेद तोड़नेसे हम और हमारा देश सुधर जायगा, परन्तु ऐसी बातों से सुधार तो कहां, उलटा बिगाड़ होता है' (स० प्र० ११ समु० पृ० ३४१)।

अब पाठकोंने यह स्वयं समझ लिया होगा कि-उक्त-समाजमें भी सभी यही कुछ है-जिसे स्वामीजीने आलोचित किया है। इस समाजमें संस्कृतभाषाको न जानने वाले भी, मैट्रिकपास वा एफ़.ए. फेल होकर भी जो कुछ दलीलबाजी कर सकते हैं-'शास्त्रार्थ-महारथी' वा आचार्य बना दिये जाते हैं। अपनेको बड़ा विद्वान् प्रकाशित करते हैं। अन्त्यज तथा मुसलमान-अंग्रेजादिके साथ खाने-पीनेका भेद भी नहीं रखते।

उक्त-समाजने हिन्दुको अपने साथ रखनेकेलिए वेदको तो आडम्बररूपमें अपने साथ रखा; पर हमारा विचार है कि-उसे अभी तक भी पता नहीं चल सका कि-वेद क्या और कितना है ? यह ठीक है कि-वेद चार हैं; पर उनकी पोथियां चार नहीं

हैं। इस विषयपर कुछ आप भी विचार करें।

सनातनधर्म तथा आर्यसमाज दोनों संस्थायें पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि तथा यास्क आदिको प्रसिद्ध वेदज्ञ तथा वेदज्ञता-विषयमें उनको अत्यन्त प्रामाणिक स्वीकार करती हैं; तब 'वेद क्या है' इस विषयमें इनका मत अवश्य द्रष्टव्य होगा। हमारा विचार है कि-यह मुनि लोग ११३१ संहितारूप मन्त्र-भाग तथा आरण्यक-उपनिषत्सहित उतने ही ब्राह्मणभागको वेद मानते हैं। जब वेदका इतना विशाल-क्षेत्र है, तब सनातन-धर्मको पौराणिकधर्म कहना, यह केवल अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है।

आप लोग वेद केवल वर्तमान ऋक् संहिता आदि चार पोथियोंको मानते हैं, इनमें न कुछ प्रक्षिप्त मानते हैं, न न्यून। पर वेद-विद्वान् श्रीपाणिनि, पतञ्जलि, यास्क आदि आपके इस मतको नहीं मानते। इनसे दिये हुए वेदके बहुतसे वाक्य वा शब्द वेदकी इन चार पोथियोंमें नहीं मिलते; अतः स्पष्ट है कि-यह चार वेद-पोथियां अपूर्ण-वेद हैं, पूर्ण वेद नहीं। यदि आप कहें कि ये शब्द ११३१ संहिताओं वा उतने ही अनुपलब्ध ब्राह्मण वा आरण्यक-उपनिषदादिमें होंगे, उनके अनुपलब्ध होनेसे वे शब्द नहीं मिलते, तो फिर आइये स.ध.की शरणमें। इस सिद्धांत को मानिये कि-११३१ संहितात्मक मन्त्रभाग तथा उतना ही आरण्यक-उपनिषत्सहित ब्राह्मणभाग वेद है यही 'सत्यकी वास्तविक खोज' होगी। इस ट्रैक्टका नाम तो अब 'असत्यकी खोज' अथवा 'अपूर्ण सत्यकी खोज 'रखना पड़ेगा। इस सूत्रका भाष्य आगे 'वेद-चर्चा'में देखिये।

इससे आर्यसमाजका वेद-विषयक सिद्धान्त अभी अधरमें

लटकता हुआ सिद्ध हो रहा है। वह नाममात्रसे अपनेको वैदिक मानता है, पर अभी तक उसे अपने वेदका पूरा ज्ञान नहीं। अतः स्पष्ट है कि–वह वेदको नहीं मानता।

(१) आप 'आर्यसमाजके काम'में 'अनेक देवी-देवताओंकी पूजा एवं मूर्तिपूजा हटाकर 'एकेश्वर-वाद' की स्थापना करना वैदिक बताते हैं। इसपर यह याद रखें कि–यदि आर्यसमाज वेदको मानता है; तो उसमें मूर्तिपूजा भी है, और बहुदेवतावाद भी कुछ इधर भी दृष्टि डालिये। सनातनधर्म भी ईश्वर एक ही मानता है; पर जैसे एक पुरुष एक ही व्यक्ति होता है, परन्तु उसके अङ्ग बहुत होते हैं, बहुत अङ्गोंके होनेसे वह बहुत नहीं हो जाता; वैसे ईश्वर भी एक है; पर उसके अङ्ग देवता बहुत हैं; इससे एकेश्वरवादमें क्षति नहीं आती। जैसे 'सत्यार्थप्रकाश' एक है, और उसके १४ समुल्लास हैं; इससे क्या आप १४ 'सत्यार्थ-प्रकाश' मान लेंगे? अब उसमें किसीको चौथा समुल्लास अच्छा लगता है, किसीको ग्यारहवां, और किसीको १३ वां तो दूसरेको १४ वां। इस प्रकार बहुदेवतावादमें भी सबका इष्टदेव एक ही होता है। अङ्गीकी पूजा किसी अंगके द्वारा ही तो होती है।

देवता परमात्माके अंग हैं; इसमें कुछ प्रमाण देखिये–'पश्यामि देवाँस्तव देव! देहे' (११।१५) इस वादिप्रतिवादि-मान्य-गीताके वचनमें भगवान्के शरीरमें अंगभूत देवताओंकी स्थिति मानी गई है। 'पश्यादित्यान् वसून् रुद्रान् अश्विनौ मरुत-स्तथा' (११।६) यहाँ पर पूर्व-विषयकी स्पष्टता कर दी गई है। इस विषयमें वेदमन्त्र भी देख लीजिये–'यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे। तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवान् एके ब्रह्म-विदो विदुः' (१०।७।२७) अथर्ववेदसं०के इस मन्त्रमें भी देवता अंगी परमात्माके अंग बताये गये हैं। इसका अर्थ 'वेदोंका

यथार्थ स्वरूप' (पृ० १६५) में आर्यसमाजके विद्वान् श्रीधर्मदेवजी विद्यामार्तण्डने लिखा है–'ये देव जिस विराट्–[के] शरीरमें अङ्गके समान बने हैं; उन ३३ देवोंको ब्रह्मज्ञानी ही ठीक-ठीक जानते हैं, अन्य नहीं'। सो उन्हीं अङ्ग देवताओंके द्वारा अङ्गी भगवान्की पूजा होती है।

बहुदेवतावादका प्रवर्तक वेद ही है। देखिये–'शं नो मित्रः, शं वरुणः, शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः' (ऋ. सं. १।६०।६) इस पर स. प्र. में स्वा. द. जीने लिखा है–'इस मन्त्रोंमें मित्रादि नाम परमेश्वरके हैं' (प्रथम. समु. पृ. ५) पर इस मन्त्रमें स्पष्ट बहुदेवतावाद है। स्वा.द.जीने यह नाम परमात्माके बताकर बहुदेवतावादको हटानेकी असफल चेष्टा की है। इसका खण्डन उन्हींके वैदिकयन्त्रालयसे प्रकाशित ऋग्वेदसं.से हो जाता है। देखिए उसमें इस मन्त्रका देवता 'विश्वेदेवाः' लिखा है। अनुक्रमणिकास्थित 'देवता'शब्द मन्त्रके 'वर्ण्यविषय' को बताता है। सो यदि यहां परमेश्वर ही वर्णित होता, तो यहां 'परमेश्वरो देवता' लिखा होता, पर 'विश्वे देवाः देवता' लिखा है, यहां पर 'विश्वे देवाः' यह बहुवचन है, 'विश्वे' का अर्थ है 'सर्वे,' सो इससे बहुदेवतावादकी सिद्धि हो गई। आपके अनुसार तो एकेश्वरवादमें बहुवचनके अनुपपन्न होनेसे आपसे ही बहुदेवतावाद की सिद्धि हो गई।

न केवल 'अनुक्रमणिका'का 'विश्वेदेवाः' शब्द ही इस बात का पोषक है, किन्तु उक्त-मन्त्र भी इस विषयका साक्षी है। वहां लिखा है- 'शं नो मित्रः' हमें मित्र देवता 'शं' दे। यहां 'मित्र' पुंलिंग है, दोस्तवाचक 'मित्र' शब्द नपुंसकलिंगमें होता है; पर यहाँ पुंलिंग होनेसे 'दोस्त' वाचक यह शब्द नहीं, किन्तु सूर्यके भेद देवताका वाचक है। फिर कहा है–'शं वरुणः' हमें वरुण

'शं' दे। फिर कहा है–'शं नो भवतु अर्यमा' हमें अर्यमा देवता कल्याण दे। यदि इस मन्त्रमें परमात्माका ही वर्णन होता; तो मित्र, वरुण आदि सब शब्दोंके साथ 'शं' 'शं' यह पृथक्-पृथक् न आता। फिर तो यह होता–'मित्रः, वरुणोऽर्यमा इन्द्रो बृहस्पतिरुरुक्रमोऽसौ विष्णुः शं नो भवतु' और फिर यहां 'विष्णुर्देवता' लिखा जाता: पर पृथक्-पृथक् देवताके साथ पृथक्-पृथक् 'शं, शम्' आनेसे 'बहुदेवतावादका मूल वेद ही है' यह सिद्ध हो ही गया। इसपर आप सूक्ष्म तथा पक्षपातके आवरणसे रहित दृष्टि डालियेगा।

एक मन्त्र अन्य भी देख लीजिये–'प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे, प्रातर्मित्रावरुणा, प्रातरश्विना। प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम'(ऋ. ७।४१।१) यहां पर आपके ही प्रकाशित अजमेरी वेदमें लिखा है–'लिङ्गोक्ता देवताः' 'लिङ्गोक्ताः' यह बहुवचन है। इसमें बताया है कि–यहां बहुत देवता वर्णित हैं। उन्हींका यहां 'हवामहे' पदसे आह्वान-बुलाना प्रार्थित है। आपके मतमें परमेश्वरका आवाहन वेदमें नहीं आया है–'वेदोंमें·····परमेश्वरके आवाहन, विसर्जन करनेका एक अक्षर भी नहीं है' (स. प्र. ११ पृ. १९६) तब यह आवाहन, देवताओंका ही प्रतिफलित हुआ। वेदोंमें आवाहन बहुत आता है; सो वह बहुदेवतावादका समर्थक हुआ। उक्त मन्त्र भी बहुदेवतावादको बताता है–'प्रातः अग्निं' यहां 'अग्नि' देवताके साथ 'प्रातः' कहकर फिर 'इन्द्र' देवताके साथ 'प्रातः' कहा गया कि–हम प्रातः अग्नि-देवताको बुलाते हैं, प्रातः इन्द्र-देवताको बुलाते हैं। यह तो नहीं कहा जासकता कि–हम प्रातः परमात्माको बुलाते हैं, हम प्रातः परमात्माको बुलाते हैं। ऐसा होता; तो 'प्रातः' शब्द अलग-अलग रहने की आवश्यकता नहीं थी, एक वार

कहा जाता। फिर 'मित्रा-वरुण' इन दो देवताओंका प्रातः आह्वान कहा गया, इस प्रकार 'अश्विनौ' इन दो देवताओंका प्रातः आह्वान किया गया।

इस प्रकार अन्य भिन्न २ देवताओंके साथ भिन्न २ करके 'प्रातः' २ कहा गया है, इससे यहां देवता भिन्न २ सिद्ध हो गये। यहां यदि एकेश्वरका वर्णन होता; तो प्रातः-प्रातः भिन्न न होता; भिन्न-भिन्न 'प्रातः' कहना व्यर्थ होता। और फिर इस मन्त्रमें 'मित्रावरुणौ' में द्विवचन है, यदि एक ईश्वरका वर्णन होता; तो 'द्विवचन' न होता; परमात्मा आपके मतमें दो नहीं। यहां दो देवता होनेसे ही 'देवता-द्वन्द्वे च' (पा.६।३।२६) इस पाणिनिसूत्रसे आनङ् हुआ है। आपके अनुसार एकेश्वर होनेसे 'मित्रवरुणः' बनता। और 'अश्विनौ'में भी दो 'अश्वी' देवता होनेसे ही द्विवचन है; एक परमात्मामें द्विवचन नहीं होता। फिर 'सोमम् उत रुद्रं' यहां पृथक्तावाचक 'उत' शब्द कहा है; "और" अर्थको बतानेवाला 'उत' शब्द तथा 'च' शब्द एकमें नहीं आता; सदा दो वा बहुतोंमें आता है। वह वेदमें बहुत आया है; देखिये–'हवामहे आदित्यं, विष्णुं, सूर्यं, ब्रह्माणं च बृहस्पतिम्' (अथर्व. ३। २०। ४) यहां पर अलग करने वाला 'च' शब्द है--इस प्रकार 'मित्रश्च, वरुणश्च, इन्द्रो, रुद्रश्च चेततु' (अ. ३।२२।२) यहां भी 'च' सिद्ध करता है कि ये बहुत देवता हैं। 'स्वा. दयानन्दजी आर्यसमाजियों और आर्यसमाजियोंके नेता हैं' यह वाक्य गलत है; क्यों कि–'और' भिन्नतामें आता है, यहाँ आर्यसमाजी परस्पर भिन्न नहीं। स्वा. द. जी आर्यसमाजियों और दयानन्दियोंके नेता हैं' यह वाक्य भी गलत है; पर्यायवाचक होनेसे एक होनेके कारण यहां भी 'और' नहीं आ सकता। पर वेदमें देवनामोंमें आया 'च' एवं 'उत' शब्द उनके परस्पर-भिन्न होनेसे

सार्थक है।

इससे बहुदेवतावाद वैदिक सिद्ध हो गया; बल्कि--बहुदेवतावादका प्रचालक वेद ही है, पुराणोंने उसीका भाष्य किया–यह सिद्ध हो गया। इसी बातको उपनिषदात्मक वा ब्राह्मणात्मक वेद भी कहता है–'तद् यद् इदमाहुः--अमुं यज, अमुं यज–इत्येकैकं देवम्, एतस्यैव सा विसृष्टिः, एष उ ह्येव सर्वे देवाः' (बृहदारण्यक १।४।६ शतपथ १४।४।२।१२) 'यह जो कहते हैं कि–इस देवताकी पूजा करो, उस देवताकी पूजा करो, वे देवता उसी परमात्माकी सृष्टि हैं, वह परमात्मा ही सर्वदेवमय है' कितनी स्पष्टता है ? इससे सूचित किया जा रहा है कि–अलग-अलग देवताओंकी पूजा उसी एक महान् देवकी पूजा है। ३३ देवता आप लोग भी मानते हैं। इस विषयमें हम आपको बहुतसे वेद-प्रमाण दे सकते हैं, यह स्पष्ट बहुदेवतावादकी सिद्धि आपके मतमें भी हुई; 'स्थाली-पुलाक' न्यायसे 'परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः' इस न्यायसे थोड़ेमें ही समझ लें कि–बहुदेवतावाद तथा देवपूजा वेदसे ही प्रवर्तित है। इससे एकेश्वरवादमें कोई क्षति नहीं पड़ती, 'सर्वदेव-नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति' सब देवताओंको नमस्कार (देवपूजन) उसी भगवान्को पहुँचता है, क्योंकि-देवता अंग हैं, परमात्मा अंगी है। आपके किसी अंगकी पूजा आपके आत्माकी पूजा होगी। तभी महिम्नस्तोत्रमें कहा है–'रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेकोगम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव'। 'य एक इद्……इन्द्रं तं' (ऋ.६।२२।१) 'य एक इत् तमु ष्टुहि' (ऋ. ५।५१।१६) इत्यादि मन्त्रोंमें राजा इन्द्रको 'एक' शब्दसे अद्वितीय (लासानी) बताया है क्योंकि—उक्त मन्त्रोंमें 'इन्द्र' देवता है। 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' (ऋ. १०।१२१।१)में

ब्रह्माका वर्णन है। यहां 'एकः'का अर्थ 'मुख्य' है। बहुदेवपक्षमें भी इष्टदेव एक ही माना जाता है। उससे भिन्न देव की स्तुतिकेलिए 'मा चिद् अन्यद् विशंसत' (ऋ. ८।१।१) आदि द्वारा निषेध करके अनन्यनिष्ठता करनी पड़ती है; नहीं तो भक्ति व्यभिचारिणी हो जाती है, उसका फल नहीं हुआ करता।

अथवा देवताको भगवान्का अंग मान कर उस देवताकी स्तुतिसे भगवान्की स्तुति समझनेसे बहुदेवतावादमें भी एकेश्वरवाद-पक्षमें कोई हानि नहीं पड़ती। गीतामें यही पक्ष रखा गया है।

देवपूजा वेद स्वयं भी बताता है—'न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधिकामा अयंसत' (ऋ सं. १०।६४।२) अर्थात् देवताओं-जैसा सुखदायक कोई अन्य नहीं। इसलिए मेरी कामनाएँ देवताओंमें हैं। 'यजाम देवान् यदि शक्नवाम' (ऋ. १।२७।१३) यदि हम समर्थ हो सकें; तो हमें देवताओंकी पूजा अवश्य करनी चाहिए। 'अगायत अभ्यर्चाम देवान्' (ऋ. ६।६७।४) यहाँपर देवताओंका गान-कीर्तन एवं पूजन माना गया है। 'एष ह वा अनद्धापुरुषो यो न देवान् अवति (अर्चति) न पितॄन्, न मनुष्यान् (यजुर्वेद-शतपथब्रा. ६।३।१।२४, ऋग्वेदऐतरेय ब्रा. ७।२।८) यहाँ देवपूजन न करने वाले पुरुषकी निन्दा की गई है। 'देवान् वसिष्ठो अमृतान् ववन्दे' (ऋ. १०।१५।१५) यहां वेदने देवपूजनमें श्रीवसिष्ठजीका उदाहरण भी दिखला दिया। 'देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञपूजनं...शारीरं तप उच्यते' (१७।१४) इस भगवद्गीताके वचनमें विद्वानों (प्राज्ञों) से भिन्न देवताओंका पूजन भी बतलाया गया है।

आप लोग जो हवन करते हैं, वह भी बहुदेवपूजा तथा

मूर्तिपूजा हैं। देखिये—आप हवनमें बोलते हैं—'अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा, वायवे स्वाहा, आदित्याय स्वाहा, अग्नीवरुणाभ्यां स्वाहा, वरुणाय स्वाहा; यह कहकर इन देवताओंको पृथक्-पृथक् हवि देते हैं। यदि एक परमात्माको ही हवि देनी थी, तो सारे चरुकी आप एक ही आहुति अग्निमें डाल देते। अब बोलिये—आप यह हवि अग्निके द्वारा सब देवताओंको पृथक्-पृथक् दे रहे हैं, या परमात्माको ? यदि सब देवताओंको; तो यह बहुदेवपूजा आप भी कर रहे हैं, फिर आपने अनेक देवी-देवताओंकी पूजा खण्डित कहां की ? यह तो स्वयं की। यदि आप यह हवि अग्निमूर्तिके द्वारा परमात्माको देते हैं; तो आपने यह मूर्तिपूजा की; जड़-अग्निमूर्तिद्वारा परमात्माको हवि देना-रूप पूजा आपने की। जब आप भी इस प्रकार **बहु-देवपूजा** तथा मूर्तिपूजा करते हैं; और यज्ञ-हवनादि आपके अनुसार भी वैदिक हैं, 'यज्ञ' शब्द 'यज्' धातुसे बना है, तब आपका मूर्त्तिपूजा तथा बहुदेवपूजाका खण्डन करना वेदको न मानना ही है। आपने निराकार परमात्माके **निराकार ज्ञानको अक्षरोंकी साकार-मूर्त्ति** बना कर उसके चार मन्दिर बना कर उसमें **उस ज्ञान-मूर्त्तिको बन्द करके उन मन्दिरों वा मूर्त्तिकी** उपासना की; अतः आप स्पष्ट मूर्त्तिपूजक हुए। जब तक निराकार-अक्षरकी साकार मूर्त्ति बना कर आप उसकी उपासना करते रहेंगे; तब तक मूर्तिपूजा तथा बहुदेवता पूजासे आप छूट नहीं सकते।

बलिवैश्वदेवमें आप इन्द्रदेवताके नामसे घृतमिश्रित भात पूर्वमें रख देते हैं, और यम देवताके नामसे दक्षिणमें रखते हैं, वरुण देवता के नाम पश्चिममें भात रखते हैं, वनस्पतियों के नाम से भात ऊखल-मूसलको खिलाते हैं, ईशानमें देवी श्री (लक्ष्मी) को तथा नैंऋत्यमें देवी-भद्रकालीको आप भातका भोग लगाते

हैं। देखिये आप यहां पर हवि देकर देवी-देवताओंकी पूजा कर रहे हैं। अथवा यदि वनस्पति आदि आपके मतमें परमात्माके नाम हैं, तब उसके नामका भोजन ऊखल आदिको देकर भी आप मूर्त्तिपूजा कर रहे हैं। नामकरण-संस्कारमें आप तिथि तथा तिथिके देवता—ब्रह्मा, विष्णु, शिव, यम, विश्वेदेव तथा पितरोंको हवि देते हैं। नक्षत्रोंको तथा नक्षत्रोंके देवता रुद्र, बृहस्पति, पितृ, सविता, वायु, इन्द्र, विष्णु, वरुण पूषा आदि देवताओंको आप हवि देते हैं। ऐसी बहुदेवपूजा तथा मूर्तिपूजा करने वाला भी आर्यसमाज यदि अपने आपको बहुदेवपूजक तथा मूर्तिपूजक नहीं मानता; तब तो यह 'यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी तु मे पिता। माता तु मम वन्ध्यासीद् अपुत्रश्च पितामहः' इस व्याघातके उदाहरणका अनुसरण है। वैसे सनातनधर्मी-कार्यको करता हुआ भी वह डरके मारे अपने-आपको वैसा नहीं कहता कि-हमारा मण्डल कहीं अपमानित न हो जावे; क्योंकि-जिसका खण्डन किया; उसी को माना। इस विषयमें 'आलोक'का ४र्थ पुष्प देखिये।

(३) आगे वेदोंके पठन-पाठनमें आप स्वा. दयानन्दजी-द्वारा वेदादि पढ़नेका अधिकार स्त्री-शूद्रादि सबको बताते हैं; पर आपका खण्डन इसीसे हो जाता है कि—वेदको उपनीत ही पढ़ सकता है, अनुपनीत नहीं। देखिये अपनी संस्कारविधि (पृ. ७८) उसमें '**ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यका आपके ऋषिने उपनयन माना है, शूद्र-अन्त्यजादिका नहीं।** तब उपनयन भी द्विजोंका हुआ; उसके बाद 'वेदारम्भ' का क्रम है; वह वेदारम्भ भी तीनों उपनीत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंका हुआ। स्वामीजीने उपनयनमें 'बालक' शब्दका १६ वार प्रयोग किया है, 'कन्या' शब्दका एक वार भी नहीं। नहीं तो 'बालक' शब्द कहनेकी आवश्यकता नहीं थी। सो

लड़कीका तथा शूद्रान्त्यजादिका उपनयन न कहनेसे स्वामीजीके मतमें उपनयनाधिकार-विरहित स्त्री-शूद्रादिका वेदमे अधिकार भी खण्डित होगया। यदि स्वामी उनको कहीं अधिकार लिख भी गये हों, तो वहां परस्पर-विरुद्धता होनेसे वा वहां शिष्यों-द्वारा प्रक्षेप होनेसे माननीयता नहीं। इस विषयमें 'आलोक'का तृतीय पुष्प देखें। स्वा.द.के माने चारों वेद-प्राप्तिकर्ता ऋषियोंमें न तो कोई शूद्र था न स्त्री ही; अतः यह मत निर्मूल है।

(४) अछूतोद्धारपर आप दयानन्दजीका सबसे पहिले आवाज उठाना कहते हैं, इस पर यह याद रखें कि– स्वामीजी चाण्डाल आदि अन्त्यजोंको अस्पृश्य (अछूत) मानते थे, और चाण्डालका अर्थ भङ्गी करते थे। इस विषयमें स्वा. द. जीका मत इसी पुष्प के ४४८-४४९-४५० पृष्ठोंमें देखिये। कुछ यहां भी लिखते हैं। यों तो उनके उद्धरण अनेकों हैं; लेकिन हम कुछ देते हैं–

स. प्र. १० पृ. १६६ में तो स्वामीने शूद्रको इतना अशुद्ध माना है कि–उसका श्वास भी अन्नमें न पड़े; अतः उस शूद्रके मुखपर स्वामीने पट्टी बन्धवाई, पर स्वामीने यह नहीं सोचा कि–उनके हाथ तथा शरीरके सूक्ष्म छिद्रों वा रोम-कूपोंसे भी अशुद्ध-परमाणु निकल कर अन्नमें पड़ेंगे; तब हम आर्यों की रसोई शूद्रसे कैसे बनवाते हैं ? और अपने इस वाक्यसे स्वामीने शूद्रको 'आर्य'से भिन्न भी सिद्ध कर दिया। देखिये–'आर्योंके घरमें शूद्र जब रसोई बनाएँ' (स.प्र. १० पृ. १६६)। इस प्रकार स्वा॰द॰जीने स्पृश्य भी शूद्रकी अस्पृश्यता बता दी; बल्कि इससे भी अधिक शूद्रके घरके पात्र तथा पके अन्नको भी आर्योंकेलिए निषिद्ध ठहरा दिया' (स॰प्र॰ पृ. १६६) यह है स्वा॰द॰जीका 'अछूतोद्धार'। शूद्रको कमण्डलू देना वेदानुसार निषिद्ध करके (स्त्रैण-ताद्धित (२५ पृ॰में) 'अछूतोद्धार' को चार चान्द लगा

दिये हैं। स॰प्र॰ (पृ॰ १७७में ११ समु॰) चाण्डाली, चमंकारी आदियोंको शास्त्रानुसार अछूत माना है। यह है स्वामीका 'अछूतोद्धार'!!!

अब अपने ऋषिजीका वेदभाष्य भी देख लें–'पौल्कसम्–भर्त्सनाय प्रवृत्तं पुक्कसस्य– अन्त्यजस्य अपत्यं परासुव' हे राजन्! धमकानेकेलिए प्रवृत्तहुए भंगीके पुत्रको पृथक् कीजिये' (यजु. ३०। १७)। आर्यसमाजी विद्वान् श्रीशिवशङ्कर-काव्यतीर्थने भी अपने 'जातिनिर्णय'के ८१ पृष्ठमें 'पौल्कसम्'का अर्थ 'भंगीका पुत्र' किया है; तब 'वेदादि प्राचीन-साहित्यमें भंगीका वर्णन नहीं है' यह कहनेवाले आजकलके कई आर्यसमाजी-सुधारकोंका भी खण्डन होगया। ३०। ७ मन्त्रके भावार्थमें स्वामीने लिखा है– 'हिंसक तथा कुत्तेके पालनेवाले चाण्डालादिको दूर बसावें' यहां भंगियोंका शहरसे बाहर निवास आदिष्ट किया है। यह है छुतछातकी सबसे पहिले आपके "ऋषि दयानन्द"जीकी आवाज'; और अछूतोद्धार !!! पर आर्यसमाजने छुवाछूत हटाना ईसाइयों वा मुसलमानोंसे सीखा। अतः स्पष्ट है कि आप वेदोंको भी नहीं मानते।

(५) अब 'आर्यसमाजके काम' 'विधवाविवाह' पर भी अपने 'ऋषि' दयानन्दजीकी सम्मति सुनें– 'इति वेदमन्त्रे स्त्रीपुरुषौ प्रति प्रश्नेन द्विवचनोच्चारणेन च...... एकस्या एक एव पुरुषः पतिः कर्तुं योग्योस्ति' (ऋ॰ भा॰ भू॰ पृ॰ २२२) यहां स्वामीजीने विधवा-विवाहसे स्त्रीका दूसरा पति निषिद्ध कर दिया है। इसकी स्पष्टता आगे देखिये–'नैव द्विजेषु पुनर्विवाहो विधीयते, पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्णे एव विधीयते; तस्य विद्याव्यवहार-रहितत्वात्' (पृ. २२२) यहां स्वामीजी विधवाके पुनर्विवाहको द्विजोंमें न मानकर शूद्रमें मानते हैं। तब आर्यसमाजका काम

विधवा-विवाह भी 'शूद्रसमाजका काम' सिद्ध हुआ। 'तथा अनेकैः पुरुषैः सह एकस्याः स्त्रियाश्च पुनर्विवाह निषेधः, सर्वेषु वेद-मन्त्रेषु एकवचनस्यैव निर्देशात्' (ऋ. भा. भू. पृ. २३०) यहां एक स्त्रीका एक ही विवाह मानकर उसका सधवात्व वा विधवात्वमें पुनर्विवाहका स्वामीने सर्वथा निषेध कर दिया है; और उस निषेधको वेदानुसारी बताया है। अन्य भी अपने ऋषिका एक वाक्य देखिये—'द्विजोंमें स्त्री और पुरुषका एक ही बार विवाह होना वेदादि-शास्त्रोंमें लिखा है, द्वितीय बार नहीं' (स०प्र० ४ पृ० ७१) इससे विधवा-विवाह स्वामीजीके मतमें वेद-विरुद्ध तथा शूद्रका धर्म सिद्ध हुआ। हां, वे नियोगको वैदिक मानते हैं, पर आर्यसमाजने नियोग न कर-कराके बकौल स्वामीजीके शब्दोंमें वेदादिशास्त्रविरुद्ध—विधवाविवाह अपनाया, सो यह उसने ईसाइयों और मुसलमानोंसे सीखा। अतः स्पष्ट है कि आप वेदोंको नहीं मानते। यही आपकी 'सत्यकी खोज' है।

(परिशिष्ट) (क) शेष स्त्री-शिक्षा आदिमें यह जानें कि सनातनधर्म स्त्रियोंका वेदमें निषेध वेदके संकेतानुसार अवश्य करता है; अन्य विषयमें नहीं। स्त्री-शिक्षाका वह कभी निषेध नहीं करता। हां, वह शिक्षा माता-पिता आदि दें, वा विश्वस्त-स्त्रियां। (ख) शुद्धि यदि शास्त्रीय है; तो सनातनधर्मका कोई विरोध नहीं। बलात् जो विधर्मी बनाये गये हैं, उनकी शुद्धि शास्त्रानुसार हो सकती है, छटांकभर डालडा-घृतसे वैदिक-होम द्वारा 'शुद्धि' शुद्धिका उपहास है। कामपूर्वकतामें शुद्धिका तारतम्य होता है। मैले-कपड़ेकी शुद्धि सब करते हैं; पर जो 'हलवाईकी टोपी' हो; या जन्मसे ही काला हो—उसने सुफेद क्या होना है? इस विषयमें हमारे पास अधिक लिखनेके लिए स्थान नहीं; इसे अन्य पुष्पमें लिखा जाएगा। (ख) शेष गोवध-बन्दी पर स्वा. द. जी की मुहर

लगाना व्यर्थ है, सनातन-धर्मके वेद-पुराण आदि गो-महिमासे भरे पड़े हैं। वे पुराणादि स्वा० द० जीके बाद तो बनाये नहीं गये। तब इस विषयकी सबसे पूर्व शिक्षा जगद्गुरु-सनातन-धर्मने ही दी है तब इससे स्वा० द० जीका आपसे बताया हुआ महत्त्व 'अपने मुंह मियां मिट्ठू' बनना है।

(घ) यह कहना भी व्यर्थ है कि 'भाई! आर्यसमाजी बड़े तार्किक होते हैं, उनकी बातोंका उत्तर देना कठिन है। इससे एक बात तो आपने भी सिद्ध कर दी कि—उनके पास 'प्रमाणोंका बल' सर्वथा नहीं है। शेष रही उनकी तार्किकता, हमारे शास्त्र केवल-तार्किकको नास्तिक कहते हैं। देखिये मनुजीकी उक्ति—'योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्(तर्काद्)द्विजः। स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः' (२।११) कदाचित् हैतुकतामें सम्मति होनेसे स्वा० द० जी ने मनुके इस पद्यके 'हेतु-शास्त्राश्रयात्' का अर्थ ही सं० प्र० के दो स्थलों पर नहीं किया, इसलिए 'हैतुक' (तार्किक) का वाणी-मात्रसे भी सत्कार न करना 'हैतुकान् (तार्किकान्)...वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्' (४।३०) मनुस्मृतिमें कहा है। वादिप्रतिवादिमान्य सुश्रुतसंहितामें भी कहा है-'तस्मात् तिष्ठेत् मतिमान् आगमेषु, न तु हेतुषु (तर्केषु), (सूत्र० ४०।२१) और फिर इन तर्कोंके प्रतिनिधि स्वा० द० जीके चूहेको—जिसमें कुतरने (खण्डन करने)की आदत है, सनातनधर्मके देवता गणेशजीने अपने नीचे दबा रखा है—सनातन-धर्मने उन तर्कोंका उत्तर दे रखा है।

(ङ) 'हिन्दु' शब्द भी वैदेशिक नहीं। वेदमें हमारे देशका नाम 'सिन्धु' आया है; उसीका हिन्द और हिन्दु बना है; 'स' को 'ह' का उच्चारण केवल विदेशी नहीं किन्तु देशी भी है, एतदर्थ आप 'श्रीसनातन-धर्मालोक' ग्रंथमाला (चतुर्थ पुष्प) मंगाकर

अपना सन्देह निवृत्त कर सकते हैं। यदि वेदके ही सभी शब्द व्यवहरणीय हैं, वेदसे भिन्न नहीं; तो 'आर्यसमाज, दयानन्द, गुरुकुल, आर्यावर्त, संन्यासी, परमेश्वर, सत्यार्थ-प्रकाश आदि आपनेसे स्वीकृत शब्दोंका भी आर्यसमाज बहिष्कार करे—क्योंकि यह शब्द आपके माने वेदमें नहीं।

शेष है 'आर्य' शब्द, सो 'उत शूद्रे उत आर्ये' (अ० १९।६२।१) इत्यादि बहुत वेद-मन्त्रोंके अनुसार शूद्र-अन्त्यजादि हमसे अलग हो जायेंगे, इसलिए अपनी प्रमुख-जातिका नाम 'आर्य' रखना राजनीतिक-हानिजनक है। 'आर्यावर्त' नाम भी सारे भारतवर्ष-का नहीं; किन्तु 'ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेशसे अतिरिक्त भारतवर्षके एक भागका नाम है। सारे भारतका नाम वेदानुसार 'सिन्धु' है।

'आर्यावर्त' शब्द वेदमें कहीं नहीं आता, किन्तु 'सिन्धु' आता है। देशके नामके अनुसार जातिका नाम हुआ करता है, सो इस 'सिन्धु' देशकी जातिका नाम भी 'सिन्धु' फिर 'हिन्दु' हुआ; वह अपने देशका शब्द है। इस विषयमें 'आलोक'का ४र्थ पुष्प देखिये। 'हिन्दु' शब्दके विरोधी भी आप लोगोंने अन्त्यजोंका नाम श्रीगान्धीजीके कहनेसे 'हरिजन' बिना ननु-नचके स्वीकार कर लिया, क्या इसमें वैदिकता है ?

(घ) सनातनधर्मने वेदके ही संकेतको देख कर द्विजोंसे भिन्न एकज शूद्र-अन्त्यजादिका उनके अनधिकारवश निषेध अवश्य किया है; पर द्विजोंका वेदमें निषेध कहीं नहीं किया; तब आपका 'ब्राह्मणोंने खुद तो वेदों वा सत्शास्त्रोंका पठन-पाठन छोड़ ही दिया, दूसरोंको भी वेदोंके पढ़नेका निषेध कर दिया, ताकि भोलीं जनता इन्हीके चंगुल में फँसी रहे, और इन-

के निरक्षरभट्टाचार्य होने पर भी इनको मानती-पूजती रहे" (पृ. ३) ब्राह्मणों पर यह दोष लगाना— आपके ब्राह्मणद्वेषको व्यक्त कर रहा है। ऐसी गालियां देना आपने-ऋषिजीके स. प्र.से सीखा है। एतदर्थ हम आपको केवल साधुवाद ही देते हैं। आप-के शब्दोंमें हमारा 'चौकीदार' हमें यदि गाली निकालता है, तो हमें सहन करना ही पड़ेगा।

इस प्रकार हमने संक्षेपसे आप (प्रतिपक्षी)को आवश्यक बातें बता दी हैं। कई बातें निस्सार समझकर उन्हें उपेक्षित कर दिया गया है। आप पहले अपनी बुद्धिकी 'शुद्धि' कर लें, तब तो आप 'सत्यकी खोज' भी कदाचित् कर सकें, वरना इन क्षुद्रपुस्तकों-(ट्रैक्टों)के वितरणसे तो आप लोग असत्यपर 'सत्यकी खोजका मुलम्मा' चढ़ा रहे हैं। आपका वेदविरुद्ध-सिद्धान्तोंको मानना देख कर यह प्रश्न उठता है कि-'क्या आर्यसमाज वेदोंको मानता है' ? हमारे विचारमें तो प्रतिपक्षी अपना वेदोंका न मानना ही सिद्ध कर रहा है; अतः उससे अनुरोध है कि—वह (प्रतिपक्षी) असत्य-पथको छोड़कर सत्य-सनातनधर्मका ग्रहण करे। उसके खण्डनार्थ 'सत्यकी खोज' आदि कृत्रिम-सत्य वस्तुतः असत्यके प्रोत्साहक ट्रैक्ट बांट कर असत्यवादको प्रोत्साहन न दे॥"

अब तक 'आलोक'के इस सप्तम-पुष्पमें सनातनधर्मके बहुत-से सिद्धांतों पर प्रकाश डाला जा चुका है। यहां तक प्रायः पुराण-चर्चा ही रही है, अब 'ऐतिहासिक-चर्चा' प्रारम्भ की जाती है। उसमें पहले 'पराशरमत्स्यगन्धासमागम'पर विचार होगा; फिर 'श्रीसीतारामकी विवाहावस्था पर विचार' और 'द्रौपदीका एक पति वा पांच ?' यह तीन विषय रहेंगे। इसके बाद 'वेदचर्चा' में 'वेदस्वरूपनिरूपण (ग)' और 'वेदसंज्ञाविमर्श' यह दो

निबन्ध होंगे। अन्तमें परिशिष्ट होगा; जिसमें पौराणिक प्रत्यक्ष-घटनाओंका निर्देश होगा। तब यह सप्तम-पुष्प पूर्ण होजायगा।

संशोधन वा परिवर्धन—। पृ०२५ पं० ८ पर मुसलमानोंमें धर्म। ३२-४ उड़ाकर। ४०-२२ पिताको। १०३-६ (अ० ३।२३।४)। १४३-४ दशा। पं० १७-१५। १५३-७ नरसिंह। १६१-५, ६ (४।११।४३,४८)। पं० २५ (४।१२।६)। २२३-१० वेद भी। २२६-१० 'लिङ्ग, शिवके निर्गुण-निराकार (ब्रह्म) स्वरूपका प्रतीक है, इस कारण उसमें अङ्गका कोई चिन्ह नहीं, सफ़ियाना ब्रह्माण्ड-स्वरूप मूर्ति है। पर शिवकी अंगों वाली पूरी मूर्ति (बेर) उनके सगुण-साकार रूपकी प्रतीक है। अन्य देवोंकी मूर्तियां उनके साकार-रूपकी प्रतीक हैं, उनके निराकाररूप (ब्रह्म)की प्रतीक मूर्ति नहीं हुआ करती; अतः उनकी पूजा भी लिङ्गरूप सफ़ियाना मूर्तिमें नहीं होती, किन्तु अङ्गोंवालीमें हुआ करती है। यह है महादेव-शिवकी लिंग-मूर्तिका रहस्य, जिसका ज्ञान न होनेसे प्रतिपक्षी कुत्सित शङ्काएं किया करते हैं। २२८-११ 'क्या प्रतिपक्षीके अनुसार वहां स्त्रियां ठहरी थीं कि—उन्होंने अपना शिश्न निकाल लिया ? जब यहां ऐसा नहीं, तब दारु-वनमें जहां स्त्रियां ठहरी थीं, वहां भी शिश्न हाथमें नहीं था, किन्तु संक्षिप्त मूर्तिविशेष (लिङ्ग) हाथमें थी। २३६-१६ सुना जाता है कि नेपाल राजघरानेमें मृतक-कर्ममें मृतककी शीर्षास्थिको दूधमें पीसकर विशेष-ब्राह्मणको—जो उसे पीना स्वीकृत कर लेता है, पिलाते हैं। उसके फल-स्वरूप उस ब्राह्मणको पहले तो एक लाख रुपये दिये जाते थे; पर अब दस हज़ार रुपया दिया जाता है। वह दूसरेके उपकारके लिए उक्त-विधिको पूर्ण करता है। इस अशुद्ध-कर्मके सेवनसे उसे जाति-बिरादरी-से बहिष्कृत कर दिया जाता है। तब वह उसी रुपयेसे अपना निर्वाह करता है, फिर उसे किसी भी शुद्ध-कर्मकाण्डमें नहीं बुलाया जाता।

इतिहास चर्चा।

११ श्रीपराशर-मत्स्यगन्धासमागम।

श्रीपराशर-ऋषिका मत्स्यगन्धासे समागम इस युगमें शङ्कित दृष्टिसे देखा जाता है, उस पर उत्तर पूछा जाता है, और कहा जाता है कि "इस पर 'समरथको नहिं दोष गुसाईं' यह उत्तर न दिया जाय"। इस विषय पर विचार प्रकाशित किया जाता है। यह बात अवश्य स्मरण रखनेकी है कि जो विषय जहां-से उद्धृत किया जाय, उसका वह पहला अंश यदि प्रामाणिक

पुराणमें भी उस विधिको निन्दित करके निषिद्ध कर दिया गया है।

२८४-२० उसका करना। २५७-२, ३ = ३७, ३८। २७१-२० इस पर देखो अष्टम-पुष्प (२५५-२५६ पृ०)। २७८-६ सहस्रभगताका। २१६-१०, २८०-६ ४६८-२५, 'विकारहेतावपि' (कुमार० १।५६)। शिवमहापु० पार्वतीखण्डमें भी 'इदमेव महद् धैर्यं धीराणां सुतपस्विनाम्। विघ्नवन्त्यपि संप्राप्य यद् विघ्नैर्न विहन्यते'। २८७-२, २६२-३ महाकवि-कालिदासने भी कुमार-सम्भवमें ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी एकता बताते हुए इनका औपचारिकतासे परस्पर छोटा-बड़ापन भी बताया है: 'एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा, सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम्। विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्, वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ' (७।४४) ब्रह्मा, विष्णु, महेश एक ही मूर्तिके तीन रूप हैं। ये आपसमें एक-दूसरेसे छोटे-बड़े होते रहते हैं। कभी शिवजी विष्णुसे, कभी ब्रह्मा इन दोनोंसे, और कभी यह दोनों ब्रह्मासे बड़े हो जाते हैं'। यह बात समझ लेनेसे फिर पुराणमें एतद्विषयक शङ्का परिहृत हो जाती है। यही शिव-पुराण-वायवीय-संहितामें भी कहा है—'ब्रह्मणोपि शिरश्छेत्ता जनकस्तस्य तत्सुतः' (८१।१२१) जनकस्तनयश्चापि विष्णोरपि नियामकः (३१।१२२)। (शेष परिवर्धन आगे दिये जाएंगे)

मानकर आक्षिप्त किया जाय; और उसका उसीमें स्थित दूसरा अंश यदि प्रामाणिक न माना जाय, तो अर्धजरतीय-न्याय उपस्थित हो जाता है, अन्यथा तो उसका पूर्वांश भी असिद्ध माना जा सकता है। फिर उसे उपक्षिप्त करके उस पर प्रश्न करनेका अधिकार प्रतिपक्षीका नहीं रह जाता।

जिस पुस्तकने पराशर-मत्स्यगन्धाका समागम दिखलाया है, उसीने उसमें **घटनावैचित्र्य** भी दिखलाया है, तब वह बात उत्सर्ग वा सामान्यकोटिकी नहीं रह जाती, वह **अपवादकोटि**की एवं विशिष्ट हो जाती है। तब उस पर शङ्काहष्टि व्यर्थ हो जाती है, क्योंकि उत्सर्गदृष्टिसे उसे देखने पर ही वह घटना शङ्कास्थली बनती है, पर अपवाददृष्टिसे यदि उसे परखा जाय, तो फिर वहां शङ्काकी आवश्यकता हो नहीं रह जाती। उत्सर्गका अपवाद कभी न हो, ऐसा तो अनुभवविरुद्ध है, पर उस अपवादसे उत्सर्ग (सामान्य-शास्त्र) की निवृत्ति वा बाध भी नहीं हो जाता।

'योगदर्शन'के व्यासभाष्यमें लिखा है-'न चोत्सर्गस्य अपवादान्निवृत्तिः' (साधनपाद १३)। महाभाष्यकारने भी लिखा है—'नैव ईश्वर आज्ञापयति, नापि च धर्मसूत्रकाराः पठन्ति अपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्ताम्' (मिदचोन्त्यात्-सूत्रमें)। ३।२।१२४ सूत्रमें 'महाभाष्य'में यह परिभाषा भी कही है—'प्रकल्प्य च अपवादविषयं ततः उत्सर्गोभिनिविशते'। इस प्रकार जैसे अपवादको परिकल्पित करके उससे अबाधित उत्सर्ग (सामान्य-नियम) ही अन्यत्र सर्वत्र रह जाता है, वैसे ही अपवाद भी अपने अंश में बलवान् रहनेसे उत्सर्गसे बाधित नहीं होता, इसीलिए कहा है-'नापवादविषयमुत्सर्गोभिनिविशते'। जब ऐसा है, तब उत्सर्गकी दृष्टिसे **अपवाद पर शङ्का की ही कैसे जा सकती है? अपवाद**

कादाचित्क तथा क्वाचित्क या ऐकदेशिक हुआ करता है, उत्सर्गकी भांति सार्वदिक तथा सार्वत्रिक या सार्वदेशिक नहीं होता। तब श्रीपराशरऋषिका मत्स्यगन्धासे कौमार्यमें समागम भी अपवादकोटिमें आता है, उत्सर्गकोटिमें नहीं। उनके विशेष-शक्तिशाली होनेसे उनका समागम भी साधारण-समागमकी कोटिमें नहीं आता। तब उस साधारण-समागमकी कोटिकी दृष्टिसे जो उस विशेष-समागममें दोष आसञ्जित किया जाता है, वह भी नहीं रहता, इसी बातको प्रकट करनेके लिए वहां 'समरथ को नहिं दोष गोसाइँ' यह भी कहना पड़ता है। हां, असमर्थकेलिए वही व्यवहार अवश्य दोष बन जाता है। अस्तु, इस निबन्धमें लौकिक और अलौकिक दोनों दृष्टियोंसे इस घटना पर विचार प्रदर्शित किया जा रहा है।

पहले 'समरथ को नहि दोष गोसाइँ' इस दृष्टिकोणको न अपनाकर लौकिक-दृष्टिकोणसे इस पर विचार किया जाता है। इसमें पूर्वपक्षियोंका यह अभिप्राय है-"मत्स्यगन्धा मल्लाहकी लड़की थी और कुमारी (क्वांरी) थी, उससे श्रीपराशरमुनिका संयोग व्यभिचार ठहरता है।" इस पर हम कहते हैं कि-यहां पर केवल मानुषी-दृष्टि अपना निर्णय नहीं दे सकती। इसमें शास्त्रीय-दृष्टि भी रखनी पड़ती है। देखिये—किसी लड़कीसे कोई मैथुन कर ले, यह व्यभिचार माना जाता है, पर यदि उसी लड़कीको वैवाहिक-मन्त्रसंस्कारसे अपनी धर्मपत्नी बनाकर उससे वह पुरुष मैथुन करे, तो केवल लौकिक-दृष्टिसे तो वही पहले-जैसा व्यवहार भी व्यभिचार कहा जा सकता है, पर शास्त्रीय-दृष्टिमें वह व्यभिचार न कहा जाकर धर्म्य-व्यवहार माना जाता है। जनसाधारण भी शास्त्रश्रद्धालु होनेसे इसे व्यभिचार नहीं मानते। इसीलिए सभी शास्त्राज्ञानुसार विवाह करके

फिर किसी लड़कीसे मैथुन-प्रसक्त होते हैं और अपने-आपको पापी नहीं मानते।

अब देखना चाहिए कि वह लड़की विवाह हो जाने पर भी वैसीकी वैसी ही रहती है, उसका कायाकल्प नहीं हो जाता, स्वरूपमें कोई तबदीलो भी नहीं हो जाती, पर विवाहसे पहले उससे मैथुन-व्यवहार व्यभिचार और अननुकरणीय हो जाता है, और विवाहके बाद वही व्यवहार अव्यभिचार तथा उसके अधिकारियोंके लिए अनुकरणीय हो जाता है। यह क्यों ? दोनों स्थलोंमें समान भी व्यवहार एक स्थलमें अन्याय्य और दूसरे स्थलमें न्याय्य होता है, यह क्यों ? इस पर मानना पड़ेगा कि शास्त्रानुमोदित-व्यवहार धर्म, अतः न्याय्य एवं अनुकरणीय होता है; और शास्त्रनिषिद्ध-व्यवहार अधर्म, अतः अन्याय्य एवं त्याज्य हो जाता है। **इससे इन विषयोंमें केवल लोक नहीं, किन्तु शास्त्र ही बलवान् सिद्ध हुआ।** शास्त्र जिस बातको बतलाये, वह बात ठीक, जिस उसी सदृश भी बातको निषिद्ध करे, वह नाठीक; यह निष्कर्ष हुआ। गृहस्थाश्रमका स्वीकार करनेवाले किसी ब्रह्मचारीने किसी कुमारोसे विवाह करके उससे सन्तानार्थ मैथुन किया, यह तो अदुष्ट हुआ, पर एक संन्यासी यदि किसी लड़कीसे वेदमन्त्रोंसे विवाह करके उससे मैथुनमें प्रसक्त होता है, तो यह लोकदृष्टिमें पूर्व-जैसा व्यवहार होने पर भी दुष्ट ही माना जाता है। यह क्यों ? शास्त्रानुसार उसने विवाह तो कर लिया, फिर दोष क्यों ? केवल इसीलिए कि शास्त्रने उच्च-आश्रमवाले-को अपनेसे-निम्न आश्रम ग्रहण करनेका अधिकार निषिद्ध कर दिया है। उसे 'वान्ताशी' (उगले हुएको खानेवाला) माना है, तब उसका वही व्यवहार भी दुष्ट हुआ। इससे कर्तव्याकर्तव्यमें शास्त्रकी ही अन्यानपेक्ष-स्वतःप्रमाणता सिद्ध हुई। 'तस्मात्

शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' (भगवद्गीता १६।२४) कहकर भगवान्ने भी इसीका समर्थन किया है।

जब इस प्रकार शास्त्र परमप्रमाण है, शास्त्रीय-व्यवहार स्वतःप्रमाण है, तब यदि श्रीपराशर-द्वारा मत्स्यगन्धाके समागममें शास्त्रका अनुग्रह प्राप्त हो जाय, तो स्पष्ट है कि वह भी लौकिक-दृष्टिमें व्यभिचार नहीं कहा जायगा। पाठकोंने गान्धर्व-विवाहका नाम सुना होगा। उसको सभी न्याय्य (जायज) मानते हैं, बल्कि आजकलके सुधारक तो इसका प्रचार हो जानेके लिए बहुत संरम्भशील हैं। जो सनातनधर्मी इसमें रोड़े अटकाते हुए उन्हें दीखते हैं, उन्हें जलीकटी भी सुनाई जाती है। अस्तु।

गान्धर्वविवाहका लक्षण मनुने इस प्रकार किया है— 'इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च। गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः' (३।३२)। इस पर श्रीकुल्लूकभट्टने लिखा है—'कन्याया वरस्य च अन्योन्यानुरागेण यः परस्पर-संयोग आलिङ्गनादिरूपः, स गान्धर्वो ज्ञातव्यः। यस्मात् कन्या-वरयोरभिलाषात् (कामाद्) असौ सम्भवति [अतः कामसम्भवः]। अतएव मैथुन्यः मैथुनाय हितः। सर्वविवाहानामेव मैथुन्यत्वे यद् अस्य मैथुन्यत्वेन अभिधानम्, तत् सत्यपि मैथुने न विरोधः (दोषः) इति प्रदर्शनार्थम्।' अर्थात् वरण करनेवाले पुरुष और कन्याका एक दूसरेकी इच्छासे संयोग वा काम वा मैथुन हो, वह गान्धर्वविवाह हुआ करता है। मैथुन तो सभी विवाहोंमें हुआ करता है, पर विवाहसे पीछे होता है, पर यहां तो आरम्भमें ही एक-दूसरेकी इच्छासे मैथुन भी हो जा सकता है। उसके बाद लोक-दृष्टिमें स्वीकृतिरूप विवाह होता है—यहां पर देवलने कहा है—'गान्धर्वेषु विवाहेषु पुनर्वैवाहिको विधिः। कर्तव्यश्च

त्रिभिर्वर्णैः समयेनाग्निसाक्षिकः (मन्वर्थ-मुक्तावली ८।२२६) इसीका नाम गान्धर्व-विवाह होता है।

इसीके फलस्वरूप दुष्यन्तका शकुन्तलासे संयोग हुआ। 'महाभारत'में देखिये। प्रतिपक्षी भी इसे व्यभिचार वा दुष्ट न मानकर इसे गान्धर्व-विवाह ही मानते हैं। दुष्यन्तने शकुन्तलासे मिलने पर कहा था—'गान्धर्वराक्षसौ क्षत्रे धर्म्यौ तौ मा विशङ्क्थाः।' (१।७३।१३) 'सा त्वं मम सकामस्य सकामा वरवर्णिनी। गान्धर्वेण विवाहेन भार्या भवितुमर्हसि' (१४) इसमें सकाम-पुरुषका सकामा-स्त्रीके साथ व्यवहार गान्धर्वविवाह होता है—यह बतलाया गया है। इसमें अधार्मिकता वा दुष्टता भी नहीं मानी जाती। श्रीकण्व-मुनिने, जो महान् तपस्वी थे, इस व्यवहारसे लज्जित हो रही हुई शकुन्तलाको इसकी अदुष्टता बतलाते हुए इसका लक्षण तथा धर्म्यता बतलाई। वह प्रकरण इस प्रकार है—

'मुहूर्तयाते तस्मिंस्तु कण्वोऽप्याश्रममागमत्। शकुन्तला च पितरं ह्रिया नापजगाम तम्' (१।७३।२४)। स विज्ञायाथ तां कण्वो दिव्यज्ञानो महातपाः। उवाच भगवान् प्रीतः पश्यन् दिव्येन चक्षुषा' (२५)। (लज्जित हो रही हुई शकुन्तलाको श्रीकण्वने कहा।) यहां कण्वके विशेषण 'दिव्यज्ञानः, महातपाः, भगवान्' ये दिये गये हैं, अतः उनकी कही बात भी शास्त्रविरुद्ध वा उपेक्षणीय सिद्ध न हुई। वे कहते हैं—'त्वयाऽद्य भद्रे ! रहसि मामनादृत्य यः कृतः। पुंसा सह समायोगो न स धर्मोपघातकः' (१७३।२६) 'हे शकुन्तला ! मेरी सम्मतिके विना जो तेरा एकान्तमें पुरुषसे संयोग हुआ है, वह अधर्म नहीं है।' यह कहकर उसे गान्धर्वविवाह बतलाते हुए उसका लक्षण बतलाते हैं—'क्षत्रियस्य हि गान्धर्वो विवाहः श्रेष्ठ उच्यते। सकामायाः सका-

मेन निर्मन्त्रो रहसि स्मृतः' (१।७३।२७) यहां पर विना भी वेद-मन्त्रके संस्कारसे सकामा स्त्रीके सकाम-पुरुषसे एकान्तमें हुए समागमको गान्धर्वविवाह और उसे क्षत्रियके लिए श्रेष्ठ बतलाया है।

जब इस प्रकार शकुन्तला और दुष्यन्तके अमन्त्रक-संयोगमें भी कोई प्रतिपक्षी उसे व्यभिचार न मानकर एक विवाहविशेष और उसे न्याय्य ही मानता है, तब पराशरमत्स्यगन्धाके संयोगमें भी गान्धर्वविवाह के पूर्वके एकदेशका अवलम्बन होनेसे उसी न्यायसे व्यभिचार वा अन्याय्यता नहीं रह जाती। तब उस पर आक्षेप व्यर्थ ही सिद्ध हो जाता है। अब केवल इसमें एक प्रश्न रह जाता है कि गान्धर्व-विवाह तो क्षत्रियोंमें ही न्याय्य माना जाता है, पर इन दोनों-श्रीपराशर तथा मत्स्यगन्धामें एक भी क्षत्रिय नहीं था, जिससे यहां गान्धर्वविवाह न्याय्य हो जाय। श्रीपराशर ब्राह्मण थे, और मत्स्यगन्धा थी दाश (मल्लाह) की लड़की, तब यहां उक्त-समाधान कैसे सङ्गत हो सकता है ? इस पर हम यह बतलाते हैं कि दोनोंमें एक तो क्षत्रिय अवश्य था, अतः वादी प्रत्युक्त हो जाता है अर्थात् मत्स्यगन्धा क्षत्रियकुमारी थी।

इस पर कहा जाता है कि सर्वत्र पुस्तकोंमें उसे धीवरकन्या वा दाशसुता कहा गया है, जैसे कि 'महाभारत'में स्वयं ही वह कहती है—'उक्तं जन्मकुलं मह्यमस्मि दाशसुतेत्यहम्' (१।१०५।६) 'जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः' (भविष्यपुराण ४२।२२) यहां पर उसे 'कैवर्ती' कैवर्त (धीवर)की लड़की कहा है, तब वह क्षत्रिया कैसे हो सकती है ?' जब प्रकरण यहां आया है, तब यहां उसका क्षत्रियात्व बतलाना भी अनिवार्य हो जाता है, अतः हम यहां इस विषयमें भी कुछ लिख देते हैं। 'आलोक'-पाठकगण देखें।—

वस्तुतः मत्स्यगन्धाको जो कैवर्ती कहा जाता है, वह लोक-प्रसिद्धिके कारण है, उसमें वास्तविकता नहीं है। साधारण-जनोंमें जो प्रसिद्धि होती है, यद्यपि 'नह्यमूला जनश्रुतिः' इस न्यायसे उसका कुछ मूल अवश्य होता है, तथापि उसमें सर्वांशमें सत्यता हो-यह अनिवार्य नहीं होता। श्रीसीताके विषयमें भी तो रावण-के घरमें निवासमात्रसे व्यभिचारिणीत्व प्राकृतजनोंके समाजमें प्रचलित हो गया था। वस्तुतः कुन्तीपुत्र एवं क्षत्रिय होते हुए भी कर्णका सूतपुत्रत्व प्रसिद्ध हो गया था। इसीलिए कवियोंने कहा है-'जनानने कः करमर्पयिष्यति''। 'नैषधीयचरित'में कहा है-'धियात्मनस्तावदचारु नाचरं, परस्तु यद्वेद स तद् वदिष्यति। जनावनायोद्यमिनं जनार्दनं, क्षये जगज्जीवपिबं वदन् शिवम्' (९।१२४) अर्थात् मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार तो अयुक्त व्यवहार नहीं किया, परन्तु लोग तो जो समझेंगे, वही मुंहसे कह डालेंगे। देखो- जन-रक्षक विष्णुको तो 'जनार्दन' (जनपीडक) कहते हैं, और प्रलयमें जगत्के जीवनको समाप्त करने वाले रुद्रको 'शिव' कहते हैं। अन्य भी प्रसिद्ध है-'करः खलु निवार्यते प्रहरतो न वक्तुर्मुखम्' (चोट कर रहे हुएका हाथ तो हटाया जा सकता है, पर कह रहे हुएका मुख कैसे पकड़ा जाय ?

फलतः मत्स्यगन्धा कैवर्तसे पाली गई थी, वह उसकी नौका चलाकर यात्रियोंको यमुना-पार कर दिया करती थी, इसलिए वह कैवर्ती, दाशकन्या प्रसिद्ध हो गई थी। वस्तुतः वह कैवर्तके वीर्यसे उत्पन्न नहीं हुई थी; अपितु राजा उपरिचर-वसु-नामक क्षत्रियके वीर्यसे उत्पन्न हुई थी, जिसका संकेत स्वयं उस दाशने ही देवव्रत (भीष्म) के प्रति किया था कि 'अपत्यं चैतदार्यस्य यो युष्माकं समो गुणैः। यस्य शुक्रात् सत्यवती सम्भूता वरवर्णिनी' (१।१००।७९) यहां पर 'आर्य' शब्दसे प्रकृत क्षत्रिय-

उपरिचर-वसु ही इष्ट है। दाश वर्णत्रयातिरिक्त होनेसे 'आर्य'-शब्दवाच्य नहीं होता। यह कथा 'महाभारत'के आदि-पर्वमें द्रष्टव्य है। शिकार खेलनेकेलिए गये हुए उपरिचर-राजा वसन्तऋतुके प्रभावसे कामार्त हो गये, इससे उनका शुक्रपात हो गया। उन्होंने उस शुक्र को अमोघ जानकर श्येन * (बाज) के द्वारा ऋतुस्नाता अपनी पत्नीके पास दोनेंमें भेजा, पर दूसरे श्येनने उसे मांस समझकर उस पर झपट्टा मारा, वह अमोघ-वीर्य वहांसे गिर कर नीचे स्थित नदीमें जा पड़ा; और उसे मछलीरूपवाली अद्रिका अप्सराने ले लिया। जैसे कि 'महाभारत'में ही कहा है-'युध्यतोरपतद् रेतस्तच्चापि यमुनाम्भसि। तत्राद्रिकेति विख्याता ब्रह्मशापाद् वराप्सराः। मीनभावमनुप्राप्ता बभूव यमुनाचरी ।। श्येनपादपरिभ्रष्टं तद् वीर्यमथ वासवम्। जग्राह तरसोपेत्य साऽद्रिका मत्स्यरूपिणी' (१।६३।५८-५९-६०)। अमोघ होनेसे वह वीर्य नष्ट नहीं हुआ। जैसे, स्त्री जो कुछ भी खाती है, वह उसी समय जीर्ण हो जाता है, पर उसमें जो वीर्य निषिक्त किया जाता है, वह यदि निर्बल है, तो वह भी उसमें जीर्ण हो जाता है। यदि सबल है, तो वह जीर्ण नहीं होता, पर यदि वह अमोघ है, तो किसी भी मार्गसे जाय, किन्त

*सिखलाये हुए पक्षी दूरसे अपने घरमें किसी वस्तुके आदान-प्रदानकेलिए भेजे जा सकते हैं, जैसे कि गत-महासमरमें गुप्त-पत्रोंके ले जानेवाले अङ्ग्रेजोंके कई कबूतर जर्मनोंने पकड़ लिये थे। हमारे मुलतानमें एक पारसी-डाक्टर बानियाने भी एक कबूतर शिक्षित कर रखा था। वह मुलतान-छावनीमें स्थित उसके घरसे उसकी स्त्रीको उसकी चिट्ठी दे आता था। अतः श्येन (बाज) द्वारा शुक्रका दोना अपनी स्त्रीको भेजनेमें असम्भव बात न समझ लेनी चाहिए।

मनुष्येतर-प्राणीमें भी जाय, कभी भी जीर्ण नहीं होता, उससे वह स्त्री गर्भिणी हो जाती है। इसमें आजकलका वैज्ञानिक-गर्भाधान भी साक्षी है, उसमें यन्त्र-द्वारा शुक्र आकृष्ट करके स्त्रीके अङ्गमें पहुँचाया जाता है, और वह ६० प्रतिशत गर्भिणी हो जाती हैं। अस्तु।

उस शुक्रसे वह मछली गर्भवती हो गयी। उसे कैवर्तने पकड़ा, उसके पेटसे उसे लड़का-लड़की मिले। कैवर्त उसे उनके पिता राजा उपरिचर-वसुके पास ले गया। लड़केको राजाने ले-लिया, और लड़की पालनार्थ उसी मलाहको दी (६३।६७)। इस प्रकार कैवर्तसे पालित वह लड़की 'कैवर्ती' प्रसिद्ध हुई। वास्तवमें वह राजा उपरिचर-वसुके वीर्यसे उत्पन्न थी, कैवर्तके वीर्यसे नहीं, उसमें स्वामित्व भी उपरिचर-राजाका ही था, तभी उसने कैवर्तको उस लड़कीका देवव्रतके पिता राजा शान्तनुसे विवाह-सम्बन्ध कर देनेको कहा था—जैसे कि 'तेन (नृपोपरिचरवसुना) मे बहुशस्तात पिता ते परिकीर्तितः। अर्हः सत्यवतीं वोढुं धर्मज्ञः स नराधिपः' (१००।८०)। अन्यथा दाशपुत्री होने पर उपरिचरका उसके पतिकेलिए कहनेका क्या अधिकार था? उसमें तो तब दाशराज ही स्वतन्त्र था, वह उसे राजाको न देकर अपनी दाशजातिवालेको देता। इससे स्पष्ट है कि दाश उसका केवल पालक पिता था, जनक नहीं। फिर भी उसे (मत्स्यगन्धाको) कैवर्तजातिकी माना जाय, तो पन्ना-धायसे पाला हुआ राणा उदयसिंह क्षत्रिय न होकर धायका पुत्र माना जाने लगेगा। आजकल मुसलमानी-धायोंसे पाली हुई हिन्दु-लड़कियां भी मुसलमान-लड़कियां मानी जाने लगेंगी, पर ऐसा इष्ट नहीं। सूतसे पालित कर्ण क्षत्रियाकी संतान होनेसे वस्तुतः क्षत्रिय ही माना गया था।

इस प्रकार जब मत्स्यगन्धा क्षत्रिया थी, तो गान्धर्वविवाह

वा स्वयंवरका एकदेश यदि उसका हुआ, तो इसमें कोई अनुपपन्नता नहीं पड़ती। अब शेष बात यह है कि श्रीपराशर क्षत्रिय नहीं थे, तब यहां गान्धर्वविवाह वा स्वयंवर होनेकी भी सङ्गति कैसे? इस पर जानना चाहिए कि यद्यपि स्वयवर वा गान्धर्वविवाह सामान्यतया क्षत्रियका ही धर्म्य माना गया है, तथापि अपवादवश विप्रका भी उसमें समावेश हो जाता है। देखिए—'षडानुपूर्व्या विप्रस्य...विद्याद् धर्म्यान् अराक्षसान्' (मनु० ३।२३) इसपर श्रीकुल्लूकभट्टने लिखा है—'ब्राह्मणस्य ब्राह्मादिक्रमेण षट् धर्म्यान् धर्मादनपेतान् जानीयात्।' सुप्रसिद्ध एवं वादिप्रतिवादिसम्मत 'मनुस्मृति' के इस वचनमें ब्राह्मणको ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर और गान्धर्व इन छः विवाहोंमें अधिकार दिया गया है। इनमें गान्धर्व ही छठा है; और इन विवाहोंको धर्मसे अनपेत (न रहित, युक्त) बतलाया गया है। 'पञ्चानां तु त्रयो धर्म्याः' (मनु० ३।२५) यहां पर प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस, पैशाच—इन अन्तिम पांच विवाहोंमें आदिम तीन—प्राजापत्य, आसुर और गान्धर्व—को धर्म्य बतलाया है। इसलिए वहां श्रीकुल्लूकभट्टने लिखा है—तेषाँ मध्ये प्राजापत्य-गान्धर्व-राक्षसास्त्रयो [विवाहाः]धर्म्याः धर्मादनपेताः।' यह कहकर वे लिखते हैं कि 'तत्रप्राजापत्यः क्षत्रियादीनामप्राप्तो विधीयते'(प्राजापत्य क्षत्रियादिको अप्राप्त है, अतः उनका उनके लिए यहां अपूर्वविधान है) ब्राह्मणस्य विहितत्वादनूद्यते (ब्राह्मणको प्राजापत्य विहित होनेसे प्राप्त है, अतः उसका अपूर्वविधान न होकर उसका ब्राह्मणके लिए अनुवाद है)। गान्धर्वस्य चतुर्णामेव प्राप्तत्वाद् अनुवादः (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी वर्णवालोंको, गान्धर्वविवाह प्राप्त है, अतः उसका भी उनके लिए अपूर्व-विधान न होकर अनुवाद है)। इससे गान्धर्वविवाह भी विप्रको विहित सिद्ध हुआ।

'ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः' (मनु० ३।१३) इस वचनसे ब्राह्मणका क्षत्रियबाला ले सकना भी अभ्यनुज्ञात किया है। यदि ऐसा है, तब ब्राह्मण पराशर-ऋषिमें भी उसका प्रयोग अशास्त्रीय नहीं।

इस विषयमें इतिहासका भी अनुग्रह दृष्टिगोचर होता है। आर्यसमाजी श्रीधर्मदेवजी-सिद्धान्तालङ्कारने 'श्रीः' पत्रिका (४१४ अङ्क)में 'महाभारत' शान्तिपर्वके २२४वें अध्यायसे ब्राह्मणोंका स्वयंवर भी दिखलाया है। उन्होंने लिखा है-'प्राचीनकाले विप्र-कन्या अपि स्वयंवरमकुर्वन्। देवलकन्यासुवर्चलाया 'महाभारते' शान्तिपर्वणि' २२४ अध्याये वर्णनम्। तत्र सुवर्चलायाः पितरं प्रति इयमुक्तिः-'येभ्यस्त्वं मन्यसे दातुं मामिहानय तान् द्विजान्। तादृशं तं पतिं तेषुं वरयिष्ये यथातथम्' (२२४।११)... ततः सुवर्चला दृष्ट्वा प्राह तं द्विजसत्तमम्। मनसासि वृतो विद्वन्! शेषकर्ता पिता मम। वृणीष्व पितरं मह्यम् एष वेदविधिक्रमः' इत्यादि। ब्राह्मणकन्यानां स्वयंवर-विधिस्तु ज्ञानप्रधानत्वात् क्षत्रियाभ्यो भिन्न आसीद् इत्यत्र न संशयः।" इसोसे 'अभिज्ञान-शाकुन्तल-नाटकमें-'गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो वै मुनिकन्यकाः। श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चानुमोदिताः' (३।२८) यहाँ पर मुनि-कन्याओंका गान्धर्वविवाह भी दिखलाया गया है। यदि ऐसा है, तो ब्राह्मण-श्रीपराशर-ऋषि पर आक्षेप क्यों?

अन्य देखिये-ब्राह्मण दधीचि-मुनिका भी सरस्वतीके साथ गान्धर्वविवाह हुआ था, और उसे न्याय्य माना गया था, उससे 'सारस्वत' नामक पुत्र हुआ-यह 'हर्षचरित' आदिमें देखा जा सकता है। इस प्रकार इतिहासके अन्य उदाहरण भी गवेषणासे सुलभ हैं। जब ऐसा है, तब लौकिक-दृष्टिकोणसे भी 'पराशर-मत्स्यगन्धा-समागम' आक्षेप्य सिद्ध न हुआ। दुष्यन्त-शकुन्तलाको जैसे गान्धर्वविवाहके कारण कोई व्यभिचारी नहीं मानता, वैसे

पराशर-मत्स्यगन्धामें भी व्यभिचारका गन्ध न होकर गान्धर्व-विवाहके एकदेशका वा उस-जैसा गन्ध आता है-यह निष्पक्ष दृष्टिकोण रखने पर स्पष्ट हो प्रतीत होगा। प्राचीन लोग किसी धर्मके सर्वांशको न लेकर उसके एकदेशको भी ले लिया करते थे। यहां भी गान्धर्वविवाहका सर्वदेश न लेकर उसका एकदेश ही लिया जाना समझना चाहिए। पाठकोंने देखा होगा कि हमने इसमें 'समरथको नहिं दोषु गुसाईं' यह उत्तर नहीं दिया, लौकिक एवं शास्त्रीय ही दृष्टिकोण यहां रखा है।

अस्तु-अब वही वास्तविक अलौकिक-दृष्टिकोण भी रखा जाता है। जिन पाठकोंको वह रुचिकर न हो, वे इस अंशको न पढ़ें, यहीं तक इस निबन्धको समाप्त समझ लें। जब गान्धर्व-विवाहमें 'काम'को प्रश्रय दिया गया है, तब यह 'काम' भी धर्मा-विरुद्ध होनेसे ग्राह्य-कोटिका हुआ और इसे 'काम' भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'काम'से शास्त्रनिषिद्ध काम ही लोकमें विवक्षित होता है। इतना होने पर भी ये गान्धर्व आदि तथा असवर्णविवाह आजकल अनुकरणीय, अनुसरणीय नहीं। पहले समयमें अपने पर कण्ट्रोल (नियन्त्रण) कर लिया जाता था, पर आजकल वैसा होना सम्भव नहीं। अतः ऐसे विवाह वर्जित कर दिये गये हैं। श्रीमनुने इनकी अभ्यनुज्ञा देकर भी फिर इनको निन्दित बतलाकर इनकी अग्राह्यता ही सिद्ध कर दी है। जैसे कि ३।३७ पद्यमें श्रीमनुने ब्राह्मविवाहोत्पन्न लड़केको २१ पीढ़ियां तारनेवाला, ३।३८ में दैवविवाहोत्पन्नको १५ पीढ़ियां, आर्षोत्पन्न को ७ पीढ़ियां तथा प्राजापत्योत्पन्नको १३ पीढ़ियां तारनेवाला कहा है, पर शेष विवाहोंसे उत्पन्न सन्तानके लिए एक भी पीढ़ी तारनेवाला नहीं बतलाया। इसीलिए ३।३९-४० पद्यमें ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्यकी स्तुति तथा ३।४१-४२ में आसुर,

गान्धर्व, राक्षस और पैशाचकी निन्दा तथा उनकी वर्जनीयता बतलाई है। इसीलिए ये विवाह आजकल देखनेमें नहीं आते।

पर प्रश्न होता है कि श्रीपराशर-ऋषिने निकृष्ट गान्धव-विवाहके एकदेशको भी क्यों स्वीकृत किया, क्या उनकी इससे हानि नहीं थी ? इस पर जानना चाहिए कि तपस्वियोंकी तपस्या सब दोषोंको हटा देती है। जैसे कि 'मनुस्मृति'में कहा है-'यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्' (११।२३८) यहां तपस्याकी कितनी महिमा बतलाई गई है ? अब तपस्यासे पापक्षय देखिये-'महा-पातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः। तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्विषात् ततः ॥' (११।२३९), 'यत् किञ्चिदेनः कुर्वंति मनोवा-ङ्मूर्तिभिर्जनाः। तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः ॥' (११।२४१) जब ऐसा है, तब तपस्वी श्रीपराशर इस कार्यसे भी पापलिप्त क्यों होते ?

तभी तो कहा है—'धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणाञ्च साहसम्। तेजीयसां न दोषाय वन्हेः सर्वभुजो यथा ॥' (श्रीमद्भागवत १०।३३।३०) अर्थात् तेजस्वी वह्नि विष्ठा को भी खा जाती है, सूर्य-चन्द्र पङ्क, विष्ठा वा मद्यसे भी रस निकाल लेता है, पर इससे वे दूषित वा अपवित्र नहीं हो जाते। इसीके अनुवादमें 'मानस'में कहा है-'भानु कृसानु सर्व रस खाहीं, तिन्ह कहँ मंद कहत कोउ नाहीं। सुभ अरु असुभ सलिल सब बहई, सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई' (बालकाण्ड ६८ दोहेके बाद नारदोक्त चौपाई)। इसी प्रकार तेजस्वी ऋषि-मुनियोंका कहीं धर्मव्यतिक्रम भी देखा जाता है, तथा साहस भी, पर उससे उनका तो कुछ भी नहीं बिगड़ता, पर साधारणों को ऐसा नहीं करना चाहिए-'नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः। विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्' (१०।३३।३१) अर्थात् रुद्रका हलाहल पान करनेसे भी कुछ नहीं बिगड़ा, पर अनीश्वर वैसा करते हुए पतन, हानिको प्राप्त कर सकते हैं।

यही बात 'आपस्तम्ब-धर्मसूत्र'ने भी कही है-'दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च पूर्वेषाम्' (२।१३।७), 'तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते' (२।१३।८) 'तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरः' (२।१३।९)। इसीको 'समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं। रवि पावक सुरसरिकी नाईं' (बालकाण्ड) इसी रूपसे गोस्वामी-तुलसीदास-जीने अपने 'मानस'में कहा है। यह ठीक भी है। स्वस्थ-पुरुषको अपथ्य भी हानि नहीं पहुँचाता, क्योंकि उसका तेज उस अपथ्यके दुष्फलको दग्ध कर दिया करता है, पर अस्वस्थमें तेजकी कमीसे दुर्बलतावश वही अपथ्य उसकी हानि कर दिया करता है, बल्कि उसके प्राणोंको निकालकर उसकी सत्ता भी समाप्त कर देता है। यही बात तपस्वीके तेज तथा साधारणके साधारणत्व-दोनोंमें शास्त्रविरुद्ध-कर्म करने पर फलाफल होनेमें घटा लेनी चाहिए।

यह गान्धर्वविवाह स्मृत्यनुसार निकृष्ट होता हुआ भी अभ्यनुज्ञात होनेसे कथञ्चित् न्याय्य ही था, इसे (श्रीपराशरमत्स्य-गन्धा-समागमको) गान्धर्वविवाह न भी माना जाय, यह कन्या-गमन ही माना जाय, क्योंकि मत्स्यगन्धासे उत्पन्न व्यासको 'कानीन' कन्याका पुत्र माना जाता है, विवाह भी यहां विवक्षित न होनेसे मत्स्यगन्धाको पराशरकी पत्नी भी नहीं माना जाता, तो इस पर यह जानना चाहिए कि दिव्यबलोपेत-मुनि पराशर-का मत्स्यगन्धासे संयोग भी दिव्य-विधिसे हुआ, अतः उसका कन्यात्व भी दूषित नहीं हुआ। जैसे कि कुन्तीका कौमार्यमें सूर्य-

देवतासे दिव्य-विधिसे योग हुआ, और उसका कन्यात्व क्षत नहीं हुआ। जैसे कि 'महाभारत' में कुन्तीके लिए कहा है—'न चैवैनां दूषयामास भानुः' (३।३०७।२८), मनुष्यधर्मो दैवेन धर्मेण हि न दुष्यति' (१५।३०।२३)। 'महाभाष्य' के टीकाकार श्रीकैयटने भी अपने 'प्रदीप' में स्वमतमें अप्रतिषिद्ध एक मत लेकर लिखा है—'मुनि-देवतामाहात्म्याद् या पुंयोगेपि अक्षतयोनिर्भवति, यथा कुन्ती दिनकरोत्पादितपुत्रापि पुनः कन्यैवाभूद्' (४।१।११६)। यहां पर मुनि वा देवताके माहात्म्यसे पुरुष-समागममें भी अक्षतयोनि होनेके दृष्टान्तमें विद्वद्वरिष्ठ-श्रीकैयटने कुन्तीका उदाहरण दिया है। उस जैसीके लड़केको उसने 'कानीन' बतलाया है। इसी प्रकार पराशर-मुनि द्वारा कन्या-मत्स्यगन्धाके समागममें भी उसका कन्यात्व अक्षत रहा। इसमें कारण तपोमाहात्म्य है।

शकुन्तलादुष्यन्त-समागममें दुष्यन्त-राजाकी अलौकिक तपःशक्तिसम्पन्नता न होनेमे लौकिकता होनेके कारण क्षतयोनित्ववश उसका गान्धर्वविवाह माना गया, अब शकुन्तलाका कन्यात्व न रहकर पत्नीत्व हो गया, तभी शकुन्तलाके लड़के भरतको 'कानीन' नहीं कहा गया, पर कुन्तीमें देवताकी दिव्यता तथा मत्स्यगन्धामें मुनिकी तपोमूलक-दिव्यताके कारण दिव्य-संयोग होनेसे क्षतयोनित्व न होनेके कारण उनका कन्याभाव अक्षत रहा, इसीसे इनके लड़कों (व्यास, कर्ण)को 'कानीन' कहा गया, तभी तो कुन्तीका पाण्डुसे और मत्स्यगन्धाका शान्तनुसे विवाह हुआ था। पहलेके लोग कन्यासे ही नियमतः विवाह करते थे, अकन्यासे नहीं। इसीलिए कहा है—'पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः। नाऽकन्यासु क्वचिन्नॄणां, लुप्तधर्मक्रिया हि ताः' (मनु० ८।२२६)।

इस कन्यात्वकी अक्षुण्णतामें वहांका घटना-वैचित्र्य भी प्रमाण

है। मत्स्यगन्धाको देखकर मुनिने उसकी कामना की—'दृष्ट्वैव स च तां धीमांश्चकमे चारुहासिनीम्। दिव्यां तां वासवीं (उपरिचर-वसुकी लड़की) कन्यां रम्भोरुं मुनिपुङ्गवः' (महाभारत १।६३।७१)। 'स तार्यमाणो यमुनां मामुपेत्याब्रवीत् तदा। सान्त्वपूर्वं मुनिश्रेष्ठः कामार्तो मधुरं वचः' (१।१०५।९)। इससे अपना कन्यात्व दूषित हो जानेके भयसे मत्स्यगन्धाने उस कामनाका प्रत्याख्यान किया, और कहा—'विद्धि मां भगवन्! कन्यां सदा पितृवशानुगाम्। त्वत्संयोगाच्च दुष्येत कन्याभावो ममानघ! (६३।७५)। कन्यात्वे दूषिते वापि कथं शक्ष्ये द्विजोत्तम! गृहं गन्तुमृषे! चाहं धीमन्न स्थातुमुत्सहे' (७६)। इसपर तपोवल-शाली ऋषिने कहा कि डर नहीं, मुझसे सङ्गत होकर भी तू कन्या ही रहेगी,—'उवाच् मत्प्रियं कृत्वा कन्यैव त्वं भविष्यसि' (७८)। वर मांगनेको भी कह दिया।

अब वर पाकर वह मत्स्यगन्धा न रही, योजनगन्धा वा सत्यवती हो गई। वह मुनियोंके तपःप्रभावको जानती वा मानती थी, अतः उसे विश्वास हो गया कि ऐसा दिव्य-संयोग होगा कि मेरे कन्यात्वकी क्षति नहीं होगी। तभी वह उद्यत हो गई। साधारण पुरुष भी जान सकते हैं कि यदि वह लौकिक-संयोग होता, तो वह गर्भिणी हो जाती। तीन-चार महीने तक गर्भ छिप सकता था, पर आगे कहां छिपता? फिर प्रसव कहां होता? उसका सब रहस्य खुल जाता, क्षतयोनित्व प्रकट हो जाता; वह निन्दित हो जाती, या घरसे निकाल दी जाती। पर तपोबलके विश्वाससे वह इस दिव्य-संयोगमें सहमत हो गई।

इसीका विवरण महाभारतकार इस प्रकार करते हैं—'ततो लब्धवरा प्रीता स्त्रीभावगुणभूषिता। जगाम सह संसर्गमृषिणाऽद्भुतकर्मणा' (६३।८१) यहां पर ऋषिका विशेषण 'अद्भुत-

कर्मा' आया है, उसीके बलसे वह स्त्रीभावके गुणसे भी सद्यः भूषित हो गई। यह बात यहां लोकोत्तर हुई। अन्य लोकोत्तरता देखिये—'एवं तयोक्तो भगवान् नीहारमसृजत् प्रभुः। येन देशः स सर्वस्तु तमोभूत इवाभवत्। (६३।७३), दृष्ट्वा सृष्टं तु नीहारं ततस्तं परमर्षिणा। विस्मिता साऽभवत् कन्या व्रीडिता च तपस्विनी' (७४।७५) यहां श्रीपराशरके विशेषण भगवान् (अणिमादि-ऐश्वर्यवान्), प्रभुः, परमर्षिः ये आये हैं। विशेषणोंका रखना साभिप्राय हुआ करता है। इससे ऋषिकी लोकोत्तरता स्पष्ट हो रही है, तभी तो मुनिने नीहार (कुहरा) 'अभिभूय स मां बालां तेजसा वशमानयत्। तमसा लोकमावृत्य नौगतामेव भारत!' (१०५।११) अथवा अन्धकार अपने तेजसे प्रकट कर दिया। तब ऐसे लोकोत्तरशक्तिशालीका 'ततो मामाह स मुनिर्गर्भमुत्सृज्य मामकम्। द्वीपेऽस्या एव सरितः कन्यैव त्वं भविष्यसि' (१।५।१३) यह कहना कि तुम मेरे गर्भको प्रसूत कर कन्या हो हो जायगी—यह बात उपपन्न हो ही सकती है। जब लोकोत्तरशक्तिशाली अपने वर-शापसे स्त्रीको भी पत्थर और पत्थरको भी स्त्री कर सकते हैं, तब वे ही अपने दिव्य-संयोगसे प्रसूत हुई स्त्रीको भी कन्या कर सकते हैं।

अब इस दिव्य-संयोगकी लोकोत्तरता देखिये—'पराशरेण संयुक्ता सद्यो गर्भं सुषाव सा' (६३।८४) यहां सत्यवतीका पराशरसे संयोग, संयोगके समकालमें ही गर्भ, गर्भके समकालमें ही प्रसव हो गया। क्या ऐसी विचित्रता साधारण-संयोगमें हुआ करती है? उसमें तो बहुत वार गमन करनेसे कभी जाकर गर्भ होता है। जब होता भी है, तो प्रायः उस मासके बाद जाकर पता लगता है। स्पष्ट प्रकट तो पांच मासके बाद होता है। फिर प्रसव भी दशम-मासमें जाकर होता है और वह क्षतयोनि रहती है। फिर लड़केको भी ढ़ाई साल तक पालना पड़ता है, तभी जाकर वह चलना-

फिरना ठीक शुरू करता है, पर यहां उत्पत्तिमें भी विलक्षणता दाखय—

'जातमात्रश्च यः सद्य इष्ट्या देहमवीवृधत्। वेदांश्चाधिजगे साङ्गान् सेतिहासान् महायशाः (१।६०।३) यहां गर्भके सद्यःप्रसूत होते ही एकदम बड़े शरीरवाला हो जाना, उसी समय सब वेद-शास्त्रोंका पढ़ लेना और 'स मातरमनुज्ञाप्य तपस्येव मनो दधे' (१।६३।८५) इस प्रकार तपस्यामें मन लगानेवाला होना और 'स्मृतोऽहं दर्शयिष्यामि कृत्येष्विति च सोऽब्रवीत्' (६३।८५) माताके स्मरण करते ही (चाहे वह बहुत दूर-देशमें भी हो) तत्काल उसके पास उपस्थित होनेकी शक्तिवाला होना और 'समुत्पन्नः स तु महान् सह पित्रा ततो गतः' (१।१०५।१६) उत्पन्न होते ही तत्काल बड़ा होकर पिता पराशरके साथ वनमें तपस्या करने चले जाना—यह घटना वैचित्र्य ही बतला रहा है कि यहां साधारण लौकिक-संयोग नहीं हुआ, किन्तु दिव्य संयोग हुआ है, तभी तत्फलस्वरूप विलक्षण-घटनाएँ हुई। ऐसी विलक्षणता तथा अप्राकृतिक-उत्पत्ति, तत्काल-वृद्धि, यह उसमें अमैथुनयोनिता को बतला रहे हैं, क्योंकि प्राकृतिकता न होनेसे उसीमें ऐसी विलक्षणता दीखती है, तभी तो स. प्र. (८ समु. पृ. १३८-१३९)में आदि-सृष्टिको आक्षेप्ताओंके नेता स्वा. द. जीने भी अमैथुनी माना है, उसमें एक ही दिनमें सैंकड़ों-हजारों स्त्रियोंका जो १६ वर्षकी थीं, और सैंकड़ों-सहस्रों पुरुषोंका जो २५ वर्षके थे, उत्पन्न होना माना है। उसी उत्पत्तिके समय स्त्रीका १६ वर्षकी हो जाना और पुरुषका उसी समय २५ वर्षका हो जाना, उसी समय उनका विवाह हो जाना, सन्तान हो जाना, यह बात प्राकृतिक तो होती नहीं, अतः यहां दिव्यतावश तथा अमैथुनयोनित्वके कारण ही ऐसा हुआ यह स्पष्ट है। इसी प्रकार

श्रीव्यासकी ऐसी विलक्षण-उत्पत्ति साधारण संयोग-मूलक तो मानी नहीं जा सकती, अतः यहां पर भी अमैथुनिक दिव्य संयोग ही निमित्त मानना पड़ेगा। प्राकृतिक-संयोगमें ऐसा नहीं हुआ करता, तभी कैयट आदिने सूर्य आदि द्वारा कुन्ती आदिके संयोगमें भी अक्षत-योनित्व माना है। ऐसी घटनामें उस (योजनगन्धा)का कन्यात्व भी उपपन्न हो जाता है। जैसे सृष्टचादिमें एकसे अमैथुनसे उत्पन्न दो-दो जोड़े भाई-बहिनका भी विवाह दोषाधायक नहीं माना गया, वैसे यहां भी अमैथुनसदृशता होनेसे यह दिव्य-संयोग दोषाधायक नहीं माना जाता।

साधारण-संयोगमें उस लड़कीके कन्यात्वका प्रमाणपत्र योन्यन्तर्गत आवरण फट जाना, हट जाना होता है। प्रसवके बाद तो योनिमार्ग सर्वथा निरावरण हो जाता है; पर यहां पर तो कहा है—'कन्यैव त्वं भविष्यसि' (१।६३।७८, १।१०५।१३) तू कन्या ही रहेगी। बात भी वैसी ही हुई। तपोमाहात्म्यसे उसका योनि-आवरण अक्षत ही रहा, तभी तो शान्तनुने उससे और कुन्तीसे पाण्डुने विवाह किया; यह पहले कहा जा चुका है। विवाहबोधक मन्त्रोंमें 'कन्या'का विवाह आया है, 'कन्या'का भाव है 'कुमारी' अर्थात् प्रथम-अवस्थावाली, अविवाहितपूर्वा, अक्षतयोनिच्छद वाली। तब इस प्रकारके तपस्या आदिके अलौकिक-शक्तिशालियोंमें साधारण-जनोंकेलिए सीमित कन्यादूषणापराधप्रदर्शक शास्त्र भी प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि वह उत्सर्ग है; और उत्सर्ग अपवादांश को छोड़कर ही प्रवृत्त तथा व्यवस्थित होता है। आजकलके पुरुषोंमें पहले कन्याका योनि-आवरण छिन्न करके फिर वैसे ही उसके अक्षत कर देने की शक्ति नहीं, अतः वे शास्त्रके बन्धनमें हैं, पर लोकोत्तरशक्तिशाली, मुक्त, प्रभु (समर्थ), तापस उस सीमित-बन्धनमें कैसे बद्ध हो सकते हैं?

प्रसिद्ध है 'प्रभुः स्वातन्त्र्यमापन्नो यदिच्छति करोति तत्। पाणिनेन नदा गङ्गा यमुना च स्थली नदी ॥' यही बात 'समरथ को नहि दोष गुसाईं' इस चौपाईका लक्ष्य है।

अब इस समागममें अङ्गसङ्ग हुआ, या मैथुन हुआ, या नहीं हुआ, यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वैसा होने पर प्राकृतिकता, लौकिकता होती, दस महीने गर्भ रखना पड़ता, समय पर प्रसव करना पड़ता, कैवर्तकी झिड़कियां सुननी पड़तीं, सम्भव है—मत्स्यगन्धाको घरसे बाहर निकलना पड़ता। कन्या होनेसे उसका कहीं बाहर निकलना भी नहीं हो सकता था कि कहीं भिन्न-देशमें जाकर गुप्तरूपसे प्रसव कर लेती। पर यहां तो लोकोत्तरता होनेसे ऋषिको नौकाके केवल पार ले जानेमें ही द्वीप-स्थानमें संयोग तथा गर्भ एवं प्रसव-उत्पत्ति आदि एक साथ हो गये, बच्चा-द्वैपायन उसी समय श्रीवेदव्यास होकर पिताके साथ चला भी गया, कन्यात्वका आवरण भी खण्डित न हुआ, तभी तो श्रीव्यास को 'विधानविहितः स त्वं यथा मे प्रथमः सुतः' (१०५। ३२) वैध-लड़का माना गया है, अन्यथा तो अवैध-लड़का होनेसे उसकी सदाकेलिए त्यक्तव्यता होती, पर ऐसा नहीं हुआ। जो इन बातोंको न माने, वह इस इतिहासको भी आक्षिप्त नहीं कर सकता; क्योंकि—वैसा होने पर उस इतिहासकी सत्ता ही न रहेगी। 'सति हि कुडचे चित्रं भवति'।

अतः इस समागमको साधारण लौकिक-मैथुन नहीं कहा जा सकता। यदि प्रतिपक्षी इन अलौकिक-घटनाओंको नहीं मानना चाहते, तब वे अपनी मनमानी उसकी उत्पत्ति 'महाभारत' आदिसे सिद्ध करें, अन्यथा तो उनका प्रयत्न वा उनकी शङ्कित-दृष्टि अभित्ति-चित्र होगी, असिद्ध होगी। असिद्ध पर उनका आक्षेप शशशृङ्गको तीक्ष्ण करनेके समान, वन्ध्यापुत्रके

उत्पादनके समान निर्मूल सिद्ध होगा। आशा है--शास्त्र-दृष्टिसे लोगों की इस 'श्रीपराशर-सत्यवती-समागम'में शङ्कित-दृष्टि हटकर अशङ्कित-दृष्टि उपस्थित हो जायगी। जैसे सृष्टिकी आदिमें परमेश्वरकी दिव्यताके कारण पुरुषोंकी यौवनावस्थाकी उत्पत्तिमें असम्भव-दोष को प्रश्रय नहीं दिया जाता, एकके ही पुत्र होनेसे भाई-बहन होनेपर भी उनके परस्पर सम्बन्ध तथा मैथुनमें अलौकिकतावश लौकिक मर्यादा-त्यागको भी अनुचित नहीं माना जाता, वैसे ही

संशोधन एवं परिवर्धन—पृ. ११८ पं. २४, २३६-२ (क) प्रकृतिरूप-मेखलासे वेष्टित परमात्मा ही लिङ्गसे विवर्तित हो रहा है। खेद है कि--विषयकीट पामरोंको वेदसिद्ध नादबिन्दुके यामलरूपके प्रतिमात्मक चिन्हमें प्राकृत लिङ्ग-योनिका भ्रान्तिमूलक आभास होता है। इसे उनके घोर-अज्ञान, मानसिक-विकार अथवा स्त्रैणस्वभावके अतिरिक्त और क्या कहा जाय' (सर्वदर्शनाचार्य स्वा. अनिरुद्धाचार्यजीमहाराज 'कल्याण' शिवपुराणाङ्क)। (ख)—लिङ्गार्चनमें अश्लीलताके भावकी कल्पना परममूर्खता, परमनास्तिकता और घोर अनभिज्ञता है' (श्रीरामदासजी गौड़ एम. ए. 'कल्याण' शि. पु.)। (ग) सृष्टिसंहारके बाद सम्पूर्ण जगत्पिण्ड अण्डाकृतिमें हो जाता है, और उसी अण्डसे सृष्टि विकसित होती है। विनाश और विकासमें शिवका रूपयोग है ही, अतः अण्डाकृति-शिवलिङ्ग सबके लिए पूजनीय हैं। स्कन्द-पुराणमें आकाशको लिंग पृथिवीको पीठ माना है। (घ)—इसीमें सबका लय होता है, इसीलिए इसे लिङ्ग कहते हैं। (प. हनुमानशर्मा 'कल्याण')। (ङ) यह लिङ्गयोनि जिसका व्यवहार श्रीशिवपूजामें होता है, प्रकृति और पुरुषके होने वाली सृष्टिकी उत्पत्तिकी सूचक है। इस प्रकार यह परात्पर जगत्पिता और दयामयी जगन्माताके आदिसम्बन्धके भावकी द्योतक है, अतः यह परमपवित्र और मधुरभाव है; इसमें अश्लीलताका

सृष्टिके मध्यमें भी अलौकिक एवं परमेश्वरकल्प, विलक्षण-सामर्थ्यशाली ऋषि-मुनियोंकी सृष्टिमें भी असम्भवदोष तथा लोकोत्तरतावश लौकिक-मर्यादाका उल्लङ्घन न देखना पड़ता है, न ही मानना पड़ता है। लोकोत्तरोंके व्यवहार तथा कार्य भला लोकनियमसीमित हो भी कैसे सकते हैं? यह निष्कर्ष बुद्धिमान् पुरुषोंको अवश्य जान रखना चाहिए। ऐसा विचार रखनेसे उनको पुराणेतिहासमें कोई भी शङ्का अविश्वासके गर्तमें न गिरा सकेगी।

आक्षेप करना सर्वथा अज्ञान है, (स्व. पं. भवानीशङ्कर शि. पु. अङ्क)।

२९८—३ विष्णुके पुराणके अनुसार कहीं शिवके अवलम्बनसे 'नरक' की प्राप्ति लिखी हो; इस प्रकार शिवके पुराणमें कहीं विष्णुके लिए लिखा हो, वहां पर 'नरक' एक पारिभाषिक शब्द होता है। वहां भाव यह होता है कि—हमारे इष्टदेवसे तो दुःखात्यन्ताभावरूप मुक्ति मिलती है, पर दूसरेसे मुक्ति न मिलकर स्वर्ग मिलता है। वह स्वर्ग अनित्य होनेसे गतागत करनेसे बड़े-बड़े दुःखोंका कारण होता है, दुःखका दूसरा नाम'नरक' भी होता है; सो वहांपर 'नरक' दुःखका वाचक अथवा अर्थवादसे मुक्तिकी अपेक्षा निम्नगतिका उपलक्षक होता है, साक्षात् नरकलोकवाचक नहीं। यह पुराणोंमें भी स्पष्ट है। एक शिवभक्त कविने लिखा था कि—तुमसे संयुक्त विष भी मेरे लिए अमृत है, और तुमसे भिन्न अमृत भी विष है 'कण्ठकोणविनिविष्टमीश ! ते कालकूटमपि मे महामृतम्। अप्युपात्तममृत भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि, मे विष मतम् (न रोचते) यही तात्पर्य 'नरक' शब्दमें समझना चाहिये। प्रतिपक्षी तो नरकको मानता नहीं, तब वह दूसरोंको उससे क्यों डराता है? ३१८-३ देवीभाग. (७।१०।५२-५३) ९ ३३३-११=।३१।३६९-१० 'विष्णुर्यस्यां विचक्रमे' (अ० १२।२।१०)। ३८५-४ प्राचीनतमता। ३८६-५ व्यवहार। ३९०।२५ उसीके ९म पृष्ठमें 'एहि कृष्णा' ३ अत्र

१२. विवाहके समय सीता-रामकी आयु पर एक दृष्टि ।

(पूर्वपक्ष)—(क) पौराणिकोंका कथन है कि–विवाहके समय रामकी आयु १५ वर्ष और सीताकी आयु ६ वर्षकी थी । 'ऊनषोडशवर्षो मे रामः...न युद्धयोग्यतामस्य पश्यामि' (वाल्मी. २०।२) (हे विश्वामित्रजो; अभी राम १६ वर्षसे कम हैं-यह राक्षसोंसे युद्ध नहीं कर सकते)। इसी समय राम उनके साथ गये। यज्ञकी रक्षा कर धनुष तोड़कर जानकी ब्याही, पर इस श्रीज्वालाप्रसादजीके कथनसे श्रीरामका विवाह १५ वर्षमें हुआ–यह सिद्ध कहां होता है ?

(ख) 'पुत्रा दशरथस्येमे रूपयौवनशालिनः' (१।७२।७) यदि श्रीराम १५ वर्षके थे; तो लक्ष्मणादि इनसे भी छोटे होंगे, पर इन्हें वाल्मीकिने यौवनशाली कहा है। सुश्रुतानुसार 'आ पञ्च-विंशतेर्यौवनम् आ षोडशाद् वृद्धिः' (सूत्र. ३५) १६वें वर्ष तक वृद्धि-अवस्था तथा २५वें (?) वर्षमें यौवन होता है। तब उक्त श्लोक कहने वाले मुनि क्या अज्ञानी थे, जो १५ वर्षमें उन्हें 'यौवनशाली' कहने लगे ? ।

जनकने मुनिसे पूछा–'इमौ कुमारौ...समुपस्थितयौवनौ' (१।५०।१७-१८) यौवनावस्थाको प्राप्त (?) यह दोनों कुमार किसके हैं ?। यहां भी उन्हें धनुषभंगके पूर्व (?) 'समुपस्थित-यौवनौ' कहा है।

(ग) सीता संन्यासिवेषधारी रावणसे अपना परिचय देते हुए कहती है—'उषित्वा द्वादश समा इक्ष्वाकूणां निवेशने । भुञ्जाना मानुषान् भोगान्'। मम भर्ता...वयसा पञ्चविंशकः। अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि' (३।४७।१०) मैंने १२ वर्ष तक श्रीरामके घरमें सभी सुख भोगे हैं। मेरे भर्ताकी आयु २५ वर्ष और मेरी १८ की थी। इससे वनमें आई सीताकी आयु १८ वर्ष की थी और विवाहके बाद १२ वर्ष तक वह ससुराल रही। इससे छः वर्ष बच रहते हैं। तब क्या सीताकी अवस्था विवाहके समय ६ वर्षकी थी ? वस्तुतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है। सीता विवाहके समय पूर्णवयस्क, पतिसंयोगके अनुकूल, बुद्धिमती थी। डा. नानूराम व्यास, श्रीअनन्त-सदाशिव, और पादरी फादर उक्त श्लोकको प्रक्षिप्त मानते हैं।

(घ) जनक जी कहते हैं–'भूतलादुत्थितां तां तु वर्धमानां ममात्मजाम्' (१।६६।१५) इस प्रकार जब मेरी आत्मजा–मेरे आत्मा वा शरीरसे उत्पन्न हुई मेरी कन्या सीता वर्धमाना–प्राप्त-यौवना वा यौवन-सम्पन्न हुई' इससे विवाहके पूर्व सीताके शरीरमें यौवनावस्थाका सूत्रपात हो गया था; अतः समुपस्थित-यौवन-रामचन्द्रजीके साथ जब सीताका विवाह हुआ; तो वह भी वर्धमाना (प्राप्तयौवना) थी।

(ङ) 'रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिः सहिता रहः' (१।७७।१४) सीता-माण्डवी आदियोंने एकान्तमें अपने पतियोंके साथ रमण किया। 'रेमिरे'का अर्थ 'रमण करना' होता है। इससे सीता आदि चारों बहिनोंकी आयुका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। राम-लक्ष्मण तो थे ही प्राप्तयौवन। पौराणिकोंके मतमें ६ वर्ष की कन्याके साथ रमण कैसे किया जा सकता है? इसी प्रकार अध्यात्मरामायणमें भी कहा है–'रामलक्ष्मणशत्रुघ्न-भरताः···स्वां स्वां भार्यामुपादाय रेमिरे स्वस्वमन्दिरे। रामः सीतासमन्वितः। रेमे वैकुण्ठसदने स्त्रिया सह यथा हरिः' ॥

गौश्चरति' उदाहरण है। ४०६-१ 'विष्णुः त्रिविक्रमावतारं कृत्वा' (यजुः ५।१५) यहां श्रीमहीधराचार्यने वामनावतार माना है। ४३६-५ शाङ्खायनगृ. (१।१४।१२)। (शेष आगे)

(च) सीताने अनसूयासे कहा था—'पतिसंयोगसुलभं वयोऽवेक्ष्य पिता मम। चिन्तामभ्यगमद् दीनो वित्तनाशादिवाधनः' (२।११८।३४) पिताको मेरी पतिसंयोगसुलभ अवस्था देखकर ऐसी चिन्ता हुई, जैसे निर्धनको धन-नाश होने पर होती है। विवाहसे पूर्व सीताजीके लिए 'पतिसे संयोगके लिए सुलभ वय' प्रयुक्त हुआ है; और विवाहके बाद 'रेमिरे' शब्द आया है, अतः इसका अर्थ सहज ही यह होता है कि—'वर्धमाना'-पत्नीके साथ 'प्राप्तयौवन' पतिका मिलाप हुआ।

(छ) अध्यात्म-रामायणमें 'सीता···स्मितवक्त्रा स्मयमाना मुदं ययौ' इन शब्दोंसे तथा 'वस्त्रान्तर-व्यञ्जितस्तनी'से विवाहके समय सीता 'प्राप्तयौवना' सूचित होती है। 'पति-संयोग-सुलभ, रेमिरे मुदिता रहः, वस्त्रान्तर—व्यञ्जितस्तनी' आदिकी साक्षी पढ़कर कोई भी संस्कृतज्ञ सीताकी अवस्था ६ वर्ष की नहीं मान सकता। ('पथिक' वेदवाणी १३।१० में)

(उत्तरपक्ष) (क) इन सभी आपत्तियोंका विस्तीर्ण प्रत्युत्तर आगे दिया जाने वाला है। यहां केवल यह कहना है कि—प्रतिपक्षी लोग चालाकियाँ करके अर्थका अनर्थ कर देते हैं। जब यज्ञकी रक्षाके लिए रामको मांगने आये श्रीविश्वामित्रको श्रीदशरथने श्रीरामकी १६ वर्षसे कमकी आयु बताई, जिसका भाव यह था कि—१६ वर्षके क्षत्रियकुमारको कवच आदि पहनाया जाता है, और युद्धमें भेजा जाता है। यह वैसा नहीं। पर विश्वामित्र रामकी वास्तविकता दशरथको समझाकर रामको ले गये। यज्ञ समाप्त करके उसे जनकपुरीमे ले गये, और श्रीरामका विवाह हुआ। इसमें विवाहके समय श्रीरामकी 'ऊनषोडशवर्ष' आयु स्वतः सिद्ध हो गई। क्योंकि—श्रीवाल्मीकिके अनुसार यह सब एक मासके समयमें हो गया। तब ऊनषोडश-वर्षके राम इससे

बड़े कैसे हो गये ?

(ख) शेष है रामआदिके लिए 'रूपयौवनशालिनः' शब्द. सो यहां उसी ऊनषोडशवर्षकी अवस्थामें उनका यौवनारम्भ बताया गया है, यह सुश्रुतानुसार भी ठीक है—यह हम अभी कहने वाले हैं; वैसे भी अनुपपन्न नहीं: जबकि उपनयनमें पढ़े जाते हुए 'युवा सुवासाः' इस मन्त्रके द्वारा ८ वर्षके वटुको (देखो स्वा० द० जीकी संस्कार-विधि उपनयन—प्रकरण पृ० ८४) 'युवा' सूचित किया गया है। महाभारतमें १२ वर्षकी उत्तराको 'वयःस्था' (युवति) (विराट. ७२।४) कहा गया है। १६ वर्षसे कमके अभिमन्युको भी 'युवा' (७।४८।२७) कहा है। तब क्या प्रतिपक्षी उपनेय-वटुको २५ वर्षका बताकर 'व्रात्य' सिद्ध कर देगा ? वस्तुतः पक्षपातका आवरण कुछ देखने नहीं देता।

प्रतिपक्षीने 'आ षोडशाद् वृद्धिः, आ पञ्चविंशतेर्यौवनम्' इस सुश्रुतके वचनका अर्थ अपने अनुसार भी अशुद्ध किया है। 'आ षोडशाद् वृद्धिः'का '१६ वें वर्ष तक वृद्धि' यह अर्थ तो कुछ ठीक किया है, और उसी अर्थ वाले 'आ पञ्चविंशतेर्यौवनम्'के आङ्का अर्थ '२५वें वर्षमें यौवन है' यह कैसे किया ? यहाँ दोनों स्थान 'आङ्'का समान अर्थ है, पर प्रतिपक्षीने पहले 'आङ्'का अर्थ '१६वें तक वृद्धि' यह ठीक किया है, पर दूसरे आङ्का '२५ वर्ष तक यौवन' अर्थ न करके '२५वेंमें यौवन' यह अर्थ ठीक नहीं किया।

वस्तुतः यहां अर्थ था कि—जन्मके बादसे शुरू करके १६वें वर्षसे कुछ पूर्व तक तो लड़केकी वृद्धि होती है, और फिर १६ से शुरू करके २५वें वर्षसे कुछ पूर्व तक यौवन हुआ करता है, फिर २५ वर्ष से ४० वर्षके कुछ पूर्व तक सम्पूर्णता, फिर ४०वेंसे किञ्चित्-क्षीणता शुरू हो जाती है। मालूम होता है कि प्रति-

पक्षीने सुश्रुतका उक्त पाठ तथा अर्थ सत्यार्थप्रकाश वा भास्कर-प्रकाशसे लिया है, पर दोनोंके ही अर्थ अशुद्ध हैं, यह हम डंकेकी चोटसे कहते हैं। अपने पक्षके गिरनेके डरसे ही उन्होंने अशुद्ध अर्थ किया है; सो सोलह वर्षके लगभगके रामके लिए सुश्रुत-के प्रतिपक्षि-सम्मत-पाठके ही अनुसार 'समुपस्थित-यौवन' शब्द ठीक समन्वित हो जाता है। क्योंकि-१५वें वर्षसे कई मास ऊपरके व्यक्तिकी १६वें वषकी प्राप्ति निकट होनेसे, और १६वेंसे सुश्रुतानुसार यौवनके प्रारम्भ कहे होनेसे 'ऊनषोडश-वर्ष'के कुमारके लिए 'समुपस्थित-यौवन' शब्द पूराका पूरा सङ्गत हो जाता है। वही वहां 'रूपयौवन-शाली'का अर्थ है। 'समुपस्थित-यौवनौ'का 'यौवनावस्थाको प्राप्त' अर्थ करना प्रतिपक्षीका छल है। सुश्रुतके प्रतिपक्षीसे दिये हुए प्रमाणके अनुसार जब १६ वर्षसे यौवनका प्रारम्भ है, और २५वां वर्ष यौवनकी निष्ठा (चरम-सीमा) है; तो १५ वर्षकी अवस्था वालेके लिए 'समु-पस्थित-यौवन' कहना सर्वथा सङ्गत है। सोलह वर्षके लगभग क्षत्रिय अभिमन्युने जैसी वीरता महाभारतमें दिखाई; वैसे ही १६ वर्षके लगभगके रामने भी यज्ञ तथा जनकपुरीमें वैसी वीरता दिखलाई। अब अज्ञान वसिष्ठ आदि मुनियोंका न होकर प्रति-पक्षोका हो अपना अज्ञान सिद्ध हुआ। यज्ञोपवीती ८-११-१२ वर्षके वटुको भो जब 'युवा सुवासाः परिवीत आगात्' में 'युवा' कहा जाता है, जैसे यहां यौगिक यौवन है, वैसे राम आदिकेलिए भी प्रतिपक्षी समझ ले। राम आदि प्रायः समान आयुके थे, क्योंकि-पुत्रेष्टियज्ञके पायससे सभोकी भिन्न-भिन्न रानियोंसे प्रायः समान-समयमें उत्पत्ति हुई थी।

(ग) और फिर जोकि सीताके अपने स्पष्ट-वचनसे जिससे सीता-रामकी विवाहावस्था स्पष्ट होती थी, उसे प्रतिपक्षीने

नानूरामव्यास तथा एक पादरीके कहनेसे प्रक्षिप्त मान लिया; क्या वे श्रीकृष्णद्वैपायनव्यास वा श्रीवाल्मीकिमुनि हैं कि-प्रतिपक्षीने उनके आगे सिर झुका दिया ? यह अंग्रेज या अंग्रेजी दृष्टिकोण रखने वाले इस विषयमें ठीक ज्ञान नहीं दे सकते। प्रतिपक्षी भी मालूम होता है कि—संस्कृत पूर्ण नहीं जानता जोकि इन अंग्रेजीके विद्वानोंके आगे उसने सिर झुका दिया। उसकी संस्कृतज्ञताका एक आदर्श 'आलोक'के पाठकगण भी देखें-'भूतलादुत्थितां तां तु वर्धमानां ममात्मजाम्' इस सीताके जन्मके बताने वाले पद्यको उसने सीताके विवाहमें लगा दिया! और 'वर्धमानां'का 'प्राप्तयौवना' अर्थ करके 'प्राप्तयौवना-पत्नीके साथ प्राप्तयौवनपतिका मिलाप' तात्पर्य बता दिया। 'आत्मजा' का अर्थ 'जनकके शरीरसे उत्पन्न हुई' कर दिया। जनकजीका भी 'गर्भाशय' बना दिया।

सीता तो अयोनिजा लड़की थी, जनकजीने उसे केवल पाला था। इसी पालकपिताके नाते उसे 'आत्मजा' कहा। जैसे कि-कण्वमुनि मेनकाकी लड़की शकुन्तलाके पालक-पिता होनेसे उसे अपनी लड़की कहते थे, और उसका विवाह भी पितृत्वके नाते कर दिया। उसके लिए पुत्रीवाचक 'दुहितरं' शब्द 'इयं च वः सखी तदात्मजा' (१ माङ्क) एतदादिस्थलोंमें दुहिता, आत्मजा, सुता, तनया, आदि शब्द आये हैं। तब क्या प्रतिपक्षीकी नीतिसे कण्वको शकुन्तलाका उत्पादक मान लिया जावेगा ? यदि नहीं, तब यहां भी जनक सीताका उत्पादक नहीं, किन्तु धर्मपिता था; और ममता हो जानेसे सीताको उसने 'आत्मजा' कहा।

'भूतलादुत्थितां तां तु' पद्यमें जनकजीने यज्ञ-भूमिमें हल चलाते हुए सीताकी पृथिवीतलसे उत्पत्ति बताई है। इसी कारण उसका नाम 'सीता' रखा गया था। 'सीता' हल की

रेखाको कहते हैं, स्थान-स्थानपर इसीलिए उसे 'अयोनिजा' कहा है कि—वह योनिसे उत्पन्न नहीं हुई। पैदा होनेके साथ ही वह खूब बढ़ गई, इसीलिए उसे 'वर्धमाना' कहा है कि—'बढ़ रही हुई।' जैसे सत्यनारायणव्रतकथामें बनियेकी लड़कीको चन्द्रमा की भाँति बढ़ रहा हुआ कहा गया है, इसीलिए ही उसका नाम 'कलावती' रखा गया था।

(ङ) जो कि 'रेमिरे'का 'रमण' अर्थ प्रतिपक्षीने किया, सो वहां 'रमण'का अर्थ 'आमोद-प्रमोद' ही है, जिसे अपने बड़ोंके आगे करना असभ्यता समझकर 'रहः' (एकान्त)में कहा गया। 'मैथुन' अर्थ माना जावे; तो वहां 'रहः' व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि—जब मैथुन किसीके सामने नहीं होता; उसकेलिए 'रहः' कहना असाभिप्राय ही हो जावेगा। कविलोग मैथुनका वर्णन ग्राम्यतावश नहीं करते। तब वह आमोद-प्रमोद ६ वर्षकी कन्यामें कैसे असम्भव है? यही अर्थ अध्यात्मरामायणके 'रेमिरे' का भी है।

(च) 'पतिसंयोगसुलभवय'का अर्थ भी विवाह-योग्य अवस्था ही है। कन्याका विवाह उसका उपनयनस्थानीय माना जाता है, सो 'राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे' (मनु० २।३७) के अनुसार जब बलार्थी क्षत्रियका छठे वर्षमें उपनयन माना गया है; तब क्षत्रिया लड़कीका उपनयनस्थानीय विवाह भी छठे वर्षमें शास्त्रानुसार हो सकता है। विशेष स्पष्टता आगे होगी।

(छ) अध्यात्मरामायणके 'स्मितवक्त्रा, स्मयमाना मुदं ययौ' इसमें छः वर्षकी लड़कीके लिए क्या असम्भव है? वह मुस्कराती हुई माला वरको पहनाने जा रही हो, इसमें असम्भव क्या है? शेष है 'वस्त्रान्तर्व्यञ्जितस्तनी' सो पुष्ट-शरीरवाली लड़कीके कुचोंका उभार छोटी आयुमें भी वस्त्रोंसे प्रतीत होने

लग जाता है, यह लोकसिद्ध बात है। स्वा. द. जीने जो अमैथुन-योनिकी सृष्टि कराई है, वे स्त्रीपुरुष उत्पत्तिवाले दिन ही युवा थे। यहां भी सीता-रामकी अमैथुनयोनिता थी, तब सीताके छठे वर्षमें यह भला असम्भव कैसे हो सकता है? तब 'इस प्रसंगको पढ़कर कोई भी संस्कृतज्ञ यह नहीं कह सकता, कि—सीताकी अवस्था छः वर्षकी थी' यह प्रतिपक्षीकी घोषणा गलत है। बहुश्रुत संस्कृतज्ञ तो यह मान सकता है, पर संस्कृतका अपूर्णज्ञाता अंग्रेजी-चश्मेके आवरणसे यह नहीं जान सकता।

प्रतिपक्षीने केवल अनुमानके घोड़े दौड़ाए हैं। विवाहके समय सीताकी ६ वर्षकी नहीं, तो कितने वर्षकी अवस्था थी, यहां रामायणका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं दिया; न ही उसकी कोई निश्चित—अवस्था लिखी है। केवल हुक्म चढ़ा दिया कि—सीताकी विवाहके समय छः वर्षकी आयु कदापि नहीं हो सकती'। हम कहते हैं कि—शास्त्रों एवं रामायणादिके अनुसार छः वर्षकी आयु हो सकती है। यह हम पूर्वापरकी संगति-सहित दृढ-प्रमाणोंसे आगे विवेचना दे रहे हैं, जिसमें प्रतिपक्षियोंके सभी ऊहापोहों-का समाधान हमने कर दिया है। श्रीरामकी आयु १५-१६ वर्षकी प्रतिपक्षीने दबे-शब्दोंमें मान ली। क्योंकि—उसकेलिए उसने ऐसा स्पष्ट फतवा नहीं दिया। सो जब विवाहमें राम १६ वर्ष से कुछ कम थे; तो उनकी पत्नी सीता भला उनसे बड़ी कैसे हो सकती है? ६-१५ वर्षका अन्तर सुश्रुतके अन्तर (६ वर्ष)से भी मेल खाता है।

आशा है—पाठक इस सूत्रके भाष्यरूप आगेके निबन्धोंको मनोयोगसे पढ़ेंगे, जिससे उनकी इन विषयकी सभी शङ्काएं मिट जाएंगी; तब उन्हें प्रतिपक्षियोंका कोई भी तर्क प्रभावित न कर

सकेगा।

(२) श्रीसीता-रामकी विवाहायु।

विवाहके समय श्रीराम तथा श्रीसीताकी आयु कितनी थी; इस विषयमें बड़े-बड़े अनुसन्धाताओंको भी सन्देह बना हुआ है; वे उस समय श्रीरामकी आयु २५ वर्ष, और श्रीसीताकी आयु १७ से २४ वर्ष तकके अन्दर मानते हैं; पर वाल्मीकि-रामायणके अनुसार यह बात सिद्ध नहीं होती। तदनुसार विवाहके समय श्रीरामकी आयु १२ या १५ तथा श्रीसीताकी आयु ६ वर्षकी थी। आजका नव-शिक्षित समाज यह न समझ सके, यह भिन्न बात है, पर इतिहासमें तो ऐसा ही है। अद्यतन-समाज यदि उसे न मान सके, तो इससे उस इतिहासमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इस पर रामायणके प्रमाणोंको उद्धृत कर हम उस पर विचार करेंगे। उन पर जो सन्देह हो सकते हैं; उनका भी परिहार किया जायगा। 'आलोक' पाठक-गण इस आवश्यक-विषय पर ध्यान अवश्य देंगे; यह उनसे आशा है।

(१) 'वाल्मीकि-रामायण'में एक पद्य मिलता है-'ऊन-षोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः। न युद्धं-योग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः॥' (बालकाण्ड २०। २) यह महाराज-दशरथका ऋषि-विश्वामित्रके प्रति वचन है; जब वे ताड़का-मारीच आदिके बधके लिए श्रीरामको अपने यज्ञके निर्विघ्नतार्थं ले जाना चाहते थे। यहां 'ऊन-षोडशवर्ष'का अर्थ है सोलह वर्षसे कम। अन्य पद्योंके संवादसे प्रतीत होता है कि-राम उस समय बारह वर्ष-के थे। जैसे कि-'बालो ह्यकृतविद्यश्च न च वेत्ति बलाबलम्। न चास्त्रबल-संयुक्तो न च युद्ध-विशारदः॥' (बालकाण्ड २०।७) 'बालं मे तनयं ब्रह्मन्! नैव दास्यामि पुत्रकम्' (१।२०।२५) यहां पर वार-वार श्रीरामकी बालावस्था दिखलानेसे श्रीराम १२ वर्ष-

के सिद्ध होते हैं। 'ऊन-षोडश-वर्षः' यह श्रीदशरथका वचन तो श्रीरामके यौबनाऽभावको बतानेके लिए है; क्योंकि महाराज अपने प्रिय रामको राक्षसोंसे लड़ाई-रूप कठिन कार्यमें नहीं भेजना चाहते थे; अतः उन्होंने श्रीविश्वामित्रके आगे कोई प्रत्यक्ष-निमित्त तो रखना ही था। यौवनका आरम्भ प्रायः १६ वें वर्षसे माना जाता है। इसी लिए उक्त पद्यके व्याख्यानमें 'कतक'ने भी कहा है-'षोडश-वर्षः क्षत्रिय-कुमार एव कवच-धरो युद्धार्हः-इति शास्त्रम्' अर्थात् सोलह वर्षका ही क्षत्रिय-कुमार कवच धारण करता है; और शास्त्रानुसार युद्धके योग्य होता है। तब श्रीराम-के १२ वर्षका होनेसे उसकी युद्धको अयोग्यता दिखलाना श्री-दशरथको इष्ट था; जिससे ऋषि उस रामको युद्धार्थ न ले जावें। यदि श्रीरामकी उस समय २४-२५ वर्षकी अवस्था होती; तो श्री-रामके न भेजनेका यह प्रत्यक्ष-व्याज दशरथका कभी बन नहीं सकता था।

(२) पाठकगण अरण्य-काण्डमें भी दृष्टि डालें। मारीच अपने-द्वारा राम-पत्नी जानकीको चुराना चाहते हुए रावणको उस समयका हाल बताता है; जब कि विश्वामित्रके यज्ञके समय वह विघ्न डाल रहा था, और श्रीरामने अपने प्रबल-बाणाघात-से उसे समुद्र-पार फेंक दिया था। प्रकरणकी सङ्गति दिखलानेके लिए वह रावणको पहले विश्वामित्रका दशरथके पास जाना और उसे रामके ले जानेके लिए कहना-यह वृत्त सुनाकर फिर दशरथके वाक्यका अनुवाद करता है-'बालो (ऊन) द्वादश-वर्षो-यमकृतास्त्रश्च राघवः' (अरण्यकाण्ड ३८। ६) यहां पर श्रीराम-को अवस्था स्पष्ट-रूपसे बारह वर्षके लगभग बताई गई है। फिर मारीच विश्वामित्रद्वारा कहे गये वाक्यका अनुवाद करता है-'बालोऽप्येष महातेजाः समर्थस्तस्य निग्रहे' (३८। ११) अर्थात्

बालक भी राम मारीच-राक्षसका दमन कर सकता है।

अब मारीच स्वयं भी श्रीरामकी अवस्थाका वर्णन करता है—'अजात-व्यञ्जनः श्रीमान् बालः श्यामः शुभेक्षणः।' (३।३८।१४) 'अदृश्यत तदा रामो बालचन्द्र इवोदितः' (३८।१५) आगे वह कहता है—'अवजानन्न संमोहाद् बालोऽयमिति राघवम्। विश्वामित्रस्य तां वेदिमभ्यधावं कृतत्वरः ॥' (३८।१८) एवमस्मि तदा मुक्तः सहायास्ते निपातिताः। अकृतास्त्रेण रामेण बालेनाक्लिष्ट-कर्मणा' (३८। २२) इत्यादि प्रमाणोंसे श्रीरामकी बारह वर्षकी आयु सिद्ध होती है। 'रघुवंश'में श्रीकालिदासने भी यही संकेतित किया है—धनुष तोड़नेके समय उसने श्रीरामका शैशव दिखलाया है। जैसे कि 'तस्य वीक्ष्य ललितं वपुः शिशोः' (११।३८) 'अब्रवीच्च भगवन् ! मतङ्गजैर्यद् बृहद्भिरपि कर्म दुष्करम्। तत्र नाहमनुमन्तुमुत्सहे मोघवृत्ति कलभस्य चेष्टितम्' (११। ३९) यह जनककी उक्ति है अर्थात् 'बड़े हाथियोंसे भी कठिनतासे साध्य कार्यको मैं बच्चे-हाथीसे नहीं कराना चाहता'। जब विश्वामित्र रामको मांगते आये; तब 'रामसम्ध्वर-विघात-शान्तये काकपक्षधरमेत्य याचितः। ... तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते' (रघु. ११। १) यहां रामका विशेषण 'काकपक्षधारी' (जुल्फें रखे हुए) दिया है। कवि लोग इसे छोटे बच्चेकेलिए प्रयुक्त करते हैं; अतः प्राचीन-टीकाकार श्रीमल्लिनाथने यहां टीका की है-'बालकोचितशिखाधरं रामम्'। इसो १२-१३ वर्षके लगभग रामकी आयु होनेसे उसे बतानेकेलिए ४र्थ पादमें अर्थान्तरन्यास अलंकारका प्रयोग किया कि—तेजस्वियों की आयु नहीं देखी जाती। इसीलिए ही 'एवमाप्तवचनात् स पौरुषं काकपक्षकधरेऽपि राघवे। श्रद्दधे' (११।४२) यहांपर 'काकपक्षकधरेऽपि' में 'अपि' शब्द दिया गया है कि उस छोटे कुमारमें भी जनकने विश्वामित्रके कहनेसे

बलका विश्वास किया। इस प्रकार श्री कालिदासने भी यहां पर श्रीवाल्मीकि-मुनिकी तरह रामकी छोटी ही अवस्था बताई है। अस्तु।

विश्वामित्रके यज्ञके समयमें जब श्रीराम यज्ञको पूर्ण करवाकर विश्वामित्रके साथ मिथिलाको प्राप्त हुए, और धनुष तोड़कर उन्होंने सीतासे विवाह किया; उस अवसरपर रामायणानुसार एक महीनेकी संख्या मालूम पड़तो है; इसमें बालकाण्ड २३। १ से ७३। २६ तक दिनोंकी गणना करने पर प्रतीत होता है। इससे सिद्ध होता है कि—विवाहके समयमें श्रीरामकी कुछ अधिक १२ वर्षकी आयु थी।

(३) अब इस विषयमें पाठकगण श्रीसीताजीका वचन भी देखें, जिससे हमारे पक्षकी पुष्टि होती है। उस वचनसे श्रीराम तथा सीता दोनोंकी विवाहकी आयु सिद्ध होजाती है। उस वचनका प्रकरण यह है कि—जब रावण सीताको चुरानेके लिए श्रीरामकी अनुपस्थितिमें उनकी कुटियामें आया; तो पूर्व परिचय पूछनेपर श्रीसीता रावणको कहती हैं—'मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः। अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते' (अरण्य काण्ड ४७। १०-११) यहाँ श्रीसीताने ६-७-८ पद्योंके अनुसार वनवास प्राप्त होनेके समयकी अपनी तथा अपने पतिकी आयु बतलाई है। यहांपर 'रामाभिराम'ने इस प्रकार लिखा है—"वन-निर्गमन-काले' इति शेषः"। रामायण-शिरोमणिने यहाँ इस प्रकार व्याख्या की है—'मम भर्ता वयसा पञ्चविंशकः—पञ्चविंशेन युक्ताः काः (वह्नयः) त्रयो यस्य सः, अष्टाविंशतिकः इत्यर्थः" अयोध्यातो निर्गमन-काले"। पहले रामाभिरामने वन-निर्गमन-समयमें रामकी आयु २५ वर्षको बताई है; उनके अनुसार रामको विवाहके समय आयु कुछ अधिक बारह वर्ष की बैठती है; और

रामायण-शिरोमणिने अयोध्यासे वनको ओर निकलनेके समय-की श्रीरामकी आयु २८ अट्ठाईस वर्षकी बताई है; इसके अनुसार श्रीरामकी, विवाहके समयमें १५ पन्द्रह वर्षकी आयु सिद्ध होती है।

यहांपर गोविन्दराजने अपनी टीकामें यों लिखा है—'मम भर्ता पञ्चविंशति-वर्षाणि अर्हतीति पञ्चविंशक: (आर्हीयो वुन्) राम-स्य जन्मारभ्य द्वादशे वर्षे विश्वामित्रागमनम्, तदनन्तरं वैदेह्या सह नगरे द्वादश वर्षाणि निवासं कृतवान्। तत: परं त्रयोदशे वर्षे यौवराज्याभिषेकारम्भ:, ततश्च वनप्रवेश-समये राम: पञ्चविं-शतिवर्षार्ह:' अर्थात्—जब राम १२ वर्षके थे; तो तब विश्वामित्र आये। फिर विवाह होनेपर राम सीताके साथ १२ वर्ष घरमें रहे, इस प्रकार वे २४ वर्षके हुए। फिर १३ वें वर्षमें श्रीरामका यौवराज्य अभिषेक प्रारम्भ हुआ। पर वनमें जाना पड़ गया; इस कारण वे उस समय पच्चीस सालके थे।

इस प्रकार सीताने अपने पति की तथा अपनी वनवास-प्राप्ति-समय की आयु बताई। कैकेयीसे विघ्नित राज्याभिषेकसे पूर्व श्रीसीताने 'उषित्वा द्वादश समा इक्ष्वाकूणां निवेशने। भुञ्जाना मानुषान् भोगान् सर्वकामसमृद्धिनी" (अरण्य० ४७।४) इस प्रकार १२ वर्ष अपना ससुरालमें रहना बताया। 'तत्र त्रयो-दशे वर्षे राजाऽमन्त्रयत प्रभु:। अभिषेचयितुं रामं समेतो राज-मन्त्रिभि:' (४७।५) १२ वर्ष बीत जानेके बाद राज्याभिषेक प्रारम्भ होने पर कैकेयी-द्वारा विघ्न होनेसे तेरहवें वर्षमें बनवास मिला। उस वनवास मिलनेके समयमें श्रीसीताने (४७।११ पद्यमें) अपनी आयु १८ वर्षकी बताई है। ४७।४ पद्यमें विवाह-के बाद बनवाससे पूर्व १२ वर्ष तक अपना ससुरालमें निवास सूचित किया है। १८ से १२ को घटानेमें ६ वर्ष बचते हैं, वह

अवस्था सीताके विवाहकी हुई। इसलिए 'पद्म-पुराण'में भी कहा गया है—'राम: पञ्चदशे वर्षे षड्वर्षामथ मैथिलीम्। उपयेमे विवाहेन रम्यां सीतामयोनिजाम्॥' (३६। १५) इसी प्रकार 'स्कन्द-पुराण'में ब्रह्मखण्डान्तर्गत धर्मारण्यखण्ड अध्याय ३० में भी कहा है। 'अग्निवेश्य-रामायण'में भी कहा है—'राम: पञ्चदशे वर्षे षड्-वर्षामथ मैथिलीम्। उपयेमे त्वयोध्यायां द्वादशा-ब्दानुवास स:। सप्तविंशतिमे वर्षे वनवासमकल्पयत्। अष्टादश तु वर्षाणि सीतायास्तु तदाऽभवन्' यह वचन 'रामाभिरामी' टीकामें ६। ११० सर्गके अन्तमें उद्धृत किया गया है। 'लोमश-रामचरित' में भी कहा गया है—'राम: पञ्चदशे वर्षे षड्-वर्षामथ मैथिलीम्। उपयेमे विवाहेन रम्यां सीतामयोनिजाम्। ततो द्वादश-वर्षाणि रेमे रामस्तया सह। सप्तविंशतिमे वर्षे यौवराज्यम-कल्पयत्' (१६-१७)

(४) ये ही बातें श्रीसीताने युद्ध-काण्डमें भी सूचितकी हैं। 'न प्रमाणीकृत: पाणिर्बाल्ये मम निपीडित:' (६। ११८। १६) यहांपर रामाभिरामी-टीकामें लिखा है—"बाल्ये कृतं धर्मप्रयो-जकं पाणिग्रहणमपि त्वया परित्यागे न प्रमाणीकृतम्' यहांपर राम तथा सीताका बाल्यावस्थामें विवाह माना गया है। 'बाल्ये मम निपीडित:' यहांपर 'बालेन मम पीडित:' यह पाठान्तर है। फलत: इससे दोनोंके विवाहमें बाल्यावस्था व्यक्त होती है। श्री-रामकी तब १६ से नीचे १२ वर्षकी अवस्था और सीताकी ६ वर्ष की अवस्था हुई। इस प्रकार बाल्यावस्था स्वत: सिद्ध होगई।

(५) सीताकी ६ वर्षकी इस आयुका भवभूतिकविने रामके मुखसे स्वाभाविक-चित्र 'उत्तर-रामचरित्र' में खिचवाया है। जैसे कि—

'राम:—(सास्रम्) स्मरामि, हन्त! स्मरामि, 'जीवत्सु तात-

पादेषु नूतने दारसंग्रहे । भ्रातृभिश्चिन्त्यमानानां ते हि नो दिवसा गता:' (१ । १६) इयमपि तदा जानकी—'पतन-विरलैः प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुड्मलैर्दशनकुसुमैर्मुग्धालोकं शिशुर्दधती मुखम् । ललितललितैर्ज्योत्स्नाप्रायैरकृत्रिमविभ्रमैः, अकृत मधुरैरम्बानां मे कुतूहलमङ्गकैः' (१ । २०)

यहांपर सीताकी विवाहायु स्पष्टतासे ६ वर्षकी सूचित की गई है। यहांपर प्राचीन-टीकाकार 'वीर-राघव'की की हुई व्याख्या इस प्रकार है—"पतनेन प्रस्थित-दशन-पतनेन, विरलैः-सान्तरालैः। प्रान्तेत्यादि-अत्र उन्मीलच्छब्दः प्ररोहद्दन्तपरः, दशन-कुसुमैरिति रूपक-साहचर्यात् । तथा च उन्मीलदेव—उद्यन्नूतन दशनाङ्कुर एव च मनोहर-कुड्मलं प्रान्ते येषामित्यादि । अनुकम्पितैरङ्गैः अङ्गकैः। यद्वा-अल्पैरङ्गैस्तनुभिः'—यहां पर सीताके दूधके दांतोंका गिरना तथा नवीन दांतोंका पैदा होना वर्णित किया गया है; जो कि ६ वर्षके लगभगमें होता है । इसीलिए ही यहां सीताके लिए 'शिशु' शब्द आया है । यही 'उत्तररामचरित'में अन्य स्थानपर भी सूचित किया है—'न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये बालेन पीडितः' (७ । ५) यहां सीताकेलिए 'बाल्ये' शब्द है, और रामकेलिए 'बालेन' शब्द है ।

'वाल्मीकि-रामायण' युद्ध-काण्ड ३२ सर्गमें भी सीताने यही सूचित किया है । " बालां बालेन (भवता) संप्राप्तां भार्यां मां सहचारिणीम् । संश्रुतं गृह्णता पाणिं चरिष्यामीति यत् त्वया' (३२ । २०) यहां भी सीताने विवाहावसरमें अपने लिए 'बालां' तथा रामके लिए 'बालेन' यह शब्द कह कर हमारा पक्ष सिद्ध कर दिया है । इतनी साक्षी होनेपर भी रामायण के उक्त सीता-वचनको 'वेदवाणी' (१३ । १०) में 'पथिक'का प्रक्षिप्त कहना अवोधमूलक है । इस प्रकार नानूराम-व्यास आदिका कथन भी

वैसा ही है । इसे हम आगे भी सिद्ध करेंगे ।

श्रीरामके राज्याभिषेक-सम्भवके समय अथवा यही कहना चाहिये कि—वनवासके समय ३ । ४७ । १० पद्यानुसार श्रीरामकी २५ वर्षकी अवस्था बताई है । बारह वर्ष तक श्रीराम सीताके साथ घरमें रहे । तेरहवे वर्षमें राज्याभिषेकका भङ्ग एवं वनवास हुआ । इस प्रकार २५ और १३ अङ्क के घटानेपर शेष बारह वर्ष बचते हैं । इससे श्रीरामका विवाह कुछ अधिक बारहवें वर्षमें हुआ—यह सिद्ध हो गया । बारह वर्ष सीताने श्वशुर-गृह निवास किया; इसमें सुन्दरकाण्डस्थ श्रीसीताका हनूमान्के प्रति कहा हुआ निम्न-वचन भी प्रमाण है—'समा द्वादश तत्राहं राघवस्य निवेशने । भुञ्जाना मानुषान् भोगान् सर्वकामसमृद्धिनी' (३३ । १७) ततस्त्रयोदशे वर्षे राज्ये चेक्ष्वाकुनन्दनम् । अभिषेचयितुं राजा सोपाध्यायः प्रचक्रमे' (३३ । १८) ।

(६) जो लोग 'ऊन-षोडश-वर्षो मे रामो राजीवलोचनः' (१ । २० । २) इस पद्यका १२ वर्ष अर्थ रामकी अवस्थाका स्वीकार नहीं करना चाहते; उनके मतमें विश्वामित्रके साथ जानेकी रामकी अवस्था १५ वर्षकी थी । 'योग-वसिष्ठ' रामायणमें भी श्रीरामकी अवस्था १५ वर्षकी मानी गई है । 'मम भर्त्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः (३ । ४७ । १०) यहांपर उनके मतमें 'वयसा सप्तविंशकः' पाठ है । अथवा रामाभिरामके अनुसार 'पञ्चविंशकः' का अर्थ 'अतिक्रान्त-पञ्चविंशकः' यही है । अर्थात् वह पच्चीस वर्षको लांघ चुके हैं, अथवा २७ वर्षके हैं । रामायण-शिरोमणिकारके अनुसार 'पञ्चविंशकः' यह दो पद हैं; जिनका अर्थ पच्चीस और तीन अर्थात् श्रीरामकी उस समयकी अठाईस वर्षकी आयु थी । इस प्रकार श्रीरामकी अवस्थामें बारहवां या पन्द्रहवां वर्षका मतभेद होनेपर भी हमारे पक्षकी कोई हानि

नहीं। श्रीसीताकी तो विवाह-समयमें छः वर्षकी अवस्था थी—इसमें तो किसीका मतभेद नहीं मिलता।

(७) वास्तवमें शास्त्रोंमें कन्या-विवाहकी अवस्थाके नियत करनेमें ही मतभेद पाया जाता है, पुरुषके विवाहकी अवस्थामें तो शास्त्रानुसार स्वतन्त्रता मानी गई है। इसीलिए ही 'त्रिंशद्वर्षो वहेत् कन्यां (९। ९४) इस मनुस्मृतिके पद्यकी मन्वर्थमुक्तावलीमें श्रीकुल्लूकभट्टने पुरुषकी विवाहावस्थाकेलिए कहा है—'एतच्च योग्यकाल-प्रदर्शनपरम्, नतु नियमार्थम्। प्रायेण एतावता कालेन गृहीतवेदो भवति। त्रिभागवयस्का च कन्या वोढुर्यूनो योग्येति गृहीतवेद-श्चोपकुर्वाणको गृहस्थाश्रमं प्रति न विलम्बेतेति सत्वर इत्यस्यार्थः' अर्थात् पुरुषकी विवाह-वय कुछ निश्चित नहीं है, किन्तु जब वह वेदको समाप्त कर चुके; तब गृहस्थाश्रमके ग्रहणमें देरी न करे, क्योंकि—ब्रह्मचर्याश्रमका सम्बन्ध वेद एवं वेदकी समाप्तिसे है। ब्रह्म-वेदः, तदध्ययनार्थमाचर्यमाणं व्रतमपि ब्रह्म, तच्चरणं ब्रह्मचर्यम्। तच्चरतीति ब्रह्मचारी'। इससे स्पष्ट है कि वेदको जब ही समाप्त कर ले, उस समय वह गृहस्थाश्रमका अधिकारी हो सकता है, क्योंकि ब्रह्मचर्य वेद पढ़नेके लिए ही लेना पड़ता है। यह 'ब्रह्मचर्य' शब्दके विग्रहसे बताया ही जा चुका है—इसी कारण श्री मनुजीने भी ब्रह्मचर्यकेलिए कहा है—'षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्। तदर्धिकं पादिकं वा, ग्रहणान्तिकमेव वा' (३। १) व्रतसे यहां वेदाध्ययनरूप व्रत है।

(८) उक्त-पद्यके अन्तिम-अंश 'ग्रहणान्तिकमेव वा' के व्याख्यान में श्रीकुल्लूकभट्टने लिखा है 'यावता कालेन उक्तावधेरूर्ध्वम् अधो वा वेदान् गृह्णाति; तावत्काले व्रताचरणम्', अर्थात् वेदकी समाप्ति जब ही कर ले; जो अवधियां दी गई हैं, उनसे

पूर्व ही वा पीछे, वेदकी समाप्ति कर ले; तभी तक ब्रह्मचर्य-आश्रम रखे। इसीलिए ही श्रीमनुने 'वेदान्' इस बहुवचनको भी अविवक्षित माना है, और कहा है—'वेदानधीत्य, वेदौ वा, वेदं वापि यथाक्रमम्। अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्' (मनु० ३। २) यहां पर एक वेदको समाप्त करके भी गृहस्थाश्रमका स्वीकार कहा गया है। इसी कारण 'वैखानसगृह्यसूत्र'में भी कहा गया है—'प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वा··· वेदान्, वेदौ, वेदं वा सूत्र-सहितमध्यापयति' (२।१२) यहां पर एक वेदका अध्ययन भी अनुज्ञात किया गया है। 'यावद्ग्रहणं वा (पारस्क० २। ५।१५) यहां पर भी जब तक वेद समाप्त कर ले, तब तक ब्रह्मचर्य रखे-यह कहा है।

इसी प्रकार मनुने (३। १ पद्य में) 'पादिक' ब्रह्मचर्यसे भी व्रतकी समाप्ति मानी है। पादिक-ब्रह्मचर्य नौ वर्षका होता है। 'वाराहगृह्यसूत्र' में भी वेदग्रहणावधि ब्रह्मचर्य माना है—'द्वादश वर्षाणि एकवेद-ब्रह्मचर्यं चरेद् ·····यावद्ग्रहणं वा' (षष्ठ खण्ड)। 'बोधायन-धर्मसूत्र' में भी कहा है—'ग्रहणान्तं वा, जीवितस्य अस्थिरत्वात्' (१। २। ४) अर्थात् जीवन अस्थिर होता है, कोई पता नहीं, कब समाप्त हो जावे। अतः जभी वेदका ग्रहण कर ले, तभी तक ब्रह्मचर्य व्रत करके फिर विवाह कर ले।

फलतः ग्रहणान्तिक आदि किसी भी ब्रह्मचर्यको पूरा करके फिर गुरुकी अनुमतिसे स्नातक होकर विवाह कर सकता है। जैसे कि श्रीमनुजीने कहा है—'गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि। उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥' (मनु० ३। ४) यह सब बातें भगवान्-राममें भी घटा लेनी चाहियें। श्रीराम आदिने वेद एवं धनुर्वेद शीघ्र ही समाप्त कर

लिया था, अतः वे स्नातक हो चुके थे। जैसे कि 'वेद-वेदांग-तत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः' (१।१।१४) 'सम्यग् विद्याव्रत-स्नाता यथावत्-साङ्गवेदवित्' (२।२।३४) इस 'विद्याव्रतस्नात' का लक्षण पारस्करगृह्यसूत्रमें कहा है–'वेदं, व्रतं च (नववर्ष-रूपं) उभयं समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्नातकः' (२।५।३५) यहां पर 'व्रत'का अर्थ कमसे कम ९ वर्षका ब्रह्मचर्य विवक्षित है। स्वा.द.जोकी संस्कारविधिमें लिखा है–'सब मिलाके नौ वर्षोंके भीतर चारों वेदोंको पढ़ना', (वेदारम्भ पृ. ११३)। विद्यास्नान पृथक् हो, व्रतस्नान पृथक्, ऐसा नहीं होता। 'धनुर्वेदे च वेदे च वेदाङ्गेषु च निष्ठितः' (सुन्दर० ३५।१४) 'चरित-ब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य धीमतः' (२।८२।११) इन पद्योंमें श्रीरामके स्नातकत्वका संकेत दिया गया है। तभी उनके विवाह-का विचार भी महाराज-दशरथ कर रहे थे। जैसे कि वाल्मीकि-रामायणमें कहा है–'ते चापि (रामलक्ष्मणादयः) मनुजव्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः। पितृशुश्रूषणरता धनुर्वेदे च निष्ठिताः। अथ राजा दशरथस्तेषां दारक्रियां (विवाहं) प्रति। चिन्तयामास धर्मात्मा सोपाध्यायः सबान्धवः।।' (१।१८।३६-३७)

'राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे' (२।३७) मनुके इस वचनके अनुसार श्रीरामके छठे वर्षमें उनका उपनयन समझना चाहिये। उनके १५ वें वर्षमें मनुप्रोक्त, ९ वर्षके पादिक ब्रह्मचर्य-व्रतकी समाप्ति और उसके बाद उनका विवाह समझना चाहिये। तब इस अवस्थाका उनका विवाह धर्म-शास्त्रानुकूल हो सिद्ध हो जाता है। इसका मूल 'आनन्द-रामायण'के 'सारकांड' में भी पाया जाता है–'अथ पित्रोपनीतास्ते (रामादयः) गुरुणा मुनिभिर्मुदा। गर्भसंवत्सरे षष्ठे जन्मतः पंचमे समे' (६।१२६)। 'जैमिनि-गृह्यसूत्र'में–'द्वादश वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यम्, जननात् प्रभृति, इत्येके

यावदध्ययनं वा' (१।१८) यहां पर जन्मसे बारह वर्ष तक वेद-ब्रह्मचर्य माना गया है। उसकी समाप्तिमें विवाह स्वतः प्राप्त है। इस प्रकार विवाहके समय श्रीरामकी १५ वर्ष वा १२ वर्षसे कुछ अधिक अवस्था सिद्ध हो जानेसे दोनों ही अवस्थाओंमें धर्म-शास्त्र वा धर्मसूत्रकी अनुकूलता होकर संगति लग जाती है। इसमें असम्भव नहीं समझना चाहिये। इसमें आर्यसमाजका ब्रह्मचारी-उषर्बुध १२ वर्षका वेद-विद्या पढ़ गया। लोकोत्तर-राममें तो उसका असम्भव कैसे हो? जैसे लोकोत्तर परमात्मामें निमित्त-कारणतापक्षमें उसका सर्वव्यापकत्व भी मान लिया जाता है, अन्यथा लौकिक-निमित्तकारण कभी अपने कार्यमें सर्वव्यापक नहीं रहता; वैसे ही लोकोत्तर तथा विष्णुदेवके अवतारभूत श्रीराममें विद्याव्रत-स्नातकत्व इस छोटी उम्रमें भी स्वतः—सिद्ध है।

पुरुषके विवाहमें कारण वेदाध्ययनव्रतकी समाप्ति हुआ करती है, तब वह वेदकी अर्थात् शिक्षाकी समाप्ति होनेपर ही विवाह करनेमें अधिकृत हो जाता है। उसमें अवस्था-नियमन दृढ निर्णीत नहीं; परन्तु स्त्रीके विवाहमें मतभेद नहीं होता। ऋतु-कालसे पूर्व ही कन्याका विवाह हो—इसमें सभी शास्त्रकारोंका ऐकमत्य है; पर ऋतुकाल सब देशोंकी कन्याओंका समान-आयुमें नहीं हुआ करता। ऋतु कन्याओंका प्रायः बारह वर्षके अन्तमें हो जाता है, कहीं अधिकाधिक सोलह वर्षके अन्तमें भी। कहीं नवम-वर्षके आरम्भमें भी होजाता है। इसीलिए ही 'त्रिंशद्वर्षो वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्' (मनु० ९।९४) यहां बारह वर्षकी कन्याका 'त्रिंशद्वर्षः षोडशाब्दां भार्यां विन्देत नग्निकाम्' (उद्वाहतत्त्वस्थ-महाभारत-वचन) यहां सोलह वर्षकी लड़कीका, 'विवाहो ह्यष्टवर्षायाः कन्यायास्तु प्रशस्यते' (संवर्त० ६८) 'त्र्यष्ट-

वर्षोऽष्टवर्षां वा' (मनु० ९ । ९४) यहां आठ वर्षकी लड़कीका विवाह मिलता है। इस भेदका कारण ऋतुके आनेका भेद है।

शास्त्रानुसार विवाहका विधान ऋतुसे पूर्वताका है। 'देश-दर्शन' पुस्तकके १३४ पृष्ठमें लिखा है कि वहां पर (इंगलेंड)में भी १२ से १७ वर्षमें और कभी-कभी नौ वर्षकी आयुमें ही लड़कियां रजस्वला हो जाती हैं।' 'The origin of Life' (Page 363) जहां इंगलेंड-जैसे ठंडे देशमें भी ९ वर्षमें रजस्वलात्व होता है; तो हमारे उष्ण-देशमें इससे भी पूर्व हो सकता है। इस प्रकार ऋतुकालके भेदसे कन्याके विवाहकी आयुमें भी भेद हुआ करता है। श्रीसीताका भी जो ६ वर्षकी आयुमें विवाह हुआ था, उसमें भी इसी तरहका कारण था। अर्थात् उसके ऋतुकालके शीघ्र प्राप्त होनेकी आशा थी। तब शास्त्रानुसार ही राजा जनकने उसका विवाह ६ वर्षमें ही कर दिया। यह बात पाठक आगे देखें।

(२) श्रीसीताकी विवाहायुमें आक्षेप।

श्रीरामका १२ वें वा १५ वें वर्षमें विवाह हुआ, और श्री-सीताका छठे वर्षमें, यह हम पहले सप्रमाण बता चुके हैं। पर कई महाशयोंको इसमें 'वाल्मीकिरामायण' के कई पद्योंकी असङ्गति दीख पड़ती है। उनका अभिप्राय यह है कि-'विवाहके अवसर-पर सीताकी आयुकी १७ से २४ के भीतर थी, छः वर्षकी नहीं'। हम उनसे उद्धृत उन पद्योंपर विचार करके फिर अपना पक्ष सिद्ध करेंगे।

पहले यह जानना चाहिये कि-श्रीरामकी विवाहके समयकी आयु १५ वर्षसे अधिक कहीं भी नहीं बताई गई है। गो० तुलसी-दासजीने भी 'वयस किशोरा' लिखकर श्रीरामकी धनुषभङ्गके समय किशोर अवस्था मानी है। तब श्रीरामकी अवस्था तो वहीं

१२ से १५ वर्षतककी रही; पर यदि श्रीसीताकी उस समय १७ से २४ वर्षतककी आयु मानी जावे; तो 'बहू बड़ी पर छोटे लाला' यह कहावत सिद्ध होकर मर्यादा-पुरुषोत्तमकी मर्यादा-हीनता हो जायगी। अतः ऐसा नहीं हो सकता। तब यहां श्रीवाल्मीकि-प्रोक्त-सीताकी ६ वर्षकी ही विवाहायु ठीक है। परन्तु आक्षे-प्ताओंका कथन यह है कि-

(१) 'पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता। चिन्तामभ्यगमद् दीनो वित्तनाशादिवाधनः' (२। ११८। ३४) यह वचन श्रीसीता-ने श्रीअनसूयाको कहा था कि-मेरे पिताजी मेरी पतिसे संयोग करने योग्य अवस्थाको देखकर दीन होकर ऐसे चिन्तित होगये, जैसे निर्धन-पुरुषको धन-नाश उपस्थित होनेपर चिन्ता हो जाया करती है।" इससे सीताकी अरक्षणीयता बताकर श्रीजनककी उससे चिन्ता बताई गई है। इससे अनुमान है कि-सीताकी आयु १७ से २४ वर्ष तककी थी। ६ वर्षकी उसकी आयु माननेपर उक्त पद्यकी सङ्गति नहीं बैठती"।

हम पूर्वपक्षियोंकी इस युक्तिपर-जिन्हें वे एक अकाट्य-प्रमाण माने हुए हैं, विचार करते हैं। इसपर हमारा कथन यह है कि-प्रतिपक्षियोंके इस अनुमानका गत-निबन्धमें कहे हुए श्रीसीताके स्पष्ट-वचनके आगे-जिसमें उसकी ६ वर्षकी विवाहायु बताई गई है-कोई मूल्य नहीं। अनुमान व्यभिचारी भी हो जाया करता है। यहां भी वही बात है। उक्त-पद्यमें 'पतिसंयोगसुलभं वयः'का अर्थ अन्य कुछ नहीं, किन्तु 'मेरी (सीताकी) विवाह-योग्य अवस्था देखकर' यह अर्थ है। 'पतिसे सम्भोगयोग्य आयु देखकर' ऐसा असभ्यताका अर्थ श्रीसीता अपनी मान्य और बड़ी श्रीअन-सूयाके आगे कभी नहीं रख सकती थी। 'पत्या-भर्त्रा संयोगः-सम्बन्धः, विवाह इत्यर्थः; तत्सुलभं वयः- अवस्था, तद् दृष्ट्वा'।

यही अर्थ यहांपर है। सो जैसे 'दारकर्मणि, मैथुने' (मनु० ३।५) यहांपर 'दारकर्म'का अर्थ 'विवाह' है, 'मैथुन' नहीं; नहीं ता 'मैथुने' यह पृथक् कहा हुआ शब्द व्यर्थ हो जाता है, वैसे ही 'पतिसंयोग'का अर्थ भी 'विवाह' ही है, 'मैथुन' नहीं।

इसी प्रकार 'भुञ्जाना मानुषान् भोगान् सर्वकामसमृद्धिनी' (३।४७।४) इस संन्यासीके वेषमें आये हुये रावणके प्रति कही हुई सीताकी उक्तिमें भी खाना-पीना, वस्त्र आदि पहनना-यही सुख-भोग विवक्षित है, 'मैथुन' नहीं। किसी अपरिचित गैर-पुरुष, विशेष करके संन्यासीको ऐसी निर्लज्जताकी बात कही भी नहीं जा सकती। 'सर्वकामसमृद्धिनी'का 'अब मेरी कोई भी वासना शेष नहीं' यह 'पथिक' का किया अर्थ निर्मूल है।

इसी प्रकार 'तेषां दारक्रियां प्रति' (१।१८।३६-३७)इस 'रामायण'के पाठमें भी 'विवाह' अर्थ है, 'मैथुन' नहीं; इसी तरह 'पतिसंयोगसुलभं वयः'का अर्थ भी 'विवाहयोग्य-अवस्था' है, 'मैथुनकी अवस्था' नहीं। यहां 'रामाभिराम' टीकाने यही अर्थ लिखा है;..... 'पतिसंयोगसुलभं-पाणिग्रहणोचितम्'। यह अर्थ ठीक भी है, क्योंकि—जब पूर्वोक्त-प्रकारसे श्रीरामकी ही आयु विवाहके समय १२-१५ वर्ष है; तो श्रीसीताकी आयु भला श्रीरामकी आयुसे ऊपर १७-२४ वर्षकी कैसे हो सकती है?।

अब जब 'पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा' में श्रीसीताकी 'अपनी वैवाहिक-आयु' यही अर्थ इष्ट है; तब 'पतिसे संयोगकेलिए सुलभ वय' यह कहकर 'पथिक'का 'वेदवाणी' (१३।१०) में 'मैथुनकी योग्य वय' यह तात्पर्य निकालना अज्ञान है। इस अर्थका खण्डन पूर्व किया जा चुका है। तब 'वैवाहिक-आयु' यही अर्थ सिद्ध हो गया। सो शास्त्रोंमें कन्याका विवाह आठ वर्षकी आयुमें भी मिलता है। देखिये संवर्तस्मृति—

'विवाहो ह्यष्टवर्षायाः कन्यायास्तु प्रशस्यते' (६८)। व्यासस्मृतिमें भी देखिये—'घृताधोवसनां गौरीं (अष्टवर्षां) विख्यातदशपूरुषाम्' (२।३)। अन्य देखिये—'एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोपि गयां व्रजेत्। गौरीं वा वरयेत् कन्यां नीलं वा वृषमुत्सृजेत्' (बोधायनीयगृह्यशेषसूत्र ३।१६।१३) गौरीकी परिभाषा होती है—'अष्टवर्षा भवेद् गौरी' (पराशरस्मृ. ७।६) सो यहां भी आठ वर्षकी कन्याका विवाह कहा है। 'पातञ्जलमहाभाष्य'के २।२।६ सूत्रके भाष्यमें ब्राह्मणका 'गौर' होना धर्म लिखा है। 'गौर'का अर्थ श्रीनागेशभट्टने इसप्रकार लिखा है—'गौर इत्यस्य तु 'अष्टवर्षा तु या दत्ता श्रुतशीलसमन्विते। सा गौरी, तत्सुतो यस्तु गौरः स परिकीर्तितः'। इसका आशय यह है कि—ब्राह्मणका उपनयन संस्कार ८ आठ वर्षमें होता है; ब्राह्मणीका विवाह ही उसका यज्ञोपवीत होता है, यह बात 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः' (मनु. २।६७) मनुपद्यमें स्पष्ट है। तब ब्राह्मणीका उपनयन-प्रतिनिधि विवाह भी आठवें वर्षमें हो सकता है। आठ वर्ष वाली लड़कीकी संज्ञा 'गौरी' हुआ करती है। जब उस गौरीका पुत्र होगा; तो उसका नाम 'गौर' होगा। इससे गौरी (८ वर्ष वाली) का विवाह भी सिद्ध हो गया।

'त्र्यष्टवर्षोष्टवर्षां वा' (९।९४) यहां पर मनुजीने भी आठ वर्ष वाली कन्याका विवाह माना है। वेदमें भी 'इयमग्ने! नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति' (अथर्व० २।३६।३) इस मन्त्रमें सोम देवताके आधिपत्यमे भी पति-प्राप्ति कही है। 'सोमो गौरी अधिश्रितः' (ऋ० ९।१२।३) 'गौरी'का अर्थ 'गौर्याम्' है। 'सुपां सुलुक्' (७।१।३९) इस पाणिनिसूत्रसे ङि का लुक् हुआ है।

'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' (पा. १।१।१९) इस सूत्रसे प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव होजानेसे सन्धिका अभाव हुआ है। तब अर्थ हुआ कि—सोम-देवताका 'गौरी'में अधिकार होता है। 'गौरी' कहते हैं—आठ वर्ष वाली कन्याको, अष्टवर्षा भवेद् गौरी' (पराशरस्मृति ७।६) इससे आठ वर्ष वाली लड़कीका विवाह सिद्ध हुआ।

'महाभारत'में 'सप्तवर्षामवाप्नुयात्' (अनुशासनपर्व ४४।१४) इसप्रकार सात वर्ष वाली कन्याका विवाह भी देखा गया है। 'पराशरमाधवीय'में 'जन्मतो गर्भाधानाद् वा पञ्चमाब्दात् परं शुभम्। कुमारीवरणं दानं मेखलाबन्धनं तथा' इस प्रकार पांचवें वर्षके बाद कन्याका विवाह शुभ कहा गया है। 'राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे' (मनु.२।३७) इस वचनसे क्षत्रियका छठे वर्षमें भी उपनयन-संस्कार कहा है। स्त्रियोंका विवाह ही उपनयनस्थानापन्न होता है। (मनु.२।६७) तब क्षत्रिय-बाला सीताका उपनयनस्थानापन्न विवाह भी तदनुसार छठे वर्षमें होना शास्त्रीय है। इस प्रकार कन्याके विवाहमें बहुत से विकल्प हैं। श्रीजनक इन पारम्परिक (परम्परासे आये हुए) कन्याविवाहबोधक वचनोंके जानने वाले होनेसे उनके पक्षपाती हो सकते हैं। विकल्पोंमें अपनी प्रियता अपेक्षित होती है। 'याज्ञवल्क्य-स्मृति'में लिखा है—'स्वस्य च प्रियमात्मनः। ...साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्' (आचाराध्याय उपोद्घात-प्रकरण ७ म श्लोक) इसमें मिताक्षराने लिखा है—'स्वस्य च आत्मनः प्रियं वैकल्पिकविषये, यथा—'गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे' इत्यादौ आत्मेच्छैव नियामिका'। इस प्रकार इन कन्याविवाहावस्थाके विकल्पोंमें श्रीजनकको ६ वर्षमें लड़कीका विवाह करने का पक्ष प्रिय था; अतः उन्होंने सीताका विवाह भी छठे वर्षमें करना ठान लिया था। उसमें एक अन्य कारण भी था, जो आगे कहा जावेगा। उस अवस्थाके व्यतिक्रममें अपने प्रिय वा मान्य धर्मके

भङ्गका भय होनेसे 'धर्म एव हतो हन्ति' (मनु० ८।१५) इस प्रकार श्रीजनककी चिन्ता ठीक ही थी। 'न्यायदर्शन' में लिखा है 'अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्' (२।१।५९) 'विकल्पमें जिस धर्मके पक्षको स्वीकार कर लिया गया हो; उसमें यदि कालभेद कर दिया जाय, तो दोष लगता है—यह इस सूत्रका प्रकृतोपयुक्त अर्थ है। तब पूर्ण-धर्मातमा जनक भला अपने धर्ममें दोष क्यों आने देते?

यद्यपि 'काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि। न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्' (मनु० ९।८९) यह अपवाद-वचन श्रीजनकके समक्ष था कि—चाहे लड़की ऋतुमती हुई-हुई सारी आयु भी पिताके घर बैठी रहे, पर उसे गुणहीन-पुरुषको कभी न दे—तथापि धर्मात्मा लोग अपवाद-वचनोंसे अपने धर्मको व्यवस्थित नहीं समझते; किन्तु उत्सर्गवचनोंसे ही वे अपने धर्मको व्यवस्थित समझते हैं। और फिर इस पद्यका ऋतुमती लड़कीके घर बिठानेमें तात्पर्य नहीं है; किन्तु ऋतुकालसे पूर्व ही लड़कीको गुणवान्-वरको दे देनेका तात्पर्य है। तब श्रीराम-सदृश गुणवान् सुपात्र वरके आ जानेसे 'अप्राप्तामपि (अप्राप्तविवाहकालामपि) तां कन्यां तस्मै दद्याद् यथाविधि' (मनु० ९।८८) इस मनुवचनके अनुसार मन्वभिमत आठ वर्ष से कम छः वर्ष वाली लड़कीका विवाह जनकके पक्षमें शास्त्राभिमत सिद्ध हो जाता है। उक्त-मनुपद्यका अर्थ यह है—यदि गुणवान् वर मिल जावे; तो अप्राप्ता अर्थात् अप्राप्तविवाहकाला लड़कीका भी विवाह कर देना चाहिये। 'वैद्यनाथदीक्षितीय'में यमका यह वचन पाया जाता है—'बालिशा (बाला) या भवेत् कन्या गुणाढ्यो यदि लभ्यते। दद्याद् अप्राप्तकालेपि देशकालभयान्नरः' इस वचनसे मनुपद्यके उक्त-अर्थकी पुष्टि हो जाती है। 'आनुशासनिक' में भी लिखा है—'जातमात्रा तु दातव्या कन्यका सदृशे नरे। काले

दत्तासु कन्यासु पिता धर्मेण युज्यते'। यह भी प्रकृतोपयुक्त स्पष्ट-वचन है।

'कुलाचारादिभिरुत्कृष्टाय सुरूपाय समानजातीयाय वराय अप्राप्तकालामपि 'विवाहयेद् अष्टवर्षामिवं धर्मो न हीयते' इति दक्षस्मरणात्, तस्मादपि कालात् प्रागपि कन्यां ब्राह्मविवाह-विधिना दद्यात्' यह श्रीकुल्लूकभट्टने उक्त मनु-(९। ८८) पद्यका अर्थ लिखा है; इससे अष्टम वर्षसे पूर्व भी गुणवान् वर श्रीराम-के मिलनेसे श्रीसीताका ६ वर्षकी आयुमें विवाह कर देना स्मृति-विरुद्ध न ठहर कर स्मृत्यनुकूल ही सिद्ध होता है।

पर आजकलके अर्वाचीन-विचारवाले वादी गण-'चिन्ता-मभ्यगमद् दीनो वित्तनाशादिवाधनः' (वाल्मी.२। ११८। ३४) इस पूर्व कहे गये रामायणीय-पद्यपर बहुत उछल-कूद मचाते हैं। इससे वे श्रीसीताकी अरक्षणीयता और उसकी २४ वर्षके लगभग विवाहके समयकी अवस्थाका अनुमान करते हैं। यद्यपि हम इसका युक्तियुक्त और वास्तविक समाधान कर चुके हैं; तथापि वादियोंका इस पद्यमें अधिक आग्रह होनेसे हम भी इस पर अधिक विचार दिखलाना चाहते हैं। पाठकगण अवधानसे देखेंगे-

हम पूर्व कह चुके हैं कि-कन्याका ऋतुकालसे पूर्व ही विवाह शास्त्रनियमित है। ऋतुकालके बाद 'माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च। त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्' (पराशरस्मृति ७। ७) कन्या-विवाह करने पर तो इस प्रकार शास्त्रोंमें निन्दार्थवाद कहा है। सीताकी अवस्था यद्यपि छे वर्ष की थी; तथापि उसके ऋतुकाल आनेकी शीघ्र सम्भावना थी। उसका कारण गम्भीर है। वह यह है कि श्रीसीता मैथुनयोनि नहीं थीं; किन्तु पृथिवीको फोड़कर उत्पन्न हुई थी। जैसे कि-

'वाल्मीकिरामायण' में लिखा है-'भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत' (बालकाण्ड ६६। १४) 'अयोनिजा' (६६। १५) 'भूतलादुत्थितां तां तु वर्धमानां ममात्मजाम्' (१। ६६। १५) इसका 'वेद-वाणी' (१३। १०) में 'इसप्रकार जब मेरी आत्मजा मेरी आत्मा से व मेरे शरीरसे उत्पन्न हुई सीता वर्धमाना (प्राप्तयौवना) हुई' यह पथिकने अर्थ किया है, 'इसमें 'भूतलाद् उत्थिताम्' इस पदका अर्थ छिपा लिया गया, जिससे वह 'अमैथुनयोनि' सिद्ध होती है। सो 'आत्मजा' यहाँ 'पुत्री'का पर्यायवाचक तो है, यौगिक नहीं। क्या आत्मासे भी कोई पैदा होता है? क्या पिताके शरीरसे भी कोई पैदा होता है? कभी नहीं। जनक-राजाकी पृथिवीसे वह उत्पन्न हुई थी। राजा पृथिवीका पति माना जाता है, इस रूपमें सीताकेलिए जनकने 'आत्मजा'का प्रयोग किया है। वह योनिजा नहीं थी। 'सुतामयोनिजां सीतां' (१। ६६। २७, २। ११८। २८-३०, ३७, उत्तरकाण्ड १७। ३२-३६, ९८। ७, सुन्दरकाण्ड १६। ६)। इस प्रकार 'पद्मपुराण' में भी कहा है-'अयोनिजा······सीता-मुखोद्भवा सीता'। इन प्रमाणोंसे सीता-को अमैथुन-योनि और पृथिवीसे उत्पन्न होनेके साथ ही उसका शरीरमें बहुत बढ़ जाना भी लिखा है।

मैथुन-योनि और अमैथुनयोनिके उत्पत्तिकालमें शारीरिक-वृद्धिका क्रम समान नहीं हुआ करता। मानुषिक-गर्भाशयमें परिमितता होनेसे ऊष्मा (गर्मी) नियत होती है; पर भूमिका आशय तो अपरिमित और उस पृथिवीमें ऊष्मा (गर्मी) भी अनियमित अर्थात् बहुत ही होती है। इसी ऊष्माके ही कारण श्रीसीता-की उत्पत्तिके साथ ही शरीरकी वृद्धि भी बहुत हो गई-यह वहांका हा है। इसीलिए ही तो अयोध्याकाण्डमें कहा है-'अयोनिजां हि मां ज्ञात्वा नाध्यगच्छत् स चिन्तयन्। सदृशं चाभिरूपं च मही-

पाल: पतिं मम' (११८ । ३७) इससे स्पष्ट है कि--उसकी अयो-निज होनेसे शारीरिक-वृद्धि बहुत हो गई थी। वृक्ष भी तो पृथिवी-से उत्पन्न एवम् अयोनिज होते हैं; उनकी कितनी शीघ्र वृद्धि हो जाती है ? और स्त्री-वृक्षोंके कितनी जल्दी ऋतुमूलक पुष्प (रजस्व-लात्व) एवं फल (सन्तान) हो जाते हैं--यह बात लोकमें प्रत्यक्ष ही है। उन वृक्षोंका सदा भूमिसे सम्बन्ध रहता है; अतः उस भूमिकी ऊष्मासे उनकी वृद्धि भी शीघ्र हो जाती है। इसी प्रकार सीता भी पृथिवीसे उत्पन्न थी। अतः पृथिवीके सम्बन्धकी ऊष्मासे उस (श्रीसीता)की वृद्धि भी बहुत हो जानी थी। पर पृथिवीसे उत्पन्न होते ही वृक्षकी तरह उसका पृथिवीसे सम्बन्ध तो न रहा; अतः उसकी वृक्ष-इतनी उन्नति तो न हुई; फिर भी साधारण-गर्भाशयोत्पन्न मैथुनयोनि वाली लड़कीकी अपेक्षा श्रीसीताकी शारीरिक-उन्नति बहुत अधिक हो गई थी। कदा-चित् आगे श्रीसीताकी शारीरिक शीघ्र-वृद्धिकी भान्ति उसका ऋतुकाल भी कहीं शीघ्र प्रारम्भ हो जावे; क्योंकि--ऋतुकाल भी शारीरिक-वृद्धिकी अपेक्षा किया करता है। अल्प-आयु वाली भी परन्तु शरीरवृद्धि वाली, बलवान् शरीरवाली, कन्याके चिह्न छाती बढ़नेसे कुचोंका उद्गम आदि पहले प्रारम्भ हो जाते हैं; कुचोंके बाद ही ऋतुकालका उद्गम जारी हो जाना चाहता है, इधर समय पर कोई सीताके योग्य पति न मिल सके, क्योंकि--अभी तक भी धनुष तोड़नेमें समर्थ कोई पुरुष नहीं मिल रहा--यही सोच-कर श्रीजनकने धर्मशास्त्रनियमित कन्याविवाहावस्थासे पूर्व ही उसके स्वयंवरकी घोषणा कर डाली, जैसेकि पूर्व पद्य उद्धृत किया जा चुका है; और एक आगे आने वाला है। और सोचते-विचारते सीता छः वर्षकी होगई। पूर्व-पद्यमें 'अयोनिजां हिमां ज्ञात्वा' (२ । ११८ । ३७) यहां 'अयोनिजां' इस पदमें यह अभि-

प्राय गर्भित है। उसका स्पष्टीकरण करनेवाला अग्रिम पद्य यह है 'तस्य वुद्धिरियं जाता चिन्तयानस्य सन्ततम्। स्वयंवरं तनूजाया: करिष्यामीति धर्मतः' (२ । ११८ । ३८) इन पद्योंमें 'अयोनिजां मां ज्ञात्वा, चिन्तयानस्य सन्ततम्, धर्मतः स्वयंवरं करिष्यामि' ये पद साभिप्राय हैं। इनका अभिप्राय सङ्केतित किया जा चुका है। अब इसका विशदीकरण किया जाता है।

मानुषिक-सृष्टिक्रमसे विलक्षण उत्पत्तिमें मानुष-सृष्टिनियमित वृद्धिक्रम भी नहीं हुआ करता, किन्तु उससे विलक्षण ही हुआ करता है। इसमें जरायुजसे विलक्षण पृथिवीसे उत्पन्न होनेवाली उद्भिज्ज सृष्टिको ही देखिये। स्त्री-वृक्ष लता आदि कितनी शीघ्र पुष्प प्राप्त कर लेते हैं। श्रीसीता भी पृथिवीसे उत्पन्न थी; पर उद्भिज्जाकार न होकर मनुष्याकार थी। जरायुज-योनिमें भी मनुष्ययोनिसे भिन्न गाय आदि पशुयोनिको देखिये; उसमें मनुष्ययोनिकी अपेक्षा कितनी शीघ्र वृद्धि होती है ? प्रत्युत गायकी तो ढाई वर्षोंमें ही ऋतुमती हो जानेकी सम्भावना रहती है; तभी तो वह गर्भ लेती है।

इस सीताविषयमें शङ्कित दृष्टिवाले लोग अपने नेता श्री-स्वा. दयानन्दजीका वचन भी देखें। वे लिखते हैं--"आदि-सृष्टि मैथुनी नहीं होती।' (सत्यार्थ-प्रकाश ८ समुल्लास, १३८ वां पृष्ठ) यहां पर सृष्टिकी आदिमें अमैथुनयोनि होना सिद्ध हुआ। अप-वाद-न्याय से मध्यम-सृष्टिमें भी अमैथुनयोनिकी उत्पत्ति हो सकती है। '"आदिमें अनेक अर्थात् सैंकड़ों-सहस्रों मनुष्य उत्पन्न हुए ·· युवावस्थामें'' (पृ० १३६ में) इस सत्यार्थप्रकाशस्थ-वचनसे सिद्ध हुआ कि--अमैथुनिक-सृष्टि उत्पत्तिके समयमें ही युवा अर्थात्-दीर्घ-शरीर वाली हो जाती है। इस लिए स्वा. दयानन्दजीने उन आदिम स्त्री-पुरुषोंका विवाह भी उनके प्रकट होनेवाले दिन

कराया है, क्योंकि वे युवावस्थामें ही उन स्त्री-पुरुषोंकी उत्पत्ति और युवावस्थामें ही उन स्त्री-पुरुषोंका विवाह सिद्धान्तित करते हैं। यह हमारा पक्षपोषक प्रबल प्रमाण है।

परन्तु अमैथुनयोन्युत्पन्न व्यक्तिकी आयुकी वर्षसंख्या इस जगत्में आनेकी लोक वाली ही मानी जाती है। जैसे कि हमारा बालक गर्भमें नौ महीने तक ठहरता है, परन्तु वह उसकी नौ महीने वाली संख्या आयुकी गिनतीमें नहीं आती, किन्तु जब वह बालक बाहर प्राणि-संसारमें आता है; तभीसे उसकी आयुकी गणना की जाती है, पहले नहीं। ऐसा लोक-व्यवहार है। चाहे उत्पन्न होने वाला कृशाङ्ग हो, वा स्थूल हो, वह उत्पत्ति वाले दिन एक दिन का माना जाता है; ऐसे ३६० दिन बीत जाने पर ही वह एक वर्षकी आयु वाला माना जाता है; इस प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए। इसी भांति श्रीसीता भी 'अयोनिजा' (२।११८।३७) अर्थात् अमैथुनिक-योनि होनेसे उत्पन्न होती हुई ही अतिशयित शारीरिकवृद्धि वाली थी। जब सीताको उत्पन्न हुए अर्थात् प्राणि-संसारमें आये हुए ६ वर्ष हो गये; तब तो उसकी शारीरिक-वृद्धि-का स्वयम् अनुमान किया जा सकता है। तब श्रीसीताका मानुष-सृष्टिक्रमसे विलक्षण-उत्पत्तिवश ऋतुकाल भी मानुषिकस्त्रीसृ-ष्टिक्रमसे विरुद्ध कहीं शीघ्र न हो जाय; जैसे गौओंके मानुषिक-सृष्टिक्रमसे स्वभावतः विलक्षण होनेसे वह ढाई सालमें ही ऋतु-मती एवं गर्भग्रहणके योग्य हो जाया करती है; वैसे ही यहां भी ऋतुकाल कहीं शीघ्र न आजाय, जिससे मुझे प्रायश्चित्तीय बनना पड़ जाय—जैसे कि इस विषयमें पहले शास्त्रवचन उद्धृत किए जा चुके हैं। इससे उन वचनोंको मानने वाले श्रीजनकको स्वस्वीकृत धर्मके विलोप होनेकी सम्भावनासे इस विषयकी बड़ी भारी चिन्ता लग गई थी। यद्यपि सीता पृथ्वीकी ही लड़की थी, तथापि इस

समय राजा जनक तथा उसकी स्त्रीने ही अपनेको उसका माता-पिता बनाकर तथा उसको अपनी लड़की बनाकर उसको अपनी ही शिक्षा-दीक्षा देकर अपनी लड़की वाला शास्त्रीय-व्यवहार उसके साथ करना ही था। इसी कारण उसको 'आत्मजा' भी कहा, जैसे कि—कण्वमुनिने वस्तुतः विश्वामित्र-मेनकाकी भी लड़की शकुन्तलाको अपनी पुत्री मानकर उसका लालन-पालन किया, और उसे लड़कीकी ही भांति पतिगृह भेजा।

इधर कोई धनुषका तोड़ने वाला भी श्रीजनकको नहीं मिल रहा था। सब राजा लोग उस धनुषको भारी देख कर डरके मारे उसके उठा सकनेका साहस ही न होनेसे उसे नमस्कार करके ही चले जाया करते थे; जैसे कि 'वाल्मीकिरामायण' में ही कहा है—'तच्च दृष्ट्वा धनुः श्रेष्ठं गौरवाद् (भारवत्वाद्) गिरिसन्निभम्। अभिवाद्य नृपा जग्मुरशक्तास्तस्य तोलने।' (२।११८।४३) 'सुदी-र्घस्य तु कालस्य राघवोऽयं महाद्युतिः।......यज्ञं द्रष्टुं समा-गतः' (४४) इस प्रकार श्रीरामके आनेसे बहुत काल पहले धनुष तोड़ने वाला कोई क्षत्रिय न मिलनेसे श्रीजनककी चिंता बहुत बढ़ गई थी कि हमारी प्रतिज्ञाको पूरा करने वाला कोई क्षत्रियपुत्रक मिल नहीं रहा है; और यह कन्या पितृगृह में ही पूर्वकारणवश यदि ऋतुमती हो जाय; तो मुझे परलोकमें नरकवास मिलेगा—इस प्रकारकी चिंतासे धर्मात्मा जनककी चिंता बढ़ जानेसे उसके दैन्य (दीनता) का अनुमान सहजमें ही हो सकता है, जिसका सजीव चित्र वादियोंसे उपस्थापित 'पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता। चिन्तामभ्यगमद् दीनो वित्तनाशादिवाधनः' (वाल्मी. २।११८।३४) इस पद्यमें चित्रित किया गया है।

यदि प्रश्नकर्ता लोग थोड़े भी धर्मश्रद्धालु, होंतो वे सहज ही समझ सकते हैं कि धर्मश्रद्धालु एवम् अधर्मभीरु तथा एक शास्त्र-

विश्वासी पुरुषकी अपनी अनुमत कन्याकी शास्त्रनियमित विवाहावस्थाके व्यतिक्रममूलक धर्मभङ्ग उपस्थित होने पर किस प्रकारकी शोच्य एवं दयनीय दशा उपस्थित हो जाती है। श्रीसीता यहां अरक्षणीया नहीं हो गई थी, किन्तु श्रीजनकका ऋतुकालसे पूर्व कन्याविवाहरूप अपना धर्म ही अरक्षणीय हो गया था, जिसका सङ्केत 'धर्मे सीदति सत्वरः' (९।९४) इस मनुके पद्यमें आया है–उसीके नाश उपस्थित होने पर श्रीजनकको बड़ी भारी चिंता लग गई थी। 'वित्तनाशादिवाऽधनः' (२।११८।३४) यह उपमा उसपर सम्यक् प्रकाश डाल रही है। एक धर्मधनी धर्मके भङ्गसे निर्धन हो जावे, या उसे वैसे निर्धन बन जानेकी आशङ्का हो; तो उसे अपने धर्मधनके नाशकी कितनी चिंता हो जाती है ? धार्मिकोंको धर्मभङ्ग उपस्थित होनेपर जो चिंता उपस्थित होती है; उसे वे ही जान सकते हैं। प्रश्नकर्ता–सदृश धर्मका केवल बाह्य-आडम्बर दिखलाने वाले भला उस अवस्थाको कैसे जान सकते हैं ?

इसके अतिरिक्त वादियोंको यह स्वयं भी सोचना चाहिये कि–श्रीरामका श्रीसीताके साथ विवाह कब हुआ था ? इस पर यह जानना चाहिये कि–जब श्रीविश्वामित्र राक्षसोंको मारनेके लिए श्रीरामको अपने साथ ले गये; उसके एक-दो मास बाद श्रीविश्वामित्र राम-लक्ष्मणको लेकर जनकपुरीमें गये। तब श्रीश्रीरामने धनुषको देखा और उसे तोड़ा। इस समयमें श्रीरामकी कितनी अवस्था थी; यह 'रामायण'में देखना चाहिये। श्रीदशरथ ऋषिको कहते हैं कि–मैं रामको नहीं भेज सकता; क्योंकि–वह सोलह वर्षसे अभी कम है (१।२०।२); तो १२ वा १५ वर्षीय बालक रामके साथ १७-२४ वर्ष वाली सीताका विवाह ही कैसे होसकता था ? तब वादियोंका यह प्रयास व्यर्थ

ही है। वह 'वाल्मीकिरामायण'से विरुद्ध है। पूर्वोक्त मीमांसासे सिद्ध हो चुका है कि–वाल्मीकिरामायणानुसार श्रीसीताकी छठा वर्ष ही विवाहकी आयु है; यह न केवल प्रमाणपरिबृंहित ही है; किन्तु सोपपत्तिक भी है। इसमें कोई 'ननु-न च' करनेका अवकाश नहीं रहता।

संशोधन एवं परिवर्धन–२९४ पृष्ठ ७ पंक्ति–प्रतिपक्षीने पुराणस्थित महादेवके वचन-द्वारा शिवपुराण आदिको तामस तथा उनके अवलम्बनसे 'निरय' (नरक) की प्राप्ति बताकर आक्षेप किया है; इसका उत्तर प्रकारान्तरसे पूर्व दिया जा चुका है। हम इस विषयमें अन्य प्रकारसे ६३३ पृष्ठकी टिप्पणीमें (पं. १०) बता चुके हैं कि–वहां 'निरय' (नरक) एक पारिभाषिक-शब्द है। इस विषयमें हम महाभारतका प्रमाण देते हैं–'अमूनि यानि स्थानानि देवानां परमात्मनाम्। ...चतुर्णां लोकपालानां (इन्द्रादीनां) शुक्रस्याथ बृहस्पतेः। मरुतां विश्वदेवानाँ साध्यानामश्विनोरपि। रुद्रादित्यवसूनां च तथान्येषां दिवौकसाम्। एते वै निरयास्तात! स्थानस्य परमेष्ठिनः (शान्तिपर्व १९८। ३-६) यहां गायत्री आदि जपकर्ताकी गति कही है। यहां रुद्र आदि देवताओंके स्थानों (स्वर्गों)को पारिभाषिक-निरय (नरक) बताया गया है। 'कालः सम्पद्यते तत्र कालस्तत्र न वै प्रभुः। स कालस्य प्रभू राजन्! स्वर्गस्यापि तथेश्वरः। आत्मकेवलतां प्राप्तस्तत्र गत्वा न शोचति। ईदृशं परमं स्थानं, निरयाः ते च तादृशाः। एते ते [उक्तदेवानां लोकाः] निरयाः प्रोक्ताः सर्व एव यथातथम्। तस्य स्थानवरस्येह सर्वे निरयसंज्ञिताः' (१९८। ९-११) यहांपर परमस्थानको भी परिभाषासे निरय (नरक) बताया है। सो शिव आदि तामसपुराणोंको अवलम्बन करनेवालेका जो नरकमें जाना कहा है; वहां परोक्षतासे रुद्र आदिदेवोंके लोकोंकी प्राप्ति इष्ट है, निन्दा नहीं–

जो कि–कई व्यक्ति 'अध्यात्मरामायण' 'वाल्मीकिरामायण' की कई अन्य अन्तः-साक्षी तथा 'कल्कि-पुराण' आदिके प्रमाणोंसे श्रीसीताकी वैवाहिक आयु सत्रहसे चौवीस वर्षके भीतर मानते हैं; छः वर्षकी नहीं; उनका यह पक्ष ठीक नहीं–यह आगे देखें

आपातदृष्टिवाले अवहुश्रुत-प्रतिपक्षीको निन्दा झलक सकती है, बहुश्रुत विद्वान्को नहीं। वह जापकोंको महाभारतानुसार मिलने वाली पारिभाषिक-निरयकी प्राप्ति प्रतिपक्षीसे इष्ट पद्म-पुराण के 'तथैव तामसा देवि निरयप्राप्तिहेतवः' (उत्तर. २३६। २१) इस निरयप्राप्तिमें भी समन्वित कर लेनी चाहिये। दोनों स्थान 'निरय' शब्द समान है; आपाततः वहां निन्दा झलकती है; परन्तु भीतरी गंभीरतामें जानेसे तथा उसकी वास्तविक-परिभाषा जान लेनेसे निन्दा वहां नहीं रहती। जैसे कि वर्णिवेषधारी महादेवने 'वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु' (कुमार-सम्भव) इत्यदि पद्यसे पार्वतीके आगे विरूपाक्षता, अलक्षितजन्म, एवं दिगम्बरतासे अपनी आपाततः निन्दा की थी; पर वस्तुतः वहां इसीसे महादेवका महादेवत्व सिद्ध होनेसे स्तुतिमें पर्यवसान होता था; वैसे ही पुराणस्थ उक्त महादेवके वचनसे 'निरय' उक्त देवताओंके स्थानोंका पारिभाषिक नाम होनेसे वहांपर भी स्तुतिमें पर्यवसान हो जाता है। नहीं तो भला महादेव अपने पुराणकी निन्दा आप ही कैसे करें, यह अदूरदर्शी प्रतिपक्षी नहीं सोच सकता।

४४६-५ (स. प्र. १०)। ४४६-१४, १६ ध्वन्यालोक ३ य उद्योत)। ५१६-१ भीमसेन। ५३८-२१ 'वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञः' (रामः) (वाल्मी. १। १।१४) ५३६-१०, १४ तैत्तिरीयारण्यक। ५४०-२ गरुड। ५४३-२६ सारूप्य। ५६१-१० लेखकी। ६०५-१३ छूत। (शेष आगे देखिये।)

४ श्रीसीताकी वैवाहिक-आयुमें अन्य आपत्तियां।

श्रीरामका विवाह १२ वें वा १५ वें वर्षमें तथा श्रीसीताका विवाह छठे वर्षमें हुआ था–यह हम पहले प्रमाणोपपत्तिमहित सिद्ध कर चुके हैं; तथापि कई महाशय फिर भी यह न मानकर रामायणकी कई अन्तः–साक्षियों तथा ग्रन्थान्तर-स्थित रामकथाके प्रमाणोंसे श्रीसीताकी विवाहावस्था १७ से २४ वर्षके अन्दर सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं। पाठक उनके प्रमाणोंको और उस पर की हुई हमारी मीमांसा को तोलें; फिर उन्हें सत्य पक्ष स्वयं प्रतीत हो जावेगा।

(क) कई महोदय कहते हैं कि–'अध्यात्मरामायण' में धनुष-भङ्गके अवसर पर 'सीता स्वर्णमयीं मालां गृहीत्वा दक्षिणे करे। स्मितवक्त्रा स्वर्णमयी सर्वाभरणभूषिता। मुक्ताहारैः कर्णपत्रैः क्वणच्चलितनूपुरा। दुकूलपरिसंवीता वस्त्रान्तर्व्यंजितस्तनी। रामस्योपरि निक्षिप्य स्मयमाना मुदं ययौ' यहां पर श्रीसीताका 'वस्त्रान्तर्व्यंजित-स्तनी' यह तथा 'स्मितवक्त्रा' और 'स्मयमाना मुदं ययौ' यह विशेषण आया है। इसमें वस्त्रके अन्दर उसके स्तनोंका प्रतीत होना और मुस्कराना कहा है; तब वह (सीता) वाल्मीकिरामायणानुसार छः वर्षकी किस प्रकार हो सकती है? उसकी अवस्था तो १७-२४ वर्षकी होनी चाहिये–'। इस पर उन महाशयोंको यह जानना चाहिये कि– यद्यपि वादी लोगोंकी दृष्टिमें भी 'वाल्मीकिरामायण'के स्पष्ट-वचनोंके आगे दूसरी रामायणोंका मूल्य उतना नहीं है; केवल वे अपने मत वा स्वार्थकी सिद्धिके लिए ही समय पर अपने अनभीष्ट पुस्तकों, भिन्न रामायणोंके वचन भी उद्धृत कर दिया करते हैं; तथापि 'वस्त्रान्तर्व्यञ्जितस्तनी' इस विशेषणसे भी श्रीवाल्मीकिप्रोक्त श्री-

सीताकी छः वर्षकी अवस्थामें कोई व्याकोप नहीं होता। स्मित-आदिसे १७-२४ वर्षका अनुमान लगाना तो गलत है ही, छोटी अवस्था वाली लड़कियोंमें भी मुस्कराना होता ही है। बड़ी अवस्था वाली तो लज्जावश इस अवसर पर मुस्कराती नहीं, किन्तु गम्भीर बनी रहती है।

यह हम गत-निबन्धमें ही सिद्ध कर चुके हैं कि—मैथुनयोनि और अमैथुनयोनिकी शारीरिक वृद्धिका समान क्रम नहीं हुआ करता। इसीलिए 'न मैथुनेन सम्भूता निष्पापाः पाण्डवा मताः' (भारतसार, उद्योगपर्व ५५। ३१) विना मैथुन से उत्पन्न पाण्डव एक वर्षके होते हुए भी पांच वर्षके मालूम होते थे। जैसे कि—'अनुसंवत्सरं जाता अपि ते कुरुसत्तमाः। पाण्डुपुत्रा व्यराजन्त पञ्चसंवत्सरा इव' (महाभारत आदिपर्व १२४। २२)। और यह बात भी लोकसिद्ध है कि—कुचोंकी उत्पत्ति बाह्य-रजोदर्शनसे पहले ही प्रारम्भ हो जाती है। तब अमैथुनयोनि एवम् अयोनिज सीताकी उस छः वर्षकी आयुमें 'वस्त्रान्तर्व्यञ्जितस्तनत्व' असम्भव नहीं है। आरम्भिक-अल्पकुचोंका उद्गम होनेपर भी वस्त्रोंके अन्दरसे उनकी प्रतीति हो जाती है। इसका प्रमाण भी 'महाभारत' में देखिये—

'द्रुपदस्य सुता ह्येषा वेदिमध्यात् समुत्थिता। अयोनिजा महाभागा स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः' (वनपर्व २७३। ५) यहांपर *द्रौपदीको अग्निसे उत्पन्न इसी कारण अमैथुनयोनि एवम् अयोनिज कहा गया है। अब उसके उत्पत्तिकालिक आकार-प्रकारका वर्णन 'महाभारत'के ही शब्दोंमें देख लीजिये—'कुमारी चापि पाञ्चाली वेदीमध्यात् समुत्थिता। श्यामा पद्मपलाशाक्षी··· चारुपीनपयोधरा' (आदिपर्व १६९। ४४-४५) यहांपर अयोनिज द्रौपदीको उत्पत्तिके समयमें ही 'चारुपीनपयोधरा' (सुन्दर स्थूल कुचों वाली) कहा गया है। यह ठीक भी है। यदि अमैथुनयोनि वाली लड़कीकी भी मैथुनयोनिवाली लड़कीकी तरह क्रमिक वृद्धि हो; उत्पत्तिके क्षणमें ही एकसाथ वृद्धि न हो; तो उसको तदनुकूल उसका परिवर्धक 'स्तन्य' (माताका दूध) कहांसे मिलेगा? अमैथुनयोनि होनेसे उसकी जननी तो होती नहीं। इसलिए वह अमैथुनिकयोनिक सन्तान प्रकृतिनियमानुसार पुष्ट ही उत्पन्न होती है। इसीलिए आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्दजीने भी 'सत्यार्थप्रकाश'के अष्टम समुल्लास १३६ पृष्ठमें अमैथुनिक सृष्टिको उत्पत्तिके समकाल ही ''युवा'' माना है। वहां उन्होंने स्त्रीको उत्पत्तिके समयमें ही सोलह वर्षकी शक्तिवाली और पुरुषको पच्चीस वर्षकी आयुकी शक्तिवाला मानकर उनका उसीदिन विवाह अभिप्रेत किया है। इसीलिए ही तो मानुषी-सृष्टिसे भिन्न सृष्टिक्रम वाली गाय ढाई वर्षमें ही स्तनों वाली तथा गर्भग्रहणके योग्य हो जाती है।

*अग्निसे उत्पन्न द्रौपदी अग्निसे जल क्यों न गई; यह आशङ्का व्यर्थ है। विषसे पैदा हुआ कीड़ा भी विषसे नहीं मरता। इसी प्रकार अग्निकीट भी सुना जाता है। अग्नि जैसे तेजवाली द्रौपदीको अग्नि भला क्यों जलाती? अङ्गिराकी उत्पत्ति अग्निके अंगारोंसे निरुक्त' (३। १७। १) में प्रसिद्ध है।

तब अग्निसे उत्पन्न द्रौपदी अग्निकी अत्यन्त ऊष्माके कारण यदि उत्पत्तिके समयमें ही 'चारुपीनपयोधरा' थी; तब उस अग्निसे न्यून पार्थिव-ऊष्मा वाली श्रीसीताके लिए छठे वर्षकी आयुमें यदि 'वस्त्रान्तर्व्यञ्जितस्तनी' यह विशेषण आया है; तब इसमें उसके छठे वर्षकी आयुमें क्या अनुपपत्ति आती है? तब उसके कुचोंका प्रारम्भ जानकर इस (सीता) का ऋतुमतीत्व भी कदाचित् शीघ्र न हो जाय; (क्यों कि—कुचोद्गमकालके कुछ बाद

हो ऋतुकाल के भी शीघ्र आनेकी आशा होती है) और फिर अभी तक भी धनुषका तोड़ने वाला कोई पति इसका नहीं मिल रहा है (२ । ११८ । ४३) और कन्याके ऋतुमतीत्वमें विवाह करने पर शास्त्रानुसार माता-पिताको नरक मिला करता है—इस चिन्तासे, इधर धनुष तोड़ने वालेके साथ सीताके विवाहकी प्रतिज्ञा कर चुके हुए, इधर रजस्वलाविवाहनिन्दक शास्त्रोंके पक्षपाती—श्रीजनक-को 'अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्' (न्यायदर्शन २ । १ । ५६) इसके अनुसार दोषी होनेके डरसे दैन्य प्राप्त होना उपपन्न हो सकता है । तब छः वर्षकी आयुमें श्रीसीताके विवाहमें कोई भी अनुपपत्ति शास्त्रीय वा लौकिक दृष्टिकोणसे नहीं हो सकती ।

(ख) शेष रहा यह प्रश्न कि—श्रीसीताकी अयोनिज उत्पत्ति कैसे सम्भव है—इसपर अयोनिज शरीरकी सिद्धि स्वा० दयानन्द-जीसे भी सम्मानित 'वैशेषिकदर्शन' के 'प्रशस्तपादभाष्य' में देखनी चाहिये— । वहां लिखा है—'शरीरं द्विविधम्, योनिजम् अयोनिजं चेति । तत्र अयोनिजम् अनपेक्ष्य शुक्रशोणितं देवर्षीणां शरीरं धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते' (द्रव्यग्रन्थ, पृथिवी-निरूपण) यहां पर अयोनिज शरीर भी स्वीकार किया गया है । 'वेदान्तदर्शन' (३ । १ । १६ सूत्र) के शाङ्कर-भाष्यमें 'द्रोण-धृष्टद्युम्नप्रभृतीनां, सीताद्रौपदीप्रभृतीनां च अयोनिजत्वम्······ बलाकापि अन्तरेणैव रेतः-सेकं गर्भं धत्ते—इति लोकरूढिः' यहांपर सीताको अयोनिज माना गया है । अब 'साङ्ख्यदर्शन' में दृष्टि दीजिये—'ऊष्मजादिषड्विधमेव शरीर भवतीत्यर्थः । ऊष्मजाः, अण्डजाः, जरायुजाः, उद्भिज्जाः, सङ्कल्पजाः, सांसिद्धिकाः । तत्र सङ्कल्पजाः—सनकादयः । सांसिद्धिका मन्त्रतपआदिसिद्धिजाः । यथा—रक्तबीजोत्पन्नशरीरादयः ।' (विज्ञानभिक्षुभाष्य ५ । १११) यहां भी छः प्रकारके शरीरोंमें ऊष्मज आदि शरीर अयोनिज हैं ।

इस प्रकार अयोनिज-शरीर केवल पौराणिक वा ऐतिहासिक न होकर दर्शनानुगृहीत भी हुआ । तब श्रीसीताकी अयोनिज उत्पत्ति निर्मूल न हुई । इस प्रकार भगवान् रामचन्द्रकी उत्पत्ति बालकाण्ड (१६ । ११-१६-१६-२०) के अनुसार सृष्टिनियमका उल्लङ्घन करके विना शुक्रके ही हविसे हुई थी । इस लिए बारह-पन्द्रह वर्षकी आयु होनेपर भी उनकी शरीर-वृद्धि भी शीघ्र हो गई थी । इसी लिए 'अरण्यकाण्ड' में कहा गया है—'बालोप्येष महातेजाः समर्थस्तस्य निग्रहे' (३८ । ११) ।

(ग) कई लोगोंको इतना समाधान करने पर भी सीताकी ६ वर्षकी वैवाहिक-आयु फिर भी अखरती है । वे कहते हैं कि "वाल्मीकि—मुनिकी अन्तः-साक्षी इससे विरुद्ध पड़ती है । 'रामा-यण' में मुनिने लिखा है—'रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिः सहिता रहः' (बालकाण्ड ७७ । १४) यहांपर सीता-ऊर्मिला आदिका अपने-अपने पतियोंसे एकान्तमें रमण (रति-विलास) का वर्णन आया है; तब यह सब ६ वर्षकी अवस्था वाली सीतामें कैसे घट सकता है ? अतः स्पष्ट है कि—सीताकी उस समयकी आयु १७ से २४ वर्षकेअन्दर -अन्दरकी होनी चाहिये ।"

इस पर हमारा कथन है कि—यह भी उनकी बात ठीक नहीं ।' यहां पर 'रहः रेमिरे' ये पद ही उनकी भ्रान्तिके आधार हैं; वस्तुतः 'रेमिरे' में 'रमु क्रीडायाम्' (भ्वा. आ. अ.) धातु है, उसका अर्थ 'क्रीडा' (आमोद-प्रमोद) है, मैथुन नहीं । 'रहः' का अर्थ है कि—एकान्तमें, पिता-ससुर आदिके परोक्षमें; अर्थात्—पति-पत्नियोंकी आपसकी हंसी-मिलना आदि क्रीडाएं एकान्तमें हुआ करती थीं । आजकलकी नवविवाहिताओंकी तरह सास-ससुर वा माता-पिताके सामने उनकी बात-चीतें वा क्रीडाएं नहीं हुआ

करती थीं। वे शिष्टताका विचार करके एकान्तमें विनोद किया करते थे—किसीके सामने नर्म-क्रीडाएं नहीं किया करते थे—यह आन्तरिक निष्कर्ष है। यह ठीक भी है, क्योंकि—अपनी स्त्रियोंके साथ-विनोद रूप क्रीडाएँ भी भला माता-पिता वा सास-ससुर आदि गुरुओंके सामने कैसे की जाएँ ? इस विषयमें 'आपस्तम्ब-धर्मसूत्र' में कहा है—"दारे प्रजायां च उपस्पर्शनभाषा विस्रम्भ-पूर्वाः परिमित्य वर्जयेत् [सन्निहिते गुरौ]' (२।५।१०) अर्थात् माता-पिता आदि बड़ोंके सामने अपनी स्त्री वा लड़केका स्पर्शन-आलिङ्गनादि, तथा निःशङ्कताकी बात-चीतें न करे। तब यहां 'रमण'का 'मैथुन' अर्थ नहीं। मैथुन सदा होता ही एकान्तमें है; बड़ेसे बड़े उच्छृङ्खल भी पति-पत्नी मैथुन कभी किसीके सामने नहीं करते; तब शिष्ट सीता-रामके लिए तो कहना ही क्या ? तो उनके लिए 'रहः' (एकान्त) शब्द कहना असाभिप्राय (व्यर्थ) हो जाता है। हाँ; नव-दम्पतीके शेष विनोदादि व्यवहार बड़ोंके सामने हो तो सकते हैं; जैसे कि—आजकलके नवयुगमें इसके उदाहरण सुलभ हैं; पर उससे अपनी अशिष्टता प्रतीत होती है; और बड़ोंका इससे अपमान होता है। इसी बातका लक्ष्य करके उक्त पद्य कहा गया है—'रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिः सहिता रहः' यहां 'सर्वा रहः भर्तृभिः सहिता मुदिता रेमिरे' यह अन्वय है। तो यहां 'रमण'का 'मैथुन' नहीं; किन्तु 'क्रीडा' अर्थ है, कोई भी असभ्य ग्रन्थकार भी स्त्री-पुरुषका मैथुन कभी नहीं बतलाता, तब वाल्मीकि—मुनि ही ऐसा कैसे बतावें, जब कि 'स्वपिहि त्वं समीपे मे स्वपिम्येवाधुना प्रिये' इत्यादि श्लोकोंको ग्राम्यदोष-दूषित एवं अनुपादेय माना जाता है; तब कवि ग्राम्यसे भी ऊपरके दर्जे मैथुनका भला स्पष्ट वर्णन कैसे कर सकता है ? सो वहां 'रमण'का अर्थ क्रीडा है, 'विनोद' (दिल-वहलावा') उस

का आशय है। जैसे कि—श्रीमनुका आदेश राजाओंके लिए है कि—'भुक्तवान् विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह। विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि कारयेत्' (७।२२१) अर्थात्—दोपहरमें भोजन करके फिर अन्तःपुर में राजा अपनी स्त्रियोंसे विहार (विनोद, घूमना, क्रीडा आदि) करे; तत्पश्चात् फिर राजकार्योंको करे।' यहांपर भी दोपहरको 'विहार'का 'मैथुन' अर्थ इष्ट नहीं; क्योंकि-शास्त्रकार दिनको मैथुनकी आज्ञा कभी नहीं देते, यहां भी वही पूर्व (रमण) जैसा आशय है। तो वैसा विनोद (दिल-वहलावा, सैरसपाटा आदि क्रीडा, जल-विहार आदि) पुष्ट-शरीर वाली सीतासे वैसे ही श्रीरामका अयुक्त वा असम्भव नहीं हो सकता। कोई भी ग्रन्थकार कभी 'मैथुन'का वर्णन करता भी नहीं। और यहां मैथुन होता, और दम्पतियोंकी ही आयु प्रतिपक्षिप्रोक्त होती, तो उन्हें सन्तान भी हो सकती थी, पर नहीं हुई। लङ्काकाण्डके बाद रामके एक बार ही योगमें सीताको गर्भ हुआ। यहां गर्भ न होनेसे स्पष्ट है कि वहां मैथुनका वर्णन नहीं, किन्तु आमोद-प्रमोदका ही। 'रमु' धातुका जो वहां प्रयुक्त की गई है—मैथुन अर्थ नहीं हुआ करता। 'रमु क्रीडायाम्' यह धातुपाठ-प्रोक्त अर्थ है।

जो व्यक्ति इस आग्रहमें हैं कि—'रमु' धातुका प्रयोग केवल मैथुनमें होता है; यद्यपि शरीरवृद्धि वाली जिसका ऋतुकाल निकट था, ऐसी छः वर्ष वाली सीतामें उस अर्थके मानने पर भी हमारे पक्षमें कोई भी क्षति नहीं पड़ती; जब कि—आजकलके सुधारक आर्यसमाजके सर्वे—सर्वा स्वा. दयानन्दजी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश'में आदि-सृष्टिमें उसी दिन अयोनिज उत्पन्न हुए केवल एक—दिनके स्त्री-पुरुषोंका भी विवाह-सम्बन्ध एवं मैथुन अनुपपन्न नहीं मानते; तब अयोनिज और एक-दिनकी नहीं, किन्तु पूरे छः वर्षकी और बड़े डील-डौल वाली श्रीसीताके साथ

अमैथुनोत्पन्न १२ वा १५ वर्षके पुष्ट शरीर वाले श्रीरामका वैसा व्यवहार कैसे अनुपपन्न हो सके ? जबकि १५ वर्षके अभिमन्युका १२ वर्षकी उत्तरामें गर्भ भी अनुपपन्न नहीं माना जाता; १५-१६ वर्षके गांधीजी ही जब अपनी 'आत्मकथा'के अनुसार 'पिता' बन बैठे, तब यहां क्या असम्भव हो सके ? इस प्रकार 'रेमिरे'-का 'मैथुन' अर्थ करने पर भी हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं; इससे श्रीसीताकी ६ वर्षकी आयु खण्डित नहीं होती। तथापि हमारा विचार है कि—वादियोंसे दिये हुए पद्यके 'रेमिरे' पदका 'मैथुन' अर्थ सर्वथा नहीं। इसमें हम प्रमाण देंगे; जिनमें 'रम्' धातुका प्रयोग तो होगा; पर 'मैथुन' अर्थ नहीं होगा। वादिगण सावधान हो जाएं। अभिज्ञ-पाठकगण भी इधर ध्यान दें।

(अ) 'वैदेहि ! रमसे कच्चित् चित्रकूटे मया सह'। (वाल्मी० २। ९४। १८) इस पद्यमें भी 'रम्' धातुका प्रयोग है। राम कहते हैं—ऐ सीता, क्या तू चित्रकूटमें मेरे साथ 'रमण' करेगी ? वादी इस 'रमसे'का क्या अर्थ करेंगे ? क्या यहां वे 'मैथुन' अर्थ कर सकते हैं ? ऐसी निर्लज्जताकी बात कोई अशिष्ट भी नहीं कहता; तो भला मर्यादा-पुरुषोत्तम ऐसा कैसे कह सकते हैं ? (आ) इधर यह अर्थ किया जाय; तो 'अहं शुश्रूषमाणा ते नियता ब्रह्मचारिणी। सह रंस्ये त्वया वीर ! वनेषु मधुगन्धिषु' (२।२७।१३) 'त्यक्तभोगस्य मे राजन् ! वने वन्येन जीवतः' (२।३७।२) इन पद्योंसे विरोध आयेगा; क्यों कि यहां राम-सीता-का वनमें मुनियोंकी तरह ब्रह्मचारी होकर रहना बताया है; और फिर इस ब्रह्मचर्य वाले भी पद्यमें सीता श्रीरामको कहती है—'नियता ब्रह्मचारिणी वनेषु त्वया सह रंस्ये' तब स्पष्ट है कि—रम् धातुका मैथुन अर्थ नहीं होता, किन्तु क्रीडा, विनोद

प्रसन्न रहना इत्यादि ही अर्थ होता है।

(इ) इस प्रकार 'एवं रामो मुदा युक्तः सीतां सुरसुतोपमाम्। रमयामास वैदेहीमहन्यहनि देववत्' (वाल्मी० ७।४२।२५) यहां पर 'वैदेहीं रमयामास' यह प्रयोग है, यहां पर 'रम्' धातुका णिच्-सहित प्रयोग है, अब अर्थ हुआ कि—श्रीरामने सीताको प्रतिदिन रमण कराया, अब वादिगण बतायें कि—क्या उनके इष्ट अर्थकी यहां कल्पना भी हो सकती है ? कभी नहीं। स्पष्ट है कि—यहां भी 'रमयामास'का 'तोषयामास' यही अर्थ है, अथवा 'प्रतिदिन उसे सैर कराई'; कुछ अन्य नहीं। (ई) एक अन्य पद्य भी 'रामायण'का देखिये—'मनोभिरामा रामास्ता रामो रमयतां वरः। रमयामास धर्मात्मा नित्यं परमभूषिताः' (७।४२।२०) यहां पर रामको 'रमयतां वरः' रमण करने वालोंमें श्रेष्ठ माना है; तब क्या वादिगण उसका अर्थ 'मैथुन करने वालोंमें श्रेष्ठ' यही अर्थ मानेंगे ? फिर रामाओंका विशेषण 'मनोभिरामाः है, क्या यहां 'मनसे मैथुन करनेवाली' यह अर्थ किया जायगा ? फिर 'रामने उन स्त्रियोंका रमण किया' यहां भी क्या वादी अपना इष्ट अर्थ ही करेंगे ? यदि ऐसा हो, तो एकपत्नीव्रत-धारीके लिए क्या यह सम्भव है ? और फिर इस पद्यमें श्रीराम-का विशेषण 'धर्मात्मा' आया है; क्या परस्त्रियोंसे वादिगणोंके इष्ट व्यवहार करने वालेको रामायण 'धर्मात्मा' कहती ? और फिर अग्रिम-पद्यमें 'सीतया सार्धं' कहा है; तो क्या परस्त्रियोंके साथ उक्त-व्यवहार करनेके समय सीता भी साथ ठहरी रहती थी—क्या यह सम्भव है ? स्पष्ट है कि एतदादि-स्थलोंमें 'रम्' धातुका प्रसन्न करना; विनोद-क्रीडा करना—यही अर्थ है।

(उ) कुछ उदाहरण अन्य भी पाठकगण देखें। 'सोम ! रारन्धि नो हृदि' (ऋ: १।९१।१३) इस मन्त्रमें 'रारन्धि' यह 'रम्'

धातुका ही प्रयोग है, इसका अर्थ स्वा.दयानन्दजीने 'आर्याभिविनय'(४६पृ.)में इस प्रकार किया है-हे परमात्मा, आप हमारे अन्दर रमण करें'। इस प्रार्थनाको आर्यसमाजकी कुमारियां तथा स्त्रियां भी करती हैं ? तब क्या वे अपने साथ वादिगणोंसे इष्ट 'रमण'की प्रार्थना करती हैं ? (ऊ) 'स (शान्तनु) तथा सह पुत्रेण रममाणो महीपतिः।' (महाभारत-आदिपर्व १००।४४) यहां राजा शान्तनु का अपने पुत्रसे 'रमण' बताया है। (ऋ) इस प्रकार २२४। १० पद्यमें तथा 'वसत्स्वेवं वने तेषु पाण्डवेषु महात्मसु। रममाणेषु चित्राभिः कथाभिर्मुनिभिः सह' (वनपर्व२६२।११) यहां पर महात्मा पाण्डवोंका वनमें मुनियोंसे 'रमण' कहा है। (ॠ) 'कथाभिरभिरामाभिरभिरामौ नृपात्मजौ। रमयामास धर्मात्मा कौशिको मुनिपुङ्गवः' (वाल्मी. १। २३। २३) यहां पर धर्मात्मा श्रीविश्वामित्र-मुनिका सुन्दर-राजकुमार राम-लक्ष्मणसे 'रमण' बताया है। (लृ) 'रामोपि रेमे तैः सार्धं वानरैः कामरूपिभिः। राक्षसैश्च महावीर्यैर्यक्षैश्चैव महाबलैः' (वाल्मी. ७। ३६। २८) यहांपर श्रीरामका कामरूपी वानरों तथा बड़े वीर्यवाले राक्षसोंसे 'रमण' बतलाया गया है। तब क्या वादिगण यहां सर्वत्र 'रम्' धातुका 'मैथुन' अर्थ करेंगे ?

(ए) अब एक-दो अन्य भी प्रमाण देकर यह-बात समाप्त की जाती है। 'ज्येष्ठो रामोऽभवत् तेषां रमयामास हि प्रजाः' (महाभारत० वनपर्व २७७।६) यहाँ भी श्रीरामका प्रजाओंसे 'रमण' देखकर वादी उसका प्रजासे 'मैथुन'का अर्थ करेंगे ? (ऐ) अब राम शब्दकी व्युत्पत्ति ही देख लें—रमन्ते योगिनोस्मिन्' क्या वादी लोग 'मैथुनं कुर्वन्ति अस्मिन्' ऐसा अर्थ करेंगे ? वस्तुतः ऐसा अर्थ करते हुए वादिगण शोच्य हैं। हमें इतने प्रमाण इसलिए देने पड़े कि—ये ही वादी लोग पुराणोंमें श्रीकृष्णका जहां गोपियोंसे 'रमण' आता है—वहां यही (मैथुन) अर्थ कर लिया करते हैं। पर अब विज्ञ-पाठकोंको स्पष्ट हो गया होगा कि–'रम्' धातुका प्रयोग 'प्रसन्नता,क्रीड़ा, विनोद, इन्हीं अर्थोंमें आता है, 'मैथुन' अर्थमें नहीं।

(ओ) जब ऐसा है; तो 'रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिः सहिता रहः' (वाल्मी. १।७७।१४) इस वादिगणोपस्थापित रामायणीय-पद्यमें भी सीता आदियोंका अपने पतियोंसे एकान्तमें 'रमण' तथा 'रामलक्ष्मणशत्रुघ्नभरता देवसम्मिताः। स्वां स्वां भार्यामुपादाय रेमिरे स्वस्वमन्दिरे' (अध्यात्म-रामायण १।७।५२) रामादिका अपनी-अपनी स्त्रियोंसे अपने-अपने घरमें 'रमण' 'मैथुन'-वाचक नहीं; किन्तु क्रीड़ा, नर्म, विनोदादिवाचक है। तब श्रीसीताकी छः वर्षकी वैवाहिक-आयुमें कोई क्षति नहीं आती। तभी 'स्कन्दपुराण'के ब्रह्मखण्डान्तर्गत धर्मारण्यखण्डमें कहा है-'रामः पञ्चदशे वर्षे षड्वर्षां चैव मैथिलीम्। उपयेमे तदा राजन्! रम्यां सीतामयोनिजाम्' (३०। ८-६) तब 'रमण करना' कहनेसे 'सीता-आदि चारों स्त्रियोंकी आयुका सहज ही अनुमान किया जा सकता है' यह वेदवाणी (१३।१०) में लिखने वाले, 'पथिक' का अनुमान तथा 'अतः सीताकी आयु विवाहके समय छः वर्षकी कदापि नहीं हो सकती' यह कथन खण्डित हो गया।

(औ) अथवा 'तुष्यतु दुर्जनः' इस न्यायसे 'रम्' धातुका अर्थ प्रतिपक्षियोंका मनचाहा भी मान लिया जाय; तब भी क्या सीता आदिकी आयु १७ से २४ वर्षके भीतर हो जायगी ? कभी नहीं। हम यहां आर्यसमाजी—श्रीशिवनन्दनसिंहसे प्रणीत 'देश-दर्शन' पुस्तकको कई साक्षियां उपस्थित करते हैं; जिनमें छोटी अवस्थाकी लड़कियोंके गर्भ भी दिखलाये गये हैं। गर्भको विना संयोगके तो माना ही नहीं जावेगा; तो वहां संयोग स्वतः सिद्ध

होगा। देखिये उसका १३६ पृष्ठ।

(अं) "टेलर साहिबका कथन है कि किसी भी देशमें नौ वर्षकी लड़कियां गर्भवती हो सकती हैं, अर्थात् ऐसा होना असंम्भव नहीं है' (Medical Jurispudence by or Chevers, Page 673)। 'मुसलमानोंके नबी मुहम्मद साहिबने आयेशासे सात वर्षकी आयुमें विवाह किया, और जब वह आठ वर्षकी हुई; तब उसके साथ सम्भोग किया' (Then Origin of life, Page 458)। 'हम ऊपर दिखला चुके हैं कि—जन्मके कुछ ही वर्षोंके बादसे मरणके कुछ वर्ष पहले तक स्त्री और पुरुष दोनों ही में सम्भोगकी शक्ति रहती है' (पृ० १३८)। जब ऐसा है; तो क्या इन छोटी लड़कियोंको १७-२४ वर्षकी माना जावेगा? उद्धरण इस विषयके हमारे पास बहुत हैं; पर यहां उतना स्थान नहीं। तब श्रीसीताके भी उक्त अर्थ मानने पर भी वह छे-सात वर्षकी रह सकती है। (अः) हम पूर्व दिखला चुके हैं कि—उसकी उत्पत्ति सृष्टिनियमका अतिक्रमण करके हुई थी; अतः वह उत्पत्तिमात्रमें ही बड़े डील-डौल वाली थी; वैसे ही श्रीराम भी। इसमें हम स्वा. दयानन्दजीका भी आदि—सृष्टिका प्रमाण दे चुके हैं। इस प्रकार श्रीवाल्मीकिकी उक्त अन्तः—साक्षीसे भी हमारा पक्ष तदवस्थ ही रहा। उससे उसे कोई भी ठेस नहीं पहुँचती। अब आगे चलना चाहिये।—

(घ) कई महाशय 'इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव। ...छायेवानुगता सदा' (१।७३।२४) इस पद्यसे भी सीताका १७-२४ वर्षको आयुमें विवाहका स्वप्न देखते हैं; पर इसमें भी ऐसी कोई बात नहीं। छोटी आयुकी ही लड़की डर वाली होनेसे सदा छायाकी तरह पतिके पीछे चलती है। १७-२४ वर्षकी नवविवाहिता तो अपनी इच्छानुसार चलने वाली होती है; प्रतिकूल चलने वाली भी हो सकती है। वह पतिके पीछे छाया की तरह नहीं चलती। बल्कि पतिको ही छायाकी तरह पीछे चलाती है। यह बात निष्पक्ष विवेचक जान सकते हैं। 'सहधर्मचारिणी' भला छे वर्षकी क्यों नहीं हो सकती? क्या वह स्तन-पान करने वाली होती है? पतिके साथ धर्माचरण पतिके उपदेशानुसार उसका हो सकता है। इसमें असम्भव कुछ भी नहीं। इस विषय पर हम आगे भी कुछ प्रकाश डालेंगे।' इस वादि-दत्त प्रमाणमें कुछ भी दम नहीं।

(ङ) जो कि यह कहा जाता है कि—'अथापि च महाप्राज्ञ! ब्राह्मणानां मया श्रुतम्। पुरा पितृगृहे सत्यं वस्तव्यं किल मे वने। लक्षणेभ्यो द्विजातिभ्यः श्रुत्वाऽहं वचनं गृहे। वनवासकृतोत्साहा नित्यमेव महाबल!' (वाल्मी० २।२९।८।९) 'कन्यया च पितुर्गेहे वनवासः श्रुतो मया। भिक्षिण्याः शमवृत्ताया मम मातुरिहाग्रतः' (२।२९।१३) इन पद्योंसे यह बात सिद्ध होती है कि—सीताने अपने मायकेमें ब्राह्मणों-द्वारा अपना भविष्यद् वन जाना पहले निश्चित कर रखा था। ऐसा स्मरण छः वर्षकी अवस्थामें नहीं हो सकता।

'पाणिप्रदानकाले च यत्पुरा त्वग्निसन्निधौ। अनुशिष्टं जनन्या मे वाक्यं तदपि मे धृतम्। न विस्मृतं तु मे सर्वं वाक्यैः स्वैर्धर्मचारिणि! पतिशुश्रूषणाद् नार्यास्तपो नान्यद् विधीयते' (२।११८।८,९) यहां पर पाणिग्रहणके समयमें दिये गये उपदेशको याद रखना १७-२४ वर्षकी लड़कीका काम हो सकता है, छः वर्षकी लड़कीका नहीं।"

वादियोंसे रखी गई यह आपत्ति भी निस्सार है; जब कि ७-८ मासका गर्भ भी दिये हुए उपदेशको याद रखता है। जब कि—अभिमन्युने गर्भमें ही चक्रव्यूहमें प्रविष्ट होनेका प्रकार (तरीका)

सीखा था, और बड़े होनेपर भी उसे याद रहा। चक्रव्यूहसे निकलनेका प्रकार माताके सोजानेसे वह गर्भमें न सीख सका; इस कारण वह अशिक्षावश बड़ी आयुमें मारा गया। प्रह्लादने भी गर्भावस्थामें ही सुने नारदके उपदेशको बड़ी आयुमें याद रखा। जब कि—'धन्य वह माता है कि—जो गर्भाधानसे लेकर जब तक पूरी विद्या न हो, तबतक सुशीलताका उपदेश करे' (सत्यार्थ-प्रकाश द्वितीय-समुल्लासके आरम्भके १४ वें पृष्ठमें) इस प्रकार स्वामी दयानन्दजी गर्भके आधान दिनके आरम्भ से ही जब कि—उसमें जीवका प्राकट्य होनहीं होता—ऐसी कललरूप सन्तानमें असम्भव भी माताके उपदेशके संक्रमणको सम्भव मान गये हैं।

प्रथमसंस्कारविधि वेदारम्भ (पृ० ६६) में स्वा. द जीने लिखा है—'जिस वखत दूध बालक पीता है, उसी वखतसे माता लोग उपदेश करें कि—'हे पुत्रका हे अल्पपुत्रो ! तुम लोग विद्यापठन तथा वीर्यरक्षण ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण अवश्य करना, यह शक्वरीका व्रत है।' जब इस प्रकार दूध पीनेके समय ही बच्चेको वीर्यरक्षण आदिका उपदेश भविष्यत्में याद रखनेके लिए कराया है; तब छः वर्षकी सीताकेलिए पूर्वोक्त उपदेशमें क्या अनुपपत्ति आती है ? यदि उक्त उपदेश देनेसे सीताकी विवाह समयमें १६ वर्षकी अवस्था मानी जाए, तो स्वा.द.जीके द्वारा बच्चेको वीर्यरक्षा आदिका उपदेश देनेसे वहभी क्या १६ वर्षका हो जावेगा ? यदि नहीं; तब सीताके विषयमें स्वा.द.के अनुयायी क्यों नहीं सोचते ?

संस्कारविधिके ५७ पृष्ठमें 'मेधां ते देवः सविता मेधां देवी सरस्वती। मेधां ते अश्विनौ देवौ आधत्तां पुष्करस्रजौ' यह बच्चेको मेधाकेलिए कहा गया है। 'धीर्धारणावती मेधा' (अमर. १।५।२) यह धारणात्मिका बुद्धि जातमात्र-बच्चेमें कैसे डाली जा सकती है ? यदि डाली जासकती है; तब छः वर्षकी सीतामें वह मेधा अनु-

पपन्न कैसी होगी ?। इस प्रकार जब जातमात्र पुत्र 'अश्मा भव, परशुर्भव' (संस्कारविधि पृ. ६०) इस उपदेशको याद रख सकता है; नहीं तो यह उपदेश उसको देना व्यर्थ हो जावे; तब छः वर्ष से उत्पन्न हुई सीता को पूर्वोपदेशको याद रखना कैसे असम्भव होवे ?

'ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे' (मनु.२।३७) इस पद्यसे संस्कारविधिके उपनयन-प्रकरणमें स्वा.द.जीने गर्भसे वा जन्मसे ५वें ब्राह्मण और क्षत्रिय बच्चेका जन्म वा गर्भसे छठे वर्षमें उपनयन कराया है; उसी दिन वेदारम्भमें (६२-६३ पृष्ठमें) उन ४-५ वर्षके बच्चोंको आचार्यद्वारा उपदेश दिलाया है, स्वा. द. जीके अनुयायी इसी आयुमें लड़कीका जनेऊ भी मानते हैं; तब उन ४-५ वर्षके लड़के-लड़कीको आचार्य-द्वारा दिया हुआ उपदेश याद रहेगा वा नहीं ? यदि नहीं, तब वैसा उपदेश व्यर्थ है, यदि व्यर्थ नहीं है, किन्तु वे ४-५ वर्षके लड़का-लड़की उस उपदेशको याद रख सकते हैं; तब छठे वर्षकी विशाल-शरीर वाली सीता, मातासे दिये उपदेशको याद क्यों नहीं रख सकती ? अथवा इससे उसकी ६ वर्षकी अवस्थाको १६ वर्षकी कैसे बताया जा सकता है ?' दोनों स्थान समान उत्तर होगा।

तब शारीरिक पुष्टि वाली, मानुष-सृष्टिसे विलक्षण उत्पत्ति-क्रमवाली, इसलिए समझदार छः वर्षकी सीता ज्योतिषी ब्राह्मणोंकी बातको तथा माता-पितासे दिये हुए उपदेशको याद न रखे—यह सम्भव नहीं। तब वादियोंकी इस बातका ब्याजसे अधिक मूल्य नहीं। वास्तवमें 'नवे हि भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्' बाल्यावस्थामें दिया हुआ उपदेश भविष्यत्के लिए स्थिर होजाता है। जो गलती बाल्यावस्थामें पड़ जाती है,

वह अन्ततक जाती है–इतनी दृढ हो जाती है। यह बाल्यसंस्कारों का ही प्रभाव है। तब वादीकी यह आपत्ति भी निस्सार सिद्ध हुई।

(च) जो कि यह आपत्ति कही जाती है कि–'देवीभागवत' के तृतीय-स्कन्ध २८ अध्यायमें जब रावण सीताके हरणार्थं आया; तो सीतासे कहने लगा कि–"मैं धनुष-भङ्ग करना पड़ेगा' इस डरसे तेरे स्वयंवरमें नहीं आया था; परन्तु मैं तभी तुझ पर मोहित होगया था।" रावणकी यह उक्ति छः वर्षकी सीतामें नहीं घट सकती। इससे अनुमान होता है कि–वह विवाहके समय १७-२४ की थी।' पर पूर्व कहे प्रकार से यह भी हेतु नहीं; किन्तु हेत्वाभास ही है। जब पृथिवीतलसे उत्पन्न होनेके साथ ही उसकी पर्याप्त शारीरिक-वृद्धि होगई थी, ऐसा रामायणमें बताया है–और यह अमैथुन उत्पत्तिकेलिए स्वाभाविक भी है; तब उसके छः वर्षकी अवस्था होनेपर तो शरीर और बड़ा न हुआ हो–यह सम्भव नहीं। इसीलिए ही तो 'वाल्मीकिरामायण' में कहा है—

'भूतलादुत्थितां तां तु वर्धमानां ममात्मजाम्। वरयामासुरागत्य राजानो मुनिपुङ्गव!' (१।६६।१५) अर्थात्–हे विश्वामित्रजी; जब यह सीता पृथिवी-तलसे उठी ही थी कि–वह बहुत बढ़ गयी। तभी (भूतलोत्थानरूपजन्म) से राजा लोग आकर उसका वरण करने लगे। 'वरण' का भाव यह है कि–'इसका मेरे लड़केसे विवाह कर दीजिये'। कन्याके पिताकी उसकी लड़कीका अपने लड़के वा अपने साथ सम्बन्ध करनेके लिए जो कहा जाता है, उसका नाम 'वरण' हुआ करता है। वह विवाह से पूर्व हुआ करता है। जैसे कि–'नारद-स्मृति' में कहा गया है–'स्त्रीपुंसयोस्तु सम्बन्धाद् वरणं प्राग् विधीयते' (१२।२) अस्तु।

जब उक्त वाल्मीकिके पद्यमें सीताके उत्पन्न होनेमात्रमें ही राजाओंका उसके वरणके लिए उसके पिताके पास जाना कहा है; 'भूतलादुत्थितां तां तु वर्धमानां ममात्मजाम्। वरयामासुरागत्य राजानः' (१।६६।१५) तब छः वर्ष वाली सीता पर यदि 'देवीभागवत' में रावणकी अनुरक्ति बताई गई है; तब इसमें क्या असम्भव रह जाता है? जब कि देवीभागवत (३।२८।७) के अनुसार १६ वर्ष वाले रामका सीतासे विवाह कहा गया है, तब सीता १६-२४ वर्षकी कैसे हो सकती थी? विद्वान् पाठकोंने देखा होगा कि–वादीकी उक्त युक्ति सर्वथा कट जानेसे तदभिमत सीताकी १७-२४ वर्षकी वैवाहिक-अवस्था भी कट गई।

अन्य बात यह है कि–स्त्रीका भावी-सौन्दर्य तथा भावी शारीरिक-विशालताका छोटी ६-७ वर्षकी अवस्थामें भी अनुमान ठीक लग जाता है। आगे कोई उसमें नवीन रंग तो नहीं आजाता; केवल पूर्वका विकासमात्र होता है, 'नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः' (गीता २।१६) पूर्व अविद्यमान पीछे नहीं हुआ करता, किन्तु पूर्व विद्यमान ही पीछे हुआ करता है। तब भविष्यत्-सुखका विचार कर रावणकी उसी समयसे उस सीताके ग्रहणकी इच्छा होगई हो कि–अब उसका विवाह हो रहा है, अतः यह मिल सकेगी। पीछे इसके मिलनेका रास्ता बन्द हो जावेगा—। अब वादी बतावें–इस प्रकार छोटी-आयुमें भी उसकी सीतापरकी अनुरक्तिमें क्या असङ्गति पड़ती है? इस प्रकार वाल्मीकिरामायणके स्पष्ट वचनोंसे अन्य पुस्तकोंके वचनोंद्वारा वादियोंसे किये हुए व्यभिचारी-अनुमान बाधित हो गये–इसका पाठकोंने अच्छी तरहसे विश्लेषण कर लिया होगा।

(छ) सबसे बड़ी बात यह भी है कि–यदि वादियोंकी बात मान ली जाय कि–विवाहके समय श्रीसीताकी आयु १७ से २४

वर्षके अन्दर थी; उसमें स्पष्ट असङ्गति वा असम्बद्धता भी पड़ती है। यह पाठकगण भी हमारे कथनानुसार अनुभव करें।

यदि वादियोंके अनुसार विवाहके समय श्रीसीताकी आयु १७-२४ वर्षकी थी, तो 'श्रीवाल्मीकिके अनुसार वह १२ वर्ष श्वशुरालयमें रही; तब उसकी अवस्था २९-३६ वर्षकी माननी पड़ेगी। तब उसका कोई भी लड़का-लड़की नहीं हुआ, यह कैसे सम्भव हो सकता है? उस समय हुआ उसका वनवास। बनवाससे शुरूकरके रावणद्वारा चुराने तक उसके १३ वर्षके लगभग और बीत गये थे। क्योंकि—१४ वर्ष तकके लिए श्रीराम-को बनवास मिला था; और श्रीसीता रावणके घर ११-१२ महीनोंके लगभग रहीं; क्योंकि—रावणने सीताको एक सालकी अवधि दे दी थी कि—यदि तू सालके अन्दर मेरी नहीं होजा-वेगी; तो मैं तुम्हें मार डालूँगा। जैसे कि—श्रीसीताने श्री-हनुमान्के द्वारा श्रीरामको सन्देसा भिजवाया था कि—'स वाच्यः संत्वरस्वेति यावदेव न पूर्यते। अयं संवत्सरः कालस्तावद्धि मम जीवितम्' (५। ३७। ७) वर्तते दशमो मासो द्वौ तु शेषौ प्लव-ङ्गम!। रावणेन नृशंसेन समयो यः कृतो मम' (५। ३७। ८) मुझे रावणने सालकी अवधि मारनेकी दी है; अब दस महीने बीत चुके हैं; शेष दो महीने रहते हैं; फिर मैं मार दी जाऊँगी। इसलिए यहां पहुँचनेमें जल्दी कीजिये।

यही बात 'वाल्मीकिरामायण'की 'रामाभिरामीय' टीकामें भी ६। ११० सर्गके अन्तमें कही गई है कि—'द्वादश-समाप्त्युत्तरं त्रयोदशे किञ्चिद् व्यतीते······रावणकृतसीतापहारः। ततः चतुर्दशे किञ्चद् व्यतीते रामस्य लङ्कासमीपे गमनम्। 'वर्तते दशमो मासो द्वौ तु शेषौ प्लवङ्गम!' इति सीतोक्तिः सावनमानेन स्वहरणदिनतः कालगणनया'।

फलतः वनवासके १३ वें वर्षमें सीता रावण द्वारा चुराई गई। १४ वें वर्षमें श्रीरामने रावण पर चढ़ाई करके उसे मार-दिया। उसे मारकर वनवासकी अवधि समाप्त होने वाली होने से श्रीराम उसी दिन पुष्पक-विमान द्वारा अयोध्या लौट पड़; नहीं तो उन्हें भरतके आत्महत्या कर लेनेकी आशङ्का थी। इस प्रकार सीता रावणके चुरानेके समय वादियोंके अनुसार ४२-४९ वर्षकी हुई। तब क्या रावण ४२-४९ वर्षकी वृद्धकल्पा सीता को चुराना चाहता था, जब कि-रजःकालकी समाप्ति निकट थी? जैसे कि—सुश्रुतसंहितामें कहा गया है—'तद् वर्षाद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम्' (सूत्रस्थान १४। ६) यह बात हृदयमें ही नहीं चढ़ पाती। हमारे अनुसार उस (सीता) के स्वयंवरके समय ६ वर्षकी आयु वाली होनेपर, १२ वर्ष तक ससुरालमें रहनेपर, उसकी १८ वर्षकी अवस्था हो गई। चुरानेके समयमें १३ वर्ष वनवासके बीत-जानेपर उसकी ३१ वर्षकी अवस्था हुई। ऐसी आयुमें सीता कामी-रावणके चुराने योग्य सिद्ध होजाती है; क्योंकि—वह समय यौवनके चरम-उत्कर्षका होता है। जैसेकि-भावप्रकाशमें कहा गया है 'बालेति गीयते नारी यावद् वर्षाणि षोडश। ततस्तु तरुणी ज्ञेया द्वात्रिंशद्वत्सरावधि' (पूर्वखण्ड ऋतुप्रकरण २७६) इस प्रकार स्पष्ट है कि सीता विवाहके समयमें छः वर्षकी थी। लव-कुशकी उत्पत्तिके समय तेंतीस-चौंतीस वर्षके लगभग थी, जैसे कि—'स्कन्दपुराण'के ब्रह्मखण्डान्तर्गत धर्मारण्य-खण्डके ३० अध्यायमें लिखा है—'दशाहाधिकमासांश्च चतुर्दश हि मैथिली। उवास रामरहिता रावणस्य निवेशने। द्वाचत्वारिंशके वर्षे रामो राज्यमकारयत्। सीतायास्तु त्रयस्त्रिंशद् वर्षाणि तु तदाऽभवन्' (३०। ८७-८८) यहां सीताका रावणके घर १४ महीने १० दिन रहना बताया है। अयोध्या-राज्यके समय श्री-

रामकी (विवाहमें १५ वर्षके अनुसार) बयालीसकी और श्री-सीताकी (विवाहमें छः वर्षके अनुसार) तेंतीस वर्षकी अवस्था बताई गई है; इस प्रकार हमारा पक्ष सिद्ध हो गया।

वादियोंके अनुसार तो चुरानेके समयकी उस (सीता) की अवस्था ४२-४६ वर्षकी थी; अयोध्या वापिस आजानेपर गर्भवतीत्वमें उसकी आयु ४४-५१ वर्षकी जा बैठती है; तब क्या रजःकालकी समाप्ति वा उसकी निकटतामें उसे गर्भ हुआ—यह बात क्या कभी युक्तियुक्त हो सकती है ? इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि—वादियोंका पक्ष सर्वथा निर्मूल है, और हमारा पक्ष समूल, युक्तियुक्त एवं रामायण-सम्मत है।

(ज) अब शेष एक प्रश्न रह जाता है कि—जब श्रीराम मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं तब क्या विवाहसमयमें हमें भी उनकी आयुका अनुसरण करना चाहिये ?' इस पर यह जानना चाहिये कि—श्रीराम 'वाल्मीकिरामायण'के अनुसार विष्णु-भगवान्के अवतार हैं। अवतारमें लौकिक-मनुष्यकी अपेक्षा दिव्यता अधिक होती है। तो जहां उनका लोकोत्तर दिव्य-अंश हो, उसका हमें अनुकरण नहीं करना चाहिये। इसका इस अंशमें अनुकरण करना चाहिये कि—अपनी कन्याका विवाह ऋतुकालसे पूर्व किया जाय; वेदव्रतकी समाप्ति पर ही पुरुषका विवाह करना चाहिये। पर बारह वा पन्द्रह वर्षके हमें छः वर्षकी कन्यासे विवाह नहीं करना चाहिये। हम मैथुनी—योनिके हैं; तब अमैथुन—योनिवालोंके विशिष्ट आचरणोंको हम अनुकरण करनेकी क्षमतामें अधिकृत कैसे हो सकते हैं ? अमैथुनयोनिमें तो भाई-बहनोंके विवाह भी हो जाते हैं; याद कीजिये आदिम-सृष्टिके विवाहों को। आदिम लोग एकके सन्तान होनेसे परस्पर भाई-बहन ही तो थे; पर भाई-बहनोंके विवाहकी यह उनकी मर्यादा हम कैसे ले सकते

हैं ? इसी तरह प्रकृतमें भी समझें।

अकेले श्रीराममें चौदह-सहस्र राक्षसोंके मार डालनेकी शक्ति थी; वह हममें कहां है ? तब हमें उनका लौकिकशास्त्र-सम्मत चरित्र ही अनुकर्तव्य है। या वे जिस कार्यका उपदेश दें; वह अनुकर्तव्य है, सारा उनका चरित्र अनुकर्तव्य नहीं। इसी लिए 'श्रीमद्भागवत'—पुराणमें कहा है—'नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः। विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्'॥ धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्। तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा'॥ ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्। तेषां यत् स्ववचो युक्तं (लौकिक-शास्त्रानुगृहीतं) बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्' (१०।३३।३०-३१-३२)। यदि हम उनके लोकोत्तर-आचरण भी अनुसृत करें, तो हमारा विनाश हो जाय। यह बात 'विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्' इस वाक्यसे तथा 'तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा' इस पद्यांशसे व्यक्त हो रही है।

(झ) जो कई लोग 'कल्किपुराण' के तृतीयांशके तृतीयाध्यायके "स भूपपरिपूजितो जनकजेक्षितैरर्चितः' इस पद्यसे जानकीका रामके प्रति कटाक्षपात दिखला कर उससे उसकी १७-२४ वर्षकी अवस्था सिद्ध करना चाहते हैं; यह बात भी ठीक नहीं। उक्त पद्यके 'जनकजेक्षितैरर्चितः' इस अंशमें स्थित 'ईक्षित' शब्दका 'कटाक्षपात' अर्थ करना वाक्से बलात्कार करना है। 'ईक्षित'का दर्शनमात्र अर्थ है। 'सीताके अवलोकनोंसे सम्मानित' यही यहां प्रकृतोपयुक्त अर्थ है। भला सभामें कोई विलज्जासे निर्लज्जा लड़की भी—जिससे अभी उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं हुआ—वह भला सबके सामने किसी अपरिचितको

कटाक्षपात करे—ऐसी बात श्रद्धेय ही नहीं । तब सीता—जैसी सुशीला-लड़की धनुषभङ्गसे पूर्व ही श्रीरामको—जिससे कोई थोड़ा भी सम्बन्ध नहीं हुआ—कटाक्षपात करे, यह बात क्यों—कर मानी जा सकती है ? अथवा कटाक्षपात ही अर्थ माना जावे; तब भी सीताकी विवाहकी आयु छः से नहीं बढ़ती । 'उत्तर-रामचरित 'में भी सीताको छः वर्षकी ही माना गया है— यह बात हम गत-निबन्धमें दिखला ही चुके हैं। उसके १ । २० पद्यमें सीताके शैशवमें ही **'अकृत्रिम-विभ्रम'** दिखलाये गये हैं । तब हमारे पक्षमें कोई बाधा नहीं पड़ती। इस मीमांसासे सिद्ध हुआ कि—विवाहके समय श्रीरामकी आयु १२ वा १५ और श्रीसीता-की आयु छः वर्षकी थी ।

(ञ) अन्तमें आर्यसमाजमें प्रतिष्ठित 'वेद, गीता एवं रामा-यण-महाभारत'का प्रायः निष्पक्ष-अनुवाद करनेवाले 'वैदिकधर्म' सम्पादक पं. श्रीपाद-दामोदर सातवलेकर-महोदयकी एतद्विषयक सम्मति उद्धृत करके इस लेखांशको समाप्त करते हैं । श्री-सातवलेकरजीने अपनी 'वाल्मीकिरामायण'की टीका 'बाल-काण्ड'के अन्तमें ६२३ पृष्ठमें लिखा है—

"सीताकी आयु छः वर्षकी और रामकी पन्दरह वर्षकी हो-चुकी थी, जिस समय उनका विवाह हुआ । वैदिक-संस्कारमें विवाह-संस्कार अलग है, और गर्भाधान-संस्कार अलग है । **विवाह होते ही गर्भाधान होना ही चाहिये—ऐसी कोई बात नहीं ।** योग्य समय आनेके बाद ही गुरुजन गर्भाधान-संस्कार कराके उन्हें परस्पर-मिलनेका अवसर देते हैं । आजकल यूरोपियन-विचार समाजमें चारों ओर फैले हैं, इस लिए "विवाह और गर्भाधान मिलकर एक ही संस्कार" है ऐसा माना जाने लगा है । और यह अनार्य विचार मनमें रखकर ये लोग अपने प्राचीन ग्रन्थ

देखते हैं । अतः उनको कई बातें चक्करमें डाल देती हैं । हमें पता है कि—प्राचीन समयमें प्रौढ-समयमें विवाह होते थे । जहां स्वयं-वर—पद्धति थी; वहां प्रौढ-विवाह होना ही चाहिये । नहीं तो, वधू पतिको किस तरह चुन सकेगी ? पर जहां 'समाह्वय' होता है, वहां इसकी आवश्यकता नहीं है । वहां तो वधूकी पसन्दगीकी कोई बात ही नहीं है । **जो शर्त पूरी करेगा; वही कन्याको प्राप्त होगा । सीताका 'समाह्वय' था. न कि स्वयंवर ।** सीताका विवाह **इससे भी पूर्व होना था । कई राजा आये; उनमें एक भी शर्त पूरी न कर सका ।** इसलिए किसीको सीता मिली नहीं । क्रोधित होकर सबने मिलकर मिथिलाको घेर लिया । साल-डेढ साल युद्ध होता रहा । पश्चात् परास्त होनेके बाद वे सब राजा चले गये । यह वृत्तान्त इसी 'बालकाण्ड' में है । श्रीरामके साथ सीताके विवाह होनेके पूर्व समयका यह वृत्तान्त है । इस समय सीता पांच वर्ष-की होगी" (पृ॰ ६२३-६२४) ।

(ट) एक प्रश्न यह भी है कि—'यदि सीताकी आयु ६ वर्षकी थी; तो लक्ष्मणकी स्त्री ऊर्मिला, भरत की पत्नी माण्डवी और शत्रुघ्नकी स्त्री श्रुतकीर्तिकी क्या अवस्था थी ?' इसपर उत्तर यह है कि—यहां की सीताकी ६ वर्षकी अवस्थामें विवाह अमैथुन-योनिताके कारण हुआ; इसपर सोपपत्तिक हम लिख चुके हैं। श्रीसीता सीरध्वजजनककी औरस पुत्री नहीं थी; उनकी पुत्री ऊर्मिला औरस थी; माण्डवी और श्रुतकीर्ति उनके भ्राता कुश-ध्वजकी लड़कियां थीं । वे तीनों मैथुनयोन्युत्पन्न थीं; अतः उनकी अवस्थासे सीताकी अवस्थापर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, और न ही रामायणमें उनकी अवस्था निरूपित है । सुतरां वे जितनी भी अवस्थाकी रही हों; पर ऋतुमतीत्वकी सीमासे तथा सीताके डीलडौलसे न्यूनकी होंगी—यह रामायणसे स्पष्ट है । वे

८-९-१०-११ वर्षके भीतरकी सम्भव हैं। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न—इनका अवस्थाभेद तो था नहीं। इनकी उत्पत्ति प्रायः इकट्ठी हुई। पुत्रेष्टिकी अभिमन्त्रित-हविसे इनकी उत्पत्ति हुई, अतः इनमें परस्पर थोड़े दिनों वा घण्टोंका अन्तर सम्भव है; उनमें बड़े-छोटेका राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न—यह क्रम है; अतः वे सब १२-१३ वर्षसे १५ वर्षके भीतरके थे। अतः स्वाभाविक है कि—इनकी पत्नियोंकी आयु ८-९-१०-११ वर्षोंके भीतर हो। हां, श्रीसीता ६ वर्षकी होती हुई भी अमैथुनयोनितावश आजकलकी ११-१२ वर्षके लगभग अवस्था वाली लड़की जैसी, तथा बड़े डीलडौल वाली मानी जा सकती है। पर उसकी प्राणिसंसारमें आनेकी अवस्था छः वर्षकी ही थी; अतः माण्डवी आदिकी अवस्थाओंका उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता।

(ठ) अन्य यह भी प्रश्न है कि—'आजके ऐतिहासिकोंके सामने यदि श्रीसीताकी यह अवस्था रखी जावे; तो वे तो यह कभी मानें ही नहीं'। इसपर जानना चाहिये कि—आजकलके पाश्चात्यचश्माधारी-ऐतिहासिकों और पौरस्त्य-आँखें वाले हम भारतीयोंके दृष्टिकोणमें बड़ा भारी वैषम्य है। वे तो अपने पाश्चात्य-दृष्टिकोणसे भाषाविज्ञान-द्वारा ऋग्वेदसं०के मण्डलों को भी भिन्न २ समयका बनाया हुआ और १म तथा १०म मंडल-को शेष-मण्डलोंसे अर्वाचीन मानते हैं। वे रामायणके बालकाण्ड और उत्तरकाण्डको भी शेष काण्डों से अर्वाचीन मानते हैं। वे अथर्ववेदसं०को अत्यन्त अर्वाचीन मानते हैं। उनकी समझमें वेदकी अनादिता एवं अपौरुषेयता ही नहीं आती। वे संस्कृत-भाषाको भी सर्वादिम-भाषा नहीं मानते। वे तो महाभारत रामायणादि युद्धों, रावणके दशमुखोंको ही काल्पनिक, बल्कि श्रीराम एवं श्रीकृष्णको भी काल्पनिक मानते हैं। इन लोगोंपर

प्रायः पाश्चात्योंका प्रभाव पड़ा हुआ है। अपनी बात उन्हें अच्छी न लगकर 'दूरके ढोल सुहावने' उन्हें उन दूसरों पाश्चात्योंकी बात युक्त मालूम पड़ती है; तो क्या हम भी उनके कहनेसे अपने ग्रन्थोंमें परिवर्तन कर लें?। उनको ४ अरब ३२ करोड़ वर्षका ब्रह्माका एक दिन और उतनी ही एक रात, इस प्रकारसे ३६० दिन ब्रह्माका वर्ष, इस प्रकार सौ वर्षकी आयु फिर भी सृष्टिकी अनादिता, युगोंकी शास्त्रनिर्दिष्टसंख्या समझमें नहीं आती। वे तो 'युनानसे प्राचीन भी कोई इतिहास है' इस बातको ही नहीं मान सकते। वे तो यह भी नहीं मान सकते कि—महाभारतके युद्धको हुए पांच हजार वर्ष और श्रीरामावतारको हुए नौ लाखके लगभग वर्ष बीते हैं। उनका दृष्टिकोण अभी बहुत संकुचित है; तो इससे भारतीयोंका प्राचीन—इतिहास असम्भव नहीं हो जाता। इन ऐतिहासिकोंकी विचारकी कसौटीमें जो बात फिट बैठे; वही ठीक है, ऐसा कहना भारतीय-इतिहासका अपमान करना है। अतः वे व्यक्ति उपेक्षाके योग्य ही हैं। ऐसे ऐतिहासिकोंका आर्यसमाजके प्रतिष्ठित-विद्वान् श्रीभगवद्दत्तजीने अपने 'भारतवर्षका बृहद् इतिहास' प्रथमभाग-में युक्ति-युक्त निराकरण किया है। तथापि कई आर्यसमाजी भी पाश्चात्योंकी कई युक्तियोंसे प्रभावित होकर उनके प्रवाहमें भी बह गये हैं। अस्तु।

'आलोक' पाठकगण श्रीसीता-रामकी विवाहायु-विषयक लेखमालाके चार निबन्ध देख चुके, जिनमें वर्तमान-सुधारकोंकी एतद्-विषयक विप्रतिपत्तियां सब दूर की जा चुकी हैं। अब अग्रिम पञ्चम-निबन्ध—जिसमें छोटी आयुकी विवाहावस्थापर विचार किया जायगा—पाठकोंके समक्ष उपस्थित किया जाता है; तब सीतारामविवाह-विषयक यह लेखमाला पूर्ण होजायगी।

परिवर्धन वा संशोधन—पृ.५२० पं.१६ शिवपुराण वायवीयसं.में

(५) श्रीसीतारामके बाल्यविवाहपर विचार ।

श्रीसीता एवं श्रीरामकी वैवाहिक वाल्मीकिप्रोक्त आयुमें हम चार लेख दे चुके हैं; जिनमें वादियोंकी ओरसे की गई आपत्तियों-का सप्रमाणोपपत्तिक समाधान हो चुका है। पर फिर भी कई महाशय इसे बाल्य-विवाह मानकर इसे अयुक्त बताते हैं; और इतिहासमें युवति-कन्याओंका विवाह होना वे सिद्ध करते हैं। प्रसक्तानुप्रसक्त इस आपत्ति पर भी विचार कर लिया जाना हम युक्त समझते हैं। आशा है—'आलोक'-पाठकगण इधर दृष्टि देकर हमें अपना सहयोग देंगे।—

जो कि कई व्यक्ति इतिहास आदिमें विवाह्यमान कई कन्याओंमें प्रयुक्त 'यौवन' शब्द क्वचित् देखकर वहां १७-२४ वर्षकी अवस्थाका अनुमान कर लेते हैं; इसीलिए श्रीसीताका विवाह भी १७-२४ वर्षकी अवस्थामें मानते हैं; उन महाशयोंको जानना चाहिये कि यौवन वहां पर यौगिक विवक्षित होता है,

---

शिवको 'आग्नेयमण्डलाधीश' (३१।११६) कहा है। और उसीके २८ वें अध्यायमें रुद्रके ही घोर तेजोमय-शरीरको अग्नि, तथा सोमको शक्ति-का स्वरूप बताकर 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' यह तत्त्व भी प्रतिपादित किया है। शिवकी शर्व आदि ८ मूर्तियोंमें तृतीय रुद्र-मूर्तिमें तृतीय भौतिक-मूर्ति अग्निका अधिष्ठित होना और उसका 'रौद्री' मूर्ति नाम होना कहा है (वाय. सं. उत्तर. ३ य अध्याय)। ५२८-१७ वाय्वालय। ५२६-२४ आर्यसमाजी। ५३३-१६ क्योंकि—शिवकी ८ मूर्तियोंमें वायु भी एक मूर्ति है। शिव पु. शत रुद्र सं.२० अध्यायमें मरुतोंके अवतार हनुमान्‌को शिवका अंश कहा है। ५३४-५ रुद्रप्राणसे ही भूमिके स्तरमें-पारद बनता है, अतः उसे 'रुद्रवीर्य' कहा जाता है। ५५८-१३ 'तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति' (छान्दो. ८।३।४)

पारिभाषिक नहीं। 'बालेति गीयते नारी यावद् वर्षाणि षोडश। ततस्तु तरुणी ज्ञेया द्वात्रिंशद्-वत्सरावधि, (भावप्रकाश पूर्वखण्ड ऋतुप्रकरण २७६ पद्य) इसके अनुसार स्त्रियोंका पारिभाषिक यौवन १६ वर्षसे बत्तीस वर्ष तक होता है। परन्तु कन्याओंका विवाह आठवें वर्षसे लेकर बारह वर्ष तक वैध (शास्त्रीय) होता है, और आठवें वर्षसे पूर्व विशिष्ट कारणसे हुआ करता है। बारह वर्षके बाद १५ वष तक कन्या-विवाह अपवाद-शास्त्रवश हो सकता है, पर पन्द्रह-सोलह वर्षके बाद कन्याका विवाह तो कहीं भी दिखाई नहीं पड़ता। तब यदि कन्याओंका विवाह कहीं यौवन में दीखे; वहां पर यौवन यौगिक जानना चाहिये। पारिभाषिक नहीं। वह यौगिक-यौवन बाल्यावस्थामें भी हुआ करता है। इसीलिए 'सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्' (शुक्लयजु. माध्यं. सं० २२। २२) इस मन्त्रके 'शतपथ-ब्राह्मण'में कहा गया है—'एष वै सभेयो युवा यः प्रथमवयसी। तस्मात् प्रथमवयसी स्त्रीणां प्रियो भावुकः' (१३।१।६।८) यहां पर पहली आयु वाले को भी 'युवा' कहा गया है।

(ख) इसीलिए 'महाभारत' आदिपर्व(७६।१४)में पहली अव-स्थावाले कचको (७६।२४में) 'युवा' कहा है। (ग)इसी कारण ही 'तैत्तिरीयोपनिषद्' (८।१)के शाङ्करभाष्यमें 'युवा'की 'प्रथम-वयाः' यह व्याख्या है। (घ) इसी हेतु 'वयस्थया तया राजन्!' (महाभारत विराट-पर्व ७२।४) इस पद्यमें ११-१२ वर्षकी उत्तरा-के लिए 'वयस्थस्तरुणो युवा' (अमरकोष २।६।४२) इस प्रकार 'युवा'का पर्यायवाचक 'वयस्था' शब्द प्रयुक्त किया गया है। (ङ) इसी प्रकार १६ वर्षकी अवस्थाके अन्दरके अभिमन्युको भी महाभारतमें 'युवा'—कहा गया है (७।४८।२७)।

(च) इसीप्रकार 'ग्राम्यपशुसंघेष्वतरुणेषु स्त्री'(१।२।७३) इस

पाणिनिसूत्रके 'अतरुण'के प्रत्युदाहरणमें 'वत्स' और 'वत्सा'को भी तरुण (युवा) कहागया है। नहीं तो वत्सावस्थामें पारिभाषिक यौवन कैसे हो सकता है? (छ) इसके अतिरिक्त 'युवति' शब्द भानुजीदीक्षितकृत 'अमरकोष'की टीकामें स्थित 'प्रमदा चेति विज्ञेया युवतिस्तु तथा स्मृता' इस भागुरिके प्रमाणसे सामान्य-स्त्रीका नाम भी हुआ करता है। तब वह पहली-आयुमें भी उपपन्न (संगत) हो सकता है।

(ज) 'षड्वर्ष एव बाल: स (भरत:) कण्वाश्रमपदं प्रति। सिंहव्याघ्रान् वराहाँश्च महिषाँश्च गणाँस्तथा। बबन्ध वृक्षे बलवान् आश्रमस्य समीपत:' (महा० आदिपर्व ७४।६) 'तं कुमारमृषिर्दृष्ट्वा कर्म चाऽस्यातिमानुषम्। समयो यौवराज्यायेत्यब्रवीच्च शकुन्तलाम्' (७४।६) 'अतिकायश्च ते पुत्रो बालोऽतिबलवानयम्' यहां पर शकुन्तलाके पुत्र भरतको छे वर्षका होने पर भी यौवनयुक्त, अतिकाय, और युवराज होनेके योग्य बताया है। वैसे ही छे वर्ष वाली एवं बड़े डील-डौल वाली सीताके लिए भी समझ लेना चाहिये। (झ) 'हर्षचरित'में ग्रहवर्माके विवाहके समय चतुर्थ उच्छ्वासमें 'स्वाकारं युवानमदर्शयत्' यह एक युवाके लिए लिखा है। उसीकी सम्बुद्धिमें वहां 'बालक'का प्रयोग किया गया है—इससे स्पष्ट है कि बाल्यावस्थामें भी यौवन माना जाता है। यदि ऐसा है; तब इतिहासमें विवाह्यमान लड़कियोंमें प्रयुज्यमान 'यौवनोपेता' इत्यादि शब्द तथा १२-१५ वर्षके श्रीरामकेलिए 'यौवनशालिनौ' यह शब्द यौगिक-यौवनका सूचक है, पारिभाषिक-यौवनका नहीं।

इस प्रकार बारह वर्षके, अधिकसे अधिक पन्द्रह वर्षके श्रीराम-लक्ष्मणादिके लिए 'अश्विनाविव रूपेण समुपस्थितयौवनौ' (१।४८।३, १। ५०। १८) 'पुत्रा दशरथस्येमे रूपयौवनशालिन:' (१। ७२। ७) इस प्रकार 'यौवनशाली' शब्द प्रयुक्त किया गया है—इससे स्पष्ट है कि—इतिहास आदिमें स्त्री वा पुरुषोंके लिए प्रयुक्त 'यौवन' शब्द 'यौगिक' ही है। इस प्रकार छ: वर्षकी श्रीसीता भी यौगिक-युवति सिद्ध हो जाती है; तब विवाहावसरमें प्रयुज्यमान यौवन केवल 'पारिभाषिक यौवन है' यह पूर्वपक्षियोंकी बात निरस्त हो गई। श्रीराम आदिके साथ 'यौवन' शब्द देखकर भी उन्हें २५ वर्षका मानना अनिवार्य नहीं। 'युवा' शब्द तो आठ वर्षवाले बालककेलिए भी प्रयुक्त किया जाता है—देखिये—

(ञ) 'युवा सुवासा: परिवीत आगात्' मन्त्र ८ वर्ष वाले उपनेय बालकको भी 'युवा' बताता है, क्योंकि—यह मन्त्र उपनयनमें पढ़ा जाता है। देखिये—स्वा० द० की संस्कारविधि (उपनयनप्रकरण पृ० ८४, ६२)। तब 'पुत्रा दशरथस्येमे 'रूपयौवनशालिन:' (१।७२।७) से 'वेदवाणी' (१३। १०) में रामको २५ वर्षका बताना 'पथिक'का अबहुश्रुतताके कारण है। नहीं तो वह क्या उपनेय 'युवा' बालकको 'युवा सुवासा:' इस लिङ्गसे २५ वर्षका मान लेगा? जनकने जो श्रीरामकेलिए कहा—'समुपस्थितयौवनौ' (१।५०।१८) सो वह १६ वर्षसे कम आयु बतानेकेलिए भी कहा जा सकता है?। क्योंकि पूर्व-प्रोक्त सुश्रुतके वचनसे यौवनका आरम्भ १६ वें वर्षसे होता है। तब १५ वें वर्षमें 'समुपस्थितयौवन' शब्द ठीक समन्वित हो गया। कोई अनुपपत्ति नहीं आती। 'रूपयौवनशालिन:' का भी यही तात्पर्य है।

राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न यह सब पुत्रेष्टियज्ञके पायससे तीनों रानियोंसे उत्पन्न हुए थे; अत: सभी प्राय: समवयस्क थे। कई दिनों वा घड़ियोंके फ़र्क होनेसे राम बड़े, भरत उनसे छोटे,

उनसे छोटे लक्ष्मण और शत्रुघ्न थे। यहां वर्षोंका अन्तर नहीं, जैसा कि प्रतिपक्षीने संकेत दिया है।

स्वा. दयानन्दजीके अनुसार 'सुश्रुतसंहिता' में यह पाठ है–'चतस्रोवस्थाः शरीरस्य, वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता, किञ्चित्परिहाणिश्च इति। आषोडशाद् वृद्धिः। आपञ्चविंशतेर्यौवनम्। आ चत्वारिंशतः सम्पूर्णता। ततः किञ्चित्परिहाणिश्च' इससे जन्मसे प्रारम्भ करके सोलह वर्षसे कुछ पूर्व तक पुरुषको वृद्धि अवस्था कही गई है। जैसे 'आ कडारादेका संज्ञा' (पा. १। ४।१) यहां पर 'आङ्'का अर्थ 'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्राक्' यह अर्थ है, वैसे ही 'आ षोडशाद्'का अर्थ भी सोलहसे कुछ पूर्व तक है। फिर१६से आरंभ करके पच्चीस वर्षसे कुछ पूर्व तक यौवन अवस्था मानी गई है। '२५ वें वर्षमें यौवन होता है' यह पथिक'का किया हुआ अर्थ अशुद्ध है, दोनों एक-स्थानके वाक्योंमें 'आङ्' समान अर्थ रखता है। 'सुश्रुत'में यह भी लिखा है– 'पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे। समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्' (सूत्रस्थान ३५। ८) अर्थात् पच्चीस वर्षके पुरुष तथा सोलह वर्षकी स्त्रीकी समवीर्यता होती है। पच्चीसवां वर्ष पुरुषके यौवनकी अन्तिम–कोटि है; क्योंकि–पुरुषयौवन १६ से २५ वर्ष तक कहा है। इस प्रकार स्त्रीका १६ वां वर्ष भी उसके यौवनकी अन्तिम कोटि होती है, क्योंकि–स्त्री तथा पुरुषकी यौवनादि अवस्था भिन्न-भिन्न वर्षमें हुआ करती है। इसलिए स्वा. द.जीने भी 'संस्कारविधि' में कहा है––'अब इस में इतना विशेष समझना चाहिये कि–स्त्री और पुरुषके शरीरमें पूर्वोक्त चारों अवस्थाओंका एक-सा समय नहीं है' (संस्कारविधि १०३ पृष्ठ) पुरुषका तो यौवन १६-१७ से शुरू होता, इस प्रकार स्त्रीका यौवन भी उस हिसाबसे आठ वर्षसे प्रारम्भ होता है। यह

तो हुआ सर्वसाधारण-स्त्रियोंका लेखा; लेकिन पुष्टकाय अमैथुनिकयोनि-सीताका तो वही ५-६ वर्षमें स्वतः सिद्ध है। तब उसका यौगिक-यौवन संगत है। क्योंकि–वह डीलडौल वाली थी। इस प्रकार श्रीसीताके विषयमें होनेवाले अन्य भी आक्षेप इस मीमांसासे परिहृत समझ लेने चाहियें। इधर राम विवाहोपरान्त १६ वर्षके थे; तब 'नर्ते वै षोडशाद् वर्षात् सप्तत्याः परतो न च। श्रेयस्कामो नरः स्त्रीभिः संयोगं कर्तुमर्हति'(चिकित्सित-स्थान २। ४० चतुर्थपाद) इस चरक-संहिताके वचनसे १६ वर्षके पुरुषको संयोगकी अभ्यनुज्ञा है; तब श्रीरामके संयोग-पक्षमें भी कोई अनुपपत्ति नहीं रहती; पर वहां संयोग इष्ट नहीं है।

आजकल पाश्चात्योंके अनुकरणमें लगे हमारे देशके लोग १७-२४ वर्षोंमें कन्याका विवाह करना उन्नतिप्रद मानते हैं और बाल्यविवाहको हानिप्रद मानते हैं पर वे पक्षपातकी काली ऐनकसे ढकी हुई नेत्र वाले होनेसे अपने माने हुए यौवनमें विवाह करनेपर हानि नहीं देखते, और बालाविवाहमें हानि देखते हैं। इस विषयमें शास्त्रीय-मीमांसा तो फिर कभी दिखलाई जावेगी; पर इस निबन्धमें उक्त-विषयमें देशी एवं वैदेशिक विद्वानोंकी सम्मतिमात्र दिखलाकर और अधिकवयस्का-लड़कियोंके विवाहमें हानि दिखलाकर इस लेखको समाप्त करते हैं। पाठकगण अवधान देकर देखें—

मिसमेयोसे बनाई 'मदर-इण्डिया' नामक पुस्तकके उत्तर-स्वरूपमें लिखी 'दुखी भारत' नामक पुस्तकमें उसके निर्माता अपने समयके प्रमुख-आर्यसमाजी, पञ्जाबके प्रसिद्ध नेता, बड़े सुधारक ला. लाजपतराय महोदयने इस विषयमें कुछ लिखा है। हम उसके हिन्दी-संस्करणसे उसका अनुवाद उद्धृत करते हैं–

'प्राचीनकालमें जिन जातियोंने बड़ी-बड़ी सभ्यताओंको उत्पन्न किया है; उनके अधिकांशमें बाल्यविवाहकी प्रथा प्रचलित थी। यूनानके लोग-जो पूर्ण मनुष्यके सुन्दर विकास तथा उसके सर्वाङ्गीण उन्नतिके आदर्शसे आज भी हमें उत्साहित करते हैं-अत्यन्त बाल्यावस्थामें ही विवाह करते थे। रोमन लोग भी-जिन्होंने उत्तम सैनिक शासकोंकी सृष्टि की—बाल्यमें ही विवाह करते थे। यही प्रथा हिब्रू लोगोंमें भी प्रचलित थी। इङ्गलेण्ड में तो स्टुअर्ट् सके समय तक बालविवाह प्रचलित था। यदि केवल बाल्य-विवाह ही राष्ट्रोंको अशक्त करनेका एकमात्र कारण होता; तो इतिहासमें यूनान, रोम तथा हिब्रू जातियोंका इतना स्थायी प्रभाव न पड़ता' (२०६-२०७ पृष्ठ)

रिसल तथा गेट नामक दो साहिबोंने सन् १९०१ की मनुष्य-गणनाके विवरणमें ४२३ पृष्ठ में लिखा है-'जिसमे पञ्जावी सैनिकोंका दल कहींसे निकलता देखा है, अथवा ग्रामके कुओंपर स्वस्थ जाट स्त्रियोंको जलसे भरे बड़े-बड़े घड़ोंको उठाये हुए देखा है, उसके हृदयमें यह बात पैदा नहीं हो सकती कि-बाल्य-विवाहका जातीय स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव पड़ता है, (दुखी भारत-२०७ पृ०)।

एक अमेरिकन महिलाने भी बालाविवाह स्वीकृत किया था-यह बात १९।५।३७ तिथिके दैनिक, लाहौरके 'हिंदी मिलाप' पत्रमें देखी जा सकती है। वहां उसने लिखा था-'मैंने १३ वें वर्षमें विवाह किया था; अब भी पूर्ण स्वस्थ हूँ। यदि कोई १३-१४ वर्षकी कन्या स्वस्थ है-तो उसके विवाहमें कोई भी हानि नहीं' इत्यादि।

लाहौरके 'शक्ति' नामक दैनिक पत्रमें १७।६।३७ तिथिमें कुमारी कौशल्यादेवी कपूरकी सम्मति भी द्रष्टव्य है। वहां उसने

लिखा था-'हरी टहनीको जिधर चाहें, उधर घुमा दें। परन्तु पक्की शाखा ऐसा करनेसे टूट जाती है, परन्तु झुकती नहीं। यही हाल आजकल लड़कियोंका है। बाल्यविवाहसे तो उनके स्वभाव परिस्थिति के अनुकूल हो जाते थे; पर अब परिपक्व अवस्था हो जाने पर और अपनी प्रकृति स्थिर हो जानेपर उन लड़कियोंके स्वभावको परिस्थिति के अनुसार बदलना कठिन हो जाता है। और वैसे विवाह असफल सिद्ध होते हैं'।

ला० लाजपतराय-प्रणीत 'दुखी भारत' पुस्तकके २३५ पृष्ठ-में अमेरिकाके जज श्रीलिण्डसेसे बनाई हुई पुस्तकके ४१ पृष्ठके अनुसार यह लिखा है—'हमने अनुसन्धान किया है कि—३१३ लड़कियोंमें २६५ लड़कियां ११-१२ वर्षकी आयुमें यौवनावस्था-को प्राप्त हो गई थीं। इनमें भी अधिकांश १३ वर्षकी आयुमें ही युवति हो गईं। ३१३ बालिकाओंको यदि दो दलों में बांटें; तो २८५ इस प्रकारकी होंगी-जो ११-१२-१३ वर्षकी आयुमें ही यौवना हो गई थीं, केवल २८ ऐसी होंगी जिन्होंने १४-१५ वर्षोंमें ही यौवन प्राप्त किया'।

आगे इसी पुस्तकमें जर्मनी प्रदेशके पूर्वीयभागकी विवरण पुस्तकसे एक उद्धरण उद्धृत किया गया है। वह यह है कि-'जब पुरुषसङ्ग करनेकी बालिकाओंमें ऐसी प्रवृत्ति है; तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि—बहुत लोगोंकी यह धारणा हैकि-१६ वर्षकी आयुके पीछे कोई भी लड़की अक्षत-योनि नहीं रहती' (पृ० २३५)

उसी 'दुखी भारत' पुस्तकके २३५ पृष्ठमें लिखा है कि-"इसका अर्थ यह हुआ कि—उल्लिखित योरोपियन देशोंकी समस्त बालिकाएँ सोलह वर्षकी आयुसे पहले ही युवति हो जाती हैं। कदाचित् अधिकांश इससे भी बहुत काल पूर्व ही यौवन धारण कर लेती हैं। अमरीकाकी स्कूली लड़कियोंके सम्बन्धमें जज लिण्डसेने भी

इस प्रकारकी बातें कही हैं।' इस प्रकार २३३ पृष्ठमें भी वहां की १४ वर्षकी अविवाहित-बालिकाओंके दुश्चारित्र दिखलाये गये हैं।

जब शीतप्रदेशकी ये घटनाएं हैं तब इस उष्ण-भारत देश का तो क्या हाल होगा। जब कि इसमें भी पाश्चात्योंका अनुकरण चाहते हुए व्यक्ति अधिकवयस्क-कन्याओंका विवाहनियम बनवाते हैं। बाल्यविवाहका समर्थन करती हुई 'कैलोफोर्निया' की सुप्रसिद्ध महिला-लेखिका मिसेज ज़ोजेफ रेबेलोने एक वक्तव्य उपस्थित किया था; उसके अंग्रेजी शब्द 'अनुभूतयोगमाला' पत्रिका (१७।३ पृ३८७) में देखे जा सकते हैं। बहुतसे पत्रोंमें उसका अनुवाद हुआ था। उसका अभिप्राय यह है—यदि १२-१३ वर्षकी लड़की विवाह करना चाहती है तो उसमें रोक क्यों? मेरा विवाह इतनी ही अवस्थामें हुआ। आज मुझे उससे कुछ भी पश्चात्ताप न हुआ। आज मुझे ३५ वर्ष हो गये हैं। मैंने २१ बालकोंका मातृत्व प्राप्त किया है, जिनमें १६ आज भी जीते हैं और सभी स्वस्थ हैं। मेरी १६ सन्तानोंमें दस लड़कियां हैं, उन्होंने भी मेरा अनुकरण किया; एकने बारहवें वर्षमें विवाह किया, दूसरीने तेरहवें वर्षमें। वे दोनों भी दो बालकोंकी माता बन चुकी हैं।"

लण्डन के प्रोवेशन-अध्यक्षका निम्नाङ्कित वक्तव्य भी पत्रोंमें प्रकाशित मिला है। वह यह है—'यदि सत्य अवस्था लोगोंके आगे प्रकट हो, तो पता लगेगा कि-इसमें कोई वर्ष खाली नहीं जाता जब कि १३ वर्षकी लड़कियां-जिनकी संख्या कई शतक होगी-बालकोंको पैदा न करती हों। मैं जोरसे कहता हूँ कि-बारह वर्षकी लड़कियां भी प्रतिवर्ष बालकों को पैदा करती हैं। १३-१४ वर्षकी लड़कियोंको तो मैं बहुत संख्यामें जानता हूँ, जो उस अवस्था में माताएं बन चुकी हैं।"

यह हाल है ठण्डे देशोंका। इस देशमें भी ११ वर्षकी लड़कियोंका सन्तानोत्पन्न करना सुना जाता है। १९३७-३८ सन्में लायलपुर में ऐसा हुआ था; इस प्रकार बहुत देखा वा सुना जाता है। मिशन हस्पतालों में १४ वर्षकी विवाहित एवं अविवाहित कुमारियोंके प्रसव भी हुआ करते हैं; इस प्रकारकी लड़कियां विवाहसे पूर्व प्रायः भ्रष्ट हो जाती हैं; अथवा अवैध प्रेम करने लग जाती हैं। ऐसा होनेपर जो लोग बड़ी आयुमें विवाहोंके कानून बनवाकर अपने धर्म-शास्त्रोंपर आक्रमण कर रहे हैं; उन्हे इन परिस्थितियोंमें होरहे हुए दुष्परिणामोंके लिए भी सदा तैयार रहना चाहिये। तब तो वैसी लड़कियां विवाह-समयमें गर्भ-युक्त हो कर आया करेंगी। गर्भिणी-गायके दानकी तरह उनका दान भी बहुत फल देनेवाला माना जायगा।

इतिहासमें सीता-उत्तरा आदिकी छोटी आयुके विवाहमें भी उनकी सन्तानों पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ा। यदि छोटी अवस्थामें विवाह करनेसे राजयक्ष्मा वा वैधव्यकी आशा होती है, तो वादियोंसे मानी हुई आयुमें विवाह होनेपर भी स्त्रियोंमें वही बात देखी गई है। तब यहां पूर्वजन्मके कर्मोंको ही कारण मानना पड़ेगा; अथवा दोनों स्थान अत्यन्त असंयम ही कारण माना जावेगा; छोटी आयुमें विवाह नहीं। इस कारण अर्वाचीन पुरुषोंको उचित है कि वे अपने आचरण धर्मशास्त्रसे विरुद्ध न करें।

१२ वर्षके लगभग कन्याविवाह न करनेसे चित्तकी निरंकुशता बढ़ने पर चित्त बहुपुरुषभोगभावित होकर एकपतिकत्व-व्रतमें अन्तराय उपस्थित करता है। उसीके फलस्वरूप आजकी नारियां हिन्दुकोड बिल पास करानेकी धुनमें लगी हुई हैं, जिसके पास होनेपर वह जब चाहेंगी—कोई व्याज बनाकर वर्तमान

पतिको विच्छिन्न कर फिर मनमाने अन्य पतिको प्राप्त कर सकेंगी। इसमें वही पूर्वोक्त कारण है। जिस कन्याको युवति हो जानेसे इधर कौमार्यमें आवरण भी न होनेसे अनेक पुरुष कामभाव वा कुदृष्टिसे देखते हैं; उसके भविष्यत्-पातिव्रत्यमें अवश्य हानि हुआ करती है। मानसिक वा शारीरिक बिजलियोंकी शक्ति आंखके द्वारा स्पर्श वा मनसे अन्य व्यक्तिमें अपना प्रभाव डाल-कर उसको अभिभूत कर देती है। आजकल मैस्मरेजम्, हिप्नोटिज़्म आदि विद्याओंसे यह बात सिद्ध है। आंखें वा मन शक्तिके आधार होते हैं। इस कारण नेत्र-तेज-द्वारा वा मन द्वारा, सात्त्विक वा तामसिक शक्तिका एक स्थानसे अन्य-स्थान-प्रयोग विज्ञानसिद्ध है। इस सिद्धान्तसे कौमार्यवश-अनावृत युवति कन्याओंके शरीर पर कामी पुरुष कामभावसे दृष्टि डालते हुए उसके पातिव्रत्य-धर्मका शनैः शनैः ह्रासकर सकते हैं; क्योंकि-'चक्षुर्मुसलं, काम उलूखलम्" (अथर्ववेदसं. ११।३।३) आंख होती है मूसल, और काम होता है, ऊखल। जैसे ऊखल-मूसलका सम्बन्ध होता है, वैसे आंख पूरी मिली कि-काम-सञ्चार हुआ। अधिक-शक्ति वालेकी आंख कम-शक्ति वाले व्यक्तिको दबा लेती है। विवाह होनेपर उन नारियोंके घरमें रहने रूप पर्देसे वा अवगुण्ठनसे चार आंखें साधारणतया नहीं हो सकतीं। अतः इस प्रकारकी अवस्थाके प्रकटीभावसे पूर्व ही विवाह विज्ञान-सिद्ध है।

विवाहकालका कोई नियत वर्ष बताना इसलिए सम्भव नहीं; क्योंकि-स्त्रियोंके स्त्रीभावके विकासका समय देशकाल-पात्रके भेदसे भिन्न हुआ करता है। पर साधारणतः मैथुनी सृष्टिमें दससे बारह वर्षतक स्त्रीभावका विकासकाल होता है। पहलेके युगोंमें धर्मभावकी प्रधानतासे कभी-कभी कहीं-कहीं इस अवधिके उत्तरकालमें भी विवाह होते थे, उसका एकमात्र कारण

था ऋतुकालकी विलम्बसे प्राप्ति। परन्तु आजकलकी-सी भीषण परिस्थितिमें बारहवें वर्षमें ही कन्या-विवाह कर देना लौकिक-दृष्टिसे भी युक्त प्रतीत होता है, क्योंकि-आजकल सिनेमा-नाटक आदिके युगमें, तथा उत्तेजक विशिष्ट वेषभूषादिके समयमें ऋतु-काल शीघ्र प्राप्त हो जाता है। अमैथुन-योनि होनेपर शारीर पुष्ट होनेसे ऋतुकालकी शीघ्रताका विचार करके श्रीसीताका छठे वर्षमें विवाह हो गया था। स्वा. द. जी के मतमें अमैथुन-सृष्टिके आविर्भावके ही दिन-छठे वर्षकी बात तो दूर रही-प्रत्येक युगल-का विवाह हो गया था।

प्राचीन-इतिहासमें रजस्वलात्वके बादके कई विवाह आपत्का-लिक नीतिके ही अनुसार हुए; अथवा गुणवान् वृत्तिमान् भर्ताके अन्वेषणमें लगनेसे हुए-हुए विलम्बके कारण हुए; वा कन्या-दाताके ही न होनेसे कहीं-कहीं नियत विवाह-विधिसे लेट भी होजाया करते थे; मनुस्मृ० (९।८९)। पर उसे विधि नहीं माना जा सकता। रजोधर्म-द्वारा स्त्री गर्भधारण-योग्य सूचित की जाती है। रज पुष्प होता है, पुष्पका होना फलप्राप्तिको सूचित कर रहा होता है। पुष्परूप रजोधर्म प्रकृतिकी विशिष्ट प्रेरणा हुआ करती है। इसीलिए ही ऋतुकालमें स्त्रियोंकी काम-चेष्टा बलवान् हो जाया करती है-

'जायेव पत्ये उशती सुवासाः' (ऋ १०।७१।४) यह मन्त्रका पाद यही सूचित करता है। 'मलवद्वासाः' (रजस्वला) का प्रतिद्वन्द्वी 'सुवासाः' (ऋतुस्नाता) शब्द लड़कीके 'उशती'-त्व-कामचेष्टावत्त्वको बता रहा है। इसी कारण १२ वर्षके बादकी इस अवस्थामें कुमारियोंमें अधिक चञ्चलता हो जाती है। इसी प्रवृत्तिको केन्द्रीकृत करनेके लिए शास्त्रोंमें रजोधर्मके

प्रारम्भसे पूर्व हो पतिनिकटता—अर्थात् विवाहकी आज्ञा निर्दिष्ट-की गई है।

रज:कालके देशभेदवश भिन्न-भिन्न समय होनेके कारण सात-आठ वर्षसे लेकर बारह तक; कहीं अधिकाधिक सोलह वर्ष तक कन्याविवाह-वचन मिलते हैं। यदि इस प्रकारके अवसरसे पहले ही विवाह न किया किया जाय; तो प्राकृतिक कामेच्छाका अव-लम्बन प्राप्त करके पुरुषकी अपेक्षा आठ गुणा अधिक काम वाली होनेसे लड़की इधर-उधर घूमकर (क्योंकि—कुमारीको पिताके घर प्राय: स्वतन्त्रता होती है)—अपने सतीत्वधर्ममें हानि प्राप्त कर सकती है, जैसेकि वेदादिके निर्देश इसमें मिलते हैं—'योषा जारमिव प्रियम्' 'जारं न कन्या' (ऋ० सं०९। ५६। ३) 'स्त्रिया जारिणीव' (ऋ० १०। ३४। ५) (ऋ० ६। ३२। ५) 'प्राय: स्त्रियोंका स्वभाव अशास्यं मनः' (ऋ० ८। ३३। १७) तीक्ष्ण और मृदु होता है' (सत्यार्थप्र० पृ० ४७) जिस हेतु स्त्रियोंको बहकाने वाले बहुत पुरुष होते हैं; इस हेतु उन्हें कभी स्वतन्त्र छोड़ना उचित नहीं (ऋ० ४। ५। ५) मन्त्रके आशयमें आर्यसमाजी श्रीशिवशंकरकाव्यतीर्थ-'वेदामृत' (प्र. सं. २५४ पृष्ठ) में।

स्त्री-प्रकृतिमें चञ्चलताके कारण अविद्याभावका विकाश अधिक हुआ करता है, अत: स्त्री वैसे थोड़े भी अवसरको प्राप्त करके उसी भावमें लग जाती है। फिर उसका कुमार्गसे हटाना अतिकठिन होता है, क्योंकि—प्रत्येक-कार्यमें सीमाका उल्लङ्घन कर देना ही स्त्रियोंकी प्रकृति होती है, इसके साक्षी समाचारपत्र हैं। सतीत्वधर्मका पालन न करनेपर स्त्रीका अस्तित्व ही व्यर्थ है। इस लिए जिन कारणोंसे स्त्रीके सतीत्वमें थोड़े भी प्रहार-की सम्भावना हो; उन्हें झट हटाकर स्त्रीको विवाह-बन्धनमें

कर देना चाहिये, जिससे वह आवरणमें रहे और उसकी स्व-तन्त्रता न रहे।

जब कि साधारणदशामें ही इन्द्रियदमन अतिकठिन होता है, उसीमें फिर प्रकृतिद्वारा रजोधर्मके विकाश हो जानेपर ब्रह्म-चर्य धारण करना अतिकठिन होता है। विवाह न करनेसे अनेक पुरुषोंमें उसके चित्तकी चञ्चलतावश व्यभिचार-दोष बढ़ सकता है। रजस्वलात्व होनेपर स्त्री पुरुषका योग चाहती है। तब यदि उसका अन्त:करण रक्षित नहीं होगा; तो उसके चित्तमें अनेक-पुरुषोंकी छाया स्वतः पड़ेगी। तब विवाहसे पूर्व ही यदि कोई परपुरुष मिल गया; क्योंकि वैसी लड़कीको वे भांप जाते हैं; तब सतीत्वधर्मकी हानि हो सकती है। तब उसे कौन विवाहेगा?

'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'। (११। ५। १८) ब्रह्मचारिणीसे ही युवक विवाह करना चाहता है, परपुरुषगा-मिनीसे नहीं। अथवा यदि कोई वैसी पुरुषको न भी प्राप्त कर सके; तब अप्राकृतिक 'लैंदर' आदिका उपयोग करके अपनी शारीरिक बड़ी हानि भविष्यके लिए कर लिया करती है; जिससे भावी पतिको भी हानि पहुँच सकती है।

इसके अतिरिक्त पूर्ण-यौवनमें स्त्रीके विवाह कर देनेपर उस-की चित्तकी मृदुता हट जानेसे उस समय उसकी प्रकृति बहुत पुरु-षोंके भावसे भावित होती है; तब एक पतिमें स्थिरता रहनी बहुत कठिन हो जाती है। पिताके घरमें स्वतन्त्रता अधिक हो जाती है; अधिक आयुमें भी उसका अभ्यास बना रहता है; तब पतिके अधीन रहना वा लज्जाशील होना अत्यन्त कठिन हो जाता है। छोटी आयुमें विवाहित तो स्वयं भी संयमवती होती है; पुरुषको भी तब संयम करना ही पड़ता है। इस प्रकार संयमके अभ्यास होनेपर स्वास्थ्यकी वृद्धि भी होती है, अधीरता नष्ट हो जाती है,

परस्पर ममता भी बढ़ती है। तब पूर्वके संयमके अभ्याससे स्त्री-के कष्टके दिनोंमें भी पति संयम कर सकता है। नहीं तो आरम्भ-से ही पूर्ण-यौवनवतीके साथ यदि विवाह हुआ; तो वह तो दिन-रात विषय चाहती है; तब उससे दिनरात लगा हुआ वह पुरुष उसके कष्टमें भी 'महिषी प्रसवोन्मुखी, महिषो मदनातुरः' (भैंस तो प्रसूता होना चाहती है; और कष्ट पा रही है; और भैंसा कामसे आतुर हो रहा है) इस न्यायसे पुरुष, और पुरुषके कष्टमें स्त्री दोनों संयम न कर सकनेसे अन्यत्र गति करेंगे, फिर तो क्या-क्या हानियां नहीं होंगी ?

पूर्ण-यौवनमें कन्याका विवाह होनेपर वह बहुपुरुषोंके भाव-में भावित होकर सर्वथा इसी चिन्तामें रहती हुई "स्त्री-पुरुषकी कामचेष्टा तुल्य अथवा पुरुषसे स्त्रीकी अधिक होती है' (सत्यार्थ-प्र. पृ. २३६) 'कामश्चाष्टगुणः स्मृतः' (चाणक्य १। १७) इन कारणोंसे वह आती हुई ही कामिनी बनी हुई पुरुषको विश्राम-का अवसर ही नहीं देती। वा पुरुष स्त्रीको विश्राम लेनेका अव-सर नहीं देता; जिससे दोनोंका स्वास्थ्य बहुत शीघ्र क्षीण हो जाता है। आजकल टी. बी. की बहुतायतमें यही कारण है। द्वितीयाके चन्द्रमाकी इसलिए उपासना की जाती है कि-वह आगे क्रम-क्रमसे बढ़ता है, परन्तु पूर्णिमाके चन्द्रमाकी उपासना नहीं होती; क्योंकि-पूर्ण होनेसे उसका क्षय बहुत शीघ्र प्रारम्भ हो जाता है। यही पूर्ण-यौवनकी व्यवस्था होती है। पूर्णयौवनवती शीघ्र ही शीर्ण हो जाती है, और पतिको भी शीघ्र शीर्ण कर देती है—इसलिए आयुर्वेदके ग्रन्थ 'भावप्रकाश' में कहा गया है—'नित्यं बाला सेव्यमाना नित्यं वर्धयते बलम्। तरुणी ह्रासयेत् शक्तिं, प्रौढोद्भावयतेजराम्' (पूर्वखण्ड ऋतुप्रकरण २७९ श्लोक)। 'तरुणी ह्रासयेत् शक्तिम्' का भाव है कि-वह असंयत

होनेसे शुक्रका बहुत आकर्षण करती है। तब पुरुष अपना पौरुष सिद्ध करनेके लिए मद्य, मांस, अण्डे, तीतरोंके शोरबे, सण्डेका तेल आदिका उपयोग करते हैं, जिनसे परिणाममें बहुत हानि हुआ करती है।

वैसी स्त्री प्रातः के पहरको बिताकर शय्या छोड़ती है, और फिर दो पहर तक तिरछी मांग बना, मुंहमें पाउडर लगा, बार-बार शीशेमें मुंह देख, कई तरहकी ड्रैसें पहर इस प्रकार अपने सजानेमें लगी रहती है। घरके झाड़ने-बुहारनेके लिए कही हुई भृकुटी करतीं हुई, आंखें लाल करके अपनी अप्रतिष्ठा दिखलाती है। भोगविलासमें लगी अधीर हुई-हुई वह अन्तमें पतिके राज-यक्ष्माका कारण बनती है। बहुत समय तक बन्धी हुई नदीका वेग महान् तीव्र होता है, वह तो सीमाको भी लांघ कर बड़ी हानि करता है—यह प्रत्यक्ष है। पूर्ण-युवावस्था तक अविवाहित कुमारी भी वैसी नदीकी तरह होती है; और युवक तब तक अपने आपको खाली कर बैठता है। न बन्धी हुई नदीका यदि धीमा-धीमा उपयोग किया जावे; तो भावी हानि नहीं हो पाती। जिन देशोंमें अधिक वयमें विवाह हुआ करता है; उन्हीं देशोंमें विवाह-बन्धन भी ढीला होता है; अन्धे-अनुरागके कारण दम्प-तियोंका प्रेम भी चिरस्थायी नहीं होता; अतः वह अन्तमें विवा-होच्छेद (तलाक) का कारण बनता है।

एतदादिक बहुत कारणोंसे अधिक आयुमें कन्या-विवाह होनेपर संसारमें नित्य अशान्ति, दम्पतियोंका कलह, दुराचार आदि सभी दुर्गुण प्रारम्भ हो जाते हैं। हां इसका अपवाद कई सदाचारिणी स्त्रियां; पर उत्सर्ग (सामान्यशास्त्र) वही होगा, जो हमने बताया है; अधिक-अवस्थामें विवाहकी पक्षपातिनी यूरोप वा अमेरिका आदिकी कुमारियोंको देखिये, जो विवाहसे पूर्व ही

कई प्रसव कर बैठती हैं; अथवा भ्रूणहत्याएं करा लेती हैं। उस देशमें वैसे गुप्त धात्री-भवन भी हैं; एतदर्थ 'लण्डन-रहस्य' नामक श्री-रिनाल्डकृत उपन्यास देखिये। अथवा वैसी कुमारियां 'बूमनफण्ड'का सेवन करती हैं; अथवा आगे 'विवाह-विच्छेद' करती है। आजके सुधारक भी यदि कुमारियोंकी भ्रूणहत्याएं, अथवा कई गर्भोंके बाद विवाह, बूमनफण्ड'के सेवन से होनेवाली भविष्यत् आन्तरिक हानियों वा तलाकों (विवाहोच्छेदों), वा विवाहसे पूर्व एक भी लड़की अक्षतयोनि न रहे, यदि यह चाहते हैं, अथवा इसीको वैदिक-धर्म वा उन्नति समझते हैं; तो अपनी इच्छाएं पूर्ण करें, परन्तु दूसरोंकी हानियां तो न करें-करावें !

वैसी युवति-कुमारियोंको विद्यालयोंकी दीवारें वा गुरुकुलोंके अधिकारो भी नहीं रोक सकते। कन्याविद्यालयोंके रहस्योंको प्रायः सभी जानते हैं, वे गर्लस्कूल होकर वस्तुतः 'गरल-(विष) स्कूल' हैं। वस्तुतः 'पतिसेवा गुरौ वासः (मनु० २। ६७) उनका पतिसेवन ही गुरुकुलवास होता है। १२ वर्षमें कुमारीका विवाह होनेपर पतिकी निकटतावश ऋतुकालमें पतियोग होनेपर सभी हानियां हट सकती हैं। बाल्यमें शुद्ध-कोमल चित्तमें रूढ-मूल हुआ स्वाभाविक सीता-जैसा प्रेम कई रावणोंके मिलनेपर भी कभी-भी ढीला नहीं होता; परन्तु पूर्ण-यौवनमें भोग-तृष्णासे उत्पन्न प्रेम एकमें स्थिर नहीं होता। उसका परिणाम सुख-जनक नहीं होता; वह आवेश 'सोडावाटर' के उद्गमकी भान्ति अचिरस्थायी होता है। उस समय पतिवियोगमें रावणके मिल जानेपर आजकलकी युवतियां उससे घुल-मिल जाती हैं। यह सभी-कुछ सूक्ष्म-दृष्टिसे देखकर ही त्रिकालदर्शी हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने छोटी आयुमें कुमारियोंकी विवाहावस्थाका निर्धार किया था; परन्तु अपने-आपको बुद्धिमान् मानने वाले आजकल-

के सुधारकाभास तो उनकी उस त्रिकालाऽबाधित प्राचीन नीति-रीतिको पांवसे ठुकराते हैं; फिर उनके दुष्परिणाम भी तो समय-समय पर निकलते रहते हैं। अपने आश्रयभूत धर्मको जलाते हुए आश्रयाश (अग्नि) बने हुए यह स्वयं ही बुझ जाएंगे।

इन्हीं आशङ्कित-हानियोंको दूर करनेके लिए 'मर्त्यवतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः' (देवीभाग०८। १०। १५) मर्त्यशिक्षणार्थ अवतीर्ण हुए मर्यादापुरुषोत्तम श्रीसीता-रामने छोटी आयुमें विवाह किया। यहां छः वर्षकी श्रीसीताके विवाहसे छः वर्षमें कन्याका विवाह तात्पर्यका विषय न होकर ऋतुकालसे कुछ पूर्व ही कन्याविवाहावस्था प्रतिफलित होती है, यह हम पूर्व बता चुके हैं। अब इस दीर्घ-निबन्धसे श्रीसीताराम-की सिद्ध की हुई विवाहकालीन अवस्था शास्त्रीय-दृष्टिसे तथा ऐतिहासिक-दृष्टिसे, व्यावहारिक-दृष्टिसे तथा युगदृष्टिकोणसे, सर्वविध दृष्टिसे शुद्ध ही सिद्ध हुई। इस छोटी आयुमें विवाहित स्त्रियोंके भी लड़के बहुत गुणी देखे गये हैं; इस विषयमें सम्भवतः अल्प पुष्पमें निबन्ध दिया जा सकेगा। यह निवेदन करके हम इस निबन्धको यहीं रोकते हैं। आशा है—निष्पक्ष 'आलोक'-पाठक दूरदर्शितासे इसका तात्पर्य समझनेका प्रयास करेंगे। अब द्रौपदीका पति एक था वा पांच थे—इसपर विचार होगा—पाठकगण सावधानतासे देखें।

(१३) द्रौपदीका एक पति था या पांच ?

'ऐतिहासिक-चर्चा' में 'आलोक'-पाठक रामायणमें श्रीसीता-रामकी वैवाहिक-आयु, पर विचार स्पष्टतासे देख चुके, अब महाभारतमें 'द्रौपदीके पांच पति थे या एक' इस विषय पर विचार देखें। महाभारतमें यह उल्लेख है कि द्रौपदी पाँचों पाण्डवों की पत्नी थी। पर इस विषय में विभिन्न-विचारकोंमें बड़ा मत-

भेद है। अतएव इस सम्बन्धमें 'आलोक' में कुछ विवेचन दिया जा रहा है।

कई पाश्चात्य-संस्कृति से प्रभावित, पर हिन्दु प्राच्य-संस्कृतिसे भी प्रेम रखनेवाले महाशय, पाश्चात्योंके समक्ष अपनी प्राच्य-संस्कृतिको अपने परिष्कृत-प्रकारोंसे इस प्रकार उपस्थित करते हैं कि उन पाश्चात्योंकी हमारी पौरस्त्य-संस्कृतिपर श्रद्धा बढ़े। पर वे उनके स्वपरिष्कृत प्रकार अमौलिक होनेसे हमारे शास्त्र और इतिहासको सर्वथा विरूप कर दिया करते हैं। हम चाहते हैं कि ऐसे परिष्कार उनमें किये जायँ कि 'साँप भी मर जाय, लाठी भी न टूटे'।

आज हम उन्हीं पाश्चात्त्य-संस्कृतिसे प्रभावित महाशयोंका द्रौपदीविषयक आख्यानपर उसके एकपतिकत्वार्थ किया हुआ परिष्कार-प्रकार उपस्थित करते हैं। उनके अनन्तर हम उसपर शास्त्राऽविरोधपूर्वक उसके एकपतिकत्वका प्रकार लिखेंगे। उन लोगोंका कथन प्रायः यह है—

पूर्वपक्ष—"परमात्मा तथा प्रकृतिकी कृति विचित्र है। प्रकृतिके गुणोंकी विचित्रतासे ही जीवकें स्वभावकी विचित्रता भी नैसर्गिक है। अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार सब वैसे-वैसे कार्योंमें व्यापृत हुआ करते हैं। तब किसने, कब, कैसे, क्या किया, यह बात बिना आधार किसीके द्वारा सहसा नहीं जानी जा सकती। उसी आधार-को प्रामाणिक विद्वान् 'इतिहास' शब्दसे कहा करते हैं। आर्योंका प्राचीनतम पुरावृत्त ऋग्वेदमें मिलता है, उसके बाद 'रामायण' फिर 'महाभारत' में मिलता है—यह सब लोग निर्विवाद मानते ही हैं। परन्तु वर्तमान-कालमें 'महाभारत' जिस रूपमें उपलब्ध है, उसमें ऐसे न माननेयोग्य उपाख्यान वर्णित किये गये हैं कि वे आर्योंकी रीति, व्यवहार तथा धर्म आदिमें भारतीयों तथा पाश्चा-

त्योंके मनमें संदेह उत्पन्न कर दिया करते हैं। बहुत क्या कहा जाय? वे—'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः' ॥ (मनु० २। २०)—(पृथिवी-मण्डलमें सभी लोग इस ब्रह्मर्षिदेशमें उत्पन्न ब्राह्मणसे अपना-अपना चरित्र सीखें) इस मनुकी उक्तिको भी खण्डित करवा दिया करते हैं।

पाठकगण पहले प्रातःस्मरणीय द्रौपदीके पंचपतित्वको ही देखें—पतिव्रता वीराङ्गना द्रौपदी तथा संसारविश्रुत धर्मप्राण पाण्डवोंके चरित्रोंको—'कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे' । (महा० १। १८५। २) इत्यादि पद्यके साधारण अर्थको भी न जाननेवाले लोगोंने दूषित कर दिया है, इसमें विद्वान् ही प्रमाण हैं।

वस्तुतः द्रौपदी अर्जुनकी ही पत्नी थी, अर्जुनने ही स्वयंवरमें लक्ष्य वेधकर प्रतिज्ञानुसार द्रौपदीका वरण किया था। उसने भी अर्जुनको ही जयमालासे अलंकृत किया था। द्रुपदकी इच्छा भी द्रौपदी अर्जुनको ही देनेकी थी, जैसे कि 'महाभारत' में कहा गया है—'यज्ञसेनस्य कामस्तु पाण्डवाय किरीटिने। कृष्णां दद्यामिति सदा न चैतद् विवृणोति सः' ॥ (१। १८१। ८) इसीलिए द्रुपदके मनोरथको जानकर युधिष्ठिरने धनुषसे लक्ष्यको नहीं वींधा, नहीं तो वे भी समर्थ तथा ज्येष्ठ होनेसे अधिकारी थे। तभी युधिष्ठिरने अर्जुनसे ही द्रौपदीके साथ विवाहार्थ कहा था—

'त्वया जिता फाल्गुन! याज्ञसेनी········ । प्रज्वाल्यतां हूयतं चैव वह्निर्गृहाण पाणिं विधिवत् त्वमस्याः ॥ (१। १८५। ७) ('अर्जुन! तुमने द्रौपदीको जीता है। तुम अग्नि प्रज्वलित करो; और विधिपूर्वक इस राजकन्याका पाणिग्रहण करो')

'माता कुन्तीके वचनसे द्रौपदी पांचों पाण्डवोंकी पत्नी बनी—

यह बड़ा आश्चर्य है। जब कि माताकी वैसी इच्छा नहीं थी, तब ऐसा होना कैसे संगत हो सकता है ? भीमसेन तथा अर्जुन-ने, द्रौपदीके लिए कुन्तीसे कहा था कि–'मातः ! हम भिक्षा लाये हैं, यह बात भी नहीं घट सकती। द्रौपदीको तो प्रतियोगितामें जीता गया था, भिक्षाकी तरह मांगा नहीं गया था, तब धर्मभीरु तथा सत्यवादी अर्जुन-भीमसेन द्रौपदीको झूठ-मूठ 'भिक्षा' कैसे कह सकते थे–यह बात विद्वानोंको सोचनी चाहिये।

'तो इसमें क्या रहस्य है ? 'मातृदेवो भव' यह वैदिक आदेश है। 'प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे' यह माताका वचन भी अवश्य-कर्तव्य है। माताका आदेश यदि पाण्डव न मानें, तब भी प्रत्यवाय है, यदि उसे पालें, तो अभूतपूर्व धर्मसंकट है। इधर व्याघ्र है, उधर नदी है। इस उभयतःपाशा-रज्जुने अल्पज्ञ तथा यथार्थताको न जाननेवालोंको मोहमें डाल दिया, जिससे उन्होंने मूल-इतिहासमें कई काल्पनिक भाव निविष्ट कर दिये।

'केवल भारतवर्षमें ही स्त्रीका बहुपतित्व निन्दित नहीं, अपितु अन्य देशोंमें भी निन्दित है। तब युधिष्ठिर-आदिमें श्रीव्यासके वाक्योंमें एवं तात्कालिक सामाजिक-रीतियोंमें वैसी सम्भावना नहीं हो सकती। तात्कालिक-इतिहाससे भी स्त्रीका बहुपतित्व वा पाञ्चपतित्व सिद्ध नहीं होता। ब्राह्मण-भागके प्रवचनके बाद महाभारतका उपाख्यान संकलित किया गया। ब्राह्मणग्रन्थोंमें स्त्रियोंके बहुपतित्वका निषेध तथा कारणवश पुरुषकी बहुत पत्नियोंका विधान स्पष्ट तथा सहेतुक प्रतिपादित किया गया है। जैसे कि–

'ऋक् च वा इदमग्रे, साम च आस्ताम्, 'सैव' नाम ऋगासीत् 'अमो' नाम साम। सा वा ऋक् साम उपावदत् मिथुनं

सम्भवाव प्रजात्या इति 'साम वा ऋचः पतिः' (शतपथ० ८। १।३।५)

न इत्यब्रवीत् साम, ज्यायान् वा अतो मम महिमा–इति।··· तस्माद् एकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति, नैकस्या बहवः सहपतयः। (गोपथ-ब्राह्मण ३। २०, ऐतरेय ब्रा० ३। २३)

यहांपर सामका तीन ऋचाओंसे विवाह–सा बताया गया है, परन्तु एक स्त्रीके बहुपतित्वका निषेध किया गया है। 'तब यह द्रौपदीका पञ्चपतित्वका उपाख्यान सर्वथा काल्पनिक प्रतीत होता है। इसीलिए पांच इन्द्रोंकी कथाका वर्णन, शिवद्वारा पांच पतियोंका वर देनारूप उपाख्यान, बहुत पतियोंवाली नालायनी आदिका चरित्ररूप दृष्टान्त, युधिष्ठिर आदिके द्रौपदीसे एक-एक पुत्रकी उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, पर यह सब अवैयासिक, अभारतीय एवं अधार्मिक है–यह निस्संशय है।

इससे महाभारतीय सारा ही उक्त उपाख्यान असत्य नहीं है, केवल शब्दोंका अर्थ ठीक-ठीक जाननेका यत्न नहीं किया गया। जैसे आजकल भी कोई अर्थानभिज्ञ व्यक्ति 'स्वसुर्जारः शृणोतु नः'–(ऋ० ६। ५५। ५), स्वसुर्यो जार उच्यते' (ऋ० ६। ५५। ४) प्रजापतिः स्वदुहितृभ्यां दुराचचार' ब्राह्मणभाग तथा पुराणोंमें उषा-सूर्यका सभापति-सभासमिति स्वरूप अर्थ न जानते हुए बहिन-उपपति, ब्रह्मा, उसकी लड़की–ऐसा अर्थ करते हुए स्वयं भी भ्रांत रहते हैं, दूसरोंको भी भ्रममें डालते हैं, वैसे ही–'प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे' यहांपर भी भुज धातु पालनार्थक है, उपभोगार्थक नहीं। 'तुम सब मिलकर इस द्रौपदी रूप गृह-लक्ष्मीकी पालना करो।' यही कुन्तीका अभिप्राय था, जिसे आजकलके लोग नहीं समझ सके। 'भुङ्क्त' पद परस्मैपदका प्रयोग है, परस्मैपदमें पालन अर्थ होता है, उपभोग नहीं। 'श्रिया वा

एतद् रूपं यत् पत्न्यः (तै० ब्रा० ३ । ६ । ४ । ७) यहांपर पत्नीको गृह-लक्ष्मी माना गया है । 'पा रक्षणे' धातुसे डति प्रत्ययमें निष्पन्न पति-शब्द भी पालनार्थक ही है, तब पांचों पाण्डवोंने द्रौपदीका पतित्व-पालन स्वीकृत किया और माताका वचन अन्त तक पाला ।

कई महोदय 'पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा' (शतपथ ब्रा० २ । ६ । २ । १४) यहांपर 'पतयः'में बहुवचन देखकर बहुपतित्व मानते हों, यह भी ठीक नहीं । 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् (पा० १ । २ । ५८) इस सूत्रसे उक्त स्थलमें 'पति' शब्दमें बहुवचन जात्यभिप्रायसे है, व्यक्त्यभिप्रायसे नहीं । वस्तुतः युधिष्ठिर आदि पांचों प्रत्येकमें पांच रूपसे अवस्थित थे । वही एक ही अर्जुन युद्धमें स्थिर होनेसे 'युधिष्ठिर' थे, शत्रुकेलिए भयानक होनेसे 'भीम' थे, नियोगसे उत्पन्न होनेसे कुल न होनेके हेतुसे 'नकुल' थे, कृष्ण-सारथि, जो देव थे, उनसे युक्त होनेसे 'सहदेव' थे । द्रौपदीका पति अकेला वीरवर अर्जुन ही था ।—यह निर्विवाद है, शेष सब रावणके दश सिरोंके समान, वा कुम्भकर्णकी छः मासकी नींदके समान रूपक या काल्पनिक है ।" ('श्रीः' । १० । ३-४)

उत्तरपक्ष—यह अर्वाचीन-विद्वानोंका कथन है । यह कल्पना साधारण लोगोंकी दृष्टिमें द्रौपदीको साध्वी या एकपतिका सिद्ध करनेकेलिए है; इसके लिए हम इसकी स्तुति करते हैं, परन्तु इसका आधार कल्पनामात्र तथा असत्य है, अतएव यह श्रद्धेय नहीं हो सकती ।

यदि 'किसने कब, क्या, कैसे किया' इत्यादिको जाननेके लिए आधार इतिहास है, तो उस विषयमें उसीको पूछना चाहिये; निराधार तथा इतिहासकर्तासे विरुद्ध कल्पना प्रामाणिक कैसे हो सकती है ? इतिहासस्थित जो आचरण, वेदादि-शास्त्रोंके

वचनसे विरुद्ध हो, वह अवश्य ही अनादरयोग्य तथा अनाचरणीय तो हो सकता है, परंतु वेदादिसे विरुद्धता दीखनेपर भी इतिहासमें परिवर्तन करना कहांतक उपयुक्त हो सकता है ? उसी इतिहासमें धर्मप्राण युधिष्ठिरको द्यूतक्रीड़ा भी देखी गई है, उसमें 'अक्षैर्मा दीव्यः' (ऋ० १० । ३४ । १३) यह वेदविरोध भी है । तो क्या वहां आलङ्कारिकता ही सिद्ध कर दी जाय ? ऐसा करनेपर तो इतिहासका रूप ही विरूप हो जायगा, और बड़ी अव्यवस्था हो जायगी । इस प्रकार तो सम्पूर्ण इतिहास ही अलङ्काररूप बन जायगा, जैसा कि कई पाश्चात्त्य और पाश्चात्त्यभावावेशित भारतीय-विद्वान् बनाया करते हैं ।

वस्तुतः जैसे व्याकरणमें उदाहरण और प्रत्युदाहरण भी हुआ करते हैं, उत्सर्ग और अपवाद भी हुआ करते हैं, वैसे ही वेदके भाष्यरूप पुराणेतिहासमें भी वेदादिके सिद्धान्तोंके उदाहरण-प्रत्युदाहरण तथा उत्सर्ग एवं अपवाद भी हुआ करते हैं । तभी तो 'गौतमधर्मसूत्र' में कहा गया है—'दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च पूर्वेषाम् । न तु दृष्टोऽर्थो वरो दौर्बल्यात् ॥' (१ । २) इसी प्रकार 'आपस्तम्बधर्मसूत्र' में भी कहा गया है—'दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च पूर्वेषाम्' (२ । १३ । ७), 'तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते' (२ । १३ । ८), 'तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरः' (२ । १३ । ९) । **इतिहास आचरण के लिए सर्वथा आदर्श नहीं हुआ करता ।** इसीलिए इतिहास देखकर अपना आचरण नहीं बनाया जा सकता । आचरणका निर्माण तो धर्मशास्त्रका अनुसरण करके ही किया जाता है । इतिहास तो मुख्यतः लोकमें घटी घटनाओंका वर्णन प्रस्तुत करता है, लोकव्यवहार-व्यवस्था धर्मशास्त्रके अधीन रहा करती है । इसीलिए न्यायदर्शनमें कहा गया है—'यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य (वेदस्य),

लोकवृत्तम् इतिहासपुराणस्य । लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः । तत्र एकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यते, इति यथाविषयम् एतानि प्रमाणानि इन्द्रियादिवत्' इति (४ । १ । ६२) । इसीलिए 'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः' (मनु० २ । १२) यहाँ पर सत्पुरुषोंके आचारको तीसरे पदमें रखा गया है। धर्मलक्षणमें पूर्व-पूर्व ही पर-परकी अपेक्षा बलवान् होता है। अतः अर्वाचीन-विद्वानोंका यह प्रयास व्यर्थ है। तथापि उनसे उपक्षिप्त विषयपर भी विचार किया जाता है। वे लोग—'कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे (१ । १६३ । २) इस पद्यमें 'भुज्' धातुको परस्मैपद देखकर केवल उसके आधार-पर कल्पनाका महल खड़ा करते हैं, परंतु उसका मूल शिथिल है, इसीलिए उस कल्पनाप्रासादको पाठकगण शीघ्र ही गिरता देखेंगे।

उनका अभिप्राय यह है कि—'कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे' यहांपर 'भुङ्क्त' यह परस्मैपद है। 'भुजोऽनवने' (पा० १ । ३ । ६६) इस पाणिनिके सूत्रसे 'पालन' अर्थमें ही परस्मैपद होता है, खाने तथा उपभोग अर्थमें तो आत्मनेपद होता है। जैसे कि 'वृद्धो जनो दुःखशतानि भुङ्क्ते' यहां पर 'भुज्' धातुका आत्मनेपदमें उपभोग अर्थ है। 'ओदनं भुङ्क्ते' यहां पर खाना अर्थ है, इस कारण दोनों स्थलोंमें आत्मनेपद हुआ है, परंतु 'महीं भुनक्ति' इस परस्मैपदमें तो भुज् धातु का पालन अर्थ है, इस प्रकार प्रकृत 'महाभारतके' पद्यमें भी 'भुङ्क्त' यह परस्मैपदमें लोट्के पुमध्यम-पुरुषके बहुवचनका प्रयोग है। तब कुन्तीका यह अभिप्राय था कि 'तुम सब मिलकर इस द्रौपदीरूप गृहलक्ष्मीको 'भुङ्क्त' अर्थात् पालो, उसकी रक्षा करो। यहां उपभोग अर्थ नहीं हो सकता, अन्यथा 'भुङ्ग्ध्वम्'

इस प्रकार आत्मनेपद होना चाहिये था।

इस आशयपर हम विचार करते हैं। श्रीपाणिनिने अपनी 'अष्टाध्यायी' तथा 'गणपाठ' में उनके सहपाठी श्रीकात्यायनने अपने वार्तिकपाठमें जहां-तहां व्यास, शुक (४ । ३ । ६७) वासुदेव, अर्जुन (४ । ३ । ९८), युधिष्ठिर (८ । ३ । ९५), साम्ब, गद, प्रद्युम्न, राम (४ । १ । ९६), अनिरुद्ध, नकुल, सहदेव (४ । १ । ११४) आदि महाभारतीय पात्रोंका नाम-ग्रहण किया है। महान्···भारभारत (६ । २ । ३८) इस अपने सूत्रमें महाभारतका भी स्पष्ट नाम लिया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेदव्यास आदि पाणिनिसे पूर्वकालीन थे। इसके अतिरिक्त पाणिनीय-व्याकरणसे पूर्व भी अन्य व्याकरण थे, यह बात अष्टाध्यायीमें उपलभ्यमान गार्ग्य, शाकटायन आदि नामोंसे जानी जाती है।

इससे स्पष्ट है कि अन्य व्याकरणमें पाणिनिसे विरुद्ध प्रयोग भी सम्भव हैं। इस प्रकार पाणिनिसे पूर्वकालीन मुनियोंकी पुस्तकोंमें भी अपाणिनीय प्रयोग हो सकते हैं, यह स्वाभाविक है। वे प्रयोग अशुद्ध नहीं माने जाते; किंतु यदि कोई अपाणिनीय-प्रयोग पाणिनिसे अनुकूल न दिखाई पड़े तो वहाँ आर्ष मानकर उसका समाधान कर देना पड़ता है। परंतु जहां पाणिनिसे पूर्वोत्पन्न किसीके ग्रन्थमें बहुत स्थलों पर पाणिनिसे विरुद्ध प्रयोग दिखलाई पड़े, तो वहां अनुमान करना पड़ता है कि तब पाणिनिसे भिन्न कोई व्याकरण रहा हो, जहाँ पाणिनिका वह नियम स्वीकृत न किया गया हो, अथवा वहां अनियम कर दिया गया हो। इसीलिए श्रीव्यासके लिए माहेन्द्र-व्याकरणके अवलम्बनको बतानेवाला एक पद्य प्रसिद्ध है—'यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात् । तानि किं पदरत्नानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ?

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पाणिनीय-व्याकरणमें पर्याप्त-न्यूनता है, यद्यपि उसकी शैली असाधारण है। पाणिनि से पूर्व-कालीन श्री व्यासने इन्द्र व्याकरणका आश्रय लिया, उसमें इस प्रकारके बहुतसे प्रयोग थे, जो पाणिनिव्याकरणसे सिद्ध नहीं होते, यह उक्त पद्यसे प्रतीत होता है।

फलतः पाणिनिसे पूर्वकालीन श्रीवेदव्यासके बनाये हुए 'महाभारत'में भी पाणिनिके नियमसे विरुद्ध प्रयोग अवश्य हो सकते हैं। जैसे कि—'महाभारत' शान्तिपर्वमें—'ततो मामाह भगवानास्यं स्वं विवृतं कुरु। विवृतं च ततो मेऽऽस्यं प्रविष्टा च सरस्वती ॥ (३१८। ७)

यहां 'मेऽऽस्यम्'का 'मे आस्यम्' यह छेद है। यहांपर 'एङः पदान्तादति' (६। १। १०६) इस पाणिनिके सूत्रसे 'मेऽऽस्यम्' की सिद्धि कभी नहीं हो सकती; क्योंकि यहाँपर सामने 'ह्रस्व अकार' इष्ट है, किंतु उक्त पदमें दीर्घ आकार है, इससे स्पष्ट है कि श्रीपाणिनिके पूर्वज श्रीव्यासजीने इस संधिको या तो अन्य व्याकरणसे सिद्ध किया होगा, अथवा निरंकुशतावश उससे विरुद्ध प्रयोग किया होगा। इसी प्रकार प्रकृत-विषयमें भी जानना चाहिये।

श्रीपाणिनिने 'भुज्' धातुको 'खाने' तथा 'उपभोग' अर्थमें ही आत्मनेपद किया है, 'पालन' अर्थमें तो उसने भुज् धातुको परस्मैपद ही किया है, परंतु पाणिनिसे पूर्वकालीन महाभारतमें तो स्वाभाविकतावश उस नियमकी अवहेलना हो सकती है, इस कारण उसमें भुज्धातुमें खाने तथा उपभोग अर्थमें आत्मनेपद भी हो सकता है, परस्मैपद भी। तो—'कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्री प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे'। इसमें जो कि 'भुजोऽनवने' इस पाणिनि-सूत्रके बलसे 'पालन-रक्षण' अर्थ ही किया जाता

है, वह ठीक नहीं; क्योंकि पाणिनिसे पूर्वकालीन 'महाभारत'में उस नियमका अनुवर्तन कैसे हो ?

इसके अतिरिक्त 'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' यह व्याकरणकी परिभाषा भी प्रसिद्ध है। वेदमें उपग्रह (परस्मैपद-आत्मनेपद)-का व्यत्यय भी विख्यात ही है, तभी वहां कवि श्रीव्यासजीने 'भुङ्ग्ध्वम्'के स्थान 'भुङ्क्त' यह जोड़ दिया है। अन्य बात यह है कि अर्थमें दृष्टि रखनेवालेका शब्ददृष्टिमें उतना आदर भी नहीं हुआ करता। इतिहासपुराण 'अर्थप्रधान' प्रसिद्ध हैं, वेद 'शब्दप्रधान' तथा काव्य 'रस-प्रधान' प्रसिद्ध हैं। देखिये इसमें 'काव्यप्रकाश'का आरम्भ। इसी कारण अर्थदृष्टि रखनेवाले नैयायिकोंके लिए भी अतिशयोक्तिगर्भित यह प्रवाद प्रसिद्ध है— 'अस्माकूणां नैयायिकेषां अर्थरि तात्पर्यम् न तु शब्दसि, 'अस्मा-कूणामिति कथम् ? गुरूणामिति यथम्, नैयायिकेषामिति कथम्? सर्वेषामिति यथम्। अर्थरोति कथम् ? कर्तरि इति यथम्। शब्दसि इति कथम् ? छन्दसि इति यथम्। यथम्—इति कथम् ? कथम् इति यथम्।'

फलतः अर्थतात्पर्यवाले 'महाभारत'के वचनमें भी 'सर्वे समेत्य भुङ्क्त' इसका अर्थ व्याकरणका विरोध होनेपर भी खाने व उपभोग अर्थात् उपयोगमें हो सकता है।

इसमें अन्य प्रमाण भी हैं। वह यह कि महाभारतकारको जहां 'भुज्' धातुका खाना वा उपभोग अर्थ विवक्षित होता है, वे वहाँपर पाणिनिके अनुसार केवल आत्मनेपद नहीं करते, किंतु परस्मैपद भी करते हैं, आत्मनेपद भी। जैसे कि—'यथावदुक्तं प्रचकार साध्वी ते चापि सर्वे बुभुजुस्तदन्नम्। (१९४। ७) यहाँ पर भुज् धातुको परस्मैपद है। 'तदन्नम्' इस अन्न पदकी

संनिधिसे कोई भी पुरुष यहाँ 'पालन' अर्थ नहीं कर सकता, किंतु खाना वा उपभोग अर्थ ही करना पड़ेगा। पाणिनिके अनुसार तो यहां 'बुभुजिरे' प्रयोग हो सकता है, परंतु वैसा यहां नहीं है—यह प्रत्यक्ष ही है। इससे हमारी कही बात ठीक सिद्ध हुई। इसी प्रकार 'भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे' यहां परस्मैपद होनेपर भी रक्षण अर्थ नहीं है, किंतु खाना वा उपभोग-उपयोग अर्थ है। इससे स्पष्ट है कि श्रीव्यासजी खाने वा उपभोग अर्थमें जहां-तहां आत्मनेपद भी देते हैं, परस्मैपद भी। इससे परस्मैपदमें भी भुज् धातुका भक्षण वा उपभोग अर्थ संभव है। इस प्रकारके महाभारतके अन्य भी प्रयोग दिखलाये जा सकते हैं।

हमारे पास केवल यही अमोघ अस्त्र नहीं है कि श्रीव्यासजी पाणिनिसे विरुद्ध प्रयोग भी करते हैं, प्रत्युत उसमें प्रकरण भी हमारे पक्ष का अनुग्राहक है। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह न्याय भी प्रसिद्ध है। शब्द जिस उद्देश्यसे प्रयुक्त किया जाता है, वही उसका अर्थ हुआ करता है। तब वहां ग्रन्थकारको भी पालन अर्थ इष्ट नहीं है, उस वाक्यका प्रयोग करने वाली कुन्तीको भी वहां पालन अर्थ इष्ट नहीं है, कुन्तीके वाक्यके अर्थको जाननेवाले युधिष्ठिर आदि को भी वहाँ पालन अर्थ इष्ट नहीं है. और फिर 'पालन' अर्थ करनेसे वैसा आशय बतानेवालोंकी कोई इष्ट-सिद्धि भी नहीं है—यह आगेके विवेचनसे सिद्ध हो जायगा।

पूर्वपक्षी अपने पक्षकी पुष्टिमें 'कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे' (१९३। २) इस पाठको तो उद्धृत करते हैं, परंतु उसका पूर्वापर-प्रकरण स्पष्टतया नहीं दिखलाते, जिससे अर्थका अनर्थ हो जाता है। अब वह प्रकरण दिखलाया जाता है, जिससे पूर्वपक्ष असिद्ध हो जाता है। आदिपर्वके १९३ वें अध्यायका यह प्रथम पद्य है—'गत्वा तु तां

भार्गवकर्मशालां पार्थौ पृथां प्राप्य महानुभावौ। तां याज्ञसेनीं परमप्रतीतौ भिक्षेत्यथावेदयतां नराग्र्यौ'॥ १॥ इसका आशय यह है कि भीमसेन और अर्जुन द्रौपदीको अपने साथ लाकर प्रतिदिनकी तरह कहने लगे कि मातः! हमलोग भिक्षा लाये हैं। 'प्रतिदिनको तरह' कहनेका यह आशय है कि—वे प्रतिदिन भिक्षा लाकर कुन्तीको कहा करते थे, जैसे कि—'चेरुर्भैक्षं तदा ते तु सर्व एव विशाम्पते। निवेदयन्ति स्म तदा कुन्त्या भैक्षं सदा निशि' (१। १५९। ४-५)

पूर्व-उद्धृत पद्यके आगे ही यह पद्य है—'कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे। (१९३। २) इसका अर्थ है कि—कुन्ती कुटीके अंदर थी, उसने भिक्षा लेकर आये हुए पुत्रों भीम-अर्जुनको नहीं देखा, इस कारण उनके साथ लाई हुई विशिष्ट-भिक्षा द्रौपदीको भी नहीं देखा, इसलिए वह सदाकी भांति भिक्षा जानकर [क्योंकि वह कुन्ती भी उनको भिक्षाके लिए गये हुए और बहुत देर बीत जाने पर भी उनको न आया देखकर उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। जैसे कि—'अनागच्छत्सु पुत्रेषु भैक्षकालेऽभिगच्छति' (१९२। ४४) उनको सदाकी तरह कहने लगी कि तुम सब मिलकर 'भिक्षां भुङ्क्त' भिक्षाका भोग करो, भिक्षा खाओ वा उसका उपभोग करो।

क्या यहाँपर कोई मान सकता है कि कुन्तीको यहांपर प्रतिदिन आनेवाली भिक्षाकी 'रक्षा' अभीष्ट थी ? नहीं-नहीं, किंतु भिक्षाका उसको पूर्वकी भांति उपभोग-उपयोग ही इष्ट था। इसके बाद उक्त पद्यका उत्तरार्ध यह है, जिसे पूर्वपक्षवाले जनताकी दृष्टिमें नहीं आने देते 'पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां कष्टं मया भाषितमित्युवाच ॥ (१९३। २) इसका यह अर्थ है कि—जब कुन्ती ने भिक्षाके रूपमें द्रौपदीको कुटीसे बाहर आकर देखा, तो पश्चा-

कर कहने लगी—'हा खेद ! मैंने यह क्या कह दिया ?' यदि उस कुन्तीको वस्तुतः ही 'भुङ्क्त' का अर्थ 'पालो' अभीष्ट होता, तब उसे पछतानेका क्या अवसर था ?

आगे तो इससे भी स्पष्ट कहा है—'साधर्मभीता परिचिन्तयन्ती तां याज्ञसेनीं परमप्रतीताम् । पाणौ गृहीत्वोपजगाम कुन्ती युधिष्ठिरं वाक्यमुवाच चेदम्' ॥ (१९३। ३) कुन्ती अधर्मके भयसे भीत हो गई। कुन्तीदेवी द्रौपदीका हाथ पकड़कर युधिष्ठिरके पास गई और उनसे कहा। इस पद्यमें 'सा कुन्ती अधर्मभीता' यह पद भी 'भुङ्क्त' का 'पालो' यह अर्थ हटा रहा है, अन्यथा वह यदि अपने पुत्रोंको द्रौपदीके पालनार्थ कहना चाहती थी, तब यहाँ 'अधर्म' क्या था ? भिक्षाका वा द्रौपदीका सबके द्वारा पालन अधर्म नहीं था। अथवा—यदि कुन्तीको भिक्षाका भी 'रक्षण' अर्थ इष्ट था, फिर द्रौपदीको देखकर उसका भी 'रक्षण' अर्थ इष्ट था, तो उसे अनृतभाषणरूप-अधर्मसे कोई भय नहीं था, क्योंकि यह एक प्रसिद्ध न्याय है।—'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' शब्द जिस लक्ष्यसे कहा गया है, वही उसका अर्थ हुआ करता है।

इससे स्पष्ट है कि—कुन्तीको 'भुङ्क्त'का 'संरक्षण' अर्थ इष्ट नहीं था, किंतु उपभोग-उपयोग अर्थ ही इष्ट था। यदि भिक्षा साधारण होती, तब तो सबके द्वारा उसका उपभोग-उपयोग करने पर भी कोई अधर्म नहीं था, अपितु धर्म ही था, परंतु जब उस कुन्तीने भिक्षारूपमें द्रौपदीको देखा, तब सोचा कि—यदि इस द्रौपदीका सभी उपभोग-उपयोग करें, अर्थात् सभी उसके पति हो जायें, तो अधर्म ही होगा; क्योंकि सुना जाता है—'एकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति, नैकस्या बहवः सहपतयः' गोपथब्रा० (३ । २०; ऐत० ब्रा० ३ । २३) यदि मैं (कुन्ती) 'भुङ्क्त' यह भिक्षाके लिए कहकर द्रौपदीरूप

भिक्षाके लिए अन्य प्रयोगको—चाहे वह समान आकारका पर भिन्नार्थक हो—करूँगी, तो असत्यका प्रसंग हो जानेसे अधर्म होगा; क्योंकि 'अर्थभेदसे ही शब्दभेद' हुआ करता है। शब्दभेद हो जानेपर दो बार भिन्न-भिन्न बातें हो जानेसे असत्य उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार असमंजसमें पड़ी हुई कुन्ती ही 'भुङ्क्त' इस शब्दका 'उपभोग' अर्थ सिद्ध कर रही है—यह अत्यन्त स्पष्ट है।

इसी कारण आगे उसने युधिष्ठिरके सामने स्वयं अपना प्रमाद स्वीकार किया है। जैसे कि—'इयं तु कन्या द्रुपदस्य राज्ञः, तवानुजाभ्यां मयि संनिविष्टा। यथोचितं पुत्र मयापि चोक्तं समेत्य भुङ्क्तेति नृप प्रमादात्' ॥ (१९३ । ४) कुन्तीने कहा—'युधिष्ठिर ! यह द्रुपदराजकन्या द्रौपदी है। तुम्हारे छोटे भाई भीम और अर्जुनने इसे भिक्षा कहकर मुझे समर्पित किया और मैंने भी भूलसे अनुरूप उत्तर दे दिया कि तुम सब मिलकर इसका उपभोग करो। यहाँपर 'प्रमादात्' यह शब्द 'भुङ्क्त'का उपभोग अर्थ ही कुन्तीको विवक्षित था, 'रक्षण' अर्थ नहीं-यह स्पष्ट कह रहा है; क्योंकि किसी स्त्रीकी रक्षार्थ आज्ञा देना प्रमाद नहीं हो सकता। उपभोग अर्थ होने पर तो एक स्त्रीके साथ बहुतोंका उपभोग अशास्त्रीय होनेसे उस कुन्तीकी दृष्टिमें प्रमाद स्पष्ट ही है; क्योंकि वह पाण्डवोंके गत-जन्मका वृत्त नहीं जानती थी। इसलिए वह उसे अधर्म जानती हुई युधिष्ठिरको फिर कहने लगी—'मया कथं नानृतमुक्तमद्य भवेत् कुरूणामृषभ ब्रवीहि।' 'कुरुश्रेष्ठ! बताओ, अब मेरी बात झूठी न हो।' ['ब्रवीहि' यह प्रयोग भी पाणिनिसे विरुद्ध है—यह बात भी पूर्वपक्षियोंको याद रखनी चाहिए।—]) 'पाञ्चालराजस्य सुतामधर्मो न चोपवर्तेत न विभ्रमेच्च' (१९३।५) 'जिससे इस पाञ्चालराजकन्याको न तो पाप लगे, न नीचयोनिमें भटकना पड़े' इस कुन्तीके वाक्यसे भी हमारा

पक्ष सिद्ध होता है।

ग्रन्थकारको भी यही 'उपभोग' अर्थ 'भुङ्क्त'का इष्ट है; क्योंकि वह अपने पात्रके द्वारा अपने अभिलषित अर्थको ही कहलवाता है। अथवा ग्रन्थकारका अपना अभिलषित अर्थ हो ही क्या सकता है? उसे तो इतिहासके सम्पादक होनेसे वही लिखना है जो कि इतिहासमें हो चुका है। 'इति ह आस-इतिहासः' हो चुके हुए का नाम इतिहास होता है। तब वह उसके परिवर्तनमें अधिकारी ही कैसे हो सकता है? इस प्रकार पूर्व-समयमें द्रौपदीका पाँचों पाण्डवोंके साथ विवाह हुआ, तभी तो इतिहासके सम्पादक श्रीकृष्णद्वैपायनने उसे ग्रन्थबद्ध किया।

अब फिर प्रकरणपर आना चाहिये। युधिष्ठिर आदि को भी मातासे कहे हुए 'भुङ्क्त' पदका उपभोग ही अर्थ इष्ट है। इसीलिए युधिष्ठिरने द्रुपदको कहा था—'सर्वेषां महिषी राजन् द्रौपदी नो (-अस्माकं पञ्चानां) भविष्यति। एवं प्रव्याहृतं पूर्वं मम मात्रा विशाम्पते ॥ (१६७।२३) एष नः समयो राजन्! रत्नस्य सहभोजनम्। न च तं हातुमिच्छामः समयं राजसत्तम ॥ सूक्ष्मो धर्मो महाराज नास्य विद्मो वयं गतिम्। न मे वागनृतं प्राह नाधर्मे धीयते मतिः। एवं चैव वदत्यम्बा मम चैतन्मनोगतम् ॥ (१६७।२५,२६-३०) 'राजन्! द्रौपदी हम सभी भाइयोंकी रानी होगी, मेरी माताने पहले ही हम सब लोगोंको ऐसी ही आज्ञा दे रक्खी है। महाराज! हम लोगोंमें यह शर्त हो चुकी है कि रत्नका हम सब बाँटकर एक साथ उपभोग करेंगे! हे राजसत्तम! हम अपनी उस शर्तको छोड़ना नहीं चाहते। महाराज! धर्मका स्वरूप अति सूक्ष्म है। उसकी गतिको नहीं जाना जा सकता। मेरी वाणी कभी मिथ्या नहीं बोलती और मेरी बुद्धि कभी अधर्ममें नहीं लगती। हमारी माताने हमें ऐसा

करनेकी आज्ञा दी है और मेरे मनमें भी यही उचित जंचता है।') 'मम चैतन्मनोगतम्' की व्याख्या 'सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'। (अभिज्ञानशाकुन्तल—(१।२३) इन कालिदासके शब्दोंमें समझनी चाहिये।

इस प्रकार युधिष्ठिरने श्रीव्यासजीको भी कहा था 'गुरोर्हि वचनं प्राहुर्धर्म्यं धर्मज्ञसत्तम। गुरूणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः ॥ (१६८।१६) ("धर्मज्ञश्रेष्ठ व्यासजी! गुरुजनोंकी आज्ञाको धर्मसंगत बताया गया है, और समस्त गुरुओंमें माता परम गुरु मानी गई है)। सा चाप्युक्तवती वाचं भैक्षवद् भुज्यतामिति। तस्मादेतदहं मन्ये परं धर्मं द्विजोत्तम ॥ (१६८। १७) (हमारी उस माताने कहा है कि तुम सब लोग भिक्षाकी भाँति इसका उपभोग करो, अतः द्विजश्रेष्ठ! इसे हम परमधर्म मानते हैं।)

यह वचन युधिष्ठिरने जो कहा, उसका कारण यह है कि-'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया' (रघुवंश १४।४६) 'अमीमांस्या गुरवः' (चाणक्यसूत्र ४२१) अर्थात् गुरुओंकी बातपर विचार नहीं करना चाहिये। यदि कोई उनकी आज्ञा अनुचित भी है, तो उसका उत्तरदायित्व उनपर होगा, उसका पाप-पुण्य उन्हें ही होगा, हमें नहीं। इसीलिए 'तैत्तिरीयोपनिषद्'में कहा है-'मातृदेवो भव' (१।११।१२)

इससे पूर्व युधिष्ठिरने जो कि—'त्वया जिता फाल्गुन याज्ञसेनी त्वयैव शोभिष्यति राजपुत्री। प्रज्वाल्यतां हूयतां चैव वह्निर्गृहाण पाणिं विधिवत् त्वमस्याः' ॥ (१९३।७) अर्जुन को यह कहा था कि द्रौपदीको तुम ही जीत लाये हो, अतः तुम ही इससे विवाह करो, यह कथन अर्जुनकी परीक्षाके लिए हो सकता है। तभी तो अर्जुनने 'मातृदेवो भव' (तै० १।११।२) इस वैदिक

आदेशके अनुसार कहा था कि—'मा मां नरेन्द्र त्वमधर्मभाजं कृथा न धर्मोऽयमशिष्टदृष्टः। भवान् निवेश्यः प्रथमं ततोऽयं भीमो महाबाहुरचिन्त्यकर्मा॥ अहं ततो नकुलोऽनन्तरं मे पश्चादयं सहदेवस्तरस्वी। (१९३। ८-९) अर्थात् हम सब ही माताकी आज्ञाके अनुसार इसके स्वामी बनेंगे। इस प्रकार अर्जुनको परीक्षाके समाप्त होनेपर युधिष्ठिरने भी स्वयं इसका अनुमोदन किया और कहा—'सर्वेषां द्रौपदी भार्या भविष्यति हि नः शुभा'। (१९३। १९) ('द्रौपदी हम सब लोगोंकी भार्या बनेगी।') कुन्तीने भी युधिष्ठिरकी तरह ही श्रीव्यासदेवको कहा 'एवमेतद् यथा प्राह धर्मचारी युधिष्ठिरः। अनृतान्मे भयं तीव्रं मुच्येऽहमनृतात् कथम्॥ (१९८। १८) (धर्मका आचरण करनेवाले युधिष्ठिरने जैसा कहा है, वह ठीक है। मुझे झूठसे बड़ा भय लगता है। बताइये—मैं झूठसे कैसे बचूंगी?) इससे स्पष्ट है कि—'भुङ्क्त' का ग्रन्थकारके मतमें, कुन्तीके मतमें तथा युधिष्ठिर आदिके मतमें समान ही 'उपभोग' अर्थ है। पूर्वपक्षवालोंके अनुसार 'रक्षण' अर्थ माननेपर भी कोई लाभ नहीं, तब तो वह द्रौपदी सब पाण्डवोंसे मिलकर संरक्षणीय ही हो जायगी। उसके साथ 'प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे' इस पूर्वपक्षवालोंसे सम्मत माताकी आज्ञाको सूचित करनेवाले वचनके अनुसार अर्जुन भी विवाह नहीं कर सकेगा। वह भी सारी आयु उसे पाल ही सकता है, न उसका उपयोग कर सकता है, न उससे पुत्र ही उत्पन्न कर सकता है; क्योंकि कुन्तीका यह आदेश अर्जुनके लिए कुछ विशेषता नहीं बतलाता, किंतु सभीका द्रौपदीके साथ समान ही व्यवहार कहता है।

अथवा—यदि कुन्ती पाण्डवोंको 'भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे' (१९३। २) यह वचन न कहती, तो क्या अर्जुनके साथ विवाही हुई भी उसकी रक्षा सभी भाई न करते? अवश्य करते। इस

कारण पूर्वपक्षवालोंकी यह कल्पना कोई महत्त्व नहीं रखती, अतः उनका यह कल्पना-प्रासाद यहाँ गिर पड़ा है, यह पाठकोंने देखा होगा।

पूर्वपक्षवालोंने 'तैत्तिरीय'के प्रमाणसे पत्नीको 'गृहलक्ष्मी' बताया है, तब जब उनके मतके अनुसार कुन्ती द्रौपदीको सबकी 'गृहलक्ष्मी' बनाना चाहती है, और उसके पालनका आदेश देती है, जब पूर्वपक्षवालोंके अनुसार युधिष्ठिर आदि पाँचों प्रत्येकमें पञ्चभावसे रहते थे, तो वह भी सबकी वास्तविक पत्नी थी, वे भी उसके वास्तविक पति सिद्ध हुए, क्योंकि पूर्वपक्षके अनुसार पांचोंका पञ्चत्व एक-दूसरेमें है।

जो कि यह कहा जाता है कि कल्पना करनेवालोंने मूलमें स्वसम्मत भाव मिला दिये, सो यह बात प्रमाणहीन है; नहीं तो महाभारतमें अग्निसे प्रकट हुई द्रौपदीको भी कल्पित मान लेना पड़ेगा। द्रौपदीकी तरह अन्य स्त्रियां भी कुरुवंशमें उस समय तीन-चार पतियोंवाली क्यों नहीं दिखलाई गईं? दुर्योधनकी स्त्री भानुमती भी सौ भाइयोंकी स्त्री क्यों नहीं बताई गई? इससे स्पष्टतया यह 'अपवाद' है।

इधर पद्यका 'कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे' (१९३। २) इसका पूर्वार्ध वास्तविक मानकर 'पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां कष्टं मया भाषितमित्युवाच' (१९३। २) उसके उत्तरार्धको काल्पनिक मानना पूर्वपक्षवालों का अर्धजरतीय-न्यायका अवलम्बन करना है। यदि पूर्वार्ध ही अनालंकारिक वा अप्रक्षिप्त वा वास्तविक है, इसीलिए उद्धृत किया जाता है, उसीसे अपने पक्षकी पुष्टि समझी जाती है, तो वह भी हमारे पक्षकी पुष्टि करता है—यह बात विज्ञ पाठक देखें।

'कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे' यही पूर्वपक्षसम्मत पूर्वार्ध है। इसमें 'कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ' ये पद साभिप्राय हैं। कुटीमें होनेसे, और पुत्रों (भीम, अर्जुन) को न देखनेसे ही कुन्तीने उक्त प्रमाद किया, यह बात उक्त पदोंसे सिद्ध होती है, नहीं तो, 'कुटीगता सा' 'पुत्रौ अनवेक्ष्य' इन पदोंके कहनेकी आवश्यकता ही नहीं थी; क्योंकि इन पदोंके असाभिप्राय होनेसे अपुष्ट दोष उपस्थित हो जाता है। इधर इस पद्य पूर्वकेमें पद्य में प्रतिदिनकी भिक्षाका संकेत किया गया है, उधर इस पद्यमें **कुटीमें होनेसे उसके द्वारा पुत्रोंको न देखना कहा है**, तब उस भिक्षाका कुन्तीद्वारा कहे हुए 'भुङ्क्त' इस पदसे प्रतिदिनकी तरह 'उपभोग' अर्थ ही अभीष्ट है, 'सरक्षण' अर्थ नहीं। **प्रतिदिनकी भिक्षाका 'संरक्षण' नहीं होता था, किन्तु परस्पर यथाविभाग उपभोग ही किया जाता था।**

हां, यदि कुन्तीके द्वारा पुत्रोंका अनवेक्षण न होकर अवेक्षण-(दर्शन) होता, भिक्षाकी विलक्षणताका भी उसे ज्ञान होता, तब अवश्य यह न कहती। अतः "भुज् धातु यहां 'पालनार्थक है' तुम सब मिलकर इस द्रौपदीरूप गृहलक्ष्मीको पालो' यह कुन्तीका अभिप्राय था," यह पक्ष सिद्ध नहीं हुआ। इसमें उसी पूर्वपक्ष-वालोंसे उद्धृत, अप्रक्षिप्त तथा अनालङ्कारिक पद्यके 'कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ' इस प्रथम पादमें आये हुए 'कुटीगता' 'अनवेक्ष्य पुत्रौ' ये ग्रन्थकारके पद प्रमाण हैं।

तात्पर्य यह है कि—यदि कुन्ती कुटी से बाहर होती, भिक्षाको भी वह देख लेती, तब तो कुन्तीको 'उपभुङ्क्त' वही अर्थ विवक्षित होता, जो पूर्वपक्षवाले करते हैं, पर अब जब कुन्ती कुटीमें है, उस-ने पुत्रोंके साथकी भिक्षा भी नहीं देखी, तब किसी भी युक्तिसे कुन्तीका वह अभिप्राय कल्पित नहीं हो सकता। उसी कारण

पूर्वपक्षवालों को बलात् इस अभिप्रायको दिखलानेके लिए अर्थ करनेके अवसरपर अपने दिये हुए इस पूर्वार्धके पद्यका प्रथमपाद लोकदृष्टिसे छिपाना पड़ जाता है। **प्रथमपादके सामने रखनेपर वे अपने कहे हुए उक्त अभिप्रायको कदापि नहीं निकाल सकते।** पूर्ण श्लोकके चार पादोंमें उन्हें केवल दूसरा पाद ही अपना अभि-प्रेत अर्थ सिद्ध करनेके लिए लोक-दृष्टिमें रखना पड़ता है। अब इस पादके शेष तीन पाद कौन से हैं—यह बताना उनका कर्त्तव्य रह जाता है।

कई अन्य महाशयोंका यह अभिप्राय है कि 'जब अर्जुनने मत्स्यवेध किया था, तब धर्मसे वह द्रौपदीका पति हो गया, तब युधिष्ठिरका अनुजवधूके साथ सम्बन्ध कैसे युक्त हो सकता है?' इस पर जानना चाहिये—यदि मत्स्यवेधनमात्रसे अर्जुन पति तथा द्रौपदी पत्नी होती, तो उसके बाद विवाहकी आवश्यकता क्यों होती? जैसे कि युधिष्ठिरने कहा था कि "त्वया जिता पाण्डव याज्ञसेनी···प्रज्वाल्यतां हूयतां चैव वह्निर्गृहाण पाणिं विधिवत् त्वमस्याः।" (१९३।७)

इससे स्पष्ट है कि विवाह ही पतिपत्नीत्वका साधक होता है। वह कुन्तीके पूर्ववचनसे द्रौपदीका सब पाण्डवोंसे भिन्न-भिन्न हुआ, केवल अर्जुनसे ही नहीं हुआ। तब वह पत्नी भी पाँचों की हुई, एकमात्र अर्जुनकी नहीं।

एक यह भी प्रश्न संभव है कि—'विवाहिता कन्या नहीं रह जाती, तब युधिष्ठिर आदिसे विवाहित हुई, उसका अकन्या होने-से भी भीम आदिसे विवाह कैसे हुआ?' इसमें यह जानना चाहिए कि यह अपवादस्थल है; क्योंकि—वह विवाहिता भी पुनः कन्याभावको प्राप्त कर लेती थी। जैसे कि 'महाभारत'में कहा गया है —'क्रमेण चानेन नराधिपात्मजाः' (भीमार्जुननकुलसह-

देवाः) वरस्त्रियास्ते जगृहुस्तदा करम् । अहन्यहन्युत्तमरूपधारिणा महारथाः कौरववंशवर्धनाः' (१ । २०० । १३)-- इदं च तत्राद्भुतरूपमुत्तमं जगाद देवर्षिरतीतमानुषम् । महानुभावा किल सा सुमध्यमा बभूव कन्यैव गते गतेहनि ।। (१४)

(क्रम से राजकुमार पाण्डवोंने एक-एक दिन वरस्त्री द्रौपदी का पाणिग्रहण किया । देवर्षि नारदने वहाँ घटित हुई इस अद्भुत उत्तम और अलौकिक घटनाका वर्णन किया है कि महानुभावा द्रौपदी प्रतिवार विवाहके दूसरे दिन कन्याभावको प्राप्त हो जाती थी ।)

दिव्यदृष्टि श्रीव्यासजीने अग्निसे उत्पन्न दिव्य-कन्या द्रौपदीके कन्यात्वको दिव्यदृष्टिसे देख लिया, अतएव उन्होंने वैसा लिखा । तब इस प्रकार अलौकिक होनेसे द्रौपदीका विवाह सामान्य-विवाहका विषय नहीं, अतः यह अपवादस्थल ही जानना चाहिए । न तो यह दूसरेसे अनुकरणीय ही है, और न यह प्रथा ही उस समय प्रचलित थी ।

यह जो कहा जाता है कि 'कृष्णा तो प्रतियोगितामें जीती गई थी, भिक्षाकी तरह नहीं माँगी गई थी । तब धर्मभीरु एवं सत्यवादी अर्जुन अथवा भीम द्रौपदीको 'भिक्षा' शब्दसे कैसे कह सकते थे ?" इसपर जानना चाहिए कि क्षत्रिय होनेसे उन्हें भिक्षाका अधिकार ही नहीं था, तब ये भिक्षाके लिए जाते ही कैसे थे ? वस्तुतः यहां रहस्य यह है कि पाण्डवोंने लाक्षागृहसे अपने आपको बचाकर तब दुर्योधनको प्रतारित करनेके लिए ब्राह्मण का रूप धारण कर लिया था । ब्राह्मण रूपको ही प्रसिद्ध करनेके लिए भिक्षाका अभिनय करते थे, जिस-किसी भी लाई हुई वस्तु को 'भिक्षा' शब्दसे पुकारा करते थे । इसीलिए 'महाभारत'में कहा है-'तत्र भैक्षं समाजह्रुर्ब्राह्मणीं वृत्तिमाश्रिताः । तान् सम्प्राप्तांस्तथा

वीरान्जज्ञिरे न नराः क्वचित्' ।। (१ । १८७ । ७) (वहाँ ब्राह्मणवृत्तिका आश्रय ले वे भिक्षा मांगकर लाते थे । इस प्रकार वहां पहुँचे हुए पाण्डव-वीरोंको कोई भी मनुष्य पहचान न सके) ।

यहां स्पष्ट है कि उन्होंने भिक्षाको अपने छिपानेका साधन बनाया था । ब्राह्मणरूपकी प्रसिद्धिमें ही अर्जुन आदिने द्रौपदीको प्राप्त किया था । भार्गवकी कर्मशालामें प्राप्त होकर जनदृष्टिमें अपने-आपको ब्राह्मण परिचायित करनेके लिए ही जैसे वे प्रतिदिन 'हम भिक्षा लाये हैं' यह कहा करते थे, वैसे ही द्रौपदीके लानेके दिन भी कुटीसे बाहर ही उन्होंने ऊँचे स्वरसे 'हम भिक्षा लाये हैं' यह कहा । यह सब कुछ 'चारैः पश्यन्ति राजानः' इस नीतिसे राजा दुर्योधन की दृष्टिमें (क्योंकि वे लोग भी वहां उपस्थित थे) अपने छिपानेके लिए था । तभी दुःशासनने भी पीछेसे कहा था—

'यद्यसौ ब्राह्मणो न स्याद् विन्देत द्रौपदी न सः' । (२०२।११)अर्थात् यदि अर्जुनने ब्राह्मणका रूप धारण न किया होता, तब वह द्रौपदीको न पा सकता ।

अर्जुनके 'धर्मभीरु' तथा सत्यवादी'—ये दो विशेषण पूर्वपक्षिद्वारा अपने पक्षके सिद्ध करनेके लिए ही दिये गये मालूम होते हैं । परन्तु अर्जुन आदि इस अपने ब्राह्मणत्वको परिचायित करनेके लिए आपत्कालकी नीतिके अनुसार सर्वत्र असत्य बोलते थे । तभी जब ब्राह्मणवेषधारी अर्जुनने लक्ष्यवेध करके द्रौपदीको जीता था, तब कर्ण आदि उससे युद्ध करने लगे । उस समय कर्णने उससे पूछा कि—'तुम ब्राह्मण हो वा कोई अन्य ?' इसपर अर्जुनने उत्तर दिया—'तमेवंवादिनं तत्र फाल्गुनः (अर्जुनः)प्रत्यभाषत । ब्राह्मणोऽस्मि युधां श्रेष्ठ ! सर्वशस्त्रभृतां वरः । (१ । १९२ । २०-२१) यहाँपर पूर्वपक्षीको बताना चाहिये कि—'धर्मभीरु' और

सत्यवादी' अर्जुनने अपने आपको ब्राह्मण सत्य कहा वा असत्य ?

'एवमुक्तस्तु राधेयो युद्धात् कर्णो न्यवर्तत । ब्राह्मं तेजस्तदाजय्यं मन्यमानो महारथः ॥' (१९२ । २३)

यह असत्य-भाषण अपने ब्राह्मणत्वके परिचायित करनेके लिए दुर्योधनकी दृष्टिमें (क्योंकि वे लोग भी वहां उपस्थित थे) अपने-आपको छिपानेके लिए था। जब द्रौपदीको जीतकर वे घर ले गये, तब कुटियासे बाहर ही उन्होंने ऊँचे स्वरसे (क्योंकि कुन्ती उस समय अंदर थी) 'भिक्षा लाने के' शब्दका उच्चारण किया, तब अनुसंधानके लिए आये हुए लोगोंने उन्हें 'भिक्षा-' शब्दसे वास्तविक ब्राह्मण माना। सायंकाल वे फिर भिक्षा मांगने के लिए गये। जैसे कि—'सायं च भीमस्तु रिपुप्रमाथी जिष्णुर्यमौ चापि महानुभावौ। भैक्षं चरित्वा तु युधिष्ठिराय निवेदयाञ्चक्रुरदीनसत्त्वाः ॥ (१ । १९४ । ३) यह सुनकर संदेहमें पड़े हुए द्रुपदने भी उनसे पूछा— 'कथं जानीम भवतः क्षत्रियान् ब्राह्मणानुत । (१ । १९७ । २) —जहाँ इस प्रकरणसे कर्मसे वर्णव्यवस्था हटती है, वहां द्रौपदीको 'भिक्षा' शब्दसे कहने के कारणपर भी प्रकाश पड़ता है।

जो यह कहा जाता है कि—'द्रुपद अर्जुनको ही द्रौपदी देना चाहता था, यही जानकर युधिष्ठिरने लक्ष्यवेध नहीं किया, नहीं तो वह भी समर्थ था, और बड़ा भाई होनेसे अधिकारी भी था," यह बात भी ठीक नहीं, प्रत्युत पूर्वपक्षसे उपस्थापित पद्यसे भी विरुद्ध है। 'महाभारतमें यह संकेत ही नहीं दिया गया कि युधिष्ठिर आदि इस विषयमें द्रुपदकी अभिलाषा जानते थे'— 'यज्ञसेनस्य कामस्तु पाण्डवाय किरीटिने। कृष्णां दद्यामिति सदा न चैतद् विवृणोति सः, (१ । १८७ । ८) इस पद्यके चौथे पादमें तो यह बताया है कि—द्रुपद अपनी उक्त अभिलाषाको

किसीके आगे प्रकट नहीं करते थे। यही बात 'अयं हि कामो द्रुपदस्य राज्ञो हृदि स्थितो नित्यमनिन्दिताङ्गः। यदर्जुनो वै पृथुदीर्घबाहुर्धर्मेण विन्देत सुतां ममैताम् ॥ (१ । १९५ । १६) इस पद्यमें भी 'हृदि स्थितः' इस पदसे अप्रकट, द्रुपदके हृदयस्थित मनोरथको युधिष्ठिर कैसे जान गये, कर्ण आदि कैसे न जान सके—इस प्रकार यह पद्य, उद्धरण करनेवालोंके ही पक्षको काट रहा है।

इधर युधिष्ठिरके लिए 'समर्थ' यह पद भी महाभारत से विरुद्ध है। युधिष्ठिरने जो कि लक्ष्यवेध नहीं किया, उसमें कारण उसका असामर्थ्य ही था। इसलिए श्रीद्रोणाचार्यने भी वैसी सामर्थ्य न होनेसे युधिष्ठिरको इस परीक्षामें अनुत्तीर्ण कर दिया था, जैसे कि 'नैतच्छक्यं त्वया वेद्धुं लक्ष्यमित्येव कुत्सयन्।' (१३४।७६-७७-७८)।

अर्जुनने जो कि इसमें साहस किया था, उसका कारण उसकी सामर्थ्य थी—यह द्रोणाचार्यकी परीक्षामें १३५ अध्याय में स्पष्ट है, इस कारण अर्जुनने ही लक्ष्यवेध किया था 'यत् पार्थिवै रुक्मसुनीथवक्रैः राधेयदुर्योधन-शल्यशाल्वैः। तदा धनुर्वेदपरैर्नृसिंहैः कृतं न सज्यं महतोऽपि यत्नात्।' (१ । १९० । १६) इस प्रकार जिस धनुषको कर्ण तथा दुर्योधनादि डोरीसे नहीं जोड़ सके, तब उनसे न्यूनशक्तिवाले युधिष्ठिरकी भला उस लक्ष्यभेदमें क्या शक्ति थी ?

द्रौपदीके पञ्चपतित्वकी आवृत्ति।

इधर यह भी जानना चाहिए कि यदि द्रौपदीकी पञ्चपतिकी कथा कल्पनामात्र या असत्य होती, तो असत्यका मूल स्थिर नहीं हुआ करता। उसके लिए 'महाभारत' या अन्य ग्रंथमें कोई संकेत होता, अथवा कहीं असंगति पड़ती, पर कहीं भी असंगति

नहीं दीखती। 'प्रत्युत द्रौपदीका पञ्चपतित्व अन्य प्रकरणोंमें कई बार आवृत्त किया गया है; इस कारण यहां अवैयासिकता भी नहीं है। तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गोंमें उपक्रम, उपसंहार तथा अभ्यास आदि मुख्य हुआ करते हैं, अभ्यासका अर्थ है पुनः-पुनः आवृत्ति। तो द्रौपदीका पञ्चपतित्व महाभारतमें बहुत बार आवृत्त हुआ है। उसके विवाहके उपक्रममें उसका पञ्चपतित्व बतलाया ही जा चुका है, अब उपसंहारमें भी उसका संकेत देखना चाहिए।

(क) महाप्रस्थानमें जब पाण्डव हिमालयकी ओर गये, तब मार्गमें सबसे पूर्व द्रौपदी गिरी। भीमसेनने उसका कारण पूछा '(महाप्रस्थानिकपर्व २। ३-५)। तब युधिष्ठिर ने बताया—'पक्षपातो महानस्या विशेषेण धनंजये। तस्यैतत्फलमद्यैषा भुङ्क्ते पुरुषसत्तम॥ (महा० २।६)

इसका पक्षपात अर्जुनमें अधिक था—इसलिए गिरी है। यहां द्रौपदीका पञ्चपतित्व स्पष्ट है। यदि अर्जुन ही एकमात्र उसका पति होता, पाँचों पाण्डव नहीं, तब उसका अर्जुनमें पक्षपात उचित ही था। पांचोंकी पत्नी होने पर तो उसका एकके साथ पक्षपात अनुचित होनेसे गिरना सोपपत्तिक है। तब द्रौपदीका पांचोंकी पत्नी होना महाभारतके तात्पर्यका विषय सिद्ध हुआ।

इस प्रकार जहां उपक्रम-उपसंहारमें उसका पञ्चपतित्व स्पष्ट है, वैसे ही अन्य प्रकरणोंमें भी उसकी बहुत आवृत्ति हुई है। दिङ्मात्र प्रदर्शन किया जाता है।

(ख) नारदजीने पांचों पाण्डवोंको कहा था—'पाञ्चाली भवतामेका धर्मपत्नी यशस्विनी। यथा वो नात्र भेदः स्यात् तथा नीतिर्विधीयताम्॥ (आदिपर्व २१०। १८)

(यह यशस्विनी पाञ्चाली आप पाँचोंकी एक पत्नी है, जिस

प्रकार आपलोगोंमें परस्पर भेद-फूट न हो जाय, वैसी नीति कर लें।') यदि यह पाँचों की पत्नी न होती; तो नारदजीका यह कथन व्यर्थ था।

(ग) 'तं (पाण्डवं) लब्ध्वा द्रौपदी भार्या द्रुपदश्च सुतैः सह। सहायः पृथिवीलाभे वासुदेवश्च वीर्यवान्॥ (सभापर्व ४८। ४) ('उन पांचोंने पत्नीरूपमें द्रौपदीको प्राप्त किया है'), यह शकुनिने दुर्योधनको पाण्डवोंकी स्त्री द्रौपदीके लिए कहा है।

(घ) द्यूतक्रीड़ाके समय शकुनिने युधिष्ठिरको कहा—'अस्ति ते वै प्रिया राजन् ग्लह एकोऽपराजितः। पणस्व कृष्णां पांचालीं तयाऽऽत्मानं पुनर्जय'॥ (२। ६५। ३२)। यदि द्रौपदी एकमात्र अर्जुनकी पत्नी होती, तो शकुनि युधिष्ठिरको द्रौपदीका दांव लगानेके लिए न कह सकता। युधिष्ठिरके भी उसके पति होनेसे वह उससे स्वेच्छा-व्यवहार कर सकता है, तब उसका पञ्चपतित्व स्पष्ट हो गया। महाभारतको यह प्रसिद्ध घटना कभी आलङ्कारिक नहीं हो सकती।

(ङ) द्रौपदीने जुएमें हरकर दुर्योधनके दास्यसे अपने-आप को छुड़ानेके लिए भीष्म आदिसे पूछा कि 'जब युधिष्ठिर द्यूतमें पहले अपने-आपको हार गये थे, तब उनको मुझे दाँवपर लगाने का क्या अधिकार था? इसमें आप व्यवस्था दीजिये।' तब श्रीभीष्मने उत्तर दिया कि—'न धर्मसौक्ष्म्यात् सुभगे! विवेक्तुं शक्नोमि ते प्रश्नमिमं यथावत्। अस्वाम्यशक्तः पणितुं परस्वं स्त्रियाश्च भर्तुर्वशतां समीक्ष्य'॥(२। ६७। ४७)। ('पति स्वयं पराजित होकर स्त्रीका स्वामी न होनेसे उसे दांवमें नहीं लगा सकता, अथवा स्त्री सभी अवस्थाओंमें भर्ताके अधीन होती है, और भर्ता स्वयं पराजित होकर भी स्त्रीमें स्वामित्व होनेसे

उसे दाँव लगा सकता है—यह मैं धर्मकी सूक्ष्मतावश व्यवस्थापित नहीं कर सकता।') इस भीष्म-वचनसे भी द्रौपदी युधिष्ठिरकी भी स्त्री सिद्ध होती है। तब एकमात्र अर्जुन ही उसका पति 'महाभारत' को इष्ट नहीं।

(च) 'तथा ब्रुवन्ती करुणं सुगध्यमा भर्तॄन् कटाक्षैः कुपितानपश्यत्। सा पाण्डवान् कोपपरीतदेहान् संदीपयामास कटाक्षपातैः॥ (२।६७।४२)। वैशम्पायनके इस वचनमें क्रुद्ध द्रौपदीने अपने पतियोंकी ओर तिरछी दृष्टिसे देखा···। 'सा भर्तॄन् पाण्डवान्' इस पदसे द्रौपदी पांचोंकी पत्नी ग्रन्थकारको सम्मत सिद्ध होती है।

(छ) 'साधारणी च सर्वेषां पाण्डवानामनिन्दिता। जितेन पूर्वं चानेन पाण्डवेन (युधिष्ठिरेण) कृतः पणः'॥ (२।६८।२३) 'एतत् सर्वं विचार्याहं मन्ये न विजितामिमाम्' (२४)। विकर्णके इस वचनसे द्रौपदी सब पाण्डवोंकी समान पत्नी सिद्ध होती है।

(ज) कर्णने कहा था—'एको भर्ता स्त्रिया देवैर्विहितः कुरुनन्दन। इयं (द्रौपदी) त्वनेक (पञ्च) वशगा बन्धकीति विनिश्चिता॥ (२।६८।३५)। अस्याः सभामानयनं न चित्रमिति मे मतिः।' (३६)। यदि द्रौपदी एकमात्र अर्जुनकी पत्नी होती, पांचोंकी नहीं, तो कर्णको ऐसी निन्दा करनेका साहस न होता कि—'स्त्रीका एक ही शास्त्रानुसार भर्ता होता है, पर यह अनेकोंकी स्त्री है, अतः कुलटा है।'

(झ) दुर्योधनने द्रौपदीको कहा था—'तिष्ठत्वयं प्रश्न उदारसत्त्वे भीमेऽर्जुने सहदेवे तथैव। पत्यौ च ते नकुले याज्ञसेनि वदन्त्वेते वचनं त्वत्प्रसूतम्॥ (२।७०।३) न धिब्रुवन्त्यार्यसत्त्वा यथावत् पतींश्च ते समवेक्ष्याल्पभाग्यान्। (६)। यहांपर ततीय-पद्यमें दुर्योधन द्रौपदीको सम्बोधित करके 'पति' शब्दका

सम्बन्ध युधिष्ठिरके साथ करके युधिष्ठिरको उसका ज्येष्ठ पति बताता है। और छठे पद्यमें 'ते पतीन्' इससे उसे पांचोंकी पत्नी बता रहा है। इससे भी प्रकृतकी पुष्टि हो रही है।

(ञ) द्रौपदीने (२।७१।२९-३० पद्यमें) अपनेमें युधिष्ठिरसे उत्पन्न हुए प्रतिविन्ध्य नामक पुत्रकी दासपुत्रता हटानेके लिए धृतराष्ट्रसे वर माँगा, फिर (७१।३२ पद्यमें) अवशिष्ट चार पाण्डवोंके दास्य हटानेके लिए दूसरा वर-मांगा। इससे स्पष्ट है कि वह केवल अर्जुनकी स्त्री नहीं थी, अपितु युधिष्ठिर आदि सबकी पत्नी थी।

(ट) 'महाप्राज्ञः सौमकिर्यज्ञसेनः कन्यां पाञ्चालीं पाण्डवेभ्यः प्रदाय। अकार्षीद् वै सुकृतं नेह किंचित् क्लीबाः पार्थाः पतयो याज्ञसेन्याः।'(२।७७।१०) यहां द्रौपदीको दुःशासनने पांचों पाण्डवोंकी पत्नी बताया है।

(ठ) कुन्ती बनवासके गमनके समय द्रौपदीको उपदेश देती है—'वत्से शोको न ते कार्यः प्राप्येदं व्यसनं महत्। स्त्रीधर्माणामभिज्ञासि शीलाचारवती तथा।' (२।७९।४) 'न त्वां सन्देष्टुमर्हामि भर्तॄन् प्रति शुचिस्मिते।' (५)यहांके 'भर्तॄन्' इस बहुवचनसे द्रौपदी पांचोंकी समान पत्नी सिद्ध होती है।

इस प्रकार महाभारतमें अन्यत्र भी पुनः-पुनः आवृत्तिरूप अभ्याससे तथा उपक्रम उपसंहार आदिसे स्पष्ट हो जाता है कि महाभारतकारको द्रौपदी पांचों पाण्डवोंकी वास्तविक ही पत्नी अभिप्रेत है, एकमात्र अर्जुनकी नहीं। जब पूर्वपक्षानुसार युधिष्ठिर आदि पाँचों प्रत्येकमें पञ्चभावसे थे, तब सबकी गृहलक्ष्मी द्रौपदी भी उसको वास्तविक पत्नी और वे भी सब उसके वास्तविक पति सिद्ध हुए, अन्यथा यदि पूर्वपक्षप्रोक्त व्युत्पत्ति के अनुसार अर्जुन ही पञ्चपाण्डवात्मक था, तो अर्जुनसे अतिरिक्त चार पाण्डवोंको

भी आलङ्कारिक मानना पड़ेगा, पर पूर्वपक्षको भी यह इष्ट नहीं। वैसे ही 'वह एक अर्जुनकी ही स्त्री थी, दूसरोंसे केवल पालनीय' थी, दूसरे उसके संरक्षक थे, वास्तविक पति नहीं,' यह बात सिद्ध न हो सकी। इस कारण प्रत्येकसे द्रौपदीके पांच पुत्र उत्पन्न होनेका वर्णन भी काल्पनिक सिद्ध नहीं हो सका। (१।२२३।७८-८०-८६)

इसके अतिरिक्त उस कालके लोग 'नैकस्यै बह्वः सहपतयः' इस सिद्धान्तके भी जाननेवाले थे। यह सिद्धान्त उस समय अपरिचित नहीं था। तभी द्रुपद आदिने स्वयं भी कहा था—'एकस्य बह्व्यो विहिता महिष्यः कुरुनन्दन। नैकस्या बहवः पुंसः (यह भी अपाणिनीय प्रयोग है।) श्रूयन्ते पतयः क्वचित्। (१।१९७।२७) लोकवेदविरुद्धं त्वं नाधर्मं धर्मविच्छुचिः। कर्तुमर्हसि कौन्तेय कस्मात् ते बुद्धिरीदृशी ॥(२८) तथापि धर्मभीरु पाण्डवोंका उसके अनुसरणमें एक कारण है, वह है—'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया'। (रघुवंश १४।४६) 'गुरूणां वचनं तथ्यं सदोषमपि मानवैः। कर्तव्यमविचार्यैव शिष्टाचारप्रमाणतः। (देवी-भाग० ८।२४।५१-५२) इस अर्थको बतानेवाले 'मातृदेवो भव' इस प्रबल वैदिक आदर्शका पालन। दूसरा कारण यह है कि—पांचों पाण्डव पूर्वजन्ममें एक थे, तो वहां प्रेरणा भी वैसी होनी थी।

जो यह कहा जाता है कि—'शेष सब रावणके दस सिरोंकी तरह, कुम्भकर्णकी छः मासकी नींदकी तरह रूपक वा काल्पनिक है' इसपर यह जानना चाहिये कि रावणके दस सिर भी वास्तविक थे, तथा कुम्भकर्णकी छः मासकी नींद भी वास्तविक थी, इसपर अन्य पुष्पमें विचार होगा। तब द्रौपदीको साध्वी अथवा एक-पतिका सिद्ध करनेके लिए पूर्वपक्षद्वारा बताया गया

उपाय कल्पित ही सिद्ध हुआ है, उसमें किसी प्राचीन या अर्वाचीनको सहमति नहीं। जो कि नियोगसे उत्पन्न होनेसे 'न कुलमस्य' इस व्युत्पत्तिसे अर्जुनको 'नकुल' माना जाता है, यह भी संगत नहीं जान पड़ता। क्या नकुलका यह नाम इसी कारण था? नियोगसे उत्पन्न भी कुलरहित नहीं हुआ करते। क्या एकमात्र नकुल ही नियोगोत्पन्न थे? यदि सभी, तो सभीका नकुल—कुलरहित क्यों नहीं कहा गया? क्यों क्षत्रिय वा कुरु माना गया। वस्तुतः यहां नियोग ही साध्य है, सिद्ध नहीं। 'क्योंकि धर्म, इन्द्र, वायु आदि मनुष्य नहीं थे।

द्रौपदी का पति एक।

अब हम महाभारतके अभिप्रायानुसार द्रौपदीको एकपतिका एवं साध्वी सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं, जिसमें न तो कहीं प्रक्षिप्तता बतानी पड़ती है, न आलंकारिकता ही, और न कहीं असङ्गति ही पड़ती है। विज्ञ पाठकगण अब इस प्रकारकी भी परीक्षा करें।

पूर्वपक्षकी भांति द्रुपदका भी यही आक्षेप था कि 'अधर्मोऽयं मम मतो विरुद्धो लोकवेदयोः। न ह्येका विद्यते पत्नी बहूनां द्विजसत्तम ॥ (१९८।७-८-९] राजा द्रुपद योगविद्याके तत्त्वज्ञ नहीं थे, कुन्ती भी नहीं थी। वहांपर योगिराज श्रीमान् व्यासजी उपस्थित हो गये। उन्होंने कुन्तीसे कहा कि—तुमने जो जो सब पुत्रोंको अज्ञानसे कहा था कि—जो वस्तु तुम लाये हो, उसको 'समेत्य भुङ्क्त' विभक्त करके इकट्ठे उपभुक्त करो, तब एकके साथ द्रौपदीके विवाहमें तुम्हारा कथन अनृत—असत्य हो जायगा और अनृतमें दोष होगा। पर तुम डरो नहीं। तुम अनृतभाषणके दोषसे मुक्त हो जाओगी। क्योंकि—द्रौपदीके साथ पांच पाण्डवोंका विवाह अनिवार्य है। (१।१९८।१९-२१)

इस विषयमें विज्ञ-पाठक यह याद रखें कि—'आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ। कुर्याद् योगी बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्। प्राप्नुयाद् विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्। संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव'॥ यह पद्य वेदान्तदर्शन (१।३।२७) शाङ्करभाष्यमें तथा अन्य ग्रन्थोंमें भी मिलता है। मार्कण्डेयपुराणमें भी कहा है—योगीश्वराः शरीराणि कुर्वन्ति बहुलान्यपि। (५।२५)

'योगदर्शन' में भी कहा है—'प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकचित्तम् एकमनेकेषाम्'। (४।५)। इन प्रमाणोंमें योगीकी अनेक शरीरोंके बनानेमें तथा उनसे अनेक कार्य करनेमें शक्ति बताई गई है। इसके अनुसार कोई पुरुष ब्रह्मचर्याश्रममें पूर्व-प्रारब्धके योगसे योगसिद्धिको प्राप्त करके अपने एक शरीरके अनेक शरीर बना ले, और वह एक उत्तम कन्याके साथ विवाह कर ले, तो उस एकके अनेक शरीरोंके साथ एक कन्याके विवाह करनेपर भी वह विवाह एक पुरुषके साथ ही सम्पन्न हुआ माना जायगा। वे आपाततः देखनेसे तो अनेक पुरुष हैं, परन्तु वास्तवमें वह एक ही पुरुष है। आशा है—योगसिद्धि माननेवाले आस्तिकोंको इसमें कोई भी आक्षेपका अवसर न होगा।

आर्य-समाजके स्वामी श्रीदयानन्दजीके लिए उनके जीवनचरित्रमें एक घटना मिलती है। 'श्रीमद्दयानन्दप्रकाशके अन्तिम प्रकरणमें लिखा' है-'उन्हीं श्रीगुरुदत्तने क्या देखा कि एक ओर तो परम धामको पधारनेके लिए प्रभु परमहंस पलंगपर बैठे प्रार्थना कर रहे हैं, और दूसरी ओर वे व्याख्यान देनेके वेशमें सुसज्जित उसी कमरेकी छतके साथ साथ लगे बैठे हैं। इस आत्मयोगके प्रत्यक्ष-प्रमाणको पाकर पण्डित महाशय गुरुदत्तका चित्तस्फटिक [illegible]

आजकलके अशक्तिमय समयमें भी यह योगशक्ति मानी मानी जाती है, तो प्राचीनकालके शक्तिमय समयमें योगप्रक्रियाकी उन्नति न हो, ऐसा नहीं माना जा सकता।

यदि एकके अनेक अंश उससे अभिन्न न माने जायं, तो हमारे एक शरीरमें भी हाथ-पांव आदि अनेकों अङ्ग हैं, तब उन सबके साथ हो रहा हुआ एक कन्याका विवाह भी अनेकोंके साथ हुआ माना जाय। परन्तु ऐसा नहीं है। इसके अनुसार श्रीवेदव्यासने 'महाभारत' के आदिपर्वमें १९९ अध्यायमें पञ्च-इन्द्रोपाख्यान सुनाया है, जिसका अभिप्राय यह है कि एक ही इन्द्रदेवने पाँच पाण्डवोंका रूप धारण किया है। उसी इन्द्रकी दिव्यलक्ष्मी दूसरे जन्ममें राजा द्रुपदके घर द्रौपदीके रूपमें प्रकट हुई है। इन्द्रदेव भी पांच रूपोंमें प्रकट हुए हैं। जब योगी मनुष्य भी पूर्वकथित प्रमाणसे तथा 'योगी खलु ऋद्धौ (अणिमादिसिद्धौ) प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा (इन्द्रियाणां विशिष्टसामर्थ्यवान्) निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि' (३।२।१९) इस 'न्यायदर्शन' के प्रमाणसे बहुत-से रूप और बहुतसे शरीर बना सकते हैं, तो स्वभावसिद्ध योगी देवताओंके लिए तो क्या कहना ?

यही बात ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या करते हुए श्रीस्वामी शंकराचार्यचरणोंने भी कही है—'आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ।'···इत्येवंजातीयका स्मृतिरपि प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनामपि युगपदनेकशरीरयोगं दर्शयति, किमु वक्तव्यम् आजन्मसिद्धानां देवानाम्। अनेकरूपप्रतिपत्तिसम्भवाच्च एकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य···। (१।३।२७)

इस प्रकार इन्द्रदेवताके विषयमें उसके द्वारा बहुत शरीर धारण करनेके सम्बन्धमें भी जान लेना चाहिये। इसीलिए 'महाभाष्य' में भी इन्द्रदेवताके लिए कहा गया है-'एक इन्द्रो-

ऽनेकस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति' (१।२।६४)। अर्थात् एक ही इन्द्र सैकड़ों यज्ञोंमें बुलाया जाता हुआ एकदम सर्वत्र होता है। इस प्रकार वेदमें भी इन्द्रके अनेक शरीर धारण करनेका वर्णन आता है। जैसे कि–'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ० ६। ४७। १८)। 'रूपं रूपं मघवा (इन्द्रः) बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्' (ऋ० ३। ५३। ८)। इस प्रकार निरुक्तमें देवताके बहुत रूप धारण करना दिखलाया है–'महाभाग्याद् देवतायाः' (७। ४। ८)। भाग्य अणिमा आदि ऐश्वर्योंका नाम है।

इस प्रकार एक ही इन्द्र पांच पाण्डवोंके रूपमें था। इन्द्रका अंश अर्जुन है, यह तो सुप्रसिद्ध ही है। उसके इधर दो बड़े भाई हैं, इधर दो छोटे भाई। तो इन्द्र ही युद्धमें स्थिर होनेसे 'युधिष्ठिर' नामवाला हुआ। शत्रुओंके लिए भयानक होनेसे 'भीम' वा भयानक सेनावाला होनेसे 'भीमसेन' हुआ। मनुष्य-कुलवाला न होनेसे 'नकुल' हुआ। 'इन्द्रज्येष्ठा अस्मान् अवन्तु देवाः (यजुः ३३। ५०)। इस प्रकार देवोंके सहित होनेसे 'सहदेव' नामका हुआ। युधिष्ठिरका वह 'धर्म' रूपसे, भीमका 'वायु' रूपसे, नकुल-सहदेवका 'अश्विनीकुमार' रूपसे उत्पादक हुआ। इसीलिए वेदमें कहा है–'इन्द्रः सर्वा देवताः' (शतपथ ३।४।२।२) 'इन्द्रो वै सर्वे देवाः' (शत० १३।२।७।४)। यहांपर इन्द्र को सर्व-देवमय कहा है। इस प्रकार स्वर्गकी लक्ष्मी द्रौपदीरूपमें संसारमें प्रकट हुई। इस भांति एक द्रौपदीका विवाह एक ही इन्द्रकी पांच व्यक्तियोंसे जो हुआ, वह वास्तवमें एक ही इन्द्रसे हुआ। तब द्रौपदीके पातिव्रत्यमें अथवा पाण्डवोंकी धर्मप्राणतामें अथवा उनके चरित्रमें कोई भी त्रुटि नहीं पड़ती, क्योंकि पति वस्तुतः एक है।

इसीलिए मार्कण्डेय-पुराण में भी---'कस्माच्च पाण्डुपुत्राणा-मेका सा द्रुपदात्मजा। पञ्चानां महिषी कृष्णा सुमहानत्र संशयः ॥ (४।३२)। पांच पाण्डवोंकी एक ही रानी द्रौपदी कैसे हुई ? यह शंका करके वहां उत्तर दिलवाया गया है–'तेजोभागै-स्ततो देवा अवतेरुर्दिवो महीम्। प्रजानामुपकारार्थं भूभारहरणाय च ॥ यदिन्द्रदेहजं तेजस्तन्मुमोच स्वयं वृषः। कुन्त्यां जातो महातेजास्ततो राजा युधिष्ठिरः ॥ बलं मुमोच पवनस्ततो भीमो व्यजायत। शक्रवीर्यार्पितश्चैव जज्ञे पार्थो धनंजयः ॥ उत्पन्नौ यमलौ माद्र्यां शक्ररूपौ महाद्युती। पंचधा भगवान् इत्यमवतीर्णः शतक्रतुः ॥ तस्योत्पन्ना महाभागा पत्नी कृष्णा हुताशनात्। शक्रस्यैकस्य सा पत्नी कृष्णा नान्यस्य कस्यचित्। योगीश्वराः शरीराणि कुर्वन्ति बहुलान्यपि ॥ (५।२०।२५)। इसका यह भाव है कि योगीश्वर अपने शरीर बहुत बना लिया करते हैं। इन्द्रने भी अपने एक शरीरके कई अंश बना लिये, जिन्हें धर्म, वायु तथा स्वयं इन्द्रने कुन्तीमें तथा अश्विनीकुमारोंने माद्रीमें रखकर युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और नकुल-सहदेवको उत्पन्न किया।

बात स्पष्ट हो गयी, तब 'नैकस्यै बहवः सहपतयः।' (गोपथ २।३।२०)। यह विरोध सिद्ध नहीं हुआ; क्योंकि वास्तवमें पति एक ही था। व्यावहारिक बाहरी भिन्नतामें उन्होंने जनताके हितार्थ बाहरी नियमोंका भी यथावत् पालन किया। इस प्रकार उक्त विषयमें ब्रह्मवैवर्तपुराणमें कहा है–पञ्चेन्द्राश्च हरेरंशा भविष्यन्ति प्रियास्तव। (११५।१)। स्वर्गलक्ष्मीमंहेन्द्राणां सा च पश्चाद् भविष्यति ॥४॥ अर्जुनाय ददौ राजा कन्यायाश्च स्वयंवरे। पप्रच्छ मातरं वीरो वस्तु प्राप्तं मयाधुना ॥५॥ तमुवाच स्वयं माता गृहाण भ्रातृभिः सह। शम्भोर्वरेण पूर्वं च परत्र मातुराज्ञया ॥६॥ द्रौपद्याः स्वामिनस्तेन हेतुना पञ्च

पाण्डवाः। चतुर्दशानामिन्द्राणां पञ्चेन्द्राः पञ्च पाण्डवाः' ॥ (श्रीकृष्णखण्ड ११५।७)। यहां पर बताया गया है कि इन्द्रके चौदह भेद होते हैं, उनमें पांच इन्द्रके रूप पाँच पाण्डव बने, स्वर्गकी लक्ष्मी द्रौपदी बनी। पूर्वजन्ममें महादेवके वरके कारण इस जन्ममें माताकी आज्ञासे द्रौपदीके पांच पाण्डव पति बने। वस्तुतः इन्द्रदेव एक ही थे, द्रौपदी उन्हीं इन्द्रदेवकी स्वर्गकी लक्ष्मी थी। जैसे एक सूर्य मासोंकी उपाधिके भेदसे बारहकी संख्या का माना जाता है, वैसे ही एक इन्द्र चौदह प्रकारका माना जाता है। जैसे एकके अनेक अंश भिन्न-भिन्न नहीं माने जाते, वैसे पाण्डव भी कथनमात्रमें पांच थे, वस्तुतः एक ही इन्द्र था। इससे द्रौपदी तथा पाण्डवोंके चरित्रमें कोई त्रुटि नहीं आती।

फलतः द्रौपदीको एक-पतिका तथा साध्वी सिद्ध करनेका यही वास्तविक प्रकार है। इस प्रकारमें न कहीं प्रक्षिप्तता माननी पड़ती है, न कहीं कोई असङ्गति पड़ती है, न यहाँ बलात् कोई कृत्रिमता करनी पड़ती है। पूर्वपक्षोक्त प्रकारमें तो बहुत स्थलोंमें असंगति दीख पड़ती है, बहुत स्थलोंमें 'महाभारत' के इतिहासका रूप परिवर्तित करना पड़ जाता है। जहां सर्वथा निर्मूलता हो जाती है। कहीं उस पक्षमें प्रक्षिप्तता वा स्वेच्छामात्रसे अलंकारिकता माननी पड़ जाती है। प्रत्युत उस पक्षको स्वीकार करनेमें उसके सिद्ध करनेके लिये दिए गये महाभारतीय पद्य भी उस पक्षसे स्वयं विद्रोह करने लग जाते हैं, तब हमें निर्मूल पक्षके आश्रयणकी क्या आवश्यकता है? द्रौपदीके बाहर देखनेमें पांच पति थे। पर वस्तुतः वह पाँच रूप बने हुए एक ही इन्द्रकी पत्नी थी। आशा है 'आलोक' पाठकोंने इस विषयमें पाश्चात्य-संस्कृति-प्रभावित पौरस्त्यों तथा शुद्ध पौरस्त्योंके अभिप्रायमें तारतम्यका विश्लेषण अपनी सूक्ष्म-बुद्धिद्वारा कर लिया होगा।

वेदचर्चा

(१४) वेदस्वरूपनिरूपण (ग)

(११३१ संहिताओं तथा ब्राह्मणोंकी वेदता+)

अब तक 'आलोक' पाठकोंने पुराण-इतिहासकी पृथक्-पृथक् चर्चामें बहुतसे आक्षेप तथा उसके परिहार देख लिये। अन्य आक्षेपोंके परिहार आगे 'पुराणेतिहासचर्चा' में दिये जायेंगे। अब स. ध. के मूलधर्मग्रन्थ वेदकी सीमामें कितना साहित्य आ जाता है, इस विषय पर लिखा जाता है। अब पाठक मनोयोगपूर्वक इस के मननका यत्न करें। पाठकोंको इस विषयमें दृढ रुचि रखनी चाहिये, क्योंकि इन्हीं वेदोंके आधारपर हमारा सनातन-वर्णाश्रमधर्म सुरक्षित है। इन्हीं का अधिकारपट्ट यज्ञोपवीत-सूत्र

+इस निबन्धको 'संस्कृतप्रचारकमण्डल (आर्यसमाज, दीवानहाल देहली) में संस्कृतमें सुनाया गया था। उसके तात्कालिक-प्रधान डा० श्री पं० कृष्णदत्तजी शास्त्री भारद्वाज M.A. ने इसकी बहुत ही प्रशंसा की, और इसे अकाट्य बताया। अपने से सम्पादित 'सिद्धान्त' पाक्षिकपत्र (वाराणसी-प्रकाशित) में भी हमने इसे दिया। उसे देखकर श्रीस्वामी परमानन्द जी सरस्वती महाराजने भी इसकी बहुत प्रशंसा की; और इस विषय में एक बृहद्-ग्रन्थ बनानेका आदेश दिया। यद्यपि यह विषय 'आलोक' ४र्थ, ६ठे तथा ८म पुष्पमें आ चुका है, पर यह सारभूत होनेसे इसे जनलाभार्थ नवीनरूपसे सूत्ररूपसे दिया जा

हम यथाधिकार पढ़ते हैं। सब शास्त्रोंका मूल वेद ही हैं। इस ओर हमारे ध्यान न देनेके ही कारण अर्वाचीन-सम्प्रदायोंने जनताको अपनो इच्छानुसारी पाठ पढ़ाकर वेदोंको संकुचित कर दिया है।

उन्हीं अर्वाचीनोंके अनर्गल-प्रचारसे प्रभावित जनता यह समझती है कि-ऋग्वेदसंहिता, शुक्ल यजुर्वेदसं०, सामवेदसं० और अथर्ववेदसं० नामसे मिलनेवाली चार पोथियां ही चार वेद हैं, शेष वेदसंहिताएँ इन्हीं चारोंकी शाखाएं हैं, वेद नहीं। इस विषयमें 'आलोक' पाठकोंको परिचय प्राप्त कर लेना चाहिये।

(१) वेदको माननेवाले लोग वैदिक-निघण्टु और उसके भाष्यकार निरुक्तप्रणेता श्रीयास्कको, वादिप्रतिवादिमान्य महाभाष्यकार पतञ्जलि, अष्टाध्यायीकार श्रीपाणिनि, वार्तिककार श्रीकात्यायनको वेदज्ञ तथा वेदविषयमें प्रामाणिक एवं विश्वसनीय मानते हैं। अपने-आपको वैदिक माननेवाला आर्यसमाज नामक अर्वाचीन सम्प्रदाय इन सभीको तथा अपने सञ्चालक स्वा० द० जी को इस विषयमें प्रामाणिक मानता है। अब हम इन सबके तथा अन्य भी प्रामाणिक-ग्रंथोंके वचन उद्धृत करके यह बताते हैं कि यह सभी आचार्य ११३१ संहिता तथा उतना ही ब्राह्मणभाग एवं उसके अन्तर्गत आरण्यक एवं उपनिषदोंको वेद मानते हैं।

सनातनधर्मका भी यही मत है, पर अपने-आपको वैदिक माननेवाला आर्यसमाज केवल वर्तमान वेदकी चार पोथियोंको ही वेद मानता है, शेष संहिताओं तथा ब्राह्मणोंको प्रमाणित करता हुआ भी उन्हें वेद नहीं मानता। प्रत्येक प्राचीनग्रंथमें अपने पक्षसे विरुद्धता देखकर उसमें प्रक्षिप्तताका अडङ्गा लगानेवाले भी आर्यसमाजकी यहां यह विशेषता है कि वेदकी अपनी मानी

हुई चार पोथियोंमें वह न तो कुछ प्रक्षिप्तता (अधिकता) मानता है, न कुछ न्यूनता ही। हाँ, इन चार पोथियोंमें भी जब वह अपने पक्षसे विरुद्धता देखता है, तो उनके ही शब्दोंमें तोड़-मरोड़ करके 'मक्खीको मल-मलकर भैंसा' बना दिया करता है। अस्तु। स०ध० के अनुसार वेदभूत ११३१ संहिताओं वा ब्राह्मणों में कुछ साहित्य तो मिलता है, परन्तु अन्य बहुतसी संहिताए वा ब्राह्मण लुप्त हैं। सो जब प्राचीन साहित्यमें वेदके नामसे कहा हुआ वचन वर्तमान वेदसाहित्यमें न मिले, तब उसकी सत्ता लुप्त वा अनुपलब्ध वेदसाहित्यमें अनुमित कर लेनी पड़ती है। अब पूर्व आचार्योंका इस विषयमें मत देखना चाहिये।

(२) वादिप्रतिवादिमान्य—महाभाष्यके पस्पशाह्निकमें अप्रयुक्त-शब्दोंकी सत्ता बतानेके लिए शब्दका प्रयोगविषय महान् बताते हुए चार वेद इस प्रकार कहे गये हैं। 'चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशतम् (१०१) अध्वर्यु (यजुर्वेद)-शाखाः, सहस्रवर्त्मा (१०००) सामवेदः, एकविंशतिधा (२१) बाह्वृच्यम् (ऋग्वेदः), नवधा (९) आथर्वणो वेदः' इसमें यजुर्वेदकी १०१, सामवेदकी १०००, ऋग्वेदकी २१ और अथर्ववेदकी ९ शाखा—यही चार वेद बताये हैं। यजुर्वेदमें भाष्यकारने शुक्ल, कृष्ण दोनों संहिता गृहीत की हैं। उनमें ८६ कृष्ण (तैत्तिरीय) तथा १५ शुक्ल (वाजसनेयी) संहिताएँ मिलाकर यजुर्वेदकी १०१ शाखा बनती हैं। कुल ११३१ शाखाएं चार वेद हैं—यह इसमें बताया गया है। इसमें मन्त्रभाग-ब्राह्मणभाग नाम नहीं आया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शब्द और अर्थ मिलकर एक वस्तु हुआ करती है। मन्त्रभाग है शब्द, और ब्राह्मणभाग है अर्थ। शब्द और अर्थका सम्बन्ध नित्य होनेसे 'वागर्थाविव संपृक्तौ ···पार्वतीपरमेश्वरौ' (रघु० १।१) शब्दसे अर्थ भी गृहीत हो

जाता है। सो यहां ११३१ मन्त्रसंहिताभाग और उतना ही ब्राह्मणभाग—यह मिलकर चार वेद हुआ करते हैं-यह तात्पर्य निकलता है। आरण्यक और उपनिषद् ब्राह्मणभागके अन्तर्भूत हो जाया करते हैं। इसमें आर्यसमाज ११२७ शाखा और ४ वेद अपनी इच्छानुसार पृथक् कर लेता है। इस पातञ्जल-वाक्यमें यह कहीं नहीं लिखा कि-चार वर्तमान-संहिता ही चार वेद हैं, शेष ११२७ संहिता अवेद हैं।

सभी शाखाएं मिलकर ही शाखी बन जाता है। शाखाओंसे भिन्न शाखीकी कहीं स्वतन्त्र-सत्ता नहीं हुआ करती। मूल परोक्षमें हुआ करता है, प्रत्यक्ष नहीं होता, और मूल होता भी एक ही है। सो मूल तो वेदका परोक्ष परमात्मा ही है-'ऊर्ध्वमूलमधः-शाखम्'। शाखाएँ हमारे पास हैं। यही महाभाष्यकारका अभिप्राय है। इस प्रकार वेद समुदायवाचक सिद्ध हुआ, परन्तु 'समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते, ('लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्' वार्तिकमें) इस पस्पशाह्निकस्थ महाभाष्यके वचनसे कि-समुदायवाचक शब्द अवयवका नाम भी हुआ करता है—भाष्यकार—ने वेदोंका उद्धरण देते हुए कहीं मन्त्रभागका और कहीं ब्राह्मण-भागका वचन दिया है, कहीं दोनोंका भी। मन्त्रभागमें ११३१ संहिताओंमें यथोपलब्ध वा यथेच्छ संहिताएँ उद्धृत की हैं।

अस्तु। अब हम पूर्वोक्त मुनियोंके वेदोंके नामसे उद्धृत किये हुए वचनोंको उद्धृत करते हैं, जिससे वेदके स्वरूपका ज्ञान हो जायगा। वेदवाचक शब्द वेद, छन्द, निगम, आम्नाय, समानमय, ऋषि, अध्याय आदि आते हैं। स्वा० द० जी ने ऋभाभूमें लिखा है—'तथा व्याकरणेपि—'मन्त्रे घस, छन्दसि लुङ्, वा षपूर्वस्य निगमे' अत्रापि छन्दो-मन्त्र-निगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति। एवं छन्दआदीनां पर्यायसिद्धेर्यो भेदं ब्रूते, तद्वचनम् अप्रमाणमेवास्ति'

[पृ० ८०] 'यच्चोक्तम्-छन्दोमन्त्रयोर्भेदोस्ति. तदपि असङ्गतम्। कुतः ? छन्दो-वेद-निगम-श्रुतीनां पर्यायवाचकत्वात्' [ऋभाभू ७९-८०] इस अपने वचनमें स्वा० द० जी ने छन्द, मन्त्र, निगम, वेद आदि शब्दोंको वेदका पर्यायवाचक माना है। तब पाणिनि आदिको छन्द [वेद] के जो उद्धरण इष्ट हैं, वे स्वा० द० जी तथा उनके अनुयायियोंसे इष्ट छन्द [वेद] की चार पोथियोंमें अवश्य मिलने चाहिएं, क्योंकि—वे इन चार पोथियोंको पूर्ण वेद मानते हैं, उनमें न कुछ प्रक्षिप्त और न कुछ न्यून ही मानते हैं, पर यदि वे उद्धरण उनमें न मिलें, तो मानना पड़ेगा कि आर्य-समाज अभी तक वेदोंको नहीं जान सका है, और वेदके विषयमें अभी भी वह सन्देहके झूलेमें लटक रहा है।

जोकि, आजकलके [ब्र० मु० आदि] आर्यसमाजी छन्दको हेरफेरवाला वेद कहकर उसे वेदसे भिन्न कहनेकी दुश्चेष्टा करते हैं, उनका वचन अपने ऋषिके अनुसार अप्रमाण [गलत] ही है। हेरफेरवाला वेद आजकलके आर्यसमाजियोंके मतमें शाखाएं हैं। जब स्वा० द० आदि सभी प्राचीन-अर्वाचीन विद्वानोंके मत में 'छन्द' वेदका नाम है, तब सभी शाखाएँ वेद सिद्ध होगईं। यह वेद की चार पोथियां भी तो शाकल्य सं०, वाजसनेयी-माध्यन्दिनीसं०, कौथुम सं०, शौनकसंहिता नाम वाली शाखाएं ही हैं। मन्त्रोंका परस्पर हेर-फेर तो इन वेदकी चार पोथियोंमें भी मिलता है। देखो इस पर 'आलोक' ४र्थ पुष्प पृ० १५४ तथा ८म पुष्प।

(३) अब पहले निरुक्तकार श्रीयास्कमुनिसे व्याख्यात निघण्टु जिसे श्रीयास्क 'समाम्नायः समाम्नातः, (नि० १।१।१) समाम्नाय (वेद) कहते हैं, स्वा० द०जीने जिसका नाम 'निघण्टुः-वैदिक-कोषः रखा है, श्रीयास्कने जिसे छन्दोंसे समाहृत किया है—(नि० १।१।४) के कई पद हम उद्धृत करते हैं। 'छन्द' वेदका

नाम है–यह हम स्वा०द०जीकी ऋ०भा०भू०से उद्धृत वचनसे पहले बता चुके हैं। कई आर्यसमाजी [श्रीकुशवाहा आदि] तो यहाँ श्रीदुर्गाचार्यके भाष्यको साक्षी देकर 'छन्द' का अर्थ मन्त्रभाग करते हैं, 'अर्थात् उनके मतानुसार यह निघण्टु शुद्ध [प्योर] मन्त्रभागके पदोंका संग्रह है। तब उस निघण्टुके सभी पद चारों वेदोंकी पोथियोंमें मिलने चाहियें। पर सभी नहीं मिलते। अपने वेदोंको आर्यसमाजी न्यूनाधिक नहीं मानते–यह हम पूर्व ही कह चुके हैं। अब देखना चाहिये–

'आष्ठा' [१।६] यह दिशाका नाम, 'शोकी' [१।७] यह रात्रि का नाम, 'बलिशानः' [१।१०] यह मेघका नाम, 'बेकुरा' [१।११] यह वाक्का नाम, 'सर्णीकम्, स्वृतीकम्, बुबुं रम्, यहः, भविष्यत्' [१।१२] यह पांच जलके नाम; 'मल्मलाभवन्' [१।१७] यह 'ज्वलन्' का नाम, 'करन्ती' [२।१] यह कर्मका नाम, 'साचीवित्' [२।१५] यह क्षिप्रका नाम, 'निघृष्वः' [३।२] यह ह्रस्वका नाम आजकलकी चारों वेदकी पोथियोंमें नहीं मिलते।

इस प्रकार अन्य भी बहुतसे वैदिक-निघण्टुके शब्द हैं, जोकि वेदकी वर्तमान चार पोथियोंमें नहीं मिलते। तब केवल यही चार पोथियां वेद हैं–यह आजकलका आर्यसमाजका मत निर्मूल सिद्ध हुआ। उनकी सीमा अब बढ़ गई। तदनुसार ११३१ मन्त्र-संहिता तथा उतनेही उपनिषद्, आरण्यकसहित ब्राह्मणभाग वेद सिद्ध हुए। उनमें उक्त शब्द मिल सकते हैं। इनमें बहुतसे ग्रंथ लुप्त हैं।

(३) अब वादिप्रतिवादिमान्य निरुक्तकार श्रीयास्कमुनिको ही लीजिये। निरुक्तके प्रथम अध्यायके १५वें खण्डमें मन्त्रभागकी सार्थकताऽनर्थकताका शास्त्रार्थ आता है। उसमें 'ओषधे! त्रायस्वैनं स्वधिते मैनं हिं सीः' यह मन्त्र (१।१५।६) और

'अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि' (१।१५।८) यह मन्त्र उद्धृत किया गया है, पर यह दोनों ही मन्त्र आर्यसमाजसे मानी हुई चारों वेद-पोथियोंमें नहीं हैं।

इनमें 'ओषधे! त्रायस्वैनं' तो कृष्णयजुर्वेदमैत्रायणीसं० (१।२।१०, कृ.य. काठकसं० ३।२।६), कृ.य.तै. सं० (१।२।१।१) आदिमें आता है, इन्हें आर्यसमाज वेद नहीं मानता। उससे वेद मानी जाती हुई शुक्लयजुर्वेदमाध्यंसं. (४।१, ६।१५) में 'ओषधे! त्रायस्व' पाठ तो है, परन्तु उसके साथ 'एनं' नहीं है; निरुक्तमें तो 'त्रायस्व' के साथ 'एनं' पढ़ा गया है, तब आर्यसमाजके वैदिक-यन्त्रालय अजमेरमें प्रकाशित हुए मूलनिरुक्त (पृ. ६) में यह पता शुक्लयजुर्वेद (४।१, ६।१५) का ग़लत लिखा हुआ है, क्योंकि–उक्त स्थलमें 'एनं' शब्द 'त्रायस्व'के साथ नहीं। आर्यसमाज अपने वेदमें एक भी पद न्यूनाधिक नहीं मानता। तब इससे कृष्ण-यजुर्वेदकी सभी संहिताएं वेद सिद्ध हुईं।

(ख) दूसरा 'अग्नये समिध्यमानाय' मन्त्र भी आर्यसमाजके माने चारों वेदोंमें नहीं, वह कृ.य. मैत्रायणीसंहिता (१।४।११।४५) में है, उसे आर्यसमाज वेद नहीं मानती। आर्यसमाजी–वैदिक-यन्त्रालय अजमेरके निरुक्त (पृ.६) में 'अग्नये समिध्य' का स्थल-निर्देश (शत. १।३।२।३) यह दिया है। स्मरण रहे कि यह मन्त्र आर्यसमाजके अनुसार निरुक्तमें वेदकी सार्थकतान-र्थकताप्रकरणमें है। स्वा.द.जीके अनुसार 'मन्त्र' वेदका पर्याय-वाची है, तब अजमेर वैदिकयन्त्रालयके उक्त पतेके अनुसार आर्य-समाजको शतपथब्रा.को भी वेद मानना पड़ेगा। इससे वेदकी सीमा चार पोथियोंसे बढ़कर ११३१ मन्त्रसंहिता तथा उतने ही ब्राह्मणों में जा पड़ी, यह 'आलोक' के विद्वान् पाठकोंने सम्यक् अनुभव

कर लिया होगा। निरुक्तकार जिसे वेद कहें, उस स्वप्रमाणित भी आचार्यको यदि आर्यसमाज इस विषयमें नहीं मानता, इससे स्पष्ट उसका अपने संप्रदायकी दलदलमें फंस जाना ही कारण समझना पड़ेगा।

(ग) निरुक्तके इसी वेदकी सार्थकतानर्थकताप्रकरणमें 'एक एव रुद्रोवतस्थे न द्वितीयः' यह मन्त्र (१।१५।७) भी दिया गया है, परन्तु यह आर्यसमाजकी मानी हुई चारों वेदपोथियोंमें नहीं मिलता। इसीलिए वैदिक-यन्त्रालयमें प्रकाशित निरुक्त (पृ.६) में इसका स्थलसंकेत नहीं दिया गया। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह उनके माने हुए चारों वेदोंमें नहीं। जबकि आर्यसमाज अपने वेदोंको पूर्ण मानता है, जैसे कि-आर्यसमाज कानपुरसे प्रकाशित 'वेदसंज्ञाविमर्श' (पृ. १२४ख) में भी लिखा गया है कि-'वेदोंके पूर्णतया उपलब्ध होनेसे, वेद जितने हैं···वे सब मिलते हैं'। इस प्रकार जब उनका वेद कुछ भी लुप्त नहीं, तब यह निरुक्तसे दिखलाये हुए वेद-मन्त्र उन चारों वेद-पोथियोंमें नहीं मिलते, इससे सिद्ध हुआ कि-केवल यही चार वेद-पोथियां ही वेद नहीं, बल्कि ११३१ मन्त्रसंहिता, तथा उतने ही ब्राह्मण वेद हैं। उनमें कुछ संहिता वा ब्राह्मण अनुपलब्ध वा लुप्त हैं, तब वह वेदका अनुपलब्ध वचन उन लुप्त-संहिताओंमें होगा-यह सिद्ध हो जाने से आर्यसमाजका वेदस्वरूपविषयक मत गलत सिद्ध हुआ। 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे' यह पूर्वसमानार्थक मन्त्र तो कृ. य. तैत्ति. सं. (१।८।६।१) में मिलता है, तब आर्यसमाजको उचित है कि—वह कृष्णयजुर्वेदको भी वेद मान ले।

(५) 'इत्यपि निगमो भवति' से श्रीयास्कमुनि वेदका उद्धरण देते हैं, यह बात सभी वादी-प्रतिवादी मानते हैं। स्वा. द. जीका वचन भी कि—'निगम वेदका नाम है' दिया जा चुका है। स. प्र.

७ समु. के अन्तमें भी 'इति ब्राह्मणम्, इत्यपि निगमो भवति' (५।४।१) इस निरुक्त-प्रमाणके द्वारा स्वामीजीने श्रीयास्कसे प्रयुक्त 'निगम' शब्दका 'वेद'-वचन-अर्थमें प्रयोग स्पष्टतया माना है। हम श्रीयास्क-द्वारा उद्धृत निगम-वचनोंको उदाहृत करते हैं, जिससे प्रतीत हो जावेगा कि-श्रीयास्कको निगम (वेद) से केवल मन्त्रभाग इष्ट नहीं, किन्तु मन्त्रभाग भी, आरण्यक एवं उपनिषद्रूप ब्राह्मणभाग भी श्रीयास्कको निगम (वेद) इष्ट है। 'आलोक' पाठकगण देखें—

(क) 'यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्···तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' इत्यपि निगमो भवति' (२।३।१) यह 'निगम' नामसे उदाहृत वचन आर्यसमाजसे वेद मानी जाती हुई चारों पोथियोंमें नहीं, किन्तु 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' (३।९) का यह वचन है। इसीको वैदिकयन्त्रालय अजमेरके निरुक्तमें 'तैत्तिरीयारण्यक' (१० प्र.) का वचन माना है। यह दोनों कृष्णयजुर्वेदकी आरण्यक एवं उपनिषद् होनेसे आरण्यक और उपनिषद्रूप ब्राह्मणभाग भी निगम अर्थात् वेद सिद्ध होगया।

(ख) 'पीयति त्वो, नेमे देवाः, इत्यपि निगमौ भवतः, (निरु. ३।२०।५) इनमें 'नेमे देवाः' यजुर्वेदकाठकसं. (१४।९) का है, तब स्वा. द.जीके अनुसार 'निगम' का यह उद्धरण काठकसंहिताको वेद बनानेवाला सिद्ध हुआ।

(ग) 'अमेनान्, ग्नास्त्वा' इत्यपि निगमौ भवतः' (निरु. ३।२१।२) इनमें 'ग्नास्त्वा' यह मन्त्र सामवेद-ताण्ड्यब्रा. (१।८।६) तथा कृ. य. काठकसं. (६।६) का है, और वैदिकयन्त्रालयके निरुक्तके अनुसार कृ. य. मैत्रायणीसं. (१।६।४) का है, तब सभी शाखा तथा ब्राह्मण वेद सिद्ध हुए। अब निरुक्तकारपर याज्ञिकोंका प्रभाव बताना, वा तत्कालका प्रभाव बताना उनका अपमान

करना है। श्रीयास्क तो निघण्टुके पदोंका उद्धरण वेदोंसे दिखला रहे हैं, और वे मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदमें मिल रहे हैं, इससे 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' की सिद्धि हुई, तत्कालका अनुसरण कहां हुआ? तत्कालके भी पूर्वकालानुसारी होने से यह प्राचीन मत सिद्ध हुआ। या तो यदि यह प्रतिपक्षियोंके वेदमें नहीं, तो 'वेदकी सीमा यही चार वेद पोथियां हैं' यह प्रतिपक्षियोंका पक्ष गलत सिद्ध हुआ। यदि वे वेदपद अन्य शाखा वा ब्राह्मणोंमें हैं, तो वे भी वेद सिद्ध हुए। वेद स्वयं भी याज्ञिक हैं, और यज्ञोपवीत भी वेदोक्त है, और वह वेदाधिकारप्रद है, तब याज्ञिकता वेदको भी सम्मत होनेसे (देखिये इसपर 'आलोक' छठा सुमन (पृ. १४०-१४६) प्रतिपक्षियोंके मतानुसार याज्ञिकतामें ब्राह्मणकी वेदता होनेसे 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह प्राचीन घोष ठीक सिद्ध हुआ; और शाखा वा ब्राह्मणभागको वेद न मानना यह आजकलका अर्वाचीनतम मत सिद्ध हुआ।

(६) अब कुछ महाभाष्यकार-श्रीपतञ्जलिमुनिके वेदके उद्धरण भी देखिए—(क) अप्रयुक्त-शब्दोंका प्रयोग दिखलाते हुए श्रीपतञ्जलिमुनिने पस्पशाह्निकमें लिखा है—'ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ताः अभिमताः शब्दाः, एतेषामपि प्रयोगो दृश्यते। क्व? वेदे'। यह कहकर वे शब्द भाष्यकारने वेदमें दिखलाये हैं। उनमें 'यद्वो रेवती रेवत्यां तमूष' यह जो 'ऊष' शब्दका वेदसे उद्धरण भाष्यकारने दिया है, यह आजकलकी चारों वेदपोथियोंमें नहीं मिलता, अंशतः यह वचन कृ. य. काठकसं. (३१।७) में मिलता है। इसे आर्यसमाज वेद नहीं मानता, पर वादिप्रतिवादिमान्य भाष्यकारने उसे वेद माना है, तब आर्यसमाजका वेद-सीमाविषयक सिद्धान्त गलत सिद्ध हुआ, और सनातनधर्मका ठीक।

(ख) 'ऋषि' शब्द 'वेद' वाचक है—यह वेदज्ञ लोग जानते हैं, आर्यसमाज कानपुरसे प्रकाशित 'वेदसंज्ञाविमर्श' (पृ. ११८) में भी यह माना है। इसके प्रमाणमें उसमें 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' (पा. १।१।१६) यह सूत्र दिया गया है। इसी सूत्रके ऋषि (वेद) के उदाहरणमें 'ब्रह्मबन्धवित्ति अब्रवीत्' यह जो वेदवचन दिया जाता है, यह कृ.य.काठकसं. (१०।६) तथा ऐतरेय (७।२७) यह कृष्णयजुर्वेद तथा ब्राह्मणका उदाहरण है। तब यह भी वेद सिद्ध हुए।

(ग) महाभाष्यकारने ३।१।७ सूत्रके भाष्यमें लिखा है—'ऋषिः (वेदः) पठति-'शृणोत ग्रावाणः'। श्रीपाणिनिको भी (७।१।४५ वैदिकसूत्रमें) यही वेदमन्त्र इष्ट है, पर वेद आजकी चारों वेदपोथियोंमें नहीं मिलता। उनमें तो शुक्लयजुः (माध्यं.) सं. में 'श्रोता ग्रावाणः' (६।२६) मिलता है, 'शृणोत ग्रावाणः' नहीं, पर कृष्णयजुर्वेद तै. सं. (१।३।१३।१) में 'शृणोत ग्रावाणः' ही मिला है। इसीसे महाभाष्यकार कृष्णयजुर्वेदको भी वेद मानते हैं, यह सिद्ध होगया।

(घ) तभी तो महाभाष्यकारने वैदिक-शब्दोंका उद्धरण देते हुए यजुर्वेदका 'इषे त्वोर्जे त्वा' यह उद्धरण दिया है। यदि तो भाष्यकारको शुक्लयजुर्वेद (माध्यं.) संहिता ही केवल वेद इष्ट होती, तो वे 'इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः' इतना पाठ देते, जिससे 'उपायवः स्थ' वाली कृष्णयजुर्वेद तै. सं. की वेदत्वसे निवृत्ति हो जाती।

यदि उन्हें केवल कृष्ण-यजुर्वेद सं. इष्ट होती, तो वे 'इषे त्वोर्जे त्वा वायवः स्थोपायवः स्थ' इसी का उद्धरण देते, जिससे इस पाठसे रहित शुक्ल यजुर्वेद सं. की वेदत्वसे निवृत्ति हो जाती, पर जबकि भाष्यकारने केवल 'इषे त्वोर्जे त्वा' यह यजुर्वेदका

सामान्य उद्धरण दिया है, इससे सिद्ध है कि वे कृष्ण और शुक्ल दोनों यजुः-संहिताओंको यजुर्वेद मानते थे। यह दोनों शुक्ल (वाज. माध्यं) कृष्ण (तैत्ति) की प्रधान संहिताएँ आगईं।

(ङ) 'वेदे खल्वपि' कहकर भाष्यकारने 'पयोव्रतो ब्राह्मणो' वह उदाहरण दिया है। यह स्वा. द. जी के अनुसार शतपथब्रा. का है। इससे ब्राह्मणभाग भी भाष्यकारके मतमें वेद सिद्ध हुआ।

(च) 'वेदशब्दा अपि एवमभिवदन्ति' कहकर भाष्यकार ने पस्पशाह्निकमें 'योग्निष्टोमेन यजते' यह ब्राह्मणभाग उदाहृत किया है। उससे भाष्यकारके मतमें ब्राह्मणभाग भी वेद सिद्ध हुआ। इसमें स्पष्ट वेदके नामसे उद्धृत ब्राह्मणभागके भाष्यकार-प्रोक्त उदाहरणोंमें आर्यसमाजियोंका औपचारिकता या याज्ञिक-प्रभाव वा तात्कालिक-परिस्थितिका व्याज बतलाना उनके पक्षकी निर्मूलताका प्रमापक है।

(छ) 'वैदिकाः खल्वपि' कहकर 'शंनो देवी' यह अथर्ववेदसं. का प्रथम-मंत्र-प्रतीक भाष्यकारने दिया है। स्वा. द. जीने भी इसी 'शंनो देवी' मन्त्रको अथर्ववेदका प्रथम-मंत्र-प्रतीक (ऋभाभू. पृ. ८६ में) माना है। यह वर्तमान अथर्व-वेद शौ.सं. का न होकर अथर्ववेद पैप्प्लादसं.का है। इस विषयमें स्पष्टता 'आलोक'के ४र्थ पुष्पमें 'श्रीपतञ्जलि' एवं 'शंनो देवी मंत्र'में देखिये। इससे सभी वेद-शाखाएँ वेद सिद्ध हुईं।

हर्षकी बात है कि—हमारी इस बातसे प्रभावित होकर मन्त्री आर्यसमाज मेस्टन रोड़ कानपुरने अपने 'वेद-संज्ञा-विमर्श' (पृ. ८९) में पैप्पलादसं.को ही मूल अथर्ववेद माना है, और आर्य-समाज की छपाई अजमेरी अथर्ववेद सं. को 'खण्डित प्रतिलिपियों के अनुसार संगृहीत की हुई' (हेर-फेर वाली) संहिता माना है। आर्यसमाजकी एक शताब्दी पूर्ण होने वाली है, इसमें हमारी

'आलोक' ग्रन्थमालाके प्रभावसे उन्होंने अपने माने एक वेदमें परिवर्तन स्वीकृत कर लिया। वस्तुतः उन्होंने यह मानकर 'सभी शाखाओं-की वेदता' यह प्राचीन-मत एक ढंगसे मान लिया है। 'वेदसंज्ञा-विमर्श' (पृ. ६७ ख) में उन्होंने इसे सृष्टिके आदिजात मनुजीकी प्राचीन-पद्धति माना है।

(७) अब हम पाणिनिसूत्रोंके कुछ उदाहरण उद्धृत करते हैं-(क) 'स्नात्व्यादयश्च' (७-१-४९) यह छान्दस (वैदिक) सूत्र है। स्वा.द. जी 'छंद' वेद को कहते हैं, इस पर हम उनका उद्धरण दे चुके हैं। इसका उदाहरण 'स्विन्नः स्नात्वी मलादिव' है, यह चारों आजकी वेद-पोथियों में नहीं, किन्तु कृष्णयजुर्वेद (काठक सं ३८।५।६३) मैत्रायणी सं ३।११।१११ (१०) तथा तै ब्रा. २।४।४।६) में मिलता है, इससे कृष्णयजुर्वेद एवं ब्राह्मणभाग भी वेद सिद्ध हुवा, जिन्हें आर्यसमाज वेद नहीं मानता।

(ख) 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (८-३-१) इस सूत्रसे सिद्ध हुआ-हुआ 'भगवः' शब्द 'छान्दोग्य-उपनिषद्' (४-५-१) में है। इस प्रकार 'व्यवहिताश्च' (पा. १-४-८२) इस वैदिक-सूत्रका उदाहरण 'उप त्वा नेष्ये' (४-४-५) यह छान्दोग्य उपनिषद् में है। इससे उप-निषदें भी वेद सिद्ध हुईं; जिन्हें आर्यसमाजी वेद नहीं मानते।

(ग) 'यजुषि काठके' (७-४-३८) में काठकसं.को श्रीपाणिनि ने यजुर्वेद कहा है—इससे सभी वेदशाखा वेद सिद्ध हुई।

(८) अब वार्तिककार—श्रीकात्यायनका भी मत देखिये—'षष्ठयर्थे चतुर्थीति वाच्यम्' (वा. २।३।६२) इस वैदिक-वार्तिकका उदाहरण है—'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः' यह आजकी वेदकी चार पोथियोंमें न होकर कृ.य.तैत्तिरीयसं. (२।५।१।७) के ब्राह्मणमें है। तब सभी शाखा तथा ब्राह्मण वेद सिद्ध हुए।

(९) शतपथब्रा. में 'तस्माद् एतद् ऋषिणा अभ्यनूक्तम्'-यह

'ऋषि' शब्द मन्त्रभागके लिए आता है, यह वादी-प्रतिवादी सभी मानते हैं। उसके एक स्थलमें 'तस्मादेतद् ऋषिणाभ्यनूक्तम्' यह कहकर एक मन्त्र लिखा है—'मनसा संकल्पयति तद् वातमभिगच्छति। वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ! ते मनः' (३।४।२।७) इसका पूर्वार्ध तो अथर्ववेद शौ.सं. (१२।४।३१) में मिलता है, पर उसमें भी 'हेरफेर' है। शतपथमें पाठ है—'तद् वातमभिगच्छति' पर अथर्व.शौ.सं.में पाठ है—'तद् देवाँ अपि गच्छति'। पर वहाँ उत्तरार्ध शतपथप्रोक्त वेदमन्त्रके उत्तरार्धसे भिन्न है। वह उत्तरार्ध इस मन्त्रके पूर्वार्धसे मेल नहीं खाता। वह यह है—'ततोह ब्रह्मणो वशामुपयन्ति याचितुम्'। पर शतपथोक्त उत्तरार्ध तो पूर्वार्धसे सुसम्बद्ध है। सो जहाँ वह होगा, वह ब्राह्मणके मतमें ऋषि (वेद) होगा। जब वह उत्तरार्ध वर्तमान चार वेदपोथियों में नहीं मिलता, तो स्पष्ट है कि यह किसी अन्य शाखा वा ब्राह्मणमें होगा। इससे भी सभी शाखा-ब्राह्मण वेद सिद्ध हुए।

(१०) अब हम स्वा.द.जी—जो आर्यसमाजको दृष्टिसे इस जमानेके वेदज्ञाता ऋषि-महर्षि माने जाते हैं, उनका मत देते हैं—

(क) 'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' (पा.४।२।६५)(३२३) यह सूत्र स्वामीके 'स्त्रैणताद्धित' (६५) पृष्ठमें है। यह आर्यसमाजका प्रिय सूत्र है। इसमें 'छन्द' को—जिसे सभी वादी-प्रतिवादी यहाँ मन्त्रभागात्मक-वेदका वाचक मानते हैं—उदाहरण स्वामीने—'कठाः, मौदाः, पैप्पलादाः, वाजसनेयिनः' दिये हैं। इनमें 'वाजसनेयिनः' से तो आर्यसमाजको इष्ट यजुर्वेद [माध्यं.] सं. है, पर पैप्पलाद, कठ एवं मोद—यह अन्य शाखाओंके नाम हैं, तब सभी शाखाएँ वेद सिद्ध हुईं।

(ख) 'छन्दसि निष्टर्क्य' [पा. ३।१।१२३] इस वैदिकसूत्रका उदाहरण स्वामीने निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः' दिया है, पर यह चारों वेदसंहिताओंमें नहीं। बल्कि, 'निष्टर्क्य' शब्द भी चारों वेदपोथियोंमें नहीं, किन्तु कृष्णयजुर्वेद तै.सं. [६।१।७।२] तथा 'ऐतरेयारण्यक' [५।१।३] में है, इससे सभी शाखा, ब्राह्मण, जिनमें आरण्यक तथा उपनिषदें भी शामिल हैं—वेद सिद्ध हुए।

(ग) कई थोड़से व्यक्ति 'वेदाङ्गप्रकाश' के भागोंको स्वा.द.-कृत नहीं मानते। वे अष्टाध्यायीभाष्यको स्वा.द.कृत मानते हैं, यह बात निर्मूल है! वादितीषन्यायसे हम डा. रघुवीर तथा श्रीब्रह्मदत्तजिज्ञासु-सम्पादित उस अष्टाध्यायीभाष्यसे भी कुछ उद्धरण देते हैं—

(अ) 'मन्त्रे घस...जनिभ्यो लेः' (२।४।८०) इसके 'मन्त्रे'का अर्थ स्वा. द.जीने लिखा है—'वेदविषये'। इसमें 'जन्' धातुका उदाहरण स्वामीने 'अज्ञत' लिखा है। यह न तो चारों वेदपोथियोंमें है, न लोकमें। यह ऋ. ऐतरेयब्राह्मण (७।१४।५) में मिला है। तो ब्राह्मणभाग भी वेद सिद्ध हुआ। यदि 'ब्राह्मण' वेद नहीं, तो बताना पड़ेगा कि—यह किस वेद-संहिताका है ?

(आ) 'उत्सर्गश्छन्दसि' (पा. ३।२।१७१) यहां स्वामीने लिखा है—'छन्दसि-वेदे। इसका उदाहरण स्वामीने 'सेदिः' दिया है। यह चारों वेदपोथियोंमें नहीं मिलता। यह यजुर्वेद-शतपथब्रा. (७।३।१।२३) तथा कृ.य. तैत्तिरीयारण्यक (४।२२।१) में मिलता है, तब सभी शाखा-ब्राह्मण वेद सिद्ध हुए।

(इ) 'णेश्छन्दसि' (३।२।१३७) इस सूत्रके कहे वेदका उदाहरण स्वा.द.जीने 'धारयिष्णुः' दिया है। यह चारों वेदपोथियोंमें न मिलकर 'शाङ्खायन-आरण्यक' (१२।२।७) में मिलता है, तब ब्राह्मणभागान्तर्गत 'आरण्यक' भी वेद सिद्ध हुए।

(ई) 'बहुलं छन्दसि' (पा. ३।२।८८) यहां वेदका उदाहरण स्वामीने 'मातृहा' दिया है, यह चारों वेद-पोथियोंमें नहीं, किन्तु 'छान्दोग्योपनिषद्' (७।१५।२३) में है; तब उपनिषद् भी वेद सिद्ध हुए।

(उ) 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' (पा. १।१।१८) इसके लिए स्वा. द.जीने लिखा है-'छन्दोविषयमिदं सूत्रम्'। इसका वेदका उदाहरण स्वामीने 'मामकी तनू इति' दिया है। यह चारों वेद-पोथियों में नहीं। 'मामकी' की सिद्धि भी 'केवलमामक' (पा. ४।१।३०) इस सूत्रसे वेदमें होती है। यह शब्द भी चारों वेद-पोथियोंमें नहीं। इससे वेदकी सीमा इन चार-पोथियोंसे बढ़कर ११३१ संहिता तथा उतने ही ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक में जा पड़ी। यही सनातनधर्मका पक्ष है।

(ऊ) 'नोनयति'—(पा.३।१।५१) यह भी वेदके प्रयोगका बतानेवाला सूत्र है। इस पर स्वामीने लिखा है—'छन्दस्यनुवर्तते'। इसके उदाहरणोंमें स्वामीने लिखा है—'ऐलयीः,अर्दयीः-इति वेदे'। पर यह चारों-वेदपोथियोंमें नहीं मिलते। अतः इनकी सत्ता अन्य-शाखाब्राह्मणोंमें सिद्ध हो जानेसे वे भी वेद सिद्ध होगये।

इस निबन्धसे यह सम्यक् सिद्ध होगया कि—पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, यास्क, निघण्टु आदि वादिप्रतिवादिमान्य-विद्वानों वा ग्रन्थोंके अनुसार ११३१ मन्त्रसंहिता तथा शब्द-अर्थ-के नित्य-सम्बन्ध होनेसे उतना ही मन्त्र-ब्राह्मण-आरण्यक उपनिषद् यह सारा साहित्य ही चार वेद हैं। यही सनातनधर्मका भी पक्ष है। तभी पारस्कर-गृह्यसूत्रमें भी वेदका लक्षण बताते हुए कहा है—'विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः' (२।६।५) यहां पर विधिसे ब्राह्मणभागका विधिभाग और तर्कसे उसका अर्थवादभाग और

विधेय-ब्राह्मणभागसे प्रयोज्य मन्त्रभाग—इस प्रकार मन्त्र-ब्राह्मण दोनोंको ही वेद माना है। यही हरिहरभाष्यमें भी लिखा है-'कियान् वेद इत्यपेक्षायामाह-। विधिः—'अग्निमादधीत ···इत्यादि विधायकं ब्राह्मणवाक्यम्। विधेयः—विधीयते= विनियुज्यते ब्राह्मणवाक्यत्वेन कर्माङ्गत्वेन इति विधेयो मन्त्रः-इषे त्वादिः।···तर्कोऽर्थवादः [इति वेदः]।

(११) यह बात भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद कहीं भी नहीं मिलते। जहां भी मिलते हैं, वहां ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेदसंहिता, सामवेदसंहिता, और अथर्ववेदसंहिता ही मिलती हैं। इसका भाव यह है कि—यह ऋग्वेदकी संहिता है, यह शुक्लयजुर्वेदकी संहिता है-इत्यादि। फिर उस पर प्रश्न होता है कि-यह ऋग्वेदकी कौनसी संहिता है, अथर्ववेदकी कौनसी संहिता है, तो उस पर यह उत्तर मिलता है कि-यह ऋग्वेदकी शाकल्यसंहिता है, अभी इसमें २० संहिता अन्य हैं। यह यजुर्वेदकी वाजसनेयी-माध्यन्दिनी संहिता है, अभी इसकी १०० संहिता अन्य हैं। यह सामवेद की कौथुमी-संहिता है, अभी इसकी ६६६ संहिता अन्य हैं। जिसे अथर्ववेद कहते हैं, वह उसकी शौनकसंहिता है। अभी उसकी ८ अन्य-संहिता हैं।

इसका भाव यह हुआ कि-उस-उस वेदकी सभी संहिता मिल कर ही वह-वह वेद बनता है। इससे सभी ११३१ संहिताएँ वेद सिद्ध हुईं। यह शाखाओंके वेदत्वमें बड़ा भारी प्रमाण तथा बड़ी प्रबल साक्षी है। प्रतिपक्षियोंको भी इधर ध्यान देना चाहिए। ब्राह्मणभाग अभी इनसे अतिरिक्त है, शब्दार्थके सम्बन्धकी नित्यतासे वह भी वेद ही है, और इतना ही है।

आर्यसमाजके मतमें केवल चार पोथियां ऋग्वेदसं., यजुर्वेद-

सं., सामवेदसं. और अथर्ववेदसं. (वैदिकयन्त्रालयमें छपी हुईं) यह चार वेद हैं, यह भी क्रमसे शाकल्यशाखा, वाजसनेय-माध्यन्दिनशाखा, कौथुमशाखा, शौनकशाखा नाम वाली चारों वेदोंके मन्त्रभागकी एक-एक संहिता हैं। यह अपूर्ण वेद हैं। सो इससे वही सनातनधर्मका ही पक्ष सिद्ध हुआ कि-सभी वेदशाखाएं वेद हैं; क्योंकि-शाखाओंसे अतिरिक्त शाखी, भागोंसे अतिरिक्त भागी, कहीं भी स्वतन्त्ररूपसे नहीं मिला करता।

(ख) आर्यसमाज-विनयनगरसे समायोजित सभाओंमें ब्र. कृष्णदत्तका व्याख्यान लाजपतनगर, जङ्गपुरा आदिमें गत दिनों में कराया गया था। उसे आर्यसमाजी-विद्वान् श्रीसुरेन्द्रशर्माजी गौर, शृङ्गी ऋषिका अवतार मानते हैं। 'वैदिकधर्म' में उन्होंने इसपर लिखा था। आर्यसमाजोंका विश्वास है कि-उसमें शृङ्गी-ऋषिकी आत्मा उतरती है। वह खाट पर कपड़ा ओढ़कर लेट जाता है। पन्द्रह-मिनटके बाद अपने मुँहसे कपड़ा हटा देता है। फिर सिर हिलाने लगता है। इसी बीच में उसके ऊपर लाउडस्पीकर लगा दिया जाता है, वह वेदमन्त्र बोलने लगता है। फिर वह हिन्दीमें भाषण करता है। स्वामी तथा महानन्दी का प्रश्नोत्तर सुनाता है, जिसमें प्राय: आर्यसमाजी विचारधारा होती है।

जो मन्त्र वह बोलता है, वे आर्यसमाजसम्मत वेदके न होकर बाहरके मालूम होते हैं-इससे आर्यसमाजका सिद्धान्त गिर गया कि-इन्हीं चार वेदपोथियोंके मन्त्र ही वेदमन्त्र हैं, अधिक नहीं, उनसे न्यून भी नहीं। हमें एक विश्वस्त आर्यसमाजी शिष्यने कहा था कि-'ब्रह्मचारी यह भी कहता है कि-वेदके मन्त्र ३७ हजार हैं, जबकि आर्यसमाज २२ हजार के लगभग मानता है। वह कहता है कि-स्वा. द.जीको भी सारे वेदमन्त्र नहीं मिल

सके। इससे आर्यसमाजका वेदविषयक सिद्धान्त कट गया। उस व्यक्तिमें दो-तीन आत्माएँ आती हैं; तब 'मृतकोंकी आत्मा-का तत्काल पुनर्जन्म हो जाता है'-यह आर्यसमाजका सिद्धान्त भी कट गया। इसमें श्राद्धसिद्धि भी हो गई, मरे हुएकी आत्मा ब्राह्मणमें भी आ-जा सकती है। तीसरा सुश्रुत-चरकसंहिताके अनुसार यह भूतविद्या होनेसे ब्रह्मराक्षसका आवेश है, अब आर्यसमाजको भूत-प्रेत भी मानने पड़ेंगे। जोकि प्रेतविद्या-विशारद प्रेतोंको बुलवाकर किसी माध्यमके द्वारा बातचीत करवाते हैं, आर्यसमाज उसे नहीं मानता था, अब उसे यह भी मानना पड़ेगा। कई स्त्रियां भी सिर हिलाती हैं, उनमें देवीका आवेश माना जाता है, अब आर्यसमाज उसे भी पाखण्ड नहीं कह सकेगा। मुख्यतः इससे सिद्ध हुआ कि-वेद केवल चार पोथियां नहीं, किन्तु ११३१ संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक-उपनिषद् आदि मिलकर ही चार वेद हैं।

एक प्रश्न यह भी होता है कि-जब सभी शाखाएं थोड़ेसे पाठभेदमात्र वाली हैं; तब इन वर्तमान चार शाखा (वेदपोथियां) होने पर शेष शाखाओंकी क्या आवश्यकता है? यह प्रश्न भी व्यर्थ है। तब तो इन चार वेदपोथियोंके बहुतसे मन्त्र बराबर मिलते हैं। सामवेदसं. के तो ७० मन्त्रके अतिरिक्त शेष ऋ.सं.से लिये गये हैं। यजुर्वेदसं. तथा अथर्वसं. भी आधी ऋग्वेदसं. से ली गई है। ऋग्वेदसं.में ही ४०० मन्त्र पुनरुक्त हैं, तब उन संहिताओं वा पाठोंको आर्यसमाजियोंको नहीं मानना पड़ेगा। वे फिर उन-उन वेदसंहिताओंसे उन-उन मन्त्रोंको निकलवाकर उन पोथियोंको हलका करवा लें। पर यदि वे इन शाखाओंमें वैसा नहीं करते, तब अन्य शाखाओंमें भी वैसा प्रश्न व्यर्थ है। अपनी-अपनी कुलपरम्परामें शाखाभेदकी चरितार्थता होजायेगी,

पर वेदत्व सभीका होगा।

यह वेदस्वरूपको बतानेवाला हमारा निबन्ध सूत्ररूप है। यदि पाठकगण इसका भाष्य वा व्याख्या देखना चाहें, तो 'आलोक' के ४र्थ पुष्पमें—'वेदविषयमें भारी भूल' तथा 'श्री-पतञ्जलि एवं शंनोदेवीरभिष्टये मन्त्र' यह दो निबन्ध तथा छठे सुमनमें 'वेदस्वरूपणनिरूपण' (ख) (ब्राह्मणभाग भी वेद है) यह निबन्ध तथा अष्टमपुष्पमें 'वेदस्वरूपनिरूपण' (क) (शाखाओं-संहिताओंका वेदत्व) यह निबन्ध देखें। आगे इस विषय पर एक बृहत् पुस्तक बनानेकी भी योजना है। इससे पाठकगणोंको इस विषयका पूर्ण ज्ञान हो जायगा।

अब आगे 'वेदसंज्ञाविमर्श' (आर्यसमाज कानपुरसे प्रकाशित) के अपनेसे सम्बद्ध कुछ पृष्ठोंपर विचार दिया जाता है।

---

(१५) 'वेदसंज्ञाविमर्श' पर विचार

'आलोक' के ४र्थ तथा ६ठे पुष्पमें हमने शाखाओं एवं ब्राह्मणभागके वेदत्वपर विचार दिये थे, उनमें कुछ अंशोंपर श्रीविद्याधरजी मन्त्री केन्द्रीय-आर्यसभा कानपुरने बहुतसे आर्य-समाजी-विद्वानोंके अवलम्बसे बनाये हुए 'वेदसंज्ञाविमर्श'के ८० से ८६ पृष्ठ तक विचार रखा है। यह मुझे गत दिनों मिली, और उस पर हमने लिख डाला। अब उसे इस पुष्पमें रख रहे हैं। पूर्व हम संयुक्त-मन्त्री आर्यसमाजके उन विचारोंको रखते हैं, जहां उन्होंने हमारे विचार एक प्रकारसे मान लिये हैं।

(१) हमने लिखा था कि-आर्यसमाज निरुक्तके 'समाम्नायः

समाम्नातः' (१।१।१) 'छन्दोभ्यः समाहृत्य समाम्नाताः' (१।१।४) इन शब्दोंमें 'समाम्नाय' तथा 'छन्द'का अर्थ वेद, बल्कि-वेदका केवल मन्त्रभाग अर्थ मानता है। इसीलिए 'कुशवाहा' आदि आर्यसमाजी यहांपर 'छन्दः' का अर्थ 'मन्त्रभाग' मानते हैं। 'वेदसंज्ञाविमर्श' (६३-६४ पृष्ठमें) भी मन्त्री-आर्यसमाज-ने निरुक्तस्थ 'छन्दोभ्यः' का 'मन्त्रभाग' अर्थ माना है, ब्राह्मण-भाग अर्थ नहीं माना। यदि 'छन्द' का अर्थ यहां 'मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग' दोनों हैं; तब स्वा. द.जो आदि के अनुसार 'छन्द' का अर्थ 'वेद' होनेसे ब्राह्मणभाग भी 'वेद' सिद्ध हुआ। क्योंकि निरुक्त वेदका भाष्य माना जाता है, लोकभाषाका नहीं; और वह श्रोत्रनामक 'वेदाङ्ग' है, 'लोकभाषाङ्ग' नहीं, इससे वेद मन्त्रब्राह्मणात्मक ही प्रतिफलित हुआ। यह 'समाम्नाय' शब्द निघण्टुके लिए आया है। 'समाम्नाय' वेदको कहते हैं। इस-लिए निघण्टुको भी 'वैदिक-कोष' वा वेदाङ्ग (निरुक्त) कहा जाता है। तब उस निघण्टुके सभी शब्द आर्यसमाजियोंकी अभिमत चारों वेदपोथियोंमें तो मिलने चाहियें, क्योंकि-वे वेद मन्त्रभागकी केवल इन चार वेदपोथियोंको ही मानते हैं।

वर्तमान आर्यसमाजी वेदकी चालू चार पोथियोंको पूर्ण मानते हैं, न उनमें कुछ प्रक्षिप्त मानते हैं, और न न्यून। 'वेदसंज्ञा-विमर्श' (पृ० १२४) में आर्यसमाजके मन्त्री भी कहते हैं-'वेदोंके पूर्णतया उपलब्ध होनेसे'। 'वेद जितने हैं, तथा जितना उनका प्रमाण है, वे सब मिलते हैं'। जब ऐसा है, तब निघण्टुमें 'यहः, मल्मलीभवन्' आदि शब्द, तथा निरुक्तमें उद्धृत वेदमन्त्र वेदों-में मिलने चाहियें, (देखिये गत १०वां निबन्ध) पर नहीं मिलते। तब क्या उनके अभिमत वेद अपूर्ण हैं? यदि ऐसा है, तो आर्य-समाजका वैदिक-धर्म भी अभी अपूर्ण ही हुआ। उन अप्राप्त

वैदिक-शब्दोंकी प्राप्ति कहांसे होगी ? वस्तुत: वे शब्द इन चार वेदपोथियोंसे भिन्न लुप्त, अलुप्त वेदसंहिता तथा ब्राह्मणोंके हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि—११३१ वेदसंहिता तथा शब्द, अर्थ तथा उनके सम्बन्धके नित्य होनेसे उतने ही ब्राह्मण, जिनमें उपनिषद् एवम् आरण्यक ग्रन्थोंका भी समावेश है-वेद हैं, यह ठीक होगया। यही स.ध.का पक्ष है, तब आर्यसमाजका मत अपूर्ण सिद्ध हुआ। 'वेदसंज्ञाविमर्श' में केन्द्रीय-आर्यसभा-कानपुर के मन्त्रीजीने—जो एक जिम्मेदार व्यक्ति हैं, हमारी यह बात एक प्रकारसे मान ली है।

वे लिखते हैं—'निरुक्तकारने यद्यपि मुख्यतया मन्त्रभागान्तर्गत कठिन शब्दोंकी व्याख्या की है, परन्तु उनके व्याख्यानभूत ब्राह्मणादिमें आये कठिन शब्दोंकी भी व्याख्या करुणामय स्वभावके कारण प्रसंगत: कर दी है' (पृ. ८५) यह उत्तर ठीक नहीं। यहां निरुक्तकार 'करुणामय' न होकर 'निष्करुण' हो गये, जोकि उन्होंने प्रतिपक्षके मत (केवल मन्त्रभागकी वेदता) को निर्मूल सिद्ध कर दिया, और वेद भी प्रतिपक्षके लिए निर्दय बन गये, जो कि उन्होंने निरुक्तकारद्वारा दिखलाये हुए वैदिक-निगम प्रतिपक्षसे अनभिमत अन्य वेदसंहिताओं वा ब्राह्मणोंमें रखकर उन्हें वेद सिद्ध करके प्रतिपक्षके मतको निर्दयतासे निरस्त कर दिया।

बात निरुक्तकारकी व्याख्याकी नहीं थी, बात मूलकी; वैदिक-निघण्टुकी थी; तथा वेदाङ्ग-निरुक्तसे प्रदर्शित वैदिक निगमोंकी थी। उसमें प्रश्न था कि—वैदिक-निघण्टु वेदका, प्रतिपक्षके अनुसार केवल मन्त्रभागात्मक-वेदके पदोंका संग्रह है, अथवा मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदके पदोंका संग्रह है ? यदि प्रतिपक्ष-सम्मत मन्त्रभागकी चार संहिता-पोथियोंके पदोंका संग्रह है तो इससे

दिखलाये गये वैदिक-निघण्टुके पद, और जो यास्क, पतञ्जलि आदिसे प्रदर्शित वैदिक-वाक्य प्रतिपक्षसे इष्ट वेदकी चार पोथियोंमें नहीं मिलते, उनकी क्या गति होगी ? इससे या तो प्रतिपक्षका मत खण्डित होगा, तब प्रतिपक्षको ११३१ मन्त्रसंहिता तथा उतना ही ब्राह्मणभाग (उपनिषद्-आरण्यकसहित) वेद मानना पड़ेगा; या फिर वेदकी वर्तमान चार पोथियां अपूर्ण सिद्ध होकर, आर्यसमाजके इस दावेको कि-यही चार वेदकी पोथियां ही पूर्ण-वेद हैं—खारिज कर देंगी। अथवा प्रतिपक्षके अनुसार यदि वैदिक-निघण्टु सभी शाखा एवं ब्राह्मणोंके पदोंका संग्रह है, तो स्मरण रहे कि—इसे वेदाङ्ग-निरुक्त कहा जाता है; और वेदका कोष कहा जाता है, तब वेदकी सीमा भी समस्त शाखा एवं ब्राह्मण मिल कर ही हुआ करेगी। तब आर्यसमाजका इन चार पोथियोंमात्रको पूर्ण-वेद कहनेका दावा खारिज हो जावेगा।

(२) इस प्रकार श्रीदेवराजयज्वासे प्रदर्शित जो निगम वर्तमान वेदोंकी चार पोथियोंमें नहीं मिलते, और उसने वेदके नामसे दिखलाये हैं, उसमें प्रतिपक्षके अनुसार 'दया-सम्बद्धता' (पृ. ८६) कारण नहीं, किन्तु निर्दयता ही कारण है, जोकि—उसने प्रतिपक्षके एकदेशी मतको निर्दयतासे पराहत कर दिया। केवल इन चार-पोथियोंसे वेदसीमा बढ़कर ११३१ शाखा एवं ब्राह्मणोंमें होगई। तब स्पष्ट होगया कि—वेदके विषयमें स.ध.का प्राचीन मत ठीक है, अर्थात्—सभी मन्त्रसंहिता (११३१) तथा उतने ही आरण्यक-उपनिषद् सहित ब्राह्मण चार वेद हैं; और आर्यसमाजका इस विषयका मत अर्वाचीन एवं निर्मूल है।

(३) हमने लिखा था कि—अथर्ववेदका आदिममन्त्र गोपथ तथा महाभाष्य एवं गुणविष्णु और स्वा.द.जीके अनुसार 'शं नो देवी'

है, और वह क्रम पैप्पलादसंहितामें है, जिसे आर्यसमाज अथर्ववेद नहीं मानता, पर आर्यसमाजसे वेद मानी जाती हुई अथर्ववेद शौ.सं.में वह क्रम नहीं है, तब वह (आर्यसमाज) वैदिक-यन्त्रालय अजमेरसे प्रकाशित अथर्ववेदसं.को वेद न माने', इसपर मन्त्री केन्द्रीय-आर्यसभा सिंहनाद करते हैं कि—'ऋषि-दयानन्दके मतमें तथा भाष्यकारके कथनानुसार अथर्ववेदका आरम्भ 'शं नो देवी' मन्त्रसे ही होता है, पिप्पलादादि ऋषि भी ऐसा मानते हैं; अतः वर्तमान अजमेरवाली संहिताकी आदिमें जो 'ये त्रिषप्ताः' इस मन्त्रका पाठ मिलता है, वह अथर्ववेदकी उपलभ्यमान खण्डित प्रतिलिपियोंके अनुसार है। उनमें 'ये त्रिषप्ताः' मन्त्रका प्राधान्य है। पैप्पलाद-ऋषिने जिस पाठ ['शं नो देवी'] से अथर्ववेदका आरम्भ माना है, उस वेदको ही हम मूलवेद मानें, तो कोई अनौचित्य नहीं' (वेदसंज्ञाविमर्श. पृ. ८९) उक्त पुस्तकके १६० (ख) पृष्ठमें भी प्रतिपक्षने 'शं नो देवी' को अथर्व. का प्रथम-मन्त्र माना है'।

मन्त्री-आर्यसभा इस मार्केकी बात लिखनेसे बहुत-बहुत धन्यवादके पात्र हैं, यही होता है सत्यका ग्रहण और असत्यका त्याग। इससे प्रतिपक्षने आर्यसमाजका मत समाप्त कर दिया। वर्तमान-आर्यसमाज अथर्ववेदकी वर्तमान शौनकसंहिताको वेद मानता है, पैप्पलादको नहीं। इसके लिए आर्यसमाजके नेता श्री-ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु आदि बड़ा परिश्रम करते रहते हैं, देखिये उनकी यजुर्वेदभाष्यविवरणभूमिका, परन्तु प्रतिपक्षने 'अथर्ववेद-पैप्पलादसंहिताको ही मूलवेद मान लिया है, और 'ये त्रिषप्ताः' वाली शौनकसंहिता (आर्यसमाजाभिमत-अथर्ववेद) को वेदकी खण्डित पोथी (पृ. ५६ क के अनुसार) हेर-फेरवाली-संहिता अर्थात् अवेद मान लिया।

पृ. ४२ (क) में भी 'अथर्ववेदमें जो शौनकीय और पैप्पलाद

शाखायें पाई गई हैं, वे कतिपय अथर्ववेदादिमन्त्रोंके पाठान्तरमात्र हैं,' यह कह कर आर्यसमाजाभिमत 'अथर्ववेदशौनकसंहिता' को भी पाठान्तरवाला छन्दोविषय होनेसे हेरफेरके कारण अपने पृष्ठ ५६ पं. १८ के अनुसार अवेद सिद्ध कर दिया। अब आर्यसमाज अपना अथर्ववेद दिखलावे, जिसमें हेरफेर न हो; क्योंकि वर्तमान अथर्ववेदसंहिता (आर्यसमाजाभिमत वेद) शौनकसंहिता ही है, वह संयुक्त-मन्त्री आर्यसमाज कानपुरके अनुसार हेरफेरवाली शाखा एवम् अवेद सिद्ध हो गई। तब 'अथर्ववेद कौन-सा है, यह आर्यसमाज कृपा करके दिखलावे। स्वा. द.जीने भी 'शं नो देवी' मन्त्रको अथर्ववेदका 'प्रथममन्त्रप्रतीक' (ऋभाभू. पृ. ८६) माना है, पर वह आजकल की आर्यसमाजाभिमत-अथर्ववेदसंहिता में प्रथममन्त्रप्रतीक न होकर प्रथमकाण्डके छठे सूक्तका प्रथम-मन्त्र है। सो इसमें यह हेरफेर होनेसे अवेदता हो गई।

अथवा 'शाखाओंमें वेदोंका पाठान्तरमात्र होनेसे प्रतिपक्षके शब्दोंमें 'यह व्याख्यान—व्याख्येयभाव नहीं, किन्तु शाखान्तर्गत पाठान्तर है, या वेदका वेदान्तरमें पाठान्तर मिलता है····क्योंकि-यह मन्त्र दोनों वेदोंमें थोड़े ही पाठान्तरसे उपलब्ध होता है, इसे व्याख्यान-व्याख्येयका उदाहरण मानना भारी भूल है' (वेदसंज्ञावि. पृ. ४१ क) इस कथनके कारण पैप्पलादसंहिताके वेद सिद्ध हो जानेसे उसके उपलक्षणसे सभी संहिता (शाखा) वेद सिद्ध हुईं, तब इन चार वेदपोथियोंसे अतिरिक्त अन्य किसी भी संहिता वा ब्राह्मणको वेद न माननेका आर्यसमाजका मत भी खण्डित होगया, और स्वा.द.जीने जोकि ऋभाभू.के प्रामाण्याप्रामाण्यविषयप्रकरणमें 'वेदशाखा वेदार्थव्याख्याना अपि' (पृ.३१२) तथा स्वमन्तव्यामन्तव्यमें भी 'वेदोंकी शाखा जो वेदोंका व्याख्यान हैं' (२) स.प्र. ७म समु. (पृ. १२७) में 'व्याख्यानको शाखा कहते

हैं। इसी बातको सिद्ध करनेके लिए श्रीभगवद्दत्तजीने जोकि अपने 'वैदिक वाङ्मयका इतिहास' (प्रथमभाग पृ. ७३-७४-७५) में वर्तमान-वेदसंहिताओंके पदोंकी अन्य शाखाओंके मन्त्रोंमें कहीं-कहीं पर्यायवाचकता दिखलाकर कि-'भ्रातृव्यस्य वधाय') यजु.वा. मा. सं. १।१८) 'द्विषतो वधाय' (काण्वसं. १।३) यही शाखा-ग्रन्थोंका व्याख्यान-ग्रन्थ होना सिद्ध किया है; यह सब स्वा. द.जीसे लेकर आजतकके आर्यसमाजियोंका परिश्रम 'वेद-संज्ञाविमर्श' (के ७६क पृष्ठ) में 'पाठान्तर मात्र माना है, व्याख्यान नहीं' इत्यादि द्वारा आर्यसमाज (मेस्टन रोड कानपुर) के संयुक्त-मन्त्रीने खण्डित कर दिया। इससे हमारी 'श्रीसनातन-धर्मालोक' ग्रन्थमालाके चतुर्थ तथा छठे सुमनका प्रकाशित करना सफल हुआ, जिससे सनातनधर्मियोंको तो लाभ पहुँचा ही है, उसने आर्यसमाजके माने हुए विद्वानोंके मतपरिवर्त्तन करानेमें भी सफलता प्राप्त कर ली।

(४) हमने लिखा था कि-यदि इन चार पोथियोंसे भिन्न कोई वेद नहीं; तो स्वा. द.जीने अपने आख्यातिक, सामासिक आदि वेदाङ्गप्रकाशके भागों तथा अपने अष्टाध्यायीभाष्य आदि में वेदके नामसे जो वैदिक-सूत्रोंके हमसे उद्धृत उदाहरण प्रयुक्त किये है; वे आर्यसमाजाभिमत चारों वेदसंहिताओंमें नहीं मिलते, किन्तु भिन्न संहिता वा ब्राह्मणोंमें मिलते हैं; अतः सभी शाखा तथा ब्राह्मण स्पष्टतया वेद सिद्ध हुए।'

इस पर भी प्रतिपक्षको वही पहलेवाला उत्तर देना चाहिये था कि-दयामय-दयानन्दने हम लोगोंपर दया करके ही भिन्न वेद-संहिताओं तथा ब्राह्मणोंको वेद-नामसे उदाहृत किया, पर मन्त्री-आर्यसभा उत्तर देते हैं कि-'स्वामीजीने जो वेदके नामसे उदाहरण दिये हैं, वे वचन लोकभिन्न-ग्रन्थोंकी दृष्टिसे दिये हैं। उस समय उन्हों (स्वा. द.) ने यह ध्यान नहीं दिया कि-यह वैदिक उदाहरण भी चारों वेदोंमें से ही देने चाहिए', अर्थात् प्रसिद्धि के अनुरोधसे ही उन्होंने ऐसा कर दिया, क्योंकि-उदाहरण ऐसा ही होना चाहिए, जिसमें लौकिक या वैदिक वा शास्त्रज्ञका बुद्धिसाम्य हो' (पृ. ८४)।

हम संयुक्त-मन्त्री आर्यसमाज कानपुरको बहुत-बहुत धन्यवाद देते हैं कि-उन्होंने सनातनधर्मियोंका परिश्रम इस एक पङ्क्तिको लिखकर हल्का कर दिया। इससे उन्होंने अपने ऋषि (स्वा. द.) जीको भ्रान्त सिद्ध कर दिया। अथवा यदि स्वा.द.-जी भ्रान्त नहीं थे, तो प्रतिपक्षका उत्तर स्वा. द.जीसे विरुद्ध होनेसे मन्त्री-आर्यसभाको भ्रान्त सिद्ध करनेवाला सिद्ध होगया। देखिये-

मन्त्रीजीने लिखा है-स्वामीजीने वेदके नामसे जो उदाहरण दिये हैं, वे केवल लोकभिन्न ग्रन्थोंकी दृष्टिसे दिये हैं।' मन्त्रीजी-को धन्यवाद हो कि—उनने अन्य वेदसंहिता तथा ब्राह्मणभागको—जिनके उदाहरण स्वामीजीने वेदके नामसे अपने ग्रन्थोंमें दिये हैं—लोकभिन्न मान लिया। सो लोकभिन्न होनेसे वे वेद ही प्रतिफलित हुए, क्योंकि—अष्टाध्यायीमें 'भाषायां' और 'छन्दसि' यह दो पद एक-दूसरेके प्रतिद्वन्द्वी रखे हैं, तो जो भाषासे भिन्न ग्रन्थ होगा, वह स्वाभाविकतया वेद होगा। अब प्रतिपक्षके मतमें भी ब्राह्मणभाग वा अन्य संहिता लोकभिन्न वेद स्वयं प्रतिफलित हुए।

(५) स्वा. द.जीने ऋभाभू.में 'लौकिकारतावद्-गौरश्वः पुरुषो हस्ती' (पृ. ८६) इनको लौकिक बताकर इनकी सत्ता ब्राह्मण-भागमें बताई है। इससे स्पष्ट हुआ कि-वे ब्राह्मणभागको लौकिक (भाषा) मानते हैं, वेद नहीं। और फिर वहीं (ऋभाभू.

में) 'प्रमाणं शब्दो यथा लोके' (२।१।६०) इस न्यायदर्शनके भाष्य-को देकर लिखा है—'ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव न वैदिकाः' (पृ. ८४) यह कहकर स्वामीने ब्राह्मणभागको वैदिक न मानकर लौकिक माना है; और आर्यसमाजके मन्त्रीजी स्वा. द.जीके वेदके नामसे दिये अन्य संहिताओं वा ब्राह्मणोंके उदाहरणोंको लोकभिन्न-ग्रन्थोंकी दृष्टिसे मानते हैं। अब यह बताना चाहिये कि—स्वा.द.-जी ब्राह्मणोंको लौकिक लिखते हुए मान्य हैं, या मन्त्रीजी ब्राह्मणोंको लोकभिन्न बताते हुए मान्य हैं, एकके मान्य होनेपर दूसरा भ्रान्त सिद्ध होगा ही। सो मन्त्रीजीके कथनानुसार स्वा.द.जी भ्रान्त सिद्ध हुए। स्वामीजीकी भ्रान्ति मन्त्रीजीने स्वमुखसे लिख भी दी है कि—'उस समय उन्हों (स्वा.द.जी) ने यह ध्यान नहीं दिया कि—ये उदाहरण भी चार वेदोंमेंसे देने चाहियें' (पृ.८४) जो वेदका उदाहरण दे रहा है, वह यह नहीं देखता कि—मैं यह उदाहरण अपने माने वेदसे दे रहा हूँ, या दूसरोंसे माने वेद के ? इससे दो बातें सिद्ध हो रही हैं, पहली यह कि—स्वामी सभी ११३१ संहिता तथा ब्राह्मणोंको भी पहले वेद मानते थे, पीछे बदल गये। या फिर वे वेदका ज्ञान नहीं रखते थे, या फिर वे अन्त तक वेदविषयमें भ्रान्त रहे। तब वे भ्रान्त रहने से अनाप्त तथा अमान्य सिद्ध हुए। तब उनके साम्प्रदायिक-सिद्धान्त भी चल सिद्ध होनेसे निर्मूल सिद्ध हुए।

(६) हमने 'ततो मनुष्या अजायन्त' के विषयमें जिसे स्वा. द.जीने यजुर्वेदका वचन लिखा है—पूछा था कि—यह वचन यजुर्वेदमें कहां पर है ? यह तो शतपथब्रा.का है, सो वह भी यजुर्वेद सिद्ध हुआ। इस पर सं. मन्त्री आर्यसमाज लिखते हैं—'स्वामीजीका आशय वेदके अक्षरोंके उद्धरणसे नहीं, किन्तु यजुर्वेदके पुरुषसूक्तमें आये भावका संस्कृतमें अनुवादमात्र कर दिया है। स्वा.

द.जीने लोगोंको उनकी भाषामें समझानेके लिए कहीं-कहीं वेदभिन्न भी प्रमाण दे दिये हैं' (पृ.८४)।

जब स्वा.द.जीने यजुर्वेदके पुरुषसूक्तके भावके अपने संस्कृतानुवादको भी यजुर्वेदके नामसे लिख दिया; तो मन्त्री आर्यसभाको धन्यवाद है कि—उन्होंने यजुर्वेदके अपने मतानुसार अनुवादभूत 'शत.ब्रा.' को भी यजुर्वेद सिद्ध करके ब्राह्मणभागको भी वेद सिद्ध कर दिया। तब उनने अपने 'वेदसंज्ञाविमर्श' का प्रत्युत्तर भी स्वयं दे दिया। इससे हमारी ग्रन्थमालाके प्रकाशनकी सफलता होगई। इससे सिद्ध होगया कि—पहले स्वा. द.जी ब्राह्मणभागको तथा अन्य वेदसंहिताओंको भी वेद मानते थे, पीछे बदल गये। इस मतपरिवर्तनसे वे अनाप्त सिद्ध हुए। वेदभिन्न प्रमाण वे भले ही दें, पर वे अन्य वेदसंहिता वा ब्राह्मणोंको यदि वेदके नामसे उद्धृत करते हैं, तब या तो वे भ्रान्त सिद्ध हुये, या फिर अन्य वेदसंहिताएँ तथा ब्राह्मण भी उनके अभिप्रायानुसार वेद सिद्ध हुए। क्या वे वेदवचन उद्धृत करनेके अवसर पर वेदवचन देकर तथा उसकी भाषा हिन्दी प्रयुक्त करके लोगोंको नहीं समझा सकते थे, जैसाकि उन्होंने अन्य स्थलों पर किया है; तब स्पष्ट है कि—स्वा. द.जी पहले ब्राह्मणभागको भी वेद मानते थे। इससे 'स्वाजीने लोगोंको उनकी भाषामें समझानेके लिए' यह मन्त्रीजीके वाक्य स्वपक्षरक्षार्थ व्याजमात्र ही सिद्ध होते हैं।

(७) हमने स.प्र.का एक उद्धरण दिया था, जिससे सिद्ध होता था कि—संस्कृतभाषाको न जाननेवाले ऋषियोंको समाधि-अवस्थामें मन्त्रोंका अर्थ परमेश्वरने जनाया' 'उनका नाम ब्राह्मण हुआ' इसपर प्रतिपक्षने लिखा है कि—"आपने अपने अभिप्रायानुसार स.प्र.की भाषामें हेरफेर कर दिया है,

जिससे ऋषिका वास्तविक भावार्थ गड़बड़में पड़ गया है' (पृ. ८७)। फिर ८८ पृष्ठमें प्रतिपक्ष लिखता है-'यद्यपि स.प्र.की हिन्दी-भाषा है, तथापि इसका भाव बड़ा गम्भीर है, और ऋषि-की हिन्दीभाषा मातृभाषा नहीं; अतः अर्थ और दुर्बोध हो जाता है, जिसके कारण आपको यहां आपाततः भ्रान्ति होगई है।"

यहाँ कितना परस्पर-विरोध है, पहले लिखते हैं कि-'आपने स.प्र.की भाषामें हेरफेर कर दिया।' फिर कहते हैं कि—हिन्दी-भाषा स.प्र.की है, पर भाव गम्भीर है।' फिर कहते हैं कि—स्वा.द.की हिन्दी मातृभाषा नहीं थी, अतः अर्थ दुर्बोध होजाता है।' महाशय! यह परस्पर-विरोध कृत्रिमताके कारण हुआ है। यहां कोई गुजराती-भाषाके शब्द नहीं थे कि-हमें अर्थज्ञानमें कठिनता होती। आपकी भी गुजराती-भाषा मातृभाषा नहीं कि-आपको तो उसका भाव समझ आजावे; और हमें समझ न आवे। उक्त उद्धरण बहुत सुगम है, दुर्बोध नहीं। पर जब सिद्धान्तमें अन्तर पड़ जाता है; तब शिष्यमण्डलको अपने आचार्यके मानसंरक्षणार्थ कृत्रिमताएँ करनी पड़ती हैं।

यहाँ यह प्रष्टव्य है कि-ऋषि लोग सृष्टिकी आदिमें हुए थे, या महाभारतके समयमें? यदि महाभारतके समयमें, तो क्या वेद १ अर्ब ९७ करोड़, २९ लाख, ४९ हजार वर्ष तक व्यर्थ पड़े रहे? किसी भी पुरुषको उनका अर्थज्ञान न हुआ? यदि वे ऋषि, सृष्टिकी आदिमें हुए, तो अर्थज्ञान भी उन्हें सृष्टिकी आदिमें परमात्माने समाधि-अवस्थामें दिया। जैसे परमात्मासे दिये हुए 'शब्दों'का ऋषियोंने अपने मुखसे उच्चारण किया, और वे प्रतिपक्षके अनुसार ऋषिकृत नहीं माने जाते, (स.प्र.७ पृ.१२५) वैसे ही परमात्माने जो बहुतोंके आत्माओंमें वेदार्थका प्रकाश किया, (स.प्र.पृ.१२८) और उसे भी ऋषियोंने उच्चारित किया, वे भी ऋषिकृत नहीं बन सकते। नहीं तो समानन्यायसे शब्दरूप मन्त्र भी ऋषिकृत हो जाएंगे। यह अनिष्ट होनेपर वह भी अनिष्ट है। तब वे अर्थरूप ब्राह्मण भी सृष्ट्यादिके तथा परमात्मप्रोक्त हुए। तब ब्राह्मणभागको महाभारतकालीन बताना प्रतिपक्षका गलत सिद्ध हुआ।

अन्य यह भी प्रष्टव्य है कि—स्वा. द.जीकी मान्यतानुसार वेद अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिराः—इन ऋषियों (?) को मिले। सो उन्हें मन्त्रोंके शब्द मिले, वा अर्थ? यदि शब्द मिले; तो 'ऋषि मन्त्र-द्रष्टा' का नाम हुआ, अर्थ-द्रष्टाका नहीं। तब स्वा.द.का नाम जो प्रतिपक्ष द्वारा 'ऋषि' लिखा जाता है, वह गलत हुआ; क्योंकि वे वेदमन्त्रद्रष्टा नहीं थे। यदि उन चारों ऋषियोंको मन्त्रोंके साथ उनके अर्थ भी अन्तः-करणमें पर-मात्माकी व्याप्तिसे मिले; तो वे ब्राह्मणरूप अर्थ भी मन्त्रकी भांति परमेश्वरसे प्रोक्त होनेसे वेद सिद्ध हुए। फिर उन्होंने वे अर्थ किसको पढ़ाए? और इसमें क्या प्रमाण है? सृष्टिकी आदिमें इन चारों ऋषियों (?) के अतिरिक्त भी कोई ऋषि हुए, या नहीं?। यदि नहीं, तो वेदमन्त्रोंपर जो ऋषि लिख गये हैं; वे क्या सृष्टिकी आदिके नहीं थे? उनको अर्थ अग्नि आदि ऋषियों (?) ने बताया, वा परमात्माने?

यदि अग्नि आदियोंने; तो स्वा.द.जीका यह कथन कि—'जिस-जिस मन्त्रार्थका दर्शन जिस-जिस ऋषिको हुआ; और प्रथम ही जिसके पहले उस मन्त्रका अर्थ किसीने प्रकाशित नहीं किया था, किया, और दूसरों को पढ़ाया भी; इसीलिए अद्यावधि उस-उस मन्त्रके साथ ऋषिका नाम स्मरणार्थ लिखा आता है' (स. प्र. ७ पृ० १२६) यह गलत सिद्ध हो जाता है; क्योंकि—अग्नि-

आदियोंने तो उन मन्त्रोंका अर्थ उन मन्त्रोंके ऋषियोंको बता दिया; तब उन ऋषियोंकी 'प्रथम ही जिसके पहले उस मन्त्रका अर्थ किसीने नहीं किया' यह अपूर्वता तो न हुई। तब उनका नाम मन्त्रके साथ व्यर्थ क्यों लिखा आता है? इससे तो यह सिद्ध होता है कि–उन्हें मन्त्रका दर्शन हुआ, मन्त्रार्थका नहीं। फिर उन मन्त्रोंके ऋषियों तथा अग्नि आदि चार ऋषियोंकी विशेषता क्या हुई? फिर जो स्वा.द.जीका यह वचन कि–'उन्हीं चार ऋषियोंका ऐसा पूर्व पुण्य था कि–उनके हृदयमें वेदोंका प्रकाश किया गया' (ऋभाभू. पृ.१९) 'वे ही सब जीवोंसे अधिक पवित्रात्मा थे' (स.प्र. ७ पृ. १२५) यह बात गलत हो जाती है। या वे ऋषि नहीं थे, किन्तु सनातनधर्मानुसार अङ्गिरा को छोड़कर देवता थे, ऐसा मान लिया जावे!

अन्य यह प्रष्टव्य है कि-सृष्टिकी आदिमें परमात्मा केवल अग्नि आदिको वेद पढ़ाता है, वा दूसरों को भी? यदि दूसरों-को भी; तो अग्नि आदि चारोंकी पूर्व पुण्यकी विशेषता नहीं रहती। यदि परमात्मा केवल अग्नि-आदियोंको वेद पढ़ाता है, और वे ब्राह्मण ऋषि थे; तब 'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः, ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय, स्वाय चारणाय च, (यजुः २६।२) इस मन्त्रका अर्थ स्वामीका गलत सिद्ध होता है, जिसमें शूद्रोंको भी परमात्मा-द्वारा सृष्टिकी आदिमें वेद पढ़ाना लिखा है। बल्कि इन ऋषियोंमें न तो कोई शूद्र था, न स्त्री, बल्कि कोई क्षत्रिय-वैश्य भी नहीं था।

अन्य प्रष्टव्य यह है कि-'यथेमां वाचं' में परमात्मा-द्वारा ब्राह्मण-शूद्रादि का वेद पढ़ाना आया है। यह सृष्टिके आदिका है, या सृष्टिके मध्यका? यदि सृष्टिकी आदिका है, तो 'अग्ने! देवेषु प्रवोचः' (ऋ- १।२७।४) इस मन्त्रका स्वामीने

अर्थ किया है–'जगदीश्वर! त्वं सृष्टयादौ जातेषु पुण्यात्मसु अग्निवाय्वादित्याङ्गिरस्सु मनुष्येषु प्रोक्तवान्' यह गलत होजाता है, क्योंकि यहां तो सृष्टिकी आदिमें केवल अग्नि आदि चार ब्राह्मण-ऋषियोंको ही परमात्मा-द्वारा वेद पढ़ाना लिखा है, शूद्रादिको नहीं।

यदि 'यथेमां वाचं' यह वेदोपदेश सृष्टिके मध्यका है-तो एक तो वेदमें प्रतिपक्षसे अनिष्ट पौर्वापर्य हो गया। यह इतिहास बन गया। दूसरा अग्नि-आदिद्वारा सृष्टिकी आदिमें पढ़ाये हुए वेद क्या ब्राह्मण-शूद्रादिको भूल गये, जो कि परमा-त्माको उन्हें फिरसे पढ़ाना पड़ गया।

यदि 'यथेमां वाचं' मन्त्र सृष्टिकी आदिके लिए है, तो उस उपदेशमें अग्नि, वायु, रवि, आङ्गिरा यह चार ऋषि भी वेद पढ़नेमें शामिल थे, या नहीं?। यदि थे, तो उनका नाम यहां नहीं आया? यदि थे, तो वे भी सर्वसाधारण हो गये, तो फिर उनकी पुण्यात्मकताकी विशेषता क्या रही? यदि वे पढ़ने में शामिल नहीं थे, तो उन्होंने फिर स्वामीजीके मतानुसार संसारको एक-एक वेदका सृष्टिकी आदिमें उपदेश कैसे दिया? यदि उन्होंने ही संसारको एक-एक वेदका उपदेश दे दिया, तो फिर परमात्माको संसारको वेदोपदेश देनेकी भी आवश्यकता क्या पड़ी? उन चारों ऋषियोंको चारों वेदोंका ज्ञान था, या एक-एक वेदका? यदि चारोंका, ती उन्होंने एक-एक वेदका उपदेश क्यों दिया? और उनकी चार संख्या क्यों रखी गई? यदि एक-एक वेदका, तो वेदोंका पूर्ण-ज्ञान न होने-से अपूर्णज्ञानशाली वे ब्राह्मण ही कैसे माने गये?

'यथेमां वाचं' तथा 'अग्ने! देवेषु प्रवोचः' यह दोनों ही वेदोपदेश-प्रदर्शक मन्त्र सृष्टयादिके हैं, या आगे–पीछेके?

यदि आगे-पीछेके, तो वेदमें प्रतिपक्षानभिमत कालका पौर्वापर्य एवं इतिहास सिद्ध हो गया। यदि दोनों सृष्टिकी आदिके हैं, तो वेदमें पुनरुक्ति हो गई। और फिर वेदोपदेशमें अग्नि आदि की कुछ विशेषता भी न रही। या फिर 'यथेमां वाचं' का स्वा. द. जीसे किया हुआ वेदोपदेशपरक अर्थ ठीक नहीं। 'अग्ने! देवेषु' इस मन्त्रका अर्थ भी ठीक नहीं, क्योंकि-'देवेषु' का 'मनुष्येषु' अर्थ युक्त नहीं। देवता और मनुष्य भिन्न-भिन्न होते हैं, इस विषयमें 'आलोक' का तृतीय तथा ४र्थ पुष्प देखना चाहिये। यह सब असम्बद्धताएं स्वा. द. जी तथा उनके साम्प्रदायिक सिद्धान्तोंकी कृत्रिमताके कारण उत्पन्न होती हैं।

अब प्राकरणिक बातपर आना चाहिये कि-परमात्माने समाधिस्थित ऋषियोंको केवल मन्त्र दिये, या अर्थ भी? यदि मन्त्र, तो उन्हें अर्थज्ञान कैसे हुआ, क्योंकि वे स्वामीके अनुसार संस्कृतभाषा तो जानते ही नहीं थे। यदि अर्थ भी दिये, तो अर्थरूप ब्राह्मण भी परमात्माके होनेसे वे भी वेद हुए। 'तद् यद् एतान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भु अभ्यानर्षत्, त ऋषयोऽभवन्, तद् ऋषीणामृषित्वम्। (निरु. २।११।१) इस वचनमें ब्रह्म (वेद) के आनेसे मन्त्र-ब्राह्मण दोनों वेद सिद्ध हुए। यह ऋषियोंकी समाधि-तपस्या सृष्टिकी आदिमें हुई, या महाभारत-कालमें? यदि सृष्टिकी आदिमें, तो अर्थरूप ब्राह्मणभाग भी सृष्टिकी आदिके सिद्ध हुए, महाभारतकालीन नहीं। यदि महाभारतकालमें, तो मन्त्रभागरूप ब्रह्म (वेद) भी महाभारतकालीन होने से पाश्चात्य रचना सिद्ध हुई। पर यह प्रतिपक्षको भी अनिष्ट होगा।

स्वा. द. जीने लिखा है—'वेदोंका अर्थ परमेश्वरने समाधिस्थित अग्नि आदि ऋषियोंको जनाया' (स. प्र. ७ पृ. १२६)

यह भी तो सृष्टिकी आदिका वर्णन है है, क्योंकि, अग्नि आदि ऋषि (?) स्वामी के अनुसार सृष्टिकी आदिके हैं; तब अर्थरूप ब्राह्मण भी सृष्टिकी आदिके हुए। शब्द-मन्त्रकी भांति अर्थ-ब्राह्मण भी परमात्मासे आनेसे मन्त्रकी समानतासे वेद सिद्ध हुए। मन्त्र और ब्राह्मण भिन्न हैं, पर वेद दोनों हैं। जहां वेद शब्द आता है, वहां मन्त्र-ब्राह्मण दोनोंका ग्रहण होता है। समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते' इस महाभाष्यका-लोकन्यायसे वेदसे कहीं केवल मन्त्रभागका और कहीं केवल ब्राह्मणभागका भी ग्रहण हो जाता है।

'अपूर्वेणेषिता वाचः ता वदन्ति यथायथम्। वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्' (अथर्व०२०।८।६३) यहां 'ब्राह्मण' नपुंसकलिङ्गान्त है, सो यह ब्राह्मणका नाम है। वेदमें यह स्मृत होनेसे यह भी वेद हुआ; क्योंकि—'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' शब्द और अर्थ तथा उनका सम्बन्ध नित्य होनेसे अर्थरूप-ब्राह्मण भी मन्त्र-समकालीन है। यह नहीं कि—शब्द तो सृष्टिकी आदिमें बने, और उनका अर्थ महाभारतसमयमें जाकर बना। ऋषियोंने दोनोंको ही समाधिद्वारा प्राप्त किया, स्वयं उनका निर्माण नहीं किया। ईश्वरसे भिन्न उसके वेदके अर्थको कौन बना सकता था? (इस विषयमें 'आलोक' के ६ठे पुष्पमें हमने सूत्ररूपमें लिख दिया था—उसपर मन्त्रीजीकी लेखनी ठीक नहीं चल सकी) इसलिए स्वा.द.जीको भी ब्राह्मणभागकेलिए 'ऋषिभिरुक्तत्वात्' कहना पड़ा, 'ऋषिभिर्निर्मितत्वात्' नहीं। इसलिए न्यायदर्शनके वादिप्रतिवादिमान्य भाष्यकार श्रीवात्स्यायनने भी कहा है—'य एव मन्त्र-ब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च, ते खलु इतिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य च [द्रष्टारः, प्रवक्तारश्च]' (४।१।६२) यहांपर मन्त्र-ब्राह्मणके द्रष्टा-प्रवक्ता समान

बताये गये हैं। इसी बातसे पूर्व 'द्रष्टृप्रवक्तृ-सामान्याच्च अप्रामाण्यानुपपत्तिः' इन शब्दोंमें कहा था कि—मन्त्र-ब्राह्मणके द्रष्टा-प्रवक्ता समान हैं, अर्थात्—जिस प्रकार ऋषियोंने समाधिमें मन्त्रोंका दर्शन और फिर वाणीद्वारा उनका प्रवचन किया, वैसे ही ब्राह्मणका भी उन्हीं ऋषियोंने [समानस्य भावः सामान्यम्, तस्मात् सामान्यात्] समाधिमें दर्शन और फिर वाणीद्वारा उनका प्रवचन किया। मन्त्रब्राह्मणमें चाहे समाहारद्वन्द्व माना जावे, चाहे 'मन्त्रसहितस्य ब्राह्मणस्य' यह मध्यमपदलोपी तत्पुरुष माना जावे, 'एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः' इस न्यायसे दोनोंमें दर्शन-प्रवचन वा वेदत्वकी समानता ही रहेगी। उनके प्रकटकर्ता ऋषियोंकी भी एक जाति हुआ करती है, और वे प्रत्येक-कल्पकी आदिमें हुआ करते हैं। वे एक प्रकारसे अवतार होते हैं। जैसेकि श्रीकृष्णावतार आदि। इसलिए ऋषियोंकी उत्पत्ति भी विलक्षण आई है। जैसे कि प्रशस्तपाद-भाष्यमें कहा है—'तत्र अयोनिजम् अनपेक्ष्य शुक्रशोणितं, देव-ऋषीणां शरीरं धर्मसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते' (द्रव्यग्रन्थ, पृथिवीनिरूपण)

(८) मैंने लिखा था—'ततः शतपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहम्। चक्रे' इत्यादि महाभारत (शान्तिपर्व) के पद्यमें आये हुए 'चक्रे' का अर्थ प्रवचन है, निर्माण नहीं। इसपर मैंने कई प्रमाण भी दिये थे; पर प्रतिपक्ष लिखता है—'यहां चक्रे' का अर्थ प्रवचन नहीं, किंतु निर्माण ही है। यद्यपि 'कृ' धातुके दर्शन आदि अनेकों अर्थ हैं; पर योग्यतया यहां 'कृ' धातुका निर्माण ही अर्थ है' (पृ० ८३) प्रतिपक्षने यह लिख तो दिया, पर इसमें कोई उपपत्ति तो दी नहीं, केवल 'योग्यतासे' यह लिख दिया!

हमने लिखा था कि—यहां 'शतपथ'केलिए 'कृ' धातुका प्रवचन ही अर्थ है; नहीं तो 'मन्त्रकृत्' का अर्थ भी फिर 'मन्त्र-

कर्ता' होजावेगा। पर प्रतिपक्षने इसपर कुछ प्रत्युत्तर नहीं दिया। तब केवल 'नहि प्रतिज्ञामात्रेण अर्थसिद्धिः' इस न्याय को प्रतिपक्षने चरितार्थ कर दिया। अब हम अपनी बात प्रतिपक्षके ऋषिके वचनसे ही सिद्ध करते हैं। स्वा.द.जीने ऋभाभू. में ब्राह्मणके अवेदत्वमें 'ऋषिभिरुक्तत्वात्' (पृ० ८७) यह हेतु दिया है। इसमें वही हमसे कहा हुआ 'उक्त' शब्द है, प्रतिपक्षसे कहा हुआ 'निर्मित' शब्द नहीं। तब महाभारतानुसार श. ब्रा.के निर्मित अर्थ न होनेसे प्रतिपक्षका पक्ष असिद्ध हो गया।

अब बतलाना चाहिये कि—ब्राह्मणभागका ऋषियोंद्वारा 'प्रवचन' मानते हुए प्रतिपक्षके ऋषि स्वा. द. मान्य हैं, या उनका निर्माण अर्थ कहता हुआ प्रतिपक्ष मान्य है। यदि प्रतिपक्ष मान्य है, तब प्रतिपक्षके ऋषि स्वा.द. भ्रान्त हुए। यदि स्वामी मान्य हैं, तब प्रतिपक्ष भ्रान्त हुआ।

महाभारतमें लिखा है कि—सूर्यने याज्ञवल्क्यको कहा कि—'आस्यं स्वं विवृतं कुरु' (३१८। ७) अर्थात् अपना मुख खोलो। 'विवृतं च ततो मेऽऽस्यं प्रविष्टा च सरस्वती' (३। १८। ७) याज्ञवल्क्यने मुख खोला, उसमें सरस्वती प्रवेश कर गई, वे शब्द याज्ञवल्क्यमें प्रविष्ट हो गये। उसीका याज्ञवल्क्यने प्रवचन कर दिया। यही बात 'ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्याद् अवाप्तवान्' (याज्ञवल्क्यस्मृति प्रायश्चित्ताध्याय, यतिधर्मप्रकरण ४। ११०) श्रीयाज्ञवल्क्यके वचनसे भी सिद्ध होता है कि—बृहदारण्यक जो शतपथका ही भाग (१४ वां काण्ड) है, 'मुझे सूर्यसे मिला'। अतः स्पष्ट है कि—शतपथब्रा. सूर्यसे याज्ञवल्क्यको प्राप्त हुआ; उसने बनाया नहीं। इसलिए शतपथब्राह्मणके अन्तमें भी 'याज्ञवल्क्येन आख्यायन्ते' कहा है, 'निरमीयन्त' नहीं कहा। कहीं उसकेलिए 'निर्माण' आ जावे; वह 'मन्त्रकृत्' की

भांति औपचारिक-प्रयोग है, वास्तविक नहीं। अब यहां 'प्रवचन' अर्थ सिद्ध हो जानेसे ब्राह्मणभागकी हमसे साधित वेदता प्रशस्त ही सिद्ध हुई। तभी तो शतपथमें 'वदु होवाच याज्ञवल्क्यः' यहां वच् वा ब्रू ञ् का प्रयोग आता है—'निर्ममे' का नहीं। ऋषिप्रोक्त होनेसे ब्राह्मणभागके ऋषिनिर्मित माननेपर मन्त्रभागके भी कुथुम, पिप्पलाद, याज्ञवल्क्य, शाकल्य, शौनक आदिसे प्रोक्त होनेसे वह भी 'ऋषिनिर्मित' होकर प्रतिपक्षके पक्षको छिन्न करने वाला बनकर, उसीके द्वारा हमारे पक्षको सिद्ध करने वाला बन जावेगा।

(९) आगे प्रतिपक्षका उल्लेख है कि—'अथर्ववेद शौनक-ऋषिको प्रतिभात नहीं हुआ, किन्तु उसकी एक शाखा जो पाठान्तरपूर्वक चली थी, उसका ही वह निर्माता है' (पृ० ८३)। तब तो यह 'ये त्रिषप्ताः' वाला अथर्ववेद जिसे प्रतिपक्ष खण्डित-प्रतिलिपियोंके अनुसार हेरफेर वाला मानता है, यह शौनक-शाखा ही तो है, यह सभी वादी-प्रतिवादी मानते हैं। आर्यसमाज इसे ही चतुर्थवेद मानता है; पर अब प्रतिपक्षने आर्यसमाजकी उसी अथर्ववेदसं. को 'शौनकनिर्मित' मानकर उसे 'अवेद' सिद्ध कर दिया।

वस्तुतः अन्य तीन वेदोंकी भांति अथर्ववेद भी कहीं नहीं मिलता। जहां मिलती है, वहां अथर्ववेदकी संहिता ही मिलती है। फिर प्रश्न होता है कि—यह अथर्ववेदकी कौन-सी संहिता है? इसका उत्तर होता है कि—यह शौनक-संहिता है, यह पैप्पलाद-संहिता है—इत्यादि। इसी प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद भी कहीं नहीं मिलते, किन्तु ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेदसंहिता और सामवेद-संहिता ही मिलती हैं। यह संहिताएं शाखाएँ हैं सो शाखाएँ वेद सिद्ध हुए। शाखाओंसे भिन्न शाखी कहीं मिलता भी नहीं।

(१०) यह भी कथन अपूर्ण है कि—'वस्तुतः अथर्ववेद अङ्गिरस् ऋषिको ही आर्ष-ज्ञानमें प्रतिभात हुआ है'। इस वाक्यसे प्रतिपक्षको 'ही' शब्द निकालना पड़ेगा; क्योंकि—अथर्वा तथा अङ्गिरा, यह दोनों तथा ब्रह्मा—इस चतुर्थ वेदके द्रष्टा हैं। इसलिए इसका प्राचीन नाम 'अथर्वाङ्गिरसवेद' है, अथवा ब्रह्मवेद है। चतुर्थवेद स्वयं भी अपना यही नाम बताता है—'अथर्वाङ्गिरसो मुखम्' (अ. १०।७।२०) 'आथर्वणानां चतुर्ऋचेभ्यः स्वाहा' (अ. १९।२३।१) 'आङ्गिरसानामाद्यैः पञ्चानुवाकैः स्वाहा' (अ. १९।२२।१) इन मन्त्रोंमें अथर्वा और अङ्गिरा यह दोनों नाम आये हैं। केवल अङ्गिराः को प्रतिभात होता; तो इसका नाम 'अङ्गिरोवेद' होता। अथर्वा बहुत सूक्तोंका ऋषि है, अङ्गिरा थोड़ोंका; अतः 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे इसका नाम प्रायः अथर्ववेद प्रसिद्ध हो गया है, यह सूक्तोंके ऋषि देखकर जाना जा सकता है। यह तो ऋषि हैं; पर अग्नि, वायु, आदित्य तो ऋषि नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष देवता हैं—'अग्निर्देवता, वातो देवता, सूर्यो देवता' (यजु. १४। २०) इनकेलिए क्वचित् कहा गया 'ऋषि, शब्द यौगिक है। यह ऋषि-जातिके नहीं, देव-जातिके हैं। 'य एष तपति, पवते' इत्यादिरूपसे प्रत्यक्ष दृश्यमान देवता हैं। इस अथर्वसं. के योजनाकर्ता शौनक—पिप्पलाद आदि नौ ऋषि प्रवचनकर्ता हैं। यह संहिताएं इन ९ ऋषियोंको प्रतिभात हुईं। अतः संहिताओंका नाम इन्हीं नौ के नामोंसे हैं। अथर्वाङ्गिरोवेद-शौनकसंहिता, अथर्वाङ्गिरोवेद-पैप्पलादसंहिता आदि' संक्षेपमें अथवा प्रवचनमें अथर्वाकी प्रधानतासे अथर्ववेदसं. यह नाम प्रसिद्ध हो गया है। अतः मन्त्रभाग भी ब्राह्मणभागकी भांति ऋषि-

प्रोक्त है, वेदके दोनों ही भाग हैं।

(११) मैंने लिखा था कि-'आर्यसमाजके मान्य नेता स्वा. द. जीके कट्टर-भक्त श्रीब्रह्मदत्त-जिज्ञासु जी ब्राह्मणभागको मन्त्रभागका सीधा भाष्य नहीं मानते, किन्तु 'वेदार्थोपबृंहक' मानते हैं। हमारे अनुसार मन्त्रभाग-ब्राह्मण-भाग एक-दूसरेके शेष-पूरक हैं'। इस पर प्रतिपक्ष कहता है—'आरण्यक और ब्राह्मण दोनों हो 'वेदार्थोपबृंहक' नहीं कहे जा सकते हैं। इस वेदार्थोपबृंहक शब्दका प्रयोग ही यहां अयुक्तरूपमें हुआ है। (पृ. ८२) यह कहकर प्रतिपक्षने यजुर्वेदभाष्यविवरण-कर्ता 'वेदवाणी'-सम्पादक, आर्यसमाजके मान्य नेता, श्रीब्रह्मदत्त जिज्ञासु जीका मत अयुक्त सिद्ध करके उनके अनुसार जो हमारा पक्ष अंशतः सिद्ध होता था, उसके हटानेकी चेष्टा की है। तब उनके मतमें हमारा पक्ष अक्षत ही रहा, अर्थात्-ब्राह्मणभाग मन्त्रभागका सीधा व्याख्यान नहीं, अनुशीलन करनेसे भी यह स्पष्ट सिद्ध होता है। तब स्वा. द. जीका 'वेदव्याख्यानात्' हेतु भी हेत्वाभास सिद्ध हुआ।

(ख) प्रतिपक्षके मतमें भी 'वेदव्याख्यानात्' यह स्वा. द. जीका हेतु ठीक नहीं है क्योंकि-पृ. ६५ में 'व्याख्यान'का लक्षण प्रतिपक्षने यह किया है-'पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना। आक्षेपोथ समाधानं व्याख्यानं षड्विधं स्मृतम्'। तब बतलाना चाहिए कि-ब्राह्मणभागमें प्रतिमन्त्रके पदच्छेद कहां किये हैं? व्याकरणादिको रीतिसे पदोंका अर्थ प्रसिद्ध प्रकारसे कहां लिखा है? प्रकृति-प्रत्यय समासादिका विभाग कहां दिखलाया है? आक्षेप हटाकर भावका निर्णय कहां किया है? क्या टीकाका ढंग यही हुआ करता है, जो ब्राह्मणभागमें है? यदि यह टोका थी; तो फिर वेङ्कटमाधव, सायणाचार्य आदिको टीका क्यों करनी

पड़ी? जब ब्राह्मणभाग मन्त्रभागका शेष-पूरक सिद्ध है, टीकात्मक व्याख्यान नहीं, तब ब्राह्मणकी अवेदतामें स्वा.द.जी द्वारा दिये हुए 'वेदव्याख्यानात्' इस हेतुको क्या प्रतिपक्ष अपने व्याख्यानके लक्षणसे विरुद्ध होनेसे हेत्वाभास माननेकी उदारता दिखलाएगा?'

(१२) मैंने लिखा था कि-स्वा.द. व्याकरणके व्याख्यान महाभाष्यको भी व्याकरण मानते हैं। एक सभामें व्याकरण-विषयक शास्त्रार्थ शुरू हुआ था। स्वा.द.जीने मैथिल पण्डितपर महाभाष्यका प्रश्न कर दिया; पर मैथिल-पण्डितने कहा कि-महाभाष्य तो व्याकरण ही नहीं। स्वामीजी उस सभासे यह कहकर उठ आये कि-जहां महाभाष्यको व्याकरण नहीं माना जाता, मैं उस सभामें बैठनेको तैयार नहीं'

जिस प्रकार व्याकरणके अर्थ महाभाष्यको स्वामीने व्याकरण माना, मूलशब्दका नाम 'अष्टाध्यायी' और अर्थ तथा परिबृंहणका नाम महाभाष्य है, पर व्याकरण दोनों ही हैं; इस प्रकार वेदके व्याख्यानका नाम भी वेद होगा, शब्दका नाम भी वेद है। भेद यह है कि-मूलका नाम अष्टाध्यायीकी भांति मन्त्रभाग और अर्थका नाम महाभाष्यकी भांति ब्राह्मणभाग है; पर वेद दोनों ही हैं'।

इस पर प्रतिपक्ष लिखता है-'महाभाष्यको भी व्याकरणके नामसे जैसे पुकारा जाता है, वैसे ही गौणरूपसे, पारिभाषिकरूपसे ब्राह्मणोंको वेद नामसे पुकारनेमें हमें कोई आपत्ति नहीं, किन्तु पाणिनिप्रोक्तत्वेन व्याकरण केवल अष्टाध्यायी है, अन्य नहीं। इस ही प्रकार ईश्वरीयज्ञानत्वेन वा ईश्वरोक्तत्वेन वेदत्व केवल वेदचतुष्टयमें है, शतपथादि-ब्राह्मणोंमें नहीं। यदि आप भी ऐसा मानते हैं; तो कोई झगड़ा नहीं'। (पृ०८२-८३)

फिर तो व्याकरणपर प्रश्न करनेके समय अष्टाध्यायीमें प्रश्न न कर स्वा.द.जीने उस मैथिलपर महाभाष्यमें प्रश्न कर डाला, यह प्रतिपक्षके अनुसार वैदिक-स्वामीजीकी भूल रही। फिर तो वह पौराणिक मैथिल-पण्डित ही ठीक रहा, तो क्या प्रतिपक्ष भी मैथिल-पण्डितके अनुयायी हुए, स्वा.द. जीके नहीं ? यदि आप भी महाभाष्यको व्याकरण नहीं मानेंगे; तो स्वा०द०जी भी आपके समाजसे उठ जावेंगे। यदि आप भी महाभाष्यको व्याकरण मान लेंगे, उसी हिसाबसे ब्राह्मणभाग भी वेद रहेगा। नहीं तो ऋभाभू०के स्वामीके ही किये अनुवादको ऋभाभू० न मानकर 'पुराण-भूमिका' मान लेना पड़ेगा।

फिर जो व्यक्ति ऋभाभू०के हिन्दी अनुवादका ऋभा०के नामसे उद्धरण देते हैं; उसे भी स्वा०द०जीकी ऋभाभू० नहीं कहा जा सकेगा। फिर जो कि—वर्णव्यवस्थाके गुरुकुलमें हुए शास्त्रार्थमें श्रीइन्द्रचन्द्रजीने 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' का ऋभाभू०का किया अर्थ 'इस ईश्वरकी आज्ञासे' किया था; यह मूल संस्कृतमें न होने से केवल उसके अर्थमें होनेसे उसे फिर स्वा०द० जीकी ऋभाभू० का नहीं माना जावेगा; तब मुखादि अङ्ग परमात्माके ही मानने पड़ेंगे-यह स्वामीका अनिष्ट होगा।

तब तो स्वा०द०जीके सत्यार्थ-प्रकाश तथा संस्कारविधि आदि सभी ग्रन्थोंको भी स्वा०द०जीका स.प्र. आदि न मानना पड़ेगा। इसे पं. चन्द्रशेखरकी स.प्र. आदिकी टीका माननी पड़ेगी। क्योंकि—स्वामी या तो गुजराती जानते थे या संस्कृत; यह आर्यसमाजी कहते हैं, उसीमें वे बोलते थे। पण्डित लोग उनकी संस्कृत वा गुजरातीका अनुवाद कर दिया करते थे। यह प्रतिपक्षने भी 'वेदसंज्ञाविमर्श' (पृ.७४) में लिखा है कि—'स्वामीजी अपनी भाषामें बोलते थे, और पं० चन्द्रशेखर लिखते थे। स्वामीजी हिन्दी तो जानते ही नहीं थे, संस्कृतमें ही बोलते थे, और पं. चन्द्रशेखर हिन्दीमें अनुवाद करके लिखते थे'। तब तो स्वा०द० जीकी मूल-पुस्तक आर्यसमाजमें कोई भी नहीं रही, स्वा.द. जीका सभी-कुछ समाप्त होगया। इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश तथा स्वा. द.जीके नामकी संस्कारविधि, भ्रमोच्छेदन, गोकरुणानिधि आदि सभी पुस्तकें अब स्वा.द. जीकी नहीं माननी पड़ेंगी; और उन पुस्तकोंका वह-वह नाम न मानना पड़ेगा। अब यह वर्तमान आर्यसमाज भी स्वा.द.जीसे प्रचालित नहीं मानना पड़ेगा; किन्तु स्वा.द.जीके अनुवादकोंसे प्रचलित मानना पड़ेगा। अनुवादको भी स्वा.द.जीकी पुस्तकें माननेकी भांति वेदके परमात्मकर्तृक-अनुवाद ब्राह्मणको भी फिर मुख्य वेद मानना पड़ेगा। यदि यह नहीं; तो वह भी नहीं।

स. प्र.के द्वितीयसंस्करणके विषयमें भी प्रतिपक्षने 'वेदसंज्ञा-विमर्श' (पृ०८८) लिखा है—'यद्यपि सत्यार्थप्रकाशकी हिन्दी भाषा है, तथापि इसका भाव बड़ा गम्भीर है और ऋषिदयानन्दकी हिन्दीभाषा मातृभाषा नहीं थी, अतः अर्थ और गम्भीर हो जाता है'। इससे स्पष्ट है कि—स्वा०द० जीकी वर्तमान स० प्र० आदि पुस्तकोंको जो संस्कृत वा गुजरातीसे श्रीभीमसेन तथा श्रीचन्द्रशेखर आदिसे प्रतिपक्षके अनुसार अनूदित हैं—फिर भी उन्हें स्वामीजीकी पुस्तक तथा उसी नामवाली पुस्तक माना जाता है; इसी प्रकार व्याख्यानरूप ब्राह्मणके विषयमें भी समझ लें। यदि प्रतिपक्ष वैसा नहीं मानता; तो फिर स्वा.द. जीकी हिन्दी में अनूदित पुस्तकोंके स्वामी स्वा.द. जी न होकर उनके स्वामी श्रीचन्द्रशेखर पं. भीमसेन वा पं.ज्वालादत्त आदि मानने पड़ेंगे। पुस्तकोंके वही स.प्र. आदि नाम भी न रखने पड़ेंगे; स्वा.द.का चित्र

हटाकर अब आर्यसमाजमें पं. भीमसेनजी आदिका चित्र रखना चाहिये। पर आर्यसमाज ऐसा नहीं मानता; किन्तु उन अनूदित पुस्तकोंके कर्ता भी स्वा. द. जी ही माने जाते हैं; इससे प्रतिपक्ष-को भी मानना पड़ेगा कि-मन्त्ररूप शब्द और ब्राह्मणरूप अर्थ दोनों ही वेद हैं। ऋषि दोनोंके ही प्रवचनकर्ता थे; निर्माता नहीं। फिर तो वार्तिकपाठको भी पाणिनिप्रोक्तत्व न होने से, और अष्टाध्यायीका शेषपूरक अनुवाद होनेसे अष्टाध्यायीसे भिन्न होनेसे, प्रतिपक्षीको व्याकरण नहीं मानना पड़ेगा।

वस्तुतः 'त्रिमुनि व्याकरणम्' होनेसे 'तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति' मूल और उपबृंहक-भाष्य दोनों मिलकर ही व्याकरण होते हैं। यह औपचारिकता वा पारिभाषिकता नहीं, किन्तु सिद्धान्त है। तभी तो अर्थरूप उपबृंहक महाभाष्यमें जहां पाणिनिकी बातें काटी गई हैं, वहां भाष्यकी ही बात प्रमाण मानी जाती है। जैसे वार्तिक और महाभाष्य अष्टाध्यायीकी सीधी व्याख्या नहीं किन्तु शेषपूरक हैं; अतः उसे तथा अष्टाध्यायी दोनोंको ही व्याकरण माना जाता है, वैसे ही ब्राह्मणभाग मन्त्र-भागका सीधा व्याख्यान नहीं, किन्तु शेषपूरक एवं उपबृंहक होनेसे वेद ही है। तब प्रतिपक्षका पक्ष उपादेय नहीं। दयानन्द-जन्मशताब्दीमें संस्कृतमें अनूदित 'सत्यार्थप्रकाश' का नाम भी 'सत्यार्थप्रकाश' ही रखा गया था, 'काव्यतीर्थपुराण' नहीं।

वस्तुतः मन्त्रभाग तथा ब्राह्मणभाग यह दोनों ही भाग हैं। स्वा०द० जी भी दोनोंको 'भाग'शब्दसे प्रयुक्त करते हैं जैसे कि-'वेद मन्त्रभाग (स.प्र. ७ पृ. १२७) 'ईश्वर-प्रणीत संहिता मन्त्र-भाग' (स्वमन्तव्यान्तव्य १) 'महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेद-संज्ञां मत्वा' (ऋभाभू. पृ. ८६) यहां स्वामीने 'मन्त्रभाग' शब्दका प्रयोग किया है, सो वह भी भाग हुआ, 'फिर ब्राह्मणभागको भी'

(ऋभाभू. पृ ८१) 'ब्राह्मणभागका नाम पुराण है'(पृ. ८४) 'ब्राह्मण-भागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो न स्वीक्रियते' (पृ. ८०) यहां स्वामीने 'ब्राह्मणभाग' शब्दका भी प्रयोग किया है। सो दोनों ही जब स्वामीके अनुसार भी 'भाग' हैं; तब स्पष्ट हो गया कि-मन्त्रभाग भी भाग है, 'भागी' नहीं। ब्राह्मणभाग भी भाग है,'भागी' नहीं। भागी वेद ही हुआ अर्थात् दोनों भाग मिलकर भागी वेद बनता है। तब मन्त्र-ब्राह्मण दोनों ही भाग वेद सिद्ध हुए। तब जो अपने पत्र-व्यवहारमें प्रतिपक्षने 'मन्त्रः-ब्राह्मणम्' आदि प्रमाण दिये हैं, उनसे स.ध.के पक्षकी सिद्धि होती है। जैसे निरुक्तमें-'अहि-वत्तु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च' (२। १६। ३)। यहां 'मन्त्र-वर्णाः' है 'वेदवर्णाः' नहीं। प्रतिपक्षको तो 'वेदः-ब्राह्मणम्' ऐसे प्रयोग ढूंढने चाहियें, उनका भी समाधान हमने 'आलोक' (६) (पृ० १५५-५६) में कर दिया है, अतः वे भी उनके अभीष्ट-साधक नहीं।

(१३) प्रतिपक्ष लिखता है-'ब्राह्मणभागकी यदि पुराणसंज्ञा कर दी जायगी, तो वह तो जायसीके पद्मावत-काव्यके समान लोकाख्यानरूप हो जायगा, और है। अतः उसे वेदसमता कदापि नहीं दी जा सकती' (पृ. ८०) ऐसा नहीं। जैसे ब्राह्मण-भागमें इतिहास अर्थवाद हैं, बल्कि मन्त्रभाग-प्रोक्त सूत्रात्मक इतिहास-का ही विवरण हैं स्वतन्त्र नहीं, क्योंकि-वे (ब्राह्मण) मन्त्रस्थित इतिहासको विवृत करके फिर कहते हैं-'तस्मादेतद् ऋषिणाऽभ्य-नूक्तम्', सो मन्त्रभागमें भी सूत्रात्मक इतिहास हैं। दोनों स्थान समान ही उत्तर है कि-प्रवाहनित्यता। अथवा 'ऋषीणां पुन-राद्यानां वाचमर्थोनुधावति' के अनुसार भविष्यद्-निर्देश है। इससे दोनों भागोंके वेदत्वमें क्षति नहीं पड़ती। ब्राह्मणभागको वैदिककालके विद्वानोंसे लेकर अब तक सभीने वेद माना है।

इसे 'आलोक' के छठे पुष्पमें (पृ. १०५ से ११६ तक) दिखला दिया गया है। फिर उसमें प्रतिपक्षका औपचारिकता वा पारिभाषिकता बताना केवल आत्मपक्षकी दुर्बलताके संरक्षणार्थ है।

वादिप्रतिवादिमान्य श्रीपाणिनि-श्रीयास्क-श्रीपतञ्जलि आदिने सभी ११३१ संहिताओं तथा ब्राह्मणभागको भी वेद माना है। देखिये श्रीपतञ्जलिका 'सर्वे देशान्तरे' वार्तिकका भाष्य। 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' (पा. १।१।१६) में 'आर्ष' शब्द वेदके लिए लिखा है। 'वेदसंज्ञाविमर्श' (पृ. ११८) में प्रतिपक्षने भी लिखा है—'ऋषि' शब्दका अर्थ है 'वेद'। जैसाकि—'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे'। सो इसी सूत्रके 'ऋषि' (वेद) का सर्वसम्मत उदाहरण 'ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्' यह वर्तमान चारों वेद-पोथियोंमें न मिलकर कृ. य. काठक. (१०।६) तथा ऋ. ऐत. (७।२७) में मिलता है। सो इस प्रतिपक्षसम्मत-निर्देशसे भी सभी शाखा तथा ब्राह्मण वेद सिद्ध हुए। भाषा (लोक)का कोई भी उदाहरण, कहीं भी ब्राह्मणभागका नहीं दिया गया। अतः स्पष्ट है कि-ब्राह्मण भाषा (लोक) नहीं, किन्तु उसका प्रतिद्वन्द्वी वेद है। 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' (पा. ७।२।८८) भाषामें 'युवां' बनता है। भाषासे भिन्न वेदमें 'युवं' बनता है। ब्राह्मणभागमें भी 'युवं' बनता है, 'युवां' नहीं। देखिये 'युवं वै ब्रह्माणौ' (शत० ८।२।१।३) 'युवमिदं निष्कुरुतं' (ऐ. ब्रा. २।२८)। इससे ब्राह्मणभाग भी वेद सिद्ध हुआ। यदि 'आलोक'के ४र्थ पुष्प, छठे पुष्प एवं ८म पुष्पमें यह विषय समाहितचित्त होकर पढ़ लिया जावे; तो इस सम्बन्धकी सभी शंकाएं विलीन हो जाएं।

(१४) 'त्र्यायुषं जमदग्नेः'का स्वामी जीका किया अर्थ ठीक नहीं था; इसपर हमने जो आपत्तियां खड़ी की थीं, (छठा सुमन पृ. ६७-६८-६९), उनका प्रतिपक्ष-द्वारा उद्धार नहीं किया गया। हमने लिखा था कि—'चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः' इसमें 'वै' शब्दसे 'जमदग्नि' चक्षुका पर्याय-वाचक नहीं हो जाता। नहीं तो 'आयुर्वै घृतम्' (कृ य तैसं. २।३।२।२)के अनुसार 'घृतं' को भी 'आयु' का पर्यायवाचक मान लिया जावे। फिर तो 'त्रयो वेदा एत एव—वागेव ऋग्वेदः, मनो यजुर्वेदः, प्राणः सामवेदः' (शत. १६।४।३।१२) इससे ऋग्वेदादिको भी वाक् आदिका पर्यायवाचक मान लिया जावे; तब 'तस्माद् यज्ञात्-सर्वहुत ऋचः'का जो कि स्वा.द.जीने 'तस्माद् यज्ञात्-पूर्णात् पुरुषाद् ऋग्वेदादयः चत्वारो वेदाः प्रकाशिताः' (ऋभाभू. पृ. १०) यह वेदोंके प्राकट्यका जो इतिहास लिखा है-यह स्वा.द.जीका अर्थ अशुद्ध हो जायगा'। इस पर प्रतिपक्षने कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दिया।

अथर्वा-अंगिरा विशेष ऋषि हैं, जिन्हें अथर्ववेद प्रतिभात हुआ, उनका नाम भी 'अथर्वांगिरसो मुखम्' (अथर्व. १०।७।२०) इत्यादि मन्त्रोंमें जो (१० म संख्यामें पूर्व दिखलाये जा चुके हैं) आता है, सो मन्त्रभाग-ब्राह्मणभाग दोनोंमें इतिहास बराबर सिद्ध होनेसे उसमें एकमात्र ब्राह्मणको वेदत्वसे च्युत नहीं किया जा सकता।

जो कि 'स्वा.द. आदि विद्वानों की तीन-चार सौ वर्षकी आयु क्यों न हुई, इसलिए स्वामीजीका उक्त अर्थ ठीक नहीं' इस हमारे कथनपर प्रतिपक्षने लिखा है कि—विषदानादिद्वारा उनकी आयु समाप्त कर दी गई' तब क्या प्रतिपक्ष 'अकालमृत्यु' मानता है ?, क्या मनुष्यका सामर्थ्य है कि—पुरुषकी परमात्मासे दी हुई आयु काट सके ? आयु होनेपर विषदाता वा घातक पास तक नहीं फटक पाता, असफल हो जाता है। 'वेदोंका यथार्थ-

स्वरूप' (पृ० ४३४) में ऋ० ३। ५९। २ मन्त्रका अर्थ लिखते हुए आर्यसमाजीविद्वान् श्रीधर्मदेवजी विद्यामार्तण्ड (गुरुकुल कांगड़ी) लिखते हैं—'परमेश्वरके अटल नियम हैं। जो उनके अनुसार अपनेको चलाता है, वह पूर्ण दीर्घायुसे पूर्व मरता नहीं, न वह किसीसे दबता है। उसको पाप दूरसे नहीं प्राप्त होता"

स्वा.द.जीने 'देवेषु त्र्यायुषं'के अर्थमें विद्वानोंकी ३०० वर्षकी आयु लिखी थी, तो आर्यसमाजमें कोई भी तो ३०० वर्षकी आयु का नहीं हुआ।' इसमें या तो कोई विद्वान् नहीं हुआ; यह मानना पड़ेगा, या फिर 'देव'का अर्थ 'विद्वान्' अशुद्ध मानना पड़ेगा। इसपर प्रतिपक्षके पास कुछ भी उत्तर नहीं है।

यदि प्रतिपक्षके अनुसार कर्मगतिके कारण बीचमें आयु-का टूट जाना माना जावेगा; तो फिर कोई प्राचीनता (जैसे ब्राह्मणभागकी वेदता, मूर्तिपूजा आदि) को नष्ट करना, तथा अनृत अर्थ करना आदि उनका असत्कर्म मानकर उनकी आयु बीचमें टूटना मानकर उनके सिद्धान्तोंको 'असत्' भी कह सकता है। तब देवों (विद्वानों) की निश्चित आयु ३०० वर्षकी कहना भी ठीक नहीं रहता। आर्यसमाजकी एक शताब्दी होने वाली है, कोई विद्वान् तो उसमें ३०० वर्षकी आयुका होना चाहिये था? तब यहांके 'देव' शब्दका 'विद्वान् मनुष्य' अर्थ करना स्वामीका ठीक नहीं—इस विषयमें 'आलोक' (४ र्थ पुष्प) में 'क्या विद्वान् मनुष्य ही देव हैं' तथा 'मनुष्ययोनिसे देवयोनिकी भिन्नता' यह दो निबन्ध (पृ० ४२१-४३७ तथा ४०५-४२० पृ०में) देखने चाहियें। 'त्र्यायुषं'का ४०० वर्ष अर्थ भी कैसे कर दिया गया?'

यदि नित्य होनेसे 'जमदग्नि ऋषि'का अर्थ 'चक्षु' किया गया है, तो यह व्याज भी व्यर्थ है; क्योंकि-ऋषि भी नित्य हैं,

वेदके साथ वे भी होते हैं। देखिये—'नामधेयानि चर्षीणां याश्च वेदेषु सृष्टयः। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः' (महा. शान्ति. २३२। २५) 'नामधेयानि चर्षीणां याश्च वेदेषु सृष्टयः। शर्वर्यन्ते सुजातानामन्येभ्यो विदधात्यजः' (२६) अर्थात् जो वेदोंमें ऋषियोंके नाम हैं, परमात्मा उसीके अनुसार ऋषियोंको उत्पन्न वा प्रकट करता है। प्रतिपक्ष भी 'वेदसंज्ञाविमर्श' (पृ० ६२) में इस पद्यको प्रमाणित करता है। तब वेदमें लिखे अनुसार ही सृष्टिकी आदिमें परमात्मासे उत्पादित वेदके प्रवाहनित्य ऋषि अनित्य कैसे हुए, जो कि प्रतिपक्ष ऋषियोंका चक्षु आदि अर्थ करने बैठा? । तब 'वेदमें कोई ऋषियोंका संज्ञाशब्द नहीं; संज्ञा-शब्दोंकी व्युत्पत्ति नहीं होती' यह श्रीबुद्धदेवजी आदिका पक्ष भी खण्डित हो गया। 'यथा नाम तथा गुणः' के अनुसार ऋषि-योंके नाम भी गुणानुसारी थे; इसलिए योगरूढ थे। योगरूढ शब्दोंकी वेदमें सत्ता स्वा.द.जी भी मानते हैं, देखो इसपर 'आलोक' अष्टम पुष्पका पृष्ठ १५४-१५५-१५६-१५७।

जब-जब परमात्मा वेदको प्रकाशित करनेकी इच्छा करता है, तब-तब वेदोल्लिखित ऋषियोंको भी प्रकट करता है, और उन्हींके द्वारा मन्त्रोंको भी प्रकाशित करता है। सो ऋषियोंकी तथा देवोंकी भी जाति होती है। जैसे कि—न्यायमुक्तावलीमें सूचित किया है—'न च नृसिंहशरीरे कथं लक्षणसमन्वयः, तत्र नृसिंहस्य एकव्यक्तिवृत्तितया जातित्वाभावात्, जलीयतैजस-शरीरवृत्तितया देवस्यापि जातित्वाभावादिति वाच्यम्, कल्पभेदेन नृसिंहशरीरस्य नानात्वेन नृसिंहत्वजात्या लक्षणसमन्वयात्' (३८) यहां नृसिंहका उदाहरण उपलक्षणपरक है; सो देवताओं तथा वेदस्थित ऋषियोंका भी जातित्व है; तभी 'जातेरस्त्री' (पा. ४। १। ६३) के वार्तिक 'गोत्रं च चरणैः सह' से उन-उन संहिता-

न्त्रोंके द्रष्टा वा प्रवचनकर्ता ऋषियोंकी जातिसंज्ञा होकर स्त्रीलिङ्गमें जातिलक्षण ङीष् किया जाता है–'कठी कलापी'। कई आर्यसमाजी भी अग्नि-वायु आदि ऋषियोंको वेदद्रष्टा होनेसे इन्हें उपाधि वा जाति मानते हैं। इससे भी वेदमें चाहे मन्त्रभाग हो, चाहे ब्राह्मणभाग, उनमें ऋषियोंके इतिहाससे नित्यतावश वेदत्वकी क्षति नहीं होती। तब चक्षु आदि अर्थ-कल्पना और श्रीबुद्धदेवजीका इनके अर्थोंमें आकाश एवं पातालके कुलावे मिलाना व्यर्थ है। वेदके साथ वेदके ऋषि तथा देवता भी रहें; इससे वेदत्वकी कुछ भी हानि नहीं। नहीं तो वेदमें ही वेदके आर्यसमाजानुसार ग्राहक अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा, अथर्वा आदिका नाम नहीं आना चाहिये। परन्तु आता है। बल्कि—स्वा. द.जीने तो 'अग्ने! देवेषु प्रवोचः' (ऋ. १।२७।४) इस मन्त्रमें 'अग्निवाय्वादित्याङ्गिरस्सु मनुष्येषु (ऋषिषु) प्रोक्तवान्'–इस प्रकार भूतकालमें भी उन्हें वेदोपदेश मान लिया है।

और फिर 'शतपथ'के 'चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः' इस वचनमें 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' (यजुः३।६२) इस मन्त्रकी व्याख्या भी नहीं। वहां तो 'वसिष्ठ ऋषिः ······त्वया प्राणं' (यजुः १३।५४) भरद्वाज ऋषिः······त्वया मनः' (५५) जमदग्निर्ऋषिः······त्वया चक्षुः' (५६) 'विश्वामित्र ऋषिः·····त्वया श्रोत्रं' (५७) 'विश्वकर्मा ऋषिः······त्वया वाचं (५८) इन याजुष मन्त्रोंके कारण वसिष्ठ आदिमें 'त्वया प्राणं, त्वया चक्षुः' प्राणत्व-चक्षुष्ट्व आदिका आरोप किया गया है, जिससे शतपथने भी 'प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः' आदिमें 'वै' शब्दसे 'आयुर्वै घृतम्' (कृ.य. तै. सं. २।३।२।२) की भान्ति चक्षु आदिका आरोप बताया है। यह नहीं कि वहां पर्यायवाचकता हो जावे। वहां यह बनाया गया है कि–वसिष्ठ प्राणकी भांति श्रेष्ठ होनेसे वसिष्ठ

कहे जाते हैं। सो वहां 'मनोरूपो भरद्वाज ऋषिः, विश्वामित्रर्षिरूपं यत् श्रोत्रम्, ईदृशम् (जमदग्निसदृशं) यत् चक्षुः' इत्यादि आरोप महीधरभाष्य आदिमें स्पष्ट हैं। सो यह अतिदेश (सदृशता) है, पर्यायवाचकता नहीं। 'वति' प्रत्ययके विना भी अतिदेश हो सकता है। जैसे कि महाभाष्यमें कहा गया है–'अन्तरेणापि वतिम् अतिदेशो गम्यते। तद् यथा–'एष ब्रह्मदत्तः।' अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह–ते [वयं, तेन] मन्यामहे–ब्रह्मदत्तवद् अयं भवति' ('बहुगण' सूत्रमें)

सो ऋषियोंके नाम 'यथा नाम तथा गुणः' होनेसे यौगिक होकर उन्हींमें रूढ अत एव योगरूढ थे, जैसे 'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः' (रघु. २।५३) यहां क्षत्रशब्दकी व्युत्पत्ति करके उसे एक जातिमें योगरूढ बताया गया है। 'योगरूढ' शब्द वेदमें स्वा.द.जी भी मान गये हैं; देखो उनकी निघण्टुकी भूमिका अथवा 'आलोक' (८) का पृ. १५४ देखें। सो ऋषियों वाला वही गुण 'चक्षु' आदिमें देखकर उक्त विशेष-मन्त्रोंमें उन्हें 'तद्व्यपदेश्य' कह दिया गया। अतः यहां पर्यायवाचकता नहीं हो जाती। जैसे कि–श्रीविद्याधरजी आर्यसमाजमें जब आवें, तो कोई आर्यसमाजी उन्हें कहे कि–आइये ऋषिदयानन्दजी !!!' सो इससे मन्त्रीजी स्वा.द. जी नहीं बन जाते, किन्तु स्वामीजी वाले गुण होनेसे उन्हें 'तद्व्यपदेश्य' कहा जाता है। इसे भक्तिवाद वा अर्थवाद कहते हैं। यह प्रकार ब्राह्मणभागमें बहुत है। तभी तो श्रीयास्कको ब्राह्मणभागकेलिए कहना पड़ गया कि–'बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति। पृथिवी वैश्वानरः' (शत. १३।३।८।३), संवत्सरो वैश्वानरः (५।२।५।१५), ब्राह्मणो वैश्वानरः' (तै. ब्रा. ३।७।३।२) (निरुक्त ७।२४।६) 'बृहती' को ब्राह्मणमें मध्यम (बादल)

(ताण्डय ७।३।६), संवत्सर (शत. ६।४।२।१०), वाक् (१४।४।१।२२), मन (५।१०।३।१), सारे प्राण ऐत. ३।१४), व्यान (ताण्डच७।३।८) आत्मा (ऐ. ६।२८, गो० ३०।६-८) इन विविध नामोंसे केवल अर्थवाद द्वारा कहा गया है। यदि इसमें वास्तविकता मानी गई; तो 'आयुर्वै घृतम्' (कृ.य. तै. सं. २।३।२।२) जो कृष्णयजुः के ब्राह्मणमें कहा गया है; तो क्या आयुको घृतका, वा घृतको आयुका पर्यायवाचक मान लिया जावेगा ?।

यह अर्थवाद प्रधानतया तो ब्राह्मणभागका विषय है, पर मन्त्रभागमें भी कहीं-कहीं आ जाया करता है। इससे उक्त सीमित-मन्त्रोंमें कहा हुआ चक्षु आदि आरोप अन्य मन्त्रोंमें प्रसक्त न होनेसे 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' में वह आरोप 'अप्रसक्त' होजायगा। प्रतिपक्ष-द्वारा निरुक्तकारका दिया हुआ 'बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि' (पृ० ८१) यह वाक्य प्रतिपक्षके पक्षको न सिद्ध करके हमारा ही पक्ष सिद्ध कर रहा है कि—'चक्षुर्वै जमदग्नि-ऋषिः' इस आरोपमूलक भक्तिवाद (अर्थवाद)से चक्षु आदिको 'जमदग्नि' आदि कहा गया है कि—जैसे जमदग्नि-ऋषि सबका द्रष्टा था, वैसे चक्षु भी है, इससे पर्यायवाचकता नहीं हो जाती।

तब मन्त्रभागसे ऋषि आदिका इतिहास हटाया नहीं जा सकता। उसे भविष्यद्रूप मानना चाहिये—'ऋषीणां (वेदानां) पुनराद्यानां वाचमर्थोनुधावति' (उत्तरराम.१।१०) स्वा. द. जीके अनुसार भी ऐसे इतिहासोंसे वेदोंकी आदिमत्ता दोषका आसञ्जन तथा उससे वेदत्वकी क्षति नहीं होती। स्वा.द. जी 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीडयो नूतनैरुत' (ऋ: १।१।२) इस मन्त्रमें स्थित प्राचीन तथा नवीन ऋषियोंके कथनसे वेदोंकी आदिमत्ता दोषका आसञ्जन करने वाले मैक्समूलर आदिको डपटकर कहते

हैं—ईश्वरस्य त्रिकालदर्शित्वात्। ईश्वरो हि त्रीन् कालान् जानाति, भूत-भविष्यद्-वर्तमानकालस्थैर्मन्त्रद्रष्टृभिर्मनुष्यैः, मन्त्रैः, प्राणैः, तर्कैश्च ऋषिभिरहमेव ईडयो बभूव, भवामि, भविष्यामि च इति विदित्वा [परमेश्वरेण] इदमुक्तम्-इति अदोषः' (ऋभाभू. पृ. ८६) 'इस मन्त्रमें वेदोंके कर्ता त्रिकालदर्शी ईश्वरने भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालोंके व्यवहारोंको यथावत् जानके कहा है'...इससे वेदोंका सनातनपन तो सिद्ध होता है, वेदोंका नवीनपन होना किसी प्रकारसे सिद्ध नहीं हो सकता' (ऋभाभू. पृ. ८७-८८) ऐसा होने पर भी जब मन्त्रभागके वेदत्वकी क्षति नहीं; वैसे ब्राह्मणभागमें भी ऋषियोंके नाम आनेसे ब्राह्मणभागकी वेदत्वक्षति भी नहीं हो सकती।

'वेदव्याख्यानात्' पर जो हमने 'परिषद्यं ह्यरणस्य' आदि दो मन्त्र एक-दूसरेके अर्थके प्रदर्शक दिखलाये थे, और उसमें 'तस्य उत्तरा भूयसे निर्वचनाय' (अगली ऋचा पूर्वका सम्यक् व्याख्यान करती है) यह निरुक्तकारकी उसमें साक्षी भी दी थी; इस-पर प्रतिपक्ष लिखता है—'निरुक्तकारका कथन निस्सन्देह ही वेदात्मक नहीं हैं, उनका तात्पर्य निरुक्तकारने अपनी दृष्टिसे उस रूपसे उपस्थित किया है' (पृ.८१-८२) यहां प्रतिपक्षने स्वा.द.जी-मान्य निरुक्तकारपर भी अमान्यताका छींटा डाल दिया। उनकी साक्षीसे जो कि स्वा.द.जीका 'वेदव्याख्यानात्' हेतु ब्राह्मण भागकी अवेदतामें हेत्वाभास सिद्ध होता था, उसपर प्रतिपक्षने स्वामीका दर्जा निरुक्तकारसे भी बढ़ा दिया। यही पक्षपात पीछे अन्धश्रद्धामें परिणत हो जाया करता है। इसमें अन्य सार कुछ भी नहीं। उत्तर वेदमन्त्र जब पूर्वमन्त्रके अनुवादकी स्पष्ट साक्षी बतारहाहै, और इस प्रकारके मन्त्र प्रचुर-मात्रामें मिलते हैं—जिन केलिए निरुक्तकारने 'तस्य उत्तरा भूयसे निर्वचनाय' लिखा है,

निरुक्तकारने तो वह अनुवाद बनाया नहीं; वह तो वेदने बनाया है, तब वह पूर्वमन्त्रका अनुवादभूत उत्तरमन्त्र यदि अवेद नहीं हो जाता, जैसे कि-'आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्' । (ऋ.१०।९८।५) 'यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो' (१०।९८।७) यह दो मन्त्र एक-दूसरेके शेषपूरकात्मक अनुवाद हैं, तब मन्त्रभागके अनुवादभूत ब्राह्मणभागके अवेदत्वकेलिए दिया 'वेदव्याख्यानात्' यह हेतु निरस्त हो गया । मन्त्रका अनुवाद ब्राह्मण, मन्त्र भले ही न हो, पर वेद तो मन्त्र-ब्राह्मण दोनों ही सिद्ध हुए ।

(१५) 'ब्राह्मण' का अर्थ लिखते हुए 'वेदसंज्ञाविमर्श' (पृ. ५५ पं. १६-१७-१८-१९-२०में आर्यसमाजके मन्त्रीजीने लिखा है-' 'निम्नलिखित शास्त्रीय-प्रमाण भी ब्राह्मणकी वेदोंसे भिन्नता सिद्ध करते हैं—'चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिः-ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि' यह महाभाष्य (५।१।१) में कहा है ।

यहां आर्यसमाजके संयुक्त मन्त्रि-महाशयने इस अपने पक्षको सिद्ध करनेकी प्रसन्नतामें एक बड़े साहसका कार्य कर डाला है, जो बहुत खेदास्पद है। उन्होंने यह देखनेका कष्ट भी नहीं उठाया कि-यह पाठ हम जो अपने पक्षकी पुष्टिमें महाभाष्यके नामसे दे रहे हैं, वह महाभाष्यमें है भी सही, या नहीं ? यह जो महाशयजीने महाभाष्यकारके नामसे 'शास्त्रीय-प्रमाण' दे डाला है, वे यह जानकर चकित हो जाएंगे कि-यह महाभाष्यकारका शास्त्रीय-प्रमाण नहीं, किन्तु यह तो उन्होंने स्वा०द०जीकी ऋभाभू०के 'वेदसंज्ञाविचारविषय' (पृ० ६६) से स्वा०द०जी की अपनी संस्कृत लेकर महाभाष्यके नामसे उद्धृत कर डाली है। इस हमारी बात पर यदि प्रतिपक्षको सन्देह हो; तो वे अपने 'वेदसंज्ञाविमर्श- (पृ० ३८ पं. २०-२१) में स्वा. द. जीका ऋभाभू० का उक्त पाठ देखें। अपने पक्षकी सिद्धिकी इतनी प्रसन्नता नहीं होनी चाहिये कि-उसमें प्रमाणपर विचारा ही न जाय कि-यह अपनेसे स्मृत पुस्तकका है सही, या नहीं ? न विचारनेसे स्वयम् अपने पक्षकी निर्बलता ही प्रतीत होती है ।

मेरा अनुमान है कि-यह भूल उन्हें श्रीशिवपूजनसिंहजी कुशवाहाने जो स्वयं अनुसन्धान न करके अन्य आर्यसमाजियोंकी पुस्तकोंकी जूठन ले लिया करते हैं) कराई है। जैसे कि 'नीर-क्षीरविवेक' के १२६ पृष्ठमें स्वयं कुशवाहाजीने बड़े गौरवसे लिखा है—'वेदसंज्ञाविमर्श'में मेरा भी सहयोग था' (पं. १७)। फिर २६७ पृ. २२ पं. में कुशवाहा जी बड़े गौरवसे लिखते हैं—'उस ग्रन्थके प्रणयनमें मेरा भी हाथ है'।

सम्भवतः कुशवाहाजीने 'श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार'में अपना मुद्रित ब्राह्मणभागके अवेदता-विषयका निबन्ध मन्त्रिमहाशयको दे दिया होगा। उसमें कुशवाहाजीने-जहां तक मुझे स्मरण है-ऐसा ही लिखा था। यह भूल है, वा जानबूझकर महाभाष्यके नामसे वैसा प्रक्षेप कर दिया गया, यह हमें ज्ञात नहीं हो सका। यदि एक व्यक्ति ऐसा लिखता; तो भूल कही जा सकती थी; पर कई व्यक्ति ऐसा कह-लिख रहे हैं; तो यह कुचक्र जान-बूझकर किया हुआ मालूम होता है। अथवा यह अन्धपरम्परा वा गड्डलिका-प्रवाह वा भेड़ाचाल चल रही है।

वस्तुतः यह स्वा.द.जीमें अनर्गल-श्रद्धाका ही परिणाम है कि-उनके वाक्यको मूल पुस्तकमें देखनेकी आवश्यकता ही नहीं समझी जाती। इसमें अन्य प्रमाण यह है कि-जो इनके सम्प्रदायके सञ्चालककी कुछ आलोचना कर दे, तो उसे बड़ी अभद्र गालियां दी जाती हैं, इसमें जीता-जागता प्रमाण श्री-

शिवपूजनसिंह कुशवाहाजीका 'माधवमुखमहाचपेटिका' ('नीर-क्षीरविवेक'का दूसरा नाम) तथा डा. श्रीरामका 'पं. माधवाचार्यकी चुनौतीका उत्तर' है। ऐसी असभ्यता करके स्वयं ही यह स्वामीजीका 'सम्प्रदाय' सिद्ध किया जा रहा है। यह ठीक है कि—'अर्घो घटो घोषमुपैति नूनम्'। सभी ऐसे नहीं हैं, पर जिनको संस्कृतभाषाका भी पूरा ज्ञान नहीं है, वे सीमासे बाहर आ जाते हैं।

यही भूल श्रीधर्मदेवजी विद्यामार्तण्ड (गुरुकुलकाङ्गड़ी)ने भी 'वेदोंका यथार्थ-स्वरूप' (पृ. ११३ पं. २७-२८) में की है। वहां लिखा है—'ब्रह्मभिः-चतुर्वेदविद्भिर्ब्राह्मणैः प्रोक्तानि यानि वेद-व्याख्यानानि, तानि ब्राह्मणानि' (महा. ५।१।१) इस महाभाष्यकारसम्मत-निरुक्तिसे स्पष्ट ज्ञात होता है'। परन्तु यह कथन भी गलत है। यह महाभाष्यकारका वाक्य नहीं है, किन्तु यह स्वा.द.जीका अपना वाक्य है। सब शास्त्रोंमें क्षेप-प्रक्षेपकी चिल्लाहट करने वाले आर्यसमाजी ही स्वा.द.जीके अपने वाक्य-का अब महाभाष्यमें स्वयं प्रक्षेप कर रहे हैं। 'किमाश्चर्यमतः परम्'। यह स्वा.द.जीमें आर्यसमाजियोंकी अत्यन्त-श्रद्धाका ही परिणाम है कि—उनके वाक्यको मूल-पुस्तकमें देखनेकी आवश्य-कता ही नहीं समझी जाती।

दोबारा फिर यही भूल श्रीधर्मदेवजीने 'वेदोंका यथार्थ स्वरूप' (पृ. ३९९-४००)में इन शब्दोंसे की है—'उस (शुक्लयजुर्वेद) में मूल वेदमन्त्र ही थे, उनकी व्याख्या जो ब्राह्मणरूपमें है, पीछे की गई। जैसे कि महाभाष्यकार पतंजलिने ब्राह्मण-शब्दकी व्याख्या करते हुए ५।१।१ में कहा है—'चतुर्वेदविद्भिर्ब्र-ह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि, तानि ब्राह्मणानि''। वस्तुतः यह गलत है, महाभाष्यमें ऐसा नहीं

लिखा, यह तो स्वा.द.जीका निजी वाक्य है। स्वामीजीकी उस अपनी संस्कृतको महाभाष्यकारके नामसे दे देना स्वा.द.जीके अनुयायियोंका जघन्य कृत्य है। इससे ब्राह्मणभाग वेदत्वसे च्युत नहीं हो सकता। महाभाष्यकार तो ब्राह्मणभागको वेद ही मानते हैं, यह हम 'आलोक'के छठे सुमन (पृ. ९०-९१-९२-९३) में सप्रमाण दिखला चुके हैं।

(१६) अब संयुक्त-मन्त्री आर्यसमाज मेस्टन रोड, तथा मन्त्री केन्द्रीय-आर्यसभा कानपुर श्रीविद्याधरजी इसी प्रकार-की दूसरी अपनी भारी भूल भी देख लें। 'वेदसंज्ञाविमर्श' (पृ. ९० पं. ६-७)में आपने लिखा है—'शतपथब्राह्मणमें अन्यत्र भी स्पष्ट लिखा है—'चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिः-ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानीति'।

हा! यह कितना अनौचित्य है! पहले इसी स्वा.द.जीके वचनको महाभाष्यके नामसे लिखा गया था; अब उसीको शतपथब्रा.-के नामसे लिख दिया गया। ऐसा लिखकर प्रतिपक्षने अपने पक्षकी दुर्बलता प्रकाशित कर दी है। कौन-सा यह बड़ा प्रमाण है कि—इसी-को बार-बार दिया जा रहा है। यदि यह प्रमाण शतपथब्रा.का ही वस्तुतः है, तो उसका पता क्यों नहीं लिखा गया? अब भी बताया जा सकता है, परन्तु हमारा दृढ़ निश्चय है कि-ये स्वा. द.जीके शब्द हैं, शतपथब्राह्मणके यह शब्द नहीं। स्वा.द.जीने 'ब्रह्म वै ब्राह्मणः, क्षत्रं वै राजन्यः' इसे तो शत. १३।१के नामसे दिखलाया, उसके नीचे 'समानार्थौ एतौ ब्रह्मन्-शब्दो ब्राह्मणशब्दश्च' यह महाभाष्य (५।१।१)के नामसे दिख-लाया। फिर नीचे 'चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि' यह तो स्वा.द.जीका निजी वाक्य है। न यह महाभाष्यकारका है, न

यह शतपथब्राह्मणका। इस पर मन्त्रीजी अपने 'वेदसंज्ञाविमर्श' (क) पृ. ३८ में स्वा.द. जीकी ऋ-भाभू.का उद्धरण देख सकते हैं। उक्त स्वा.द. जीके वाक्यका शतपथ वा महाभाष्यसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं, वह तो स्वा.द.-कल्पित वाक्य है, जो स्वयं साध्य है। महाभाष्यकार तो ब्राह्मणभागको मन्त्रभागकी भांति ही वेद मानते हैं, यह हम पहले 'आलोक'के ६ठे सुमनका निर्देश कर चुके हैं।

उक्त आर्यसमाजियोंकी भूलका अब हम सुधार कर देना चाहते हैं, जिससे आगे उन्हें लज्जित न होना पड़े। वह यह कि-'समानार्थौ एतौ वृषशब्दो वृषन्-शब्दश्च, ब्रह्मन्शब्दो ब्राह्मणशब्दश्च' यह पाठ जो स्वा.द. जीने व्याकरण-महाभाष्य (५।१।१) के नामसे दिया है, यह ५।१।१।७ में है। उसके बाद ऋभाभू. में 'चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिः' इत्यादि जो पाठ लिखा है, वह स्वा.द. जीकी अपनी संस्कृत है, वह स्वयं साध्य है, उसे शास्त्रीय-प्रमाण नहीं माना जा सकता। 'ब्रह्मभिः-ब्राह्मणैः प्रोक्तानि वेदव्याख्यानानि ब्राह्मणानि' ऐसा अर्थ करने पर 'ब्राह्मोऽजातौ' (पा० ६।४।१७१) इस वेदाङ्गके सूत्रके बलसे जाति एव अपत्य अर्थ न होनेसे 'ब्राह्माणि' बनेगा 'ब्राह्मणानि' नहीं बनेगा। अतः स्वामीको व्यर्थं 'ब्रह्मन्' शब्द यहां न लेकर 'ब्राह्मणैर्ऋषि-मुनिभिः प्रोक्तानि ब्राह्मणानि' यह निरुक्ति करनी चाहिये थी, तब कुछ ठीक होता। फिर 'ब्राह्मणैः प्रोक्तानि-ब्राह्मणानि' यह होने पर भी उसमें 'वेद व्याख्यानानि' यह शब्द स्वा.द. जीके निज-कल्पित हैं; वहां पर 'ब्राह्मणैः प्रोक्तानि वेद-व्यपदेश्यानि ब्राह्मणानि' यह भी कहा जा सकता है।

मन्त्रीजीने जो कि-'वेदसंज्ञाविमर्श' (के ६२ ख पृ०)में

'ब्राह्मण'की निरुक्ति करते हुए लिखा है-'ब्रह्मणः-वेदस्य इदं व्याख्यानं ब्राह्मणम्' यह विग्रह या व्युत्पत्ति है' यद्यपि यह अर्थ भी ठीक नहीं, क्योंकि—'ब्राह्मोऽजातौ' (पा. ६।४।१७१) इस वेदाङ्ग-सूत्रकी साक्षीसे जाति तथा अपत्य अर्थ न होनेसे 'ब्राह्मम्' ही बनेगा, 'ब्राह्मणम्' नहीं। 'ब्राह्मण' को 'ब्राह्मण' शब्दसे व्युत्पादित करना चाहिये। वस्तुतः यह हमारे विचारसे इस भागका नाम रूढिसे है; तथापि यह प्रतिपक्षीका पक्ष मान कर भी हम यह कहते हैं कि-फिर तो 'तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्मज्येष्ठं' (अ. ११।५।३३) इस मन्त्रमें स्थित नपुंसकलिङ्गान्त 'ब्राह्मण' का भी यही अर्थ कर दीजिये, और 'ब्रह्म'का अपने अनुसार 'वेद' अर्थ कर दीजिये, और उसे 'ज्येष्ठ' मानिये, और 'ब्राह्मण' का 'ब्रह्मण इदं भाष्यम्' तस्माद् ब्रह्मचारिरूपात् परमात्मनो जातम्' यह अर्थ कर लीजिये, इससे ब्राह्मणभाग भी स्वतः परमात्मोद्भूत सिद्ध हो जायगा। आपके ही किये 'ब्रह्मणो व्याख्यानं ब्राह्मणं' इस नपुंसकलिङ्गान्तशब्दके अर्थसे हमारा पक्ष भी सिद्ध हो जायगा। फिर वहां क्यों आप 'ब्राह्मणं' का निर्मूल अर्थ 'ब्रह्म' करते हैं 'ब्रह्म' तो उक्त मन्त्रमें पृथक् पड़ा हुआ है, फिर आप "ब्रह्म"का का भी अर्थ 'ब्रह्म' और 'ब्राह्मणं' का भी 'ब्रह्म' अर्थ करके वेदमें पुनरुक्तिदोषको क्यों आसञ्जित करते हैं ? वा 'ब्राह्मणजाति' (पृ. ८८) अर्थ कैसे करते हैं, जब कि 'ब्राह्मण' वहां नपुंसकलिङ्गान्त है, स्त्रीलिङ्गान्त नहीं। अथवा ब्राह्मणभागको जातिवाचक मानने पर भी हमारे ही पक्षकी सिद्धि है, जाति व्यक्तिके विना नहीं रह सकती; तब उसमें सभी शतपथादि-ब्राह्मण स्वतः गृहीत हो जाएंगे।

इसी प्रकार 'अपूर्वेणेषिता वाचः ता वदन्ति यथायथम्। वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्' (अ. १०।८।३३)में

भी यह अर्थ हो जायगा कि—अपूर्व (जिससे प्राचीन कोई नहीं, ऐसे परमेश्वर) से प्रेषित चार मन्त्रात्मक वेदवाणियां यथायोग्य रूपसे ज्ञान बोलती हैं। वे बोलती हुईं परमेश्वरकी वाणियां जिसमें अर्थरूपसे पहुँच जाती है; वह बड़ा भाग ब्राह्मण है। इससे ब्राह्मणभाग भी स्वतः परमात्मासे उद्भूत सिद्ध हो जायगा, आपके ही किये 'ब्रह्मका व्याख्यान ब्राह्मण' इस अर्थसे हमारा पक्ष भी सिद्ध हो जायगा।

पर यदि आप 'ब्राह्मण' का अर्थ ब्रह्म और ब्रह्मका अर्थ 'वेद' कर दें तो स्पष्ट हुआ कि—'ब्राह्मणं' शब्दका अर्थ 'वेद-व्याख्यान' नहीं; किन्तु 'वेद' ही है, तब 'शतपथब्राह्मण' में भी 'ब्राह्मण' शब्द 'वेद'-परक सिद्ध हुआ; तब ब्राह्मण भी स्वतः—सिद्ध वेद प्रतिफलित हुआ। जब स्वामीके अनुसार परमात्माके त्रिकालदर्शी होनेसे—जैसे कि उनके यह शब्द हैं—'ईश्वरस्य त्रिकालदर्शित्वात्। ईश्वरो हि त्रीन् कालान् जानाति' (ऋभाभू. पृ. ८६) 'इस मन्त्रमें वेदोंके कर्ता त्रिकालदर्शी ईश्वरने भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालोंके व्यवहारोंको यथावत् जानके कहा है' (पृ.८७) उसके वेदमें पुराण-इतिहासका स्मरण आगया है, जैसे कि—'तमितिहासश्च पुराणं च, इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च' (ऋ.१५।३०।४), और स्वा.द.जीने (ऋभाभू.पृ.६४में) इन्हीं पुराण-इतिहास बताने वाले मन्त्रके प्रमाणकेलिए 'एतैः प्रमाणैर्ब्राह्मण-ग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते' ('वेदसंज्ञाविमर्श' पृ. ३१) यह कह कर वेदमें उस पुराणादिशब्दसे 'ब्राह्मणभाग' का ग्रहण किया है, तो साक्षात् नपुंसकलिङ्गान्त 'ब्राह्मणं' शब्दसे 'ब्राह्मणभाग' अर्थ क्यों न लिया जाय? और जब कि प्र. सं. वि. में यह अर्थ किया भी गया था; तब उसकेलिए यह कहना कि—'संस्कारविधि'का प्रथम संस्करण अप्रामाणिक है' ('वेदसंज्ञाविमर्श' पृ.८८) कितना

अयुक्त है, जब कि सं.वि. द्वितीय-संस्करणकी भूमिकामें ही स्वामीने लिखा है—'इसमें यह न समझा जावे कि—प्रथम [संस्करणस्थ] विषय युक्त न था, और युक्त छूट गया था, उसका संशोधन किया है, किन्तु उन विषयोंका यथावत् क्रमबद्ध संस्कृतके सूत्रोंमें प्रथम लेख किया था' (पृ. १)

जब कि स्वामीके अनुसार 'ऋषि' वेदमन्त्रार्थद्रष्टा (स.प्र. ७ पृ० १२६) का नाम होता है; सो वे प्राचीन-अर्वाचीन ऋषि (स्वामीके अनुसार मन्त्रार्थद्रष्टा) तो वेद (ऋ. १।१।२)में स्मृत कर दिये जाएं; पर उसी वेदमें प्रतिपक्षके अनुसार मन्त्रार्थरूप ब्राह्मण स्मृत न हों, यह कैसी बात?

यदि आप शतपथको प्रमाण मानते हैं, जैसे कि—आपने स्वामीजीकी ही संस्कृतको शतपथके नामसे लिख दिया (वेद. सं.वि.पृ. ६०) तो उसी शतपथने कहा है—'ब्रह्म हि ब्राह्मणः' (५।१।१।१) अर्थात्—ब्रह्म ब्राह्मणका नाम है; तब 'तमृचश्च सामानि च यजूंषि च, ब्रह्म च अनुव्यचलन्' (अथर्व. १५।१।८-६)में एक-वचनान्त 'ब्रह्म'से 'ब्राह्मणभागका अर्थ कर लेना चाहिये। पहले तीन बहुवचनान्त होनेसे मन्त्रविशेषोंके नाम हैं; उनसे तीनों मन्त्रविशेषोंके संग्रहरूप अथर्वका भी ग्रहण स्वतः ही हो जावेगा; और पृथक् कहे हुए 'ब्रह्म' शब्दसे शतपथके उक्त प्रमाण-द्वारा ब्राह्मणभागका भी ग्रहण होकर 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'की अन्वितता हो जाएगी। आपको अपने साम्प्रदायिक-सिद्धान्तके भङ्ग होनेके भयसे इस अन्वित सत्य-अर्थका त्याग नहीं करना चाहिये। कुछ उदारताका अवलम्बन भी करना चाहिये। इससे उस साम्प्रदायिक-पक्षकी बलात् सिद्धिकेलिए आपको स्वामीजीके ही संस्कृत-वाक्यको महाभाष्य तथा शतपथके नामसे लिखनेकी आवश्यकता भी न

रह जायगी।

'वेदसंज्ञाविमर्श' के द्वितीय अंशमें स्वा. श्रीकरपात्रीजीसे 'ब्राह्मणभागकी वेदता' विषयमें पत्रव्यवहार-द्वारा पूर्वपक्ष-उत्तर पक्ष प्रकाशित किया गया है। इसमें त्रुटि यह है कि—अन्तमें पूर्व-पक्ष रखकर उसका उत्तरपक्ष नहीं दिया गया है, यह क्यों? अन्तिम सदा उत्तरपक्ष हुआ करता है, पूर्वपक्ष कभी अन्तिम नहीं हुआ करता। पूर्वपक्षको ही अन्तिम रखकर अपने पक्षकी दुर्बलता प्रकाशित की गई है; और उसके पूर्वके उत्तरपक्षको भी पूरा न छापकर आपने अपने [पूर्व-] पक्षकी दुर्बलता ही प्रकाशित कर दी है। तथापि इस पुस्तकको प्रकाशित करके अच्छा ही किया गया है। इन पूर्वपक्षोंमें कई बातें विचारणीय हैं, पर इस स्वयोजनानुसार समाप्तप्राय सप्तम पुष्पमें तथा अधिकांश छप चुके हुए अष्टम-पुष्पमें स्थान न होनेसे वे अन्य किसी पुष्प-में आलोचित होंगी। प्रतिपक्षको वेदकी आजकलकी चालू चार पोथियोंके अतिरिक्त संहिताओं तथा ब्राह्मणभागके अवेदत्वका भ्रम न रहे, अतः इस विषयमें श्रीपाणिनि, कात्यायन, पत-ञ्जलि, श्रीयास्क आदि वेदज्ञ एवं वेदपर अभूतपूर्व परिश्रमकर्ता प्राचीन विद्वानोंका मन्त्र-ब्राह्मणके वेद माननेका मत हम सूत्र-रूपसे इस निबन्धसे पूर्व 'वेदस्वरूपनिरूपण' (ग) इस शीर्षक-से दे चुके हैं। आर्यसमाजको उस पर निष्पक्ष विचार करना चाहिये।

इन विद्वानोंपर याज्ञिकोंका प्रभाव बताकर उन्हें एक ढंगसे अविद्वान् बतानेकी शैलीको अपनाना आर्यसमाजो विचारकोंको शोभित नहीं हो सकता। वेद स्वयं याज्ञिक हैं, इसपर 'आलोक'-का छठा सुमन (पृ. १४० से १४६ तक) देखना चाहिये। वेदका अधिकारपट्ट यज्ञोपवीत भी स्वयं याज्ञिक है। यज्ञका काल भी वेदके

कालसे चालू है, वेदके कालसे पीछे का नहीं। यज्ञोपवीत तथा उसके संस्कारको प्रतिपक्ष भी वैदिककालसे ही तो मानता होगा, महाभारतकालसे नहीं। 'प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्, (सं० वि० पृ० ८१ उपनयन०) यहाँ यज्ञोपवीतको प्रजापतिसे सहोत्पन्न (सृष्टिके आदिका) बताया है। वह यज्ञोपवीत 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं' (पारस्कर गृ० २।२।११) यज्ञका वस्त्र होनेसे उसकी भी सत्ता याज्ञिककालमें ही तो होगी, और वह प्रजापतिकी प्रजासृष्टिके समकालीन सृष्टिकी आदिका समय वैदिककाल ही तो होगा। तब मन्त्र-ब्राह्मणकी वेदता प्रतिपक्षके अनुसार याज्ञिक-कालमें होने पर भी, याज्ञिककालके वेदके सहचारी होनेसे वह याज्ञिककाल सृष्टिके आदिकालसे ही चालू है, यह सिद्ध बात सदाके लिए स्मरण रख लेनी चाहिये। इसी लिए 'यज्ञं चैव सनातनम्' (मनु० १।२२) यहां पर स्वा० द० जी के स० प्र० के ११ वें समुल्लासके आरम्भिक शब्दोंमें सृष्टिकी आदिमें प्रणीत मनुस्मृतिने यहाँ पर याज्ञिकताको सनातन बताया है। ऐसा न मानने से प्रतिपक्षके मतमें बहुत-सी अनुपपत्तियाँ जन्म लेंगी। तब १६ संस्कारोंमें-जिनमें यज्ञोपवीत (उपनयन) का संस्कार स्वा० द० जीके अनुसार १० वां और मुख्य है, अवैदिक मानकर स्वा० द० जीकी संस्कार विधिको भी तथा आवसथ्या-धान, श्रौताधान एवं दर्शपौर्णमास, अश्वमेधादि वेदसम्मत यज्ञों को भी अवैदिक मानना पड़ेगा। उन यज्ञोंकी उपनयनके बिना सत्ता नहीं हो सकती। अतः पूर्वपक्षको दूरकी दृष्टि अपना कर ब्राह्मणभागको भी वेद माननेकी उदारताका अवलम्बन कर लेना चाहिये। अब अनुसन्धानका समय आ गया है। अब 'यह औपचारिकता है', 'यह तत्कालका अनुसरण है', इन बातों से एक सिद्ध विषयको छिपाना वा टालनेकी चेष्टा

करनी अनुसन्धान-रसिक विद्वानोंकी दृष्टिमें उपहास्य बात है, पाणिनि-पतञ्जलि आदि वेदरहस्यविज्ञों को तथा वेदभाष्यकार वेदाङ्ग निरुक्तके प्रणेता श्रीमान् यास्कको परिस्थितिका अन्धानुकरणकर्ता बताना उनको प्रकारान्तरसे मूर्ख सिद्ध करना यह आधुनिक साम्प्रदायिकोंका अपने सम्प्रदायकी दलदलमें आकण्ठ निमग्न होनेके कारणसे ही है, अतएव यह उनकी शोच्यता ही है।

(१७) 'ब्राह्मणभागको वेद माननेसे याज्ञिक-पशुहिंसा आदि भी हमारे गले मढ़ जायगी' इस बातसे भी मन्त्री जी को नहीं डरना चाहिये, जिसका संकेत उन्होंने अपने 'वेदसंज्ञाविमर्श, (पृ० ४५-४६) में दिया है कि 'यदि ब्राह्मणोंको वेद मानने लगे, तो वेदों पर किये गये आक्षेपोंका उत्तर देना कठिन हो जायगा' इस पर यह समझना चाहिये कि जैसे आप लोग मन्त्रभागमें अर्थ बदलनेकी क्षमता रखते हैं, वैसे ही ब्राह्मणभागमें भी अर्थ अपनी इच्छानुसार बदल सकते हैं। श्रीबुद्धदेवजी इसी प्रकारके अर्थोंके आकाश-पाताल के कुलाबे जोड़ कर अर्थको फिट कर देनेका यत्न किया ही तो करते हैं। 'विन्टरनीज़' आदि ने तो मन्त्रभाग पर भी सीधे आक्षेप कर डाले हैं; तो क्या इस डरसे प्रतिपक्ष मन्त्रभागको भी वेद मानना बन्द कर देगा ? वस्तुतः कई डरोंसे वास्तविक वेदको वेदत्वसे च्युत करना—यह प्रकार युक्त नहीं। 'नहि मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते, भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते' यह महाभाष्यकारोक्त बात 'प्रतिसमाधेयं दोषेषु' रूप में याद रखकर उसमें अपनी प्रखर-प्रतिभाका परिचय देना चाहिये।

शेष है ब्राह्मणभागमें 'याज्ञिक-पशु तथा उसका वध' इस

विषयमें यह जानना चाहिये कि-यज्ञमें शास्त्रानुसार पशु अवश्य होता है, और उसका वध भी। जब यह शास्त्रीय है, तो उससे डर कर अपने पक्षके बचावके लिए ब्राह्मणभागको वेदत्वसे च्युत करना ठीक नहीं।

'वेणीसंहार' नाटकमें एक पद्य भीमसेन-द्वारा उसके प्रणेताने कहलवाया है—

चत्वारो वयमृत्विजः, स भगवान् कर्मोपदेष्टा हरिः,
संग्रामाध्वरदीक्षितो नरपतिः, पत्नी गृहीत व्रता।
कौरव्याः पशवः, प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलं
राजन्योपनिमन्त्रणाय रसति स्फीतं हतो दुन्दुभिः।

(१ म अङ्क)

यहाँ पर साङ्गरूपकसे संग्रामको अध्वर (यज्ञ) बताया गया है। इस निमित्तसे यहाँ पर यज्ञकी सामग्री बता दी गई है। इसमें चार ऋत्विक्, कर्मोपदेष्टा (आचार्य), यज्ञमें दीक्षा लिये हुए यजमान-यजमानपत्नी, पशु तथा यज्ञका फल आदि बताया गया है। चतुर्थ पादमें लोगोंको बुलानेके लिए ढोलका बजाते रहना भी कहा है।

इस संग्रामाध्वर (युद्ध-यज्ञ) में कौरवोंको पशु बताया है। भीमसेन-द्वारा पशु-कौरवोंका शस्त्र-द्वारा वध विवक्षित होनेसे 'यज्ञमें शस्त्र-द्वारा पशु-वध भी होता है' यह सूचित किया गया है। उक्त नाटकीय-पद्यमें पशुवध होने पर भी संग्रामको अध्वर कहनेका भाव यह है कि 'तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः' (मनु० ५।३९) अर्थात् यज्ञमें वधको भी अवध (अहिंसा) माना जाता है। 'आम्नाय (वेद) वचनाद् अहिंसा प्रतीयेत' (निरु० १।१६।६)।

प्रतिपक्षका यहाँ प्रश्न हो सकता है कि नाटक कोई माननीय ग्रंथ नहीं, इस पर तो कोई वादिप्रतिवादिमान्य आर्ष ग्रंथ का

प्रमाण होना चाहिये, जिससे यज्ञकी सामग्रीमें पशु तथा उसका वध भी होता है, यह प्रतीत हो जावे; इस पर हम प्रतिपक्षके सम्प्रदायके सर्वे-सर्वा स्वा० द० जी की संस्कारविधिके संन्यास प्रकरण (पृ० २७६-२७७) से उनकी बहुत ही मान्य तैत्तिरीयारण्यकका जिसका उन्होंने अपनी तीनों मुख्य पुस्तकोंके आदिमें मङ्गलाचरण किया है—प्रमाण उद्धृत करते हैं; उसमें यज्ञकी सामग्री बताते हुए पशुका, तथा पशुके शान्त करने (मारने) वालेका नाम भी बताया गया है। वह वचन यह है—

'यज्ञस्य आत्मा यजमानः, श्रद्धा पत्नी, शरीरम् इध्मम्, उरो वेदी,...हृदयं यूपः, काम आज्यम्,मन्युः पशुः,तपोग्निः,दमः शमयिता, य ऋतवः, ते पशुबन्धाः, यन्मरण तदवभृथः' (तैत्तिः १०। ६४)। इस अध्यात्म-यज्ञमें मन्यु (क्रोध) को पशु तथा इन्द्रियनिग्रहको उस मन्यु-पशुका शमयिता (मारने वाला) कहा है। सो यज्ञमें पशु तथा उसका शस्त्रसे वध होता है—यह तो यहाँ भी सिद्ध हो गया। स्वा० द० जीकी संस्कारविधि (पृ० २०) में यज्ञपात्रोंमें खांडा (खड्ग) वा वज्र भी लिखा गया है। इससे भी याज्ञिक पशु तथा उसका वध संकेतित हो रहा है।

आरण्यक ब्राह्मणभागान्तर्गत होनेसे वेद है-यह पूर्व निबंध में बताया जा चुका है, अब वेदके मन्त्रभागमें भी यज्ञमें पशु होनेका संकेत देखा जा सकता है—

'यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तोऽस्यासीद् आज्यं, ग्रीष्म इध्मः, शरद् हविः' (यजुः माध्यं. ३१।१४) यहाँ पुरुषमेध नामक मानस-यज्ञमें यज्ञकी सामग्री बताते हुए पुरुषको हवि बताया गया है। 'सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः। देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्' (३१।१५)यहाँ यज्ञ-सामग्री बताते हुए पुरुषका यज्ञके पशुरूपमें बन्धन बताया

गया है। 'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये'(३१।६)यहाँ मानस-यज्ञके साधनभूत पुरुषको पशु मानकर उसका प्रोक्षणादि-संस्कार तथा उस हविसे यजन कहा गया है। इसीका संकेत यजुर्वेद-शतपथब्राह्मणमें'पुरुषं ह वै देवा अग्रे पशुमालेभिरे'(१।२।३।६)आया है। मानस-यज्ञ होने से यहाँ यज्ञकी सामग्रियोंकी स्थानापन्न वस्तुएँ विचित्र आई हैं, यह तो होना ही था,पर यज्ञमें पशु तथा उसका प्रोक्षणादि, यज्ञ-सामग्रीमें परिगणित कर दिया गया है। स्वा० द०जी से संन्यास में उद्धृत आध्यात्मिक यज्ञमें भी मन्यु (क्रोध) रूप पशु तथा उसका इन्द्रियनिग्रह-रूप शस्त्र वा शस्त्रग्रहीताके द्वारा शान्त करना (मारना) आ गया है, तब यदि 'यज्ञो मन्त्र-ब्राह्मणस्य' (न्याय-दर्शन ४।१।६२) यज्ञ बताने वाले ब्राह्मणभागने भी यज्ञमें पशु तथा उसका संज्ञपन बता दिया है, तो उससे डरनेकी क्या आवश्यकता है ? स्वा० दयानन्द जीने सं० वि० में उद्धृत आरण्यक-वर्णित 'पशु' का चालाकीसे "पशुः—निवृत्त करने अर्थात् शरीरके मलवत् छोड़नेके योग्य है" यह अर्थ बदल कर अपनी दुर्बलताका परिचय दिया है। और संहितास्थित पशु, का 'पशु सर्वद्रष्टारं सर्वैः पूजनीयं अबध्नन्-ध्यानेन बध्नन्ति' (ऋभाभू, पृ० १४४)यह अर्थ बदल दिया है। जब गुरुपरम्परासे प्रतिपक्षियों को इस प्रकार अर्थ बदलनेकी चालाकियोंका अभ्यास है, तो ब्राह्मणभागमें भी वे अर्थ बदल सकते हैं, तब ब्राह्मणभागके परम्परासे आये हुए वेदत्वको उससे च्युत करनेकी क्या आवश्यकता ?

यज्ञमें पशुओंमें गाय तो आ नहीं सकती, क्योंकि वह वेद-शास्त्रानुसार 'अघ्न्या' होने से उसमें गृहीत नहीं हो सकती। अन्य शास्त्रानुशिष्ट पशु तो गृहीत हो जाता है, उसका वध भी

शास्त्रानुशिष्ट है, पर यहाँ भी कई हानियोंका विचार करके शास्त्रानुसार मुनियों द्वारा कलिवर्जित कर देने से गृहीत न होकर वहाँ विधिपूर्ति के लिए पिष्ट-पशु (आटे का पशु) वा घृतपशु बनाया जाता है, उसीका ही आलम्भ उपचारसे वध माना जाता है, पर उस वध को शास्त्रानुसार 'आम्नायवचनाद् अहिंसा प्रतीयेत' (निरु० १।१६।६) 'या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिं-श्चराचरे। अहिंसामेव तां विद्याद्, वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ' (मनु० ५।४४) इत्यादि प्रमाणों से-जिनका निष्कर्ष-'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' यह प्रसिद्ध है-हिंसा नहीं माना जाता।

कई कानूनोंमें तथा युद्ध आदिमें मारनेको हिंसा (कानूनन जुर्म) नहीं माना जाता। युद्ध-यज्ञ में पशु-रूप शत्रुको मारने वाले सैनिकको अपने पक्षके राजा की ओरसे फाँसी न मिलकर इनाम ही मिलता है। इसीको प्रतिपक्षिगण भी 'नरमेधयज्ञ' श्रद्धानन्दकी बलि. लेखरामकी बलि' इन शब्दोंसे प्रसारित करते हैं। देशत्राण-रूप यज्ञमें अपनी बलि देना भी वे स्वर्ग्य मानते हैं, इसमें वध होना तो सिद्ध हो ही गया। उसे वे भी 'आत्महत्या' नहीं मानते। देशत्राणार्थ युद्धमें जाकर बलि हो रहे हुए पुरुषको भी नेता द्वारा, सैनिकको राजा द्वारा बलिभूत पशु की भाँति कहा जाता है कि—'न वा उ एतन्म्रियसे, न रिष्यसि, देवान् इदेषि' (यजु० माध्यं० २३।१६) (तू यह मर नहीं रहा और न ही हिंसित हो रहा है, तू तो देवलोक (स्वर्ग) में जा रहा है, इसी का अनुवाद भगवद्गीता में आया है—'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं (२।३७)। इस प्रकार शास्त्रीय यज्ञके पशु संज्ञपनमें भीसमझ लेना चाहिये मनुष्य ज्ञानप्रधान होनेसे स्वेच्छासे हकीकत-राय आदि की भाँति अपनो बलि देता है, पर पशु अज्ञानी होने से परेच्छा से; यह भेद है, पर स्वेच्छा न होने पर भी दूसरेकी

इच्छासे भी श्रद्धानन्द, लेखराम, राजपाल आदि के वध को भी 'श्रद्धानन्द आदि की बलि' कहा जाता है, श्रद्धानन्द-बलिदानदिवस मनाया जाता है और उन्हें 'अमर-हुतात्मा' माना जाता है। इस गति को 'अपगति' न मानकर धर्मनिमित्तक होने से स्वर्ग्य माना जाता है, इसी प्रकार याज्ञिक-पशुवध में भी यही सब घटा लिया जा सकता है। अथवा ब्राह्मणभागानुसार व्रीहि-यव (चावल, जौ) आदिको पशु का प्रतिनिधि मानकर जिसे हमने 'आलोक' के छठे सुमन (४५३-४५४ पृ) में सप्रमाण लिखा है, उसी का हवन भी पशु-हवन मान लिया जा सकता है।

फलतः यज्ञमें पशुका होम तो सिद्ध हो ही गया, पर उसे सत्त्व, रज,तम गुणोंकी अपनी-अपनी प्रकृतिके भेदानुसार भिन्न-भिन्न रूपसे लिया जा सकता है। जैसे कि—सदा के लिए नैष्ठिक-ब्रह्मचर्य रख कर किसी भी स्त्रीको मैथुनके लिए न लेना—यह उत्तम कोटि है, सन्तानके लिए स्त्रीको मैथुनार्थं शास्त्रविध्यनुसार लेना मध्यम कोटि है,उसे भी ब्रह्मचारी-जैसा ही कहा जाता है, जैसे कि महाभारतमें लिखा है—'भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति ब्राह्मणः' (वनपर्व २०८।१४-१५) 'ऋतौ भार्यां गच्छन् ब्राह्मणो ब्रह्मचारी भवति' यह इसका अन्वय है अर्थात् ऋतु कालमें भार्या-गमन करने वालेको भी ब्रह्मचारी ही माना जाता है। परन्तु बिना ही सन्तानेच्छाके और बिना ही शास्त्रीय विवाह-विधिके केवल इन्द्रियानन्द-विषयानन्दके लिए किसी स्त्रीको स्वेच्छासे मैथुनार्थ ले लेना यह अधम कोटि होती है, वैसे ही सर्वथा अहिंसा यज्ञ लेना, किसीको भी कायिक वाचिक, मानसिक दुःख न देन —यह उत्तम कोटि है। शास्त्र-विध्यनुसार देशलाभ तथा स्वकीय मनोरथविशेषकी पूर्त्यर्थं

पशुसंज्ञपनं करना मध्यमकोटि है, उसे भी पहले की भाँति अहिंसक-कोटि वा अमाँसाशी-कोटिमें रखा जाता है, जैसे कि महाभारतमें वहीं कहा है 'अत्रापि विधियुक्तश्च मुनभिर्मांसभक्षणे। देवतानाँ पितॄणाँ च भुङ्क्ते दत्त्वापि यः सदा। यथाविधि यथाश्राद्धं न प्रदुष्यति भक्षणात्। अमांसाश भवत्येवमित्यपि श्रूयते श्रुतिः। भार्यांगच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति ब्राह्मणः' (महा० वन० २०८।१४-१५) इस पर श्रीनीलकण्ठने लिखा है, 'यज्ञियमाँसभुजोऽपि ऋतुगामिनो ब्रह्मचर्यमिव औपचारिकमाँसाशित्वमिति भावः'। अर्थात् जैसे स्त्रीसे ऋतुकालमें गमन करने वाला पारिभाषिक ब्रह्मचारी माना जाता है, वैसे याज्ञिक (देवयज्ञ, पितृयज्ञ आदि में) पशुवधकर्ता भी वधकर्ताकी वा मांसाशीकी कोटिमें नहीं आता। परन्तु बिना याज्ञिकताके केवल जिह्वानन्द वा विनोद के लिए पशुको बिना विधि मारना अधम कोटिमें परिगणित हुआ करता है। जैसे मध्यमकोटिम मैथुन को मैथुन वा व्यभिचार न कहकर उसे गार्हस्थ्य-धर्म कहा जाता है, वैसे मध्यमकोटिमें पशुवधको वध न मानकर उसे आलम्भन कहा जाता है, उसे हिंसाकोटिमें नहीं गिन जाता। जैसे अवैध-मैथुनात्मक तृतीय कोटि व्यभिचार-कोटि है, वैसे बिना शास्त्रीय-विधिके पशुवध करना हिंसाकोटि वा अधर्म है, इन बातोंका विचार कर लेना चाहिये—प्रासङ्गिक होने से यहाँ सब वर्णन करना पड़ा।

इसी प्रकार ब्राह्मणभागमें याज्ञिक पशु-बलिको अपनी-अपनी शैली वा दृष्टिकोणसे लिया वा सिद्ध भी किया जा सकता है, पर इन बातोंसे डर कर उनके प्रतिपादक ब्राह्मणको ही वेदत्वसे च्युत करना जहाँ शास्त्रापराध है, वहाँ अपना दौर्बल्य-प्रकाशन भी है हिन्दुधर्म जहाँ कच्चे फलको तोड़नेमें भी हिंसा मानता है, छोटे

छोटे जीवोंके बचावके लिए भी 'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं' (मनु) देखकर चलनेको कहता है, जीवोंकी सूक्ष्म-हिंसाको भी वर्जित करता है, वही वहाँ जो यज्ञमें पशुवलि बताता है—इसमें क्या-क्या सूक्ष्म वैज्ञानिक, लौकिक-अलौकिक रहस्य थे, यदि यह अपने बुद्धिमान्द्यवश नहीं जाना जा सकता है, तब उसे आध्यात्मिक वा मानस यज्ञ रूपमें ले लिया जा सकता है, पर इससे उसकी मूल-वस्तु ब्राह्मणको ही वेदत्वसे च्युत करना तो अक्षन्तव्य अपराध है। सृष्टिकी आदिसे लेकर अब तक की परम्परामें आये हुए उसे वेद बताने वाले वेदरहस्यज्ञाता मुनि एवं शास्त्रमर्मज्ञ विद्वान् लोग प्रमत्त नहीं थे – यह समझ रखना चाहिये।

यह मैंने अपने सम्बन्धमें 'वेदसंज्ञाविमर्श' के तर्कोंका प्रत्युत्तर दिया है। जो अग्रिम भागमें श्री स्वा० करपात्री जीसे मन्त्री आर्यसभा का पत्र-व्यवहार मुद्रित है, उसमें भी स० ध० का पक्ष प्रबल रहा है। जिन प्राचीन प्रमाणों द्वारा ब्राह्मणभाग की वेदता सिद्ध होती थी, वहाँ मन्त्री जीने केवल कई व्याज (बहाने) बनाकर उनसे अपनी जान छुड़ाई है। उन व्याजों (बहानों) का हम 'वेदसंज्ञाविमर्श' से पृष्ठ देकर कहीं-कहीं अपनी टिप्पणी-पूर्वक कुछ संग्रह करते हैं। वे यह हैं—

'ब्राह्मण अर्थ में वेद-शब्दका प्रयोग भाक्त है' (१०) 'यज्ञ-सम्बन्धी कार्य-सम्पादनार्थ वेदसंज्ञाका संकेत किया है' (१२) यह ब्राह्मणकी वेद संज्ञा तो शबरस्वामी तथा कुमारिल भट्ट आदि के समय चालू हुई है (२२)। औपचारिक दृष्टि से (२५) 'यह संज्ञा व्यवहारार्थ शबरस्वामी द्वारा प्रवर्तित है' (२८) शबर-मुनिके समय में उक्त संज्ञाको विशेष प्रचलन मिला (५५)। परम्परागत समानशीलता का एकमात्र अनुवाद किया है (५५)

ब्राह्मणोंकी वेद-संज्ञा मुख्य नहीं (५७) श्रौतसूत्रकारों ने उक्त परिभाषाका निर्माण किया (५७) 'मन्त्रब्राह्मणयों र्वेद नामधेयम्' ऐसा वचन कात्यायनके प्रतिज्ञापरिशिष्टमें समाविष्ट कर दिया गया (५८) 'सर्वानुक्रमसूत्रकार ने जो शु० यजु० में स्थान-स्थान पर ब्राह्मणका निर्देश किया है, वह अप्रामाणिक है (६०) स्वाभिमत ब्राह्मणोंका वेदत्व प्रसिद्ध करनेके लिए उक्त सूत्रकी रचना की गई है (६३) (फिर तो मन्त्रकी वेद-संज्ञा भी जो साथ की गई है, उसमें भी प्रतिपक्षको स्वप्रोक्त कारण मानना पड़ेगा—आलोक-प्रणेता)। ब्राह्मणोंका मुख्य वेदत्व उन्हें इष्ट नहीं (६३) अयाज्ञिक ग्रन्थोंमें जो वेद-शब्दसे ब्राह्मण-ग्रन्थोंका निर्देश मिलता है, वह उन ग्रन्थकारों ने उक्त याज्ञिक मत को स्वीकार करके ही किया है। या मन्त्रव्याख्यानभूत ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें व्याख्येय-ग्रन्थ (वेद) का औपचारिक (गौण) रूप से प्रयोग किया है। व्याख्यान-ग्रन्थों में व्याख्येय ग्रन्थका उपचार प्रायः लोकमें देखा जाता है (६४) (यदि ऐसा है तो प्रतिपक्ष के अनुसार मन्त्र-मात्र के व्याख्यानभूत ब्राह्मण-भाग को मन्त्रभाग क्यों नहीं कहते ? व्याख्येय ग्रन्थ प्रतिपक्ष के अनुसार मन्त्रभाग है। वेद तो दोनों ही हैं इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं आती 'आलोक प्रणेता')।

'वात्स्यायन-भाष्यकार शबरसे अर्वाचीन हैं, अतः जो मान्यता शबरने स्थापित की है, वे (वात्स्यायन) भला उसका उल्लंघन क्यों करने लगे। (६४) (क्या वात्स्यायन वेदानभिज्ञ थे ? (आ० प्र०)। जैसी लोक-प्रचलित उदाहरणपरम्परा थी, उसको ही उद्धृत कर दिया। (६४) (यह गलत है—सूत्रकारको ही तो वही वेदके उद्धरण इष्ट थे, (आ० प्र०)। 'उन्होंने तात्कालिक प्रचलित पद्धतिका अनुसरणमात्र किया है (६४) गड्डलिका-

प्रवाह न्यायसे अन्य टीकाकारोंके अनुसरणको बतलाया है (६६)। यह उक्तिभी प्रसिद्ध का ही अनुसरण कर रही है (६६)। मनुने भी प्राचीन-पद्धति का अनुसरण किया है, असलियत में वहाँ पर किसी वेदमन्त्रका उद्धरण देना चाहिये था' (६७)। यहाँ तो प्रतिपक्ष के पक्ष का इसी अपनी उक्ति से सम्यक् खण्डन हो रहा है। स्वा० द० जी के स० प्र० के ११ वें समुल्लास के आरम्भ के 'यह मनुस्मृति जो सृष्टिकी आदिमें हुई है' (पृ० १७२ पं० १७) इन शब्दोंके अनुसार सृष्टिकी आदिमें बनी हुई मनुस्मृतिकी ब्राह्मणभागको भी वेद कहनेकी प्राचीन-पद्धति स्वीकार करके प्रतिपक्ष ने ब्राह्मणभागकी वेदता सृष्टिकी आदिसे ही सिद्ध कर दी, हम प्रतिपक्षको धन्यवाद देते हैं, वे ऊपरसे आर्यसमाज की रखनी रखते हुए ब्राह्मणभागको वाङ्मात्रसे वेद न मानते हुए भी भीतरसे ब्राह्मणभाग को वेद मानते ही हैं-पुनः धन्यवाद (आलो० प्र०)।

'मेधातिथिका कथन अपनी समझकी ही भूल है, मेधातिथि की नहीं (६७) (मेधातिथि की समझ शायद मेधातिथिसे अलग होगी ? आ० प्र०)। 'संहिता और ब्राह्मणोंकी भाषा भाषाशास्त्रियोंकी दृष्टि से अत्यन्त भिन्न है (६८)। (फिर तो ऋ० सं० के १ म तथा १० म मण्डलकी भाषाके भी भाषाशास्त्रियों की दृष्टि से २-९ मण्डलों की अपेक्षा भिन्न होने से १-१० मण्डल भी वेद न रहेंगे, साधु !—आलो० प्र०)। 'जब हम आपस्तम्ब के कथनको ही शाबर-भाष्य का अनुकरण कह रहे हैं, तो इन आधुनिक (मेधातिथि आदि) विद्वानों के प्रमाणोंको स्वतः प्रमाण कैसे माना जा सकता है ? (६८) 'यहाँ वात्स्यायन मुनि ने प्रचलित-परम्पराका अनुकरण किया है, (११४) कौशिकसूत्रकार आदिके समयमें भी मन्त्र-

ब्राह्मण दोनोंकी आम्नाय वेद आदि संज्ञायें यज्ञपरक की थीं। यह अंधानुकरण ही था(११५) (फिर तो प्रतिपक्षके अनुसार मन्त्रकी आम्नाय, वेद आदि संज्ञाएं भी यज्ञपरकता का अन्धानुकरण माननी पड़ेंगी, 'मन्त्रब्राह्मणयोः, मन्त्राश्च ब्राह्मणं च' इत्यादि में 'एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः' इस न्यायसे यदि ब्राह्मणभागकी वेदसंज्ञा याज्ञिककाल प्रतिपक्ष के अनुसार अर्वाचीन-कालसे माननी पड़ेगी, तो तत्सहचारी मंत्रभाग की वेदसंज्ञा भी प्रतिपक्ष को अर्वाचीन माननी पड़ेगी। जो वे उत्तर मंत्रभागकी वेदतामें बताएंगे, वही उत्तर ब्राह्मण-भागकी वेदतामें भी हो जाएगा। इससे प्रतिपक्षके सम्पूर्ण परिश्रम पर उन्हीं द्वारा स्वयं पानी फेर दिया गया है। (आलो० प्र०)। 'शबर-मुनिका यह वाक्य याज्ञिकपद्धतिका अनुकरणमात्र है। (१५१) (शबरमुनि तो भाष्यकार हैं, उन्होंने जैमिनिके मतको ही विवृत किया है, सो मन्त्रब्राह्मणकी वेदता जैमिनि आदिका पारम्परिक मत है, शबरस्वामी का निजप्रचालित मत नहीं; आलो० प्र०)।

'मीमाँसा के ७ वें अध्याय में जो ब्राह्मणोंको वेदोंके समान प्रतिष्ठा दी गई है, वह तत्कालिक रीति के कारण ही है, (पूर्व भाग पृ० २५) [यह क्यों नहीं मान लिया जाता कि ब्राह्मणभाग को मनु, पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि, कपिल, पतंजलि, कणाद, गौतम, जैमिनि, व्यास आदि सभी वादिप्रतिवादिमान्य वेदज्ञ विद्वान् एक स्वरसे वेद मानते हैं, केवल आजकलके स्वा०द० जी तथा उनके साम्प्रदायिक-शिष्य ही ब्राह्मणभाग को वेद नहीं मानते। सो स्वा० द० जी तथा उनके शिष्य तो वैदिककाल में हुए हैं, एवं वे वेदोंके पूर्ण विद्वान् हैं, स्वा० द० जी तथा उनके शिष्योंके अतिरिक्त अन्य सभी प्राचीन-विद्वान् वर्तमान-

समय के अवकचरे, अन्धपरम्परामें बहने वाले पण्डित हैं, और उन्हीं मनु, पाणिनि, पतंजलि, यास्क आदिमें कोई वेदका पूर्ण विद्वान् नहीं है, अतः उनका मत्र ब्राह्मणभागके वेदत्वविषयमें प्रमाण नहीं, ऐसा मान लेनेसे प्रतिपक्षके मत की विना लेखनीको आयासित किये सिद्धि हो जायगी !!!—आलो० प्र०]।

'शबरस्वामी ने 'इत्याम्नायः' इन वाक्योंके द्वारा जो ब्राह्मणों के उदाहरण दिये हैं, वे भी प्रसिद्धिके कारण ही हैं। (२५) (आम्नायके उदाहरण ब्राह्मण भागमें हो उन्हें कैसे मिल गये, क्या वे प्रतिपक्ष के अनुसार आम्नाय (वेद) हैं? वे ही उदाहरण उन्हें मन्त्रभागमें जो कि छोटी सी प्रतिपक्ष-सम्मत चार पोथियाँ हैं—क्यों नहीं मिले; इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणोंको वेद न मानना यह मत प्रतिपक्षकी वालुकाभित्तिसे अधिक मूल्य नहीं रखता। आलो० प्र०)।

इस प्रकार के ही वाक्य लिखकर मन्त्री-आर्यसभाने जिनको स्थान-संकोचवश हम सम्पूर्ण उद्धृत नहीं कर सकते; ब्राह्मण-भागके वेदत्वको हटानेकी उपहासास्पद चेष्टा की है, अन्य सार प्रतिपक्षके पत्रोंमें बहुत न्यून है, यह अनुभवी संस्कृत एवं वेद में प्रवेश रखने वाले विद्वानोंने समझ लिया होगा। इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणभाग सृष्टिकी आदिसे ही, मन्त्रभागके समकालसे ही वेद है—इस पक्ष को कभी भी किसी द्वारा निरा-कृत नहीं किया जा सकता। 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' में ब्राह्मणभागकी वेदताकी अर्वाचीनता तथापरिभाषावताना मन्त्रभाग की वेदताको भी अर्वाचीन बताने वाला होकर प्रतिपक्षियोंके पक्ष को भी ले डूबेगा—वहाँ 'चौबे गये थे छबे बनने, दुबे बनकर आये' यह कहावत चरितार्थ हो जाएगी। कई व्यक्ति 'छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' इस पाणिनि सूत्रको ब्राह्मणकी अवेदतामें एक

महत्त्वपूर्ण निर्देश मानते हैं, समय आता है कि वे श्रीपाणिनि-द्वारा सभी स्थानों में कही हुई ब्राह्मण की वेदताको माननेके लिए तैयार नहीं होते, उसे तत्कालकी परिस्थिति का अन्धानुकरण मानते हैं, पर अब 'यदेव वान्तं तदेव भुक्तम्, के अनुसार उस पाणिनिसूत्रको देखकर गद्गद होजाते हैं, पर यह प्रसन्नता उनकी क्षणिक है, इसका पू ' समाधान हम आलोकके छठे पुष्पमें कर चुके हैं, शंकाकर्ता वहीं इसका समाधान देख लें। (पृ० सं० ४६ से ५४ तक)।

पूर्वयोजनानुसार निर्णीत होनेसे अन्य स्थान न होनेके कारण हम इस वेदचर्चा में न तो अधिक कुछ और लिख सकते हैं, न वेद-सम्बद्ध अन्य निबन्ध देसकते हैं। अब 'वेदचर्चा' को यहाँ समाप्त करके 'वेदपुराणेतिहासचर्चा' में दो निबंध देकर इस पुष्प को पूर्ण किया जावेगा। अष्टम पुष्प भी अधिकाँश मुद्रित हो चुका है, अब पाठकगण उसकी भी प्रतीक्षा करें। छठे पुष्प में हमने जो सप्तम पुष्प की विषयसूची दी थी, उसके बहुत बड़े हो जाने से उसे दो पुष्पोंमें विभक्त करना पड़ा। सो सूचीके अवशिष्ट विषय अष्टम पुष्पमें पूर्ण कर दिये जावेंगे।

परिवर्धन—पृ० १३६ अथवा 'तं दानवं वज्रास्त्रमादाय मेढ्रे अशातयत्' इस अन्वय के अनुसार उस दैत्य को अपराधी अंग में महादेव जी ने वज्र द्वारा विदारित किया' यह अर्थ भी हो सकता है।

(१६) कई अन्य आक्षेपों पर विचार

हम पुराण, इतिहास एवं वेद पर पृथक्-पृथक् पर्याप्त चर्चा चर्चित कर चुके। अभी-अभी हमें 'पं० माधवाचार्य की चुनौती का उत्तर' नामक क्षुद्र-पुस्तिका (ट्रैक्ट) तथा 'नीर-क्षीरविवेक' पुस्तक मिली हैं। प्रतिपक्षियोंने उनमें पुराण-इतिहास तथा सनातनधर्मके किये हुए वेदार्थ पर आक्षेप भी कर डाले हैं। इससे स्पष्ट है कि पुराण-इतिहासको तथा वैदिक स० ध० को कलङ्कित करनेमें प्रतिपक्षियोंका बड़ उत्साह रहता है। यदि यह ट्रैक्ट हमें पहले मिल जाते, तो प्रतिपक्षीके अन्य सभी ट्रैक्टों की भाँति इनका उत्तर भी 'पुराण-चर्चा' में हम दे देते। पर उस चर्चाके छप चुकनेसे हमें यह 'वेदपुराणेतिहासचर्चा' में रखना पड़ा है। फिर पता नहीं हमें कब अवसर मिले, अतः इसी पुष्प-में यह विचार क्रमसे हम रख रहे हैं।

प्रतिपक्षियोंकी गुरुपरम्परासे यह प्रकृति रही है कि पुराण-इतिहास के पूर्वापर-प्रकरणको वे छिपा देते हैं, जिससे उसे न देखने वाली जनता पुराणों पर बिगड़ उठे। पर पूर्वापर-प्रकरणके उपस्थित कर देनेसे वही प्रमाण प्रतिपक्षियोंको गिराने वाले बन जाते हैं। हम यहाँ कुछ आक्षेपों पर विचार रखेंगे। 'आलोक' पाठक ध्यान से देखें। उक्त पुस्तकें पं० माधवा-चार्यजी पर लिखी गई हैं, उनका पूरा उत्तर वे देंगे ही, पर हम भी कुछ आवश्यक बातों पर प्रकाश डालते हैं। यह स्पष्ट है कि पं० माधवाचार्य जीने जो प्रश्न रखे थे, उनका उत्तर प्रतिपक्षी

से नहीं बन पड़ा। केवल इस बहाने उसने सनातनधर्म पर आक्षेप कर डाले हैं कि—पं० माध०जी के स्वा० द० जी पर किये हुए आक्षेपों को भुलवा दिया जाय। अस्तु! हम प्रतिपक्षी-द्वारा सनातनधर्म पर किये गये आक्षेपोंका प्रत्युत्तर-द्वारा परिहार करेंगे।

'उदीर्ष्व नारि!' का अर्थ

(१) श्री पं० माध० शा० जी ने 'उदीर्ष्व नारि!' मन्त्र के स० प्र० में किये हुए स्वा० द० के 'विधवे! इस मरे हुए पतिकी आशा छोड़के, बाकी पुरुषों में से जीते हुए दूसरे पतिको प्राप्त हो' इस वेदार्थके अनार्य होनेका आक्षेप किया था कि—आर्यसमाजी मृत-पतिका शव जलानेसे पूर्व ही अंगुलिनिर्देशपूर्वक विधवा को कहते हैं कि—इस मरे हुए पतिकी आशा छोड़के जीवितों-में से किसी को वर ले'।

यहां पर स्वा० द० जीसे प्रयुक्त किया हुआ 'इस मरे हुए पति की आशा छोड़ के' का 'इस' शब्द 'इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतः-र्वति चैतदो रूपम्' इस न्याय से 'अंगुलिनिर्देश' को बता रहा है। यह आक्षेप ठीक था, क्योंकि—यहाँ ऐसा व्यवहार एक अमेरिकन लेडी के रवैयेको भी मात कर गया था। सुना जाता है कि—अमेरिका में स्वा० रामतीर्थने एक लेडीको देखा कि वह अपने पतिकी कब्रको पंखा कर रही है, तो वे चमत्कृत हुए कि यह तो भारतकी पतिव्रताओंसे भी बाजी मार ले गई है। उन्होंने कब्र को पंखा करनेका कारण पूछा, तो वह बोली कि हमारे यहाँ का नियम है कि पतिकी कब्र सूख जाने पर तब विधवाको अधिकार हो जाता है कि—वह अन्य पति ले ले। पर यह कम्बख्त कब्र सूख भी नहीं रही है। इसे सुखानेके लिए ही मैं इसे पंखा कर रही हूँ। श्रीरामतीर्थका वह चमत्कार घृणा-

रूप में परिणत हो गया। स० प्र० के अर्थने तो उस स्त्रीको भी मात कर दिया।

यहाँ तो पतिके जलानेसे पूर्व ही श्मशानमें आये हुए पुरुषों-में से जीते हुए दूसरे पतिको चुन लेनेके लिए स० प्र० ने आज्ञा दे दी—यह आक्षेप था श्री माध० जीका कि यह तो पशुधर्म है। प्रतिपक्षी उस पर बहुत-कुछ हाथ-पैर पटकने पर भी उसका प्रत्युत्तर तो न दे सका, क्योंकि—दुर्भाग्य से स० प्र० में किया हुआ वेदार्थ बड़ा ही खराब था, यहाँ तक कि—उस अर्थ को बलात् निकालनेके लिए मन्त्र-स्थित 'शेषे' इस निघात-स्वर वाली तिङ्-क्रिया को 'बाकी' अर्थमें सुप् बनाकर तो वेद एवं वैदिक व्याकरण पर भी आक्रमण कर दिया गया है—इस विषय में 'आलोक, (८) का 'नियोग एवं विधवाविवाहके प्रसिद्ध मन्त्र' (पृ० ५१७—५४६) निबन्ध देखिये। पर प्रतिपक्षीने इस बातका बदला लेने के लिए वही बात सायणभाष्य पर डाल दी, और मोटे अक्षरों में शीर्षक लिख दिया कि 'पति की लाश पर पत्नी का स्वयम्वर पौराणिक-प्रथा है' यह शायद मन्त्र के 'पुराणं धर्ममनुपालयन्ती' के अर्थमें प्रतिपक्षीने लिखा हो, और पुराण-धर्मको वेदधर्मसे भी प्राचीन सिद्ध कर देने का अपने अनजानमें प्रयत्न किया हो। अस्तु—

पूर्वोक्त शीर्षक देकर प्रतिपक्षीने तैत्तिरीयारण्यकका सायण-भाष्य दिया है, और उसपर टिप्पणी चढ़ाई है कि स० ध० का महान् आचार्य सायण तो डंके की चोट मुर्दे-पतिके कारण शोकमें कातर पड़ी हुई सद्योविधवाको लाशको छोड़कर शोक-प्रदर्शनको आई हुई भीड़में से पुनः विवाहके लिए किसी का हाथ पकड़नेका आदेश दे रहा है। यह पापाचार खास स० ध० का अङ्ग है। मुर्दे के पड़े होने पर विधवाकी शादी रचना यह आर्यसमाजका

नियम तो नहीं है [स० प्र० का अर्थ तो यही बता रहा है, पर प्रतिपक्षो उसे छिपाना चाहता है] पर स० ध० में अवश्य है··· अब विपक्षी (मा० चा०) बतावे कि ··मुर्देको जलानेसे पूर्व ही अंगुलीनिर्देशपूर्वक विधवासे शादीके लिए कहना···यह सनातनी पशुधर्म है या नहीं' [यहाँ पर 'उल्टा चोर कोतवालको डांटे' यह कहावत प्रतिपक्षी चरितार्थ कर रहा है]

यह आक्षेप करके प्रतिपक्षीने आर्यसमाजके धर्म-ग्रन्थ स० प्र० में आये हुए 'हे विधवे ! तू इस मरे हु' पतिकी आशा छोड़ के बाकी पुरुषोंमें से जीते हुए पतिको प्राप्त हो' (४ थं समु०) इस मन्त्रके अर्थ पर पर्दा डालनेकी चेष्टा की है, अपनी बला दूसरे पर डाल देनेकी चेष्टा की है—यह विद्वान् पाठकोंने अनुभव किया होगा। यही आक्षेप जो प्रतिपक्षीने सायरण पर किया है—यही का यही प० माध० जी ने स्वा० द० जी के वेदार्थ पर किया था, पर प्रतिपक्षी ने उसका उद्धार न करके उसे भुलवानेके लिए यह चाल खेली कि—वही आक्षेप सायरण-भाष्य पर कर दिया।

स्वा० द० जी ने 'गतासुमेतं' इस मन्त्रके ज्ञापकसे अन्त्येष्टिके समय बोले जाते हुए 'उदीर्ष्व नारि !' इस मन्त्र का अर्थ करते हुए 'इस मरे हुए पतिकी आशा छोड़ के' यहाँ 'इस' शब्दसे 'इदमस्तु संनिकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्' इस न्यायसे 'समीपतर अर्थको बताने वाले मन्त्र-स्थित 'एतद्' शब्द के अनुसार 'इस' शब्दसे अंगुलिनिर्देश सूचित किया था, और फिर मन्त्रमें सर्वथा न ठहरे हुए 'इस मरे हुए पतिकी आशा छोड़ के बाकी पुरुषों में से दूसरे पतिको प्राप्त हो' यह शब्द भी स्वामीने मन्त्रार्थमें प्रक्षिप्त कर दिये थे कि—जिससे उनका मनचाहा नियोग अर्थ सिद्ध हो जावे। स० प्र० में स्वामी ने जो अर्थ किया था, थोड़े से परिवर्तनके साथ वैसा ही अर्थ ऋभाभू. में भी कर डाला कि—

'हे स्त्रि ! अपने मृतक-पतिको छोड़ के इस जीवलोक में···दूसरे पुरुषके साथ नियोग करके सन्तानोंको प्राप्त हो'। मन्त्रमें न लिखे हुए भी पदोंका स्वामीने निर्मूलतासे अर्थ बढ़ा दिया, जैसे कि—'छोड़ के, जो तेरी इच्छा हो, सन्तानों को प्राप्त हो, 'हे विधवे नारि ! गतप्राणं मृतं विवाहितं पतिं त्यक्त्वा' इससे मृतक पति की लाश का मौजूद होना और उसको छोड़ देना स्पष्ट शब्दोंमें कहा जा रहा है) जीवन्तं देवरं द्वितीयवरं पतिं एहि प्राप्नुहि'। स० प्र० में तो 'शेषे' इस तिङ्-क्रिया को सुप् बनाकर 'बाकी' अर्थ कर दिया था, और ऋभाभू में भी इसी तिङ्-क्रियाको सुप् बनाकर उसका 'सन्तानोत्पादनाय' यह गलत अर्थ कर दिया। सन्तानवाचक 'शेषस' शब्द सकारान्त है, और मूर्धन्य 'ष' पर स्वरित स्वर है, देखो निघण्टु(२।२),पर उक्त मन्त्रमें 'शेषे' तिङ्-क्रिया होनेसे निघात है, 'षे' के अनुदात्त को सामने उदात्त होने से अनुदात्ततर हो गया है। यदि 'सन्तानाय' अर्थ होता,तो 'शेषसे' बनता, जैसे 'शेर्षसा' (ऋ. ५।७०।४) यह वेदमें अपत्यवाचक 'शेषस' शब्द तृतीयान्त है। पर प्रतिपक्षी ने जो कि ऋभाभू. का सहारा लेकर स० प्र० के अर्थको छिपानेकी चेष्टा की है कि— 'तू इस मरे हुए पतिकी आशामें दुःखी होना छोड़कर' इस वाक्य में 'इस' शब्दका यह अर्थ नहीं होगा कि लाश सामने पड़ी है, और विधवासे दूसरी शादीका उपदेश दिया जा रहा है, इत्यादि-रूप में 'इस' अर्थके बदलनेमें और 'दुःखी होना' प्रक्षिप्त करके 'यह मरनेके समयका वर्णन नहीं, 'किन्तु पीछे का' इत्यादि बलात् अर्थ करनेमें बेचारे प्रतिपक्षी की बड़ी दयनीय दशा हो गई है। प्रत्यक्ष बातको छिपानेका यही तो परिणाम होता है। स्पष्ट है कि— वह इसमें सफल नहीं हो सका।

इस मन्त्र के विषय में 'आलोक' ८म पुष्प देखना चाहिए।

सायण ने 'आशा छोड़के' तथा 'बाकी पुरुषों में से' यह अर्थ नहीं किया था, पर स्वामीने वेदके विरुद्ध अनर्गल अर्थ कर दिया। मालूम होता है कि प्रतिपक्षीने उक्त मन्त्रका सायण-भाष्य किसी आर्यसमाजीकी पुस्तक (पौ० पो० प्र० आदि) से उद्धृत कर लिया है। श्री सायणके 'उदीर्ष्व नारि!' तथा 'इयं नारी पतिलोकं वृणाना' मन्त्र के सभी भाष्यों को प्रतिपक्षी ने या तो देखा नहीं, या फिर जनताको अपना चिराभ्यस्त धोखा देनेके लिए उन्हें छिपा दिया है। हमने उसका पूरा समाधान 'आलोक' (८) में 'सायण और विधवा-विवाह (पृ० ४८९-५१६) शीर्षक निबन्ध में किया है। पाठक तथा प्रतिपक्षी उसे देखें। अब सायणभाष्यका तो वह दोष न रहा, वही का वही दोष स्वा० द० भाष्य पर सिद्ध हो गया। प० माध० जी की बात ठीक निकली, प्रतिपक्षी उसका उत्तर कुछ भी न दे सका।

मुर्दे पति के साथ पत्नी का सुलाना

(२) आगे प्रतिपक्षी लिखता है—मुर्दे पतिके साथ उसकी विधवा पत्नी को सुलाकर, मुर्दे से गर्भाधान कराकर ७-७ लड़के पैदा करा लेने का सनातनी विधान इन लोगों में चालू है। जैसा कि—महा० आदि० १२० अ० में मृत राजा व्युषिताश्वके शव के साथ उसकी रानी भद्राने सोकर उस मुर्दे से गर्भाधान कराया, और ७ लड़के पैदा किये' (पृ० २६)।

प्रतिपक्षीने यह बात उपहासके लिए रखी मालूम होती है। चलो मुर्दे अपने पतिसे ही सन्तान सही, तब प्रतिपक्षी सायणभाष्यमें भी वही समझ ले, क्योंकि—वहाँ श्रीसायणने स्वा०द० जी की भाँति 'मृतं पतिं विहाय'(मरे हुए पतिकी आशा छोड़कर)अर्थ तो लिखा नहीं। पतिव्रता भद्राने भी आप लोगों के सम्प्रदायकी भाँति मृतक-पतिको छोड़कर अन्य पुरुषका कामास्वाद लेकर

अपने पातिव्रत्यका भङ्ग तो नहीं किया! हम इस इस कथा का समाधान इसी पुष्प (पृ० ३०३-३०६) में कर चुके हैं। प्रतिपक्षी वहीं देख ले।

अंगुलि-प्रयोग

(३) प्रतिपक्षीने पुराणोंको बदनाम करनेका ठेका ले रखा है। इसी लिए उसने 'अंगुली का विचित्र प्रयोग' (पृ० २७) शीर्षक रखकर पद्मपुराण (पाताल० ११२ अ०) से 'वैधव्ये द्रविणं सर्वं धर्मार्थमेभविष्यति' आदि २३, २४, २७, २८, २९, ३० पद्य दिये हैं। प्रतिपक्षीमें आदत है कि—वह बीचके श्लोक छोड़ कर और पूर्वापर-प्रकरणको छिपाकर और फिर अर्थ गलत करके अनुसन्धान न करने वाली जनताकी आँखोंमें धूल झोंका करता है। यह केवल इसलिए कि—पुराण बदनाम हो जायें। और यहाँ उसका धोखा देनेका कारण यह है कि—पं० माध० जी से आक्षिप्त किया हुआ स० प्र० का 'उदीर्ष्व नारि!' मन्त्र का पातिव्रत्यविघातक अर्थ किसी प्रकार पाठकोंको भूल जावे।

प्रतिपक्षीसे आक्षिप्त पुराणके पद्यमें प्रकरण यह है कि—शोण और कला नामक पति-पत्नी गङ्गा-स्नानार्थ गये, तो उन्हें एक कलशमें बहुत धन मिला। उस समय पतिने स्त्रीसे उस धनके विषयमें सम्मति पूछी। पत्नीने धनकी निन्दा की, और कहा कि—यदि नारीके सामने धन आ जावे, तो वह पुरुषको ठग लेती है—'यदि नारीसमक्षं तु द्रविणं दृष्टिमापतेत्। वञ्चयीत तदा नारी त्वीदृशैर्वाक्यसंचयैः' (११२।७)यहाँ पर 'वंचयीत' यह लिङ् लकार है। यहां इसका अर्थ है कि—'स्त्री ठग लिया करती है'यहां 'स्त्री ठग ले' यह विधि अर्थ कभी नहीं हो सकता, जैसा कि—आगे प्रतिपक्षी ने प्रकृत प्रकरण में लिङ् का अर्थ पुराणको कलङ्कित करनेके लिए प्रकरणसे विरुद्ध 'विधि' कर दिया है।

'लिङ्' के अर्थ बहुत हुआ करते हैं, इसपर देखो अष्टाध्यायी-की 'लकारार्थ-प्रक्रिया'। 'शकि लिङ् च' (पा० ३।३।१७२) यहाँ पर शक्ति (सकने) अर्थ में 'लिङ् कहा है। 'भवान् भारं वहेत्' प्रकरण में 'विधि' नहीं, कि—"तुम भार उठाओ" किन्तु यह अर्थ है कि—'तुम भार उठा सकते हो'। और देखिये—'सम्भावनेऽलमिति चेत् सिद्धाप्रयोगे' (३।३।१५४) यहाँ सम्भावना अर्थ में 'लिङ्' किया गया है 'अपि पर्वतं शिरसा भिन्द्यात्' यह पहाड़ को सिरसे फोड़ डालेगा-ऐसी इससे सम्भावना है, यह यहां प्रकरणिक अर्थ है। यहाँ भी विधि नहीं है। इस प्रकारके सैंकड़ों लिङ् के प्रयोग दिखलाये जा सकते हैं—। यही अर्थ प्रतिपक्षा से आक्षिप्त पौराणिक पद्यों में प्रयुक्त लिङ् में है।

उस प्रकरणमें पुराणमें यह बात चालू है कि—बहुत धन हो जानेसे मनुष्योंमें भोगकी इच्छा पैदा हो जाती है—प्रायेणा ऽर्थवतां नृणां भोगलिप्सा प्रजायते' (१३)। फिर आगे लिखा है—उससे नारी स्वतंत्र हो जाती है—'नारी स्वतन्त्रतामेति' (१५) फिर उसमें कई कुटेवें पैदा हो जाती हैं—'विश्रम्भाज्जायते स्त्रीणां-नानाविधि विचेष्टता' (१६)। और फिर जिस-किसी पुरुष से वह प्रेम करने और फिर मैथुनमें लगजाती है—'यं कंचित् पुरुषं दृष्ट्वा युवानं प्रीतिरापतेत्। प्रीत्या सञ्जायते योगो योगान्मैथुनसङ्गतिः' (१७)यहाँ भी लिङ् का अर्थ सम्भावना है, विधि नहीं, यह प्रति-पक्षी याद रख लें। धन होने पर पुरुष स्त्रीको मार देता है, स्त्री पति को। विधवा हो जाने पर यदि स्त्री अग्निप्रवेश न कर जावे तो वह सोचती है कि—धन मेरे काम आवेगा। 'अथ पूर्वं पतिमृतौ प्रविशेन्नाशुशुक्षणिम्'। यहाँ भी 'प्रविशेत्' लिङ् है, और उसका अर्थ 'विधि' नहीं है। पर पीछे उन धनिक-विधवाओं-को बुरी-बुरी इच्छाएँ वा कुटेवें पैदा हो जाती हैं। यहाँ पर कलाने

उन विधवाओंकी वे कुटेवें वर्णित की हैं, जिन्हें प्रतिपक्षीने कुछ पद्य छोड़कर और पूर्वापर-प्रकरण छिपाकर उद्धृत किया है (११२। २४-२५-२६-२७-२८-२९) सार यह निकला कि—गरीब विधवाएँ अपना धन न होने से शास्त्रानुसार शरीर सुखा देती हैं, उनमें काम-संचार नहीं होता, पर धनी विधवाओंमें तो खाना-पीना पहरना बढ़िया होने से काम-संचार होता है, उनमें उक्त कुटेवें हो जाती हैं, यह यहां आशय है।

'प्रवेशयेद् अंगुलिम्, रमयेदेव' इत्यादि लिङ्का विधि अर्थ करना कि—'वह ऐसा करे' यह प्रकरणके प्रतिकूल है। यहाँ तो पूर्वप्रोक्त 'वञ्चयीत' आदिके लिङ्की भाँति शक्ति (सकना) वा सम्भावना ही अर्थ है। कला तो 'धन' वाली विधवाओंकी यह कुटेवें हो सकती हैं, या वैसी उनमें सम्भावना रहती है'—यह बता रही है। ऐसी विधि नहीं बता रही कि - विधवा ऐसे करे, जैसे कि प्रतिपक्षीने जान-बूझ कर अथवा संस्कृतमें पूर्णप्रवेश न होने से अनभिज्ञतावश पुराणको बदनाम करनेके लिए वैसी दुश्चेष्टा की है। ऐसा अश्लील उपदेश कोई भी शिष्ट, विशेष करके सुमति-स्त्री नहीं कर सकती। अतः यहां वैसा अर्थ करनेमें प्रतिपक्षीका दुस्साहस ही है। हमारे कहे अर्थमें जहाँ प्रकरण पूर्ण-सहायक है, वहाँ पर वहाँके पद्य भी साक्षी हैं—

'प्रायेणार्थवतां नृणां भोगलिप्सा प्रजायते' (११२।१३)नारी स्वतन्त्रतामेति' (१५) 'यं कंचित् पुरुषं दृष्ट्वा युवानं प्रीतिरापतेत्। प्रीत्या सञ्जायते योगो योगान्मैथुनसङ्गतिः (१७ यहाँ सर्वत्र पूर्व बातको स्पष्ट करने वाला लट्लकार है। 'आपतेत्' में भी पूर्ववत् लट्लकारका ही अर्थ है। 'यदि नारीसमक्षं तु द्रविणं दृष्टिमापतेत्। वञ्चयीत तदा नारी (११२।७) इन पद्योंमें भी नारीको पतिके ठगनेकी विधि 'वंचयीत' इस लिङ् से नहीं बताई जा रही है कि-

नारी पतिको ठगे, किन्तु यहाँ भी प्रकरणानुसार 'लट्' का ही अर्थ है कि-'ठग लिया करती है या 'उसकी पतिको ठगनेकी सम्भावना रहती है' यह अर्थ हैं। इस प्रकारका पद्म-पुराणके भूमिखण्डमें भी लिङ्का प्रयोग प्रतिपक्षी देखे, जहाँ लट्का अर्थ है। जैसे कि—'साध्वीं नारीं समाहूय पापवाक्यैः सुलोभयेत् (८६।११) 'धर्म-भङ्गं चकाराथ वाक्यैः प्रत्ययकारकैः। साधूनां सा स्त्रियं चित्रा अन्यस्मै प्रतिपादयेत्' (१२) यहाँ यह अर्थ नहीं कि—दिव्यादेवी पूर्व जन्ममें अच्छी नारीको लुभावे, किसीकी स्त्रीको दूसरेको दे देवे, किन्तु 'लोभयति, प्रतिपादयति' यह लट्का अर्थ है, वैसे ही प्रति-पक्षीसे दिये हुए वाक्योंमें भी लट्का ही अर्थ है। इसीलिए 'इदमूचे वचो दुःखात्' (२५) 'ततः प्रद्युष्टाऽभवत्' (२६)यहाँ लिट्का भी छन्दसि 'लुङ्लङ्लिटः' (पा० ३।४।६) 'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' (महाभाष्य नदीसंज्ञासूत्र) इन सूत्र-परिभाषाओं से लट् लकारका ही अर्थ है—यह वहाँका प्रकरण स्पष्ट बता रहा है प्रकरण विधिका अर्थ नहीं बता रहा। और कोई ऐसी विधि करता भी नहीं, तब स्पष्ट है कि—यहां कोई वैसा विधान नहीं, पर प्रतिपक्षीकी गुरुपरम्परासे चल रही आदत पूर्वापर-प्रकरण छिपानेकी बनी हुई है, जिससे यह लोग अनुसन्धान-विरहित भोले-भाले लोगोंको ठगकर पुराणोंको साधारण-जनदृष्टिमें कलङ्कित करके अपना निर्वाह भी करते चले जा रहे हैं।

यदि पुराणका पूर्वापर-प्रकरण देख लिया जावे, तो वही प्रमाण प्रतिपक्षीके विरुद्ध होजाता है। इसीलिए इसी प्रकरणमें 'कृत्वान्य-वेषमात्मानं यैः कैरपि- उपभुज्यते, (३०) यहाँ लट्लकार का प्रयोग है। प्रतिपक्षीने इस पद्यको तथा हमसे पूर्वनिर्दिष्ट पद्यों को छिपा लिया है, जिससे उसकी इच्छाका अनुसारी अर्थ हो जावे, और 'अज्ञातं च गृहं गत्वा' इस ३२ श्लोक की उसने ३०

संख्या लिख डालो, और इस श्लोकका जो उत्तरार्ध 'नारीसमक्षं लब्धे तु द्रविणे ह्येतदिष्यते' (३२) यह पूर्वापर-प्रकरणको मिलाने वाला अंश था, उसे प्रतिपक्षीने जानबूझकर जनदृष्टिसे छिपा लिया है, जिसमें कहा गया था कि धन आने पर स्त्री का यह हाल हुआ करता है। इससे प्रतिपक्षिप्रोक्त विधि-अर्थका कचूमर निकलकर केवल सम्भावना-अर्थ बना रहता है।

कलाके द्वरा कही हुई प्रचुर-धनकी हानि समझकर उसके पति शोणने उस धनको एक कपड़ेमें लपेट कर घुटने-इतने गढ़े में दबा दिया, और उस पर टट्टी कर दी। इस पूर्वापर को छिपा कर 'हाथ से उसे मले, अंगुली से, लकड़ी से, या किसी पुरुषसे उस खुजली को मिटा ले, अथवा गुप्त-रूपसे किसीके घर चली जावे, रमण कराकर उसे दूर करा ले' यह जो प्रतिपक्षीने विधिका गलत अर्थ कर दिया है, इससे मालूम होता है कि-या तो प्रति-पक्षीको संस्कृत-व्याकरणका ज्ञान नहीं, या वह जानबूझ कर पुराणोंको कलङ्कित करना चाहता है, तभी तो उसने पूर्वापर-प्रकरणकी चोरी कर ली है। डाक्टर होनेसे शायद वह ऐसे नुसखोंकी दूसरोंको विधि बताया करता हो, पर पुराणमें न ऐसा कोई प्रकरण है, और न अर्थ है न प्रकरणके साथ उस अर्थका सामञ्जस्य है। प्रकरणको छिपाने और उससे विरुद्ध अर्थ करनेके प्रतिपक्षीके षड्यन्त्रका पर्दाफाश हो जानेसे अभिज्ञ लोग प्रतिपक्षीसे घृणा करने लगेंगे, और उन्होंने समझ लिया होगा कि 'उदीर्ष्व नारि!' मन्त्रके स० प्र० तथा ऋभाभू. में किये हुए गन्दे अर्थ की झेंप मिटानेके लिए ही प्रतिपक्षीने पुराणका यह अप्रकृत उद्धरण उपस्थित किया है। चल और प्रकरण रहा होता है, यह लोग बीच में पुराणका और अप्रकृत प्रकरण डाल दिया करते हैं कि जनता उसमें उलझी रहे, और उसे वास्तविक प्रकरण भूल

जाए। इसी कारण ही प्रतिपक्षीने फिर आगे बृहस्पतिका अप्रकृत वर्णन भी दे दिया है।

बृहस्पति का भ्रातृ-पत्नी गमन

(४) प्रकरणवश प्रतिपक्षीकी कई अन्य बातोंपर भी संक्षेपसे विचार किया जाता है। पृ० ३४ ३६ में प्रतिपक्षीने बृहस्पतिका गर्भवती-भाभी ममतासे गमनका वर्णन महाभारतसे देकर लिखा है 'सनातनधर्मकी यह गर्भवतीके साथ बलात्कारकी व्यभिचार की व्यवस्था ठीक है, या दयानन्द की शास्त्र-सम्मत नियोगकी व्यवस्था ठीक है' यहाँपर जब प्रतिपक्षीने गर्भवतीका प्रकरण चलाया है, तब उसे उसके मुकाबलेमें 'गर्भवतीसे नियोगकी व्यवस्था' लिखना चाहिये था, तभी दोनों वाक्योंकी तुलना ठीक-ठीक होती। 'नीरक्षीरविवेक' (पृ० २४१) में 'पथिक' ने भी यही आक्षेप किया है। इसपर प्रतिपक्षी बतावें कि क्या महाभारत में कहीं व्यवस्था या विधि लिखा हुई है कि—'देवर गर्भवती भाभीसे मैथुन करे'? यदि ऐसी व्यवस्था कहीं विधि-रूपसे लिखी नहीं है, तब प्रतिपक्षी उत्तर दे कि उसने इसे सनातनधर्म की व्यवस्था कैसे लिख दिया? यह तो इतिहासमें जैसे जिसका बुरा-भला वृत्त आया, वैसा लिख दिया गया। 'इति ह आस' ही 'इतिहास' हुआ करता है। प्रतिपक्षियोंके अनुसार चतुर्वेद तथा षट्शास्त्रोंके वेत्ता रावण ने परस्त्री चुराई। धर्मराज युधिष्ठिरने जुआ खेला। यह इतिहास में आया और वैसा लिख दिया गया। तब क्या यह सनातनधर्म की व्यवस्था हो गई? प्रतिपक्षीको ऐसा अयुक्त लिखते हुए कुछ तो लज्जा आनी चाहिये!!!

ऐतिहासिक आचरण से कभी व्यवस्था नहीं हुआ करती। व्यवस्था तो धर्मशास्त्रविहित ही हुआ करती है। देखो इस पर न्यायदर्शनका वादिप्रतिवादिमान्य ४।१।६२ सूत्रका वात्स्यायन-भाष्य!!!

(ख) महाशय! इतिहासमें 'जैसे का तैसा' लिख देना व्यवस्था नहीं हो जाया करती। देखिये-स्वा० द० जी के इतिहास में लिखा है, 'कई बार भंगके प्रभावसे स्वामीजी अचेत हो जाया करते थे' (श्रीमद्दयानन्दप्रकाश पृ० ४१)। उन दिनों स्वामीजी भाल पर विभूति रमाया करते थे. गले में रुद्राक्षकी एक माला होती थी' पृ० ५३) 'उस (स्वा० द० की) विजय से प्रभावित होकर लोग धड़ाधड़ शैव बनने लगे। कण्ठियोंका स्थान रुद्राक्षकी मालाएं लेने लगीं। महाराजा रामसिंहने भी शैव-सम्प्रदायको स्वीकार कर लिया। इससे राजकीय हाथियों और घोड़ोंके गलेमें भी रुद्राक्षकी मालाएं पड़ गईं। स्वामीजीके हाथसे भी मालाएँ वितरण कराई गई' (पृ० ७४–७५) 'पुष्कर निवासके दिनोंमें स्वामीजी वहाँसे विभूति मंगाकर रमाया करते थे। उनके कण्ठमें रुद्राक्षकी माला थी। उसके बीचो-बीचमें एक-एक दाना श्वेत काँचका भी था' (पृ० ८०)। 'स्वामीजी कृष्ण-अभ्रककी भस्म (वाजीकरण-ओषधि) भी खाया करते थे' (पृ० ८८) 'श्रीस्वामीजी नसवार लिया करते थे' (पृ० १६३) 'हुलासकी एक डिबिया और चबानेका कुछ तम्बाकू उन (स्वा० द०) के पास पड़ा था। महाराजने कहा-यदि तुम नसवार सूंघना चाहते हो, तो ले लो' (पृ० १६२) 'उन दिनों स्वामीजी हुक्का पिया करते थे। एक दिन एक पण्डितने उनसे पूछा हुक्का पीना वेदमें कहाँ लिखा है? स्वामीजीने कहा—वेदमें कहीं इसके पीनेका निषेध भी तो नहीं है [यह तम्बाकू पीने वालोंकी दलीलें स्वामीने भी अपनाईं]। पण्डितने फिर कहा कि—आप संन्यासी होकर हुक्का पीते हैं? स्वामीजीने कहा—यदि आप हुक्केसे अप्रसन्न हैं, तो लो मैं इसे परे फेंक देता हूँ। (प्र० २७४) यह कहकर भी स्वामीने हुक्का नहीं छोड़ा। फिर ३१८ पृष्ठमें लिखा है–फिर उस साधुने स्वामीजीसे कहा–हुक्का आप क्यों

पीते हैं? इसका पीना पराई जूठनका पीना है। महाराजने कहा- मैं धूम्रपान कफकी निवृत्ति (?) के लिए करता हूं। धर्मशास्त्रमें कहीं इसका निषेध भी नहीं है। मैं अपना हुक्का न किसीको देता हूँ, और न दूसरेका लेकर पीता हूं'। 'बाल्यावस्थामें स्वामीने मूर्ति-पूजा की थी'। इत्यादि।

तब क्या इस स्वामीके इतिहासमें प्रोक्त आचरणसे प्रतिपक्ष के अनुसार यह 'आर्यसमाजके वैदिक-धर्मकी व्यवस्था हो जायगी? क्या आर्यसमाज इस व्यवस्था पर अमल करता है? अब प्रकरण पर आना चाहिए। देवताओंका कामी होना वेद भी लिखता है- 'कामः प्रथमो जज्ञे, नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः। ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा (जगत्को हराने वाला) महान्' (अथर्व ६।२। १९) इत्यादि मन्त्र हम 'पुराण-चर्चा' में लिख चुके हैं। इसके अतिरिक्त देवता भोगयोनि होते हैं, कर्मयोनि नहीं। इस अर्थवादात्मक कथासे यह भी सिद्ध होता है कि—घरमें देवर-भाभी इकट्ठे रहते हैं। यदि देवर बृहस्पति (बड़ा विद्वान्) भी हो, तब भी उसपर भाभीके विषयमें विश्वास न कर लो, और न भाभी पर। कहीं वह भी 'देवृकामा' न हो जाय। इसलिए मनुजीको भी कहना पड़ गया-'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्। बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति' (२।२१५) अब देखिये— माता, बहिन, लड़कीसे भी एकाँतमें बैठनेका निषेध कर दिया, वह भी विद्वान्को, फिर भाभीका तो क्या कहना है? क्या पौराणिक उक्त-उपाख्यान उक्त श्रुति-स्मृतिका व्याख्यान नहीं? 'स्मृति-चन्द्रिका' आदिमें तो 'मनुस्मृति' का यह पद्य भी मिलता है-'धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः श्रेष्ठानां साहसं तथा। तदन्वीक्ष्य प्रयुंजानाः सीदन्त्यपरधर्मजाः। पर भाभीको 'देवृकामा' बनना तो आर्यसमाजने क्षम्य मान लिया, बल्कि उसे वेदानुगृहीत मान लिया,

यद्यपि उक्त वैदिकपदका आर्यसमाज-सम्मत अर्थ नहीं। इस विषयपर 'आलोक' (८) में 'देवृकामा' पर विवेचना देखिये। (पृ० ५५४-५६२)

यदि देवरका भाभीसे व्यवहार प्रतिपक्षी व्यभिचार मानता है, तो उसे बधाई हो। देवरसे भाभी का बिना विवाह-संस्कार नियोग (मैथुन) उसका संप्रदाय तथा उसका संचालक मानता है, तब वह उसके मतमें व्यभिचार हुआ। 'देवृकामा' कहने वाला वेद भी उनके मतमें व्यभिचार-प्रवर्तक सिद्ध हुआ। यदि कहो कि—वह नियोग पतिके मरनेपर है, तो यह वहाँ लिखा तो नहीं और फिर जीवितत्वमें भी प्रतिपक्षी नियोग (मैथुन) मानते हैं, 'अन्यमिच्छस्व सुभगे! पतिं मत्', और उस दूसरे वीर्यप्रदाताको 'देवर' ही तो कहते हैं।

यदि गर्भवतीकी बात कही जाय; तो महाभारतने कहीं वैसी आज्ञा तो दी नहीं, पर गर्भवतीसे अन्यका समागम तो स० प्र० ने भी (चतुर्थ-संस्करण तक) विधि-रूपसे लिख रखा है। वे शब्द यह हैं – 'गर्भवती स्त्रीसे एक वर्ष समागम न करनेके समयमें पुरुष वा स्त्री से न रहा जाय, तो किसीसे नियोग करके उसके लिए पुत्रोत्पत्ति कर दे' (द्वितीयावृत्ति १८८४ पृष्ठ १२० पं० २५)। द्वितीय-संस्करणसे चतुर्थ संस्करण तक तो यही पाठ छपता रहा, पीछे पंचमावृत्तिसे आर्यसमाजियोंने इस पाठको बदल दिया। पर यह पाठ प्रकरणानुसारी तो सिद्ध होता है—ऐसा एक विधवा-विवाह-प्रेमीका कथन है(देखो इसपर 'मर्यादा' पत्रिकाकी पुरानी फाईल)।

उसका आशय यह है कि—नियोगमें स्वामीजीने स्त्री-पुरुषोंको समान अधिकार दिये हैं। यदि उनके अनुसार गर्भवतीत्वमें

उससे समागम न करनेसे उसका पति संयम न कर सकनेसे अन्य स्त्रीसे नियोग करता है, इस प्रकार गर्भिणीसे उसके पतिका भी स्वामीके अनुसार संयोग निषिद्ध होनेसे गर्भवती स्त्री भी यदि संयम न कर सके, क्योंकि—गर्भिणीकी वैसी इच्छा भी रहा करती है। तब वह क्या करे? पति स्वा० द० के किये निषेधवश उससे मैथुन कर नहीं सकता। तब जैसे उसका पति स्वामि-द्वारा अन्य स्त्रीसे नियोगार्थ आदिष्ट किया गया है, उसमें दोष नहीं माना जाता। तब यदि उसकी उस गर्भवती पत्नीसे 'न रहा जाय', तब वहभी अन्यसे नियोग कर सकेगी। तभी समानाधिकारन पूर्ण होगा। नियोग को स्वामी परमधर्म मानते हैं, अतः उनके मतमें इसमें दोष भी नहीं।

(ग) जो व्यक्ति कहा करते हैं कि यह 'गर्भवती, स्थिररोगिणी अथवा पुरुष दीर्घरोगी और दोनोंकी युवावस्था हो, रहा न जावे, तो फिर वे क्या करें ?' इस प्रश्नके उत्तररूपमें है कि 'गर्भवती स्त्रीसे एक वर्ष समागम न करनेके समयमें पुरुषसे वा स्त्रीसे न रहा जाय, तो किसी से नियोग करके' इत्यादि, पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त प्रश्नके उत्तरमें तो स्वामीने कहा है, 'इसका प्रत्युत्तर नियोग-विषयमें दे चुके हैं' जब ऐसा है, तो 'गर्भवतीसे एक वर्ष समागम न करनेके समयमें पुरुष वा स्त्रीसे न रहा जाय' यह पाठ उक्त प्रश्नका उत्तररूप सिद्ध न हुआ, किन्तु स्वतन्त्र सिद्ध हुआ, तभी तो वहाँ 'और' शब्द लिखा है—'और गर्भवती स्त्रीसे एक वर्ष समागम न करनेके समय' इत्यादि। नहीं तो 'और' शब्द की आवश्यकता भी नहीं थी। यदि प्रतिपक्षीके अपने घरका यह हाल है, तो प्रतिपक्षी अन्य पर आक्षेप कैसे करता है ?

महाभारतमें उस कथाके दो आशय तो हम लिख चुके हैं। तीसरा इसमें आलङ्कारिक अर्थ भी है। 'वाग् वै बृहती' वाक्का

पति मन ही बृहस्पति है, वह उतथ्यरूप जीवकी स्त्री ममतारूप मायामें अपने वीर्य-शक्तिका सञ्चार करता है, तो भरद्वाजरूप संकल्पकी उत्पत्ति होती है-इत्यादि। प्राचीन ग्रन्थों-वेद-पुराणादि में तीन प्रकारकी भाषाएं तथा तीन प्रकारके भाव होते हैं। उनमें कई बातोंसे संरक्षणार्थ कई भयानक-उपाख्यान भी लिखे हुए होते हैं। ऊपर केवल रोचकतार्थ आख्यानकी चोनोका लेप दिया होता है,वहाँ अर्थवाद होनेसे शब्दार्थमें तात्पर्य न होकर विवक्षित-विषयमें तात्पर्य होता है कि-स्त्रीके विषयमें किसी भी पुरुष तथा देवता तकका विश्वास न कर लो। तभी तो उपनिषद्की एक आख्यायिकामें 'द द द' कहा गया है। उसमें मनु-योंके लिए दान और दैत्योंके लिए दया, और देवताओंके लिए दमन-इन्द्रिय-दमन निर्दिष्ट किया गया है। सो देवताओंमें असंयम देखकर ही उन्हें इन्द्रियदमनका आदेश दिया गया था। पर कहीं वैसा असंयम दीख पड़े, तो उसमें विधि सिद्ध नहीं हो जाती।

फलतः इतिहासमात्रसे विधि कभी सिद्ध हो ही नहीं सकती। सैंकड़ों भी इतिहासोंको एक विधिवाक्य मटियामेट कर दिया करता है। आशा है-प्रतिपक्षी इस विषयमें अपना ज्ञान बढ़ावेगा। इतिहास पर व्यर्थके दोष न देगा।

(सनातनधर्मका स्वरूप ?)

(५) पृ० ३३ में 'सच्चे सनातनधर्मका स्वरूप' बताते हुए प्रतिपक्षीने महाभारतसे 'अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने !' इत्यादि इतिहास दिया है। इसी प्रकार 'नीरक्षीर-विवेक' में उसे 'पथिक' ने 'स० ध० की परिभाषा' बताया है, पर इन्हें यह याद रखना चाहिये कि-यह सृष्टिकी आदिका निरूपण 'पुरा' शब्दसे बताया गया है। उस समय व्यवस्था नहीं थी।

शुरू-शुरूमें अमैथुन-योनि होनेसे एक (ब्रह्मा) के पुत्र-पुत्री होनेके कारण भाई-बहनोंका सम्बन्ध हो जाता था। उस समय काम-भावना भी नहीं थी। अतः वैध-विवाह भी नहीं हुआ करता था। कामभावना न होने पर पाप भी नहीं हुआ करता है, जैसेकि-पहले काम-रहित नियोग हुआ करते थे। परन्तु जब कामसञ्चार शुरू हुआ, तब श्वेतकेतुके सामने ही एक पुरुष उद्दालक की स्त्री को कामवश ले जाने लगा, तब श्वेतकेतुको क्रोध आ गया। उद्दालकने उसे क्रोधसे रोका और कहा 'एष धर्मः सनातनः' अर्थात् कोप न करना यह स० ध० है। अथवा पुराना धर्म ऐसा था, यह भी अर्थ सम्भव है। तभी वहाँ कहा है—'धर्ममेवं जनाः सन्तः पुराणं परिचक्षते' (२६) उस धर्ममें प्रतिपक्षीके बुजुर्ग भी शामिल थे ही, क्योंकि-प्रतिपक्षी पुनर्जन्म तथा पूर्वजन्मके सिद्धान्तको मानता ही होगा, नास्तिक नहीं होगा। अभी-अभीका नया पैदा हुआ तो नहीं होगा। लेकिन श्वेतकेतुने कामवासनाका प्रारम्भ देखकर उस प्राचीन-स्वतन्त्रता पर नियन्त्रण और स्त्रियोंके लिए आवरणप्रथा जारी कर दी—'व्युच्चरन्त्याः पतिं नार्या अद्य प्रभृति पातकम्। भ्रूणहत्यासमं घोरं भविष्यत्यसुखावहम्' (१।२।१८) पतिव्रतामेतदेव भविता पातकं भुवि '(१९) इसी समयमें वैध-विवाह होने लगा, पर प्रतिपक्षी उसी स्वतन्त्रताका युग फिरसे लाना चाहते हैं।

आशा है - प्रतिपक्षी समझ गया होगा। सृष्टिकी आदिमें नियन्त्रण नहीं हुआ करते, उनमें अमैथुन-योनिता थी। देखिये स्वा० द० जी ने भी उन जोड़ोंको जो एकके ही सन्तान होने से भाई-बहन थे, उन्हें पति-पत्नी बना दिया।

अण्डकोष खिलाना वा वीर्यपान (?)

(६) शेष जो प्रतिपक्षीने (पृ० २२ में) स्त्रीको लिङ्ग वा

अण्डकोष खिलाना दिखलाया है, इसमें 'वृषणौ उभौ'का 'अण्ड-कोष' अर्थ तो है, 'लिङ्ग' तो नहीं, तब 'लिङ्ग' अर्थ प्रतिपक्षीने कैसे कर दिया? स्त्रीको उसको खिलाने पर आक्षेप किया है, यदि पुरुषको खिलाया जाता तब शायद प्रतिपक्षीको सम्मन होता, इसका उत्तर इसी पुष्प (पृ० २५८—२६०) में हमने दे दिया है। प्रतिपक्षी वहींसे अपना अबोध हटा ले।

(७) पृ० २१ में प्रतिपक्षीने शिवजीका वीर्य पीनेका विधान बताया है, इसका प्रत्युत्तर वह इसी पुष्प (पृ० १७२—१७४) में देखकर अपनी अनभिज्ञता हटा ले। लिङ्ग-भगकी पूजाके विषयमें पृ० २२५—२२९ में वह देखे। ब्रह्माण्डमें अण्ड 'शब्द है, तो क्या प्रतिपक्षी यहाँ मानुषी अण्डकोष समझता है! व्याकरणमें पुंलिङ्ग स्त्रीलिङ्ग वा नपुंसकलिङ्ग होता है, तो क्या वह मानुषी-इन्द्रियोंको उनसे लेता है? प्रतिपक्षीको अपनी बुद्धिको शुद्ध कर लेना चाहिये। ब्रह्माके शुक्रपातपर वह पृ० १३९—१४३ में देखे।

शिखा काटनेमें उपपत्ति

(८) पृ० १६—१७ में जो उसने चोटी काटनेके प्रमाण दिये हैं, उनका 'गर्मीकी मौसममें बुद्धि कम होनें' से-जिसे स्वा० द० जीने बताया है-कोई सम्बन्ध नहीं है। शिखा वाले स्थानमें बाल अधिक होनेसे दिमागमें हानि नहीं पहुँचती। तालु वाले स्थान पर अधिक बाल होनेसे दिमागमें उष्णता हो सकती है, तब चोटी वाले बाल कटाने का आर्डर अबोधमूलक ही है। चोटी वाला भाग तो कर्मका हिस्सा है, इसमें नस-नाड़ियोंका केन्द्र होनेसे वहाँ तो अधिक बालोंका होना उनकी रक्षाकारक होनेसे

लाभदायक हा है। हाँ, तालु वाले स्थानमें बाल भले ही कम हों, तो कोई बात नहीं। इसलिए ही दक्षिण वाले लोग जहाँ गर्मी अधिक पड़ती है-शिखा वाले स्थानमें बाल बड़े रखते हैं। आगेके तालु वाले स्थानमें वहाँके बाल कटवा देते हैं। कई व्यक्ति वहाँ पानके आकारकी हजामत बनवाते हैं। इन सब बातोंका ज्ञान रखनेसे फिर शिखा कटानेका प्रश्न ही नहीं उठता। प्रकृतिने बाल इसी रक्षाके लिए ही तो रखे हैं कि सर्दीमें शीतसे रक्षा हो, और गर्मीमें गर्मीसे। भिन्न वस्तुएं ऊनी टोपी आदि भिन्न-भिन्न गुण वाली होनेसे वे अनिवार्यतया वहाँको रक्षा नहीं भी कर सकतीं, पर प्रकृतिसे दिये हुए बाल वहाँ की रक्षा करते हैं। हमारे केश-ऊन जैसे नहीं, नहीं तो कम्बल बनानेमें भेड़के बालों की भांति इनका भी उपयोग होता। पर नहीं हुआ करता। स्वा० द० जीने चोटी कटानेका 'केशान्तसंस्कार' में आर्डर दिया है, जो १६-२२-२४ वर्षमें होता है। पर वहाँ (केशान्त) शब्द है, शिखान्त नहीं, तब स्वामीने वहां शिखाकी ही सफाई कैसे करा दी ? वहाँ शिखाके काटनेसे जरा भी सम्बन्ध नहीं। क्या १६-२२-२४ वर्षके आगे-पीछे आर्य-समाजियोंको गर्मी नहीं लगती ? क्या भृगुगोत्र बालोंको गर्मी सताती है, अन्य गोत्र वालोंको नहीं, जोकि प्रतिपक्षीने स्वामीकी बात सिद्ध करनेके लिए उनका प्रमाण दे दिया ? वस्तुतः शिखा तो बाहरी तापसे रक्षा करती है। शिखा कटाने वालोंको तो 'सनस्ट्रोक' भी हो सकता है। सिरके द्वारा बाहरी ताप अन्दर आकर हानि पहुँचाता है। 'विशिखा इव' का 'शिखा-रहिताः' अर्थ करनेमें 'आलोक' (५) में 'शिखारहस्य' निबन्ध देखिये। स्त्रीके चोटी न कटानेमें कारण जो प्रतिपक्षीने उनकी शीतोष्ण-सहनकी प्रकृति लिखी है, कि वे वैधव्यमें पतिके साथ चितामें जल जाती हैं। यहाँ प्रति-पक्षी नियोगको भूल गया। वह प्रकृति उन्हें सिरके बालों वा

शिखाके बढ़ानेसे ही तो मिली है, इसलिए जटाजूट रखने वाले तपस्वी मुनि भी शीतोष्ण-रूप द्वन्द्वके सहनेमें प्रसिद्ध रहे हैं। तभी तो वे कपड़ों का बहुत प्रयोग नहीं करते थे।

इससे सिद्ध हुआ कि-स्त्रीमें शीत-उष्णतासहनकी प्रकृति लम्बी-चौड़ी शिखा होनेसे ही प्राप्त होती है। इसी कारण हमारी हिन्दुजाति, उसमें भी विशेष ब्राह्मणजाति दीर्घ-शिखाके कारण ही शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंको सहन करनेमें प्रसिद्ध हैं। तब गर्म-प्रदेशमें शिखाका गर्मीके कारण कटाना यह स्वा० द० जीका हेत्वाभास सिद्ध हुआ। वहाँ भी दीर्घ-शिखा ही गर्मीसे रक्षा करेगी। आजकल स्त्रियोंने भी जबसे अपनी लम्बी चोटीको हटाना शुरू कर दिया है, तबसे उनकी भी शीतोष्ण-सहनकी शक्ति जा रही है। इसलिए वे सर्दीमें ऊनी ओवर-कोट पहनने लगी हैं, और गर्मीमें अपने शरीरके अङ्गोंको नङ्गा रखने लगी हैं। इसीसे वे प्रतिपक्षीके भी अनुसार वैधव्यमें भी पतिके साथ जलनेकी शक्ति न होनेसे नियोग वा विधवा-विवाहमें आस्था करने लग गई हैं।

तब प्रतिपक्षीका एतद्विषयक ऊहापोह कपोलकल्पित एवं निर्मूल है। स्वा० द० जीके कपोलकल्पित सिद्धान्तोंके लोक वा शास्त्र समर्थक नहीं हो सकते।

जोकि 'कात्यायनस्मृतिका प्रमाण दिया गया है—'सशिखं वपनं कार्यमास्नानाद् ब्रह्मचारिणा। आ शरीरविमोक्षाय ब्रह्मचर्यं न चेद् भवेत्' (२५।१४), तो कात्यायनस्मृति तो शिखा-रहित पुरुषका कर्म ठीक नहीं मानती। देखिये उसका प्रमाण—'सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च। विशिखो व्युपवीतश्च यत् करोति न तत् कृतम्' (१।४) तब वह शिखामुण्डन कैसे आदिष्ट

कर सकती है ? इससे स्पष्ट है कि—उक्त वादिदत्त पद्यका अन्य रहस्य है, वह यह कि—जो नैष्ठिक—ब्रह्मचारी बनना चाहता है, उसे भी संन्यासी-जैसे वस्त्र पहनने पड़ते हैं, वैसे ही शिखा हटा देनी पड़ती है। सो 'आ शरीरविमोक्षाय ब्रह्मचारिणा सशिखं वपनं कार्यम्' इस लिङ्गसे मोक्षमें प्रवृत्ति संन्यासियोंकी हुआ करती है। संन्यासीका शिखा कटाना अपवाद है, उसका स्वा० द० प्रोक्त गर्मी हटानेसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं। सो उसी नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए उक्त वचन है। अन्य आश्रमोंको करने वाले ब्रह्मचारीके लिए नहीं। स्वा० द० जीने भी संस्कारविधिमें 'दीर्घश्मश्रुः' (११।५।६) इस अथर्ववेदके मन्त्रका अर्थ करते हुए लिखा है—'दीर्घश्मश्रु' चालीस वर्ष तक डाढ़ी-मूछ आदि पंच-केशोंको धारण करने वाला ब्रह्मचारी होता है'। अथवा उक्त कात्याय-नवचन छन्दोगके परिशिष्टका वचन होनेसे छन्दोग (सामवेदी) लोगों के लिए अपवाद-रूपसे समझना चाहिए। जैसे कि लिखा है–'एते लूनशिखास्तत्र···कुशकाशा विराजन्ते बटवः सामगा इव (विष्णुपुराण)। अथवा कुछ भी अर्थ हो, कमसे कम उसका स्वा० द० प्रोक्त गर्मी हटाना सशिख-मुण्डनमें कारण नहीं, किन्तु 'कुशली-कारयन्ति (मुण्डयन्ति) यथागोत्रकुलकल्पम्' (गोभिल २।९।२४) गोत्रविशेष (भृगुगोत्री) तथा कुलविशेषकी रीतिविशेष ही उसमें कारण होता है। अथवा दण्डग्रहणके लिए समझना चाहिए। जैसे कि 'शिखी मुण्डी वा' इस गौतमधर्मसूत्रमें श्रीहरदत्तने लिखा है (१।३।२१)। सशिखवपनमें सूत्रका भी त्याग कहा है—'सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद् बुधः' इससे स्पष्ट है कि—यह वहाँ भिक्षाधर्म वालों (यतियों) के लिए है।

अथवा कई लोग द्विशिख, पंचशिख आदि होते हैं। जैसे कि—स्वा० द० जीने भी मुण्डनमें कुछ बाल इधर-उधर

छोड़नेके लिए लिखा है 'पाँचों ओर थोड़ा-थोड़ा केश रखावे, अथवा किसी एक ओर रखे' (पृ० ७६) मध्यकी शिखा छोड़कर उन्हीं शिखाओंका मुण्डन कहा है। उसीको प्रतिपादन करने वाले उक्त पद्य हैं। जिनके बाल खल्वाटत्व-आदि से उड़ जाते हैं, उन्हें भी 'कौशीं तदा धारयीत' इत्यादि वचनोंसे कुशाकी शिखा रखना लिखा है। इससे शिखाकी अनिवार्यता सिद्ध होती है। फलतः गर्मी आदिके कारण शिखा कटाना—यह स्वा० द० जीकी फिलास्फी शास्त्रवचनोंसे विरुद्ध है। कहीं दण्डस्वरूपमें सशिख मुण्डन कहा हो, तो वह अपवाद होता है—उससे वैसी विधि बन नहीं पाती, और न उनका गर्म देशकालमें कटानेका कारण होता है। प्रतिपक्षीने यहीकी यही बातें 'पौराणिकमुखचपेटिका' में भी लिखी हैं, उनका प्रत्युत्तर भी हो गया। शिखा-विषयमें 'आलोक' पंचम पृष्ठमें देखिये।

धाय का दूध पीना।

(६) पृ० ८—९ में प्रतिपक्षीने जो धायके लिए आयुर्वेदके प्रमाण दिये हैं, उनका 'छः दिनके बाद धाई स्त्रीको दूध पिलावे' इस स्वा० द० की सीमासे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, अतः वे भी व्यर्थ हैं। जब प्रतिपक्षीने भी लिखा है कि—'छः दिनकी कोई कैद नहीं होती है' (पृ० ११) तो उसने 'छः दिन' लिखने वाले स्वामीका स्वयं खण्डन कर दिया। तब मृतमारणसे हमें क्या लाभ ? श्रीमाध० जीने वेदके प्रमाण माँगे थे, जिनमें स्तनके छिद्र बन्द करनेकी बात लिखी हो, और छः दिनकी बात लिखी हो, पर प्रतिपक्षी बहुत कुछ हाथ-पैर मारनेपर भी उसमें सफल नहीं हो सका—इसका हमें भी खेद है। प्रतिपक्षीके स्वामीने जब यह प्रतिज्ञा की है—(प्रश्न) तुम्हारा मत क्या है ? (उत्तर) वेद अर्थात् जो-जो वेदमें करने और छोड़नेकी शिक्षा दी है, उस—

उसका यथावत् करना-छोड़ना मानते हैं। (स० प्र० पृ० ४२) तब उनके अनुयायिओंको उनकी बातें वेदसे ही दिखलानी चाहियें—। 'नक्तोषासा' मन्त्रका अग्नि देवता है, नक्त रात्रिका नाम है, और उषा दिनका। शिशु है अग्नि, उसको सायं-प्रातः हवि देते हैं। यहाँ द्विवचनसे माता-पिताका भाव है, प्रतिपक्षीसे अभिमत धाय का वर्णन नहीं। प्रतिपक्षीने निर्मूलतासे धाईका अर्थ कर दिया। ऐसे बनावटी अर्थ करनेमें तो प्रतिपक्षी सिद्ध-हस्त है। जैसे कि—'पौराणिकमुखचपेटिका' (पृ० १०) में 'कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे अग्नये' (ऋ १०।९१।१४) जो अग्निके विशेषण थे, 'अग्नये' विशेष्य था, वहाँ विशेषणोंमें 'कीलालप' का अर्थ निर्मूलतासे 'वायु' और सोमपृष्ठका 'अंगिरा' और 'वेधाः' का अर्थ 'आदित्य' यह विशेष्य-रूपसे अर्थ कर दिया। ऊंट का अर्थ बिल्ली तथा बिल्ली का अर्थ खरबूजा कर दिया। और खर्बूजेका गधा। चतुर्थी का 'द्वारा' अर्थ कर दिया। यह भाषा-विज्ञान पर सीधा आक्रमण है।

जो कि प्रतिपक्षीने लिखा है कि—'स्त्री प्रसव-समयमें निर्बल हो जाती है, अतः धाई ही दूध पिलावे' यह व्यर्थ है, यदि ऐसा होता तो प्रकृति कुचमें दुग्ध न लाती। धायका क्या यह हाल नहीं होगा? यह धायकी अवश्य-नियुक्ति व्यर्थ है। प्रतिपक्षीको भी तथा स्वा० द० आदिको भी माताने ही दूध पिलाया, धायने नहीं। तब इस स्वा० द० की यह आज्ञा 'पुनरपि युवति हो जाती है' यह विलासार्थ अनुमित होती है। जो बच्चा अपनी माताका दूध न पियेगा, उसमें मातृवात्सल्य भी कहाँ रहेगा ? अतः सर्वसाधारण-को धायकी आज्ञा देनी न वेदानुमत है, और न लोकानुमत। धनी लोग भले ही करें। उसमें छः दिनकी स्वा० द० जीकी सीमा निर्मूल है।

मनुजी के नाम से श्लोक की रचना

(१०) यहीकी यही बातें प्रतिपक्षीने 'पौराणिकमुखचपेटिका' में भी लिखी हैं। उसका भी समाधान हो गया। स० प्र० में मनुके नामसे संन्यासियोंके लिए 'विविधानि च रत्नानि विविक्ते-षूपपादयेत्' एक श्लोक स्वा० द० जीने बना दिया है, उसपर स० ध० की ओर से आक्षेप होता है, उसके समाधानमें पौ० मु० च० पृ० ७) में प्रतिपक्षीने लिखा है—'मनुस्मृतिके भिन्न संस्करणों में बहुधा पाठभेद मिलता है'। पर यह स्वा० द० जीका संन्या-सियोंके लिए लिखा पद्य किसी भी पाठभेदमें नहीं मिलता, अतः स्पष्ट यह स्वामीकी रचना है। उसमें जोकि प्रतिपक्षीने 'धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत्। वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते' (११।६) इस मनुके पद्यकी छाया बताई है, और इसमें विद्वान् संन्यासीको धन देनेका विधान माना है, और लिखा है कि—स्वा० द० जीने अपने कालमें किसी मनुस्मृतिके संस्करण-में वही पाठ देखा है—जो उन्होंनें लिखा है' यह सारी बातें असत्य हैं। 'मनुस्मृतिका उक्त पद्य संन्यासप्रकरणमें नहीं है। संन्यास-प्रकरण तो मनुस्मृतिके छठे अध्यायमें ३३ पद्यसे लेकर छठे अध्याय की समाप्ति(९७ पद्य)तक है। वहाँ स्वामीका उक्त पद्य नहीं है। यहाँ उसका क्या काम ? संन्यासीको तो धनका निषेध किया गया है। देखिये स० प्र० में स्वामीने 'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यां चरन्ति' (१४।५।२।१) यह शतपथका वचन उद्धृत किया है।

स्वयं स्वामीने संस्कारविधिमें भी संन्यास-प्रकरणमें "पुत्रैषणा-याश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्चोत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति (शत० कां० १४) पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा मया परित्यक्ता'

(पृ. २७१) संन्यासीको वित्तैषणाका त्याग कहा है। स. प्र. के ५ समु० पृ० ७८-७९ में स्वामीने इसका अर्थ लिखा है—'लोकमें प्रतिष्ठा वा लाभ धनसे…अलग होके संन्यासी लोग भिक्षुक होकर रात-दिन मोक्षके साधनोंमें तत्पर रहते हैं।'

जब ऐसा है, तो फिर संन्यासीके लिए धनका विधान कैसे हो सकता है? संन्यासीके लिए तो यह लिखा है—'असहायोऽनग्निः अनिकेतो निस्सञ्चयी विवादक्रोधलोभमोहाऽनृतवर्जी ग्रामाद् बहिर्विविक्ते मठे देवालये वृक्षमूले वा वसेत्' (वैखानसधर्म-प्रश्न (३।६।६) जब उसे निस्सञ्चयी कहा है, तब उसे रत्नदान कैसा? इसी कारण ही मनुस्मृतिमें संन्यासीको भिक्षा माँगना भी एक कालके लिए कहा है 'एककालं चरेद् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे। भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति' (६।५५) बहुत भिक्षा मांगनेमें उसका विषयोंमें फंस जाना कहा है, तो जब उसे रत्न दिये जायें, तो वह विषयमें क्यों न फंसेगा? इसीलिए संन्यासीको सोनेका पात्र रखनेका भी निषेध मनुस्मृतिमें मिलता है, 'अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युः' (६।५३)। इस पद्यको 'मनुः स्वायम्भुवो ऽब्रवीत्' (६।५४) के कारण प्रक्षिप्त बनाना श्रीतुलसीराम-स्वामीका ठीक नहीं, क्योंकि—'अतैजसानि पात्राणि' इस ५३वें पद्यमें उक्त पाठ नहीं। और फिर भृगुजी मनुस्मृतिको सुना रहे हैं—यह शिष्यके द्वारा सुनाना, तथा कर्त्ताको प्रथम पुरुषमें वर्णित करना—यह प्राचीन परिपाटी है।

अतः प्रक्षिप्तता-अप्रक्षिप्तता कहना—यह इनकी अपनी इच्छा पर होता है। 'अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः' (६।५८) यहाँ संन्यासीको सम्मानसे मिलने वाले लाभोंको प्राप्त करने का निषेध किया है। तब संन्यासीको विविध रत्न देनेकी विधि कैसे हो सकती है? सम्यक् न्यास—

त्यागका नाम संन्यास हुआ करता है, धन आदि रखना संन्यास नहीं हुआ करता।

'यतये काञ्चनं दत्त्वा ताम्बूलं ब्रह्मचारिणे। चौरेभ्योऽप्यभयं दत्त्वा दातापि नरकं व्रजेत्' (१।६०) इस पराशरस्मृतिके पद्यमें संन्यासीका काञ्चन देनेका निषेध किया गया है। काञ्चन सोने को कहते हैं, सो वह सब प्रकारके धनोंका उपलक्षण है। जैसे कि 'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति' यहाँपर काञ्चनसे धनका तात्पर्य है; तब संन्यासीको सुवर्ण देनेसे नरकको जावे, चाँदी, मोती, हीरा आदि देनेसे स्वर्गको जायगा,' यह स. प्र. (५ समु पृ. ८३) में स्वा० द० जीका कुतर्क व्यर्थ है। यह शब्द यहाँ सब प्रकारके धनोंका उपलक्षक है। इससे स्पष्ट है कि स्वा. द. जी में धनैषणा कितनी थी। 'सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत्। ब्राह्मणान् वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम्' (मनु० ११।४) यहाँ वेदके विद्वान् ब्राह्मणोंको रत्नदान तो कहा है,पर यह संन्यासियों के लिए नहीं। सम्यक् न्यासः-त्यागः संन्यासः, तब त्यागमें धन कैसा? इसीके साथही मनुका पद्य यह है—'धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत्। वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते' (११।६) इस श्लोक तथा पूर्व श्लोकका मिश्रण करके स्वा. द. जीने अपनी कल्पनासे 'विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपादयेत्' यह रचना बना दी। 'विविधानि च रत्नानि' यह स्वा. द. जीने 'सर्वरत्नानि' इसपूर्व पद्यसे लिया। 'विविक्तेषु' यह द्वितीय पद्यसे लिया और 'कहींकी ईंट कहींका रोड़ा भानुमतीने कुनवा जोड़ा' इस कहावतको चरितार्थ किया। पर यहाँ संन्यासीका कोई प्रकरण नहीं, किन्तु वेदके विद्वान् ब्राह्मणको ही वैसा दान कहा है।

यह ध्यान देनेकी बात है कि—उक्त मनुके पद्यमें 'विविक्तेषु'

यह विशेष्य नहीं है कि संन्यासी अर्थ हो जाय, किन्तु विशेषण है, विशेष्य तो यहाँ 'विप्रेषु' है जिसका अर्थ है 'ब्राह्मण'। संन्यासो-ब्राह्मण अर्थ करना भी ठीक नहीं होसकता, क्योंकि मनु संन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मणको बताते हैं, अन्यको नहीं बताते। मनु० (६।३८,४०, ८५, ९७) तब यहाँ उक्त विशेषण अव्यभिचार होने से व्यर्थ हो जावेगा. जैसे कि कहा है--'सम्भव-व्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्'। सो यहाँ 'विविक्तेषु' का अर्थ एकान्त-प्रिय ब्राह्मण, अथवा शुद्धान्तःकरण वाले ब्राह्मण—यह अर्थ है, जैसे कि—'विविक्तौ पूत-विजनौ' (अमरकोष ३।३।८२)। इससे यहाँ संन्यासाश्रमी इष्ट नहीं, किन्तु गृहस्थाश्रमी। इसमें यह कारण है कि पूर्व कहे हुए (शतपथ १४।५।२।१ आदि) वचनों के अनुसार संन्यासीको धनग्रहणका निषेध है, केवल भोजनार्थ एक समय भिक्षाका ग्रहण विहित है। इसलिए यहाँ पर आर्य-समाजी श्रीतुलसीराम-स्वामीने भी 'विविक्तेषु' का 'निःसङ्ग ब्राह्मणोंको धन देवे' यह अर्थ किया है; और श्रीराजाराम शास्त्री ने 'विविक्त'का अर्थ 'पवित्र' किया है, संन्यासी नहीं। तब यहाँ धनमें अनासक्त-गृहाश्रमीको धनदान सिद्ध होता है। इसलिए महाभारतमें भी गृहस्थी ब्राह्मणको धनदानकी आज्ञा दी गई है—'श्रोत्रियाय दरिद्राय गृहस्थायाग्निहोत्रिणे। पुत्रदाराभिभूताय तथा ह्यनुपकारिणे। एवंविधेषु दातव्यं न समृद्धेषु भारत।' (वनपर्व २००।२७)। इस प्रकार अत्रिस्मृति (३३९-३४०) में तथा बृहत्पराशरस्मृति (८।३१०) में भी कहा है। इस प्रकार मनुस्मृतिमेंभी कहा है–'वेदविद्याव्रतस्नातान् श्रोत्रियान् गृहमेधिनः। पूजयेद् हव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत्' (४।३१) यहाँ पर गृहस्थियोंको ही दान बताया गया है, संन्यासियोंको नहीं। फलतः मनुके दो श्लोकोंका मिश्रण करके स्वा. द. द्वारा एक श्लोक मनु

के नामसे सन्यासियोंके लिए बना देना यह-मनुस्मृतिके अभिप्राय से विरुद्ध है—यह सिद्ध हो गया। 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' आदि पर विचार अष्टम पुष्पमें देखना चाहिये। प्रतिपक्षीकी जिन बातोंपर यहां नहीं लिखा गया, उनके विषयमें 'आलोक' का यह तथा गत-पुष्प देखना चाहिये। इस प्रकार एक प्रतिपक्षी के आक्षेपों पर प्रायशः विचार हो जानेसे अब दूसरे प्रतिपक्षीके 'नीरक्षीरविवेक' पर संक्षिप्त विचार दिये जाते हैं।

(१७) 'नीरक्षीर विवेक' पर विवेचन।

पूर्व आलोचित पुस्तिकाके बाद हमें 'नीरक्षीरविवेक' (पृ० २८४) यह 'पथिक' जीकी पुस्तक मिली। इसमें स० ध० के प्रवर्तकों तथा अनुयायियों पर गन्दी गाली-वर्षा की गई है। विशेष करके इसमें श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री तथा कुछ मुझ पर भी लेखकने असभ्य-शब्दोंका प्रयोग करके अपना पूर्ण 'दयानन्दी-पना' प्रकट किया है, क्योंकि—स० प्र० में भी गालि-प्रवाहका खूब प्रयोग किया गया है। पथिकजीने जो उसमें स० ध० के खण्डनार्थ प्रमाणवाद दिया है; वह हमारे लिए नया नहीं है, पुरानी आर्यसमाजी पुस्तकोंको दुहकर उसने उसे लिखा है। उस पर हम अपनी 'आलोक' ग्रन्थमालामें प्रायः विचार कर चुके हैं। यहाँ उसकी पुष्पसंख्या और पत्रसंख्या लिख दी जावेगी। प्रतिपक्षीसे आक्षिप्त जिस बातका 'आलोक' के वर्तमान पुष्पोंमें

स्पष्टतासे निरूपण नहीं आया; इस निबन्धमें उसका निरूपण कर दिया जायगा। फिर मालूम नहीं कब अवसर मिले; अतः इसी पुष्पमें संक्षेपसे विवेचन दिया जाता है।

पुस्तकका उपनाम पथिकजीने 'माधवमुखमहाचपेटिका' रखा है, यह है लेखककी सभ्यताका आदर्श!!! हम उस पुस्तककी पृष्ठसख्या सूचित करते रहेंगे।

(पृ० १०) (प्र०) 'श्रीसनातनधर्मालोक' (६) में श्रीदीनानाथशास्त्रीने स्वा० द० पर घृणित आरोप लगाया कि-वे कापड़ी जातिके थे।

(उ०) मैंने लिखा था कि—'सुना जाता है कि—यह कापड़ी-ब्राह्मण थे।' 'सुना जाता है' शब्दसे मैंने 'किं-वदन्ती' लिखी, अपना निश्चयात्मक मत तो लिखा नहीं, फिर भी 'ब्राह्मण' शब्द साथ लिखा। तब यह घृणित-आरोप क्या हुआ? गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था मानने वाला प्रतिपक्षी इसमें चिढ़ा क्यों? यदि स्वामी अन्त्यज भी सिद्ध हो जाते; तब भी क्या था? प्रतिपक्षी-से अभिमत गुणकर्मणा वर्णव्यवस्थामें इससे चार चान्द लग जाते। स्वामीको औदीच्य ब्राह्मण सिद्ध करके प्रतिपक्षी 'जन्मना वर्णव्यवस्था' को ही सिद्ध कर रहा है, वधाई हो। इस विषयमें इस चिढ़नेसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि—पथिक दयानन्द-समुदायका है। तभी तो वह स्वा० द० जीके दृष्टिकोणसे वेदादिका अर्थ करता है, उनका परमात्मा तथा वेदसे भी अधिक सम्मान करता है। उनके मतसे विरुद्ध वेदार्थ करने वालोंको 'पौराणिक' कह दिया करता है, अतः स्पष्ट है कि—वह दयानन्दी है। जोकि प्रतिपक्षीने इससे चिढ़कर पुराण आदि पर आक्रमण कर दिया है, हम उसका प्रत्युत्तर देंगे।

जोकि—प्रतिपक्षी कहता है—'दयानन्दजीने अपनी स्वयं

कथित जीवनीमें अपने आपको औदीच्य ब्राह्मण बताया है। जियालाल जैनीने ईर्ष्या द्वेषवश 'कापड़ी' लिखा था।' इस पर याद रखना चाहिए कि स्वामी दयानन्दजीने अपनी वहुत सी बातें छिपाई हैं, अतः उनका कथन इसमें प्रमाण नहीं माना जा सकता। आर्यसमाजने स्वयं दयानन्दजीकी बातोंको पूरा विश्वस्त नहीं किया, इसमें उनके जीवनचरित्रोंकी विभिन्नता ही प्रमाण है। स्वामीदयानन्दजीके कट्टरभक्त श्रीलेखरामजीने बड़े परिश्रमसे स्वामीजीका जीवनचरित्र बनाया, पर श्रीदेवेन्द्रनाथके नूतन जीवनचरित्रने उसकी वहुतसी बातोंको झुठला दिया। अब आर्यसमाज भी इसे (देवे०) ही प्रमाण मानता है। अन्य व्यक्तियोंने भी स्वामीजीके विषयमें जाँच की। सबसे पहले दिल्लीनिवासी ला० कुंवर-दयालने लाहौरके 'धर्मजीवन' पत्रमें १७ जून सन् १८८८ ई० में यह प्रकाशित किया कि स्वामीजी जातिसे कापड़ी थे, और काठियावाड़की रियासत मोरवीके रामपुर नामक ग्रामके निवासी हरभजनके पुत्र थे। उनका जन्म १८८० में हुआ था। इसके पीछे सन् १८९४ में जैनी जियालालने 'अपने दयानन्दचरित्रदर्पण' में अपनी खोज दिखलाई कि स्वामीजीके पिताका नाम भजन-हरि था और स्वामीजीका पहला नाम शिवभजन था। वह रियासत मोरवीके रामपुर नामक ग्रामके निवासी थे, जातिके कापड़ी थे, जीविकाका पारिवारिक कृत्य नाचना-गाना था। फिर कट्टर-आर्यसमाजी श्रीलेखरामजीने खोज की। उन्होंने सिद्ध कियाकि स्वामी मौरवी नगरके रहने वाले थे, सं० १८८१ में जन्म हुआ। नाम मूलशङ्कर पिताका नाम अम्बाशङ्कर था। फिर पं० देवरत्नने खोज की। उन्होंने मौरवी नगरके सब कूचों में फिर कर वहाँके बड़े बूढ़ोंके और औदीच्य-ब्राह्मणोंके सरपञ्चों और रियासतके बड़े-बड़े कर्मचारियोंसे मिलकर निश्चय कियाकि मौरवी

नगरमें पिछले सौ वर्षोंमें पं० अम्बाशङ्कर और मूलशङ्कर नाम का कोई व्यक्ति नहीं हुआ। उन्होंने रियासत मौरवीके दीवान मुरारजी मङ्गलजी पण्ड्याके द्वारा रियासतके सौ वर्ष पुराने कागजातकी पड़ताल करके यह प्रमाणित किया कि 'मौरवी रियासतमें पिछले सौ वर्षोंसे अम्बाशङ्कर नामका कोई औदीच्य ब्राह्मण किसी कर्मचारीके पदपर नियुक्त नहीं हुआ।' । इसमें पं० लेखराम तथा स्वयं स्वामीके कथनों पर पानी फिर जाता है। जबर्दस्ती स्वामीको औदीच्य-ब्राह्मण बनानेके लिए उनकी अपनी कही हुई जन्मभूमि तथा पिता को बदल कर नयी जन्म-भूमि गढ़ डाली गयी, तथा स्वामीके नये पिता बना दिये गये।

पांचवीं खोज श्रीदेवेन्द्रजीकी है, जिसके अनुसार स्वामीजी-का नाम दयाराम और पिताका नाम कर्शनजीलालजी तिवारी है। वह टंकाराके निवासी रियासत मौरवीके कर्मचारी और बड़े धनी थे। इस प्रकार स्वामीके अपने सम्प्रदायवालोंके भी लिखे हुए दयानन्द-जन्मचरित्रोंमें बड़ा भेद है। अतः वे भी माननीय नहीं हैं। आजकल श्रीदेवेन्द्रनाथका लिखा उनका जीवनचरित्र प्रामाणिक माना जाता है। फिर वे छोटे-बड़े दो हैं। उनमें भी परस्पर-भेद है। तब यदि अपनेको स्वामीने औदीच्य ब्राह्मण कह दिया है, तो यह आवश्यक नहीं कि वह प्रमाण ही हों। क्योंकि उनकी अपनी कही हुई ही बातें आजकल उन्हीं के अनुयायियों द्वारा अप्रमाणित सिद्ध की जा चुकी हैं। उनके ग्रन्थ भी यह कह रहे हैं कि या तो वे ब्राह्मण नहीं थे, या उत्कृष्ट ब्राह्मण नहीं थे। जो जिस जाति वाला होता है उसको वह उत्कृष्ट बनानेके लिए प्रयत्न करता है। आज एक आर्यसमाजी गडरिया भी अपना नाम वेदोंमें दिखलाता है। पर स्वामीके ग्रन्थोंमें ही ब्राह्मणद्वेषके बीज विद्यमान हैं। जितनी गाली

उन्होंने ब्राह्मणोंको दी है—उनको पोप-पाखण्डी बताया है—उतनी और किसी को नहीं। और देखिए स्वामीने अपनी संस्कार-विधि पारस्करगृह्यसूत्रसे बनाई है। उसमें सब संस्कारोंके अन्तमें 'ततो ब्राह्मणभोजनम्' आया है। पर स्वामीने वहाँ ब्राह्मणोंका भोजन न दिखाकर इष्ट-मित्रोंका भोजन दिखाया है। इससे उनकी जातिका परिचय मिल रहा है। तभी उन्होंने वर्णव्यवस्था जन्ममूलक न मानकर गुणकर्मोंसे उसे बनानेका भारी प्रयत्न किया है। कोई अपना अन्य बनावटी वर्ण बता भी दे, तब भी अन्य व्यवहारोंसे यथार्थ बात छिपी नहीं रहती। जो-कि कुछ पुलिसअफसरोंकी रिपोर्ट दे दी जाती है, तो पुलिसको खिलाकर जो भी लिखा लिया जाय, वह प्रमाण कैसे हो सकता है? यही तो लेखरामजीने किया वे पुलिस-विभाग के थे, देवेन्द्र-जीने स्वामीजीके छोटे जीवनचरित्रमें'यह लिखा है कि उन स्वामी दयानन्दजीके माता-पिताके नामादिके विषयमें कुछ भी जाननेकी सम्भावना नहीं है। इससे किसी गोपनीयतत्त्व, किसी 'दालमें काले' की सूचना मिलती है। चाहे वह गोपनीयतत्त्व, वह दालमें काला, वह रहस्य ला० कुंवर लाल और जैनी जियालालका खोज निकाला हुआ स्वामीजीका कापड़ी-जातिमें उत्पन्न होना हो; चाहे पं० देवरत्नका खोजा हुआ उनका ब्राह्मण पिता और कापड़ी जातिकी अपने घरमें रखी हुई स्त्रीसे उत्पन्न होना हो। ये बातें हमें प्रतिपक्षीके कुव्यवहारके ही कारण अनिच्छासे ही लिखनी पड़ीं। वैसे हमने 'आलोक' के छठे पुष्पमें स्वामीजीका तथाकथित औदीच्य-ब्राह्मण होना तथा जनश्रुतिसे कापड़ी होना लिखा है, वह अपना मत नहीं दिखलाया। जोकि प्रतिपक्षीने श्रीमेधाव्रत हरिश्चन्द्र आदि आर्यसमाजियोंकी उनको औदीच्य-ब्राह्मणताकी सिद्धिके लिए साक्षियाँ दी हैं, वे तो व्यर्थ ही हैं। उनके अनुयायी तो उन्हें और भी बढ़ावेंगे ही। यदि दयानन्द

के पिता अम्बाशङ्कर बता दिये जाते हैं, तो दयानन्द-दिग्विजयमें स्वामी दयानन्दके पिता अम्बाशङ्कर बतादिये जाते हैं, यदि कर्शन जी उनके पिता बता दिये जाते हैं, तो मेधाव्रत जी वही लिख देते हैं। प्रतिपक्षीकी आदत है कि वह अपनी बातकी सिद्धिमें अपने ही साम्प्रदायिकोंके साध्य प्रमाण दे दिया करता है। शेष जो भी श्रीरामगोविन्द तथा श्रीनगेन्द्र वसु का प्रमाण दिया गया है वह 'तथाकथित अभिप्राय' से है। कोई उसमें प्रमाण थोड़े ही दिया है। अतः वह सिद्ध प्रमाण नहीं कहा जा सकता। तब स्वामीजीको कापड़ी लिखने से प्रतिपक्षीके लहू में गर्मी कैसे आ गई ? प्रतिपक्षी के अनुसार स्वामीजी चाण्डालके पुत्र भी सिद्ध हो जायं तो उनके सम्प्रदाय की हानि नहीं; क्योंकि वे वर्णव्यवस्था गुणकर्मणा मानते हैं, तथा छूआछूत नहीं मानते। सनातन-धर्म में यदि कोई निम्नजातीय आचार्य हुआ हो, तो उसे आरूढपतित समझना चाहिए। और उसने शास्त्रीय स्पृश्यास्पृश्यताकी मर्यादा नहीं तोड़ी होगी।

(पृ० १०—१७ (प्र०) मेरे लेख '...पौराणिकोंके भ्रम' का प्रत्युत्तर दीनानाथ शास्त्रीसे न बन पड़ा, तो वे माधवाचार्य शास्त्रीको शिखण्डीके रूपमें खड़ा किये'। ऐसी गलत बातें कहने में प्रतिपक्षी खूब होशियार है। एक बार श्रीदुर्गादत्तजी त्रिपाठी के लेखका प्रतिपक्षीने खण्डन किया;हमने उस(प्रतिपक्षी)का प्रति खण्डन किया; तब इसीने लिखा कि-त्रिपाठीजीकी लेखनी तो रुक गई। उन्होंने दीनानाथशास्त्रीको अपना वकील बनाया है'। तब श्रीत्रिपाठीजीने इस प्रतिपक्षीके पक्षका ऐसा प्रबल निराकरण किया कि—प्रतिपक्षीकी लेखनी अब तक भी उस पर न चल सकी।

मैंने 'वैदिकधर्म' में महिदास और कवषके विषयमें लेख लिखे थे, उसका प्रतिपक्षीने खण्डन किया था। हमने जब उसका प्रतिखण्डन किया, तब प्रतिपक्षीकी लेखनी अभी तक उसपर न चल सकी। हमने 'पौराणिकोंका भ्रम' इस प्रतिपक्षीके लेखका उत्तर बहुत समयसे लिख डाला था, पर 'सिद्धांत' पत्रके बन्द होनेसे हम उसे शीघ्र छपा न सके, आर्यसमाजी-पत्र तो हमारे प्रत्युत्तरात्मक लेख छापते नहीं। उस समय तक पं० माधवाचा० जीकी पुस्तक 'दूधका दूध' निकली ही नहीं थी,और न हमने उन्हें अपना वकील बनाया था, हमने 'पथिक' के लेखका प्रत्युत्तर 'सिद्धांत' में छापनेके लिए (जिसके मेरे सम्पादकत्वमें प्रकाशित होनेकी चर्चा चल रही थी) उसके प्रकाशकको दिया। 'सिद्धांत' देरीसे निकला। तब तक पं० मा० चा० शा. जीकी पुस्तक 'दूधका दूध' छप गई थी, पुनः प्रकाशित हुए 'सिद्धांत' के १५ वें वर्षकी २-३-४ संख्याओंमें (७. ३. ६१ से) हमारा लेख 'एक आर्यसमाजीके आक्षेप' शीर्षकमें ३२ स्तम्भोंमें निकला। पं० माधवाचार्यजीकी तथा मेरी ओरसे प्रतिपक्षीको इस बातकी सूचना भी हो गई थी। फिर यह लिख देना कि—उसका उत्तर दीनानाथशा. से न बन पड़ा, पं० माधव० जीको उन्होंने खड़ा कर दिया' कितना असत्य है' प्रतिपक्षीका कार्य सदासे असत्यका रहा है, तब उसके उत्तर देनेमें कुछ भी कठिनता नहीं रहती। पं० माधव० जीने स्वयं अपना पुस्तक छपवाया, क्योंकि—प्रतिपक्षीने उन्हें भी जली-कटी सुनाई थी मैंने उन्हें खड़ा नहीं किया। अतः प्रतिपक्षीके आक्षेप गलत हैं। सो उसने अपनी इस पुस्तकमें पं० माध० जीको तथा मुझे बहुत गालियाँ दी हैं। हम उनको सह कर उसके प्रमाणवादपर संक्षेपसे विचार करते हैं।

(पृ० १६—२०) 'ब्रह्माका अपनी पुत्रीसे व्यभिचार' 'एतस्मिन्नन्तरे वक्त्रात्' (भविष्यपुराण) इसका प्रत्युत्तर हमने 'आलोक' (७) (७१-७३ पृ०) में दिया है।

(ख) 'ब्रह्माका वीर्यपात' 'गौर्या विवाहे तत्पादौ' (शिव पु०) इसपर 'आलोक' (७) (पृ० ७४, १३६-१४३, २२३—२२४) में उत्तर दिया है।

२० 'विश्वामित्र तथा ऋष्यश्रृङ्गका वेश्यागमन'। वेश्याएँ केवल मोहमें डाल कर ऋष्यश्रृङ्गको दशरथके यज्ञमें लेगई थीं। वेश्याने कृष्णाँशको लुभानेके लिए यह वेश्या-संगकी गलत बात कह दी। देखिये इसपर वाल्मीकिरामायण। ऋष्यश्रृङ्गने कुछ भी नहीं किया। प्रतिपक्षी क्या वेश्याकी बातको स्वतःप्रमाण मानता है? विश्वामित्र अवश्य लुभाये गये, पर वह साधारण-वेश्या नहीं थीं, देवाप्सरा थी। उससे उनकी तपस्या नष्ट हुई। फिर उन्हें उस दुष्फलको दूर करनेके लिए पुनः तपस्या करनी पड़ी। जैसे कि-कृष्णाँशने वादितोषन्यायसे वेश्याकी मुनिविषयक बात मानकर भी उसका प्रत्युत्तर दिया था—'पुनश्चाह स कृष्णांशः कृत्तं (नाशितं) पापं तपोबलात। ताभ्यां च मुनियुग्माभ्याम्' (प्रति० २८।४७) अर्थात् मुनियोंने तपोबलसे उस पापको काट दिया। वेश्याके पक्षके बनकर प्रतिपक्षीने इस प्रत्युत्तरको छिपा दिया। जब पापका प्रायश्चित्त हो गया, तब आक्षेप क्या?

(ख) (प्र०) 'त्रिदेवोंका विचित्र-चरित्र' अपनी लड़की. माँ, बहनसे विवाह—'स्वकीयां च सुतां ब्रह्मन्!' (भविष्य०) (उ०) यहाँ सुता, माता, भगिनी—यह पारिभाषिक-शब्द थे। वहीं वह परिभाषा लिखी भी थी, पर उस परिभाषाको प्रतिपक्षीने छिपा दिया। पर यह बेचारे क्या करें? आर्यसमाजके 'पौराणिकपोल-

प्रकाश' आदि पुस्तकोंसे आक्षेप उद्धृत कर लिया करते हैं, और उन लोगोंने पुराणोंका पूर्वापर छिपाकर लिखा, इसी कारण इन लोगोंको लज्जित होना पड़ता है। इसका समाधान 'आलोक' (७) में (पृ० ६८ से ७२ तक) कर दिया गया है।

पृ० २१—२२ स्वा० द० जीके भाँग पीने पर प्रतिपक्षीने लिखा है। पहले तो वह 'पौराणिकों का भ्रम' में स्वा० द० का भांग पीना नहीं मानता था। जब इसपर दयानन्दजीवन-चरित्रोंके प्रमाण लिखे गये, और स्वा० द० जीका अपना प्रमाण दिया गया; तब प्रतिपक्षी भांगको ओषधि लिखने लग गया। और पौराणिक-अवस्थामें स्वा० द० का भङ्गापान बताया। मूषकने बोध देकर स्वा० द० जीका अबोध तो प्रतिपक्षियोंके अनुसार दूर कर दिया, जिसके लिए बोधोत्सव मनाया जाता है, तब उसमें स्वा० द० की पौराणिकता कहाँ रही? वह भांगरूप ओषधि शायद अर्शके लिए स्वामी प्रयुक्त करते हों, तब 'महर्षि' इस पर श्री माधव० जीके शब्द पर प्रतिपक्षी क्यों बिगड़ा, उन्होंने तो यह समाधान पहले ही कर रखा था।

पृ० २३-२४ उससे चिढ़कर प्रतिपक्षी राम-सीताका मद्यपान लिखता है—'मधु मैरेयकं शुचि। पाययामास काकुत्स्थः' (बाल्मी०)। (उ०) इसमें 'शुचि' विशेषणसे आजकलका निषिद्ध मद्य वर्जित सूचित कर दिया गया है। गृहस्थी लोग आसव-अरिष्ट पीते हैं—यह शुद्ध मद्य हैं—इनका कहीं भी निषेध नहीं। उपवेद 'चरक-संहिता' कहती है—'सत्यमेते महादोषा मद्यस्योक्ता न संशयः। अहितस्यातिमात्रस्य पीतस्य विधिवर्जनम्' (चिकित्सित २४।५६) किन्तु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम्। अयुक्ति-युक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम्' (५७) 'प्राणाः प्राणभृतामन्नं तद् (अन्नम्) अयुक्त्या निहन्त्यसून्। विषं प्राणहरं, तच्च (विषं)

युक्तियुक्तं रसायनम्' (२४।५८) वेदमें भी शुद्ध मद्य सोमादिका विधान किया गया है—'तस्मै घृतं सुरां मधु अन्नं क्षदामहे' (ऋ० १०।६।५) 'पिबन्तो मदिरं मधु' (साम० ऐन्द्र० ४।११५) 'सुरया सोमः सुत आसुतो मदाय' (यजु: १६।५) इन वेदवचनोंका जो अर्थ होगा, वही रामायणमें भी। 'माँसानि च सुमृष्टानि' जब प्रतिपक्षी 'माँस' का अर्थ 'फलोंका गूदा' मानता है, तो वह यहाँ भी समझ ले। 'मांस' से 'माँसलपदार्थ' भी विवक्षित होता है। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ० ४२३ में लिखा जा चुका है। इस प्रकार श्रीकृष्ण-बलरामके मद्यपानके विषयमें भी समझना चाहिए। प्रथम-सत्यार्थप्रकाशमें स्वा० द० जीने लिखा है - 'नशाका करना सबसे वर्जित है, परन्तु औषधके हेतु कि रोग निवृत्त होता होय, तो चौगुणा जल और एक गुणा मद्य-ग्रहण लिखा है सुश्रुतादि वैद्यक शास्त्रमें' (१० समु० पृ० ३०६) शेष मद्यका ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, तथा संन्यासीको विशेषरूपसे निषेध है, शेषको उतना नहीं।

पृ० २५ में 'यथा माँसं यथा सुरा यथांक्षा परिदेवने' (अ० ६। ७०। १) इस मन्त्रका—'इसमें माँस, शराब और द्यूतक्रीड़ा तीनोंको एक कोटिमें रखा है।' यह प्रतिपक्षिप्रोक्त अर्थ अशुद्ध है, इसीलिए उसने उक्त मन्त्रका—'यथा पुंसो वृषण्यतः स्त्रियाँ निहन्यते-मनः। एवा ते अघ्न्ये ! मनोऽभिवत्से निहन्यताम्' यह उत्तरभाग छिपा दिया है। इसका भाव यह है कि—जैसे साधारण लोगोंका माँस, मद्य, द्यूत आदिमें मन जाता है, वैसे हो ऐ गाय ! तेरा मन भी बछड़ेमें जाता है। इससे सर्वसाधारण लोगोंकी मांस आदिमें प्रवृत्ति बताई गई है। इसमें 'हन्' धातुका 'गति' अर्थ है। इसीका अनुवाद है—'प्रवृत्तिरेषा भूतानां' (मनु० ५।५६) यही निरुक्तमें कहा है—'मांसं मनोऽस्मिन् सीदति' (गच्छति,

षद्लृ विशरण गत्यवसादनेषु भ्वा० प० अ०) (४।३।२) इसीके उदाहरण-स्वरूप इतिहासमें मांसमें पुरुषोंकी प्रवृत्ति देखी गई है, पर यह विधि नहीं है। इतिहासमें मिलनेसे विधि नहीं हो जाती।

पृ० ३४–३८ मन्त्रद्रष्टा ऋषि होते हैं, यह प्रतिपक्षीने मान लिया, तब मन्त्रद्रष्टासे भिन्नको 'ऋषि' कहना गौणीवृत्तिसे होता है। तब स्वा० द० को यदि अपनी पूज्य-बुद्धिसे वह ऋषि कहता है, तब तो आपके पूज्य श्रीधर्मदेव-बुद्धदेवादि भी तथा वेदार्थकार श्रीजयदेवादि भी ऋषि हुए, फिर आप उन्हें ऋषि क्यों नहीं कहते ? कहनेको तो लोग 'महर्षि देवेन्द्रनाथ' आदि कह देते हैं, इस प्रकार आप भी स्वा० द० को कह देते हैं, पर इससे उनका वास्तविक ऋषित्व नहीं हो जाता। व्यास आदि वेद-संहिताओंके द्रष्टा थे, अतः ऋषि थे। शेष आतिदेशिक ऋषि। इस विषयमें प्रतिपक्षीको अपने मान्य 'निरुक्तालोचन' में 'यास्क ऋषिर्न वा' यह निबन्ध देखना चाहिए।

३६–४०–४१ (प्र०)। 'वेद चार हैं—इसमें प्रमाण' ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः' (शत० १४।५।४।१०)"। (उ) इस प्रमाणमें 'ऋग्वेदः' तो लिखा है, पर 'ऋग्वेदसंहिता, अथर्ववेद-संहिता आदि तो लिखा नहीं। 'ऋग्वेद, यजुर्वेद' आपके वैदिक-यन्त्रालयमें छपे मिलते ही नहीं, सामवेदसंहिता, अथर्ववेदसंहिता आदि ही मिलती हैं।। सो ११३१ संहिता, तथा उतने ही ब्राह्मण उपनिषद् आरण्यक आदि होने पर भी वेद चार ही रहेंगे। २१ ऋग्वेदसंहिता मिलकर ही एक ऋग्वेद होगा। १०१ यजुर्वेदसं-हिता मिलकर ही एक यजुर्वेद होगा। संहिताके साथ संहिताका नाम ऋग्वेद-शाकल्यसंहिता, यजुर्वेद माध्यन्दिन-वाजसनेयी संहिता लिखना पड़ेगा, क्योंकि—यजुर्वेदस्य संहिता विग्रह करने पर यह

प्रश्न उपस्थित होगा कि—यजुर्वेदकी यह कौनसी संहिता है, माध्यन्दिन है, वा काण्व, तैत्तिरीय है, वा मैत्रायणी ? इससे सभी शाखाएँ वेद हो जाती हैं। 'वेदके आगे महाभाष्यके प्रमाणको कोई कैसे मान सकता है? महाभाष्यका प्रमाण व्याकरणके लिए मान्य हो सकता है' इत्यादि लिखनेमें प्रतिपक्षीकी बहुत दयनीय दशा हो गई है। महाभाष्यकार वेदकी ११३१ संहिता व्याकरणके किसी प्रयोगकी सिद्धिके लिए नहीं दे रहे हैं कि—वह व्याकरणके लिए मान्य हो। वेदज्ञ महाभाष्यकार शब्दका व्यापक विषय बताते हुए वेदकी इयत्ता भी लगे-हाथ बता रहे हैं। वहीं पर 'वेदे' कहकर भाष्यकारने जो 'यद्वो रेवती रेवत्यां तमूष' वेदका यह मन्त्र दिया है। वह आपके माने हुए मूल वेदमें नहीं मिलता। 'वैदिकाः खल्वपि' कहकर महाभाष्यकरने जोकि—'शंनो देवीरभिष्टये यह अथर्ववेदसं० का प्रतिपक्षी के स्वा० द० के ऋ० भा० भू० (पृ० ८६) के अनुसार प्रथममन्त्रप्रतीक दिया है. वह आपके मूल माने हुए अथर्ववेदमें प्रथममन्त्ररूपमें नहीं मिलता। महाभाष्यकार प्रसिद्ध वेदज्ञ तथा वादिप्रतिवादिमान्य हैं, अतः उनकी बात ही वेद-विषयमें मानी जायेगी. संस्कृतमें अत्यल्प प्रवेश रखने वाले प्रतिपक्षीकी नहीं भाष्यकारसे विरुद्ध स्वा० द० जीकी भी नहीं। अभी प्रतिपक्षी इस विषयमें अध्ययन करे। केवल आर्यसमाजियों-की पुस्तकोंके अभ्याससे उसका कुछ नहीं बन सकेगा। महाभाष्य-कारको एक ढङ्गसे वेदानभिज्ञ बताना प्रतिपक्षीका अक्षम्य अपराध है। इससे उसके साम्प्रदायिक पक्षकी निर्बलता सिद्ध हो रही है।

'मूलसे शाखा सर्वथा भिन्न होती हैं' इस अपने कथन पर प्रतिपक्षी बतलाये कि—मूल क्या कभी दीखता भी है ? वह तो परोक्ष होता है, पर आपकी ऋग्वेद-संहिता आदि

संहिताएँ तो दीख रही हैं अतः स्पष्ट है कि— वे मूल नहीं। वे भी शाखाएँ ही हैं। तभी तो इन्हें शाकल्यसं. माध्यन्दिनीसं. कौथुमीसं—शौनकसं० कहा जाता है। वृक्षका मूल भी तो वृक्षकी शाखा ही होता है ? वेदकी संहिताएँ चार नहीं होती हैं, वे तो होती हैं ११३१, और वे ही चार वेद होती हैं। इस विषयमें प्रतिपक्षी 'आलोक' ४र्थ (पृ० १०५ से १६६ तक) ६ठा (पृ० ४४ से १७८ तक तथा ८म पुष्प (पृ० ४२ से १३० तक) देखें। ७मके ७४७ पृ० से ८०० पृ० तक देखें।

पृ० ४२ प्रौढा-विवाहके प्रमाणमें प्रतिपक्षी लिखता है—'यदि बालविवाह उचित है. तो प्रश्न होता है— कन्याके साथ चतुर्थ दिन चतुर्थीकर्म कैसे होगा ?" (उ०) चतुर्थी-कर्म चौथे दिन ब्राह्म-मुहूर्तमें (आपस्तम्बधर्म १।१।१२ पारस्कर १।११) करना पड़ता है, उस समय गर्भाधान नहीं हुआ करता। 'ऊर्ध्वं त्रिरात्रात् सम्भव इत्येके' (२।५।७) यह जो प्रमाण प्रतिपक्षीने अपने पक्षकी पुष्टिमें गोभिलगृ० से दिया है, गोभिलने तो उसका 'यदा ऋतुमती भवति उपरतशोणिता, तदा सम्भवकालः' (२।५।८) यह कहकर खण्डन कर दिया है कि—चौथे दिन गर्भाधान नहीं हुआ करता, किन्तु जब उस विवाहिताका ऋतुकाल आवे, उसके पांचवेंसे १६ दिन तक (जब वह उपरतशोणिता होती है) तभी गर्भाधानका काल होता है। इससे प्रतिपक्षीके मतका प्रतिपक्षीके मान्य गोभिलने ही खण्डन कर दिया। 'यदा ऋतुमती भवति' इस गोभिलके पाठमें 'यदा पुनर्ऋतुमती भवति' इस प्रकार 'पुनः' पाठ नहीं है, अतः अर्वाचीन पक्षके श्रीसामश्रमीने उसमें अपनी इच्छानुसार 'पुनः' शब्द प्रक्षिप्त किया है, अतः वह अमाननीय है। इससे स्पष्ट होरहा है कि—गोभिलके मतमें कन्याका ऋतुमतीत्वसे पूर्व विवाह होता है। तभी तो 'नग्निका तु श्रेष्ठा' (३।४।६), इस गोभिलके

ट्ट्नके विवाहमें 'नग्निका' को ग्राह्य माना है। 'नग्निकाऽनतार्तवा' (अमर० २।६।८) नग्निका ऋतुकालसे पूर्वकी लड़की का नाम होता है। तब प्रतिपक्षीका पक्ष कट गया। 'तामुद्वह्य यथर्तु प्रवेशनम्' (१।१।७) यह जो पारस्करका प्रमाण प्रतिपक्षीने लिखा है वह भी उसके पक्षको काट रहा है। यहां यह नहीं लिखा कि—विवाहके ४र्थ दिन गर्भाधान करे, किन्तु यह लिखा है कि-विवाहके बाद 'यथर्तु' जब लड़कीका ऋतुकाल हो, तभी उसका अभिगमन करे। तभी तो पारस्करने वर्ष तक संयम करना लिखा है—(१।८।२१) त्रिरात्रके लिए तो उसने 'अन्ततः' (१।८।२१) लिखा है। शिवपुराणके प्रतिपक्षिदत्त प्रमाणमें भी चतुर्थीकर्ममें समागम नहीं लिखा। वहाँ तो लिखा है—चौथा दिन प्राप्त होने पर शुद्धता-पूर्वक चतुर्थी-कर्म विधिपूर्वक किया'। यहाँ समागम का कुछ भी वर्णन नहीं। उसका तो कुमारखण्डमें प्रथम अध्यायमें सहस्रवर्ष-पर्यन्तका वर्णन आया है। यहाँ नहीं, अतः यहाँ उसका उल्लेख प्रतिपक्षीका छल है। तब यह प्रतिपक्षीका पुराणकी उक्तिसे बलात्कार है। तब यह सब प्रमाण प्रतिपक्षीके पक्षके 'उष्ट्रलगुड' न्यायसे खण्डक हैं। इस विषयमें स्पष्टता हमने 'श्रीसनातनधर्मालोक' के ५०० पृष्ठोंमें कर रखी है। किसी अग्रिम पुष्पमें वह विषय प्रकाशमें आयगा।

पृ० ४३ 'ऐसे कालमें विवाह होना चाहिए—जब कन्या गर्भाधानके योग्य हो, वह समय १६ वर्षका है—'ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते (सुश्रुत)।

यह सुश्रुतका गर्भाधानका श्लोक है, विवाहका नहीं। विवाहके लिए तो वहीं—'द्वादशवर्षीयां पत्नीमावहेत् (१२ वर्षकी लड़कीका विवाह करे), (शा० १०।५३) यह पाठ है। तब प्रतिपक्षीका

खण्डन हो गया। 'ऊनषोडशवर्षायाम्' में भी प्राचीन पाठ 'ऊनद्वादशवर्षायाम्' ही है, क्योंकि १६ वर्षसे कम लड़की तो १५ वर्षकीभी होती है, १४ वर्षकी भी। इन लड़कियोंके गर्भ भी देखे गये हैं, उनके बच्चे भी मरे हुए पैदा नहीं देखे गये। इसमें इस श्लोक के अग्रिम श्लोकका अंतिम अंश 'तस्माद् अत्यन्त-बालायां गर्भाधानं न कारयेत्' (शा० १०।५५) यह भी ज्ञापक है। बारह वर्षसे कमकी लड़की तो कथंचित् अत्यन्त बाला मानी जावे, पर १२-१३-१४-१५ वर्षकी लड़की अत्यन्त-बाला नहीं होती। इस विषयमें ५-६ उपपत्तियां अन्य हैं, उनकी स्पष्टता 'आलोक' के किसी अन्य पुष्पमें होगी। कुछ संकेत इस पुष्प (पृ० ६६५—७११) में देखें।

(ख) मूर्तिपूजाके विषयमें प्रतिपक्षी लिखता है—'आपके समान हम चित्रको धूप, दीप, नैवेद्य, चन्दन नहीं लगाते हैं'। (उ०) पूजाका प्रकार सबका भिन्न होता है। कोई हाथ जोड़ लेता है, कोई अपना हैट उतार लेता है, कोई नमस्कार कह देता है। प्रकार-भेद होने पर भी लक्ष्य सत्कार ही होता है। आप स्वामी का चित्र ऊँचे स्थान पर सम्मानार्थ रखते हैं, यह सब मूर्तिपूजा है। स्वामीजीने भी लिखा है 'किसी जड़-पदार्थके सामने शिर झुकाना वा उसकी पूजा करना सब मूर्तिपूजा है' (स० प्र० ११ पृ० २३० नानकपन्थ-समीक्षा) ला० लाजपतरायकी मूर्ति पर १७ नवम्बरको डी० ए० वी० कालेजका सारा स्टाफ तथा आर्यप्रतिनिधिसभा लाहौरमें फूल चढ़ाते थे, यह हिन्दी-मिलापमें प्रतिवर्ष छपता था। स्वामीके जड़ चित्रको आप पूज्य-दृष्टिसे देखते हैं—यह मूर्ति पूजा ही तो प्रतिफलित हुई। वेद स्वयं निराकार-ज्ञानकी मूर्ति बनकर स्वयं अपनी उपासना करा रहे हैं, इस विषयमें 'आलोक' (४) पृ० (३७५-३९३) में देखिये।

पृ० ४५ पं० बुद्धदेवने हैदराबादमें म० दयानन्दके चित्र पर पैर नहीं रखा था, वरन् अपने विपक्षियोंके सिर पर 'मोचीपत्र' का प्रहार किया था'—यह कहकर प्रतिपक्षीने एक आर्यसमाजो का बना श्लोक दे दिया, यह कौनसे वेदका प्रमाण है ? आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामीके चित्र पर श्रीबुद्धदेवजी-द्वारा जूतेका यह प्रहार तो आर्यसमाज पर जूते का प्रहार था—यह स्पष्ट है, विपक्षियोंके सिर पर प्रहार कैसे था—यह तो प्रतिपक्षी असंगति—अलङ्कार का प्रयोग कर रहा है। इससे आर्यसमाजियोंने बुरा मनाया था, यह स्पष्ट आर्यसमाजकी मूर्तिपूजा है। एक बार 'प्रकाश' के ऋष्यङ्क में सम्भवतः सं० १९८० में मुखपृष्ठ में स्वा०द० जी का चित्र छपा था। दूसरी ओर स्वा० द० जी के मुख के ठीक पास 'भल्ले का बूट' छपा हुआ था। इससे स्वामीकी अप्रतिष्ठा समझ आर्यसमाजियोंने सम्पादक कृष्ण को 'लोभी, लालची' आदि कहकर आलोचित किया। उस समय कृष्णने क्षमा माँगी यह सब विपरीत कोटिकी मूर्ति-पूजा ही तो है, फिर आगे से उसने विज्ञापनमें बूटका चित्र नहीं छपवाया। यदि यह मूर्तिपूजा नहीं है, तो यह—मुर्देकी पूजा होगी, क्योंकि—अब स्वामी जीवित नहीं हैं।

पृ० ४७ श्रीमाधवाचार्यजीको 'अचारज' तथा 'माँ का पति' कहना प्रतिपक्षीकी दयनीय दशा उपस्थित कर रहा है। इससे स्पष्ट है कि—पं० माधव० जी के 'दूध का दूध पानी का पानी' का प्रतिपक्षी पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। जिससे वह उन्हें गालियाँ दे रहा है। 'आचार्य' होने से 'अचारज' माना जावे, तो श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य आदि भी 'अचारज' हो जावेंगे। एक बहावलपुरके 'अचारज' थे, वे द्रोणाचार्य आदि को द्रोण-अचारज कहते थे, क्या पथिक जी भी वही तो नहीं ? एक बार

शास्त्रार्थको वन्द कराने के लिए महाशय लोकनाथजीने भी 'महाशय' शब्द से चिढ़ कर 'माधव-अचारज और माधव-मिस्सर' कहा था। यह सब गालियाँ प्रतिपक्षियों के पक्षकी दुर्बलता बता रही है। 'माधव' इस संस्कृत शब्द में 'मा' लक्ष्मी का नाम है, पर उसमें 'मा' का 'माँ' अर्थ सिद्ध करने के लिए प्रतिपक्षी को (पृ० ३३ में) 'हिन्दीशब्दसागर' का प्रमाण देना प्रतिपक्षी का संस्कृतानभिज्ञता तथा साम्प्रदायिक-विद्वेष सिद्धकर रहा है। हिन्दी में भी तो 'माँ' होता है 'मा' नहीं। विद्यार्थी जीने भी टिप्पणीमें 'माधवे आचरतीति माधवाचार्यः 'गधा' यह निर्वचन तथा नवीन अर्थ दिखलाकर अपनी वि-[गत] शारदता दिखला दी है।

पृ० ४८ 'अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा' यहाँ अक्षमालाको निकृष्टयोनिज बताया गया है। इस 'अधमयोनिजा' पर विवेचना 'आलोक' (३) पृष्ठ २१५ में देखिये। इस पद्यके उत्तरार्धमें शारंगी एक पक्षिणी बताई गई है जिससे मन्दपालने चार लड़के पैदा किये थे। इससे प्रतिपक्षी ऋषियों पर जघन्य दोष लगाना लिखता है, (पौराणिकों का भ्रम) पर यहाँ उसी बात को लिखने वाले मनुको प्रमाण मान लेता है। यहाँ पर शारङ्गी एक चिड़िया पक्षिणी थी—श्री कुल्लूक ने 'चटका' यह 'शारङ्गी' के लिए लिखा था कि—वह एक चिड़िया थी, पर प्रतिपक्षी ने चटका नामकी मानुषी-कन्या लिख दिया, उसके पास इसका ऐतिहासिक क्या प्रमाण है ? अमर—कोष में 'शार्ङ्ग' एक पक्षी माना है (२।५।१७)। श्रीसायणाचार्यने शार्ङ्ग इति पक्षिविशेषस्य आख्या' (ऋ० १०।१४२) एक पक्षी का नाम माना है। यही बात महाभारतमें भी लिखी है।

'तच्छ्रुत्वा मन्दपालस्तु वचस्तेषां दिवौकसाम्। क्व नु शीघ्र-

मपत्य स्याद् बहुलं चेत्यचिन्तयत् (१।२३१।१५) स चिन्तयन् अभ्यगच्छत् सुबहुप्रसवान् खगान्। शार्ङ्गिकीं शार्ङ्गिको भूत्वा' (१६) इसमें शार्ङ्गिकी को एक खग (पक्षिणी) माना गया है। और मन्दपालने भी उससे शार्ङ्गीके रूपमें लड़के पैदा किये। इससे मुनि पर कोई कलङ्क नहीं आता बल्कि—उसकी अन्य. योनिमें भी उत्पादन की अप्रतिहत शक्ति बताई गई है। 'तस्यां पुत्रान् अजनयत् चतुरो ब्रह्मवादिनः (१७) उससे वेदसूक्तद्रष्टा ४ लड़के पैदा किये, वे जरिता, द्रोण. सारिसृक्क, स्तम्बमित्र नाम के ऋ० १०।१४२ सूक्तके ऋषि थे। 'यस्माद् बीजप्रभावेन तिर्यग्जः ऋषयोऽभवन्। पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद् बीज प्रशस्यते' (मनु. १०।७२) यहां तिर्यग्जाः का अर्थ पशु-पक्षियोंसे उत्पन्न है। सो मुनियोंके बीजप्राधान्यवश उन्हें ब्राह्मण माना गया। मन्दपाल को वहाँ 'विप्रर्षिर्ब्राह्मणो' (२२) ब्राह्मण बताया गया है। 'अजातपक्षाश्च सुता न शक्ताः सरणे मम। (२३२।५) यहाँ भी उन्हें पक्षी बताया गया है। महाभारत के उक्त प्रकरण में यह स्पष्ट है; तब यदि शारङ्गी पक्षिणी नहीं थी, तो क्या कुशवाहा जाति की कोई लड़की थी, जो वन में वृक्ष पर रहा करती थी और उड़ा करती थी।

गुणकर्मणा वर्णव्यवस्थामें जिस भविष्यपुराणका प्रतिपक्षी आश्रय लिया करते हैं, उसीमें 'हरिणीगर्भसंभूतः, उलूकीगर्भ-संभूतः' इत्यादियोंमें हरिणी आदि द्वारा उत्पत्ति बताई गई है। यदि उक्त उत्पत्ति गलत है, तो 'गुणकर्मणा वर्णव्यवस्था' का मंडन वादीका गलत हो गया।

(ख) (प्र) प्रमत्ता ब्राह्मणीका विवाह एक नाईके साथ हुआ। इसके पुत्र मतंग मुनि थे'। (उ) यह प्रतिपक्षीकी बात गलत है। मालूम होता है कि—उसने सन्तरामजीके लेख से

यह बात उद्धृत की है। इस विषय पर 'आलोक' (६) पृ० ८६६ में प्रतिपक्षी देखें।

पृ० १५१ (प्र) सूत वर्णसङ्कर थे—अतः साधारणशूद्रसे भी सूत जाति का दर्जा निकृष्ट है, 'क्षत्रियाद् विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः' (मनु० १०।११) उसी सूत से समस्त पुराण कहे गये हैं। (उ०) यह बात गलत है। वे सूत-जाति के नहीं थे। इस विषय में 'आलोक'(३) पृ०२९९-३०९ देखें। कौटल्य अर्थशास्त्र ने स्पष्ट लिखा है 'पौराणिकस्तु अन्यः सूतः(३.७।३१) कि-पौराणिक सूत सङ्करजाति वाला सूत नहीं है।

पृ० १५१-१५२-१७३ 'नाविकागर्भसम्भूतो मन्दपालो महामुनिः' मन्दपाल नाविका के गर्भ से उत्पन्न हुए। 'हरिणीगर्भसम्भूतः ऋष्यशृङ्गः, उलूकीगर्भसम्भूतः कणादाख्यः, (भविष्य) इनका प्रत्युत्तर 'आलोक' (४) पृ० ३०२-३०८ में देखो।

पृ० १६१-१६२ गणिकागर्भसम्भूतो वसिष्ठश्च महामुनिः। जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः श्वपाक्याश्च पराशरः, श्वपाकीगर्भसम्भूतः पिता व्यासस्य, (भविष्य) व्यासः कैवर्तकन्यायाम्' (वज्रसूची) इसपर 'आलोक' (७) पृ० ६१७–६२२) तथा 'आलोक' (३)पृ० २८३ २८४, तथा 'आलोक' (४) पृ० ३०२ देखें।

पृ० ५० शूद्रोंको यज्ञोपवीत पहिनने का विधान—'शूद्राणाम-दुष्टकर्मणामुपनयनम्' (पारस्कर हरिहरभाष्य तथा आप-स्तम्बध.)।

(प्रत्यु) किसी भी धर्मशास्त्र, गृह्यसूत्र श्रौतसूत्र में बल्कि प्रतिपक्षी के ऋषिकी संस्कारविधि में भी शूद्रों का उपनयन नहीं माना गया। इसी कारण 'शूद्राणाम ुष्टकर्मणामुपनयनम्' यह पाठ किसी पुस्तक के मूल में नहीं मिलता। मूलमें तो 'अशूद्राणामदुष्ट-

कर्मणामुपनयनम्' यही पाठ मिलता है 'देखो वीरमित्रोदय' के उपनयन-प्रकरण पृष्ठ ३८७ तथा ४०५ पृ० में 'शूद्र एक जातिः—एकजन्मा, न द्विजन्मा, उपनयनाभावाद् इत्यर्थः। आपस्तम्बोपि 'अशूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्' इति शूद्रव्यतिरिक्तं वदन् शूद्रस्य एतद् (उपनयनं) न इत्याह ? इस प्रकार आपस्तम्ब-का 'अशूद्राणाम्' यह पाठ उद्धृत किया है।

म०म. श्रीमुकुन्दशर्मा ने भी अपने गोभिलगृ-की भाव्यभूमिका में 'अशूद्राणाम्' यही आपस्तम्ब का पाठ उद्धृत किया है। स्मृति-चन्द्रिकाकार ने भी 'संस्कार-काण्ड' में संस्कारपरिभाषा-प्रकरण में 'अशूद्राणाँ' यही आपस्तम्ब का पाठ माना है। सभी स्मृतिकार एवं गृह्यसूत्रकार तो इसमें एक-मत हैं ही। बहुत कहने से क्या, आपस्तम्बधर्मसूत्रमें ही प्रत्यक्ष देख लीजिये, वहां भी 'अशूद्रानामदुष्टकर्मणामुपायनम्' (१।१।६) यह पाठ हैं—प्रत्यक्षे किं प्रमाणान्तरेण ॥

यही पाठ आपस्तम्बको अभिमत भी है, इस पर उसकी अन्तः साक्षियाँ देखिये—उसने 'श्मशाने सर्वतः' (१।९।६) में श्मशान में वेद के अध्ययन का निषेध लिखा है। महाभाष्यकार ने भी यही लिखा है—देशः खल्वपि आम्नाये नियतः—श्मशाने नाध्येयम् (५।२।१।५९) यहाँ पर 'आम्नाय' का अर्थ वेद है, यह आर्य-समाज के चोटी के विद्वान् मानते हैं। आपस्तम्ब शूद्रको भी 'श्मशान' मानते हैं। देखिये—'श्मशानवत् शूद्रपतितौ' (१।९।९)। तो जब श्मशान-रूप शूद्र के पास वेद पढ़ने का भी निषेध है, तब शूद्र स्वयं वेद कैसे पढ़ सकता है, यह बात केवल आपस्तम्ब ने ही नहीं लिखी, किन्तु वशिष्ठ ने भी लिखी है—'तच्छ्मशानं ये शूद्रास्तस्मात् शूद्र समीपे नाध्येतव्यम्' (१८।९-११) वेदान्तदर्शन के अपशूद्राधिकरण में भाँष्य में स्वाः शङ्कराचार्य तथा श्रीरामानुजाचार्य तथा

श्रीनिम्बार्काचार्यने भी लिखा है—'पद्यु (जङ्गमं) एतत् श्मशान यत् शूद्रः, तस्मात् शूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्'। आचार्य शङ्कर ने यह लिखकर लिखा है—'यस्य हि समीपेपि नाध्येतव्यं (भवति), स कथमश्रुतमधीयीत' (६।१।३८)। मीमाँसादर्शन शाबरभाष्यमें भी कहा है—'पद्यु ह एतत् श्मशानं यत् शूद्रः।' बहुतोंके ऐकमत्य दीख रहे होनेसे यह ठीक है। आपस्तम्बमें 'शुश्रूषा शूद्रस्य इतरेषां वर्णानाम्। (१।१।७) शूद्रकी सेवा ही मानी है। वेदाध्ययन नहीं, तब वह उसका उपनयन कैसे कह सकता है ? तब वहाँ अन्तः साक्षियोंसे 'अशूद्राणामदुष्टकर्मणामुपायनम्' यह पाठ ही ठीक हुआ।

यदि प्रतिपक्षी पारस्करगृह्यसूत्रके हरिहर आदि भाष्यकारसे उद्धृत 'शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्' इस पाठको मानता है, तब उसपर उनकी व्यवस्था भी माने। उसमें लिखा है 'शूद्राणाम-दुष्टकर्मणामुपनयनम्' एतच्च रथकारविषयम् तस्य तु मातामही-द्वारकं शूद्रत्वम्। अदुष्टकर्मणां मद्यपानरहितानामिति कल्पतरुकारः (पार.हरिहर २।५)इससे स्पष्ट हुआ कि वहाँ साक्षात् शूद्र वर्णका उपनयन नहीं, किन्तु मातामहीद्वारक शूद्रता वाले रथकारका विशिष्ट वचन से उपनयन विहित है। इस विषयपर 'कात्यायन-श्रौतसूत्र' तथा उसका कर्कभाष्य देखें—

'रथकारस्याधानम्' (१।१।९)। (पूर्वपक्षः—) श्रूयते हि रथकारस्य आधानम्। तत्रेदं विचार्यम्—किं त्रैवर्णिको रथकारः रथक्रियायोगाद् उत जात्यन्तरमिति। उभयत्र प्रयोगदर्शनात् सन्देहः। किं तावत् प्राप्तम् ? त्रैवर्णिक इति। तस्य हि आधान-प्राप्तौ सत्याम् ऋतुमात्रविधानाद् वाक्यभेदो न भवति। जात्य-न्तरवाचिनि पुनस्तस्य आधानसम्बन्धो वक्तव्य ऋतुसम्बन्धश्चापि। तथा सति वाक्यं भिद्येत। तस्मात् त्रैवर्णिको रथकार इति।'

यहाँ पर रथकारका त्रैवर्णिकत्व पूर्वपक्षसे कहा गया है। अब उत्तरपक्ष कहते हैं—

'नियतं च' (१।१।१०) यहाँ पर कर्कभाष्य इस प्रकार है—'च'शब्दो 'वा' शब्दस्यार्थे। निपातानामनेकार्थता उक्ता, उच्चावचेषु अर्थेषु निपतन्तीति निपाता इति। अतः 'च' शब्दो 'वा' शब्दस्यार्थे। 'वा' शब्दश्च पक्षव्यावृत्तौ। न त्रैवर्णिको रथकार, किं तर्हि जात्यन्तरमेव। तस्मिन् हि 'रथकार' शब्दो रूढः स्मर्यते—'माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते, इति। क्षत्रियाज्जातो वैश्यायाँ माहिष्यः, वैश्येन शूद्रायाँ जाता करणी : माहिष्येण करण्याँ जातो रथकारः, आनुलोम्येन संकरजातः। रथकारशब्दश्चात्र रूढिः। रूढिश्च योगाद् बलीयसी। सा हि श्रुतिपक्षनिक्षिप्ता। वाक्यपक्षनिक्षिप्तो योगः। अपि च त्रैवर्णिकस्य शिल्पोपजीवनं प्रतिषिद्धम्। तस्मादपि जात्यन्तरमिति। तथाच मन्त्रलिङ्गम्—'ऋभूणाँ त्वा-इति रथकार आदधीत-इति। 'सौधन्वना ऋभवश्च' इति सौधन्वन् शब्देन स्पष्टमेव जात्यन्तरमभिधीयते।

अथ यदुक्तम् जात्यन्तरवाचिनि रथकारशब्देन वाक्यं भिद्येतेति, तद् विशिष्टविधानेन परिह्रियते। 'अथ कस्मात् त्रैवर्णिक एव नाङ्गीक्रियते, सोपि रथकरणाद् रथकारो भवति; तस्य इदमाधानम्। एवं च सति ऋतुमात्रविधाने लाघवं भवति। जात्यन्तरे तु विशिष्टविधानाङ्गीकरणे गौरवं स्यात्.? एवमाशङ्किते उत्तरसूत्रम्—नाभावादिति वात्स्यः (११) यहाँ कर्कभाष्य यह है 'न त्रैवर्णिको रथकारः शक्यते वक्तुम्। यो निमित्ताशब्दो यावदेव योगः तावदेव प्रवर्तते। अतो न रथकाराख्याया रथकरणनिमित्तता। "तत्रैतद् विचार्यते—स्थपतीष्ट्यां किमाधानसंस्कृतोऽग्निः उत लौकिक इति ? आह –'लौकिके' (१।१।१४) लौकिके अग्नौ एतत् स्याद् (न तु संस्कृते) इति।

इससे बहुत ही स्पष्ट हो गया कि-यह साक्षात् शूद्रवर्णवालेका उपनयन नहीं, किन्तु अनुलोमसङ्कर का वर्णन है, जिसके लिए मनुजीने भी कहा है—'सजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः (१०।४१) यहाँ श्रीकुल्लूकभट्टने लिखा है—'द्विजातिसमानजातीयासु जाताः, तथा अनुलोम्येन उत्पन्नाः, ब्राह्मणेन क्षत्रियावैश्ययोः क्षत्रियेण वैश्यायाम् एवं षट् पुत्रा द्विजधर्मिण उपनेयाः' इनका याग भी संस्कृत-अग्नि में नहीं किन्तु लौकिक-अग्निमें सूत्रविहित है। –यह दिखलाया जा चुका है, तब स्पष्ट है कि इनका उपनयन भी द्विजों जैसा संस्कृत नहीं, किन्तु असंस्कृत-अमन्त्रक ही है। इससे शूद्रका उपनयन जो प्रतिपक्षीको इष्ट है, वह सिद्ध न हो सका। आप जिनका उद्धरण देते हैं, व्यवस्था भी आपको उन्हीं को माननी पड़ेगी। वहां अर्धजरतीय न्याय का आश्रयण करना अपने (प्रतिपक्षी के) पक्ष की निर्बलता ही होगी।

'अशूद्राणामदुष्टकर्मणामुपायनं वेदाध्ययनम् अग्न्याधेयम्' (१।१।६) इस आपस्तम्बधर्मसूत्र के सूत्र का हरदत्तमिश्र का भाष्य इस प्रकार है 'शूद्रवर्जितानां त्रयाण वर्णानाम् अदुष्टकर्मणामुपायनादयो धर्माः। उपायनम्-उपनयनम् नात्र त्रैवर्णिकानामुपनयनं विधीयते, प्राप्तत्वात्। (त्रैवर्णिकों को उपनयन प्राप्त होने से यहाँ उसके लिए विधि नहीं) नहि शूद्राणां प्रतिषिध्यते प्राप्त्यभावात् (शूद्रोंको उपनयनकी प्राप्ति ही न होने से यहाँ निषेध नहीं) उपनयनं तावद् गृह्ये (आप गृ ८।२) गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयीत इत्यादिना त्रैवर्णिकानामेव विहितम् इहापि तथैव विधास्यते। अध्ययनमपि 'उपेतस्य आचार्यकुले ब्रह्मचारिवासः (आप० ध० १।२।११) इत्यारभ्य विधानाद् अनुपनीतस्य शूद्रस्य अप्राप्तमेव।

किं च—'श्मशानवत् शूद्रपतितौ' (आप० ध० १।९।९) इति

अध्ययननिषेधो वक्ष्यते। यस्य समीपे नाध्येयं स कथं स्वयमध्येतु-मर्हति? अग्न्याधेयमपि-वसन्ता ब्राह्मणः' (तैब्रा० १।१।२) इत्यादि त्रैवर्णिकानामेव विहितम्। फलवन्ति च अग्निहोत्रादिकर्माणि-'स त्रयाणां वर्णानाम्' (आप० परि० १।२) इत्युक्तत्वात् त्रैवर्णिका-नामेव नियतानि। विद्याग्न्यभावाच्च शूद्राणामप्रसक्तानि। उक्तो विद्याऽग्न्यभावः। (शूद्रको विद्या और अग्निका अभाव कहा ही जा चुका है) तस्माद् (द्विजानां) दुष्टकर्मप्रतिषेधार्थं सूत्रम् (द्विज दुष्ट कर्म न करें-इसके लिए यह सूत्र है)......शूद्रप्रति-षेधस्तु प्राप्तानुवादः (शूद्रका निषेध तो प्राप्तका अनुवाद मात्र है) इस प्रकार आपस्तम्ब ने इस सूत्र में तीन वर्णों का ही उपनयन बतलाया है, शूद्र का नहीं। तभी (१।१।७ में) शूद्रका कर्म तीनों वर्णों की सेवा ही माना है। तब उस पर आश्रित प्रतिपक्षीका महल गिर-पड़ा।

इसके अतिरिक्त 'शूद्राणामदुष्टकर्मणाम्' इस पाठ से प्रति-पक्षीके साँप्रदायिक-सिद्धान्त का भी खण्डन हो जाता है। दुष्ट कर्मों से वादीके संप्रदायमें पुरुषको 'शूद्र' संज्ञा होती है। तब 'अदुष्टकर्मा' शूद्र ही कैसे हुआ? अदुष्टकर्मा के 'शूद्र' मानने पर फिर वर्णव्यवस्था प्रतिपक्षीके मतमें भी जन्मसे सिद्ध हो जायगी। क्या वादीको अपने सांप्रदायिक-सिद्धान्त का भंग इष्ट है? यदि ऐसा हो तो उसे बधाई हो। वादी भी अपने शब्द से 'पौराणिक' बन गया, फिर पौराणिकोंको गाली क्यों देता हैं? यदि यह वचन वादीकी मान्य गुणकर्मव्यवस्थानुसार वेदविरुद्ध है, तब प्रतिपक्षीने वेदविरुद्ध इस प्रमाणको कैसे दिया? इससे स्पष्ट है कि अपने पक्षसे विरुद्ध वैदिक-प्रमाण भी इनके मतमें 'पौराणिक' बन जाता है, अपने मतके अनुकूल पौराणिक-प्रमाण भी इनके मत में 'वैदिक' बन जाता है। यही चले हैं सनातनधर्मका खण्डन करने !!!

पृ० ५० (प्र०) भविष्यपुराण (अ० ३७) में लिखा है-'चारों वर्णों का यज्ञोपवीत-संस्कार-होना चाहिए—'संस्कृताः शूद्रवर्णेन ब्रह्मवर्णमुपागताः।७२। शिखासूत्रं समाधाय पठित्वा वेदमुत्तमम्। यज्ञैश्च पूजयामासुर्देवदेवं शचोपतिम्' (७३)। (उ०) यह बात प्रतिपक्षीकी बिल्कुल गलत है। यहां ऐसी कोई विधि नहीं है। यहाँ तो शूद्रोंका षड्यन्त्र-द्वारा ब्राह्मण बनकर इन्द्र की पूजा करना कहा है; पर वह न पुराणकारको इष्ट है, न इन्द्र देवताको। बुद्धा-वतार धारण करके वेद उनसे छिनवा लिये गये। यहाँ प्रतिपक्षो ने अपनी गुरुपरम्परावश पूर्वोत्तर-प्रकरण छिपा दिया है। इस विषय में 'आलोक' (३) पृ० १६३-२०१ देखें।

पृ० ५१ 'गरुड़पुराण आ० का० ४३। ६-११ में लिखा है—'चारों वर्णोंको जनेऊ पहनना चाहिये'। वादीने यह वचन पूर्वापर देखे बिना एक आर्यसमाजीके ट्रैक्ट से उद्धृत कर लिया है। यहां जनेऊकी कोई बात नहीं। गरुड़पुराण शूद्रोंको जनेऊ देना नहीं मानता। इस विषयमें इसी पुष्प (पृ० ४२८-४३३) में देखें।

आश्चर्य तो यह है कि यह लोग वेद एवं मनुस्मृतिकी प्रति-योगितामें पुराणके प्रमाणको भी महत्त्व देकर अपने शब्दोंमें 'पौराणिक' बन जाना पसन्द करते हैं। शेष श्रीसातवलेकर आदि के साध्य वचन व्यर्थ हैं, उनके दिये शास्त्रीय प्रमाण देने चाहिएँ, जिससे उनपर विचार हो सके। प्रायः प्रतिपक्षी लोग कई प्रमाण, बिना पूर्वापर देखे दूसरे ट्रैक्टोंसे उद्धृत कर लेते हैं, पूर्वापर देखने पर वही प्रमाण उनसे विरुद्ध हो जाता है।

पृ० ५४ (प्र०) 'यथेमां वाचं' (यजुः २६।२) से शूद्रोंको भी वेद पढ़ने का अधिकार है। (उ०) ऐसा इस मन्त्र का अर्थ गलत है। इसपर 'आलोक' (३) पृ० १ से ५३ तक देखें। जब

स्वा० द० जीने अपनी संस्कारविधि और स० प्र० में शूद्रका उपनयन नहीं माना है; तब ज्ञानचन्द्र आर्य आदिका कथन साध्य कोटिका है।

पृ० ५५ स्वा० द० द्वारा शूद्रका रसोईके समय मुख बांधना आपने मान लिया। सो चार वर्णोंका साम्यवाद कहाँ गया? यहां भी अस्पृश्यता आगई। मूर्खके श्वासोंमें अशुद्धता क्या होगी–स्पष्ट है कि-यह शूद्र जाति के लिए है। जब शूद्रका श्वास स्वामी अशुद्ध मानते हैं, अतः मुखमें पट्टी बंधवाते हैं; तब नाकसे सांस तो ज़ोर का आयेगा। जैसा कि स्वा० द० जी स्वयं लिखते हैं—'जब कोई मुख पर कपड़ा बांधे, तो उसका मुखका वायु रुक के नीचे वा पार्श्व और मौन-समय में नासिका-द्वारा इकट्ठा होकर वेगसे निकलता है......मुख पर पट्टी बांधकर वायुके रोकने से नासिका-द्वारा अतिवेगसे निकल कर' (स० प्र० १२ पृ० २८९) जब ऐसा है, तो स्वमीने नाक पर पट्टी क्यों नहीं बन्धवाई? तब नाकसे वेग से निकला हुआ श्वास अन्न में पड़कर उसे स्वामीके अनुसार अशुद्ध कर देगा- तब उसे आर्य कैसे खा सकेंगे? और फिर भीतर परमाणु के भो तो अशुद्ध होंगे, जो उनके हाथ आदि निकलेंगे; तब उन शूद्रोंसे रसोई बनवाना भी ठीक नहीं रहेगा। यह स्वा० द० जी का कथन अपने ही द्वारा छुवाछूतका साधक होने से उन्हींका 'उष्ट्रलगुड़' न्याय द्वारा खण्डक हुआ। इसीलिए स्वा० द० अपना रसोइया ब्राह्मण रखते थे, शूद्र कभी नहीं रखते थे। मूर्ख होने पर भी उसे शूद्र नहीं मानते थे, तभी उनके मुख पर पट्टी नहीं बंधवाते थे।

(ख) 'हवनमें शूद्रोंके घरका अग्नि भी अग्राह्य बताया है' इस श्रीमाध० जी के आक्षेप में प्रतिपक्षी लिखता है—"यह लेख भी संस्कारविधिमें नहीं है। सं० वि० में यह लिखा है—'ब्राह्मण,

क्षत्रिय और वैश्यके घरसे अग्नि ला' यहां शूद्रकी कोई चर्चा तक नहीं है।"

यहाँ प्रतिपक्षी ने 'अपनी नाक और अपनी छुरी' इस न्याय से अपना खण्डन आप किया है। जिनकी अग्नि ग्राह्य थी; उन ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य का नाम तो स्वामीने लिख दिया। शूद्र की चर्चा तक न लिखने से उसकी अग्निकी स्पष्ट अग्राह्यता सिद्ध हो गई। इसीलिए गोभिलगृ. में भी लिखा है–'आगाराद् ब्राह्मणस्य वा राजन्यस्य वा, वैश्यस्य वा' (१।१।१६) इसीको खादिरगृह्यसूत्र में स्पष्ट कर दिया है—'बहुयाजिनो वा आगारात्, शूद्रवर्जम्' (१। ५।५) आर्यसमाजकी वालुकाभित्तिको जैसे-तैसे खड़ा करने वाले श्रीतुलसीरामस्वामो ने भी मनु० ६।३१६ श्लोक की आलोचना में लिखा है—'यज्ञमें शूद्रके घरकी अग्नि भी वर्जित है' (पृ०३५७) तब बेचारा प्रतिपक्षी खण्डित हो गया।

पृ० ५६-५७-५८ (प्र०) 'पौराणिक आचार्यों का शूद्रोंके साथ अत्याचार। 'अथास्य वेदमुपशृण्वत एव त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणम्' यदि इन कल्पित-वचनों पर आप आचरण करने लगें, तो निःसंदेह मृत्युदण्ड पावें।'

(उ०) प्रतिपक्षीने श्रीधर्मदेवजीके ट्रैक्टका यह सब कुछ उद्धृत कर लिया है। यह सारी ही पुस्तक उसकी इसी प्रकार दूसरों की चोरी है। अस्तु. इस आक्षेपपर 'आलोक' (६) पृ० ८७३ से ८७७ तक किये हुए विचारको प्रतिपक्षी देखे। वेदाध्ययन का शूद्रको निषेध शूद्र पर अत्याचार नहीं, किन्तु 'तपसे (कृच्छ्रकर्मणे) शूद्रं'। (यजुः माध्यं० ३०।५) के अनुसार उनको सुविधा देना है। शास्त्रीय-निषेध अनुदारता नहीं हुआ करती। शास्त्र-विरुद्ध बलात् आदेश देना उनकेलिए हानिजनक होता है। वैदिकम्मन्य भी प्रतिपक्षी 'वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेन' (ऋ० १।

३६।४) इस प्रकार धनी दस्युको भी मूरःलसे मार डाले, तब भी उसे फाँसी मिलेगी, इससे क्या वेदको भी अनुदार मान लेगा ? वैदिक-राज्यमें उसके नियम तोड़ने वालोंको मृत्यु-दण्ड ही तो मिलता था, तब इसमें आक्षेप क्या ? आजकल का राज्य तो अपने आपको 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' बड़े गौरवसे कहता है। पहले अंग्रेजी राज्य था। यह रामराज्य नहीं। रामराज्यमें शम्बूक-शूद्रको वैदिक तपस्या करने पर मृत्युदण्ड ही तो मिला था। यह रामायणमें तो प्रसिद्ध है ही, महाभारत (शान्तिपर्व १५३।६७) में भी इसका संकेत है।

पृ० ५७ (प्र०) 'कवष, ऐलूष, ऐतरेय ऋषि कौन थे ? क्या वे ब्राह्मण थे ? वे शूद्र, दासीपुत्र होते हुए भी वेदमन्त्रोंके प्रचारक थे'।

(उ०) यहाँ प्रतिपक्षीने कवष और ऐलूष को पृथक्-पृथक् बना दिया। यह उसका पक्ष बिल्कुल गलत है। हमने 'वैदिक-धर्म' में उसका खण्डन किया था। फिर प्रतिपक्षी उसपर चुप्पी लगा गया। आज तक भी उसपर उसने कुछ भी न लिखा। इस विषयमें प्रतिपक्षी 'आलोक' (३) के पृ० २१० से २६० तक देखें।

पृ० ५८-५६-६० में प्रतिपक्षी श्रीधर्मदेवजीके ट्रैक्ट से वेदान्त-दर्शन के भाष्यकारों श्रीस्वा० शंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य आदिका शूद्रों के वेदानधिकार-विषयक भाष्य उद्धृत करता है। इससे तो 'वेदान्तदर्शन' के अपशूद्राधिकरण का यही सिद्धान्त सिद्ध हो गया। विभिन्न मत वालों का यहाँ पर एकमत देखकर 'यही वास्तविक शास्त्रीय मत है'—यह सिद्ध हो गया। शेष जो उनकी अनुदारता बताई गई है, इसकी आलोचना हम 'दैनिक सन्मार्ग देहली' में कर चुके हैं। शूद्रको दण्डविधान इस प्रकार है, जैसे कि—'जो

ब्लैकमार्कीट करेगा; वह फाँसी पाएगा'। यह कड़ा दण्ड है। इससे लोकहित होता है। कड़े दण्डके डरसे फिर कोई अव्यवस्था नहीं हो पाती। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ० ८७४-८७८ में देखिये।

पृ० ६०-६१-६२ में प्रतिपक्षीने स्वा० द० जीकी शूद्रोंको वेदाधिकार देनेकी उदारता दिखाई है, और उसमें 'यथेमां वाचं' मन्त्र दिया है, पर वह अर्थ साध्य है, सिद्ध नहीं। शास्त्रीय-व्यवस्थाको अनुदारता कहना और उसे निन्दित करना शास्त्र वा वेदका निन्दक बनना है—'नास्तिको वेदनिन्दकः'। हम 'यथेमां' के स्वा० द० प्रोक्त अर्थ का 'आलोक' (३) में १ से ५३ पृ० तक खण्डन कर चुके हैं। प्रतिपक्षीको आमन्त्रण है कि—उसका प्रतिखण्डन करने की दलदलमें घुसे। 'महर्षिवेदभाष्यानुशीलन' का यदि वादी खण्डन चाहता हो, तो उसे हमारे पास भेज दे। उसपर विचार हो जायगा। स्वा० द० जी का किसी भी प्रकार मण्डन करना और दूसरोंको कोसना यह साम्प्रदायिक चाटुकारिता है।

पृ० ६३-६४ 'आलोक' (३) में लिखे 'मैं ईश्वर' यह शब्द मन्त्रके किस पदका अर्थ है ? क्या इस मन्त्र का ईश्वर 'ऋषि' है ? याद रखिये—प्रतिपादक ही मन्त्रका ऋषि हुआ करता है' इस अंश पर वादी कहता है—'मैं भी आपसे पूछता हूँ कि—आप के पौराणिक पंडित ने किस प्रकार 'हे परमात्मन् !' अर्थ किया है ? महीधर वाममार्गी थे, उनके अर्थ की कोई सङ्गति नहीं, न कोई अर्थ-वैचित्र्य है।'

यही है वादीकी अपूर्व-विद्वत्ता (?)। जबकि ईश्वर उस मन्त्रका देवता है, और 'देवता' वाच्य हुआ करता है, तो 'हे परमा-

त्मन्' ! तो कहा ही जा सकता हैं, पर यहाँ ईश्वरके 'ऋषि' (वक्ता) न होने से 'मैं ईश्वर' यह अर्थ नहीं किया जा सकता। इसीलिए ही महीधरका अर्थ ठीक और स्वा० द० जीका अर्थ नाठीक है आशा है—यह बात आप वादीके दिमागमें घुस गई होगी। श्रीमहीधरको 'वाममार्गी' कहना स्वा० द० जीसे प्रमाणित 'शतपथ' को 'वाममार्गी' बनाना है। इस विषयमें 'आलोक' (५) में 'श्रीमहीधरका 'गणानाँ त्वा' मन्त्रका भाष्य' (पृ० ७७१-८०६) देखें। अभी वादीको अपना संस्कृतका ज्ञान बढ़ाना पड़ेगा, और निष्पक्षताका जामा पहरना पड़ेगा, नहीं तो—गालीके अतिरिक्त वह कुछ कह न सकेगा।

आगे जो वादीने श्रीसत्यसामश्रमीका महिदास वा कवषको दासी-पुत्र (शूद्र) लिखकर शूद्रके वेदाधिकारमें स्वा० द० जीका 'यथेमां वाचं'—मन्त्रार्थ दिया है; यह सब साध्य बातें हैं। सामश्रमीजी पौने आर्यसमाजी एवं सुधारक थे। उनका तथा श्रीशिवशंकर काव्यतीर्थ, स्वा० भगवदाचार्य आदि इन सब मत वालोंका खण्डन हम 'आलोक' (३) में कर चुके हैं। यह कोई प्राचीन ऋषि-मुनि थोड़े हैं, जो इनकी बात मान ली जावे। यह तो आजकलके समयके प्रवाहमें बहे जाते हुए संप्रदायी जीव हैं। वेदके अभिप्रायको काटकर उसका युगानुसारी अर्थ बलात् करना ही उनकी विद्वत्ताका उपयोग है। शूद्रकी हितैषिता अपने वर्ण-कर्म (सेवा) पर स्थिर रहनेको प्रेरणा ही है, जिसके लिए वेद भी 'तपसे शूद्रम्' (यजुः माध्यं० ३०।५) कृच्छ्रकर्म सेवा बताता है। वेद पढ़ना नहीं बताता। आर्यसमाजी इसका यही अर्थ करते हैं। देखिये 'आलोक' (६) (पृ० ८१९-८२०, ८३८)।

हमने 'आलोक' (६) में 'वेदाधिकारविचार' में 'गुरुकुल-पत्रिका' के इस विषयके एक लेखका खण्डन किया था, उसपर

'पत्रिका' (१६६ अङ्क) में उसके सम्पादक कुछ लिख तो न सके, केवल 'श्रीदीनानाथशास्त्रिणो वितण्डावादमेव अधिकतयाश्रित्य स्वकीयमनौदार्यं न परित्यजन्तीति नितरां विषादास्पदम्' (पृ० ३७५) यह लिखकर अपनी जान छुड़ा ली है। मालूम होता है कि—वे न्यायप्रोक्त वितण्डाका लक्षण भी नहीं जानते। हमने अपने पक्षकी सिद्धिमें बहुतसे प्रमाण दिये थे, अतः वहाँ वितण्डाका आरोप लगाना न्यायदर्शनमें अपना अज्ञान प्रकट करना है। शास्त्रीय विचार अनुदारता नहीं हुआ करती। 'यथेमां वाचं' का अर्थ प्रतिपक्षी लोग वेद-विरुद्ध करते हैं। इस विषयमें 'आलोक' (३) पृ० १-५८ में देखें। यदि वेदोंको अपने पीछे चलाना ही उदारता है, तो 'दूरतो नम ईदृश्यं उदारतायै'। 'समानो मन्त्रः, ब्रह्मचर्येण कन्या' आदिक. समाधान भी हम 'आलोक' (३) तथा (६) में कर चुके हैं।

जोकि—'स्तोत्रं मे विश्वमायाहि' (ऋ० ५।११।८) यह नया प्रमाण दिया जाता है, इसमें 'स्तोत्र' का अर्थ 'स्तुति' है, यहाँ कोई वेदाधिकार-चर्चाका गन्ध तक भी नहीं है। प्रतिपक्षी लोग 'जो चाहा, अर्थ कर लिया' इस उक्तिके विषय हैं। अब अनुसंधानका समय आ गया है। इस लिख देने मात्रसे वादीकी बात नहीं मानी जा सकती। यह श्रुतिसे स्पष्ट बलात्कार है, जोकि खेदास्पद है।

'वेदोंका यथार्थ स्वरूप' (पृ० ४९०-९१) में 'ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः' इस मन्त्रका अर्थ करते हुए वादी लिखता है -ऐसा सच्चा सात्त्विक ब्राह्मण ही वेदविद्या का सच्चा पति वा रक्षक बन सकता है, राजस-तामस-गुणयुक्त, स्वार्थ-सम्पन्न क्षत्रिय-वैश्य नहीं"। इस अर्थके अनुसार जब वेद पर क्षत्रिय-वैश्यका ही अधिकार न रहा, तब शूद्र-अन्त्यजोंका अधि-

कार तो सुतराँ हट गया। तभी तो वेदने शूद्रका नाम तक भी नहीं लिया। इससे श्री ध० दे० जीका स्वतः खण्डन हो गया। सात्त्विक-ब्राह्मण लिखकर ब्राह्मणको वादीने तामस भी सिद्ध कर दिया। इससे तत्सम्मत गुणकर्मकृत वर्णव्यवस्थाका खण्डन हो गया। 'चौबेजी गये थे छबे बनने, दुबे बनकर आये' इस न्याय की चरितार्थता हो गई।

पृ० ६७-६८ 'ग्यारह पतिका रहस्य' में 'इमां त्वमिन्द्र ! मीढ्वः···दशास्यां पुत्रान् आधेहि पतिमेकादशं कृधि' यह मन्त्र वादीने दिया है, और उसका स्वा० द० प्रोक्त अर्थ दिया हैं। यह अर्थ सर्वथा अशुद्ध है—यह मन्त्र 'इन्द्र' को कहा जा रहा है: तब चौथे पादमें 'स्त्री' को कैसे कहा जा सकता है ? इस विषय पर 'आलोक' (८) पृ०५४६-५५४ में देखें। वादिमान्य 'ऋग्विधान' में इमां त्वमिन्द्र!··लभेत् पुत्रान् भाग्यवतो विदुषो दीर्घजीविनः' (२६४) में पुत्रोंकी प्राप्तिमें विनियोग बताया गया है, नियोगमें नहीं।

पृ० ६८ 'ऋग्विधान' ही एक ऐसी पुस्तक अब तक मेरी आंखों के सामने आई है, जिसने स्पष्टशब्दोंमें 'उदीर्ष्व नारि !'का नियोग के अर्थ में विनियोग किया हैं' (श्रीरामावतार तीर्थचतुष्टय)।

वादीके इस उद्धरणसे सिद्ध हो रहा है कि—दूसरे किसी भी प्राचीन ग्रन्थने 'उदीर्ष्व नारि !' का नियोग अर्थ नहीं किया, तब वादीका खण्डन हो गया। 'भास्करप्रकाश' में श्रीतुलसीरामस्वामीने ऋग्विधानको अर्वाचीन माना है, उसमें मन्त्रोंका भूतप्रेतादि को दूर करनेमें विनियोग भी माना है, फिर भूतप्रेतादिको भी मानिये—'रात्रिसूक्तं जपेद् रात्रौ···भूतप्रेतादि चौरादिव्याघ्रादीनां च नाशनम्' (ऋग्विधान १६८)(८।७।१४) 'बालग्रहा न पीड्यन्ते भूतप्रेतादयस्तथा' (४६६) (६।२।१६)। समय पर प्रतिपक्षी वेद

की बात माननेसे भी नकार कर दिया करते हैं, और समय पर अपनी अनभिमत पुस्तकको भी मान लिया करते हैं। वादीको 'ऋग्विधानवाला वह वचन लिख देना चाहिए था, जिससे उसपर विचार कर लिया जाता। हमने शौनककृत 'ऋग्विधान' संपूर्ण देखा, उसमें 'उदीर्ष्व नारि !' मन्त्रका विनियोग कहीं नहीं है। उस मन्त्रकी अष्टकादि संख्या ७।६।२७ है, पर ऋग्विधानमें यह संख्या बिल्कुल नहीं है। देखो गणपतकृष्णा मुंबईके प्रेसमें १८१० सन्‌में छपा हुआ 'ऋग्विधान' जो ऋग्वेदकी मन्त्र-सूची आदि परिशिष्टके अन्तमें ४८३ पद्यों तथा ४१ पृष्ठोंमें छपा है। इससे वादियों की असत्य-प्रकृति स्पष्ट हो रही है। यदि 'कनिष्ठ-भ्रातृ भार्यायाः सङ्गमे किल्विषं नहि (२४६) इस प्रकारका कोई पद्य हो, तो उसमें पाप सूचित किया गया है।

पृ० ६९ 'मनुजीकी नियोगमें साक्षी' दिखलाते हुए वादीने विधवायां नियुक्तस्तु' (९।६०-६१) यह पद्य दिखलाये हैं, पर यह पूर्वपक्षके हैं, इनका 'नौद्वाहिकेषु मन्त्रेषु' (९।६४-६८) आदि पद्यों द्वारा उत्तरपक्ष देकर बाध कर दिया गया है, और पूर्वपक्षके नियोग को द्विजोंके लिए निषिद्ध कर दिया गया है, अतः अब वह शूद्रोंमें संकुचित हो गया। परंतु प्रतिपक्षीने उत्तरपक्षके श्लोकोंको छिपाकर अपनी गुरु परम्पराकी आन रखी है। वे श्लोक प्रक्षिप्त भी नहीं हैं। इस विषयमें हम अन्य पुष्पमें विचार करेंगे। महाभारतीय नियोगके विषयमें 'नियोग और मैथुन' यह निबन्ध 'आलोक' (८) पृ० ४३८-४८९ में देखना चाहिये। नियोगज पुत्रका वेद (ऋ० ७।४।७-८) ने निषेध कर दिया है।

पृ० ६९-७० 'उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः। ब्रह्मा चेद् हस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा' (अथर्व०) जो पहले

ब्राह्मणसे भिन्न स्त्रीके पति होते हैं, ब्राह्मणने यदि उसका पाणि-ग्रहण किया, तो वह उसका एक ही पति होता है'।

वादीसे समर्थित इस अर्थके अनुसार कुशवाहा आदि क्षत्रिय-वैश्यादि जातियोंकी स्त्रियोंको क्षत्रिय-वैश्यादि पतियोंको छोड़कर ब्राह्मणको पति बना लेना चाहिये। वादीसे उद्धृत किया हुआ श्रीशेरसिंहजीका अर्थ—जिसमें 'अब्राह्मण' का अर्थ 'साधारण' और 'ब्राह्मण:' का अर्थ 'मुख्य' किया गया है, वह बनावटी है, उसमें 'यस्मादेते मुख्या:' इस शतपथके प्रमाणमें—यद्यपि यह शतपथका नहीं है—ब्राह्मणको मुखसे उत्पन्न होनेसे मुख्य तो कहा है, पर वह 'मुख्य' का पर्यायवाचक नहीं, अत: यह अर्थ गलत है। इस अर्थमें दूसरी त्रुटि यह है कि—'पूर्वे अब्राह्मणा:' इससे 'गौणपति'—अर्थकर्ताके अनुसार नियोगवाले पति पहले हो जाएंगे, और मुख्य एक पति पीछे। और फिर इससे 'राजन्यो न वैश्य:' जो 'अब्राह्मणा:' के स्थान पर है, उनकी 'गौणपति' अर्थ में संगति नहीं लगती। इस अर्थमें स्पष्ट श्रुतिसे बलात्कार किया गया है।

यदि वादी सचमुच इस मन्त्रमें ११ पतिका झगड़ा ही मिटा देना चाहता है, तो अपने गुरु श्रीधर्मदेवजीका अर्थ स्वीकार कर ले। वह यह है—'उत यत् पतयो दश स्त्रिया:' 'तपस्वी सच्चा ब्राह्मण ही उस वेदविद्या वा ब्रह्मविद्याका सच्चा स्वामी होता है। यदि दस भी अब्राह्मण हैं, जिन्होंने परमेश्वर और वेदके स्वरूपको नहीं समझा, तो वे वेदविद्या-ब्रह्मविद्याके सच्चे रक्षक नहीं बन सकते, क्योंकि—वेदविद्याका रहस्य केवल तपस्वी ब्राह्मण ऋषिके आगे ही खुल सकता है, ('वेदोंका यथार्थ-स्वरूप पृ० ४६०)। 'ब्राह्मण एव पति:—ऐसा सच्चा सात्त्विक-ब्राह्मण वेदविद्याका सच्चा पति वा रक्षक बन सकता है, राजस-तामस

गुणयुक्त स्वार्थसम्पन्न क्षत्रिय-वैश्य नहीं' (पृ० ४६१) यहाँ वादी के गुरुजीने प्रतिपक्षियोंका ११ पतियोंका अर्थ ही विध्वस्त कर दिया। इस अर्थसे वेदविद्यामें क्षत्रिय-वैश्यका अधिकार भी उड़ गया। शूद्र-अन्त्यज तो इतना बहिष्कृत हुआ कि—उसका वेदके लिए नाम लेना भी वेदने उक्त मन्त्रमें पसन्द न किया। इस मन्त्रार्थसे 'यथेमां वाचं' मन्त्रका स्वा० द० जीका अर्थ भी गलत सिद्ध हो गया। यदि वादी 'उत यत् पतयो दश' का हमारा अर्थ देखना चाहे, तो 'आलोक' (८) के पृ०-५८६ से ५६४ तक में देखें।

पृ० ७३ 'मारिषाके और वार्क्षीके दश पति' वादी ने बताये हैं, पर यह विधवाविवाहके थे, वा नियोगके—इसमें वादीने कोई प्रमाण नहीं दिया, तब उसके पक्षकी सिद्धि नहीं। बात है कि—जैसे कोई एक योगी अपने दश रूप बनाकर एक लड़कीसे विवाह करे, वास्तवमें वह एकसे ही विवाह है; जैसे पाँच पाण्डवोंका एक द्रौपदीसे विवाह हुआ। वे पाण्डव वस्तुत: एक इन्द्रके ही रूप थे। इस विषयमें इसी पुष्पमें (पृ० ७११–७४६) देखें। मारिषा आदि के विषयमें भी यही समझना चाहिये।

यहां वादीने 'भगवन्! बालवैधव्यात्' यह ६३ वां श्लोक विष्णुपुराणका लिखकर उसके आगेके तीन-चार श्लोकोंकी अपनी गुरुपरम्परानुसार चोरी करके फिर 'भविष्यन्ति महा-वीर्या...भवत्या: पतयो दश' यह ६८ वां श्लोक दे दिया और संख्या दोनोंकी बिना व्यवधानके ५६-६० कर दी, जिससे अनु-सन्धानहीन व्यक्ति यही समझें कि—पुराणमें एक बालविधवाका दस पतियोंसे पुनर्विवाह हुआ और इससे विधवाविवाह वा नियोग सिद्ध हो जावे। यही आक्षेप्ताके शब्दोंमें 'सनातनधर्म-दुर्ग पर लेखककी 'बमबारी' है, पर यह 'बम' घास-फूसके बने

हुए होनेसे स्वयं ही जल जाते हैं, उनमें शक्ति नहीं कि-अभेद्य स० ध० दुर्गको भेद सकें।

यही सभी प्रतिपक्षियोंकी प्रकृति है कि—पुराणके पूर्वापरको छिपा लेते हैं, तब तो साधारण जनताको भ्रम उपस्थित हो जाता है, पर प्रकरण दे देनेसे वही प्रमाण प्रतिपक्षीका स्वयं गला घोंट देता है। यही प्रमाण 'विष्णुपुराणकी आलोचना' में 'विद्यार्थी' ने दिया है। यहाँ वादी 'पथिक' ने अज्ञानवश मारिषा और वार्क्षीको भिन्न-भिन्न समझ रखा है। 'वार्क्षी' का अर्थ है—वृक्षोंसे उत्पन्न हुई-हुई।' इससे स्पष्ट है कि—वह योनिजा (योनिसे उत्पन्न) नहीं थी, किन्तु वह अयोनिजा थी। वह इस जन्ममें विधवा भी नहीं थी, किन्तु पिछले जन्ममें उसके पतिकी मृत्यु हो गई थी, और उसकी कोई सन्तान भी नहीं थी। तभी उसने विष्णुभगवान्की भक्ति की। वे प्राकरणिक पद्य यह हैं—

'अपुत्रा प्रागियं विष्णुं मृते भर्तरि सत्तमाः। भूपपत्नी महाभागा तोषयामास भक्तितः' (विष्णु० १।१५।६१) तब भगवान्ने उसे वर माँगनेके लिए कहा—'आराधितस्तया विष्णुः प्राह प्रत्यक्षताँ गतः। वरं वृणीष्वेति शुभे! सा च प्राहात्मवाञ्छितम्' (६२)। तब वर माँगते हुए उसने वृत्त सुनाया—'भगवन्! बालवैधव्याद् वृथाजन्माहमीदृशी' (६३) यह पद्य वादीने लिखा है। अर्थात्—हे भगवन्! छोटी आयुमें ही पतिकी मृत्यु हो जानेसे न तो मुझे सुख मिला और न पुत्र हुआ। मेरा जन्म व्यर्थ हो गया।' इसमें एक तो उसका छोटी आयुमें विवाह हुआ था—यह सिद्ध होगया, दूसरा—विधवा हो जाने पर भी उसने पुनर्विवाह नहीं किया। यह दोनों ही बातें वादीके पक्षको काटती हैं। उसके बाद उसने वर माँगा—'भवन्तु पतयः श्लाघ्या मम जन्मनि-जन्मनि। त्वत्प्रसादात् तथा पुत्रः प्रजापतिसमोस्तु मे' (६४) इस

श्लोकको वादी-पथिकने छिपा लिया है, अर्थात् 'मेरे जन्म-जन्ममें प्रशंसनीय पति हों, और पुत्र भी।' सो इस विधवावाले जन्ममें तो उसने पति-पुत्र मांगा नहीं, किन्तु अगले जन्मोंके लिए पति-पुत्र माँगे।

तब प्रतिपक्षीके बालविधवाके विवाहके स्वप्न तो पूरे हो न सके। फिर उसने यह भी वर माँगा कि 'अयोनिजा च जायेयं त्वत्प्रसादाद् अधोक्षज!' (६६) हे विष्णु, तेरी कृपासे मैं अयोनिज पैदा होऊँ। मेरा लड़का प्रजापतितुल्य हो। इस पद्यको भी वादियोंने जनताकी दृष्टिसे चुरा लिया है, तभी तो उसे पुराण एवं महाभारत में वार्क्षी—वृक्षोंसे उत्पन्न कहा है—देखिये—

'निर्मार्जमाना गात्राणि गलत्स्वेदजलानि वै। वृक्षाद् वृक्षं ययौ बाला तदग्रारुणपल्लवैः' (१५।४६) 'ऋषिणा यस्तदा गर्भस्तस्या देहे समाहितः। निर्जगाम स रोमभ्यः स्वेदरूपी तदङ्गतः' (४८) तं वृक्षा जगृहुर्गर्भमेकं चक्रे तु मारुतः। वृक्षाग्रगर्भसंभूता मारिषाख्या वरानना' (५०) अर्थात् वह अप्सरा मुनिके उस गर्भको अपने पसीनेसे भिन्न-भिन्न वृक्षोंपर डालती गई। वृक्षोंने उस गर्भको ले लिया। यहाँ वृक्षोंकी दस संख्याका अनुमान होता है। उन्हीं वृक्षोंसे उत्पन्न मारिषा वार्क्षी कहलाई।

मारिषाने कई जन्मोंमें पति माँगे थे, इस पर प्राचीन संस्कृत-टीकाकारने एक जन्ममें दस पति देने का भाव यह लिखा है कि-'स्वभक्तानाँ पुनः-पुनर्जन्म असहमानो विष्णुरेकस्मिन्नेव जन्मनि तं वरं ददौ' अर्थात् वह पूर्वजन्मोंके बन्धनोंको प्राप्त न करके एक ही जन्ममें दस जन्मोंके वरको पा ले, अतः उसे वर दिया—'भविष्यन्ति महावीर्या एकस्मिन्नेव जन्मनि। भवत्याः पतयो दश' (६८) इसलिए उसकी उत्पत्ति भी १० वृक्षोंसे सूचित की गई है अर्थात् वह १० वृक्षों से उत्पन्न १० रूपों में

थी। उसे वायुने एक रूपमें किया। अतः उसके पति भी १० रूपोंकी एक समष्टि थी, तभी वहां उन्हें 'एकनाम्नः प्रचेतसः' कहा गया है। इसीलिए एक जन्ममें उसके १० जन्मोंके समान व्यवहार प्राप्त हुआ। जैसे द्रौपदी अयोनिजा (अग्निसे उत्पन्न) थी, वैसे मारिषा भी अयोनिजा (वृक्षोंसे उत्पन्न) थी। अयोनिज-उत्पत्तिमें योनिज वाली व्यवस्था अनिवार्य नहीं होती और वे जो १० थे, वस्तुतः गणदेवता प्रचेता नाम वाले सरूप थे। इसीको वादीसे दिए हुए 'तथैव मुनिजा वार्क्षी तपोभिर्भावितात्मनः। संगताभूद् दश भ्रातॄन् एकनाम्नः प्रचेतसः' (१।१९६।१५) इस महाभारत के पद्यमें सूचित किया गया है।

सो विष्णुपुराणकी मारिषा तथा महाभारतकी वार्क्षी (वृक्षों की सन्तान) एक ही व्यक्ति थी, भिन्न-भिन्न व्यक्ति नहीं। यदि वादी इस अयोनिज उत्पत्तिको नहीं मानता, तब वह उक्त इतिहास भी नहीं दे सकता, क्योंकि—तब यह उसका उद्धरण अभित्तिचित्र होगा। फिर तो न कोई वार्क्षी-मारिषा ही हुई, न उसके दस पति ही हुए। यदि वादी पुराणपर आक्षेप करता है, तो पुराणके पूर्वापरको भी उसे मानना ही होगा। अयोनिज उत्पत्ति वैशेषिक-दर्शनमें प्रसिद्ध है। अयोनिज-सन्ततिमें योनिजों वाली व्यवस्था भी नहीं होती। स्वा० द० जी ने सृष्टिकी आदिमें अयोनिज-युगलकी उत्पत्ति मानी है। वे परस्पर भाई-बहन होते हुए भी उनका परस्पर-विवाह इस बातका ज्ञापक है कि—अयोनिज तथा योनिज सन्तानोंकी व्यवस्था एक नहीं हो सकती। तब अयोनिज वार्क्षी (दस वृक्षोंसे उत्पन्न दसरूपों वाली मारिषा) का १० पतियों से योग भी इसी सूत्र का उदाहरण है। उसपर आक्षेप वादीका-अज्ञान प्रदर्शन है। इसमें न तो वादीसे संमत विधवा-विवाह की गन्ध है, और न ही नियोग के ११ पतियों की सिद्धि है। तब वादीकी एक आर्यसमाजिन विधवा स्त्रीको ११ पति नियोग से देना यह आर्यसमाज का ही 'भूषण' है। यह स्वा० द० जी की अपनी कपोलकल्पना सिद्ध हुई। पुराणोंमें उसकी सिद्धि न हो सकनेसे वादी 'पथिक' के प्रयास पर पानी फिर गया। पुराणोंको कलंकित करनेके लिए उसका पूर्वापर छिपानेसे प्रत्येक समझदार व्यक्ति वादीसे घृणा करेगा। यह 'नीरक्षीरविवेक' है, या 'जोंक का रुधिर पान' यह वादी स्वयं ही समझ सकेगा।

"यह १० पति किसी बाजारू स्त्रीके नहीं थे, वरन् मुनिकी पुत्रीके थे" यह पथिकके 'वार्क्षी के दशपति' की टिप्पणी में शब्द हैं; पर उसे कदाचित् यह पता न हो, वा हो तो जनताकी आँखों में धूलि झोंकता हो, उसे पता होना चाहिए कि यह वार्क्षी (मारिषा) अप्सराकी लड़की थी। रूपके मोहमें पड़े मुनिकी कामवासना द्वारा अप्सरामें निषिक्त हुई थी। और उस अप्सराके पसीनेके ग्रहणसे १० वृक्षों से अयोनिज उत्पन्न हुई थी। महाभारत की वार्क्षी तथा विष्णुपुराण की मारिषा भिन्न-भिन्न व्यक्ति नहीं—यह वादीको ध्यानमें रख लेना चाहिये। इसी अज्ञानके कारण उसने 'मारिषाके दस पति, वार्क्षी के दस पति' यह भिन्न-भिन्न शीर्षक दिये हैं। वार्क्षी पर बाजारू-औरतका व्यङ्ग्य कस कर वादीने नियोगसे ११ पति करने वाली आर्यसमाजिन-स्त्री को भी ढंग से बाजारू-औरत (वेश्या) का द्वितीय-संस्करण सिद्ध कर दिया है, बधाई हो।

पृ० ७४ में '२१ पति का विधान'—'एकविंशतिभर्तारः कालेकाले मृतारतदा' (पद्मपु० भूमि० ८५।७१) दिव्यादेवी के २१ पति समय-समय पर मृत्युको प्राप्त हुए। 'वेदसंज्ञादिमर्श' (पृ० ५३) में भी यही पद्य मन्त्री-आर्यसमाजने दिया है।

यहाँ पर वादीने गुरुपरम्परासे आई हुई प्रकृतिवश पूर्वापर छिपा दिया है। पूर्ण विवाह होने पर पूर्ण पतित्व होता हैं, पर दिव्यादेवी का एक भी विवाह पूर्ण न हुआ। बात यह है कि दिव्या पूर्व जन्ममें चित्रा थी। वह स्वैरिणी (कुलटा) हो गई थी (८६।४-५) उसने दूती-कर्म करके स्त्रियोंको इधर-उधर वरगला कर १०० घर नष्ट किये (१०-१४) उसीके फलस्वरूप विवाहका समय प्राप्त हो जाने पर उसका भावी पति मर जाता था—विवाहसमये प्राप्ते दैवं च पक्वतां गतम्। प्राप्ते विवाहसमये भर्ता मृत्युं प्रयाति च' (८६।१९) तस्या विवाहकाले तु संप्राप्ते समये नृप! मृतोऽसो चित्रसेनस्तु' (८५।५९-६०)।

इससे स्पष्ट हो गया कि उसका विवाह पूर्ण सम्पन्न न होता था, अतः फिर उसका विवाह किया जाता था। यदि उसका विवाह पूरा हो जाता; तो वह विधवा हो जाती, उसका फिर विवाह न हो सकता। इसीलिए उसी पुराणमें लिखा है—'अनूढाहितकन्याया उद्वाहः क्रियते बुधैः। न स्याद् रजस्वला यावद् अन्यः पतिर्विधीयते' (८५।६५) इसीलिए अविवाहिता होने से पति के मरने पर विवाह का आदेश शास्त्रीय था; तभी ब्राह्मणों ने कहा कि—इसका विवाह कर दो (६७)

'यदा यदा महाभाग! दिव्यादेव्याश्च भूपतिः। भर्ता च म्रियते काले प्राप्ते लग्नस्य सर्वदा' (८५।७०) इससे सिद्ध हो गया कि लग्न आने वाला होता था, और उसका भावी भर्ता मर जाता था। विवाहकी पूर्णता सप्तपदी तक हुआ करतो है। जैसेकि मनु जी ने लिखा है—'पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम्। तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वभिः सप्तमे पदे' (८।२२७)। कइयोंके मतमें चतुर्थीकर्ममें विवाहकी पूर्णता होती है। उससे पूर्व पतिकी मृत्युमें कन्याका विवाह हो सकता है। जैसे कि कहा है—'नष्टे मृते

प्रव्रजिते क्लीबे च पतितेऽपतौ। पञ्चस्वापत्सु नारीणाँ पतिरन्यो विधीयते' (पराशर ४।३२) यहाँ पर 'अपतौ का अर्थ है 'ईषत्-पति'। सो सप्तपदीसे पूर्व ईषत्पतित्व होनेसे उसकी मृत्युमें विवाह हो सकता है, वह विधवा-विवाह नहीं कहा जा सकता। इस श्लोकमें 'पतौ' है वा 'अपतौ' इस विषयमें ८म पुष्पमें (पृ० ६४१-६८१) देखिये। अब पाठकोंने देख लिया कि वादी ग्रन्थोंके पूर्वापर छिपाकर अपने पक्षको सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं। जानकार लोगोंको ग्रन्थोंका पूर्वापर देखकर तब किसी सिद्धान्त-का निश्चय करना चाहिये। अब २१ पतिका विधान कहाँ हुआ? विधि तो इसकी कहीं लिखी नहीं गई। इतिहाससे विधि नहीं बन जातो। उसी दिव्याके स्वयंवरमें ही १०० वर आपसमें लड़कर, बिना विवाह f.ये मर गये (८५।७४) तो क्या उसके यह १०० पति हो जाएंगे?

आगे वादीने 'कामिनी' का निषादसे व्यभिचार दिखाया है, और उस व्यभिवारका नाम 'नियोग' रखा है। यहीका यही 'वेदसंज्ञाविमर्श' (पृ० ५३-५४) में कुशवाहाजीके कहनेसे लिखा गया है। इससे 'नियोग' भी वादीके अनुसार व्यभिचार ही सिद्ध हुआ। इतिहासका आचरण प्रमाण नहीं होता, किन्तु विधिशास्त्र ही प्रमाण होता है। मारिषा (वार्क्षी) आदि का कहीं भी नियोग नहीं दिखलाया गया। यह हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं। दिव्या-देवीका एक भी पति नहीं हुआ, तब २१ खसमोंसे नियोग कहाँ? यह तो 'दशास्यां पुत्रानाधेहि' मन्त्र जिनके यहां नियोगियोंके लिए कहा जा रहा हो, वहाँ तो ११×११=१२१ अथवा ११×१०=११० नियोगी हो जाएंगे। यह वादीकी टोनसे ही हमने लिखा है। हम स्वयं ऐसा कभो लिखना ही नहीं चाहते।

पृ० ७५ में म० म० पं० गिरिधरशर्माजी के 'वैदिकविज्ञान' के

लिखे अनुसार वादीने स्वा० द० जीके भाष्यकी प्रशंसा लिखी है, पर जो म० म० जीने उसी पृष्ठकी २७—२८—२९—३१ आदि पंक्तियोंमें 'किन्तु दुर्भाग्यसे······वैज्ञानिकोंको सन्तोष नहीं हो सकता,' इत्यादि वाक्यों द्वारा मधुरतासे स्वामिभाष्यके दोष दिखाये हैं, पथिक उन्हें गुरुपरम्परावश छिपा गया है।

पृ० ८३—८४ 'अक्षतयोनि-स्त्री और अक्षतवीर्य-पुरुषका पुनर्विवाह होना चाहिये, किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णोंमें क्षतयोनि-स्त्री, क्षतवीर्य-पुरुषका पुनर्विवाह न होना चाहिये' इस स्वा० द० जीके वाक्यपर वादी लिखता है—'अक्षतयोनि विधवा-विवाहको स्वामीजी ब्राह्मणादि सभीके लिए मानतेहैं परन्तु क्षतयोनि विधवाका विवाह केवल शूद्रोंके लिए मानते हैं।''

पर आर्यसमाजी लोग क्षतयोनि-विधवाओंका विवाह करते-कराते हैं, सो वे स्वामीजीके अनुसार शूद्र सिद्ध हुए। स्वा० द० जीके अनुसार कोई भी विवाहित स्त्री अक्षतयोनि नहीं होती, क्योंकि स्वामीजी विवाह वाले ही दिन विवाहके बाद दंपतीका मैथुन कराते हैं। देखिये—

स० प्र० (पृ० ५६ समु० ४) में स्वामी लिखते हैं —'जिस दिन कन्या रजस्वला होकर जब शुद्ध हो······जिस दिन ऋतुदान देना योग्य समझें, उसी दिन सं० वि० के अनुसार सब कर्म करके मध्यरात्रि वा दश बजे सबके सामने पाणिग्रहणपूर्वक विवाहकी विधिको पूरा करके एकान्त-सेवन करे।' आगे स्वामीने विवाहविधि के सद्यः बादही स्त्रीको वीर्याकर्षणविधि, नासिकाके सामने नासिका, स्त्री वीर्यप्राप्तिसमय अपानवायुको ऊपर खींचे, योनिको संकोच कर वीर्यको ऊपर आकर्षण करना' आदि की शिक्षा भी बड़े प्रेमसे कर दी।

सं० वि० के पृ० १३४ में भी स्वा० द० जीने लिख दिया—

'जब कन्या रजस्वला होकर शुद्ध हो जाय, तब जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की हो, उस (दिन) में विवाह करनेके लिए सब सामग्री जोड़ रक्खे।' इस प्रकार जब स्वामीके अनुसार द्विज स्त्री विवाह वाले दिन ही क्षतयोनि हो जाती है, यदि वह विधवा होजाय, तब क्षतयोनि होनेसे ही उसका पुनर्विवाह स्वा० द० जीके अनुसार न हो सकेगा। तब वैसा करने-कराने वा प्रचार करने वाले वादी भी स्वामीके अनुसार शूद्र हुए। अब वादी बतावें कि—पं० माध०जी की बात ठीक निकली न?

उस समयके आर्यसमाजी श्रीअखिलानन्दजीके 'वैधव्यविध्वंसनचम्पू' का प्रमाण देना वादीकी बड़ी समझ (?) सिद्ध कर रहा है। 'सा चेदक्षतयोनिः स्यात्' इस मनुपद्य पर भी हमने पूरा विचार किया हुआ है, उसे अग्रिम पुष्पोंमें लिखा जावेगा। पर स्वा० द० का आर्यसमाज इसका प्रयोग नहीं कर सकता, क्योंकि विवाह होते ही स्त्री उनके अनुसार क्षतयोनि हो जाती है। क्षतयोनिका पुनर्विवाह स्वामी द्विजोंमें मानते ही नहीं; इससे विधवा-विवाहकी वादीकी चिल्लाहट उसीके ऋषि-द्वारा समाप्त कर दी गई। उसके करने वाले आर्यसमाजी शूद्र सिद्ध हुए। जैसाकि—'कुमारयोः स्त्रीपुरुषयोरेकवारमेव विवाहः स्यात्, पुनरेवं नियोगश्च। पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्णे एव विधीयते, तस्य विद्या-व्यवहार रहितत्वात्' (ऋभाभू पृ० २२२)।

पृ० ८९-९० 'सहस्राब्दे कलौ प्राप्ते कर्मभूम्यां च भारते। कण्वो नाम मुनिश्रेष्ठः संप्राप्तः कश्यपात्मजः' (भविष्य० प्रति० ४।२१।५) सरस्वत्याज्ञया कण्वो मिश्रदेशमुपाययौ। म्लेच्छान् संस्कृतमाभाष्य तदा दशसहस्रकान्' (१५) यहांपर वादीने कण्वमुनि द्वारा कलियुग के १००० वर्ष बीतने पर १० हजार म्लेच्छों को संस्कृत पढ़ाना लिखा है। इससे हमारे पक्ष

की क्या हानि है ? 'उनकी शुद्धि की' यह अर्थ यहाँ दीख नहीं रहा। वादी यहाँ 'म्लेच्छका 'मुसलमान' अर्थ करता है। क्या वह यह ठीक मानता है ? यदि हाँ, तो प्रष्टव्य है कि-मुसलमानों का हिजरी सन् आजकल १३८२ है और कलियुग आजकल ५०६३ है। इससे घटाने पर ३६८१ यह कलिसंख्या मुसलिम सम्प्रदाय के शुरु होने की बनती है। परन्तु पुराणके वचन में कलियुगकी १०००वर्ष-संख्या में उक्त इतिहासका घटित होना लिखा है, जिसको हुए ४०६३ साल बीत चुके। उस समय कण्वमुनिके जमानेमें भला म्लेच्छ मुसलमान कैसे हो सकते हैं, जिन्हें हुए केवल १३८२ साल बीते हैं। और वर्तमानका मिस्र देश भी इतना पुराना कैसे हो सकता है ? यहाँ 'मिस्र' शब्द भी नहीं, किन्तु 'मिश्र' है; अतः स्पष्ट है कि-भारतका ही यह कोई देश है, जिसमें वैश्य, शूद्र, म्लेच्छ मिले-जुले रहते थे। इससे उस देश का नाम 'मिश्र' पड़ा। क्योंकि-'भारते कण्वः संप्राप्तः' लिखा है। फिर कण्वका भारतके ही एक भाग ब्रह्मावर्त में जाना लिखा है।

इसके बाद वादीने पृ० ६० में जोकि म्लेच्छोंको शिखा-सूत्र देना कहा है, वह भी गलत है। इसमें कण्वमुनिका कुछ भी हाथ नहीं था। उन म्लेच्छों ने अपनी धींगाधींगीसे यह कार्य किया। इन्द्रका पूजन भी शुरु किया, पर पूज्य इन्द्र उनके शिखा-सूत्र रखने और यज्ञ करनेको अशास्त्रीय-व्यवहार और बलिदत्यका उसमें इशारा समझते थे। अतः उन्होंने वेदादि उनसे छीन लिये, और उन्हें बौद्ध-जैन बना दिया। इस विषयमें 'आलोक' (३) पृ० १६३-२०१में स्पष्टता देखनी चाहिए।

पृ० ६८ (प्र०) 'शतपथ' और 'महाभाष्य' में 'म्लेच्छ' शब्दका अर्थ 'अपशब्द' है, किन्तु पुराणोंमें इसका अर्थ 'मुसलमान' है। प्रत्येक ग्रन्थकी अपनी परिभाषाएँ होती हैं। अष्टाध्यायीमें वृद्धि को

परिभाषा आ, ऐ, औ है, पर नौकरी करने वाले के यहाँ वेतन बढ़ाना 'वृद्धि' है। एक-दूसरे का अर्थ एक दूसरे में नहीं हो सकता। अतः पुराण में आये 'म्लेच्छ' शब्दका 'मुसलमान' ही अर्थ उचित है।"

(उ०) यह वादीकी हास्यास्पद बात है कि-पुराणों में 'म्लेच्छ' की परिभाषा 'मुसलमान' है। 'वृद्धिरादैच्' यह क्या वृद्धिकी परिभाषा है ? यह तो संज्ञासूत्र है, परिभाषा-सूत्र नहीं। भविष्यपुराण कोई व्याकरण नहीं कि-उसमें संज्ञा वा परिभाषाएं रखी गई हों। मुसलमानी मत ३६८१ कलियुगमें जारी हुआ; परन्तु भविष्यपुराणमें तो १००० कलियुग प्राप्त होने पर ('बीतनेपर' यह वादीका अर्थ गलत है) वर्णित म्लेच्छ ३६८१ वाले 'मुसलमान' कैसे हो सकते हैं ? बाणभट्टने कादम्बरीमें हरिवंश, नारद आदि पुराणों का वर्णन किया है, आपस्तम्बधर्मसूत्रादिमें भविष्यत्-पुराण का नाम लिया है। उस समय मुसलमान नहीं थे। तब स्पष्ट है कि-मुसलमान पुराणसमयके नहीं, बहुत पीछेके हैं।

पृ० ६६-६७-६८-६६-१००-१०१ (प्र०) 'देखिये-आपके मान्य पुराण में ही लिखा है कि-'एतस्मिन्नन्तरे म्लेच्छ आचार्येण समन्वितः। महामद इति ख्यातः शिष्यशाखासमन्वितः' (भविष्य० ३।३।५) उसके अनुयायियोंको 'मुसलमा' कहा है, लक्षण भी वही हैं-'लिंगच्छेदी शिखाहीनः श्मश्रुधारी स दूषकः। उच्चालापी सर्वभक्षी भविष्यति जनो मम।१६। विना कोलं (सूकर) च पशवस्तेषु भक्ष्या मता मम। मुसलेनैव संस्कारः कुशैरिव भविष्यति (१७) तस्मान्मुसलवन्तो हि जातयो धमदूषकाः। इति पैशाचधर्मश्च भविष्यति मया कृतः।१८। इसलिए म० दयानन्द जी श्रीसुखदेवादिने म्लेच्छका अर्थ पुराणों में 'मुसलमान' किया है। 'सहस्राब्दे कलौ प्राप्ते' कलियुगके एक सहस्र वर्ष बीतने पर कण्व मुनिने म्लेच्छोंको संस्कृत पढ़ाई' (पृ० ६८)।

वादीकी बात वादीके ही दिये प्रमाणों से कटती है। जबकि कलियुगमें १००० वर्षमें प्रतिपक्षीसे दिये हुए प्रमाणोंमें महामदका वर्णन है, तब ३६८१ कलिसंवत्में उत्पन्न मुहम्मदका तथा उससे जारी को हुई मुसलमान-जातिका कलियुगके १००० सवत्में पुराणनिरूपित महामदके साथ अभिन्नता कैसे हो सकती है?

शेष है नामकी तथा लक्षणों की समता, सो ३६८१ कलियुगमें होने वालेने भी अपना नाम तथा धार्मिक-लक्षण अपनेसे वहुत पहलेके जारी पुराणसे कहे हुए ही रख दिये हों; तब वे एक कैसे हो सकते हैं? अर्वाचीन मत प्राचीन-मतमें कुछ परिवर्तन करके अधिकांशमें उसे ले लिया करते हैं। जैसे-'अल्ला' शब्द संस्कृतमें अम्बा (देवी) का नाम है, उसकी उपनिषद् 'अल्लोपनिषद्' भी उपनिषदोंमें परिगणित थी। मुसलमानोंने उसे ले लिया, अल्ला का अर्थ 'खुदा' करके उसमें फारसी के शब्द भी डाल दिये। सो भविष्यपुराणका महामद भिन्न है। तथा मुसलमानी समय का मुहम्मद भिन्न है। उसका पुराणोंके महामदसे कोई सम्बन्ध नहीं। केवल शब्दसमतामात्र है, अभिन्नता नहीं। रामायण-वर्णित रावणकी लङ्कापुरी समुद्रमें डूब गई। अब उसके बाद भी 'लङ्का' नामकी नगरी बना दी गई; पर यह वह थोड़े ही है?

आर्यसमाजके स्वा० द० जीको मृत्युके बाद भारतधर्म-महामण्डल के स्वा० द० जी हुए उन्होंने सत्यार्थविवेक आदि ग्रन्थ बनाये। कई आर्यसाजी भ्रमसे स० ध० के स्वा० द० जीके उद्धरणोंको आ० स० के स्वा० द० जीके नामसे दे दिया करते हैं। जैसे कि-लाहौरके डी० ए० वी० कालेजके हिन्दीविभागाध्यक्ष श्रीसूर्यकान्तशास्त्री M. A. M. O. L. ने 'हिन्दीसाहित्यका विवेचनात्मक इतिहास' में ऐसा किया हैं। देखो 'आलोक' (६) पृ० २४-२५। इसी प्रकार 'सार्वदेशिक' देहलीके दयानन्ददीक्षाङ्क

(३५।११ पौष २०१६) में उसके सम्पादक श्रीविश्वश्रवाव्यासजीने 'सदाचार' लेखको जो भा० ध० महामण्डलके स्वा० द० जीके 'धर्मकल्पद्रुम' के ७ म खण्डमें २२४६ पृष्ठसे २२५७ पृ० की ४ पं० तक छपा है, जो भारतधर्ममहामण्डलकी 'आर्यमहिला' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था, श्रीनानजीभाईकी आत्मकथासे लिखकर उसका कर्ता अपने आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वा० द० सरस्वतीको लिख दिया। उस सप्तमखण्डकी भूमिकायें भा०ध०के स्वा०दा.जी ने कार्तिकपूर्णिमा सं० १६८२ वि० लिखा है; तो क्या सं० १६४० में मृतक स्वा० द० जी फिर सं० १६८२ में भी जीवित मान लिये जायेंगे; और दोनों दयानन्द अभिन्न मान लिये जाएँगे? यदि नहीं, तब दोनों महामद-मुहम्मदको एक करके पुराणकालक वर्तमान मुसलमानोंके कालसे सम्बन्ध जोड़ना उनसे अन्याय करना है; और आक्षेप्ताका यह भ्रममात्र है।

वेदमें 'भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म' (ऋ० १०।१०७।१०) में 'भोज' शब्द आया है, क्या यह धारानगरीके राजा भोजका नाम मान लिया जायगा? दक्षस्मृतिमें 'मूलत्राणे भवेत् स्कन्धः' (२।६२) आया है; तो क्या इससे हमारे 'मुलतान' जिसका संस्कृत नाम 'मूलत्राण' था, मान लिया जायेगा? उसी स्मृतिमें 'दीनानाथ--विशिष्टेभ्यो' (२।४४) आया है, क्या यह हमारा नाम मान लिया जायगा? महाशय! इसमें 'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' की भान्ति शब्दमात्रकी समता समझनी चाहिये।

'मुसलमान' लोग अपना नाम 'मुसल्ले-ईमान' होनेसे 'मुसलमान' कहते हैं, तव पुराणके 'मुसलवन्तः' शब्द से उसका मेल न होनेसे यह वह मुसलमान नहीं—यह स्पष्ट हो गया। अथवा वहाँ 'भविष्यपुराण' होनेसे भविष्यका वर्णन समझना चाहिए। इस लिए वहाँ 'भविष्यति' शब्दसे भविष्यकाल इष्ट है। जहाँ भूत-

काल भी हो, वा वर्तमानकाल भी हो, तो वहाँ भविष्यत्के कल्की अवतारके पुराणमें भूत वा वर्तमानकालकी क्रियाओंके प्रयोगकी भांति इतिहासको शैलीकी व्यवस्थाके लिए ही भविष्यका भूत वा वर्तमानमें प्रयोग आता है। जैसे कि—इस समय मेरे सामने 'हिन्दी-सन्देश' फाल्गुन १९९० का अङ्क (पृ०१३५-१३८) पड़ा है, जोकि-गुरुकुलके 'अलंकार' नामक पत्रके बन्द होने पर उसके स्थान पर उक्त पत्र लाहौरसे निकला था। उसके मार्च १९३४ के अङ्क (पृ० १३५) में '२० वीं सदीका 'भविष्यपुराण' शीर्षकसे लेख निकला था। उसमें सन् १९३९-४० में होने वाले यहूदी-पोलेण्ड-हिटलर नाज़ी युद्धका वर्णन भविष्यद्-रूपमें किया गया है, पर वहाँ इतिहासकी शैली सुव्यवस्थितं रखनेके लिए भूत वा वर्तमानकालकी क्रियाओंका प्रयोग किया गया है। यहाँ पृ० १३६ के दूसरे कालमसे मैं कई वाक्य उद्धृत करता हूं।

बद्किस्मतीसे एक नौजवान नाज़ी (जर्मननिवासी हिटलरका अनुयायी) वहीं प्लेटफार्म पर खड़ा था। उसने यह समझा कि—यह पोलेन्डवासी यहूदी उसके नाज़ी—वेशसे घृणा प्रकट करने के लिए मुँह बना रहा है। उसके हृदयमें तीव्र जर्मन देशभक्तिकी ज्वालाएँ भड़क उठीं। उसने अपने तीन साथी और दो पुलिस वालोंको बुलाया... और डब्बेमें सहसा उत्तेजित भावसे चढ़ गये। लड़ाई शुरू हुई' इत्यादि।

यह पुस्तक डाक्टर फिलिप रेवनने १९३० से पहले बनाई थी। भविष्यत्की घटनाको भी उसने भूतवत् लिखा। तो क्या वादी यही कहेगा कि—यह युद्ध सन् १९२९ से शुरू हो गया, तभी तो फिलिपने उसे भूतकालमें लिखा। सन् १९३९-४० में होने वाले युद्धके लिए यह कहने वाले वादीकी बुद्धिका जो मूल्य होगा, वही भूतकालमें भविष्यत्की घटनाओंको वर्णित करने वाले

पुराणको भी वर्तमानकालका मानने वाले वादीकी बुद्धिका भी है।

यहाँ के 'मिश्र' ब्राह्मणोंने विलसन आदि अनुसन्धाताओंके अनुसार अफ्रीकामें अपने उपनिवेश बसाये, इसलिए वह 'मिश्र' देश हो सकता है। वहाँ वाले यहां नहीं आये। क्योंकि—वे ब्राह्मण नहीं थे, तब वे मिश्रब्राह्मण कैसे कहे जा सकते थे? फलतः वादीका पक्ष खण्डित हो गया।

पृ० १०७—१०८ 'शिखा काटनेमें वेद प्रमाण—'यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव' (यजु: १७।४८) यहाँ पर श्री-ज्वालाप्रसाद मिश्रने 'विशिखाइव' का 'शिखारहित' अर्थ भी लिखा है'।

यहाँ स्वा० द० प्रोक्त 'गर्म देशमें शिखा कटाना' सिद्ध नहीं होता। यहाँ कई देशोंमें बच्चे के मुण्डनके समय सारा मुण्डन कर दिया जाता है। फिर एक-दो वर्षके बाद बच्चेकी चुटिया रखाई जाती है। यह वेद-प्रमाण उसीको सूचित भी कर सकता है। वस्तुतः इस विषयमें 'आलोक' का पञ्चम पुष्प तथा गत निबन्धमें इस विषय पर विवेचना देखिये। यहाँ पर 'मुण्डित-कुमार छन्दोग' तथा 'मुण्डा भृगवः'यह चूड़ाकरणके समयके व्यवहार हैं, ग्रीष्मर्तु या गर्म देशके कारण चोटी कटानेका वर्णन नहीं, अतः वादीका पक्ष निरस्त है। उल्टा दीर्घशिखा होनेसे शीतोष्णसहनकी क्षमता बढ़ती है। स्वा० द० जीने ४८ वर्ष तक 'दीर्घश्मश्रुः 'इस अथर्ववेद के पदसे 'पञ्चकेशधारण करना' लिखा है, उसमें शिखा भी है, तो क्या उस समय ग्रीष्मऋतु तङ्ग नहीं करेगी ? तब उक्त हेतु ठीक नहीं।

पृ० ११०—१११ (प्र०) कविरत्नजी वा श्रीकालूराम शास्त्री दोनों ही इसलामके एजेण्ट थे, उनसे रुपये मिलते थे, (उ०) यह

बात गलत है। उन्होंने इसलामका क्या प्रचार किया? उन दिनों इन्हीं दोनोंने भारतधर्ममहामण्डलका विरोध किया था, अतः उन दिनों 'भारतधर्म' (काशी) पत्रमें भगवान्दीनशुक्लने एक जाली चिट्ठी छपवा दी। नोटिस देने पर शुक्लजीने तथा भारत-धर्मपत्रके सम्पादकने क्षमा माँगी थी। प्रतिपक्षी लोग खण्डनके कारण इनसे जलते थे, अतः इन्हें बदनाम करनेके कई हथकण्डे प्रयुक्त किया करते थे। अब दोनोंकी मृत्युपर वादीको भी याद आ गया। स्वा० द० जीके अशास्त्रीय-सिद्धान्तोंका खण्डन इस-लामका प्रचार नहीं हो जाता। हसननिज़ामीने भी उन दिनों इस बातका खण्डन कर दिया था।

पृ० ११२—११३ पुराण—कुरानका जो वादीने साम्य बताया है, यह उसका व्यर्थ आरोप है। पुराण वेदोंके अनादि-सिद्ध भाष्य हैं। जो वेदने लिखा, वही पुराणने। दोनों स्थान अर्थ बराबर होंगे। कुरानने कई बातें पुराणसे परिवर्तन करके ले ली हों, यह सम्भव है। पुराण प्राचीन हैं, वैदिक-कालके हैं। कुरान एक १४ सौ वर्षसे कम आयु वाला ग्रन्थ है। पीछे वाला पहले की चालू वस्तुएँ ले लिया करता है। पुराण तो सृष्टि की आदिके ही हैं। इस विषयमें इसी पुष्पके ३७७—३८८ पृष्ठमें देखना चाहिए। जोकि वादी पुराणोंको कुरानकी नकल कहते हैं, उनका पुराणसे विद्वेष ही कारण है।

(क) सृष्टिकी आदिमें पहाड़ोंका उड़ना और इंद्रद्वारा पंख काटना वेदमें देखिये (अथर्व० २०।१५।६,२०।३४।२,१४) उनके पंख काटकर पृथ्वीको स्थिर किया गया।

(ख) पहाड़का नाम गोत्र वा महीधर इसोलिए तो कहा है कि-वे हिल रही पृथ्वीको मजबूत करते थे 'यः पृथ्वीं व्यथमानाम् (इतस्ततः चलन्तीम्) अदृंहत् (पर्वतादिभिर्दृढीकृतवान्) (ऋ०

२।१२।२) (कृष्णयजु० मैत्रायणीसं १।१०।१३, काठकसं ३६।७) जैसे ऊंटके दोनों ओर भूसा लदा हो, दोनोंके तोलमें कुछ अन्तर पड़े, तो बैलेन्स ठीक करनेके लिए एक-दो पत्थर साथ जड़ देते हैं। वैसे ही सृष्टिकी आदिमें भी ऐसे ही नियमसे पंख काटकर पहाड़ रखे गये थे। (ग) घृतकुल्या आदिका वर्णन वेदमें देखिये (अथर्व० १८।३।७२। तथा 'घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः, क्षीरेण पूर्णा,उदकेन, दध्ना। एतास्त्वा धारा उपसर्पन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमानाः' (अ० ४।३४।६) इत्यादि मन्त्रोंमें उनका संकेत मिलता है। (घ) वेद और पुराण 'गाय' को 'अघ्न्या' कहते हैं, अतः जहाँ पर 'गोवध' मालूम पड़े, वहां 'गो' शब्द पशुसामान्य-वाचक होनेसे वहां गो से अतिरिक्त पशु समझना चाहिये। इस विषयमें 'आलोक' (६) देखिये।

पृ० ११७—११८—११९ 'पञ्चलक्षगवाँ माँसैः' इत्यादिमें माँसका अर्थ 'आलोक' (६) (४१७—४३६ पृ०) में देखिये।

पृ० १२४ (प्र०) करपात्रीजीको तो इस कलियुगमें संन्यास लेना ही नहीं चाहिये था, क्योंकि—'अग्निहोत्रं .... संन्यासं पल-पैतृकम्। कलौ पञ्च विवर्जयेत्' (निर्णयसिन्धु)।

(उ०) इसका अपवादवचन देवलका उन्हीं निबन्धग्रन्थोंमें मिलता है—'यावद् वर्णविभागोस्ति यावद् वेदः प्रवर्त्तते। संन्यासं चाग्निहोत्रं च तावत् कुर्यात् कलौ युगे' सो वर्णविभागकी स्थिति तक कलिमें संन्यास एवं अग्निहोत्र लिया जा सकता है। हां, संन्यासीको ब्राह्मण, विद्वान् एवं त्यागी होना चाहिये। अतः यह आक्षेप अल्पश्रुततामूलक है। आगे प्रतिपक्षी-द्वारा आर्यसमाजी श्रीअखिलानन्दके विचार सनातनधर्मके नामसे लिखना जनताको ठगना है।

पृ० १२६ 'वेदसंज्ञाविमर्श' की जिसमें प्रतीपक्षीका हाथ भी है, इस पुष्पमें स्थालीपुलाक-न्यायसे आलोचना कर दी गई है।

पृ० १३१ (प्र०) चारों वर्ण गुरण कर्मसे आर्य हैं। (उ०) शूद्र आर्य नहीं होता। इस विषयमें 'आलोक' (४) में 'हिन्दुशब्दका महाभाष्य' देखें।

पृ० १३६ आर्यसमाज वेदमत नहीं, किन्तु दयानन्दमत है, यह तो प्रत्यक्ष है। वादीकी 'नीरक्षीरविवेक' पुस्तक भी इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण है।

पृ० १३९-१४० (प्र०) 'सनातनधर्मकी परिभाषा—'अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने' इत्यादि। यदि यही 'सनातन-धर्म' है, ऐसे को मैं दूरसे नमस्ते करना पसन्द करता हूँ।'

(उ०) यह सृष्टिके आदिका प्रकरण है, जिसे 'पुरा' (१।१२२।४) शब्दसे व्यक्त किया गया है। यहां यह प्रकट किया गया है कि—विवाहप्रथा नियमवद्ध कब जारी हुई? उस समय अपने वर्णमें स्त्री-पुरुष स्वतन्त्र होते थे। कौमारावस्थासे ही विवाह न होकर जो जिसे चाहता था, ले लेता था। उस समयकी प्रकृति-परतन्त्र प्रजाओंका यह चित्र खींचा गया है। 'कामक्रोधविव-र्जिताः' (१।१२२।६) उस समय काम-क्रोध नहीं था-यह भी सूचित होता है। केवल प्रकृतिका गाय-वैलकी भांति अनुवर्तन था। इसीको उस समय 'धर्म' समझा जाता था, अधर्म नहीं जैसे कि—'नाधर्मोभूद् वरारोहे! स हि धर्मः पुराभवत्' (१।१२२।५)। इसे लक्ष्य करके मनुजीने भी कहा है—'प्रवृत्तिरेषा भूता-नाम्' (५।५६)। इसी उद्देश्यसे उद्दालकने कहा था—'मा तात! कोपं कार्षीस्त्वम् एष धर्मः सनातनः' (१२२।१४)। इसे वहां पशुपक्षियोंका धर्म बताया है—'तं चैव धर्मं पौराणं तिर्यग्-योनिगताः प्रजाः। अद्याप्यनुविधीयन्ते कामक्रोधविवर्जिताः' (६) 'यथा गावः स्थितास्तात!' (१५)।

यहाँ सनातन या 'सदाका धर्म' का यह भाव है 'प्राकृतिक धर्म'। वादी याद रखे कि—धर्म कई प्रकार के होते हैं—एक देशिकधर्म, सार्वदेशि धर्म, देशधर्म, कालधर्म, ग्रामधर्म, जाति-धर्म, कुलधर्म, सार्वभौमधर्म। अपने-अपने वातावरणमें, अपने-अपने देश-कालमें अधर्म नहीं समझे जाते। यूरोपमें 'बालनृत्य' में परपुरुष पराई स्त्रीका हाथ पकड़कर उसे ले आता है, उसके साथ चिकनी भूमिपर नाचता है, उसके सौन्दर्यकी प्रशंसा करता है। उसके मुखका चुम्बन करता है।

इसे वहाँ धर्म या सभ्यता समझा जात. है। यदि कोई वहां की स्त्री किसी परपुरुषका हाथ पकड़कर उसे नाचनेके लिए ले आवे, और वह पर-पुरुष निषेध कर दे, तो उसे असभ्य समझा जाता है। पर हमारे यहाँ परपुरुषका हाथ पकड़ना, पर-स्त्रीका चुम्बन करना अधर्म समझा जाता है। इसीलिए वादीसे दी हुई उक्त कथामें संकेत दिया गया है—'उत्तरेषु च रम्भोरु! कुरुष्व-द्यापि पूज्यते' (७) उत्तरकुरुसे कई अनुसन्धाता रूसका 'काके-शिया' भाग लेते हैं, तो दूसरे यूरोप। यह है विशेष देशका धर्म, व्यापक सनातनधर्म नहीं, जोकि वादो अनभिज्ञतासे हमारे सना-तनधर्म परआक्षेप करने बैठा है। मुसलमान लोग चाचाकी लड़की से विवाह कर लेते हैं,यह उनमें अधर्म नहीं समझा जाता है,यह है जातिविशेषका धर्म, सार्वदेशिक सनातनधर्म नहीं। आर्यसमाज परस्त्री विधवाको कामवती होनेपर मैथुनार्थ परपुरुषकी अङ्क-शायिनी बनाता है। इस प्रकार अशक्त-पति अपनी कामिनी स्त्रीको। एक विधवाको ११ तक पति देता है। यह वहां अधर्म नहीं समझा जाता। यह है साम्प्रदायिक-धर्म, पूर्ण सनातनधर्म नहीं। आक्षेप्ता प्रतिपक्षी इस पर व्यापक दृष्टिकोणसे विचार करने पर तब महाभारतीय उक्त ऐकदेशिक इतिहासको सार्व-देशिक-सनातनधर्म समझनेकी भूल न कर सकेगा।

स्त्रीगणपक्षपाती सम्प्रदायका सेवक पथिक देखे कि-उक्त ऐकदेशिक सनातनधर्मको 'स्त्रीणामनुग्रहकरः स हि धर्मः सनातनः' (८) कहा है। तब नियोगपक्षपाती वादी उसे दूर से नमस्ते क्यों करना चाहता है ? आजकलके सुधारक 'तलाक' की मांग कर रहे हैं। क्या यह 'अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने ! कामाचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुहासिनि !' (१२२।४) तासाँ व्युच्चरमाणानाँ कौमारात् सुभगे ! पतीन्' (५) का अनुसरण नहीं ? फिर वादी इस स्वतन्त्रताका विरोध क्यों करता है ? जो-कि श्वेतकेतुने उक्त स्वातन्त्र्यको हटाकर यह व्यवस्था बांधी थी-'व्युच्चरन्त्याः पतिं नार्या अद्यप्रभृति पातकम्। भ्रूणहत्यासमं घोरं भविष्यत्यसुखावहम्' (१८) इसे वहाँ 'धर्म्या' (२१) कहा है, इसका विरोध क्यों ? ।

इस पूर्वापरसे वादीने समझ लिया होगा कि-उक्त इतिहास सृष्टिके आदिमें अनियन्त्रणके समयका है। सृष्टिकी आदिमें वेदादिशास्त्रप्रोक्त व्यवस्थाएँ प्रचलित नहीं थीं। उसमें पशुओंकी भाँति प्रकृति का अनुवर्तन था; (जैसे उक्त इतिहासके पद्य पूर्व उद्धृत किये जा चुके हैं।)उस समय काम-क्रोध आदि भी नहीं थे। देखिये-सृष्टिकी आदिमें जो संयोग हुए; वे क्या आपस में भाई-बहिन नहीं थे ? वहाँ शास्त्रीय-व्यवस्था कहाँ थी ? किसके वहां नियमबद्ध संस्कार होते थे ? क्या उस समय संस्कारविधियाँ थीं ?। तब स्पष्ट है कि-उस मानससृष्टिमें प्रकृतिका अनुवर्तन था, जैसे आज भी पशुओंमें है। पर वादीको जानना चाहिये कि-'नैनं देवा अतिक्रामन्ति, न पितरः, न पशवः। मनुष्या एवैके अतिक्रामन्ति' (शतपथ० २।४।२।६) अर्थात् मनुष्य ही अपने लिए बनाये हुए नियमों को तोड़ दिया करता है।

पहले ही कहा गया है कि-उस समय काम-क्रोध नहीं थे;

अतः यह स्वातन्त्र्य (प्रकृतिका अनुवर्तन) कुछ सीमा तक क्षम्य एवं सह्य था। पर मनुष्य यहां तक नहीं ठहरता, आगे चलता है। आगे चलनेसे फिर काम-क्रोध प्रारम्भ हो जाते हैं। काम-क्रोध जारी हुए; तो विशृङ्खलता प्रारम्भ हुई। उसी समय मार-काट आदि प्रारम्भ हो जाते हैं। उस समय व्यवस्था-स्थापनकी आवश्यकता पड़ा करती है। यही बात यहां भी हुई।

उद्दालककी पत्नीको उसके पुत्रके समक्ष ही एक ब्राह्मण पकड़ कर कहने लगाकि-'चलो, चलें'। यहां बलात्कार तो नहीं था। दो पुरुषोंके सामने अकेला व्यक्ति भला बलात्कारका साहस ही कैसे कर सकता था ? वास्तवमें यह था काम; क्योंकि इस प्रकारकी स्वतन्त्रतामें पुरुष विषयोंमें आसक्त होने लग जाता है। इससे कामसंचार प्रारम्भ हो जाता है ! कामसे क्रोध भी स्वाभाविक हुआ करता है-'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते। संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोभिजायते' (गीता २।६२) यही स्वतन्त्रता, जो पहले धर्म थी, अब वह अधर्म हो जाती है। पहले स्त्रियाँ अनावृत रहती थीं, जो अकामताका चिन्ह है। छोटे लड़के-लड़कियाँ अब भी सभी अनावृत रहते हैं। जब काम-संचार होता है; तब फिर व्यवस्था बनानी पड़ती है।कपड़े पहनने पड़ते हैं। एकपतिकत्वका नियम रखना पड़ता है। क्योंकि--'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्'। (गीता ३।३७) अकामता होने पर तो 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम्' (४।२१) 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' (५।७) कर्मण्यभिप्रवृत्तोपि नैव किञ्चित् करोति सः' (४।२०) 'लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' (५।१०) 'मनःकृतं कृतं राम ! न शरीरकृतं कृतम्। येनैवालिङ्गिता कान्ता तेनैवालिङ्गिता सुता'

(योगवासिष्ठ) कोई दोष नहीं माना जाता। इस तरह स्पष्ट है कि—यह 'काम' था, और इस 'काम' से श्वेतकेतुको क्रोध हुआ, जो स्वाभाविक था। तभी उसने स्त्रीसमाजके कल्याण को व्यवस्था की कि-'व्युच्चरन्त्या: पतिं नार्या अद्य प्रभृति पातकम्। भ्रूणहत्यासमं घोरं भविष्यत्यसुखावहम्। भार्यां तथा व्युच्चरत: कौमारब्रह्मचारिणीम्। पतिव्रतामेतदेव भविता पातकं भुवि' (१२२।१७,१८) अर्थात् पतिका उल्लंघन करने पर नारीको और सच्चरित्रा, पतिव्रता भार्याका अतिक्रमण करने पर पतिको पाप लगेगा। यह व्यवस्था स्त्री-समाजके संरक्षण का हेतु है। स्त्रीके स्वातन्त्र्य होने पर वह दूसरों से इस प्रकार खींच ली जा सकेगी—यह उक्त कथासे संकेत मिलता है। स्त्री-स्वातन्त्र्य स्त्रीके लिए तथा पतिके लिए भी परिणाम-हितप्रद सिद्ध नहीं होता। इसी कारण तो उद्दालक भी उस ब्राह्मणको कुछ नहीं कह सके; और श्वेतकेतुको नारीके संरक्षणार्थ उसका स्वातन्त्र्य छीनना पड़ा। कई मर्यादाओंमें नारीको बाँधा गया। नारी-स्वातन्त्र्य चाहने वालोंको भी उनके दुष्परिणाम देखकर उन्हें भी स्त्रीके संरक्षणार्थ श्वेतकेतु बनकर उन्हें नियममें बान्धना पड़ेगा। यदि वादी भी उनका पारतन्त्र्य चाहता हो; तो बधाई हो। आशा है-वादी सनातन-धर्मके विषयमें समझ लेगा। सनातनधर्ममें अवान्तरधर्म बहुत है, सबकी समष्टि सनातनधर्म है; अत: उसके एकदेशपर हंसी उड़ाना अपनी अनभिज्ञता है। इस विषयमें कुछ गत-निबन्धों में भी लिखा जा चुका है।

पृ० १४०—१४१ 'सनातनमेनमाहु:' इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ० ३—५ तथा 'आलोक' (८) पृ० २७५—२७८ में देखें।

पृ० १४१ (प्र०) सनातनधर्म परस्पर-विरुद्ध आदि असंख्य दोषोंसे परिपूर्ण है' (उ.) इस पर यह याद रखें कि—यह सनातन-

धर्म परमात्माका धर्म है, 'सनातनस्य (परमात्मन:) धर्म:'। वादीने भी पृ० १४१ में यह माना है—'परमात्मा सनातन कहलाता है'। उस परमात्मामें भी लोकोत्तरता होने से परस्पर-विरुद्ध बहुत धर्म हैं—'अजायमानो बहुधा विजायते' आदि। लोकमें तो परस्पर-विरुद्धता दूषण होती है, परन्तु अलौकिकमें परस्पर-विरुद्धता दूषण न बनकर भूषण बन जाया करती है।

जैसे कि साहित्यमें रस परस्परविरुद्धधर्मवाला होने पर भी वह अलौकिक माना जाता है, इसी प्रकार 'रसो वै स:' रसस्वरूप परमात्मा तथा उसके सनातनधर्ममें परस्परविरुद्धता दूषण नहीं। सनातनधर्ममें सत्त्व, रज़, तम, विविध प्रकृति वाले पुरुष हुआ करते हैं। यह गुण परस्परविरुद्ध हैं, तब वैसे पात्रोंके लिए विविध नियम हुआ करते हैं, परन्तु अल्पश्रुतोंको यह दोष प्रतीत होता है। कलके सत्यार्थप्र० में परस्परविरुद्धता तो भरी पड़ी है। यदि यह देखनेकी इच्छा हो तो श्रीआलाराम सागर कृत 'हिन्दुधर्मव्याख्यानदर्पण' देखना चाहिये।

पृ० १४३ — १४४ (प्र०) 'ब्राह्मण, कुत्ता, हाथी। तीनों जाति के न साथी' वाली कहावत आप [ब्राह्मणों] पर चरितार्थ हो रही है। आप जैसे अचारज ब्राह्मणों व नियोगज सारस्वतोंको आपके पुराण राक्षसोंका अवतार लिखते हैं—'ये पूर्वं राक्षसा राजन्! ते कलौ ब्राह्मणा: स्मृता:' (देवीभाग०)।

(उ.) इस पुराणवचनको प्रमाण मानकर वादी ब्राह्मणोंको राक्षसों का अवतार बनाना चाहता है। तब तो वादीने अपने सम्प्रदायप्रवर्तक औदीच्यब्राह्मणको भी अपने शब्दोंमें राक्षस, पाखण्डी, ठग, असत्यवादी, वेदधर्महीन, अनेक धर्मोंके प्रवर्तक, वेदनिन्दक, निर्दयी, धर्मभ्रष्ट तथा अत्यन्त बकवादी सिद्ध कर दिया। यह हम नहीं कह रहे, वादी कह रहा है: कापड़ी बनाये

रहने पर तो वादी उन्हें यह उपाधियाँ तो न दिलवा सकता। पुराण भला अपने अनुकूलों को राक्षस कैसे बतावे ? वह अपने विरोधी ब्राह्मणब्रुवोंको वैसे बतावेगा। इस पर हमारा उत्तर इसी पुष्पमें १७५ से २१५ पृ० तक देख लेना चाहिए।

यदि औदीच्य-ब्राह्मणजी वादीके माने हुए पुराणके वचनानुसार राक्षसोंके अवतार नहीं थे, तथा वादीके अनुसार 'ब्राह्मण कुत्ता, हाथी' नहीं थे, तो सिद्ध हो गया कि—वे वादीके अनुसार ब्राह्मण भी नहीं थे। यदि ब्राह्मण थे, तो उक्त पुराण-वचन समस्त ब्राह्मणोंके लिए न होकर उन लक्षणों वाले थोड़े लोगों के लिए है।

उक्त पुराण-वचनमें न तो आचार्योंका नाम लिखा है, और न सारस्वतोंका, तब पुराणविरोधी ब्राह्मणोंके लिए उक्त वचन हो जाने से औदीच्य-ब्राह्मणमें वह घट गया। यदि प्रतिपक्षी उक्त पुराणवचनको प्रक्षिप्त माने तब उसका उसे देनेका अधिकार सिद्ध न हुआ। हमने तो उसका समाधान उक्त पृष्ठोंमें कर दिया है। "व्यासोक्त ब्राह्मण पहले शूद्र थे, फिर व्यासके वचनसे पीछे ब्राह्मण हुए" (पृ० १४९) यदि यह वादीसे समर्थित बात सत्य है, क्योंकि—उसने उसे प्रमाण मानकर लिखा है, तो औदीच्य-ब्राह्मण जी भी पहले शूद्र सिद्ध हो गये। हम तो इस कथनको साध्य मानते हैं, सिद्ध नहीं मानते। वादीने अपने औदीच्य-ब्राह्मणके 'नादान-दोस्त' बनकर अन्ततः उन्हें सचमुच ही कापड़ी सिद्ध कर दिया। उसे बधाई हो।

पृ० १६२ (प्र०) मरे हुए घोड़ेके लिङ्गको धोकर आप लोगों के यहाँ अचार-मुरब्बा बनाया जाता है ? कौन-सी वैज्ञानिकता इस अर्थमें है ?' (उ.) यह अश्वमेध-यज्ञके प्रकरणमें है। एक विशेष घोड़ा कायापलटसे यज्ञमें हुत होता है। इस विषयमें

वैज्ञानिकता 'आलोक' (६) पृ० ४०६ – ४१२ में देखें। वादी क्रोधी बनकर असभ्य शब्दोंका प्रयोग करता है।

पृ० १६३ 'कुमारी अध्वर्युं प्रत्याह' कह कर जो महीधर-भाष्य पर वादीने आक्षेप किया है, वह अर्थ शतपथानुकूल है। स्वा० द० अपने भाष्यकी शुद्धता शतपथकी अनुकूलताके कारण करते हैं। इसे शतपथमें 'अभिमेथन' कहा है। जो अर्थ शतपथमें होगा, वही यहाँ। इस विषयमें 'आलोक' (५) पृ०७७५–७७८ में देखना चाहिये।

पृ० १६५ 'शिवदूतीको अण्डकोपभक्षणका आदेश' 'आस्वादितं नचान्येन' इस विषयमें इसी पुष्पके २५८–२६० पृष्ठमें देखो। शिवदूतीका 'मृत्यु' अर्थ करना 'पिण्ड छुड़ाना' नहीं, यह तो स्वयं उक्त पुराण उसे 'संहारकारिणी शक्ति' बता रहा है। इस विषयमें पूर्वोक्त पृ० देखना चाहिए।

पृ० १६५—१६६ (प्र०) 'वेदोंमें यौगिक अर्थ होना चाहिए; वहां आप रूढि अर्थ करते हैं। पुराणोंमें रूढि अर्थ होना चाहिए, वहां पर आप यौगिक अर्थ करते हैं'(उ.)वेदोंमें भी रूढि-योगरूढि अर्थ होते हैं, अन्यत्र भी यौगिक अर्थ हुआ करते हैं। इस विषयमें 'आलोक' (८) १४२—१६९ पृ० देखिये।

पृ० १६६ (प्र०) 'उपनिषदोंको वेदसंज्ञा देना आपकी भूल है' (उ) भूल नहीं है। वे ब्राह्मणभागान्तर्गत होनेसे वेद हैं—इस विषयमें 'आलोक' (४) पृ० ११५—११६ तथा इस पुष्पका ७४७ पृ० देखें।

पृ० १६६ —१६७ 'उपनिषदें स्वयं अपने को वेद नहीं कहतीं, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठोप०) स्वधर्मोभिहितो वेदेषु' (मंत्रमु०) यहाँ उपनिषद् धर्मके लिए अपनेसे भिन्न वेदोंका निर्देश

कर रही हैं। 'ऋग्वेदं भगवोध्येमि' (छान्दो०) ऐसा कथन वेद उपनिषद् से भिन्न हैं— यह सिद्ध कर रहा है'।

(उ.)यह वादीने स्वा० ब्रह्ममुनिके लेखसे दिया है। यह कथन ठीक नहीं है। 'वेद' शब्दसे अथवा ऋग्वेदादिशब्दसे उसका मन्त्र-भाग तथा ब्राह्मणभाग (जिसमें उपनिषद् तथा आरण्यक-भाग भी आ जाता है) गृहीत हो जाता है। मन्त्रभाग आदि एकदेशी नाम है, परन्तु वेद आदि शब्द मन्त्रभाग एवं ब्राह्मण-भागका समष्टि नाम है। वादीके दिये हुए पहले प्रमाणके अनुसार प्रतिपक्षिसम्मत चार वेदपोथियोंमें 'ओम्' का वर्णन वैसा नहीं है, जैसा कि वेदके ब्राह्मणभागरूप उपनिषदोंमें है। इस विषयमें 'आलोक' (५) पृ० ८६६–६०२ में देखिये।

यदि वादी कहे कि—'अपनेमें अपना नाम 'अस्मद्' शब्दसे न कहकर परोक्षरूप वा अन्यरूपसे 'सर्वे वेदाः, वेदेषु, ऋग्वेदः, यजुर्वेदः' आदिसे कैसे कहा' ? इस पर जानना चाहिए कि—यह प्राच्य-शैली वा भारतीय-शैली है, अथवा यही कहना चाहिए कि—यह वैदिक-शैली है। हमारे रामायण, महाभारत, स्मृति, पुराण आदि सारे साहित्यको छान डालिये, सर्वत्र अपने लिए उत्तम-पुरुष न मिलकर आपको प्रथम पुरुष मिलेगा। हमारे संस्कृत-साहित्यमें अंग्रेजी-लिट्रेचरकी भाँति पहले फर्स्ट पर्सन (उत्तम पुरुष) नहीं आता, किन्तु प्रथम-पुरुष (अन्य पुरुष) ही आता है। इस प्रकार दर्शनोंमें तथा वेदाङ्गोंमें भी प्रतिपक्षीको यही शैली मिलेगी।

वेदान्त आदि दर्शनोंमें 'तदुपर्यपि बादरायणः' (१।३।२६) इत्यादिमें 'बादरायण' शब्द देखकर प्रतिपक्षी वेदान्तका कर्ता बादरायणसे भिन्न मान लेगा ? 'कर्माण्यपि जैमिनिः' (३।१।४) यह मीमाँसादर्शनमें जैमिनिका नाम अन्यकी भाँति देखकर प्रति-

पक्षी उसका कर्ता जैमिनिसे भिन्न मान लेगा ? फिर तो प्रति-पक्षी अपने वेदको भी वेदसे भिन्न मान लेगा, यदि वहाँ अन्य रूपसे 'वेद' शब्द वा ऋग्वेद' आदि शब्द आजावे। देखिये—'यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव, एतस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपाः' (अथर्व० ४।३५।६ यहाँ अथर्ववेदसं० ने 'यस्मिन् वयं निहिताः' अथवा 'अहं निहितः' न कहकर पूर्व शैलीमें अन्यरूपसे नामग्रहण किया है। प्रतिपक्षीके न्यायसे 'वेद' अथर्ववेदसे भिन्न हो जाएँगे! 'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' यह मन्त्र वर्तमान संहिताओंमें आया है। तब ऋग्वेदसंहिताने 'अहं' न कहकर 'ऋचः' यजुर्वेदसंहिताने अपने मन्त्रमें 'अहं' न कहकर 'यजुः' यह अन्यरूपसे वा परोक्षसे कैसे कहा ? और इस मन्त्रमें भी 'वेद' ने अपनेको वेद नहीं कहा।

अब अथर्ववेदसं० को देखिये—'यस्माद् ऋचो अपातक्षन्, यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमानि, अथर्वाङ्गिरसो मुखम्'(१०।७।२०) यहां पर अथर्ववेदने 'अहं मुखमस्मि' न कहकर 'अथर्वाङ्गिरसो मुखम्' यह अन्यरूपसे कैसे कहा ? क्या अथर्वा-ङ्गिरोवेद' इससे कोई भिन्न है ? 'यस्मिन् वेदा निहिता विश्व-रूपाः' (अ० ४।७।६) 'ब्रह्मणा वीर्यावता' (अ० ४।३७।१) 'तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्यदेव !' (अ० २।२।१। यहाँ दिव्यदेवका ब्रह्म (वेद) द्वारा युक्त करना कहा है। तब क्या यह वेदमन्त्र नहीं रहे कि— इसमें 'वेद' शब्द परोक्षरूपमें कहा है ? 'वेदाः......तैर्मे कृतं स्वस्त्ययनमिन्द्रो मे शर्म यच्छतु' (अथ० १६।६। १२) तब क्या वेदोंसे की हुई स्वस्तिप्राप्तिको अथर्ववेदसंहिता अपने लिए प्रार्थित करके वेदको अपनेसे भिन्न बता रही है ?

अथर्ववेदसंहिता का नाम 'अथर्वाङ्गिरसः' प्रसिद्ध है जैसे कि—पूर्व मन्त्र दिया जा चुका है। उसी अथर्ववेदसं० में 'आथर्व-णानां चतुर्ऋचेभ्यः स्वाहा' (अ०१६।२३।१) 'आङ्गिरसानामाद्यैः

पञ्चानुवाकैः स्वाहा'(अ० १६।२२।१) इत्यादि परोक्षरूपसे वर्णन देखकर इन मन्त्रोंको वादी अथर्ववेदसं० नहीं मानेगा ? तव तो 'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति (अथ० १०।८।३२) इस मन्त्रमें वेदमें देवके काव्यका देखना कहनेसे वह 'देवका वेद' इस-से कोई भिन्न हो जायगा ? वस्तुतः वादीको उक्त युक्ति तुच्छ है। उत्तर दोनों स्थान समान हैं ? इस प्रकार उपनिषद् आदिमें ऋग्वेदादिशब्दसे मन्त्र-ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक तथा अपना भी सभी कुछ गृहीत हो जाता है। जिस प्रकार वेदसंहितामें 'ऋचः, सामानि, छन्दाँसि, यजुः, ब्रह्म' आदि कहनेसे उक्त संहि-ताओंसे भिन्न चार वेद नहीं हो जाते, अथवा इन शब्दोंके साथ 'वेद' शब्द साथ न आनेसे यह अवेद नहीं हो जाते, वैसे यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

पृ० १६७—१६८—१६९ 'न काँचन परिहरेत्' छान्दोग्यके इस वचनका श्रीशंकराचार्यका भाष्य देकर वादीने उसपर श्री-आनन्दगिरिका भाष्य दिया है। इसपर यह जानना चाहिये कि श्रीआनन्दगिरिने जो समझा, उसी रूपसे लिखा। क्या वादी श्रीआनन्दगिरिको प्रमाण मानता है ? यदि ऐसा है, तो उसने यहाँ अपवादस्थल मानकर तथा वेदप्रोक्त जो भी हो, वह धर्म होता है' यह मानकर व्यवस्था दी है कि—'श्रौत अर्थसे विरुद्ध स्मृति दुर्बल हो जाया करती है—'श्रौते अर्थे दुर्बलायाः स्मृतेर्न प्रतिस्पर्द्धिता'।

स्वा० द० प्रोक्त नियोग बहुतोंके मतमें व्यभिचारका दूसरा रूप है। तभी तो वह आर्यसमाजमें भी चालू न हो सका। पर वादी लोग उसे स्वा० द० जीके अनुसार वैदिक मानकर उस पर श्रद्धा करते हैं–' वैसे यहाँ पर भी श्रौतता (वैदिकता) समझकर क्योंकि—उपनिषद् भी वेद होती हैं, इसपर देखो 'आलोक'

(६) उसे नियोगका एक भेद समझकर वे अपना मानसिक समाधान कर लें। तब वादी उस श्रौत-अर्थको भङ्गकी तरङ्ग कैसे कहता है ? यह एक नियोग-जैसा कथन है, जैसे कि—स्वा० द० जीने लिखा है—'जैसे देवरको विधवा समानस्थान शय्यामें आकृणुते (इसका अर्थ 'बुलाती है' है, और स्वा० द० जीने अर्थ लिखा है) 'एकत्र होकर सन्तान उत्पन्न करती है,' तो क्या विधवा देवरकी शय्यामें उसके साथ सोकर सन्तान उत्पन्न नहीं करती है ? तब क्या उस आने वालीको देवर व्यभिचार समझ कर हटा देता है ? स्वा० द० जीने लिखा है कि---'पति स्त्रीको आज्ञा देवे कि-तू दूसरे पतिकी इच्छा कर।' 'तब स्त्री दूसरेसे नियोग (मैथुन) करके'। तब वह दूसरेकी शय्या पर चढ़ेगी, वा नहीं ? तब वह दूसरा क्या उस समागमार्थिनीको मनाही कर देगा ?

'पाप तो नियोग (मैथुन) को रोकनेमें है, क्योंकि ईश्वरके सृष्टिक्रमानुकूल स्त्री-पुरुषका स्वाभाविक-व्यवहार रुक ही नहीं सकता। (स० प्र० ४ पृ० ७०) इत्यादि बातोंके मानने वाले भी यदि छान्दोग्यभाष्यपर आपत्ति करें, तो कहना पड़ेगा कि 'छाज तो बोले, बोले, पर चलनी भी बोलती है, जिसमें नौ सौ छेद हैं।' तब वादी नियोगको स्वामीकी 'भंगकी तरङ्ग' तथा व्यभिचार मानता है क्या ? दोनों स्थान समान उत्तर होगा। इस विषयमें हमने इसी पुष्पके (पृ० ६५--६६) में मीमाँसा की है, उसमें देखना चाहिये।

पृ० १६८ की टिप्पणीमें वादीकी पुस्तकके सम्पादक श्री-विद्यार्थीजी छान्दोग्यकी उक्त 'न काञ्चन परिहरेत् तद् व्रतम्' कण्डिकाका अर्थ लिखते हैं–'यह व्रत है काँचन-किसी भी पर-स्त्री को न परिहरेत्-अपहरण न करे, यह लिखकर विद्यार्थीजी उसपर

टिप्पणी चढ़ाते हैं कि—'कैसा सीधा और कितना उत्कृष्ट अर्थ है !' यह कहकर 'अपने मुंह मियाँ मिट्ठू' बनते हैं। यहाँ विद्यार्थीजीने कमाल कर दिया ! 'परिहरेत्' का उनने 'अपहरण' अर्थ कैसे कर लिया ? मूलमें 'परि' उपसर्ग है। विद्यार्थीजीने उसके स्थान 'अप' उपसर्ग कैसे लगा दिया ? वही 'परि' उपसर्ग लगाकर 'परिहरण' अर्थ क्यों नहीं किया ? तब अपनी इच्छा है. जैसा चाहा अर्थ कर दिया ! आर्यसमाजमें हमारे विद्यार्थीजी के गलत भी अर्थ का सम्मान होगा और हमारे ठीक भी अर्थको उसमें माना ही न जावेगा !

हमारे पास मुलतानमें एक आर्यसमाजी विद्यार्थी कृष्णचन्द्र (मिण्टगुमरी) शास्त्रिश्रेणीमें पढ़ता था। प्रकरण आ पड़ा। हमने कहा—स्वा० द० जोने 'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्' का गुणकर्मसे वर्णव्यवस्था अर्थ कर दिया, जबकि मनु के श्लोकमें गुणकर्मका गन्ध ही नहीं। उसने कहा—पं० जी ! इस पद्यका अग्रिम अंश बोलिये, आपने कुछ छिपाया होगा ? हमने अग्रिम अंश बोल दिया कि—'क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात् तथैव च' (१०।६५) वह विद्यार्थी बोल उठा कि—पं० जी ! इसमें गुणकर्मका नाम तो कहा है। मैंने कहा—कहाँ ? उसने कहा—'विद्यात्' में। मैंने कहा—'विद्यात्' का क्या अर्थ है ? वह बोला—विद्यात्—विद्यासे। मैंने कहा कि—'विद्या, तो आकारान्त-स्त्रीलिंग है। उसका पञ्चमीमें तो 'विद्यायाः' बनेगा 'विद्यात्' कैसे बन सकता है ? यह कोई अकारान्त पुंलिङ्ग राम-शब्दके समान तो है नहीं ! और यहाँ विभक्ति भी तृतीया अपेक्षित है, पञ्चमी नहीं।

विद्यार्थीने पूछा कि—यह 'विद्यात्' क्या है ? मैंने कहा कि यह क्रिया है, विद्धातुका लिङ्, जिसका अर्थ है जाने। फिर

मैंने 'शूद्रो ब्राह्मणतामेति' का वास्तविक अर्थ सुनाया। विद्यार्थी चुप हो गया। मैंने कहा कि आर्यसमाजकी वेदी हो, तुम मेरे छात्र वहाँ पर 'विद्यात्' का 'विद्यासे' ऐसा गलत अर्थ करो और मैं तुम्हारा अध्यापक 'जाने' यह वास्तविक अर्थ करूं, पर आर्यसमाजी तुम्हारा अर्थ मानेंगे और मेरे अर्थ के लिए कहेंगे कि—प० जीने पक्षपातसे अर्थ किया है। यह है आर्यसमाज्में विद्या-महारानी (?) की कृपा ! हमारे प्रतिपक्षीकी पुस्तकके सम्पादक हमारे विद्यार्थीजीने भी 'परिहरेत्' का 'अपहरेत्' अर्थ करते हुए वही कमाल किया है। संस्कृतभाषा न हुई यह अपनी मर्जीकी भाषा हुई। आर्यसमाज उन्हींका—चाहे वे संस्कृत भाषासे कोरे भी हों, उन अपने आर्यसमाजियोंका ही अर्थ मानेगा, हम संस्कृत विद्वानोंका नहीं।

पृ० १७२ 'मेढासे, बैल से भोग करें' यह स्वा० द० जीका अर्थ तो बड़ा भ्रामक है—'बैलका भोग' भी नहीं, 'बैल से भोग करें' लिखा है, जिसमें वादी के अनुसार भङ्ग की तरङ्ग अनुमित होती है। 'उपयोग लें' यह ब्रैकेटका पाठ पीछे बढ़ाया गया है, जिससे भ्रम जो हो रहा था, हट जावे। अब तो ब्रैकेट भी हटा दिया गया है। जबकि—वे भोगका अर्थ 'उपयोग' करते हैं, तब पुराणमें भी 'भोग' का अर्थ 'उपयोग' कर दिया जा सकता है। फिर बलात् वहां प्रतिपक्षीद्वारा क्यों भ्रम पैदा किया जाता है ?

पृ० १७३ में वादी पं० माध० जी पर आक्षेप करता है-१११ बटा नाक'। वैष्णव तिलकको ।।। अंग्रेजी-नम्बर कहना अंग्रेजों-का दास बनना है। क्या हिन्दीके १११ अंक ऐसे होते हैं ? यदि नहीं, तब उसे वैसा कहना अंग्रेजों का पिट्ठू बनना है।

१७३-१७४ 'शुक्या: शुकः' (भविष्य०) इसका उत्तर पहले दिया जा चुका है। मुनिलोग भी वैसा रूप धारण कर लिया करते

थे, पर भविष्य पुराण में तो यह सब बातें पूर्वपक्षमें कही हैं; ऐतिहासिकरूपमें नहीं । वादीको चाहिये कि—इन इतिहासोंको मूल पुस्तक से ढूंढकर सामने रखे ।

१७६ 'तीतरका शोरबा' जो स्वा० द० जीने प्रथम सं० वि० में लिखा था; उसपर वादी कहता है कि—'स्वामीजीने यहाँ यह भी लिखा था कि—यह एकदेशी मत है' । यह ठीक है, पर उस समय तो यह वचन स्वामीजीको वेदविरुद्ध न मालूम हुआ, पीछे वेदविरुद्ध कैसे हो गया ? क्या उस समय स्वा० द० जीको वेद-ज्ञान नहीं था ? इस प्रकार पुराणोंमें भी माँसका उत्तर दिया जा सकता है । जातिमें सात्त्विक राजसिक. तामसिक सभी प्रकार के लोग होते हैं; सो मांस तामस लोगोंके लिए हो सकता है—यही इसकी ऐकदेशिकता समझनी चाहिये ।

सृष्टिमें केवल सोना नहीं होता, लोहा भी होता है । अन्न भी होता हैं, उसका मल भी होता है । तब पुराणोंपर उसका आक्षेप क्यों ? स्वा० द० जी भी माँस मांसाहारीको खिलानेका आर्डर देते हैं । स० प्र० में स्वामीने लिखा है–'यह राजपुरुषोंका काम है कि-जो हानिकारक पशु वा मनुष्य हों; उनको······प्राणसे भी वियुक्त कर दें । (प्रश्न) फिर क्या उनका मांस फेंक दें ? (उत्तर) चाहे फेंक दें अथवा कोई मांसाहारी [मनुष्य] खावे, तो भी संसारकी कुछ हानि नहीं होती , (स० प्र० १० पृ० १६८) इससे मांसवाले वचनोंको मांस खाने वालोंकेलिए मान लिया जावे; तब प्रक्षिप्तताका अड़ङ्गा आर्यसमाजको लगाना न पड़े; क्योंकि—संसारमें जहां सात्त्विक हैं, वहां राजस-तामस भी व्यक्ति हैं । व्यवस्था सब के लिए रखनी पड़ती है ।

पृ० १७७ 'पौराणिक-ग्रन्थोंमें मांसविधान' दिखलाते हुए प्रतिपक्षीने 'अजामन्नाद्यकामः, तैत्तिरं ब्रह्मवर्चसकामः' यह आश्व-

लायन गृ० का प्रमाण दिया है । प्रथम संस्कारविधिमें स्वा० द० जीने भी इसे लिखा था । उस समय क्या स्वा० द० जीको वेदका ज्ञान नहीं था; यदि नहीं था; तो उन्हीं दिनों उनसे प्रचालित आर्यसमाज भी वेदके ज्ञानसे रहित सिद्ध हुआ । स्वा० द० जीने यदि मांस की ऐकदेशिकता दिखाई है, तब प्रतिपक्षी आक्षेपके समय यह बात क्यों भूल जाता है कि-यहाँ भी ऐकदेशिकता है । सृष्टिके त्रिगुणात्मक होनेसे इस संसारमें पुरुष भी सात्त्विक, राजसिक, तामसिक तीनों प्रकार के हो सकते है । सात्त्विकों में भी तामसिकता हो सकती है । उनमें माँसभक्षी भी हो सकते हैं । तब वे लोग सर्वसाधारण मांसका प्रयोग न करने लग जाएँ; उनकी विशेष व्यवस्था बना दी गई है । और फिर इनके वैद्यक-शास्त्रोंमें प्रसिद्ध अर्थ भी हुआ करते हैं; तब जो माँसके प्रेमी नहीं; वे सात्त्विक-ओषधिविशेषोंका प्रयोग कर सकते हैं ।

पृ० १७८ आगे जो गोभिलके प्रमाण तथा उसपर सामश्रमी-जीका भाष्य वादीने दिया है; सो सामश्रमीजीको तो आप लोग प्रामाणिक वैदिक विद्वान् मानते हैं; तब फिर उन्हींको प्रकारान्तर से अनभिज्ञ क्यों बता रहे हैं ? वस्तुतः वेदादिशास्त्रोंके अनुसार गाय 'अघ्न्या' होती है; तब 'गो' शब्दसे, यदि मारना अर्थ है, तो उसका ग्रहण न होकर अन्य कृष्ण—पशुका-क्योंकि-'गो' शब्द सामान्यपशुवाचक भी होता है-ग्रहण हो जायगा । मूलसूत्रमें 'मांस' शब्द नहीं है, श्रीसामश्रमीजीने मालूम नहीं—'मांस' शब्द वहां कैसे प्रक्षिप्त किया ? 'यज्' धातुका अर्थ 'देवपूजा' होता है । इस का अर्थ यह होगा कि—कृष्ण गौसे देवपूजा करें । जैसेकि सिद्धान्त-कौमुदीमें 'यजेः कर्मणः करणसंज्ञा, सम्प्रदानस्य च कर्मसंज्ञा' । इसका उदाहरण वहाँ है—'पशुना रुद्रं यजते' इसका अर्थ किया गया है कि-'पशुं रुद्राय प्रयच्छति' । यहाँपर भी वही देवोद्देश्यक

दान समझना चाहिये, क्योंकि-'यज्' धातु का अर्थ 'देवपूजा, सङ्गतिकरण, दानेषु' दान भी आया है। जैसेकि-ब्रह्मचारीका भूतोंको मानसिक दान आया है (पारस्करगृ० २।२।२०) यहाँ ब्रह्मचारी को काट-काटकर उसे बाँटा नहीं जाता। तब वादी जबर्दस्ती गायको क्यों मारता है ? 'पायसेन वा' यह उत्तरपक्ष है। वादीके मान्य श्रीसामश्रमीजीने 'अधम: कल्प:' यह अर्थ ठीक नहीं किया ?

पृ० १७६ 'धेन्वनडुहोर्भक्ष्यम्, मेध्यमानडुहमिति वाजसनेयकम्' इस वादीसे उपक्षिप्त विषयमें 'आलोक' (६) पृ० ३८४–८५ में देखो।

पृ० १८० अनुस्तरणीमें काली वकरीका उत्तरपक्ष रखा गया है। गायके 'अघ्न्या' होनेसे उसका ग्रहण न होकर वहाँ 'गो' शब्द पशुसामान्यवाचक समझना चाहिये। 'अनुस्तरणी गायका दान ही उत्तरपक्ष है। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ० ४१७ देखो।

१८१-१८२-१८३ बृहदारण्यकके मांसके विषय में 'आलोक' (६) पृ० ३२०-३३० में देखिये। स्वा० द० जीने प्र० संस्का० वि० में 'वह मांसयुक्त भातको पकाके खायं तो वैसे पुत्र होनेका सम्भव है' (पृ० ११) जब यह लिखा था; तब वह वेदविरुद्ध वाक्य था, वा नहीं ? जो उत्तर प्रतिपक्षीका होगा, वही यहां भी समझ ले। शेष जो वादीने इस विषयमें श्रीशाङ्करभाष्यपर आक्षेप किया है, उसके विषय में वह इसो पुष्प के पृ० ६६ से १०३ पृ० तक देखें। यदि वादो श्रीआनन्दगिरिकी टीका ही मानना पसन्द करता है, तो वह 'देशविशेषापेक्षया कालविशेषापेक्षया वा मांसनियम:' यह लिखकर वैसे देश-काल आदिका कारण बताया गया है। वस्तुत: यहाँ भी शास्त्रानुसार बैलके अघ्न्य होनेसे उक्षा एवं ऋषभक नामक ओषधियोंका मांस लिया जावेगा। उनका नाम भी बैलके नामसे

होता है। इस विषयमें हम इसी पुष्प में (पृ० १०१-१०२) स्पष्टता कर चुके हैं।

मांसका वर्णन वेदादिमें अवश्य है; क्योंकि प्रकृतिके त्रिगुणात्मक होनेसे प्राकृतिक संसार में भी त्रिगुणात्मकता अवश्य होती है। उस त्रिगुणात्मकतामें भो परस्पर गुण-सङ्कर हुआ करता है। सात्त्विक में भी रजोगुण-तमोगुणका अंश हो सकता है, तामसमें सत्त्वगुण का अंश हो सकता है। भगवद्गीता में कहा है-'न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुन:। सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभि: स्यात् त्रिभिर्गुणै:' (१८।४०) 'रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ! रज: सत्त्वं तमश्चैव तम: सत्त्वं रजस्तथा' (१४।१०) इसी लिए ही 'मांस मुपसिच्य उपहरति' (अ० १६।६+४।७) 'यन्मांसं निपृणामि ते' (अ० १८।४।४२) इत्यादि वेदमें भी आता है। इन प्रमाणोंसे पुराणमें वर्णित मांसकी वेदानुकूलता ही होती है, पर गाय-बैलके वेदानुसार अघ्न्या-अघ्न्य कहे जानेसे जहां पुराण आदिमें, बल्कि मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदमें भी जहां गोवधका आभास हो, वहां उसे परोक्षवाचक समझ कर वहां 'गो' का अर्थ 'पशुसामान्य' वा ओषधि आदि समझना चाहिये !

यही हमारा पक्ष सदासे रहा है। कहीं यदि हमने वेदादिसे पुराणके उस अंशकी समता बताई भी है, वहाँ हमारा यह पक्ष वा अभिप्राय नहीं है कि—अमुक-स्थलमें गोवध शास्त्रीय है, किन्तु वहाँ हमारा अभिप्राय यह रहा है कि—प्रतिपक्षी वेदमें ऐसे अंशका जो अर्थ करेंगे, वही पुराणादिमें भी हो जायगा। तभी तो श्रीपथिकने १८५ पृष्ठमें 'सिद्धान्त' के मेरे लेखका १०।३६ अङ्कसे जो उद्धरण दिया है, उसीके आगे मैंने लिखा था कि— 'अथर्व ६।६।७,६।६ (४)। ७) यह मन्त्र मूल है। आप जो अर्थ इस मन्त्रमें कर डालें, वही शतपथमें भी कर लें। :महोक्ष' तथा

'महाज' का भिन्न अर्थ भी हो सकता है। (पृ० २८६) इस मेरे लेखांशको कुशवाहाजीने 'भद्र-तस्कर' बनकर चुरा लिया और चोरी करके भी दोष मुझ ही पर डाल दिया। यह सोचा हो कि—कौन पुराने लेखोंको देखता है, अतः उस लेखको जनदृष्टि से छिपा लिया।

उक्त अभिप्रायको न समझकर 'मेरे आक्षेपका परिणाम है कि—दीनानाथशास्त्रीकी बुद्धि ठीक हो गई और वे वेदशास्त्रोंमें अब गोमांसभक्षण नहीं मानते' (पृ० १८४) 'आपके इस प्रमाण की धज्जी मैंने उड़ाई थो, तब आपके होश ठिकाने आ गये थे, और अब आप 'आलोक' में सही मार्ग पर आगये' (पृ० १८५) यह कथन गालिप्रिय एवं असभ्यताप्रिय कुशवाहाकी आत्मश्लाघामात्र है। हमारे पक्षकी आलोचनामें कुशवाहाने युक्तियुक्त प्रत्युत्तर न दिखाकर केवल अशिष्टता ही दिखलाई, जिसपर श्रीत्रिपाठीजीने भी कुशवाहापर खेद-प्रकाश किया था।

स्वयं तो कुशवाहाजी का ज्ञान संस्कृतज्ञानकी भाँति अत्यन्त न्यूनमात्रामें है, प्रायः अपने आर्यसमाजियों वा उनके अधकचरे विचार वाले दूसरे लोगोंके साध्य मतका संग्रहमात्र कर दिया करता है। यह हमारा दिमाग क्या ठीक करेगा ? जो कि उसने (पृ० १८४ पं० २० में) मुझ पर यह कलंक लगाया है कि—'म० दयानन्दजीके भाष्य तथा मेरे आक्षेपका परिणाम है कि—पं० दी० शा० की बुद्धि ठीक हो गई, और वे वेदशास्त्रों में गोमांस-भक्षण (अब) नहीं मानते, इससे पूर्व वे वेदोंमें गोमांस भक्षण' मानते थे।'अब पाठक इस असत्यभाषीके असत्यका पर्दाफाश होता देखें। इसी तरहका आक्षेप श्रीधर्मदेवजीने भी अपने 'स्त्रियों का वेदाध्ययन' के प्रारम्भिक-शब्द ('ज' पृ०) तथा 'सार्वदेशिक' में किया था। इन लोगोंका यह अध्यवसाय केवल इसीलिए

होता है कि-हम (प्रतिपक्षी) इन (दी० श० शा०) के लेखों का विद्वानोंकी दृष्टिमें ठीक प्रत्युत्तर नहीं दे सकते, तो इन्हें लोक-दृष्टिमें तो गिरा दें।' इस प्रकारके गन्दे तरीकोंमें इनकी प्रवृत्ति देखी गई है।

मैंने 'सिद्धान्त' (८।४४) में श्री ध० दे० जीके उत्तरमें लिखा था कि—'आगे आप जनताको भ्रममें डालनेके लिए मेरे चतुर्थ लेखमें 'गोवध' लिखना लिखते हैं, पर यह नितान्त ही असत्य है। वेदादिमें गायको 'अघ्न्या' कहा है। अतएव आलम्भमें आये हुए 'गो' शब्दका अर्थ 'पशु' है, 'गाय' नहीं। यह लिखकर आप (ध० दे०) की बातका खण्डन कर दिया गया है' (पृ० ३४६) इस पर फिर श्री ध० दे० जी चुप्पी लगा गये, कुछ नहीं लिखा। यह मेरा लेख 'सिद्धान्त' में माघ शुक्ला १५ सं० २००४ (जन० १९४८) में छपा था। कुशवाहाजीने मेरे लेख 'वेद और गणेश' (पौ० शु० ८ सं० २००६) की समीक्षा अपने लिखे अनुसार भाद्रपद सं० २००७ में की। अब कुशवाहाजी बतावें कि—मेरे ध० दे० जी के उक्त लेखके उत्तरमें छपे हुए लेखमें सं० २००४ में गौ की अवध्यता जो मैंने लिखी थी, वह क्या उसके ढाई साल बाद गर्भमें आकर छपे हुए कुशवाहाके लेखसे मैंने ली कि जिसने कुश-वाहाके शब्दोंमें 'मेरे होश ठिकाने' कर दिये ? कुशवाहाजी असगति अलंकारके आचार्य किस युनिवर्सिटीसे हुए थे ? इतना असत्यवाद !!!

बल्कि—श्री ध० दे० जीके आक्षेपसे भी पहले मैंने उसी आक्षिप्त लेखमें लिखा था 'गो' शब्द पशुसामान्यवाची है' (सिद्धांत ७।३६ पृ० २८४ पौष शुक्ला १ सं० २००३) तब मैं गोवध कैसे लिख सकता था ? उसी लेखमें मैंने पृष्ठ २८५ में लिखा था कि—

'यदि आप (ध० दे०) 'मांस' का अर्थ बदल दें, तब तो इसी प्रकार गृह्यसूत्रादिमें भी उनके अर्थ बदल सकते हैं। आप आयुर्वेद के निघण्टुओंको खोल बैठिये, आपको पशु-पक्षी आदिके औषधिपरक अर्थ मिल जायेंगे; अथवा आप सामश्रमी वाला तथा ठा० उदय-नारायणसिंह वाला अपना मान्य गोभिलगृसू० (प्र० सं०) उठा लें, वहाँ आपको भूमिकामें पशुसंज्ञपन तथा मांसविषयक समाधान प्राप्त हो जायगा। अथवा माँसके स्थान पर हमारे मतमें 'प्रजापतिस्मृति' की 'अतोमाषान्नमेवैतद् मांसार्थे ब्रह्मणा कृतम्। पितरस्तेन तृप्यन्ति श्राद्धं कुर्याद् न तद् (माषं) विना' (१५२) इस व्यवस्था के अनुसार माष (उड़द) का प्रयोग हो जाएगा।'

अब कुशवाहाजी बतायें कि-सं.२००३में उनके सं.२००७के चार सालके पीछेके छपे हुए लेखसे क्या मेरे 'होश ठिकाने' आ गये, और बुद्धि ठीक हो गई ?; और 'आलोक' में मैं 'सही मार्ग' पर आ गया ? ऊपरके कहे पूर्वके विचार आजकलके मेरे विचारोंसे विपरीत कैसे थे ? इन मेरे लिखे प्रमाणोंके रहते क्या पथिककी शक्ति है कि—वह 'मेरा गोवध सिद्धान्त है' यह सिद्ध कर सके ? जो शब्द उस समय मैंने लिखे थे, वे अब भी 'आलोक' (६) पृ० ४१९-४३६ में लिखे हैं, अब वादी मुझे 'सही मार्ग में' बताता है सो आशा है—अब कुशवाहाजीके ही होश-हवास ठीक हो गये, और उसकी 'बुद्धि ठीक' होकर 'सही मार्ग' पर आ गई है।

'प्राचीन भारतमें क्या गोवध था' इस आलोक' (६) की मेरी ३११ पृ० से शुरू करके ४७१ पृ० तक की २६० पृ० की निवन्धमालामें न तो कुशवाहाजीके अनुसार कुछ स्वा० द० जीके भाष्यसे मैंने सहायता ली, न कुशवाहाजीके किये वेदभाष्य (?) से। यह लेखमाला मैंने 'सरिता' में लिखे हुए 'गोवध सम्बन्धी बंसलके लेखके प्रत्युत्तरमें लिखी थी, उस समय आर्यसमाजी

बगलें झांक रहे थे, केवल विरोध करके तथा 'सरिता' के प्रचार के बन्द करनेके ही तरीके अपना रहे थे। उन दिनों मैंने उक्त लेखमाला दैनिक 'सन्मार्ग' काशीके १५ अङ्कोंमें प्रकाशित कराई थी। इसे बहुतोंने पसन्द किया था। वही कुछ संक्षेपमें हमने 'आलोक' के छठे पुष्पमें दी। 'महोक्षं वा महाजं वा पचेत्' के मुख्य अर्थमें जो मैंने शतपथ तथा याज्ञवल्क्यस्मृतिकी एकवाक्यता और 'पच्' धातुका अर्थ तथा शतपथके अन्य वचनका सामञ्जस्य किया, उसमें मेरी अपनी ही गवेषणा है। न स्वा० द० जीसे मैंने उसे उधार लिया, न कुशवाहाजोसे, न किसी अन्य आर्यसमाजी से। तब 'महोक्षं वा महाजं वा' का पं० दी० श० ने वही अर्थ किया है, जो आर्यसमाजी-विद्वान् करते हैं। (पृ० १८६) ऐसा कहना पथिकका प्रत्यक्षका अपलाप करना है। आशा है-अब थके हुए 'पथिक' ज़ीके अपने 'होश हवास' कुछ देर आराम करके अपने शब्दोंमें ठीक हो गये होंगे। पाठकोंने पथिककी यह अशिष्टता देख वा समझ ली।

जोकि उसका यह कथन है कि-आप अर्यंसमाजियों जैसे अर्थ करने लग गये। पौराणिक अर्थं छोड़ दिये' इस पर उत्तर यह है कि यह ठीक नहीं। महाभारतने लिखा है—'अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति। महच्चकाराकुशलं वृषं गां वालभेत्तु यः, (शान्तिपर्व २६२।४७) 'ओषधीभिस्तथा ब्रह्मन्! यजेरंस्ते न तादृशाः' (शान्ति० २६३।३३) पुराणमें लिखा है 'अहिंसैव परो धर्मस्तत्र वेदेस्ति कीर्तितः। साक्षात् पशुवधो यज्ञे नहि वेदस्य सम्मतः' (स्कन्द पुराण वैष्णव खंड वासुदेव माहात्म्य ६।४।१४) 'तस्माद् व्रीहिभिरेवासौ यज्ञः क्षीरेण सर्पिषा। मेध्यैरन्नरसैश्चान्यैः कार्यो न पशुहिंसया' (२।६।२८) सनातनस्य धर्मस्य रूपमेतदुदीरितम्' (३१) श्रीमद्भागवतमें पशुयज्ञविरोधः

यह सब बातें क्या पुराणोंने आर्यसमाजियोंसे ली हैं? कभी नहीं, किन्तु आर्यसमाजियोंने भी पुराणोंसे लेकर पौराणिकता अपनाई है। पर इस अल्पश्रुत कट्टर आर्यसमाजी 'पथिक' को इन बातों का क्या पता, थोड़ी सी स्वा० द० वा आ० स० की आलोचना की जाय, तों अभद्र गालियों पर उतर आता है, यही है-उसका 'नीरक्षीरविवेक' इसका उप..ाम रखना चाहिये 'गालिप्रदान-महाकोष'। इसमें उसने श्री पं० माधवाचार्यजीके साथ अशिष्ट-व्यवहारकी सीमातीतता कर दी है। हम डा० श्रीरामको तो ऐसा समझते थे, पर अब उससे 'पथिक' की साँठ-गाँठ हो गई, अब उसके लेखको भी चुराने लगा हैं, और उसका अशिष्ट-व्यवहार भी उसने अपना लिया है।

यद्यपि ऐसे अशिष्टोंके साथ उलझना अपना अपमान कराना है तथापि 'अपमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः।' 'संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव। अमृतस्येव चाकाङ्क्षेद् अवमानस्य सर्वदा' (मनु० २।१६२) इत्यादिके अनुसार स० ध० की सेवार्थ हम गालीप्रदानको भी सिर पर लेते हुए यथाशक्ति सनातनधर्मकी सेवामें लगे रहना चाहते हैं। पाठनादिमें व्यस्ततावश समय न्यून मात्रामें मिलने पर भी हम यथाशक्ति प्रतिपक्षियों के मायाजाल एवं असत्यपक्षके निराकरणमें लगे हुए हैं। जैसे कि महिदास एवं कवष-ऐलूष आदिके विषयमें हमसे लिखे लेखपर जो पथिकने साध्य प्रमाणोंका संग्रहमात्र कर दिया था, हमने प्रमाणोंपपत्तिसहित उसके लेखोंको ऐसी धज्जियाँ उड़ाईं, उसके पक्षकी रीढ़की हड्डी इस प्रकार तोड़ी कि—उसमें वह अभी तक भी उठ नहीं स. ा है। पर अब यह गालिप्रदानमें स० प्र० का अनुसरण करके अपना पूरा आर्यसमाजीपन प्रकट करने लगा है। कुछ थोड़ी सी स्वा० द० जी पर यदि आलोचना दी जाती है, तो

चिढ़कर प्राचीन सब ऋषि-मुनियोंको गाली देने पर उतर आता है—यह स्पष्ट उसके पक्षकी दुर्बलताके तथा दयानन्दी एवं दयानन्दपन्थी होनेके साक्षात् प्रमाण हैं। फलत. 'आलोक' (६) के गोवधके समाधानमें हमारा अपना ही अन्वेषण है, आर्यसमाजसे हमने उसे उधार नहीं लिया।

पृ० १६१—१६२ 'गणिकागर्भसम्भूतः, जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः, श्वपाकीगर्भसम्भूतः, आदिका उत्तर हम पीछे (पृ० ८६६ पं० १०--१८ में) दे चुके हैं। सत्यवती धीवरवंशकी नहीं थी। वह तो उपरिचर-वसुकी कन्या थी। इस प्रकार असत्-प्रसिद्धियोंसे नहीं, किन्तु इतिहाससे वादीको दिखलाना चाहिये कि-यह लड़की अमुक श्वपाक वा अमुक कैवर्तकी थी। तब गौड़ोंको कहारवंशका कहना श्रीमाधव जीको अचारज कहना, माँ का पति कहना, सारस्वतोंको नियोगज कहना-इत्यादि बातें वादीके दिमागके बिगड़ने के पूर्वरूप प्रतीत हो रही हैं।

पृ० १६३ स्वा० शंकराचार्य के वर्ण विषय में, सारस्वतोंके नियोगजत्व के आक्षेपमें तथा स्वा० द० जी के विषयमें हम अपने सम्पादकत्वमें निकलने वाले 'सिद्धान्त (१५।२—३—४) में लिख चुके हैं। यदि श्रीमाधवाचार्य जी स्वा० द० का कापड़ीपन में नाचना दिखलाते हैं, तो वादी नाचने को वैदिक सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है। यदि वे स्वामीका भाँग पीनेका व्यसन दिखलाते हैं, तो वादी भाँग पोना लाभदायक सिद्ध करने के लिए उतारु हो जाता है। जब सब बातें वादी श्रीमाध० जीकी मानता चला जा रहा है, ब्राह्मणों को शूद्र तथा कापड़ियों को सारस्वतों से भी श्रेष्ठ बनाता जा रहा है, तो अब स्वामी को कापड़ी भी मानकर उसको तोड़-मरोड़ करके वेदादिशास्त्रों से सिद्ध करें। फिर झगड़ा क्या ? और गालियाँ क्या ?

पृ०२०४ 'ब्रह्मा जी से असुरोंका सम्भोग। इस विषयमें पृ०३०६—३११ में देखें। यहाँ सम्भोग कहां लिखा है—यह प्रतिपक्षीने नहीं दिखलाया, और न ही १०० वर्ष तक भी कभी दिखला सकता है।

पृ०२०५ 'श्रीकृष्ण का अर्जुन से संभोग' यह वादीका कहना गलत है। वहां तो 'अर्जुनी' लिखा है। स्वा० द० यदि इस जन्म में वादीकी स्त्री बनकर आये हों; तो वादी क्या अपना स्वामीसे संभोग मान लेगा? फिर वहाँ 'रेमे' यह रम् धातु का प्रयोग है, जिसका पाणिनीय-धातुपाठमें 'क्रीड़ा' अर्थ होता है। तभी वहाँ 'क्रीड़ासरोवर, क्रीड़ावन' लिखा है, और 'क्रीडाश्रान्ता' लिखा है, 'मैथुन-सरोवर' आदि नहीं लिखा। दिलीप का रघुवंशमें 'तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ' (३।३) (रहः) एकान्तमें सुदक्षिणाका मुख सूंघना कहा है, वहांपर 'रहः शब्द देखकर भी 'मैथुन' नहीं समझा जाता; किन्तु जैसे यहाँ क्रीडा-विनोद है, वैसे वादीसे दिये हुए प्रमाणमें भी 'रहः' शब्द देखकर घबड़ाने की बात नहीं। वहाँ लिखा है—'रहो रेमे महायोगेश्वरो विभुः'। सो योगेश्वरके रमण के विषयमें प्रतिपक्षीके मित्र 'पुराणोंके कृष्ण' के लेखक—जिसे वादी अखण्डित पुस्तक समझता है—ने लिखा है—'जहाँ रमण योगी अथवा भक्तवा ईश्वरके सम्बन्धके अर्थमें होता है, वहाँ भक्त वा योगीका ईश्वरके ध्यानमें मग्न होनेके अर्थमें आता है' (पृ०१४) तब अपने मित्रके वचनसे ही प्रतिपक्षीका यहाँका अभिप्राय खण्डित हो गया। इस विषयमें इसी पुष्पके ३०६—३०९ पृष्ठ में देखें।

पृ० २०६ 'दण्डकारण्यके महर्षियोंका रामके साथ मैथुन' यह

भी प्रतिपक्षीका कथन गलत है। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ०६१६—६२१ में देखें।

पृ०२०७ 'श्रीकृष्णका नारदको नारदी बनाकर सम्भोग' यहाँ पर वादीके दिये पद्यमें प्रभु को 'योषिन्मय' स्त्रीरूप लिखा है; तो स्त्रीका स्त्रीके साथ रमण क्या वादीके मतमें मैथुन होगा? इस विषयमें इसी पुष्पके ३०६—३०९ पृष्ठ देखें।

पृ० २०७—२०८ 'नारद ऋषिके साथ राजा तालध्वजका संभोग। यह भी प्रतिपक्षीका गलत कथन है। वहाँ नारदी लिखा है, नारद नहीं। क्या वादी संभोगसे पुरुषको भी गर्भ मानता है? वहाँ तो स्त्रीको गर्भ लिखा है। वादीकी स्त्री भी पूर्वजन्ममें उसकी बहिन रही हो, तो दूसरे जन्ममें क्या उसे भगिनी—गमन करने वाला कहा जा सकेगा? वस्तुतः वादी श्रीमाध० जीके कथनमें निरुत्तर होकर अनाप-शनाप लिखकर श्री माध० जीसे कही हुई बातको प्रमाणित कर रहा है।

पृ०२०९ 'पौराणिकानां व्यभिचारदोषो—' यह कथन किसी ऋषि-मुनिका नहीं। यह किसी पौराणिकोंसे चिढ़े हुएने लिखा है। इस जैसा श्लोक 'दयादिनन्दो व्यभिचारजातः' यह 'शास्त्रार्थ पञ्चक'में मिलता है। तब वादी क्याउसे मान लेगा?

पृ० १९३ में वादी पं० कालूरामजीके लिए लिखता है—'इसी गौड-ब्राह्मणकी वर्णसंकरताके कारण ये भी दयानन्दजीको कापड़ी और अपशब्दोंका व्यवहार करते थे' तब जोकि स्वा० द० जीने स० प्र० में अपशब्दों का सनातनधर्मियों के लिए तथा वादीने अपने इस पुस्तकमें प्रयोग किया, तब क्या वादीके शब्दों में स्वामी जी तथा स्वयं वे वर्णसंकर थे वा हैं? यदि ऐसा हो तो औदीच्य-ब्राह्मणको सचमुच वादीने कापड़ी बना दिया है, जिसका हमें भी खेद है।

२०६—२१० 'श्री शंकराचार्य निश्चित प्रच्छन्न बौद्ध थे, इस विषयमें इसी पुष्पके १०३—१०७ पृष्ठमें देखें ।

पृ० २१३—२१४ 'भागवत-पुराण मूर्तिपूजकोंको गधा लिखता है—'यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके' यहाँ प्रतिपक्षीने पुराणका पाठ दुःसाहसवश बदलकर अपने पक्षको निर्मूल सिद्ध कर दिया है—पाठ था 'सलिले न कर्हि चित्' उसे 'सलिलेषु कर्हिचित्' कर दिया है। ऐसा करनेमें— 'कर्हिचित्' शब्द भी व्यर्थ हो जाता है। वादीको निर्मूल अर्थ करके मूर्तिपूजकोंको गधा बनानेकी इतनी उत्कण्ठा रहती है, उसमें वह भूल जाता है कि—इससे दयानन्दजी के पिता भी मूर्तिपूजक होनेसे गधा बन जावेंगे और उनके लड़के दयानन्द जी फिर जो होजाएँगे—वह स्पष्ट ही है। अपनी उस बातसे हानि हो तो कोई वात नहीं, पर दूसरे की तो होती है' यह विचार वादीका सदा रहता है, यह स्वभाव किनका होता है—यह वादी स्वयं जान ले। उक्त विषयमें इसी पुष्पमें १५०—१५२ पृष्ठमें देखना चाहिए।

पृ० २१४—२१५ 'शंकराचार्यकी मधुरताका नमूना' दिखलाते हुए वादीने 'शंकरदिग्विजय' के कई पद्य दिये हैं, उन्हींमें स्पष्ट है कि— उसमें पहल मण्डनमिश्रकी थी। उसने 'दुर्बुद्धे' कहा था, और उनके संन्यासाश्रमपर आक्षेप कर दिया था। उसीका अनुवाद आचार्यने भी कर दिया था—'कन्थां वहामि दुर्बुद्धे !' वादी स्वा० द० जीकी मधुरता (?) स० प्र० में अनेक-स्थानों पर देखसकता है। अपनी दी हुई गालियाँभी वह 'नीरक्षीरविवेक' में देख सकता है, जो गन्दी नालीका नीर हैं, पर प्रतिपक्षी उन्हें कदाचित् क्षीर मानता है।

पृ० २१६ 'सारस्वतोंको कापड़ीसे निकृष्ट सिद्ध करने के लिए नियोगज बतानेका जो कुप्रयास वादीने किया है; इससे वादीने

एक ढंगसे स्वा. द. जीको सचमुचका कापड़ी भी मान लिया, और नियोगको निकृष्ट भी सिद्ध कर दिया। बधाई हो ! 'जातिभास्कर' से उसने लिखा है—'दुर्वासासे शप्त होकर सरस्वती मर्त्यलोकमें मानुषी हो दधीचऋषिसे ब्याही गई। उसकी सन्तान 'सारस्वत' के नाम से विख्यात हुई'। वादीसे उद्धृत की गई इस कथासे सारस्वत कहीं भी कापड़ीसे निकृष्ट सिद्ध नहीं हो रहे। यहां कुछ अमर्यादितता भी सिद्ध नहीं हो रही।

(ख) आगे वादी स्कन्द उपपुराणके हिङ्गुलाद्रिखण्डसे 'जातिभास्कर' द्वारा सारस्वतकी उत्पत्ति लिखता है—'सिन्धुदेशमें दधीच-ऋषिका आश्रम था।........ पृथिवीतलमें वर्षा न होनेसे देवताओंने सरस्वती नदीके सारस्वत तीर्थमें यज्ञानुष्ठान किया। और एक कलशमें सौत्रामणि अमृत रखा, और सरस्वतीदेवीकी स्तुति की। उस समय सरस्वतीने प्रत्यक्षरूपसे दर्शन देकर वरार्थ कहा। तब देवता बोले कि—अश्विनीकुमार के वीर्यसे तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हो, तो उसके द्वारा वर्षा होगी। तब सरस्वती ने कहा कि—यदि अपना बल ब्रह्माजी अश्विनीकुमारको दें, तो ऐसा हो सकता है। यह स्वीकार होने पर रमणसे सरस्वतीको गर्भ रहा। छठे महीनेमें स्रुत हुए उस गर्भको ब्रह्माजीने सौत्रामणिकलशमें धरा, और सरस्वतीको दिया: सरस्वतीने जलमें जाकर उस गर्भके दो रूप देखे। एक लोहितेन्द्रको देवता वृष्ट्यर्थ ले गये। दूसरे पुत्र के लिए देवीने कहा—'मन्नाम्नाऽप्यपरः पुत्रः सारस्वत-दधीचकः' यह मेरे नामसे सारस्वत-दधीच कहलावेगा।

(उ०) यहाँ प्रतिपक्षीने हर्षचरित तथा स्कन्द उपपुराणकी कथाको इकट्ठा जोड़ दिया है—तभी तो वह भ्रान्त हो गया। यहाँ सरस्वतीकी जो स्तुति की गई है, वह देवताकी है, मानुषीकी नहीं। तभी तो उसका प्रकट होना बताया गया। यहाँ

तो सरस्वती नदीकी देवताका वर्णन है। वहाँ पर दधीचमुनिका आश्रम निकट था, अतः उसके नामसे पुत्र सारस्वत दाधीच्र कहा गया है। यहाँ कोई नियोगकी वात भी नहीं। क्या वादी सिद्ध कर सकता है कि नियोग ऐसा हुआ करता है? 'बिल्लीको छिछड़ोंके सपने' आया करते हैं।

यदि 'रमण' का अर्थ 'प्राकृत-मैथुन' है, तो आर्यसमाजिन-कुमारियाँ वा स्त्रियाँ 'सोम ! रारन्धि नो हृदि' इस मन्त्रसे स्वा. द० जीके आर्याभिविनयके किये अर्थके अनुसार सोम-देवतासे प्रार्थना करती हैं कि—'आप हमारे हृदयमें यथावत् रमण कीजिये' तब क्या प्रतिपक्षी उन आर्यसमाजिन कुमारियों वा स्त्रियोंका सोम-देवतासे मैथुन वा नियोग मान लेगा? वही आर्यसमाजिन-कुमारियाँ वा स्त्रियाँ—जिनका आर्यसमाज वेदमें अधिकार मानता है, सोम-देवतासे अपनेमें वीर्यके आधानकी प्रार्थना करती हैं। देखिये—'वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि, बलमसि बलं मयि धेहि'(यजुः १६।६) इस मन्त्रका देवता भी 'सोम' है। तब प्रतिपक्षी अश्विनीकुमार वा ब्रह्मा देवताका जो वीर्य वा बल मानता है, सोम देवताका भी क्या उसी लौकिक वीर्यका आर्यसमाजिन स्त्रियोंमें वह आधान वा नियोग मानता है? यदि ऐसा है, तो प्रतिपक्षीने सभी आर्यसमाजियोंको अपने शब्दोंमें नियोगोत्पन्न सिद्ध कर दिया, क्योंकि—'अश्विना उभा ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु' (अ० १४।१।५४) इस मन्त्रमें, जिसे आर्यसमाजी वर अपनी पत्नीके विवाहमें कहता है, (देखो संस्का० पृ० १५५) यहाँ सोम देवताका तथा अश्विनीकुमारका जिसका वादीने सरस्वती से नियोग दिखलाया है, वे अश्विनीकुमार तथा ब्रह्मा आर्यसमाजिन स्त्रियोंमें प्रजा पैदा करने के लिए वीर्याधानार्थ आ घमके, जो नी० क्षी० वि० के २१७ पृष्ठके अनुसार विना गर्भाधान

के नहीं हो सकता, तो वादीने अपनेको, अपने नेता स्वा० द० को, तथा सभी आर्यसमाजियोंको नियोगोत्पन्न—सोमके वीर्यसे, अश्वियों (अश्विनीकुमारों) के वीर्यसे तथा ब्रह्माके वीर्यसे उत्पन्न सिद्ध कर दिया, उसे शतशः वर्धापन हो।

जो वह (वादी) यहाँ नियोग लाया है, वह असम्भव है। नियोग वादीके मतमें विधवा वा विधुरका होता है। यहाँ सरस्वती क्या विधवा थी? अश्विनीकुमार क्या विधुर थे—इन बातोंमें वादीको प्रमाण देना पड़ेगा। यदि वादी इसमें प्रमाण न दे सकेगा, तो उसका नियोग भी यहां सिद्ध न हो सकेगा? क्या वादी यह भी मानता है कि—दूसरेका वीर्य लेकर दूसरा व्यक्ति किसी स्त्रीको गर्भ कर सकता है? यदि मानता है, तो वह उस दूसरेके वीर्यको अपनी इन्द्रियमें कैसे डालता है, वा उस वीर्यको हाथमें लेकर तब किसी स्त्रीके गर्भाशयमें डालता है? यदि वादी इन बातोंको नहीं मानता, इन्हें असम्भव मानता है, तो स्पष्ट है कि—यहाँ लौकिकता नहीं है, किन्तु अलौकिकता है, न यहाँ प्राकृत वीर्य है, और न प्राकृत मैथुन, न यह कोई नियोग है, न सरस्वती वा ब्रह्मा एवं अश्वी कोई मनुष्य व्यक्ति हैं। इसलिए उसका यहाँका पक्ष गिर गया।

महाशय ! यह तो यहाँ पर देवताओंका वर्णन है। देवयोनि मनुष्यसे भिन्न एक योनिविशेष है। इस पर देखिये—'आलोक' (४)पृ० ४०५ से ४३७ तक। देवताओंमें मनुष्यों-जैसे व्यवहार नहीं हुआ करते, न उनका प्राकृत वीर्य होता है, और न प्राकृत मैथुन। न देवधर्म लौकिक मानुषी धर्म होता है। उनके नियम अन्य होते हैं. मनुष्योंके अन्य। मानुषी धर्म दैवी धर्मसे दूषित भी नहीं होता। महाभारतमें कहा है—'मनुष्यधर्मो दैवेन धर्मेण हि न दुष्यति' (आश्रम० ३०।२३) 'कार्याकार्ये न देवानां शुभाशुभफलप्रदे।

यस्मात्, तस्मान्न राजेन्द्र ! तद्विचारो नृणां शुभः' (मत्स्य पुराण ४८-१०) अर्थात्—देवताओंके कार्य-अकार्य शुभाशुभ फलप्रदाता नहीं। अतः मनुष्योंको उन्हें अपने दृष्टिकोणसे नहीं तोलना चाहिये। एक स्थान 'वीर्य' शब्द है, दूसरे स्थान 'बल'। इससे यहां मानुषी वीर्यसे कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु ब्रह्माजीके बलका वर्णन है। उसीके प्रभावसे उसका अलौकिक-लड़का हुआ। यहाँ यह आलंकारिक वर्णन है। इसका तात्पर्य इतना है कि—सरस्वती नदीके किनारे ब्रह्मा एवं अश्वियोंके सहयोगसे सारस्वतोंकी सृष्टि हुई।

नियोग तो एक प्राचीन शास्त्रीय विधि थी. उसमें मैथुन नहीं हुआ करता है, वा होता था तो विना कामवासनाके। कलियुगमें वह असम्भव है—एतदर्थ 'आलोक' (८) में पृ० ४१८—४८९ में देखें। पर स्वा० द० जीका नियोग तो उनकी सुथरी खोपड़ीकी उपज है, वह तो सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध है। न वह मनुस्मृतिके पूर्वपक्षसे सम्बद्ध है, न महाभारतसे। वह तो स्पष्ट कामवासनाका प्रोत्साहक होनेसे व्यभिचारके साम्राज्यका प्रवर्तक है। इसलिए खण्डित किया जाता है। इसी कारण स्वा० द० जीके बल लगाने पर भी, आर्यसमाजियोंके एतद्विषयक शास्त्रार्थ करने पर भी वह लज्जोत्पादक सिद्ध हुआ है, तभी तो वह आर्यसमाजमें भी चालू न हो सका, दूसरोंमें भला क्यों होता ?

सो यहाँ सरस्वती—नदीके तटपर सारस्वततीर्थमें ब्रह्मा एवं अश्विनीकुमारके प्रभावसे सारस्वतोंकी उत्पत्ति हुई—और सारस्वत सरस्वती देवीसे सम्बद्ध होनेसे बड़े विद्वान् होते हैं—यहाँ इतना ही तात्पर्य निकलता है, यहाँ नियोगको तो कुछ चर्चा वा गन्ध भी नहीं। क्या नियोग कभी ऐसा हो सकता वा होता है—यह वादी ही हृदय पर हाथ रखकर बताये। अश्वी मनुष्य नहीं

थे, देवताओंके वैद्य थे। अतः प्राकृतता वा मानुषिकता न होनेसे यहाँ आक्षेपार्हता भी नहीं। यदि कापड़ी सारस्वतोंसे अच्छे हैं, तो स्वामीजीको यदि किसीने कापड़ी कहा भी है, तब वादी क्यों बिगड़ा ? अब उन्हें कापड़ीकुलभूषण अथवा श्रीदेवरत्नजीकी खोजके अनुसार नियोगज मान ले। तभी तो स्वामीजीने भी कामवासनापूरित नियोगकी सृष्टि की।

जोकि वादी उक्त इतिहासमें गर्भस्राव होना, और गर्भको कलशमें रखना और १०० वर्ष में उस गर्भका पुष्ट होना सृष्टि-क्रमविरुद्ध मानता है, सो स्वयं ही उसने इस इतिहासको गलत सिद्ध कर दिया। तब वह उससे आक्षेप करनेका अधिकारी ही कैसे हो सकता है ? इस सृष्टिक्रमातीत उत्पत्तिसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि—न यहाँ प्राकृत वीर्य था, न वादी का इष्ट प्राकृत रमण था, न प्राकृत उत्पत्ति थी। यहाँ तो अलौकिकता थी, दिव्यता थी। स्कन्दपुराणकी उक्त कथा में सरस्वतीसे दधीचका कुछ भी सम्बन्ध न होने से सरस्वतीके लड़केका नाम सारस्वतदधीच रखने से सरस्वती-नदीके तटपर दधीचमुनिका आश्रम होनेसे उस सम्बन्धके कारण है—इससे स्पष्ट हो रहा है कि-सरस्वतीके तटपर ब्रह्माद्वारा सारस्वतोंकी सृष्टि हुई—यहाँ यह तात्पर्य निकलता है। आगे दधीचका जातुकर्ण्य ऋषिकी कन्यासे विवाह बताया है, सो यह सब पृथक्-पृथक् वर्णन हैं, अपने-अपने ढंगसे यहां सारस्वतों की उत्पत्ति बताई गई है, परन्तु प्रतिपक्षीने अनभिज्ञतावश यह न समझकर अथवा जान-बूझकर भिन्न-भिन्न इतिहासोंको संकीर्ण कर दिया है।

पृ० २१७ "वेदव्यासका नियोग—कहारिनके पुत्र कानीन वेदव्यासने कई बार नियोग किया" इसपर वादी 'आलोक' (८) में 'नियोग और मैथुन' निबन्ध देखे (पृ० ४३८—४७३)। वेदव्यास

की माता उपरिचर वसुकी पुत्री थी, कहारिन नहीं। असत्य बोलने पर प्रतिपक्षीको लज्जित होना चाहिए। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ० ६१७-६२० देखना चाहिये।

पृ० २१८-२१६ (प्र०) "नियोग और मैथुन में श्री दी० श० शा० ने वेदव्यासको ऊर्ध्वरेता और नपुंसक दोनों ही लिखा है; और फिर उनका दासीसे कामोपभोग माना है—यह परस्पर-विरोध है"।

(उ०) उक्त लेखमें उपवेदप्रोक्त षष्ठ क्लैब्य बताया गया है। सर्वसाधारण नपुंसकता नहीं। प्रतिपक्षी इसे छिपा गया है। उसका भाव यह नहीं था कि—वे शुक्रहीन-नपुंसक थे किन्तु वे स्त्रीके सम्भोग-योग्य नहीं थे—यह आशय है और वहाँ पर उनका मैथुन दिखाया भी नहीं गया; अतः परस्पर कोई विरोध नहीं। दासीसे 'कमोपभोग' हमने वादितोषन्यायसे उपक्षिप्त किया था, स्वमतानुसार नहीं।

अपना मत तो हमने उसमें 'वस्तुतः' कह कर दे दिया है। प्रतिपक्षी उसे छिपा गया। इस पर 'आलोक' (८) पृ० ४६१ से ४७३ तक देखिये। हमने उसमें जो ऊहापोह किया था, उसपर प्रतिपक्षी चुप्पी लगा गया। इससे उसने अपने पक्षकी निर्मूलता प्रकाशित कर दी। श्रीवेदव्यासको कहारिनका लड़का वा कहार कहना—यह दयानन्दी प्रतिपक्षीका अपने आपको कहार बनाना है, जो दयानन्दकी आलोचना न सहकर दूसरोंको गाली देता है। मत्स्यगन्धा उपरिचरवसुके वीर्यसे उत्पन्न थी, क्या उपरिचर कहार थे? 'तस्माद् बीजं प्रशस्यते' (मनु० १०।७२) उत्पत्तिमें बीजकी मुख्यतावश, बीजप्रदके ब्राह्मण होनेसे, माताके भी उपरिचरवसुकी पुत्री होनेसे, तदुत्पन्न व्यासको 'अकुलीन' बताना

प्रतिपक्षीका 'नरं कलुषयोनिजम्' (मनु० १०।५७-५८) इस उक्ति को चरितार्थ करना है।

इससे तो वादीको गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्थाका खण्डन करके जन्मसिद्ध वर्णव्यवस्था माननी पड़ जायगी। हमारे पक्षमें उपरिचरवसुकी पुत्री होनेसे जन्मना वर्णव्यवस्थानुसार भी कोई हानि नहीं पड़ती। पराशरकी माता श्वपाकी नहीं थी। भविष्य-पुराणमें तो पूर्वपक्षमें 'वादी भद्रं न पश्यति' इस न्यायसे 'अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेष-परीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः' (न्याय० १।१।३१) इसके अनुसार अपरीक्षितता रख दी थी। प्रतिपक्षी यदि इसमें वास्तविकता समझता है, तो उसे इसमें ऐतिहासिक-प्रमाण देना चाहिये। पराशर-सत्यवतीके योगमें गान्धर्व-विवाह का एकदेश है, उसमें प्रतिपक्षीने 'बलात्कार' का प्रयोग करके ऐतिहासिक वाणीसे बलात्कार किया है। वहां कहीं भी बलात्कार का गन्ध नहीं। इस विषयमें गत पृष्ठ ६११—६३३ देखो। 'सम्बभूव' का अर्थ वहां 'मैथुन' नहीं है, यह हमने 'नियोग और मैथुन' (१) में प्रमाणोपपत्ति द्वारा स्पष्ट कर दिया है। न वहां व्यास द्वारा मैथुन लिखा ही है। प्रतिपक्षीको हमारे निबन्धका खण्डन करना चाहिये था, पर वास्तविकतामें खण्डन कैसे हो सके?

पृ० २२१ 'वेदोंके सभी शब्द यौगिक हैं, रूढि नहीं' इस प्रतिपक्षीके मतके उत्तरमें उसे 'क्या वेदमें केवल यौगिकता है'? यह निबन्ध 'आलोक' (८) पृ० १४१—१६६ में देखना चाहियें।

पृ० २२२ 'मुरुगायमद्य' इत्यादिमें मुर्गा, गाय, मद्य आदिका वर्णन वही समझ सकता है; जिसमें 'तरुतारं रथानां' आदिके स्वा० द० के किये 'ताराख्यं यन्त्रम्'के संस्कार पड़े हों। यह वादी ने डा० श्रीरामके ट्रैक्टसे संग्रह किया है।

(ख) (प्र०) 'चारों वेद-संहिताओंमें कोई अनित्य इतिहास नहीं है।'

(उ०) वादीने वेदमें इतिहास तो मान लिया, हाँ, नित्य इतिहास माना। स० ध० का भी यही मत है कि—वेदमें जो इतिहास है, वह प्रवाहनित्य है। जैसे कि—ऋषियोंके जो नाम तथा उनका कार्य है, यह सभी 'गोत्रं च चरणैः सह' (वा० ४।१।६३) (कठी, बह्वृची) जातिवाचक होनेसे वेद-कालमें अवश्य हुआ करते हैं (महाभारत शान्ति० २३२।२५-२६)

२२७—२२८—२२९ आदि। ब्रह्मपुत्रीसमागम आदिमें वेद मन्त्रोंके संकेतका उद्धरण इसलिए दिया जाता है कि—वादी जो अर्थ वेदमें करेगा, वही पुराणमें भी हो जाएगा। पं० माध० जी ने वहां ब्रह्मदुहितृ कथाका सूर्यपरक ही अर्थ लगाया है। वेद एवं पुराणमें त्रिविध अर्थ होनेसे इस कथाका यथाश्रुत अर्थ करने पर भी यहाँ अर्थवाद होनेसे यह भी आशय सिद्ध होता है कि—पुत्रीके विषयमें पितापर भी सर्वथा विश्वास नहीं कर लेना चाहिये; अन्य पुरुषका तो कहना क्या? ऐसे विचार कभी किसी की हानिके लिए नहीं, यहाँ कामकी दुर्निवारता सूचित की गई है, उससे सावधान रहो-यह शिक्षा भी साथ दी जाती है। इस प्रकार अन्य कथाओंमें भी समझ लेना चाहिये।

वेदमें जहां यज्ञोपवीत आदिका पूरा वर्णन भी नहीं मिलता; अतएव वहां केवल उसका संकेत देख लेना पड़ता है, इस प्रकार पौराणिक-कथाओंका भी वेदमें संकेतमात्र ही देखा जाता है। फिर जो अर्थ वादी वेदका करेगा; जो वहाँ कल्पना करेगा, वही पुराणमें भी कर ले। बात श्रद्धाकी होती है। ईसाई-मुसलमानों की वेदमें श्रद्धा नहीं होती, वे उसमें 'धियो यो नः प्रचोदयात्' आदिका अश्लील अर्थ कर रहे होते हैं, वही बात वादी पुराणमें कर रहे हैं।

'ब्रह्म-दुहितृसमागम' (आलोक (७) पृ० २२६) वृन्दाविष्णु-समागम (पृ० २२९) कृष्ण-कुब्जासमागम (२२३) विष्णुका अपनी माता, शिवजीका अपनी भगिनीको भार्या बनाना (पृ० २३८) चन्द्रमाका गुरुपत्नीगमन (पृ०२४४) श्रीकृष्णका अर्जुन (?) में गर्भाधान (पृ०२४८) इनमें वादीसे उपक्षिप्त कई बातें गलत हैं; अन्योंका रहस्य वा समाधान 'आलोक' (६-७) पुष्पोंके पूर्वोक्त पृष्ठोंमें देखिये। सबकी सूझें एक—जैसी हों; यह तो अनिवार्य नहीं होता। यह कोई उपालम्भकी बात भी नहीं होती।

प्रतिपक्षीने 'देहवान् प्रभवत्येव विकारैः संयुतः सदा' यह दे० भा० का पद्य उद्धृत कर लिखा है—'ब्रह्मा देहधारी पुरुष थे, जिनका कुकर्म छिप नहीं सकता (पृ० २२९) यह मानकर प्रतिपक्षीने देहवान् अपने औदीच्य—ब्राह्मणजी (स्वा० द०) को भी कुकर्मा सिद्ध कर दिया।

बधाई हो, फिर स्वा० द० के दोष दिखलाने वाले श्रीअखिलानन्द-श्रीकालूराम-श्रीमाधवाचार्यशास्त्री आदिसे वादीकी लड़ाई क्यों? अथवा स्वा० द०जी के देहमूलक कुकर्म उनके जीवनचरित्रों में छिपा दिये गये हैं; तो स्वा० द० जीके जीवन-चरित्र झूठे सिद्ध हुए।

यदि वादी यह नहीं मानता, तो उसका इस पद्यको देनेमें कोई अधिकार नहीं। हमारे मतमें दे० भा० का वचन देवीकी अर्थवाद से स्तुति और विष्णु आदिका अर्थवादसे निन्दाद्यर्थक होनेसे उनका तात्पर्यमात्र लेना चाहिये, अर्थात् देवीका भक्त देवीकी पूजा करे, अन्यकी नहीं-यह तात्पर्य है।

२५४ 'वेदोंमें कोई शब्द रूढि नहीं है, वरन् सब यौगिक शब्द हैं' इसपर देखो 'आलोक' (८) पृ० १४२-१६६।

पृ० २६७ 'मैं डंकेकी चोट कहता हूँ कि—ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं, वरन् वेदोंकी व्याख्याभाग है। 'वेदसंज्ञाविमर्श' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। यदि आपमें पाण्डित्य हो तो आलोचना करें, उस ग्रन्थके प्रणयनमें मेरा भी हाथ है।'

'ब्राह्मणभागकी वेदता' पर 'आलोक' (६) पृ० ४४ से १७८ तक देखें।

'वेदसंज्ञाविमर्श' का संक्षिप्त खण्डन इस पुष्प (पृ० ७६६—८२२) में दे दिया गया है। उसमें मेरी थोड़ी ही युक्तियोंको आलोचित किया है, शेष सारा भाग वैसा ही अक्षत पड़ा है। उस आलोचनाका भी यहाँ प्रत्युत्तर दे दिया गया है।

पृ० २६९ 'पराशर ऋषिका कुमारीके साथ बलात्कार' इसकी प्रत्यालोचना गत पृष्ठों (६११-६३३) में देखिये।

२७० 'सत्यवती निश्चित केवट-कन्या थी। श्रीसत्यव्रत सामश्रमी कहते हैं—'धीवरीगर्भजस्य वेदव्यासस्य त्रिप्रत्वमुपपद्यते' (ऐतरे० आ० पृ० १३)

(उ०) प्रतिपक्षी साध्य प्रमाण दे दिया करता है। उसका इतिहास महाभारत—जिसे वादी भी प्रमाण मानते हैं—में है। तदनुसार वह उपरिचरवसुकी कन्या थी। क्या वसु केवट थे? केवटने उसे पाला था; अतः धर्मपिता होनेसे कहीं उसे निषादजा वा दाशसुता कहा जाता है, पर कोई भी इतिहास उसे केवटके वीर्यसे उत्पन्न नहीं बताता।

स्वा० द० जीके वैदिक (?) मतके अनुसार धाय छः दिनके बाद लड़का-लड़कीको पालती है, तब क्या वादी उस लड़की-लड़केको धायकी सन्तान मान लेगा तब तो धायने लड़का-लड़की के कुलको ही उच्छिन्न कर दिया। तब तो राना उदयसिंहको पन्ना-धायका लड़का मान लेना पड़ेगा। इस विषयपर गत पृष्ठों

(६१७-६२३) में देखें। जब वादी पुराणको अप्रमाण मानता है, तब वह इस विषयमें शिवपुराणका प्रमाण देनेमें अधिकृत नहीं। महाभारतने इस विषयमें स्पष्टता तथा वास्तविकता प्रकट कर दी है। इस विषयमें 'आलोक (३) पृ० २८२-२८३ में देखें। सामश्रमीने धीवरीगर्भज उसे निर्मूलतासे कहा है। शिवपुराणमें पालक पिताके कारण उसे 'निषादजा' कहा है। अयोनिज सीता को भी उपचारसे पालक-पिताके नामसे 'जनकात्मजा' कहा है; जबकि वह उसकी औरस लड़की नहीं थी।

पृ० २७२—२७७ श्रीकृष्णविषयक विचार 'आलोक' (६) पृ० ५१३-६८७ तथा गत पृष्ठों (४९४–५०२) में देखें। श्रीमद्भागवतके कई पद्य वादीने दिये हैं और पौराणिक-पण्डितोंकी टीका भी उसमें उद्धृत की है, अब तो वादीकी पुराण वा पौराणिकोंमें भक्ति जाग उठी।

अब वह पुराणप्रोक्त श्रीकृष्णकी ६-७ वर्षकी अवस्था तथा उनका भगवान् होना मानले, तब उसकी यह सब लघुशङ्काएं सूख जाएंगी। अब वादी अपने दिये पद्योंका अर्थ सुने—'सिञ्चाङ्ग! नस्त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोककलगीतज-हृच्छयाग्निम्' (१० २९।३५) तुम्हारी मुसकान, दर्शन एवं मधुरगीतसे हृदयमें प्राप्त (हृदि शेते-इति हृच्छयः, अग्निः तम् अग्नि (कामनारूप ताप) को अपने अधरामृतको पूर्ण करने वाले वचनसे सींचो अर्थात् बुझाओ।

यही बात 'त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुष भूषण देहि दास्यम्' (३८) इस पद्यमें भी कही है कि नहीं तो हम विरहाग्निसे जलकर तुम्हारी चरणोंकी दासी बनेंगी। यहाँ 'तीव्रकामतप्तात्मनाँ' का किसी टीकाकार द्वारा लिखे हुए 'कामाग्नि' शब्दका अर्थ 'कामनारूप ताप' है। यहां बुरा भाव कुछ भी नहीं।

विलासवाली कामाग्नि क्या अधरसे बुझ जाती है? 'हम योगी पुरुषोंकी नाईं ध्यानसे तेरे चरणोंमें पहुँचेंगी' इस कथनसे यहाँ प्रेममयी भक्ति स्पष्ट हो रही है। 'तव पादरजः प्रपन्नाः' (३७) 'वृजिनार्दन! (पाप दूर करने वाले)। तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ताः… त्वदुपासनाशाः' (३८) (हम तेरी उपासनाकी आशासे तुम्हारे चरणोंमें पहुँची हैं।' 'देहि दास्यम्' (२९।३८) 'भवाम दास्यः' (३९) 'करसरोरुहं…शिरसि धेहि' ३१।५) इत्यादि बहुतसे श्लोकोंसे जिनसे गोपियोंकी उपासनाभक्ति स्पष्ट हो रही है, जनताकी दृष्टिसे छिपाकर प्रतिपक्षी मध्यके प्रकरणत्रुटित पद्य अनुसन्धाविग्रहित जनताके भ्रमके लिए देकर पाप कमा रहे हैं। विलासमें ऐसी बातें नहीं हुआ करतीं।

'भगवान् कृष्ण उन व्रज-बालिकाओंके साथ खेलने लगे' वादीसे समर्थित इस अनुवादसे स्पष्ट हो रहा है कि—वे छोटी लड़कियाँ थीं। उनके साथ हंसी आदि की क्रीड़ा हो रही थी। अन्य यहाँ कुछ भी नहीं। छोटी बालिकाओंके स्तन वादी जान सकता है—जो जन्मसे ही होते हैं, उनके आधारसे यहाँ 'छाती' अर्थ है। यहाँ यौवनके कुचोंका वर्णन नहीं।

श्रीकृष्णकी भी ६-७ वर्षकी आयु वहाँ लिखी है, 'नन्दव्रजकुमारिकाः' (भाग० १०।२२।१,१७) इस शब्दसे व्रजबालाओंकी भी यही अवस्था सूचित की गई है। प्रतिपक्षी स्वयं मानते हैं कि पुराणकालमें ८ वर्षकी लड़कियोंका विवाह हो जाता था, पर यहाँ 'कुमारिकाः' कहनेसे वे ८ वर्षसे छोटी सिद्ध हुईं। जब ऐसा है, तो प्रतिपक्षी पृ० २७५में उस अवस्थाको मनगढन्त कैसे कहता है? इसलिए कि—इससे उसका निराधार बनाया हुआ महल गिरता है? ऐसी बचपनकी विशुद्ध क्रीड़ाएं हुआ ही करती हैं। और फिर वादी जिस पुस्तक पर आक्षेप करता है, तब उसी पुस्तकको लिखी हुई आयु न मानकर क्यों वह वदतोव्याघातको प्रश्रय दे रहा है? उसी आयुके अनुसार अर्थ करे।

इससे वादीकी श्रीकृष्णविषयक कलुषित-भावना खण्डित हो गई। श्रीधरी टीका भी रासलीलाको 'निवृत्तिपरा' मानती है। शृंगारका तो वहाँ अपदेश (बहाना) ही माना गया है, वास्तविकता नहीं—यह उस टीकामें स्पष्ट है। यह वहांके शब्द हैं—'शृङ्गारकथाऽपदेशेन विशेषतो निवृत्तिपरा इयं (रास) पञ्चाध्यायी—इति व्यक्तीकरिष्यामः' (१०।२९।१)। 'भगवत एवंरूपा अभिव्यक्तिः, अतो न देहिसादृश्यमत्र वक्तुं युज्यते इतिभावः' (२९।१४)। 'अभिरमिता—आनन्दिताः' (३६) 'तद्विलासानभिभूतस्येन रतौ दृष्टान्तः, यथार्भक इति। स्वप्रतिबिम्बैर्विभ्रमः—क्रीडा यस्य स इव। अनेन एतद्दर्शितम् स्वीयमेव सर्वकलाकौशलं सौगन्ध्य—लावण्यमाधुर्यादि च तासु संचार्य ताभिः सह रेमे' यथाऽर्भकः स्वप्रतिबिम्बैरिति (३३।१७)

वादीने २७३ पृष्ठमें यह टीका उद्धृत की है—'हे दुःखहरण! योगीजनोंकी भांति हम भी घर-बार छोड़कर आपकी सेवाकी आशासे आपके चरण-कमलोंमें आई है।' इसमें भी विलासकी वात कुछ नहीं। योगियोंका भी भगवान्की प्राप्तिका काम (कामना) हुआ करता है अपने प्रियतम भगवान्के विरहमें वे भी उस कामनामें सन्तप्त, तन्मय होते हैं। वादी अपने दिमागसे गन्दगी हटाकर उसे स्वच्छ करके विचार करे कि—क्या विलास को बातें ऐसी होती हैं? श्रीकृष्ण इस समय ६-७ वर्ष के थे। दस वर्ष के बाद वे व्रज छोड़कर मथुरा चले गये। वहाँ उनका क्षत्रियवर्णके अनुसार ११ वें वर्षमें उपनयन हुआ और आचार्यकुलमें उनका प्रवेश हुआ। यदि वादी श्रीकृष्णमें मनुष्यबुद्धि करे तो ६-७ वर्षके बच्चेमें सैकड़ों स्त्रियोसे विलास तो क्या, किन्तु

विलासका विचार भी उसमें असम्भव है। यदि वह ब्रह्मबुद्धि करे, तब तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। 'सुरतवर्वनं' (प्रेमका बढ़ाने वाला) इत्यादि पदोंका अर्थ ४९६ पृष्ठमें देखें।

पृ० २७७ 'आप्तकामो यदुपति': इत्यादि पद्य परीक्षित्‌का जनदृष्टिसे पूर्वपक्ष है, आगे उत्तरपक्षमें वादितोषन्यायसे विशदीकरणपूर्वक समाधान करके अन्तमें वास्तविक समाधान कर दिया है। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ० ६८३—६८४—६८५ देखें।

(ख)'धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः' यह वचन 'यद् यदाचरति श्रेष्ठः' इस श्रीकृष्णभगवान्‌के वचनसे विरुद्ध भी नहीं है। क्योंकि-'यद् यदाचरति श्रेष्ठः' यह कोई विधिवाक्य अथवा आज्ञा नहीं। इसका बाधक तथा विधिवाक्य तो 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याऽकार्य-व्यवस्थितौ' (१६।२४) यह भगवद्गीता-वचन तथा 'नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः' (१०।३३।३१) यह भागवतका वचन है।

वादीके स्वामी अपने समयमें भाँग पीते थे, हुक्का पीते थे, नसवार लेते थे, बाल्यावस्थामें उन्होंने मूर्तिपूजा भी की थी—यह इतिहास है; पर इस ऐतिहासिक-आचरणको न तो आर्यसमाजी अनुकर्त्तव्य समझते हैं, न इससे स्वामीकी निन्दा ही करते हैं। 'तेजीयसां न दोषाय' तेजस्वियोंकी उससे हानि नहीं होती, जैसे महादेव विषपानसे भी मृत्युको प्राप्त नहीं हुए (श्रीमद्भा०१०।३३।३०)परन्तु उसका अनुकरण करने वाले साधारण-पुरुषोंकी उससे हानि हो जाती है—यह बताकर लोकोत्तर आचरणका करना निषिद्ध कर दिया गया है। यदि वहाँ वादीसे उपस्थापित पूर्वपक्षका पद्य माननीय है, तो कोई कारण नहीं कि—उसका 'तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः'(१०।३३।३५) 'गोपीनां तत्प-

तीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्। योन्तश्चरति सोध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्' (३६) इत्यादि उत्तरपक्षके पद्य भी माननीय न हों। वादी अर्धजरतीय-न्यायको क्यों आश्रित करता है?

श्रीकृष्ण पर जो प्रतिपक्षी लोग दोष देते हैं; इसमें उन्हींकी अपनी आँखोंका दोष है। उनका ब्रह्मचर्य तो सर्वत्र प्रसिद्ध है। 'जैमिनीय-अश्वमेध' में श्रीकृष्ण भगवान्‌की यह घोषणा थी—'शृण्वन्तु सर्वे वचनं मदीयं मन्त्रसंयुतम्। यद्यहं ब्रह्मचर्येण न भग्नो भूतले सदा। तेन मे सुकृतेनाद्य पार्थस्यायातु तच्छिरः। यैर्नीतं ते पतन्त्वद्य भिन्नशीर्षा मदाज्ञया। एवं ब्रुवति देवेशे विनष्टौ धृतराष्ट्रजौ। पाण्डवस्य शिरः प्राप्तं तदा मणिपुरे नृप! (४०।११-१२-१३) यहाँ श्रीकृष्णके इस वचनसे कि-यदि मेरा ब्रह्मचर्य न टूटा हो तो अर्जुनका मस्तक आजावे, और उसके हरने वालोंका मस्तक फट जाय। ऐसी ही बात पूर्ण हुई। इस प्रकारके वचनसे गर्ग-संहिता आदिके अनुसार चढ़ी हुई यमुना भी नीची हो गई। इस प्रकार मृतक परीक्षित्‌का जीवन भी ऐसे श्रीकृष्णके वचनसे हो गया। तब प्रतिपक्षी लोग श्रीकृष्णभगवान् पर दोष देते हुए शोचनीय हैं नियोगसम्भृतमस्तिष्क सेबुरे भाव मनमें रखकर भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रको देखते हैं; तब उन्हें बुरे भाव ही सूझें—यह स्वाभाविक है।

आगे पृ० २७७ से २८४ पृष्ठ तक दयानन्दी-प्रतिपक्षीने दयानन्दियोंकी बनाई हुई पुस्तकोंसे स्वा० द० जी की प्रशस्ति की है, वह तो स्वयं साध्य है। उसे हम क्या करेंगे? दुकानदारी चल निकली है। दुकानके नौकरोंको उससे कुछ निर्वाह भी मिल जाता है, प्रशंसा भी। तब वे खुशामद न करेंगे, तो अन्य क्या करेंगे? 'परस्परं प्रशसन्ति, अहो रूपमहो ध्वनिः।' इससे तलस्पर्शी विद्वानोंकी दृष्टिमें स्वामीका महत्त्व सिद्ध नहीं हो जाता। अज्ञानी

लोगोंकी दृष्टिमें भले ही कुछ महत्त्व बढ़े, पर उसका कुछ भी मूल्य नहीं। वादीकी प्रकृति यह देखी गई है कि —वह अपने ही आज-कलके व्यक्तियोंके साध्य प्रमाण संगृहीत कर देता है। इन्हीं आर्यसमाजी पर्चा मतावों द्वारा की गई स्वा० द० जी की प्रशस्तिमें प्रतिपक्षीने पुस्तक समाप्त कर दी है। आश्चर्य है कि—आर्यसमाजियोंके इन पद्योंको प्रतिपक्षीने प्रमाण मानकर अपने पक्षकी सफलता समझ ली है! हमने प्रतिपक्षीके प्रमाण-वादपर संक्षिप्त विवेचना दे दी है। जो पुराने प्रमाण उसने पुरानी आर्यसमाजी पुस्तकोंसे उद्धृत किये हैं, उनकी हमने 'आलोक' के जिस पुष्पमें विवेचना दी है, वहाँ पुष्प-संख्या तथा पृष्ठसंख्या दे दी है। जिन प्रमाणों पर विचार गत पुष्पोंमें नहीं आया, उनपर यहां विवेचना दे दी है। आगे मालूम नहीं, कब फिर समय मिलता।

'नीरक्षीरविवेक' करने वाला हंस निर्मल मानस-निवासी होता है, पर यह गन्दी गालियोंकी नालीमें रहने वाला हंसवेष-धारी (हंससे उल्टा सिंह) भला 'नीरक्षीरविवेक' कैसे कर सकता है—यह स्पष्ट है। यह विद्वान् पाठकोंने भी अनुभव कर लिया होगा।

आरम्भिक (आवश्यक सूचना) में प्रतिपक्षी 'श्रीसनातन-धर्मालोक' का भी 'मुंहतोड़ उत्तर' बताता है, पर यह अनुसन्धानहीन जनताकी आंखोंमें धूल झोंकना और असत्यभाषण है। 'आलोक' के किसी भी युक्ति-प्रमाणका वह खण्डन नहीं कर सका है। सत्यका खण्डन भला कैसे किया जासकता है? अब स० ध० पर प्रतिपक्षीकी गोलाबारी निस्सार सिद्ध हो जानेसे यह निबन्ध पूर्ण किया जारहा है।

(१८) 'विष्णुपुराण-आलोचना' समीक्षा।

इसके बाद हमें 'विष्णुपुराणकी आलोचना' (ले० श्रीविद्यार्थी) मिली है। इसमें कुछ विशेष उत्तरणीय तो प्रतीत नहीं होता। कुछ थोड़ा सा लिख देते हैं; इसे यों ही क्यों छोड़ा जावे? इसमें १ 'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं' (पृ० ३७७-३८५)। २ 'भवत्याः पतयो दश' (पृ० ८८५-८८९)। ३ भविष्यपुराणमें अंग्रेजी (६।६४६—४७)—४ धूम्रपान (७।६०—६५)। ५ 'धूर्तैः पुराणचतुरैः' (१२१-१३१) इत्यादिका उत्तर ६—७ पुष्पों में जिनकी पृष्ठ संख्या लिख दी है—दिया जा चुका है। ६ श्लोकोंकी संख्याभेदका कारण कल्पभेदवश है। वेदकी महाभाष्यकारने ११३१ संहिताएं बताई हैं। यदि कालक्रमसे अब नहीं मिलती हैं, तो इसमें वेदको कोई दोष नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार यदि विष्णुपुराणकी श्लोक-संख्या पूरी नहीं मिलती, तो उतना भाग लुप्त हो गया समझना चाहिए। मुसलमानी जमानेमें हमाम गर्म होनेमें हमारा बहुतसा साहित्य नष्ट हो गया है। यदि अधिक होता, तो वादी उसमें प्रक्षेप कह सकता था।

७ 'वेदानां भ्रमभञ्जनम्' का अर्थ है—वेदके सम्बन्धमें जो कई लोगों को भ्रम होते हैं, पुराण उनका निराकरण कर देता है। ८ 'भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः' में भविष्यत् लकार होनेसे पुराण की प्राचीनतामें प्रहार नहीं पड़ता। ९ 'पुराण' का अर्थ श्रीयास्कने लिखा है—'पुरा नवम्'। परमात्माका भो 'पुराण' यह नाम आता है। तब उसका 'पुरा न' अर्थ कर देना विद्यार्थीको संस्कृत-योग्यतामें अपूर्णता बता रहा है। इसके अर्थमें कोई भी प्रमाण नहीं। १० 'अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः' में 'कर्ता' का अर्थ 'वक्ता' है। 'कृ' धातुका प्रवचन अर्थ

अष्टाध्यायी (१।३।३२) में प्रसिद्ध है। श्रीव्यासजी पुराणोंके सम्पादक हैं। स्वा० द० आदि तथा उनके कुछ पिछलगुआओंके पुराणके विषयमें प्रमाण साध्य हैं—सिद्ध नहीं। ११ मनुस्मृति भी सृष्टिकी आदि में बनी है. पुराण तो अनादि चले आ रहे हैं, अतः इनके पद्य एक-जैसे मिल जावें, इसमें कोई दोष नहीं आता। मनुस्मृति (३।२३२) में पुराणोंका नाम भी आता है, अतः उनसे भी मनुस्मृतिमें 'आपो नारा' यह पद्य लिया जा सकता है।

१२ ध्रुवकी तपस्यासे भूकम्प, सौ योजन ऊंचा महल आदि यदि प्रतिपक्षीकी समझमें नहीं आता, तब उसे वह अतिशयोक्ति अलंकारका उदाहरण समझ ले। अतिशयोक्ति एक अलंकार होता है, दोष नहीं। अतिशयोक्तिका 'त्वद्वारितारि' इत्यादि उदाहरण 'वाग्भटालंकारमें दिया गया है। उसका अर्थ यह है। एक कवि राजा को कह रहा है-कि हे राजन्! तुमने जो शत्रुओंको मारा, उससे उनकी विधवा होगई स्त्रियोंकी साँसें बहुत वेग से चलने लगीं। उससे तूफान बन गया। उससे पहाड़ भी टकराने लगे। इससे क्षीरसमुद्रमें सोये हुए विष्णु भगवान्की नींद उखड़ गई। इस उदाहरणको विद्यार्थीजी यदि याद रख लें, तो उन्हें कभी घबराहट न हो। अलंकार वा अर्थवादमें शब्दार्थ न देखकर उसका तात्पर्यमात्र देखना पड़ता है। तपस्यामें कितनी बड़ी शक्ति होती है, इसकेलिए मनुस्मृतिके ११।२३८ आदि पद्य देखने चाहिएं। कादम्बरीमें शबरोंकी मृगयाके समय दौड़नेमें भूकम्प बताया गया है। यह अलंकार ही तो है, दोष नहीं। तब उसकी निन्दा करनी अपनी साहित्यिक—अनभिज्ञता बताना ही है, और फिर दैत्यलोग देवयोनि होनेसे देवोंकी शक्ति मनुष्यों से बढ़कर होने से (देखो 'आलोक' ४ पुष्प) उनके बड़े—बड़े मकानों में सन्देह करना अपना अल्पश्रुतत्व प्रकट करना है। मसूरीमें

पहाड़ पर मकान हैं, उनको भूमिसे नापा जावे, तो वे कितने ऊँचे सिद्ध हों।

१३ आकाशसे धनुषबाणकी वृष्टिमें क्या सन्देह है। आकाशमें ही द्युलोक है; उसमें जैसे राकेट आने-जानेका प्रयत्न कर रहे हैं, वैसे शक्तिशालीके धनुषबाण भी गिर सकते हैं। नारायणके अवतार पृथुमें आठ प्रकारका ऐश्वर्य होनेसे उसका समुद्र वा पर्वत पर आधिपत्यमें सन्देह होना योगशास्त्रमें वादीका अनभिज्ञत्व सूचित करना है। अणिमा आदि आठ सिद्धियोंको आक्षेप्ताके दादा-गुरु स्वा० द० भी अपने वेद-भाष्यमें मान गये हैं। फिर असम्भवका प्रश्न ही नहीं रहता। परन्तु 'गुरु तो गुड़ चेला चीनी हो गये' यहां चेलाजीने इस न्यायको चरितार्थ किया है।

१४ बहुतसे पुत्रोंकी उत्पत्तिके विषयमें 'आलोक' (६) पृ.७४७ से ७६३ तक देखें। १५ इन्द्रमें आठ प्रकारकी अणिमा आदि वादिप्रतिवादिसम्मत सिद्धि होनेसे उसका 'अणिमा' नामक ऐश्वर्यसे सूक्ष्म शरीर धरकर गर्भमें चला जाना आश्चर्यजनक नहीं है। १६ पुराणोंमें केवल इस भूगोलका वर्णन नहीं है, किन्तु १४ भुवनोंका वर्णन है। तब आवश्यक नहीं कि—देवपर्वत सुमेरु विद्यार्थीको यहीं मिल जावे। इन तारा-मण्डल वा चन्द्रमा आदिमें भी बड़े-बड़े पहाड़ वा समुद्र एवं वृक्ष हैं। विद्यार्थीजीको कूपमण्डूक न बनकर अपनी तंग एवं रूक्ष बुद्धिको विशाल एवं चिकना बना लेना चाहिए, जिससे उपस्थित-विषयका उसमें सुखपूर्वक प्रवेश हो जावे।

१७ 'तृप्तय जायते पुंसो' यह जो श्राद्धका खण्डन प्रतिपक्षीने उद्धृत किया है, यह तो वहाँ पूर्वपक्ष है, उत्तरपक्ष नहीं। यदि पूर्वपक्षको ही सिद्धान्त माना जावे, तो सत्यार्थ-प्रकाशके पूर्वपक्षमें नियोगको 'वेश्याकर्म' पापकी बात माना है। फिर पूर्वपक्षको

मानने वाले विद्यार्थीजी 'नियोग' को वेश्याकर्म' मान लें। वहाँ यह मत दैत्योंका दिखलाया गया है। स्वा० द० जीने स० प्र० में इसे नास्तिकोंका मत बताया है। मालूम नहीं कि—गुरु एवं चेले चार्वाकको इस युक्ति पर रीझकर क्यों दैत्य एवं नास्तिकके पक्षके बनना चाहते हैं। हमने इसका प्रत्युत्तर 'आलोक' (४) में श्राद्धविषयक शङ्काओंमें सम्यक्तया दे दिया है। प्रतिपक्षी वहाँ पर देखे।

१८ सामवेदकी ध्वनिविषयमें प्रतिपक्षी स्वमान्य मनुस्मृति देखे (४।१२४)। १९ 'गङ्गागङ्गेति यैर्नाम योजनानां शतैरपि' यह कथन अर्थवाद है। इसका तात्पर्य गङ्गाकी पवित्रता में है। तभी वेदमें भी 'इमं मे गंगे' (ऋ० १०।७५।५) इत्यादि मन्त्रमें गङ्गाको गौरवास्पद प्रथम पद दिया है। २० श्राद्धमें माँस माँस-भक्षियोंके लिए है। यह घटिया पक्ष है। मुनियोंके अन्नको उत्तम माना गया है। इसमें कोई विरोध नहीं। प्रकृतिके त्रिगुणात्मक होनेसे प्रकृतिकी सन्तानभूत पुरुषोंके लिए भी भिन्न-भिन्न प्रकारको व्यवस्थाएँ दिखलाई जाती हैं। इसका नाम विरोध नहीं होता। हमारे शरीरमें भी वात-पित्त-कफ यह तीन विरुद्ध पदार्थ रहते हैं। तब क्या विरुद्ध-धर्म वाले शरीर को भी छोड़ देंगे ?। २१ पुराणोंमें विचित्र उत्पत्तियाँ अयोनिज हैं। अयोनिज शरीरों की सिद्धि वैशेषिकदर्शन आदिमें प्रसिद्ध है। २२ 'श्रीकृष्ण वालके अवतार' इस विषयमें इसी पुष्प में विचार किया जा चुका है।

२३ ईश्वरका स्वरूप निराकार तो सनातनधर्म भी मानता है। 'निर्'से आकारका अभाव इष्ट नहीं, किन्तु अनिर्वचनीयता इष्ट है; अतः स० ध० साकार-निराकार दोनों रूप मानता है। तब स० ध० के आगे निराकारके प्रमाण दिखलानेकी आवश्यकता

नहीं। हाँ 'ईश्वर साकार नहीं हो सकता' प्रतिपक्षी ऐसे प्रमाण ढूंढा करें। इस विषयमें 'आलोक' चतुर्थ पुष्प देखें। २४ बुद्ध विष्णुके एक अवतार हैं। सो यदि पुराणमें बुद्धावतारका भी भविष्यत्रूपमें निरूपण आ गया है; तो कोई दोष नहीं। पुराणमें कल्की अवतारका भी निरूपण आया है, वह अभी कई लाख वर्ष के बाद कलियुगके अन्तमें होगा। जब उस कल्कीका भी वर्णन पुराणोंमें आता है, तो बुद्ध-अवतारके वर्णनमें भी कोई दोष नहीं आता।

२५ बिन्दुमतीकी ५० कन्या उत्पन्न होनेसे उत्पादकको प्रतिपक्षीने कामी बताया है। '१० सन्तानसे अधिक उत्पन्न करने वाला कामी होता है; ऐसा वेदमन्त्र तो प्रतिपक्षीने कहीं बताया नहीं। 'दश स्यां पुत्रानाधेहि' यह मन्त्र प्रतिपक्षीके स्वामीके अनुसार ११ पतियोंको कहा जाता है; तब यदि उन सबके एक स्त्री से दस-दस लड़के होते रहे, तो उसी एक स्त्रीसे १०० से अधिक लड़के हो जाएंगे, अथवा यह वेदमन्त्र असत्य हो जायगा। तब क्या उन वैदिक लड़कों वाली एक स्त्री कामिनी होगी—वा नहीं ? यदि हाँ, तब पुराण पर ही दोष क्यों ? दो-तीन प्रसवोंमें भी डिम्बाणु एवं शुक्राणुके कारण ५० सन्तान हो सकते हैं। जैसे धृतराष्ट्रकी स्त्री गान्धारीके एक ही प्रसवमें १०० लड़के हुए। इस विषयमें 'आलोक' (६) में 'बहु-सन्तान' विषय देखना चाहिए।

२६ मन्त्रसे भी विषचिकित्साएं हुआ करती है—यह तो उपवेद आयुर्वेदमें वर्णन आता है। इसमें नर्मदाके जलकी विषहर शक्ति सूचित की गई है। २७ श्रीकृष्ण—भगवान्‌की रासक्रीड़ाके विषयमें 'आलोक' (७) देखिये। उनकी १६१०८ रानियां थीं, इसे वादि-प्रतिवादिमान्य महाभारत भी बताता है। इस विषयमें 'आलोक' का छठा पुष्प देखिये। २८ 'नक्षत्रसूचककी निन्दासे

फलित-ज्यौतिषका खण्डन न होकर मण्डन ही हुआ। २६ आर्य-हिन्दुके विषयमें 'आलोक' चतुर्थ पुष्पमें 'हिन्दु शब्दका महाभाष्य' देखिये। हमारा यह लेख पहले 'सिद्धांत' में छपा था। 'क्यों (२)' पुस्तकमें उसी का सार वहींसे लेकर दिया गया है।

२६ शेष जो नमरते, आर्य, नियोम, सन्ध्याके काल, ईश्वरका स्वरूप, उर्वशोको देखकर रेतः पात, 'कृष्णं गोपाङ्गना रात्रौ रमयन्ति' आदिका समाधान हमारे 'आलोक' के भिन्न-भिन्न पुष्पोंमें किया जा चुका है। प्रतिपक्षी जरा निष्पक्ष होकर उनका अध्ययन करे, तो उसके सब सन्देह दूर हो जायेंगे। 'देर है अंधेर नहीं'।

शेष कई बातोंका महत्त्व न होनेसे उन्हें उपेक्षित कर दिया गया है। यह पुष्प जितना सोचा गया था, उससे बड़ा हो गया। इसमें पुराण-इतिहास आदिमें प्रतिपक्षियोंकी ओरसे जो आक्षेप किये जाते हैं-उनका प्रायः प्रत्युत्तर हो गया है। जो कई बातें यदि बच गई हैं,तो उनका समाधान अन्य पुष्पमें दिया जायगा। अब परिशिष्टमें कई पौराणिक घटनाएं दिखलाकर यह पुष्प समाप्त किया जायगा। अष्टम पुष्प भी मुद्रित हो गया है। उसमें वेद-विषय, वेदोंके शब्द रूढ हैं, या यौगिक ? वेदार्थके साधन, तथा वर्णव्यवस्था, नियोग, विधवाविवाह, तलाक आदि विषयों पर विचार दिया गया है। पाठकगण इन पुष्पों का प्रचार कर—कराके अग्रिम पुष्पोंके प्रकाशन में सहयोग दें।

परिशिष्ट

(२)पुराणोंको सत्य सिद्ध करने वाली घटनाएं

(पुराण सनातन हिन्दुधर्मके प्राण हैं। उन्हींके होनेसे हिन्दु-जाति अभी तक जीवित है। नहीं तो मुसलमान अपने राज्यके समयमें, और ईसाई वा अंग्रेज अपने राज्यके समयमें हिन्दुजाति को निगल लेते। ऐसे साक्षात् भगवत्स्वरूप पुराणोंकी जिस समय अज्ञानी प्रतिपक्षी निन्दा करते हैं और उन्हें पोपोंकी बनाई गप्पें बताते हैं तो बड़ा खेद होता है। हमारे सैकड़ों प्राचीन ग्रन्थोंको मुसलमान बादशाहोंने फूंककर राख कर डाला। महीनों उनसे अपने हमाम गर्म करते रहे। उनमें जो कुछ वेद एवं उनके भाष्य-भूत पुराण, गीता, रामायण आदि बचे, प्रतिपक्षी इनमें भी प्रक्षिप्तताका आविष्कार करके इन्हें भी मिटाने पर तुले हुए हैं। जिस गीताका आज सारे विश्वमें मान हो रहा है और जिस गीताको सर्वोपरि ग्रन्थ माना जा रहा है, जर्मनी, इंगलैंड, अमे-रिका आदि विदेशोंमें भी जिसके लाखों भक्त हैं; उसी गीताको कई ईर्ष्यालु समाप्त करनेके लिए जी-तोड़ प्रयत्न कर रहे हैं। इनमें कई एक तो उल्टी-सुल्टी थोथी युक्तियां देकर गीतामें ३४५ श्लोकोंको प्रक्षिप्त बताकर निकाल रहे हैं, जिससे अवतार-सिद्धि कहीं न हो जावे। इस प्रकार गीताको समाप्त करनेका षड्यन्त्र कर रहे हैं। इन्हीं कूपमण्डूक प्रतिपक्षियोंके दिमागमें पुराणोंकी जो बात नहीं बैठती, उसे एकदम गप्प बताकर हंसीमें उड़ाने लगते हैं।

हम 'आलोक' पाठकोंके समक्ष इस सम्बन्धकी कुछ आश्चर्य-

जनक घटनाएं रहने जा रहे हैं। इनका भक्त रामशरण-दासजीने आजके वेद-पुराण, समाचारपत्रोंसे सङ्कलन किया है। आशा है—पाठक इन्हें ध्यानसे देखेंगे। अधिक स्थान यहाँ न होने से शेष घटनाओंको 'आलोक' के अग्रिम अष्टम पुष्पमें हम देंगे। 'आलोक'-प्रणेता)

१ पुराणोंमें आई दैवी चमत्कारकी घटनाएं

जब पुराणोंमें दैवी चमत्कारोंकी अद्भुत घटनाएं आती हैं, तो देवी-देवताओंको न मानने वाले प्रतिपक्षी उन्हें एकदम असम्भव, एवं असत्य बताने लगते हैं, पर आज भी दैवी चमत्कारकी घटनाएं हुआ करती हैं। देखिये—

"बाराबंकी। दैवी चमत्कारकी एक असाधारण-घटना यहां पर हुई है, जिसकी नगरमें बड़ी चर्चा है। बताया जाता है कि—एक रिक्शा वालेकी दो वर्ष की कन्या चेचकसे मर गई और उसे श्मशानके निकट गाड़ दिया गया। वापस घर पहुँचकर कन्याके पिताको लगा कि—जैसे किसीने उसके मुँह पर जोरका तमाचा मारा हो, और उससे कहा हो कि—तूने कन्याको गाड़ दिया, वह तो अभी जिन्दा है। काफी सलाह-मशवरेके बाद लोग उसके पिताके साथ फिरसे श्मशान गये और वह स्थान खोदा गया तो वह बालिका वस्तुतः जीवित निकली और उसका रोग भी दूर हो चुका था, यद्यपि फफोले फूटनेके निशान थे। यह उल्लेखनीय है कि बालिकाका शरीर भूमिमें १० घंटा गड़ा रहा था। पुलिस ने भी इस घटनाकी सत्यताकी पुष्टि की है" (नवभारत टाईम्स ६-८-६०)

अन्तिम प्रणाम !

नरेला २० सितम्बर। नरेलाके प्रसिद्ध पं०रघुनाथ स्वामीका इनके द्वारा १५ दिन पूर्व की गई भविष्यवाणीके अनुसार आज

रात्रिको स्वर्गवास हो गया। स्वामीजीने १५ दिन पूर्व अपने दो पुत्रोंसे अपने मित्रोंको पत्र लिखाये थे कि—यह उनका अंतिम प्रणाम है। अतः सम्भव हो तो आकर मिल जाओ। पुत्रोंने न चाहते हुए भी पिताकी आज्ञानुसार पत्र लिख दिये। इसके बाद स्वामीजीने समाधि लगाई, और ठीक १५ दिन बाद आज उनका स्वर्गवास हो गया। (वीर अर्जुन २१-९-६०)।

भविष्यवाणी

'फ्रान्सके अमीर फील्ड मार्शलके सामने राज्यका बड़ेसे बड़ा व्यक्ति भी दम नहीं मार सकता था। जब उनका जन्म हुआ, तब पेरिसके एक प्रसिद्ध ज्योतिषीने उनकी जन्मपत्री बनाई। उसमें यह भविष्यवाणी की गई थी कि—चार्ल्सकी मृत्यु बरगंडीके एक व्यक्तिसे होगी, जो अभी पैदा नहीं हुआ। चालीस वर्षकी आयुमें जब मार्शलका सितारा बुलन्दी पर था, उनके विरुद्ध षड्यन्त्रका अभियोग लगाया गया। अदालतने मृत्युदण्ड की आज्ञा सुनाई, चार्ल्सका सिर काटनेके लिए जिस जल्लादको नियुक्त किया गया, वह बरगंडीका निवासी था। वह व्यक्ति उस समय पैदा नहीं हुआ था, जब ज्योतिषीने भविष्यवाणी की थी (साप्ताहिक हिन्दुस्तान १६-१०-६०)।

२ भयंकर राक्षसों और उनके सींग होनेकी बात।

जब प्रतिपक्षी पुराणोंमें भयानक आकृति वाले राक्षसोंका वर्णन पढ़ते हैं, तो वे उस पर विश्वास नहीं करते। इस पर निम्न घटना देखिये—

काशीके मानसमर्मज्ञ पं० हरिप्रसाद व्यासजीने हापुड़में आशानन्दमलिकजीके सामने घटना सुनाई कि—मैं पहले भयंकर राक्षसों

की रामायणमें आई घटनाओंको यथार्थ न मानकर उन्हें रोचक मानता था। पर एक घटनाने मेरे विचार बदल दिये।

काशी (नीची ब्रह्मपुरी) में एक प्रतिष्ठित धनाढ्य ब्राह्मण रहा करते थे। उनकी धर्मपत्नीके गर्भसे घोर राक्षसका जन्म हुआ, जिसे हमने स्वयं देखा। वह पैदा होते ही भयंकर शब्द करता हुआ सामने की खूंटी पर जा बैठा। उसके सिर पर दो सींग थे, और दाँत निकले हुए थे, मुंह बड़ा डरावना था। घर वाले यह देखकर काँपने लगे कि- यह हम पर आक्रमण न कर दे। वह राक्षस लाल-लाल आँखें किये किटकिटाता रहा। वे ब्राह्मण चुपचाप किसी से बन्दूक माँगकर लाये, और उस राक्षस पर फायर कर दिया, पर राक्षसका बाल भी बाँका न हुआ। दूसरी-तीसरी गोली लगनेसे उसका अन्त हुआ। तब जाकर मैं राक्षसोंको मानने लगा।

१ विचित्र बालकोंका जन्म।

दूसरी घटना व्यासजीने यह सुनाई—काशीमें मैं जिस मुहल्ले में रहता हूं, उसीमें एक माली रहता था। उसकी स्त्रीके गर्भसे एक बच्चा पैदा हुआ, जिसके दो सिर थे, और तीन पैर थे। मैंने स्वयं जाकर उसके उस बच्चेको देखा, दोनों सिर बराबर जुड़े थे, चार नेत्र, चार कान दोनों मुखोंमें थे। दो पैरोंके अतिरिक्त तीसरा पैर पीछे कमरसे जुड़ा हुआ था, जो नीचे तक लटकता था। इससे मैं आश्चर्यचकित रह गया। तब पुराणोंमें जो एक से अधिक सिर वालोंका वृत्त आता है, उसमें भी असंभव न रहा। अब समाचारपत्रोंकी घटनाएं सुनिये—

२ चार सींग वाला बच्चा।

नजीबाबाद। कल स्त्रीचिकित्सालय में एक ब्राह्मणकी स्त्री के ४ सींग वाला बच्चा पैदा हुआ। जिसके दो सींग माथे पर और दो सींग गुद्दी पर थे। कमर की जगहकी एक हड्डी थी। यह मरा हुआ बच्चा पैदा हुआ था (वीर-अर्जुन १६-११-६०)।

३ अद्भुत राक्षसी बच्चा।

वाली (राजस्थान)। यहाँ एक अद्भुत बच्चेका जन्म हुआ। बच्चेकी बनावट एक राक्षस–जैसी थी। उसके मुंहमें दो बड़े-बड़े दाँत बाहर निकले हुए थे, और दाढ़ें सारी मौजूद थीं। दोनों हाथोंमें सात-सात अंगुलियाँ थीं, और उसका सिर बहुत लम्बा था। मुंहमें जीभ नहीं थी। इस अद्भुत तथा भयानक बच्चेकी आकृतिको देखकर घरके लोग भयभीत हो गये। वह बच्चा जन्म लेते ही मर गया (नवभारत २७-९-६०)।

४ तीन आंखों, दो मुंह वाला बच्चा।

दतिया। यहाँ एक काछी परिवार की एक बकरीके ऐसा बच्चा उत्पन्न हुआ है, जिसकी तीन आँखें हैं, दो मुख हैं। यह बच्चा २१फर्वरीको प्रातःकाल उत्पन्न हुआ,तथा अभी तक जीवित है। इस विचित्र बच्चेको देखनेके लिए सैंकड़ों व्यक्तियोंकी भीड़ पशुचिकित्सालयमें लगी रहती है (वीर अर्जुन २५-२-६१)।

५ दो सिर, चार हाथ तथा ४ पैर वाले बालकका जन्म।

राँची। पता चला है कि—हजारी बागके अस्पतालमें एक ग्रामीण महिलाने २ सिर,४ हाथ तथा ४ पैर वाले लड़केको जन्म दिया है (हिन्दुस्तान १२-४-६१)।

६ गंगापुरमें गोकर्णका अवतार।

गंगापुर सिटी। स्थानीय अस्पतालमें श्रीरामहेत ड्राइवरकी

धर्मपत्नीके गर्भसे १ दिसम्बरको विचित्र बालकका जन्म हुआ, जिसके दो सींग और बड़े-बड़े कान और कपाट पर एक विशाल नेत्र था। इस विचित्र बालककी मृत्यु दो घण्टे पश्चात् हो गई' (वीर अर्जुन ६—११—६०)।

७ मर्दके पेट से बच्चा।

लायलपुर (पश्चिमी पाकिस्तान) के पचास वर्षके वृद्धने जिला अस्पतालके सुपरिन्टेण्डेण्टसे शिकायत की कि - मेरे पेटमें दर्द हो रहा है। एक्सरे लिया गया तो मालूम हुआ कि—उसके पेटमें कोई चीज रंग रही है। आपरेशन करने पर लोग यह देख कर हैरान हो गये कि उसके पेटसे बच्चा निकला' (दैनिक-हिन्दुस्तान १९-२-६०)।

तब पुराणोंमें जो विचित्र उत्पत्तियाँ आई हैं, उनका समाधान हो गया। आजकलके मानुषी वायुमण्डलमें ऐसे बच्चे मर जाते हैं, पर दैत्य, राक्षस वा देव ऐसी उत्पत्ति वाले—जिनका प्रायः पुराणोंमें वर्णन है—जीवित रह जाते थे (सं०)।

३ परलोक वा यमराज वा यमदूतोंकी बात।

पुराणोंमें यह मिलता है कि—मरनेके समय जीवको यमदूत ले जाते हैं, यमराजके सामने उपस्थित करते हैं। इस सम्बन्ध की घटना सुनिये—

नवम्बर सन् १९५७ में कानपुरमें श्रीस्वामीकरपात्रीजी महाराजसे कराए सर्ववैदिकशाखा-सम्मेलनमें पधारे हुए काशीके सुप्रसिद्ध विद्वान्, गोयनका संस्कृत-महाविद्यालयके अध्यापक प० लालबिहारीजी मिश्रने यह घटना सुनाई थी, जो उनसे जाँच की गई है।

पहली घटना

सकलडीहास्टेशन (वाराणसी) से २५ कोस उत्तर की ओर के प्रभुपुर गाँवमें मनिहार जातिकी भाँगरी नामक मुसलिम स्त्री थी। उसके पड़ोसकी एक स्त्री साँघातिक रोग से पीड़ित थी। एक दिन भांगरी उस बीमार स्त्री को देखने के लिए गई। वहाँ से लौटकर आनेपर उसकी एकदम मृत्यु हो गई, कोई रोग भी उसे नहीं था। एक घंटा प्रतीक्षाके बाद उसे दफनानेकी क्रिया प्रारम्भ कर दी गई। ज्योंही उसे कब्रमें दबाने लगे; तो वह एकदम जीवित हो गई। उसके मुखसे कुछ अव्यक्त शब्द निकले, हाथके संकेतसे उसने अपने मुखपरसे कपड़ा हटाने के लिए कहा। कपड़ा हटानेपर लोगोंको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि—उसके सिरपर जलनेके तीन निशान लगे हैं। जब भाँगरीसे पूछा गया; तो उसने बताया—मेरे सामने दो व्यक्ति आये, मुझे पकड़ कर कहीं दूर ले गये। मैंने देखा—वहाँ बड़ी सभा लगी हुई थी, और ऊँचे आसन पर एक तेजस्वी व्यक्ति बैठा हुआ था। उसने मुझे पकड़ लाने वाले दो दूतों को फटकारा कि—इसे तुम क्यों ले आये ? इसकी तो मृत्यु अभी नहीं थी। इसकी तो आयु १४ वर्ष की और बाकी है। तुम्हें तो हमने इसके पड़ौसकी बीमार स्त्रीको लाने के लिए भेजा था। यह बड़ी पापिन है, जब यह अपनी आँखोंसे दोनों लड़कियोंके मरनेका दु.ख लेगी; तब मरेगी। त्रिशूलसे इसके सिरको दाग दो—जिसे यह याद रखे, और पाप न करे।

भांगरीकी बताई बातें सत्य सिद्ध हुईं। जब वह जीवित हुई तो ठीक उसी समय उसके पड़ौसकी बीमार स्त्री का भी तुरन्त देहावसान हो गया। अन्य बातें १४ वर्षके मध्यमें पूरी हुईं। उस की दोनों लड़कियाँ मरीं, उस दुःखसे वह भी मर गई। हम

लोग भांगरीके गाँवमें गये, और वहाँके मुसलमान मियां रहमान-खां, और गाँवके मुखिया आदिके इस घटनाके सम्बन्धमें हस्ताक्षर लिये गये।

दूसरी घटना

मुरैना (डाकसे)। यहाँके एक व्यवसायो विश्वम्भरनाथ (आयु ७५ वर्ष) का १६ तारीखको प्राणान्त हो गया, किन्तु कुछ समय बाद वे फिर जीवित हो उठे। उसी समय एक दूसरे व्यक्ति का देहान्त हो गया।

घटना इस प्रकार है कि–१६ ता० को श्रीविश्वम्भरनाथकी दशा बिगड़ने लगो, धीरे-धोरे जोवनके सभी लक्षण उनके शरीर से लुप्त हो गये। नाड़ीकी गति बन्द हो गई, श्वाँस बन्द हो गई। शरीर ठंडा हो गया। कुटुम्बियोंने उन्हें भूमि पर उतार लिया था। उनकी श्मशानयात्राकी तैयारी हो गई। लेकिन आध घण्टे के बाद ही वे अचानक उठ बैठे। आश्चर्यसे पूछने लगे कि–यह सब क्या हो रहा है? और कहा कि–कुछ लोगोंने उन्हें आकाशमें उठाकर एक दिव्यपुरुषके सामने रख दिया, जो भैंसेपर आरूढ़ था। उस दिव्यपुरुषने फटकारते हुए कहा कि–इस आदमी को शीघ्र ही पृथिवी पर छोड़कर आओ। मैंने दूसरे व्यक्ति को बुलाया था, इसे नहीं। इसपर वे मुझे छोड़ गये।

उन्होंने यह घटना सुनाई ही थी, और लोगों को आश्चर्य हुआ कि–विश्वम्भरनाथमें चेतना उत्पन्न होनेके ठीक उसी समय नगरके एक दूसरे व्यवसायी श्रीग्यासीराम (आयु ४० वर्ष) स्वस्था-वस्थामें हृदयकी गति रुक जाने से मर गये। इस घटना की चर्चा नगरके कोने–कोने में हो रही है, (हिन्दुस्तान २०।१२।५७)।

४ पशुपक्षियोंकी व्रत-उपवास आदि को बात

जब पुराणोंमें यह आता है कि–हनुमान् आदि वानर भगवान्

रामके अनन्य भक्त थे, इसे प्रतिपक्षी मानने को तैयार नहीं होते थे। आज हम पशु-पक्षियोंके व्रत-उपवास रखने की वा भक्त होने की कुछ घटनाएँ रखते हैं—

१ व्रत रखने वाला एक कुत्ता

मेरठके सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान् श्रीसुखदेवशास्त्रीजीने स्वयं देखी हुई घटना सुनाई—

खेंची मेरठ) में मेरी छोटी बहिन का विवाह था। हमारे मामा भातई के रूप में हमारे घर आये, उनका कुत्ता भी उनके साथ था। उन्होंने सुनाया कि–यह कुत्ता आज व्रत-उपवास रखे हुए है। जब कन्यादान के बाद हम व्रत खोलेंगे; और कुछ खाएँ-पीएँगे; तभी यह कुत्ता भी अपना व्रत खोलेगा। हमें यह विश्वास न हुआ। हमने यह परीक्षा करनी चाही। कुत्तेके आगे रोटी डाली, पर उसने खाना तो दूर, सूँघा तक नहीं। पीछे हट गया। जब कन्यादान हो गया, भातईयों ने अपना व्रत खोला, खाना खाया, तब कुत्ते के आगे भी भोजन डाला, तो उसने तुरन्त खाना शुरू किया। यह देखकर हम दाँतों तले अंगुलि दबा गये। मामाजी ने कहा कि–केवल आज नहीं; यह हर मंगलवारके दिन भी व्रत रखता है, भूलकर भी कुछ नहीं खाता-पीता।

दूसरी घटना

सन् १९५९ में पिलखुआ हमारे स्थानपर आर्यसमाज के महोपदेशक श्रीबलवीरसिंहजी बेधड़क पधारे। उन्होंने भी ऐसी घटना सुनाई—

आर्यसंन्यासी श्रीस्वा० केवलानन्द जीके निगमाश्रममें मैंने एक ऐसा कुत्ता देखा, जो हर सोमवारके दिन व्रत रखता था; हम हैरान होते थे कि–यह बात कुत्तेको कैसे मालूम हो जाती है

कि-आज सोमवार है। उसे सोमवार रोटी खाने का आग्रह यदि किया भी जाता था; तो उस रोटीको एकान्तमें रख आता था; अगले दिन मंगलवार को खाता था। कई कुत्तोंको चतुर्दशीको उपवास करते हुए मीमाँसादर्शनके भाष्यकार श्री स्वा० शबराचार्यने भी देखा था। उसका उल्लेख उन्होंने अपने भाष्यमें किया है, जिसका आर्यसमाजके श्रीतुलसीराम स्वामीने अज्ञानवश खण्डन करने की चेष्टा की थी।

श्रीहनुमान्-भक्त बन्दर

आगरा। यहाँ प्राप्त एक विश्वस्तसमाचारके अनुसार ग्राम रिगनोदमें पिगला-नदीके किनारे शंकर मन्दिरके पास एक प्राचीन हनुमान्जी का मन्दिर है। इसमें एक बन्दर ७२ घण्टे तक हनुमान्जीकी सेवा-भक्तिमें लगा रहा। वह हनुमान्जीके पैर दबाता; उनको हाथ जोड़ता। इस भक्त बानर को देखने सैंकड़ों व्यक्तियों की भीड़ एकत्रित हो गई। मन्दिरमें पानी की व्यवस्था करने पर भी भक्त बानर ने नदीमें जाकर पानी पिया। शामको आरतीके समय घड़ियालके बजते ही बानरराज भी तालियाँ बजाता हुआ भक्तिमें लीन हो गया। लोगों का कहना है कि-मन्दिरके निकट ही एक महात्मा रहते थे, जो हनुमान् जीकी सेवा किया करते थे। वे ही मृत्युके पश्चात् बानररूपमें आकर सेवा कर रहे हैं। बाद में बानर की मृत्यु हो जाने पर जनता द्वारा बैंड बाजेके साथ डोली निकाली गई; बानर के शव को बागमें गाड़ दिया गया। (नवभारत १५-४-६०)।

भविष्य जानने वाली कुतिया ने प्राण बचाये

भरतपुर। स्थानीय विक्टोरिया अस्पतालके निकट एक बहुत पुराने मकान निवासीके प्राण पालतू कुतियाने बचाये। रात्रि के करीब दस बजे वह कुतिया अपने मालिकको भूंक-भूंक कर और उसका दुपट्टा खींच-खींचकर उसे बाहर आनेका इशारा देने लगी। अनेक बार टालने के बाद भी जब वह नहीं हटी; तब मालिक ज्योंही मकानसे बाहर आया, उसी समय मकानका सारा ऊपरी हिस्सा नीचे आ पड़ा, और वह बाल-बाल बच गया। (नवभारत १९।१२।५९)।

पशु-पक्षियों को भूकम्पका पूर्व ज्ञान

जब सनातनधर्मी बुढ़िया माताएँ कुत्तोंको असमयमें भूंकते हुए देखती हैं, तो वह उसे असगुन मानती हैं, जिसपर प्रतिपक्षी हंसते हैं। इसपर सुनिये—मई सन् १९३५ में क्वेटाके जिस भयङ्कर भूकम्प में आधे मिनटमें २० हजार व्यक्ति कालकवलित हुए थे, लगता है कि-वहाँ के पशु-पक्षियोंको इसका पूर्व ज्ञान होगया था। डा० हेनरी हालैंडने जो उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्तमें मिशनरी थे, उस दैवी प्रकोपके समय क्वेटामें ही अपनी 'फ्रंटियर डाक्टर' नामक पुस्तक (१९५८) में लिखा है—

'ऐसा प्रतीत होता है कि-पशुओंको अपनी सहज अन्तः प्रेरणा द्वारा प्राकृतिक-प्रकोपोंका पहलेसेही ज्ञान होजाता है। भूकम्प आनेसे पूर्वकी रातमें नगरके कुत्तोंने सामूहिकरूपसे बड़ी भय.वनी आवाजोंमें रोना शुरु कर दिया था [पक्षी भी तीन दिन पूर्व ही वृक्षोंको छोड़कर चले गये थे-सम्पादक]। इसी प्रकार हालके अगादीरके भूकम्पके बारेमें प्राप्त समाचारोंमें इस बातका उल्लेख किया गया है कि-भूकम्प आनेके कुछ समय पहलेसे ही नगरके कुत्ते बुरी तरहसे भूंकने लगे थे। उनमें जो पालतू थे, वे घरोंकी खिड़कियोंमेंसे कूद-कूदकर बाहर भागने लगे थे; और अस्तबलोंके घोड़े अपने खुरोंको जमीनपर पटकने और जोर-जोर से हिनहिनाने लगे थे, (धर्मयुग साप्ताहिक बम्बई ७।८।६०)।

५ मन्त्र-शक्ति के चमत्कार

पुराणोंमें जब मन्त्रशक्तिके चमत्कारोंकी बातें आती हैं; तो प्रतिपक्षी लोग उन्हें गप्प बताने लगते हैं, और हंसी में उड़ाने लगते हैं। कोई माने वा न माने; पर यह बातें अक्षर-अक्षर सत्य हैं। इसमें निम्न घटनाएँ देखिये—

पहली घटना

कानपुर ५ जुलाई। मन्त्रद्वारा सर्पविष उतारनेकी क्रियाका अत्यन्त मनोरंजक प्रदर्शन उस समय हुआ, जब सेठ केदारनाथने बर्नकम्पनीके एक मज़दूरके शरीरसे सर्पविष निकाला। कहा जाता है कि वह मज़दूर साँप देखते ही प्रायः उसे मार दिया करता था। एक दिन एक काले साँपने उसे काट लिया। उसे तत्काल उक्त सेठके पास पहुँचाया गया। सेठजीने काटने वाले साँपका मन्त्रद्वारा आवाहन किया। मारने का कारण पूछनेपर उसी मज़दूरके माध्यमद्वारा सर्पने बताया कि—उसने उसके जोड़ेको मार डाला था, जिसका सर्पने बदला लिया। अनेक धमकियों तथा अनुरोधपर सर्प अपना विष खींचनेपर तैयार हुआ। विष खींचते हुए मज़दूर ठीक हो गया, किन्तु विषकी तीव्रताने उसके मस्तिष्कको विकृत कर दिया था। तब सेठजीने कुछ जड़ी-बूटी खिलाकर उसे स्वस्थ कर दिया। सेठजीका दावा है कि—कहीं भी किसीको सांप काटे, तो उसकी शिखामें गाँठ बाँधकर सेठ केदारनाथ लार्डगंज जबलपुरके पते पर तार करना चाहिए। सेठजी वहीं से मन्त्र-शक्ति द्वारा उसे ठीक कर देंगे। (हिन्दुस्तान ६।७।४४)।

चांटा मारकर सर्पका विष उतारना

मथुरा सदर बाजार थानेके काँस्टेबल पं० श्री नत्थीलाल मिश्र साँप काटेका इलाज मन्त्र द्वारा बड़े आश्चर्यजनक ढङ्गसे

करते हैं। हमने मथुरा जाकर आपसे भेंट की थी, और घटनाकी जाँच की थी। सांप काटनेकी खबर लेकर जो भी व्यक्ति आपके पास आता है, आप झटसे उसके मुख पर तीन चाँटे मार देते हैं। इधर चाँटा लगता है और उधर साँपका काटा हुआ आदमी स्वस्थ हो जाता है। नवभारत टाईम्स (२६।३।१६५६) में छपा है कि छातासे टेलीफोन आया कि—अमुक आदमीके इकलौते लड़केको साँपने काट लिया, तो आपने टेलीफोन पर ही चाँटा मारा, और बालक स्वस्थ हो गया। बालकके बापने आपको पुरस्कार भी देना चाहा, पर आपने नहीं लिया। इस प्रकार हरिद्वारमें रहते हुए तो आपने लगभग १०० आदमियोंको चाँटा मारकर अच्छा कर दिया। पूछने पर आपने यह भी बताया कि मेरे इष्ट-देव भगवान् श्रीहनुमानजी हैं। उन्हींकी कृपाके प्रभाव से मैं इस कार्यमें सफल हुआ हूँ।

टिड्डियोंको भगाया

रामगढ़ (डाकसे)। इस हफ्तेमें रामगढ़के ऊपर से टिड्डियोंके दल कई बार गुज़रा, जिसने खेतीको भारी हानि पहुंचाई। कहा जाता है कि—जब रूकनसर (रामगढ़) में रहने वाले किसान वहाँके रहने वाले एक साधुबाबाके यहाँ सहायतार्थ गये। इस पर बाबाजीने लड़केसे दो टिड्डियाँ पड़कर मंगाईं। उन्हें जलसे स्नान कराकर रोलीसे चर्चित करके टिड्डियोंके सामने मन ही मनमें प्रार्थना-सी की और मन्त्र पढ़ा। तदुपरान्त उन्होंने उन टिड्डियोंको सौंपकर उससे कहा कि—'तुम दौड़ते हुए जाओ, और इनको गाँवकी सीमाके बाहर छोड़ आओ'। जब वह व्यक्ति दोनों टिड्डियोंको लेकर एक ओर दौड़ गया, तो उस गाँवमें जितनी भी टिड्डियाँ पड़ी थीं, वे सभी उस व्यक्तिके पीछे उड़ती हुई चली गईं। कहा जाता है कि—इस दिनके बाद रूकनसरके

खेतोंमें टिड्डियोंका पड़ाव नहीं हुआ। जब कि उसके ऊपर कई बार उड़ती चली गईं' (हिन्दुस्तान ९।१०।५०)

६ लम्बी समाधि !

जब पुराणोंमें ऋषि-मुनियोंकी भूगर्भसमाधिकी बातें आती हैं; जिनके ऊपर मट्टीके ढेर लग जाते थे, तो बहुतसे अविश्वासी उसे एकदम गप्प बताने लग जाते हैं, और कहते हैं कि—पृथ्वीके अन्दर बिना वायुके और बिना खाये-पीये कोई जीवित नहीं रह सकता; परन्तु इस गये-बीते युगमें भी पृथ्वीके भी भीतर समाधि लगाने वाले मौजूद हैं।

पिछले दिनों देहलीमें योगिराज स्वा० श्रीरामलखनदासजी महाराजने सेठ रामकृष्ण डालमियाँके आग्रह पर पृथ्वीके अन्दर २४ घण्टे की समाधि लगाकर दिखाई, जिसे अमेरिकन और अंग्रेजोंने भी देखा था। बादमें वे पिलखुआ भी पधारे थे। हमने उनकी समाधिका प्रबन्ध आर्यसमाजके महाशय गिरवरसिंहके स्थान पर कराया था, जिससे कोई सन्देह बाकी न रह जावे। आप ४५ दिनकी समाधि लगा सकते थे। आपको ऊपर से सीमेंट से पाट दिया गया था। योगिराज देवमूर्तिजोको योगके बल पर चार कारें एक साथ रोकते हुए, छाती पर हाथी खड़ा करते हुए अग्नि पर चलते हुए हमने स्वयं देखा था।

एक योगिराजको सन् १९६० में एक शहरमें १४ दिनकी पृथ्वीके अन्दर समाधि लगाते हुए हमने देखा था। उन्होंने १४ दिन तक खाया-पीया नहीं था, न वायु जानेको जगह थी। चारों ओर से बन्द कर दिये गए थे। वे छः मासकी समाधि लगा सकते थे। आप हमारे स्थान पर भी पधारे थे। हमने स्वयं जाकर इस बातकी पूरी जाँच की कि—कोई चालाकी तो नहीं है। प्रतीत हुआ कि कोई धोखे-बाज़ी नहीं थी; १४ दिन बाद योगी सनातन-

योगिराज की समाधि
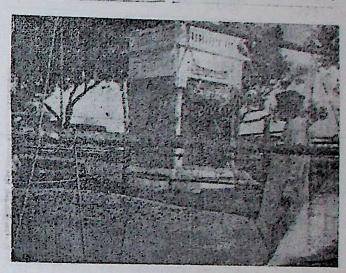
धर्मकी जयके नारे लगाते हुए सकुशल निकल आए, उन्हें किसी प्रकारकी भी हानि नहीं हुई।

७. १३ गज लम्बे पुरुषका अस्थिपिंजर।

गत दिनों श्रीबिनोवाभावेजीने कहा था—जिस रामायणमें रावणके दस सिर बीस भुजा होनेकी बातें लिखी हैं, और कुम्भ-कर्णको पर्वताकार लिखा है, वह ग्रन्थ कैसे माना जा सकता है, उसमें संशोधन होना चाहिये। हम आपके सामने दैनिक हिन्दु-स्तान (३० अगस्त १९४१) देहलीमें छपी घटना रखते हैं, पाठक उसे ध्यानसे पढ़ें—

देहलीके एक गाँवमें खुदाई करते समय एक अस्थिपंजर मिला है, जिसके सम्बन्धमें यह ख्याल किया जाता है कि—यह

प्राचीनकालके किसी व्यक्तिका है। इसकी कुछ हड्डियां देहली अधिकारियोंके पास लाई गई हैं, जिससे इस मनुष्यके डीलडौल का अनुमान लगाया जा सके। बयान किया जाता है कि—यह पंजर १३ गज लम्बा है। इसकी खोपड़ी धोबियोंके कपड़े धोनेके कूंडेके बराबर है। और आँखोंकी खाली जगह औसतन मनुष्यकी खोपड़ीके समान है। इसकी नाकके सुराख इतने चौड़े बताये जाते हैं कि—आजकलके आदमीकी मुट्ठी बन्द होकर इसमें जा सकती है। इसके दांत ८-९ इंच लम्बे हैं। घुटने से लेकर टकने तकको पिण्डलीकी हड्डी दो गज़के बराबर है। इसकी छाती ५ गज बताई जाती है। इस पंजरके बाकी हिस्सोंकी तलाश करके केन्द्रिय सरकारके अनुसन्धान-विभागके विशेषज्ञको रायके लिए सोचा जा रहा है।

अस्थिपंजर मिलनेके विषयमें बताया जाता है कि—तिलोकड़ी बदरपुर थाना महरौलीमें एक भट्ठे के लिए जमीन खोदी जा रही थी, जबकि मजदूरोंको जमीनके अन्दर दबा हुआ यह मुकम्मल ढाँचा मिला, परन्तु उन्होंने उसे तोड़ डाला; हड्डियोंके टुकड़े फेंक दिए। पर गाँवके लोगोंको पता चलने पर इसमें दिलचस्पी हुई, और वे कुछ हड्डियाँ उठाकर ले गए। कुछ हड्डियाँ पुलिस तक भी पहुँचीं। मामला जब अधिकारियोंके नोटिसमें आया; तो उन्होंने इस पर अफसोस प्रकट किया कि—ऐसी महत्त्वपूर्ण वस्तुको इस प्रकार खराब कर दिया गया, और हुक्म दिया गया कि—इसके जितने भी हिस्से मिल सकें, लाये जायँ'।

हमने स्वयं क्या देखा

खेड़ाके वैद्य मुन्शीलालजो उन दिनों हमारी बिल्डिंगमें लड़के

पढ़ाया करते थे। वे तिलोकड़ीसे अपने साथ पंजरका एक दाँत उठा लाये थे, उसे हमारे सामने तोलकर देखा, तो एक दाँत ११॥ छटाँकका था। पिलखुआके पासके डूहरी ग्रामके रहने वाले शतवर्षीय सूबेदार मेजर श्रीजसवन्तसिंजी तथा भूतपूर्व तहसीलदार डा० श्री शम्भुसिंहजीने इस बातसे विस्मित होकर जाँच करनी चाही, और वैद्य मुन्शीलालजीका बयान लिया। उन्होंने ऊपरका वृत्त सुनाया, और दाँतोंके विषयमें यह कहा कि—एक दांत १४॥ छटाँकका था, जो मेरेसे टूटने पर ११॥ छटाँकका रह गया था, और दूसरा दाँत १। सेरका था, उसे इकला वाले फकीर जाति वालेका दामाद ले गया था। मैंने अपने पास वाला दाँत पुलिसको दिया; जो उसे लेने आई थी। दूसरी चीजें भी उस पंजरकी ढूंढकर उपरोक्त पूरा ढाँचा तैयार किया गया। चित्रमें

वैद्य मुन्शीलालजो हाथके संकेतसे बता रहे हैं कि—१३ गज लम्बे मनुष्यकी आँखें, मनुष्यकी खोपड़ीके बराबर थी।

जो लोग पुराणमें आई मनुष्योंके बड़े आकार वाले होनेकी बातें गप्प बताते हैं, उन्हें इस अशक्तिमय-समयके आकार देखकर उन दिनोंके बड़े कद्की सत्यताका अनुमान कर लेना चाहिए। तब जो बिनोवाभावेजी आदि एतद्‌दादिक–विषयमें अपना सन्देह प्रकट करते हैं, इससे वे अपनी बुद्धिको कूपमण्डूकता सिद्ध करते हैं।

अब यह सप्तम पुष्प बहुत बड़ा हो जानेसे समाप्त किया जाता है। अष्टम पुष्प भी छप गया है, पाठकगण इन दोनों पुष्पोंको मंगा लें।

इति पूज्यश्री पं०शीतललालशर्म–श्रीगौरीदेवी तनुजनुषा, देहली (दरीबा कलाँ) स्थ संस्कृतमहाविद्यालयाध्यक्षेण विद्यावागीश, विद्याभूषण श्रीदीनानाथशर्म शास्त्रिसारस्वत विद्यानिधिना प्रणोतस्य 'श्रीसनातनधर्मालोक' संस्कृतमहाग्रन्थस्य हिन्दीग्रन्थमालायाँ सप्तमसुमनोविकासः सम्पूर्णः।

सँशोधन—पृ० पं० ७०५-५ शरीर। ७११-१६ अन्य। ७१३-२२ हूयतां। ७२०-३ ऐन्द्र। ७५८-१८ पैप्पलाद। ७५६-१७ नेष्ये ७६०-२२ वाज। ८२३-१८ बध्नन्ति। ८१६-५ अमाँसाशी। ६ श्रुतिः। भार्यां! ८१८-१२ व्याख्यान। १६ मन्त्रभाग। ८२५-१७ वेदधर्म। ८२७-१५ शेषसा, शेषस्। ८३०-११ प्रतिपक्षी। ८३४-२१ धर्म। ८३६-१० नैनं। २५ भाभीका। ८३७-२१ यह। ८३८-६ समानाधिकार। ८५१-१३ असभ्य। ८५२-१६ सम्प्रदाय। ८५६-२६ तत्त्व। ८६२-१२ भाष्यकार। ८६४-१ ऽनागता-८७०-७, २६ भाष्य। १३ अशूद्राणा। ८७३-३ धर्मिणः। १६ त्रयाणाँ। ८७६-१४ स्वामी। १७ भीतर के परमाणु। ८६७-७ स्वा० द०। ६०२-१ प्रतिपक्षी। २५ तिर्यंग्। ६२३-१६ आर्य। ६५२-२० तेजस्वियों।

'परिचय' एवँ 'प्रेरणा'

विद्यावागीश-श्रीदीनानाथशास्त्री सारस्वतमहोदयद्वारा प्रणीत 'श्रीसनातनधर्मालोक' महाग्रन्थ संस्कृतमें १० हज़ार पृष्ठोंमें लिखित है। यह हिन्दुधर्मके प्राचीन-अर्वाचीन साहित्यार्णवको मथकर लिखा गया है, अतः यह 'हिन्दुधर्मका विश्वकोष एवं 'स०ध० का महाभारत' सिद्ध हो सकता है। अब इसकी ग्रन्थमाला हिन्दीमें छप रही है। इसे १०००) देकर इसके संरक्षक बनें, आपका चित्र छपेगा, आपका नाम प्रत्येक प्रकाशनमें छपेगा। अथवा ५००) देकर इसके 'सम्मान्य-सहायक' वा २५०) देकर मान्य-सहायक बनिये। अथवा न्यूनसे न्यून १००) देकर इसके साधारण सहायक बनिये। इस प्रकार आपके सहयोगसे 'आलोक' ग्रन्थ-माला शीघ्र प्रकाशित होकर भ्रान्त-जनोंकी धार्मिक-शङ्काओंको दूर करने वाली सिद्ध हो सकेगी।

अब तक इसके ८ पुष्प छप चुके हैं। विद्वानों एवं गुणज्ञोंने इस ग्रन्थमालासे अपना पूर्ण-परितोष व्यक्त किया है। आप भी स्वय इस ग्रन्थमालाको खरीदें, तथा दूसरों को भी इसके मंगाने के लिए प्रेरित करें। सभी शङ्काएं मिटेंगी, और धर्म-सेवा भी होगी। आपका रुपया केवल इस ग्रन्थमालाके प्रकाशनमें ही लगेगा।

इसके कम से कम १२-१३ पुष्प भी प्रकाशित होजाएं, उनमें भी आपको स० ध० की पर्याप्त सुगन्ध मिल सकेगी। अतः शीघ्रतासे इसकी सहायतार्थं उद्यत हों। इससे हिन्दु-जातिको धार्मिक नवजीवन प्राप्त होगा। आज ही ग्रन्थकारके नामसे आप सहायताद्रव्य शीघ्र ही भेजना शुरू कर दें।

निवेदक—

श्रीनारायण शर्मा शास्त्री सारस्वत 'राजीव' (एम. ए.)

फर्स्ट बी० १६ लाजपतनगर (नई देहली १४)

ॐ 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाका परिचय ॐ

प्रणेता—पं० दीनानाथ शास्त्री सारस्वत विद्यावागीश
(प्रिंसिपल—संस्कृतमहाविद्यालय, दरीबाकलाँ, देहली-६)

इस ग्रन्थमालाको १०००) देने वाले इसके संरक्षक माने जाते हैं, उनका चित्र छपता है, प्रत्येक-प्रकाशनमें उनका नाम छपता है। ५००) प्रदाता इसके सम्मान्य-सहायक, २५०) दाता मान्य-सहायक और १००) देने वाले साधारण-सहायक माने जाते हैं। इसके प्रकाशित पुष्पोंका परिचय दिया जा रहा है। पाठकगण इसका जनतामें प्रचार करें। जो महोदय स्थायि-ग्राहकताका शुल्क ५) पाँच रुपये पूर्व जमा करायेंगे, उन्हें सब पुष्प पौने मूल्यमें दिये जाएंगे।

प्रथम-द्वितीय पुष्प—(परिवर्धित-द्वितीयावृत्ति) आजकल 'नमस्ते'-शब्दका प्रचार संस्कृतानभिज्ञ-जनतामें बहुत हो गया है; और इसके प्रचारक इसका वैदिक होनेका दावा करते हैं। बहुत से विद्वानोंका इधर ध्यान गया, और उन्होंने हमें प्रेरणा की कि—'आलोक' ग्रन्थमालाके किसी पुष्पमें इस पर भी विचार दिया जाय। हमने प्रथम-द्वितीय पुष्पमें इस पर थोड़ा सा विचार दिया भी था; पर बहुत महोदयोंने कहा कि—इस पर विस्तीर्ण विचार दिया जाय। इधर उन दो पुष्पोंकी प्रथमावृत्ति समाप्त भी हो गई थी। तब प्रथम दो-पुष्पोंको इकट्ठा करके हमने इसमें 'नमस्ते'

विषय पर विस्तीर्ण विचार दिया है। 'नमस्ते' विषयक-ट्रैक्ट हमें जितने मिल सके, उन पर आलोचना भी कर दी है। यह दो पुष्प सुन्दर-कागज तथा सुवाच्य-टाइपमें छपवाये गये हैं। आरम्भ में 'श्रीसनातनधर्मालोक' महाग्रन्थकी संपूर्ण-विषय-सूची तथा उसपर विद्वानोंके भाव भी दिये गये हैं। साढे तीन सौ पृष्ठोंकी सजिल्द एवं सुन्दर पुस्तकका मूल्य चार रुपये है।

मूल्य ४)

तृतीय पुष्प—इसमें स्त्री-शूद्रोंके वेदाधिकार पर विचार करते हुए 'यथेमाँ वाचं कल्याणीं' मन्त्रके वर्तमान-प्रचलित अर्थ की आलोचना करके उसका वास्तविक अर्थ, हारीतकी ब्रह्मवादिनी, 'गोभिलसूत्र' के 'यज्ञोपवीतिनीं' पदका रहस्य, 'दुहिता मे पण्डिता जायेत', 'वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेत्', 'ब्रह्मचर्येण कन्या, पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्' आदि बहुतसे प्रमाणोंके वास्तविक अर्थ बताकर, ऐतरेय-महिदास, कवष-ऐलूष, कक्षीवान्, सत्यकाम-जाबाल, सूत, वाल्मीकि, शबरी आदि शूद्र थे वा अशूद्र-इस पर विचार किया गया है। इसकी प्रथमावृत्ति समाप्तप्राय है। इसे अभी-अभी मंगा लें, द्वितीयावृत्ति छपना प्रारम्भ होने पर इसका मूल्य बढ़ जायगा। शीघ्र मिल भी नहीं सकेगी।

सजिल्द मूल्य ३॥)

चतुर्थ पुष्प—इसमें हिन्दु-शब्दकी वैदिकता, वेद-विषयमें भारी भूल, महाभाष्यकारके मत में वेदका स्वरूप, वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्मसे है, वा जन्मसे, डा० भगवान्दासजीके मतपर विचार,

मृतकश्राद्ध तथा मृतक पितरोंका टाइमटेबल, उसमें ब्राह्मण-भोजन वैदिक है वा अवैदिक, मूर्तिपूजा एवं अवतारवादका रहस्य, क्या विद्वान् मनुष्य ही देव हैं, नवग्रहोंके प्रचलित मन्त्रों का ग्रहों से सम्बन्ध कैसे है, ग्रहण और उसका सूतक-इत्यादि अनेकों विषयों पर बड़े सुन्दर विचार दिये गये हैं। पाठक इसे शीघ्र मंगावें। ५०० पृष्ठसे अधिक-पृष्ठकी सजिल्द सुन्दर पुस्तकका मूल्य ६) है।

पंचम पुष्प—यह बहुत ही सुन्दर कागज तथा सुन्दर-टाइपमें ९५० पृष्ठोंमें छपा है। इसमें हिन्दुधर्मके मुख्य-विषय चोटी-जनेऊ, १६ संस्कार, सन्ध्याके सभी अङ्गों पर विचार, मालाकी मणियों की १०८ संख्या क्यों ?, यज्ञका वैज्ञानिक महत्त्व क्या है— इत्यादि अनेकों विषयों पर विचार करके प्रातः से रात्रि-शयन तकके आचारोंकी वैज्ञानिकता बताई गई है। इसके बाद दीपमाला, होली आदि वर्षके प्रसिद्ध पर्वोंके वैज्ञानिक-रहस्य बताकर, श्री-गणेशका वैदिक देवत्व तथा श्रीमहीधरके 'गणानाँ त्वा' मन्त्रके भाष्य पर—जिसपर प्रतिपक्षियोंकी ओरसे घोर-शोर मचाया जाता है—विचार करके, ओङ्कारका महत्त्व बताया गया है। इस में १२५ विषयों पर सुन्दर विचार दिये गये हैं। इस सुन्दर एवं सजिल्द पुस्तकका मूल्य— १०)

षष्ठ पुष्प—यह सुन्दर पुस्तक ९५० से अधिक पृष्ठोंमें छपी है। इसमें हिन्दुधर्मके विविध-विषय युक्ति-प्रमाणद्वारा साधित किये गये हैं ? इसमें सनातन-धर्मका तथा वेदका स्वरूप दिखलाते हुए ब्राह्मणभागके अवेदत्व पर किये जाने वाले तर्कों पर

युक्ति-प्रमाण द्वारा विचार करके, वेदाधिकारिविचार, देव-मन्दिरोंमें अन्त्यज-प्रवेश पर वैदिक दृष्टि' दिखलाकर 'ढोल गंवार शूद्र पशु नारी' मानसकी इस प्रसिद्ध चौपाईके विविध अर्थ तथा उनकी आलोचना की गई है। फिर 'क्या प्राचीन-भारतमें गोवध होता था' इस विषय पर दिये जाते हुए वेद-पुराणोंके प्रमाणोंपर १९ विषयोंमें विचार किया गया है। इसके बाद 'क्या पुराणोंमें वेद-विरुद्ध अंश है ?' इस पर विचारते हुए वृन्दाका पतिव्रतभङ्ग, चन्द्रमाका गुरुपत्नीगमन, अगस्त्यऋषिका समुद्रपान, स्त्री से पुरुष, पुरुषसे स्त्री आदि बहुतसे विषयों पर विचार कर श्रीकृष्ण के बाल्यचरित्र एवं राधा-कृष्णके परस्पर-सम्बन्ध तथा कुब्जा आदि के विषयमें पूर्ण-मीमाँसा की गई है, और पुराणोंकी शङ्कित कथाओं पर प्रत्यक्ष अखबारी घटनाएँ दी गई हैं। इसके बाद सैद्धान्तिक-चर्चामें वर्णव्यवस्थाके विषयमें' ब्राह्मणोऽस्य मुखमा-सीत्' के अर्थ पर किये जाते हुए तर्कों पर विचार करते हुए 'ब्राह्मणादि क्या वर्ण नहीं हैं'—इस पर तथा 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' पर भी विचार करके पुस्तक समाप्त कर दी गई है। यह पुस्तक विद्वानों तथा जिज्ञासुओंके लिए अत्यन्त उपकारक सिद्ध होगी। इसको वादी—प्रतिवादी दोनोंको ही शीघ्र मंगाना चाहिए। सजिल्द मूल्य— १०)

सप्तम पुष्प—इसमें पौराणिकचरित्र-पर्यालोचन तथा 'पुराण-परिचय' का परिचय विस्तीर्णरूपसे बताकर एक पूर्वपक्षीके ३१ प्रश्नों के सर्वाङ्गीण उत्तर देकर पुराण-सम्बन्धी अनेक आक्षेपोंके परिहार

दिये गये हैं। फिर अवतारसम्बन्धी १९ कुतर्कोंको काटकर, विविध २१ आक्षेपोंका प्रत्युत्तर दिया गया है। इसके बाद क्या गणेश तथा रुद्र अग्नि हैं-इसपर विचार करके सत्यनारायणव्रत-कथापर किये जाते हुए आक्षेपों पर प्रत्युत्तर देकर श्रीसीता-राम की वैवाहिक-आयु तथा द्रौपदीका एक पति था या पाँच-इत्यादि पर विस्तीर्ण विचार दिया गया है। वेदचर्चामें वेदस्वरूपनिरूपण बताते हुए 'वेदसंज्ञाविमर्श, चुनौतीका उत्तर, नीरक्षीरविवेक, विष्णुपुराणकी आलोचना' आदिपर लिखा गया है। इस प्रकार इस पुष्पमें २० के लगभग प्रतिपक्षियोंके ट्रैक्टोंपर आलोचना दी गई है। इस एक ही पुस्तकसे आपको पुराणोंके सम्बन्धमें पचासों प्रश्नों का समाधान प्राप्त होगा। परिशिष्टमें पुराणोंको सिद्ध करने वाला प्रत्यक्ष घटनाएँ भी दिखाई गई हैं। यह १००० पृष्ठोंमें छपी पुस्तक सभीकेलिए संग्राह्य है। मूल्य १०)।

अष्टम पुष्प—इसमें वेदस्वरूपनिरूपण, स्त्री-शूद्रोंका वेदाधिकार विचार, क्या वेदमें केवल यौगिकता है? वेदार्थके साधन, क्या गीता वेदखण्डक है? वेदमन्त्रहत्याका दिग्दर्शन आदि विषयोंपर विस्तीर्ण विचार रखकर वर्णव्यवस्थाके सम्बन्धमें दिये जाने वाले सब प्रमाणोंपर आलोचना करके क्या गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था चल सकती है-यह दिखलाकर आर्य-समाज का श्राद्ध एवं यमराज, नियोगमें मैथुन होता है या नहीं, क्या साय॒ाचार्य विधवाविवाह मानते थे-यह स्पष्ट करके नियोग वा विधवाविवाहपर दिये जाते हुए सभी प्रसिद्ध मन्त्रोंपर समाधान

करके यमयमीसूक्त, 'क्लीबे च पतितेपतौ' में 'पतौ है या अपतौ' यह दिखलाकर तलाकपर भी विचार दिखलाया गया है। परिशिष्ट में अष्टग्रहीयोगपर तथा नमस्तेपर विचार करके प्रत्यक्ष घटनाएँ भी दिखलाई गई हैं। ८०० से अधिक पृष्ठकी सजिल्द एवं सुन्दर पुस्तक का मूल्य ८ रु० ५० पै० है।

नवम पुष्प—की रूपरेखा भी दी जा रही है- इसमें वेदचर्चामें वेददोहनरहस्य, द्वैतवाद एवं अद्वैतवादका सामञ्जस्य, तर्क और प्रमाणमें कौन मान्यतर है-यह विषय आये हैं। फिर सिद्धान्तचर्चामें—वर्णव्यवस्था जन्म से है, गुणकर्मसे वर्णव्यवस्थामें क्या हानि है,मृतकश्राद्ध तथा उसमें भ्रान्तिनिवारण, मूर्तिपूजाविषयक-संवाद, साम्यवादविषयकसंवाद, भारतीय-नारी(आक्षेपपरिहार), स्त्रियोंकी आवरणप्रथामें वेदादिशास्त्रोंका मत, स्त्रीविवाह-वय पर विचार, बाल्यविवाहपर विचार, स्वा० दयानन्दीयनियोग-निरीक्षण-संन्यासाश्रमकी प्राचीनता वा शास्त्रीयता, भूतप्रेत-पिशाचादि की सिद्धि, हिन्दुओंका आदि-स्थान भारतवर्ष, क्या रामायण महाभारतसे अर्वाचीन है? क्या हनुमानादि मनुष्य थे? इन विषयोंपर विचार दिया जायगा। पुराणचर्चामें पर्वतोंके पंख और उनका काटना-वैदिक, पुराणोक्त दीर्घ आयुमें वेद की साक्षी। असम्भव शब्द-कूपमण्डूकोंके कोषमें. प्रकृतिके नियम सामान्यशास्त्र, स्थूल मैथुनके बिना भी सन्तान,विचित्र उत्पत्तियाँ, विष्णुकर्णमलोद्भूत तत्व आदिपर विचार, रक्तबीजके रक्तसे असुरोंकी उत्पत्ति, नारद आदिका आकाशमें जाना—उतरना।

आकाशमें आकाशगंगा आदिकी स्थिति, एकसे अधिक मुख, हनुमान्का सूर्यको पकड़ना, समुद्रमें पत्थरोंका तैरना, क्या कुम्भकर्णकी निद्रा असम्भव है ? बूढ़ेको जवानी देना, मरे हुएका संजीवन, पुरुषोंका दीर्घ आकार, दीर्घजीवनमें उपपत्ति, अन्तर्द्धानसिद्धि, सूर्यका ढक देना और अस्त्रका परावर्तन। बिना देखे भी युद्ध आदिका वृत्तज्ञान और भविष्यत्का ज्ञान। शिवडमरूसे १४ सूत्र। आग्नेय, वायव्य, सम्मोहन आदि अस्त्र। गोवर्धनपर्वतके उठानेपर विचार, समुद्र-मंथन। देवताओंकी बहुत शरीर तथा दूसरोंके शरीर बना लेने में शक्ति आदि बहुतसे विषय होंगे।

आज ही सहायताद्रव्य ग्रन्थकारके नाम एवं पतेसे शीघ्रता से भेजना शुरू कर दें। इन पुष्पोंको शीघ्र मंगाकर अपना सेट पूरा कर लें। इनमें सप्तम और अष्टम पुष्प अभी-अभी छपे हैं।

पुस्तकोंके मंगाने वा पत्र-व्यवहारका पता—

श्रीनारायणशर्मा 'राजीव' सारस्वत शास्त्री, प्रभाकर (एम्० ए०)

फर्स्ट बी० १६ लाजपतनगर (नई देहली १४)